श्रीअरविंद

गीता-प्रबंध

श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी

गीता-प्रबंध

श्रीअरविंद

गीता-प्रबंध

श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी

अनुवादक

जगन्नाथ वेदालंकार

प्रथम संस्करण : १९६९

पुनर्मुद्रित : १९८४

© स्वत्वाधिकार : श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी-६०५००२

प्रकाशक : श्रीअरविंद आश्रम, पांडिचेरी-६०५००२

मुद्रक : श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-६०५००२

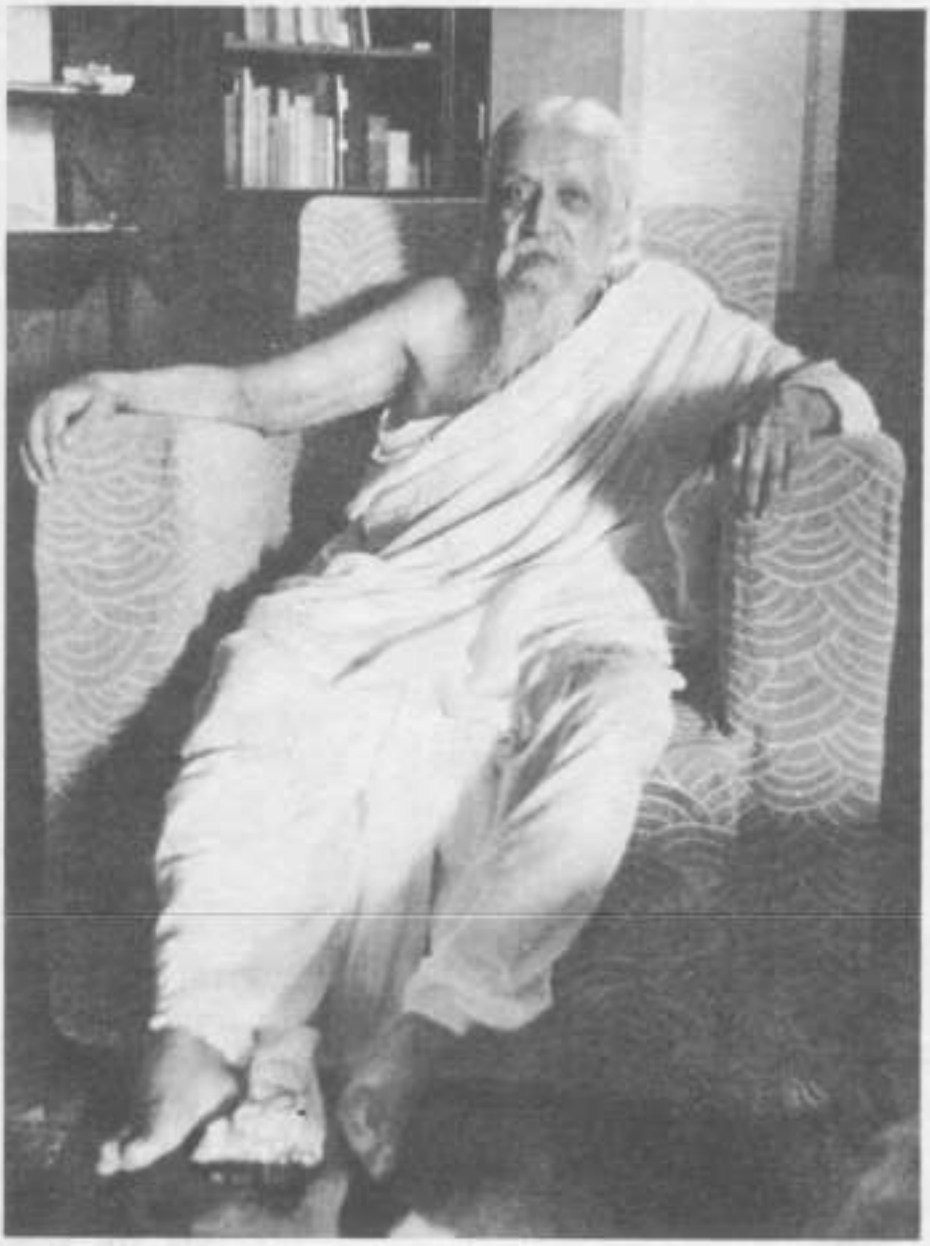

श्रीअरविंद

विषय-सूची

भाग १

गीता से हमारी आवश्यकता और मांग	...	I
भगवान् गुरु	...	II
मानव-शिष्य	...	20
उपदेशका सारमर्म	...	30
कुरुक्षेत्र	...	42
मनुष्य और जीवन-संग्राम	...	51
आर्य क्षत्रिय-धर्म	...	62
सांख्य और योग	...	74
सांख्य, योग और वेदांत	...	87
बुद्धियोग	...	100
कर्म और यज्ञ	...	111
यज्ञ-रहस्य	...	120
यज्ञके अधीश्वर	...	130
दिव्य कर्मका सिद्धांत	...	140
अवतारकी संभावना और हेतु	...	152
भगवान् की अवतरण-प्रणाली	...	165
दिव्य जन्म और दिव्य कर्म	...	176
दिव्य कर्मी	...	185
समत्व	...	196
समत्व और ज्ञान	...	209
प्रकृतिका नियतिवाद	...	222
त्रैगुणातीत्य	...	235
निर्वाण और संसारमें कर्म	...	245
कर्मयोगका सारतत्त्व	...	259

भाग २

खंड १

दो प्रकृतियां	...	273
भक्ति-ज्ञान-समन्वय	...	288
परम ईश्वर	...	299
राजगुह्य	...	311
भगवदीय सत्य और मार्ग	...	322
कर्म, भक्ति और ज्ञान	...	334
गीताका महावाक्य	...	350
भगवान्‌की संभूति-शक्ति	...	369
विभूतिका सिद्धांत	...	380
विश्वरूप-दर्शन	...	392
विश्वपुरुष-दर्शन	...	404
मार्ग और भक्त	...	412

खंड २

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ	...	427
त्रैगुणातीत	...	439
तीन पुरुष	...	454
आध्यात्मिक कर्मकी परिपूर्णता	...	469
देव और असुर	...	484
त्रिगुण, श्रद्धा और कर्म	...	499
त्रिगुण, मन और कर्म	...	517
स्वभाव और स्वधर्म	...	532
परम रहस्यकी ओर	...	552
परम रहस्य	...	567
गीताका सारमर्म	...	592
गीताका संदेश	...	604

गीता-प्रबंध

भाग १

गीता से हमारी आवश्यकता और माँग

संसार में कितने ही सद्ग्रंथ हैं, वैदिक और लौकिक भी, कितने ही आगम-निगम और स्मृति-पुराण हैं, कितने ही धर्म और दर्शन-शास्त्र हैं, कितने ही मत, पंथ और संप्रदाय हैं। अधकचरे ज्ञानी अथवा सर्वथा अज्ञानी मनुष्यों के विविध मन इन सबमें ऐसी अनन्य-बुद्धि और आवेश से अपने-आपको बाँधे हुए हैं कि जो कोई जिस ग्रंथ या मत को मानता है उसी को सब कुछ जानता है, यह देख भी नहीं पाता कि उसके परे और भी कुछ है। वह अपने चित्त में ऐसा हट पकड़े रहता है कि बस यही या वही ग्रंथ भगवान् का सनातन वचन है और बाकी सब ग्रंथ या तो केवल ढोंग हैं या यदि उनमें कहीं कोई भगवत्प्रेरणा या भाव है तो वह अधूरा है, और इसी तरह से ऐसा हठ कि हमारा अमुक दर्शन ही बुद्धि की पराकाष्ठा है—बाकी सब दर्शन या तो केवल भ्रम हैं अथवा उनमें यदि कहीं आंशिक सत्य है भी तो उतना ही है जो उनके एकमात्र सच्चे दार्शनिक संप्रदाय के अनुकूल है। भौतिक विज्ञान के आविष्कारों का भी एक संप्रदाय-सा बन गया है और उसके नाम पर धर्म और अध्यात्म को अज्ञान और अंधविश्वास तथा दर्शन-शास्त्रों को कूड़ा-करकट और खयाली पुलाव कहकर उड़ा दिया गया है। और, बड़े मजे की बात तो यह है कि बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोग भी प्रायः इन पक्षपातपूर्ण आग्रहों और व्यर्थ के झगड़ों में पड़कर इन्हें पुष्टि देते रहे हैं, कोई तमोभाव ही उनके निर्मल सात्विक ज्ञान के प्रकाश में मिलकर, उसे बौद्धिक अहंकार या आध्यात्मिक -अभिमान से ढककर उन्हें इस प्रकार भटकाता रहा है। अब अवश्य ही मनुष्य-जाति पहले की अपेक्षा कुछ अधिक विनयशील और समझदार होती हुई दीख पड़ती है ; अब हम लोग अपने भाइयों को ईश्वरीय सत्य के नाम पर कत्ल नहीं करते, न इसलिये मार ही डालते हैं कि उनके अंतःकरणों की शिक्षा-दीक्षा हम लोगों की शिक्षा-दीक्षा से भिन्न है या उन अंतःकरणों का साँचा-ढाँचा कुछ और ही प्रकार का है, अब हम लोग अपने पड़ोसियों को, अपनी राय से भिन्न राय रखने की हिमाकत या जुर्रत करने पर, कोसते या भला-बुरा कहते कुछ सकुचाते हैं, अब तो हम लोग यह भी स्वीकार करने लगे हैं कि सत्य

सर्वत्र है, केवल हम ही उसके ठेकेदार नहीं, अब हम दूसरे धर्मों और दर्शनों को भी देखनें लगे हैं, इसलिए नहीं कि उन्हें केवल झूठा साबित करके बदनाम करें, बल्कि इसलिए कि देखें उनमें कहाँ क्या सदुपदेश है और उससे हमें क्या सहायता मिल सकती है। परन्तु फिर भी हमें यह कहने का अभ्यास अभी तक बना हुआ है कि हम जिसे सत्य कहते और मानते हैं वही वह परम ज्ञान है जो अन्य धर्मों या दर्शनों को नहीं मिला और यदि मिला भी है तो अंशमात्र और अधूरे तौर पर, अर्थात् उनमें सत्य के केवल उन गौण और निम्नतर अंगों का ही निरूपण है जो कम विकसित लोगों के लिये ही उपयोगी हैं या उन्हें हमारी ऊँचाइयों तक उठाने के लिये निम्न साधनमात्र हैं। और, अभी तक हम लोगों की प्रवृत्ति ऐसी ही बनी हुई है कि जिस किसी सद्ग्रंथ या सदुपदेश का हम लोग आदर करते हैं उसी को सर्वांग रूप से सर्वथा ब्रह्मवाक्य मानते और सिर-आँखों पर रखते हैं तथा इसी रूप में उसे दूसरों पर भी जबर्दस्ती इस आग्रह के साथ लादना चाहते हैं कि यह सारे-का-सारा इसी रूप में स्वतःप्रमाण सनातन सत्य है, इसके एक अक्षर या मात्रा को भी इधर-से-उधर नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये सभी उसी एक अपरिमेय प्रेरणा के अंश हैं।

इसलिए वेद, उपनिषद् अथवा गीता जैसे प्राचीन सद्ग्रंथ का विचार करने में प्रवृत्त होते हुए, आरम्भ में ही यह बतला देना बहुत अच्छा होगा कि हम किस विशिष्ट भाव से इस कार्य में लग रहे हैं और हमारी समझ में इससे मानव-जाति तथा उसकी भावी संतति का क्या वास्तविक लाभ होगा। सबसे पहली बात है कि हम निश्चय ही उस परम सत्य को ढूँढ़ रहे हैं जो एक और सनातन है, जिससे अन्य सब सत्य पैदा होते हैं, जिसके प्रकाश में ही अन्य सब परम ज्ञान की योजना में अपना ठीक स्थान, व्याख्या और सम्बन्ध पाते हैं। परन्तु इसी कारण वह परम सत्य किसी एक पैने सूत्र के अन्दर बंद नहीं किया जा सकता अर्थात् यह संभव नहीं है कि वह परम सत्य पूरी तरह और पूर्ण रूप में किसी एक दर्शन-शास्त्र या किसी एक सद्ग्रंथ में प्राप्त हो जाय, न यही संभव है कि किसी एक गुरु, मनीषी, पैगंबर या अवतार के मुख से वह सदा के लिये सर्वांश में निकला हो। और यदि उस परम सत्य के विषय में हमारी कल्पना या भावना कुछ ऐसी हो जिससे अपनेसे इतर संप्रदायों के आधारभूत सत्यों के प्रति असहिष्णु होकर हमें उनका बहिष्कार करना पड़े तो यह समझना चाहिए कि हमें उस परम सत्य का पूरा पता नहीं चला; कारण जब हम इस प्रकार अंध आवेश में आकर किसी सिद्धांत का बहिष्कार करने पर तुल जाते हैं तब इसका मतलब केवल इतना ही होता है कि हम उसको समझने या समझाने के पात्र नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि

वह परम सत्य यद्यपि एक और सनातन है, पर वह अपने-आपको काल में और मनुष्य की मन-बुद्धि में से होकर प्रकट करता है, और इसलिए प्रत्येक सद्ग्रंथ में दो तरह की बातें हुआ करती हैं, एक सामयिक, नश्वर, देश-विशेष और काल-विशेष से संबंध रखनेवाली, और दूसरी शाश्वत, अविनश्वर, सब कालों और देशों के लिये समान रूप से उपयोगी और व्यवहार्य। फिर यह भी बात है कि परम सत्य के विषय में जब जो कुछ कहा जाता है वह जिस रूप में, जिस विचार-पद्धति और अनुक्रम से, जिस आध्यात्मिक और बौद्धिक साँचे में ढालकर कहा जाता है, उसके लिये जिन विशेष शब्दों का प्रयोग किया जाता है वे सब अधिकांश में काल की परिवर्तनशील गति के अधीन होते हैं और उनकी शक्ति सदा एक-सी नहीं रहती, क्योंकि मानव-बुद्धि सदा बदलती रहती है ; यह सदा ही विविध तथ्यों को एक-दूसरे से पृथक् करके देखती और फिर उन्हें एक साथ जुटाती हुई अपने विभाजन और समन्वयों का क्रम सदा बदला करती है। वह सदा प्राचीन शब्द-प्रयोगों और संकेतों को पीछे छोड़ती और नये शब्द और संकेत गढ़ा करती है, यदि प्राचीन प्रयोगों का फिर से उपयोग करती भी है तो उनके अर्थ या कम-से-कम उनके गूढ़ आशय या अर्थ-संगति को बहुत कुछ बदल देती है। हम आज किसी प्राचीन सद्ग्रंथ को समझना चाहें तो पूर्ण निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि जिस समय का वह ग्रंथ है उस समय के लोगों ने उसे जिस भाव से देखा या उससे जो अर्थ ग्रहण किया ठीक उसी भाव और अर्थ को हम भी ग्रहण कर रहे हैं। इसलिए ऐसे सद्ग्रंथों में संपूर्ण रूप से चिरंतन महत्व का विषय वही है जो सर्वदेशीय होने के अतिरिक्त अनुभव किया हुआ हो, जो अपने जीवन में आ गया हो और बुद्धि की अपेक्षा किसी परे की दृष्टि से देखा गया हो।

यदि किसी प्रकार यह जानना संभव भी हो कि गीता की किस शास्त्रीय परिभाषा से उस समय के लोग कौन-सा अर्थ ग्रहण करते थे तो भी मेरे विचार में, इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। आजतक जो भाष्य लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं उनके परस्पर-मतभेद से स्पष्ट ही है कि यह जानना किसी तरह से संभव भी नहीं है ; ये सब-के-सब एक दूसरे से भिन्न होने में ही एकमत हैं, प्रत्येक भाष्य को गीता में अपनी ही आध्यात्मिक रीति और धार्मिक विचारधारा दिखायी देती है। इस विषय में चाहे कोई कितना ही अधिक प्रयास करे, कितना भी तटस्थ होकर देखे और भारतीय तत्वज्ञान के विकासक्रम के संबंध में चाहे जैसे उद्बोधक सिद्धांत स्थापित करने का प्रयत्न करे, पर यह विषय ही ऐसा है कि इसमें भूल होना अनिवार्य है। इसलिए गीता के विषय में हम यह कर सकते हैं, जिससे कुछ लाभ हो सकता है, कि इसके तत्वदर्शन से अलग जो प्रकृत जीते-

जागते तथ्य हैं उन्हें ढूंढ़ें, हम गीता से वह चीज लें जो हमें या संसार को सहायता पहुँचा सके और जहाँतक हो सके उसे ऐसी स्वाभाविक और जीती-जागती भाषा में प्रकट करें जो वर्तमान मानव-जाति की मनोवृत्ति के अनुकूल हो और जिससे उसकी पारमार्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति में मदद मिले। इस प्रयास में हो सकता है कि हम बहुत-सी ऐसी भूलों को मिला दें जो हमारे व्यक्तित्व और इस समय के विशिष्ट संस्कारों से उत्पन्न हुई हों, इससे हमसे बड़े हमारे पूर्वाचार्य भी नहीं बच पाये हैं ; परन्तु यदि हम इस महत् सद्ग्रंथ के भाव में अपने-आपको तल्लीन कर दें, और सबसे बड़ी बात यह है कि यदि हम उस भाव को अपने जीवन में चरितार्थ करने का प्रयत्न करते हों, तो इसमें संदेह नहीं कि हम इस सद्ग्रंथ में से उतनी सद्वस्तु तो ग्रहण कर ही सकेंगे जितनी के हम पात्र या अधिकारी हैं और साथ ही हमें इससे वह पारमार्थिक प्रभाव और वास्तविक सहायता भी प्राप्त हो सकेगी जो व्यक्तिगत रूप से हम इससे प्राप्त करना चाहते थे। और, इसी को देने के लिये सद्ग्रंथों की रचना हुई थी ; बाकी जो कुछ है वह शास्त्रीय वाद-विवाद या धार्मिक मान्यता है। केवल ऐसे ही सद्ग्रंथ, धर्मशास्त्र और दर्शन मनुष्य-जाति के काम के बने रहते हैं जो इस प्रकार नित नये होते रहे हों, जो पुनः-पुनः जीवन में चरितार्थ किये जाते हों, जिनका आधारभूत शाश्वत तत्व निरंतर नया रूप लेता और विकसनशील मनुष्य-जाति की अंतर्विचारधारा और आध्यात्मिक अनुभूति से विकसित होता हो। इसके सिवाय जो कुछ है वह भूतकाल का भव्य स्मारक तो है, पर उसमें भविष्य के लिये कोई यथार्थ शक्ति या सजीव प्रेरणा नहीं है।

गीता में ऐसा विषय बहुत ही कम है जो केवल एकदेशीय और सामयिक हो और जो है भी उसका आशय इतना उदार, गंभीर और व्यापक है कि उसे बिना किसी विशेष आयास के, और इसकी शिक्षा का जरा भी ह्रास या अतिक्रम किये बिना व्यापक रूप दिया जा सकता है ; इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा व्यापक रूप देने से उसकी गहराई, उसके सत्य और उसकी शक्ति में वृद्धि होती है। स्वयं गीता में ही बारंबार उस व्यापक रूप का संकेत किया गया है जो इस प्रकार देशकालमर्यादित भावना या संस्कार-विशेष को दिया जा सकता है। उदाहरण के लिये "यज्ञ" संबंधी प्राचीन भारतीय विधि और भावना को गीता ने देवताओं और मनुष्यों का पारस्परिक आदान-प्रदान कहा है। यज्ञ की यह विधि और भावना स्वयं भारतवर्ष में ही बहुत काल से लुप्तप्राय हो गयी है और सर्वसाधारण मानव-मन को इसमें कुछ भी तथ्य नहीं प्रतीत होता। परन्तु गीता में यह "यज्ञ" शब्द इतना आलंकारिक, सांकेतिक और सूक्ष्म तत्व का परिचायक है तथा

देवता-विषयक भावना देशकालमर्यादा और किंवदंती से इतनी मुक्त और इतने पूर्ण रूप से सार्वभौम और दार्शनिक है कि हम यज्ञ और देवता दोनों को मनोविज्ञान और प्रकृति के साधारण विधान के व्यावहारिक तथ्य के रूप में सहज ही ग्रहण कर सकते हैं और इन्हें, प्राणियों में परस्पर होनेवाले आदान-प्रदान, एक-दूसरे के हितार्थ होनेवाले बलिदान और आत्मदान के विषय में जो आधुनिक विचार हैं, उनपर, इस तरह घटा सकते हैं कि इनके अर्थ और भी उदार और गंभीर हो जायँ, ये अधिक सच्चे आध्यात्मिक और गंभीरतर अत्यधिक विस्तीर्ण सत्य के प्रकाश से प्रकाशित हो जायँ। इसी प्रकार शास्त्र-विधान के अनुसार कर्म, चातुर्वर्ण्य, विभिन्न वर्णों की स्थिति में तारतम्य, या अध्यात्म-विषय में शूद्रों और स्त्रियों के अनधिकार, ये सब बातें पहली नजर में तो देश-विशेष या काल-विशेष से ही संबंध रखनेवाली प्रतीत होती हैं और इनका यदि एकमात्र शाब्दिक अर्थ ही लिया जाय तो गीता की शिक्षा उतने अंश में अनुदार ही हो जाती है और उससे गीता के उपदेश की व्यापकता और आध्यात्मिक गंभीरता नष्ट हो जाती है और फिर समस्त मनुष्य-जाति के लिये उसका उतना उपयोग नहीं रह जाता। परन्तु यदि हम इसके आन्तरिक भाव और अर्थ को देखें, केवल देश-विशिष्ट नाम और काल-विशिष्ट रूप को नहीं, तो यह दिखायी देगा कि यहाँ भी अर्थ गूढ़, गंभीर और तथ्यपूर्ण है और इसका आंतरिक भाव दार्शनिक, आध्यात्मिक और सार्वजनीन है। मालूम होता है कि शास्त्र शब्द से गीता में उस विधान से मतलब है जिसे मनुष्य-जाति ने असंस्कृत प्राकृत मनुष्य के केवल अहंभाव से प्रेरित कर्म के स्थान पर अपने ऊपर लगाया है, इस विधान का हेतु अहंकार को हटाना है, और मनुष्य की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी वासनाओं की तृप्ति को ही अपने जीवन का मानक और उद्देश्य बना लेना चाहता है, उस प्रवृत्ति का नियमन करना है। ऐसे ही चातुर्वर्ण्य भी एक आध्यात्मिक तथ्य का ही एक स्थूल रूप है, जो स्वयं उस स्थूल रूप से स्वतंत्र है। उसका अभिप्राय यह है कि कर्म, कर्त्ता के स्वभाव के अनुसार सम्यक् रूप से संपादित हों और वह स्वभाव सहज गुण और अपने-आपको प्रकट करनेवाली वृत्ति के अनुसार उसके जीवन की धारा और क्षेत्र को निर्धारित करे। इसलिए जब गीता में आये हुए स्थानिक और सामयिक उदाहरण इसी गभीर और उदार भाव से प्रयुक्त हुए हैं तो हमारा इसी सिद्धांत का अनुसरण करना और स्थानिक और सामयिक दीखनेवाली बातों में छिपे गभीरतर सामान्य सत्य को ढूंढ़ना समुचित ही होगा। कारण, यह बात पद-पद पर मिलेगी कि यह गभीरतर तथ्य और तत्व गीता की विवेचन-पद्धति में बीज-रूप से वहाँ भी छिपा है जहाँ वह स्पष्ट शब्दों में व्यक्त नहीं किया गया है।

गीता में तत्कालीन दार्शनिक परिभाषाओं और धार्मिक संकेतों के प्रयुक्त होने से जो दार्शनिक सिद्धान्त या धार्मिक मत आ गये हैं या किसी प्रकार संग हो लिये हैं उनका विवेचन भी हम इसी भाव से करेंगे। गीता में जहाँ सांख्य और योग की बात आती है वहाँ हम गीता के एक पुरुष का प्रतिपादन करनेवाले वेदांत के साँचे में ढले हुए सांख्य का, प्रकृति और अनेक पुरुषों का प्रतिपादन करनेवाले अनीश्वरवादी सांख्य के साथ उतना ही तुलनात्मक विवेचन करेंगे जितना कि हमारी व्याख्या के लिये आवश्यक होगा। इसी प्रकार गीता के बहुविध, सुसमृद्ध, सूक्ष्म और सरल स्वाभाविक योग के साथ पातंजल योग के शास्त्रीय, सूत्रबद्ध और क्रमबद्ध मार्ग का भी उतना ही विवेचन करेंगे, उससे अधिक नहीं। गीता में सांख्य और योग एक ही वेदान्त के परम तात्पर्य की ओर ले जानेवाले दो मार्ग हैं, बल्कि यह कहिये कि वैदांतिक सत्य की सिद्धि की ओर ले जानेवाले दो परस्पर-सहकारी साधन हैं, एक दार्शनिक, बौद्धिक और वैश्लेषणिक और दूसरा अंतःस्फुरित, भक्तिभावमय, व्यावहारिक, नैतिक और समन्वयात्मक है, जो अनुभूति द्वारा ज्ञान तक पहुँचाता है। गीता की दृष्टि में इन दोनों शिक्षाओं में कोई वास्तविक भेद नहीं है। बहुत से लोग जो यह मानते हैं कि गीता किसी धार्मिक संप्रदाय या परंपरा-विशेष का फल है उसके बारे में विचार करने की भी हमें कोई आवश्यकता नहीं है। गीता का उपदेश सबके लिये है, उसका मूल भले ही कुछ भी रहा हो।

गीता की दार्शनिक पद्धति, इसमें जो सत्य है उसका व्यवस्थापनक्रम इसके उपदेश का वह भाग नहीं है जो अत्यंत मुख्य और चिरस्थायी कहा जाय, किन्तु इसकी रचना का अधिकांश विषय, इसके उद्बोधक और मर्मस्पर्शी प्रधान विचार जो इस ग्रंथ के जटिल सामंजस्य में पिरोये गये हैं उनका महत्व चिरंतन है, उनका मूल्य सदा बना रहेगा। कारण, ये केवल दार्शनिक बुद्धि की कल्पना की चमक या चकित करनेवाली युक्ति नहीं हैं, बल्कि आध्यात्मिक अनुभव के चिरस्थायी सत्य हैं, ये हमारी उच्चतम आध्यात्मिक संभावनाओं के प्रमाणयोग्य तथ्य हैं, और जो कोई इस जगत् के रहस्य की तहतक पहुँचना चाहता है वह इनकी उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता। इसकी विवेचन-पद्धति कुछ भी हो, इसका हेतु किसी खास दार्शनिक मत का समर्थन करना या किसी विशिष्ट योग की पुष्टि करना नहीं है, जैसा कि भाष्यकार प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। गीता की भाषा, इसके विचारों की रचना, विविध भावनाओं का इसमें संयोग और उनका संतुलन ये सब बातें ऐसी हैं जो किसी सांप्रदायिक आचार्य के मिजाज में नहीं हुआ करतीं, न एक-एक पद को कसौटी पर कसकर देखनेवाली नैयायिक

बुद्धि में ही आया करती हैं, क्योंकि उसे तो सत्य के किसी एक पहलू को ग्रहण कर बाकी सबको छाँटकर अलग कर देने की पड़ी रहती है। परन्तु गीता की विचारधारा व्यापक है, उसकी गति तरंगों की तरह चढ़ाव-उतारवाली और नानाविध भावों का आलिंगन करनेवाली है जो किसी विशाल समन्वयात्मक बुद्धि और सुसंपन्न समन्वयात्मक अनुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह उन महान् समन्वयों में से है जिनकी सृष्टि करने में भारत की आध्यात्मिकता उतनी ही समृद्ध है जितनी कि वह ज्ञान की उन अत्यंत प्रगाढ़ और अनन्यसाधारण क्रियाओं तथा धार्मिक साक्षात्कारों की सृष्टि करने में समृद्ध है, जो किसी एक ही साधनसूत्र पर केन्द्रित होते हैं और एक ही मार्ग की पराकाष्ठा तक पहुँचते हैं। गीता की यह विचारधारा एक को दूसरे से अलग करनेवाली नहीं, बल्कि मिलानेवाली और एक करनेवाली है।

गीता का सिद्धांत केवल अद्वैत नहीं है यद्यपि इसके मत से एक ही अव्यय, विशुद्ध, सनातन आत्मतत्व अखिल ब्रह्मांड की स्थिति का आश्रय है; गीता का सिद्धांत मायावाद भी नहीं है यद्यपि इसके मत से सृष्ट जगत् में त्रिगुणात्मिका प्रकृति की माया सर्वत्र फैली हुई है; गीता का सिद्धांत विशिष्टाद्वैत भी नहीं है यद्यपि इसके मत से उसी एकमेवाद्वितीय परब्रह्म में उसकी सनातन परा प्रकृति भी मौजूद है और वह इस बात पर जोर देता है कि उस परब्रह्म में लय नहीं, बल्कि निवास ही आध्यात्मिक चेतना की परा स्थिति है; गीता का सिद्धान्त सांख्य भी नहीं है यद्यपि इसके मत से यह सृष्ट जगत् प्रकृति-पुरुष के संयोग से ही बना है; गीता का सिद्धान्त वैष्णवों का ईश्वरवाद भी नहीं है यद्यपि पुराणों के प्रतिपाद्य श्रीविष्णु के अवतार श्रीकृष्ण ही इसके परमाराध्य देवाधिदेव हैं और इनमें और अनिर्देश्य निर्विशेष ब्रह्म में कोई तात्विक भेद नहीं है, न ब्रह्म का दर्जा किसी प्रकार से भी इन **"प्राणिनां ईश्वरः"** से ऊँचा ही है। गीता के पूर्व उपनिषदों में जैसा समन्वय हुआ है वैसा ही गीता का समन्वय है जो आध्यात्मिक होने के साथ-साथ बौद्धिक भी है और इसलिए इसमें कोई ऐसा अनुदार सिद्धान्त नहीं आने पाता जो इसकी सार्वलौकिक व्यापकता में बाधक हो। वेदान्त के सबसे अधिक प्रामाणिक तीन ग्रंथों में से एक होने के कारण वाद-विवादप्रिय भाष्यकारों ने इस ग्रंथ का उपयोग स्वमत के मंडन तथा अन्य मतों और संप्रदायों के खण्डन में ढाल और तलवार के तौर पर किया है; परन्तु गीता का हेतु यह नहीं है; गीता का उद्देश्य ठीक इसके विपरीत है। गीता तर्क की लड़ाई का हथियार नहीं है; यह वह महाद्वार है जिससे समस्त आध्यात्मिक सत्य और अनुभूति के जगत् की झाँकी मिलती है और इस झाँकी में उस परम दिव्य धाम के

सभी ठाम यथास्थान देख पड़ते हैं। गीता में इन स्थानों का विभाग या वर्गीकरण तो है, पर कहीं भी एक स्थान दूसरे स्थान से विच्छिन्न नहीं है न किसी चहारदीवारी या बेड़े से घिरा है कि हमारी दृष्टि आर-पार कुछ न देख सके।

भारतीय तत्वज्ञान के वृहद् इतिहास में और भी अनेक समन्वय हुए हैं। सबसे पहले वैदिक समन्वय देखिये। वेद में मनुष्य का मनोमय पुरुष दिव्य ज्ञान, शक्ति, आनन्द, जीवन और महिमा में ऊँची-से-ऊँची उड़ान लेता हुआ और विशालतम क्षेत्रों में विहार करता हुआ देवताओं की विश्वव्यापी स्थिति के साथ समन्वित हुआ है, इन देवताओं को उसने जड़प्राकृतिक जगत् के प्रतीकों का अनुसरण करते हुए उन श्रेष्ठतम लोकों में पाया है जो भौतिक इन्द्रियों और स्थूल मन-बुद्धि से छिपे हुए हैं। इस समन्वय की चरम शोभा वैदिक ऋषियों के उस अनुभव में है जिसमें वे उस देवाधिदेव का, उस परात्पर पुरुष का, उस आनन्दमय का साक्षात्कार करते हैं जिसकी एकता में मनुष्य की विकसित होती हुई आत्मा तथा विश्वव्यापी देवताओं की पूर्णता पूर्णतया मिलते और एक-दूसरे को चरितार्थ करते हैं। उपनिषदें पूर्व ऋषियों की इस चरम अनुभूति को ग्रहण कर इससे आध्यात्मिक ज्ञान का एक महान् और गभीर समन्वय साधने का उपक्रम करती हैं; सनातन पुरुष से प्रेरणा पानेवाले मुक्त ज्ञानियों ने आध्यात्मिक अनुसंधान के दीर्घ और सफल काल में जो कुछ दर्शन और अनुभव किया उस सबको उपनिषदों ने एकत्र करके एक महान् समन्वय के अन्दर ला रखा। इस वेदांत-समन्वय से गीता का आरम्भ होता है और इसके मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर गीता ने प्रेम, ज्ञान और कर्म, इन तीन महान् साधनों और शक्तियों का एक समन्वय साधित किया है। इसके बाद वह तांत्रिक[1] समन्वय है जो सूक्ष्मदर्शिता और आध्यात्मिक गभीरता में किसी कदर कम होने पर भी साहसिकता और बल में गीता के समन्वय से भी आगे बढ़ा हुआ है,—कारण, आध्यात्मिक जीवन में जो बाधाएँ हैं उनको भी इसमें पकड़ लिया जाता है और उनसे और भी अधिक सुसमृद्ध आध्यात्मिक विजय के साधन का काम लिया जाता है; इससे सारे का सारा जीवन ही भगवान् की लीला के रूप में हमारे लिये दिव्य जीवन की प्राप्ति कराने का क्षेत्र बन जाता है। कुछ बातों में यह समन्वय अधिक समृद्ध और फलदायी है, क्योंकि यह दिव्य कर्म और दिव्य प्रेमयुक्त सुसमृद्ध सरस भक्ति के साथ-साथ हठयोग और राजयोग के गुह्य रहस्यों को भी सामने ले आता है। वह दिव्य जीवन को उसके सभी क्षेत्रों में उद्घाटित

१ यह बात स्मरण रहे कि समस्त पौराणिक ऐतिह्य में जो विशिष्ट श्रीशोभासंपन्नता है वह तंत्रों से आयी हुई है।

कराने के लिये शरीर तथा मानस तप का उपयोग करता है, और यह बात गीता में केवल प्रासंगिक रूप से किसी कदर अन्यमनस्कता के साथ ही कही गयी है। इसके अतिरिक्त इस समन्वय में मनुष्य के भागवत पूर्णता को प्राप्त कर सकने की उस भावना को अपनाने की चेष्टा की गयी है जिसपर वैदिक ऋषि तो अधिकार रखते थे पर पीछे से, मध्य काल में जिसकी उपेक्षा ही होती गयी। अब उत्तर काल में मानव विचार, अनुभव और अभीप्सा का जो समन्वय होगा उसमें निश्चय ही इस भावना का बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण स्थान होगा।

उत्तर काल के हम लोग उस विकासोन्नति के नवीन युग के पुरोभाग में उपस्थित हैं जिसकी परिणति इस प्रकार के नूतन और महत्तर समन्वय में होनेवाली है। हमारा यह काम नहीं है कि वेदान्त के तीन प्रधान संप्रदायों में से किसी एक संप्रदाय के या किसी एक तांत्रिक मत के कट्टर अनुयायी बनें या किसी प्राचीन आस्तिक संप्रदाय की लकीर-के-फकीर बनें अथवा गीता की शिक्षा की चहारदीवारी के अन्दर ही अपने-आपको बन्द कर लें। ऐसा करना अपने-आपको एक सीमा में बाँध लेना होगा, अपनी आत्मसत्ता और आत्मसंभावना के बदले दूसरों की, प्राचीन लोगों की सत्ता, ज्ञान और स्वभाव में से अपना आध्यात्मिक जीवन निर्मित करने का प्रयास करना होगा। हम बीते हुए उषःकाल के नहीं, बल्कि आनेवाले मध्याह्न के व्यक्ति हैं। नवीन साधन-सामग्री का एक पुंज हम लोगों के अन्दर प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा है, हमें केवल भारतवर्ष के और समस्त संसार के महान् आस्तिक संप्रदायों के प्रभाव को तथा बौद्ध-मत के पुनरुज्जीवित अभिप्राय को ही नहीं अपनाना होगा, बल्कि आधुनिक ज्ञान और अनुसंधान के फलस्वरूप जो कुछ, मर्यादित रूप में ही क्यों न हो पर विशेष क्षमता लिये हुए, प्रत्यक्ष हुआ है उसका भी पूरा ख्याल रखना होगा। इसके अतिरिक्त सुदूर और तिथि-मिति-रहित भूतकाल, जो मृत जैसा दिखायी देता था, अब हमारे समीप आ रहा है और उसके साथ उन ज्योतिर्मय गुह्य रहस्यों का तीव्र प्रकाश है जो मनुष्य की चेतना से एक जमाना हुआ लुप्त हो गये थे, किन्तु अब परदे को चीरकर फिर से बाहर निकल रहे हैं। यह बात भविष्य में होनेवाले एक नवीन, सुसमृद्ध और अति महत् समन्वय की ओर इशारा कर रही है; भविष्य की यह बौद्धिक और आध्यात्मिक आवश्यकता है कि हमारे इन सब प्राप्त अर्थों का फिर से एक नवीन और अति उदार, सबको समा लेनेवाला सामंजस्य सिद्ध हो। पर जिस प्रकार पहले के समन्वयों का उपक्रम और पहले के समन्वयों से ही हुआ, उसी प्रकार भावी समन्वय को भी, वैसा ही स्थिर और सुप्रतिष्ठ होने के लिए, वहीं से आरम्भ करना चाहिए जहाँ हमको

प्राचीन आध्यात्मिक तत्वविचार और अनुभवों के वृहत् संस्थानों ने लाकर छोड़ा है। ऐसे संस्थानों में गीता का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है।

अस्तु! गीता के इस अध्ययन में हमारा हेतु इसके विचारों का पांडित्य-पूर्ण या शास्त्रीय आलोचना करना अथवा इसके दार्शनिक सिद्धांत को आध्यात्मिक अनुसन्धान के इतिहास के अन्दर ले आना न होगा, न हम इसके प्रतिपाद्य विषय को तर्क की कसौटी पर रखकर नैयायिकों के ढंग से ही अध्ययन करेंगे। हम इसके पास साहाय्य और प्रकाश पाने के लिये आते हैं और इसलिये इसमें हमारा हेतु यही होना चाहिए कि हमें इसमें से इसका सच्चा अभिप्राय और जीता-जागता संदेश मिले, वह असली चीज मिले जिसे मनुष्य-जाति अपनी पूर्णता का और अपनी उच्चतम आध्यात्मिक भवितव्यता का आधार बना सके।

भगवान् गुरु

संसार के अन्य सब महान् धर्मग्रंथों की अपेक्षा गीता की यह विलक्षणता है कि वह अपने-आपमें स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है ; इसका निर्माण बुद्ध, ईसा या मुहम्मद जैसे किसी महापुरुष के आत्मिक जीवन के फलस्वरूप नहीं हुआ है, न यह वेदों और उपनिषदों के समान किसी विशुद्ध आध्यात्मिक अनुसंधान के युग का फल है, बल्कि, यह जगत् के राष्ट्रों और उनके संग्रामों तथा मनुष्यों और उनके पराक्रमों के ऐतिहासिक महाकाव्य के अन्दर एक उपाख्यान है जिसका प्रसंग इसके एक प्रमुख पात्र के जीवन में उपस्थित एक विकट संकट-काल से पैदा हुआ है। प्रसंग यह है कि सामने वह कर्म उपस्थित है जिससे अबतक के सब कर्मों की परिपूर्णता होनेवाली है ; पर यह कर्म भयंकर, अति उग्र और खून-खराबी से भरा हुआ है और संधि की वह घड़ी उपस्थित हो गयी है जब उसे या तो इस कर्म से बिलकुल हट जाना होगा या इसे इसके अवश्यंभावी कठोर अंत तक पहुँचाना होगा। कई आधुनिक समालोचकों की यह धारणा है कि गीता महाभारत का अंग ही नहीं है, इसकी रचना पीछे हुई है और इसके रचयिता ने इसको महाभारत में इसलिये मिला दिया कि इसको भी इस महान् राष्ट्रीय महा-काव्य की प्रामाणिकता और लोकप्रियता मिल जाय, किन्तु यह बात ठीक है या नहीं, इससे कुछ नहीं आता-जाता। मेरे विचार में तो यह धारणा गलत है, क्योंकि इसके विपक्ष में बड़े प्रबल प्रमाण हैं और पक्ष में भीतरी-बाहरी जो कुछ प्रमाण है वह बहुत पोचा और स्वल्प है। परन्तु यदि पुष्ट और यथेष्ट प्रमाण हो भी तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि ग्रंथकार ने अपने इस ग्रंथ को महाभारत की बुनावट में बुनकर इस तरह मिला दिया है कि इसके ताने-बाने महाभारत से अलग नहीं किये जा सकते, यही नहीं, बल्कि गीता में ग्रंथकार ने बार-बार उस प्रसंग की याद दिलायी है जिस प्रसंग से यह गीतोपदेश किया गया, केवल उपसंहार में ही नहीं, बल्कि अत्यंत गंभीर तत्वनिरूपण के बीच-बीच में भी उसका स्मरण कराया है। ग्रंथकार का यह आग्रह मानना ही होगा और इस गुरु-शिष्य-संवाद में गुरु और शिष्य दोनों का ही जिस प्रसंग की ओर बारंबार ध्यान

खिचता है उसे उसका पूर्ण महत्व प्रदान करना ही होगा। इसलिए गीता को सर्वसाधारण अध्यात्मशास्त्र या नीतिशास्त्र का एक ग्रंथ मान लेने से ही काम न चलेगा, बल्कि नीतिशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र का मानव-जीवन में प्रत्यक्ष प्रयोग करते हुए ही व्यवहार में जो संकट उपस्थित होता है उसे दृष्टि के सामने रखकर इस ग्रंथ का विचार करना होगा। वह संकट क्या है, कुरुक्षेत्र के युद्ध का आशय क्या है और अर्जुन की आन्तरिक सत्ता पर उसका क्या असर होता है, इन बातों को हमें पहले निश्चित कर लेना होगा, तब कहीं हम गीता के मतों और उपदेशों की केन्द्रीय विचारधारा को पकड़ सकेंगे।

यह बात तो बिलकुल स्पष्ट है कि कोई गहन गम्भीर उपदेश किसी ऐसे सामान्य-से प्रसंग के आधार पर नहीं खड़ा हो सकता जिसके बाह्य रूप के पीछे कोई वैसी ही गहरी भावना और भयंकर धर्म-संकट न हो और जिसका समाधान नित्य के सामान्य आचार-विचार के मानक से किया जा सकता हो। गीता में सचमुच तीन बातें ऐसी हैं जो आध्यात्मिक दृष्टि से बड़े महत्व की हैं, प्रायः प्रतीकात्मक हैं और उनसे आध्यात्मिक जीवन और मानव अस्तित्व के मूल में जो बहुत गहरे संबंध और समस्याएँ हैं वे प्रत्यक्ष होती हैं। वे तीन बातें हैं—श्रीगुरु का भागवत व्यक्तित्व, उनका अपने शिष्य के साथ विशिष्ट प्रकार का संबंध और उनके उपदेश का प्रसंग। श्रीगुरु स्वयं भगवान् हैं जो मानव-जाति में अवतरित हुए हैं; शिष्य अपने काल का श्रेष्ठ व्यक्ति है, जिसे हम आधुनिक भाषा में मनुष्य-जाति का प्रतिनिधि कह सकते हैं, और जो इस अवतार का अंतरंग सखा और चुना हुआ यंत्र है। वह एक विशाल कार्य और संग्राम में प्रमुख पात्र है जिसका रहस्यमय उद्देश्य उस रंगभूमि के पात्रों को ज्ञात नहीं, ज्ञात है केवल उन मनुष्य-शरीरधारी भगवान् को जो अपने ज्ञानमय अथाह मानस के पीछे छिपे हुए यह सारा कार्य चला रहे हैं। और, प्रसंग है इस कार्य और संग्राम में उपस्थित अति विकट भीषण परिस्थिति की वह घड़ी जिसमें इसकी बाह्य गति का आतंक और धर्म-संकट तथा अंध प्रचंडता इस आदर्श व्यक्ति के मानस पर प्रत्यक्ष होकर इसे सिर से पैर तक हिला देती है और वह सोचने लगता है कि आखिर इसका अभिप्राय क्या है, जगदीश्वर का इस जगत् से आशय क्या है, इसका लक्ष्य क्या है, यह किधर जा रहा है और मानव-जीवन और कर्म का मतलब क्या है।

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही बड़े दृढ़ विश्वास के साथ यह मान्यता चली आयी है कि भगवान् वास्तव में अवतार लिया करते हैं, अरूप से रूप में अवतरित हुआ करते हैं, मनुष्यरूप में मनुष्यों के सामने प्रकट हुआ करते हैं। पश्चिमी

देशों में यह विश्वास लोगों के मन पर कभी यथार्थ रूप से जमा ही नहीं, क्योंकि लौकिक ईसाई धर्म में इस भाव का एक ऐसे धार्मिक मत-विशेष के रूप में ही प्रतिपादन किया गया है जिसका युक्ति, सर्वसाधारण चेतना और जीवन-व्यवहार से मानो कोई मूलगत संबंध ही न हो। परंतु भारतवर्ष में वेदान्त की शिक्षा के स्वाभाविक परिणामस्वरूप यह विश्वास बराबर बढ़ता और जमता गया और इस देश के लोगों की चेतना में ही जड़ पकड़ गया है। यह सारा चराचर जगत् भगवान् की ही अभिव्यक्ति है, कारण एकमात्र भगवान् ही सत् हैं, बाकी सब उन्हीं एकमात्र सत् का सत् या असत् रूप है। इसलिए प्रत्येक जीवन किसी-न-किसी अंश में, किसी-न-किसी विधि से उसी एक अनन्त का सांत दीखनेवाले इस नामरूपात्मक जगत् में अवतरणमात्र है। परन्तु यह मानो परदे के पीछे अभिव्यक्ति है ; और, भगवान् का जो परभाव है तथा सांत रूप में जीव की यह जो पूर्णतः अथवा अंशतः अविद्या में छिपी चेतना है, इन दोनों के बीच में चेतना का चढ़ता-उतरता हुआ क्रम लगा है। देह में रहनेवाली चिन्मय आत्मा, जिसे देही कहते हैं, भगवदग्नि की चिनगारी है और मनुष्य के अन्दर रहनेवाली यह आत्मा जैसे-जैसे अपने बारे में अज्ञान से बाहर निकलकर आत्म-स्वरूप में विकसित होने लगती है वैसे-वैसे वह स्वात्म-ज्ञान में बढ़ने लगती है। भगवान् भी इस विश्व-जीवन के नानाविध रूपों में अपने-आपको ढालते हुए, सामान्यतः, इसकी शक्तियों के फलने-फूलने में, इसके ज्ञान, प्रेम, आनन्द और विभूति की तेजस्विता और विपुलता में, अपनी दिव्यता की कलाओं और रूपों में आविर्भूत हुआ करते हैं। परन्तु जब भागवत चेतना और शक्ति मनुष्य के रूप तथा कर्म की मानव-प्रणाली को अपना लेती है, और इसपर केवल शक्ति और विपुलता द्वारा अथवा अपनी कलाओं और बाह्य रूपों द्वारा ही नहीं, बल्कि अपने शाश्वत ज्ञान के साथ अधिकार करती है, जब वह अजन्मा अपने-आपको जानते हुए मानव मन-प्राण-शरीर धारण कर, मानव-जन्म का जामा पहनकर कर्म करता है तब वह देश-काल के अन्दर भगवान् के प्रकट होने की पराकाष्ठा है : वही भगवान् का पूर्ण और चिन्मय अवतरण है, उसीको अवतार कहते हैं।

वेदान्त के वैष्णव संप्रदाय में इस सिद्धांत की बड़ी मान्यता है और वहाँ मनुष्यों में रहनेवाले भगवान् और भगवान् में रहनेवाले मनुष्य का जो परस्पर संबंध है वह नर-नारायण के द्विविध रूप से परिदर्शित किया गया है ; इतिहास की दृष्टि से नर-नारायण एक ऐसे धर्म-संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं जिसके सिद्धांत और उपदेश गीता के सिद्धांतों और उपदेशों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। नर मानव-आत्मा है, भगवान् का चिरंतन सखा है जो अपने स्वरूप को

तभी प्राप्त होता है जब वह इस सखा-भाव में जागृत होता है, और, जैसा कि गीता में कहा है, वह उन भगवान् में निवास करने लगता है। नारायण मानव-जाति में सदा वर्तमान भागवत आत्मा है, वह सर्वान्तर्यामी, मानव-जीव का सखा और सहायक है, यह वही है जिसके बारे में गीता ने कहा है, **"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देश.....तिष्ठति।"** हृदय के इस गूढ़ाशय के ऊपर से जब आवरण हटा लिया जाता है और ईश्वर का साक्षात् दर्शन करके मनुष्य उनसे प्रत्यक्ष संभाषण करता है, उनके दिव्य शब्द सुनता है, उनकी दिव्य ज्योति ग्रहण करता है और उनकी दिव्य शक्ति से युक्त होकर कर्म करता है तब इस मनुष्य-शरीर-धारी सचेतन जीव का परमोद्धार होकर उस अज-अविनाशी शाश्वत स्वरूप को प्राप्त होना संभव होता है। तब वह भगवान् में निवास और सर्वभाव से भगवान् में आत्म-समर्पण करने योग्य होता है जिसे गीता ने **"उत्तमं रहस्यं"** माना है। जब यह शाश्वत दिव्य चेतना जो मानव-प्राणिमात्र में सदा विद्यमान है अर्थात् नर में विराजनेवाले ये नारायण भगवान् जब इस मानव-चैतन्य को अंशतः[1] या पूर्णतः अधिकृत कर लेते और दृश्यमान मानव-रूप में जगद्गुरु, आचार्य या जगन्नेता होकर प्रकट होते हैं तब यह उनका प्रत्यक्ष अवतार कहा जाता है। यह उन आचार्यों या नेताओं की बात नहीं है जो सब प्रकार से हैं तो मनुष्य ही पर कुछ ऐसा अनुभव करते हैं कि दिव्य प्रज्ञा का बल या प्रकाश या प्रेम उनका पोषण कर रहा है और उनके द्वारा सब कार्य करा रहा है, बल्कि यह उन मानव-तनुधारी की बात है जो साक्षात् उस दिव्य प्रज्ञा से, सीधे उस केन्द्रीय शक्ति और पूर्णता में से आते हैं। मनुष्य के अन्दर जो भगवान् हैं, वही नर में नारायण का सनातन अवतार हैं; और नर में जो अभिव्यक्ति है वही बहिर्जगत् में उनका चिह्न और विकास है।

इस प्रकार जब अवतार-तत्व हमारी समझ में आ जाता है तब हम देखते हैं कि चाहे गीता की मूलगत शिक्षा—जिसको जानना ही हमारा प्रस्तुत विषय है—की दृष्टि से हो, या आम तौर पर आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से हो, इस ग्रंथ के बाह्य पहलू का महत्व गौण ही है। यूरोप में ईसा की ऐतिहासिकता पर जो वाद-विवाद चलता है वह अध्यात्मचेता भारतवर्ष के विचार में प्रायः समय का दुरुपयोग ही है; ऐसे वाद-विवाद को वह ऐतिहासिक दृष्टि से तो महत्व देगा, पर उसकी दृष्टि में इसका कोई धार्मिक महत्व नहीं है, क्योंकि ईसा नामक कोई मनुष्य यूसुफ नाम के किसी बढ़ई के पुत्र-रूप से नजरथ या बेथलहम में पैदा

---

१ नवद्वीप के अवतार श्री चैतन्य के विषय में यह कहा गया है कि वे अंशतः या कभी-कभी भागवत चैतन्य और चिच्छक्ति द्वारा अधिकृत हो जाते थे।

हुए, पढ़े और राजद्रोह के किसी सच्चे या बनावटी अपराध में मृत्युदंड से दंडित हुए या नहीं, इन बातों से आखिर क्या आता-जाता है जब कि हम आध्यात्मिक अनुभव से अपने अंत:स्थित ईसा को जान सकते हैं और ऊर्ध्व चेतना में ऊपर उठ-कर उनकी शिक्षा की ज्योति में निवास कर सकते हैं, ईसा का सूली पर चढ़ना भगवान् के साथ जिस ऐक्य का प्रतीक है उस ऐक्य के द्वारा प्रकृति-विधान की दासता से मुक्त हो सकते हैं? ईसा अर्थात् ईश्वर का बनाया हुआ मनुष्य यदि हमारे अध्यात्मभाव में स्थित है तो इस बात का बहुत अधिक मूल्य नहीं दीखता कि मेरी के कोई पुत्र जूडिया में शरीरत: थे या नहीं और उन्होंने कष्ट झेले और अपने प्राणों को न्योछावर किया या नहीं। इसी प्रकार जिन श्रीकृष्ण का हमारे लिये महत्व है वे भगवान् के शाश्वत अवतार हैं, कोई ऐतिहासिक गुरु या मनुष्यों के नेता नहीं।

इसलिए गीतोपदेश के सारतत्व को ग्रहण करने के लिए हमें महाभारत के उन मानव-रूप भगवान् श्रीकृष्ण के केवल आध्यात्मिक मर्म के साथ ही मतलब रखना चाहिए जो इस कुरुक्षेत्र की संग्राम-भूमि में हमारे सामने अर्जुन के गुरु-रूप में अवस्थित हैं। ऐतिहासिक श्रीकृष्ण भी थे, इसमें कोई संदेह नहीं। छांदोग्य उपनिषद् में, पहले-पहल, यह नाम आता है और वहाँ इनके बारे में जो कुछ मालूम होता है वह इतना ही है कि आध्यात्मिक परंपरा में ब्रह्मवेत्ता के रूप में उनका नाम सुप्रसिद्ध था, उनका व्यक्तित्व और उनका इतिवृत्त लोगों में इतना व्यापक था कि केवल देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण कहने से ही लोग जान जाते थे कि किसकी चर्चा हो रही है। इसी उपनिषद् में विचित्रवीर्य के पुत्र राजा धृतराष्ट्र का भी नामोल्लेख है। और, चूंकि यह परंपरा इन दोनों नामों को महाभारत-काल में भी इतने निकट संपर्क में चलाये चली है, कारण ये दोनों-के-दोनों ही महाभारत के प्रमुख व्यक्ति हैं, इसलिए हम इस निर्णय पर भली प्रकार पहुँच सकते हैं कि ये दोनों वास्तव में समकालीन थे और यह कि इस महाकाव्य में अधिकतर ऐति-हासिक व्यक्तियों की ही चर्चा हुई है और कुरुक्षेत्र के संबंध में किसी ऐसी ऐति-हासिक घटना का ही उल्लेख है जिसकी छाप इस जाति के स्मृति-पट पर अच्छी तरह पड़ी हुई थी। यह बात भी ज्ञात है कि ईसा का जन्म होने से पहले की शताब्दियों में श्रीकृष्ण और अर्जुन पूजे जाते थे; और, यह मान लेने का कुछ कारण है कि यह पूजा किसी ऐसी धार्मिक या दार्शनिक परंपरा के कारण ही होती होगी, जहाँसे गीता ने अपने बहुत-से तत्वों को, यहाँतक कि ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वय की भित्ति को भी लिया होगा, और शायद यह भी माना जा सकता है कि ये मानव श्रीकृष्ण ही इस संप्रदाय के प्रवर्तक, पुन: संस्थापक

या कम-से-कम कोई पूर्वाचार्य रहे होंगे। इसलिए गीता का बाह्य रूप पीछे चाहे कुछ बदला भी हो तो भी यह भारतीय विचारधारा के रूप में श्रीकृष्ण के ही उपदेश का फल है और इस उपदेश का ऐतिहासिक श्रीकृष्ण के साथ तथा अर्जुन और कुरुक्षेत्र के युद्ध के साथ संबंध केवल कवि की कल्पना ही नहीं है। महाभारत में श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और अवतार भी ; इनकी उपासना और इनके अवतार होने की मान्यता देश में उस समय तक प्रस्थापित हो चुकी थी जब ईसा के पूर्व (पाँचवीं और पहली शताब्दी के बीच में) महाभारत की प्राचीन कहानी और कविता या महाकाव्य-परंपरा ने अपना वर्तमान रूप धारण किया। इस काव्य में अवतार की बाल-वृंदावन-लीला की कथा या किंवदंती का भी संकेत है जिसे पुराणों ने इतने प्रबल और सतेज आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में वर्णित किया है कि उसका भारत के धार्मिक मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। हरिवंश में भी श्रीकृष्ण की लीला का वर्णन है, इसमें स्पष्ट ही प्रायः उपाख्यान भरे हैं और शायद सब पौराणिक वर्णन हैं ही इन्हीं के आधार पर।

इतिहास की दृष्टि से इन सबका काफी महत्व है, फिर भी हमारे प्रस्तुत विषय के लिये इनका कुछ भी उपयोग नहीं है। यहाँ केवल भगवान् गुरु के उस रूप से मतलब है जिसको गीता ने हमारे सामने रखा है और मानव-जीव को आध्यात्मिक प्रकाश देनेवाली उस शक्ति से मतलब है जिसको देने के लिये ये गुरु आये हैं। गीता मानव-रूप में भगवान् के अवतार लेने के सिद्धान्त को मानती है ; क्योंकि भगवान् गीता में मानव-रूप में बारंबार युग-युग में प्रकट होने की बात कहते हैं।[1] यह प्राकट्य तब होता है जब कि वे शाश्वत अजन्मा अपनी माया के द्वारा, अपनी अनंत चिच्छक्ति से सांत रूपों का जामा पहनकर संभूति की अवस्थाओं को—जिन्हें हम जन्म कहते हैं—धारण करते हैं। परन्तु गीता में भगवान् के इस रूप पर नहीं, बल्कि परात्पर, विराट् और आंतरिक रूप पर जोर दिया गया है, वे जो समस्त वस्तुओं के उद्गम हैं, सबके स्वामी हैं और मनुष्य के हृदय में वास करते हैं। इन्हीं अन्तःस्थित भगवान् से वहाँ मतलब है जहाँ गीता में उग्र आसुर तप के करनेवालों के विषय में यह कहा गया है कि ये **"अन्तः शरीरस्थं मां"** मुझ भगवान् को कष्ट देते हैं या जहाँ यह कहा गया है कि ये असुर **"मानुषीं तनुमाश्रितं मां"** मनुष्य-शरीर में रहनेवाले मुझसे द्वेष करके पाप करते हैं और वहाँ भी जहाँ यह कहा गया है कि इनके अज्ञान-तम को "प्रज्वलित ज्ञानदीप के द्वार" मैं "नष्ट कर देता हूँ" **(नाशयामि ज्ञानदीपेन**

१ बहूनि मे व्यतीतानि·····संभवामि युगे युगे।

भास्वता)। अतएव, ये सनातन अवतार, मानव-जीव में सदा वर्तमान रहनेवाला यह चैतन्य, मनुष्य में रहनेवाले ये भगवान् ही प्रत्यक्ष प्रकट होकर गीता में मानव-आत्मा से बोल रहे हैं, जब वह जगत् के दु:खमय रहस्य के आमने-सामने खड़ी है। उसको जीवन के आशय का और भागवत कर्म के गुह्य तत्व का बोध दे रहे हैं, और दे रहे हैं भागवत ज्ञान और जगदीश्वर के आश्वासक और बलदायक शब्द तथा उसका पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। यही वह चीज है जिसे भारत की धार्मिक चेतना अपने समीप ले आने का प्रयत्न करती है, फिर चाहे उसका रूप कुछ भी क्यों न हो, चाहे वह रूप मंदिरों में स्थापित प्रतीकात्मक मानव-आकार की मूर्त्ति हो अथवा अवतारों की उपासना हो या उस एक जगद्गुरु की वाणी को सुनानेवाले गुरु की भक्ति हो। इन सबके द्वारा वह उस आंतरिक वाणी के प्रति जागृत होने की चेष्टा करती है, उस अरूप के रूप को खोजती है और उस अभिव्यक्त भागवत शक्ति, प्रेम और ज्ञान के आमने-सामने आ जाती है।

दूसरी बात यह है कि इन मानव श्रीकृष्ण का एक लाक्षणिक, प्राय: प्रतीकात्मक मर्म है, यही महाभारत के महान् कर्म के प्रवर्तक हैं, नायक-रूप से नहीं, बल्कि उसके गुप्त केन्द्र और अज्ञात संचालक के रूप से। यह कर्म एक विराट् कर्म है जिसमें मनुष्यों और राष्ट्रों का सारे-का-सारा संसार सम्मिलित है, इनमें कुछ लोग और राष्ट्र ऐसे हैं जो केवल इस कर्म और इसके परिणाम के सहायक होकर ही आये हैं, जिससे उनका अपना कोई लाभ नहीं है, श्रीकृष्ण इनके नेता हैं ; कुछ लोग ऐसे हैं जो इस कर्म के विरोधी हैं और उनके, श्रीकृष्ण भी विरोधी हैं, उनकी चालों को उलटानेवाले और उनका संहार करनेवाले हैं ; और कुछ लोग तो यहांतक समझते हैं कि इस सारे अनर्थ के मूल श्रीकृष्ण हैं, जो पुरानी व्यवस्था, सुपरिचित जगत् और पुण्य और धर्म की सुरक्षित परंपरा को मिटाये दे रहे हैं ; इनमें फिर कुछ लोग ऐसे हैं जिनके द्वारा यह कर्म सिद्ध होनेवाला है, श्रीकृष्ण उनके उपदेष्टा और सुहृद् हैं। जहाँ यह कर्म अपनी प्राकृतिक गति से हो रहा है और इस कर्म के करनेवालों को उनके शत्रुओं से पीड़ा पहुँचती है और उन्हें उन अग्नि-परीक्षाओं को पार करना पड़ता है जो उनको प्रभुत्व-लाभ करने के लिये तैयार करती हैं वहाँ अवतार अप्रकट हैं अथवा प्रसंग-विशेष पर आवश्यक सांत्वना और सहायता भर के लिये प्रकट होते हैं, किन्तु प्रत्येक संकट में उनके सहायक हाथों का अनुभव होता है, फिर भी यह अनुभव इतना हलका है कि इस विराट् कर्म के सभी कर्ता अपने-आपको ही कर्ता मानते हैं और अर्जुन भी, जो उनका अतिप्रिय सखा और उनके हाथ का मुख्य यंत्र या उपकरण है

वह भी, यह अनुभव नहीं करता कि 'मैं उपकरण हूँ' और उसे यह बात अंत में स्वीकार करनी पड़ती है कि अबतक 'मैंने अपने सखा सुहृद् भगवान् को सचमुच में जाना ही नहीं था।' अर्जुन को उनके ज्ञान से बराबर मंत्रणा मिलती रही, उनकी शक्ति से सहायता भी मिलती रही, अर्जुन उन्हें प्यार करता रहा और उनसे प्यार पाता भी रहा, अवतार के भगवत्स्वरूप को जाने बिना अर्जुन उन्हें पूजता भी रहा। और, सब लोगों की तरह अर्जुन को भी अहंकार के द्वारा ही पथ-प्रदर्शन मिलता रहा और उसे जो मंत्रणा, सहायता और आदेश दिया गया वह अज्ञान की भाषा में ही दिया गया और अर्जुन ने भी उसे अज्ञान के विचारों के द्वारा ही ग्रहण किया। और, यह उस समय तक चलता रहा जबतक कि कुरुक्षेत्र के मैदान में इस संघर्ष की भीषण अवस्था सामने नहीं आयी, और तब अवतार योद्धा बनकर नहीं, बल्कि युद्ध की भवितव्यता को वहन करनेवाले रथ के ऊपर विराजमान सारथी बनकर सामने आये, उन्होंने अपने स्वरूप को अपने चुने हुए यंत्रों के आगे भी प्रकट नहीं किया।

इस प्रकार श्रीकृष्ण यहाँ मानो मनुष्यों के साथ भगवान् के व्यवहारों के प्रतीक बन जाते हैं। इस जगत् में हम लोगों के द्वारा जो सब कर्म कराया जाता है वह हम लोगों के अहंकार और अज्ञान के रास्ते से ही कराया जाता है और हम लोग यह समझते हैं कि हम ही अपने सब कर्मों के कर्ता हैं, और इनका जो कुछ फल होता है उसके हम ही असली कारण हैं। ऐसा समझकर हम अपने-आपपर गर्व करते हैं, पर यथार्थ में जो चीज हमसे यह सब कराती है वह कुछ और ही है और उसे हम लोग यदा-कदा प्रसंगवश ही ज्ञान, अभीप्सा और शक्ति के किसी अस्पष्ट स्रोत के रूप में देख पाते हैं या किसी सिद्धांत या प्रकाश या सामर्थ्य के रूप में भी जानते और मानते हैं और उसके वास्तविक रूप को जाने बिना ही उसे पूजते भी हैं; वह चीज वास्तव में क्या है यह हमें तबतक नहीं मालूम होता जबतक वह प्रसंग नहीं उपस्थित होता जो हमें बलात् इस रहस्य के सामने लाकर खड़ा कर दे। भगवान् श्रीकृष्ण मानव-जीवन के समस्त विशाल कर्म के अन्दर क्रियाशील हैं, केवल उसके आभ्यंतर जीवन में ही नहीं, बल्कि जगत् के सारे अज्ञान-अंधकारमय क्रम के अन्दर भी, जिसका अनुमान हम अपनी बुद्धिके टिमटिमाते हुए प्रकाश से करते हैं जब वह हमारी अनिश्चित अग्रगति के आगे एक छोटे दायरे को अस्पष्ट रूप से दिखाता है। गीता की यही विशेषता है कि वास्तव में एक ऐसे ही कर्म की पराकाष्ठा से गीता के उपदेश का प्रादुर्भाव हुआ है और उसीसे गीता के कर्म-सिद्धांत को इतना महत्व प्राप्त हुआ और उसका इतना सुस्पष्ट और जोरदार प्रतिपादन हुआ है जितना अन्य

किसी भारतीय धर्मग्रंथ का नहीं देख पड़ता। केवल गीता में ही नहीं, महाभारत के अन्य स्थानों में भी श्रीकृष्ण ने कर्म की आवश्यकता की बड़े जोर के साथ घोषणा की है ; पर उसका रहस्य और हमारे कर्मों के पीछे छिपी हुई दिव्य सत्ता तो गीता में ही प्रकट की गयी है।

अर्जुन और श्रीकृष्ण के अर्थात् मानव-आत्मा और भागवत आत्मा के सख्य का रूपक अन्य भारतीय ग्रंथों में भी आता है, जैसे एक स्थान में यह वर्णन है कि इन्द्र और कुत्स एक ही रथ पर बैठे हुए स्वर्ग की ओर यात्रा कर रहे हैं, जैसे उपनिषदों में दो पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हुए मिलते हैं, अथवा जैसे यह वर्णन आता है कि नर-नारायण ऋषि ज्ञानार्थ एक साथ तपस्या कर रहे हैं। पर इन तीनों उदाहरणों में, जैसा कि गीता ने कहा है, वह ज्ञान ही लक्ष्य है जिसमें, "सारा कर्म अपनी पूर्णता प्राप्त करता है"; परन्तु गीता में वह कर्म लक्ष्य है जो उस ज्ञान को प्राप्त कराता है और जिसमें ज्ञाता भगवान् ही कर्म के कर्ता बनकर सामने आते हैं। यहाँ अर्जुन और श्रीकृष्ण, अर्थात् मनुष्य और भगवान् ऋषि-मुनियों के समान किसी तापस आश्रम में ध्यान करने नहीं बैठे हैं, बल्कि रणभेरियों के तुमुल निनाद से आकुल समर-भूमि में शस्त्रों की खनखनाहट के बीच युद्ध के रथ पर रथी और सारथी के रूप में विद्यमान हैं। अतएव, गीता के उपदेष्टा गुरु केवल मनुष्य के वे अंतर्यामी ईश्वर ही नहीं हैं जो केवल ज्ञान के वक्ता के रूप में ही प्रकट होते हों, बल्कि मनुष्य के वे अंतर्यामी ईश्वर हैं जो सारे कर्म-जगत् के संचालक हैं, जिनसे और जिनके लिये समस्त मानव-जीवन यात्रा कर रहा है। वे सब कर्मों और यज्ञों के छिपे हुए स्वामी हैं और सबके सुहृद् हैं।

मानव-शिष्य

तो ऐसे हैं गीता के भगवान् गुरु, सनातन अवतार, स्वयं श्री भगवान् जो मानव-चैतन्य में अवतीर्ण हुए हैं, ये वे महाप्रभु हैं जो प्राणिमात्र के हृदय में अवतीर्ण हुए हैं, ये वे हैं जो परदे की आड़ में रहकर हमारे समस्त चिंतन, कर्म और हृदय की खोज का भी उसी प्रकार संचालन करते हैं जैसे दृश्यमान और इन्द्रियग्राह्य रूपों, शक्तियों और प्रवृत्तियों की ओट में रहकर इस जगत् के,—जिसको उन्होंने अपनी सत्ता में अभिव्यक्त किया है,—महान् विश्वव्यापी कर्म का संचालन करते हैं। उन्नत होने की हमारी संपूर्ण चेष्टा और खोज शांत, तृप्त और परिपूर्ण हो जाती है यदि हम इस परदे को फाड़ सकें और अपने इस बाह्य स्व के परे अपनी वास्तविक आत्मा को प्राप्त हों, अपनी सत्ता के इन सच्चे स्वामी के अन्दर अपनी समग्र सत्ता को अनुभव कर सकें, अपना व्यक्तित्व इन एक वास्तविक पुरुष पर उत्सर्ग करके उनके होकर रहें, अपने मन की सदा छितरी हुई और सदा चक्कर काटनेवाली कर्मण्यताओं को उनके पूर्ण प्रकाश में मिला दें, अपने प्रमादशील बेचैन संकल्प और चेष्टाओं को उन्हींके महत्, ज्योतिर्मय और अखंड दिव्य संकल्प की भेंट कर दें, अपनी नानाविध बहिर्मुखी वासनाओं और उमंगों को, उन्हींके स्वतःसिद्ध आनन्द की परिपूर्णता में त्यागकर, तृप्त करें। यही जगद्गुरु हैं जिनके सनातन ज्ञान के ही बाकी सब उत्तमोत्तम उपदेश केवल विभिन्न प्रतिबिंब और आंशिक शब्दमात्र हैं। यही वह ध्वनि है जिसे सुनने के लिये जीव को जगाना होगा।

अर्जुन—जो इन गुरु का शिष्य है और जिसने युद्धक्षेत्र में दीक्षा ली है—इस धारणा का पूरक भाग है; अर्जुन संघर्ष में पड़ी हुई उस मानव-आत्मा का नमूना है जिसे अभी तक ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, पर जो मानव-जाति में विद्यमान उन श्रेष्ठतर तथा भागवत आत्मा के उत्तरोत्तर अधिकाधिक समीप में रहने तथा उनके अंतरंग सखा होने के कारण इस ज्ञान को कर्म-जगत् में प्राप्त करने का अधिकारी हो गया है। गीता के प्रतिपादन की एक ऐसी पद्धति भी है जिससे केवल यह उपाख्यान ही नहीं, बल्कि संपूर्ण महाभारत मनुष्य के आंतरिक जीवन

का एक रूपकमात्र बन जाता है, और फिर उसमें हमारे इस बाह्य जीवन और कर्म का कोई संबंध नहीं रहता, बल्कि इसका संबंध अंतरात्मा और हमारे अन्दर स्वत्व के लिये लड़नेवाली शक्तियों के युद्ध से रह जाता है। इस प्रकार के विचार की पुष्टि इस महाकाव्य के साधारण स्वरूप और इसकी यथार्थ भाषा से तो नहीं होती और यदि इस विचार पर बहुत अधिक जोर दिया जाय, तो गीता की सीधी-सादी दार्शनिक भाषा आदि से अंत तक क्लिष्ट, कुछ-कुछ निरर्थक दुर्बोधता में बदल जायगी। वेद की और कम-से-कम पुराणों के कुछ अंश की भाषा स्पष्ट रूप से रूपकात्मक है, ये स्थूल दृश्यमान जगत् की ओट में रहनेवाली वस्तुओं के वर्णन से और उनके दिग्दर्शन से भरे पड़े हैं, पर गीता में जो कुछ कहा गया है, साफ-साफ कहा गया है और मनुष्य के जीवन में जो बड़ी-बड़ी नैतिक और आध्यात्मिक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं उन्हींको हल करना इसका हेतु है, इसलिए इसकी स्पष्ट भाषा और सुस्पष्ट विचारों को एक ओर धरकर अपने मन के अनुसार तोड़-मरोड़कर उनका अर्थ लगाना ठीक नहीं। परन्तु इस विचार में इतना सत्य तो है ही कि गीता की शिक्षा को जितने सुन्दर ढंग से यहाँ बैठाया गया है वह यदि प्रतीकात्मक न भी हो, तो भी उसको एक विशिष्ट प्रकार का नमूना अवश्य ही कहा जा सकता है, और वास्तव में गीता जैसे ग्रंथ की शिक्षा को इसी प्रकार बैठाना ही चाहिये, नहीं तो यह जो कुछ रचना कर रही है उसके साथ इसका कोई संबंध नहीं रह जायगा। यहाँ अर्जुन एक महान् जगद्व्यापी संघर्ष में राष्ट्रों और मनुष्यों के भगवत्-परिचालित कर्म को करनेवाला एक प्रतिनिधि-पुरुष है। गीता में यह उस कर्मनिष्ठ मानव-जीव का नमूना है जो अपने कर्म द्वारा कर्म के उस उत्कृष्ट और अति भीषण संकट के समय इस समस्या के सामने आ पड़ा है कि मनुष्य के जीवन में और आत्मस्थिति में, यहाँतक कि पूर्णतासंबंधी शुद्ध नैतिक आदर्श में भी आपाततः जो यह असंगति दिखायी देती है वह आखिर क्या है?

अर्जुन इस युद्ध में रथी है और भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथी। वेद में भी एक जगह यह वर्णन आता है कि मानव-आत्मा और देव एक रथ पर बैठे लड़ाई लड़ते हुए किसी महान् गंतव्य स्थान की ओर जा रहे हैं। पर वहाँ वह केवल आलंकारिक वर्णन है, रूपक है। देव वहाँ इन्द्र हैं, जो ज्योतिर्लोक और अमृत के स्वामी हैं, दिव्य ज्ञान की शक्ति हैं और वे असत्य, तमस्, परिमितता और मृत्यु की संतानों के साथ युद्ध करनेवाले सत्यान्वेषी मनुष्यों की सहायता के लिये नीचे उतरते हैं; युद्ध आत्मा के शत्रुओं के साथ है जो हमारी सत्ता के उच्चतर लोक का रास्ता रोके हुए हैं; और गंतव्य स्थान है वह वृहत् लोक जो परम सत्य

के आलोक से आलोकित है और जो सिद्ध आत्मा के चिन्मय अमृतत्व का धाम है, जहाँके स्वामी इन्द्र हैं। मानव-आत्मा कुत्स है, वह अपने कुत्स नाम के अनुरूप सतत साक्षी चैतन्य के ज्ञान का साधक है, वह अर्जुन या अर्जुनी का पुत्र है, शुक्ल है, शुक्ल माता श्वित्रा का शिशु है, अर्थात् ऐसा सात्विक, विशुद्ध और प्रकाशमय अंत:करणवाला जीव है जो दिव्य ज्ञान की अटूट गरिमा-महिमा की ओर सदा उन्मुख है। और, जब रथ अपने गंतव्य स्थान अर्थात् इन्द्र के अपने लोक में पहुँचता है तब मानव कुत्स उन्नत होते-होते अपने देव सखा के साथ इतना सादृश्य लाभ करता है कि कौन इन्द्र है और कौन कुत्स, इसकी पहचान इन्द्र की अर्द्धांगिनी शची के कारण ही हो पाती है, क्योंकि शची "ऋत-प्रज्ञा" हैं। यह रूपक स्पष्ट ही मनुष्य के आंतरिक जीवन का है ; ज्ञान का प्रकाश जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे मनुष्य सनातन भगवान् का सादृश्य लाभ करता है, यही बात इस रूपक के द्वारा दिखायी गयी है। परन्तु गीता का उपक्रम कर्म से होता है और अर्जुन कर्मी है, ज्ञानी नहीं, योद्धा है, ऋषि-मुनि या तत्व-जिज्ञासु नहीं।

गीता में आरंभ से ही शिष्य की यह विशिष्ट मनोभूमि स्पष्ट करके बतला दी गयी है और अथ से इति तक इसका पूर्ण निर्वाह हुआ है। सबसे पहले उसकी यह विशिष्ट मनोभूमि प्रकट होती है उसके अपने कार्य के संबंध में, अर्थात् जिस महान् संहार-कार्य का वह प्रधान यंत्र बनने जा रहा है उसके संबंध में जिस ढंग से उसे होश आया है उसमें, इस होश के आते ही जो विचार उसके जी में उठते हैं उनमें और जिस दृष्टिकोण और प्रेरक-भाव के कारण उसमें इस महाभयानक विपत्ति से पीछे हटने की इच्छा होती है उसमें ये विचार, यह दृष्टिकोण और ये प्रेरक-भाव किसी दार्शनिक या किसी गंभीर विचारशील व्यक्ति के अथवा इस प्रसंग के या ऐसे ही किसी अन्य प्रसंग के सम्मुख खड़े हुए किसी आध्यात्मिक वृत्तिवाले पुरुष के नहीं हो सकते। इनको हम व्यावहारिक या फलवादी मनुष्य के दिमाग की उपज कह सकते हैं, ऐसे मनुष्य की जो भावुक, राग-द्वेषयुक्त, नैतिक और चतुर है, जिसे किसी गंभीर और मौलिक भाव को पकड़ने अथवा किसी गहराई की थाह लेने का अभ्यास नहीं, उसे ऊँचे पर बँधे-बँधाये विचारों को सोचने और वैसे ही कर्म को करने का तथा संकटों और कठिनाइयों को विश्वासपूर्वक पार करने का अभ्यास है, किन्तु अब वह देखता है कि उसके सारे-के-सारे पैमाने उसके काम नहीं आ रहे तथा उसको अपने ऊपर और अपने जीवन पर जो विश्वास था वह एक ही लहर में बहा जा रहा है। अर्जुन जिस संकट में से गुजर रहा है वह इस तरह का है।

गीता की भाषा में अर्जुन त्रिगुण के अधीन है और त्रिगुण के इसी क्षेत्र में

अबतक निश्चित होकर साधारण मनुष्यों की तरह चलता रहा है। उसका नाम अर्जुन इतने ही अर्थ में चरितार्थ होता है कि वह यहांतक शुद्ध और सात्विक है कि उसका जीवन ऊँचे और स्पष्ट सिद्धातों और आवेगों से परिचालित होता है और वह स्वभावतः अपनी निम्न प्रकृति को उस महत्तम धर्म के अधीन रखता है जिसे वह जानता है। वह उद्दंड आसुरी प्रवृत्तिवाला पुरुष नहीं है, अपने मनोविकारों का दास नहीं है, उसे शान्ति, संयम तथा कर्त्तव्य-निष्ठा की शिक्षा मिली है, वह देश-कालमान्य उत्कृष्ट मर्यादाओं का, जिनमें उसका जीवन बीता है, तथा जिस धर्म और सदाचार के अन्दर वह पला है उनका पालन करनेवाला है। पर अन्य मनुष्यों के समान उसमें भी अहंकार है, उसका अहंकार शुद्धतर और सात्विक अवश्य है जो मुख्यतः अपने ही स्वार्थों, वासनाओं और मनोविकारों के दासत्व में न धँसा रहकर, धर्म, समाज और दूसरों के हित का भी विचार रखता है। शास्त्रों के अनुसार ही वह रहा और चला है। उसके चित्त में जो सबसे प्रधान भाव या विचार है, मनुष्य के जिस मानदंड के अनुसार वह चलता है, वह है धर्म, अर्थात् सामूहिक, भारतीय धारणा के अनुसार मानव-जाति का परिचालन करनेवाला धार्मिक, सामाजिक और नैतिक नियम, विशेषकर स्वजाति-धर्म अर्थात् क्षात्र धर्म, क्योंकि वह क्षत्रिय है, धीर-वीर उदार राजपुत्र है, योद्धा है, आर्यों का नेता है, इसी क्षात्र-धर्म के अनुसार सदा पुण्य मार्ग पर चलता हुआ वह यहांतक आया है और अब यहाँ आकर अकस्मात् वह देखता है कि इसने उसको एक अति भीषण, अभूतपूर्व संहार-कर्म के सामने, उस कार्य के प्रमुख पात्ररूप से ला पटका है, ऐसे गृहयुद्ध के सामने ला पटका है जिसमें सभी सुसंस्कृत आर्यराष्ट्र सम्मिलित हैं और जिसमें उनके समस्त मानव-मुकुटमणि नष्ट हो जायेंगे और भय है कि उनकी व्यवस्थित सभ्यता में विशृंखला आ जायगी और वह विनाश को प्राप्त हो जायगी।

फलवादी मनुष्य की यह विशेषता है कि वह अपने संवेदनों के द्वारा ही अपने कर्म के आशय के प्रति सचेत होता है। अर्जुन ने अपने सखा और सारथी से कहा, 'मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच ले चलिये', किसी गंभीर भावना से नहीं, बल्कि दर्प के साथ उन करोड़ों मनुष्यों का मुँह एक निगाह में देख लेने के लिये जो अधर्म का पक्ष लेकर आये थे और जिनका अर्जुन को इस रणरंग में सामना करना है, जिन्हें धर्म की विजय के लिये जीतना और मारना है। परन्तु, उस दृश्य को देखने के साथ ही उसकी आँखें खुलती हैं और इस गृह-कलह और पारस्परिक युद्ध का अर्थ उसकी समझ में आता है—यह वह युद्ध है जिसमें एक ही जाति, एक ही राष्ट्र, एक ही वंश के नहीं, बल्कि एक ही कुल और एक ही घर

के लोग एक-दूसरे के शत्रु बन आमने-सामने खड़े हैं। जिन लोगों को यह सामाजिक मनुष्य परम प्रिय और पूज्य मानता है उन्हीं लोगों का उसे शत्रु के नाते सामना करना और वध करना होगा, पूज्यपाद गुरु और आचार्य, पुराने संगी-साथी, मित्र, सहयोद्धा, दादा, चाचा, और वे लोग जो रिश्ते में पिता के समान, पुत्र के समान, पौत्र के समान हैं, वे लोग जिनके साथ रक्त का संबंध है या जो साले-संबंधी हैं—ये सब सामाजिक संबंध यहाँ तलवार के घाट उतारने हैं। यह नहीं कह सकते कि इन बातों को अर्जुन पहले न जानता था, पर उसको इनका जीवंत अनुभव नहीं हुआ था, क्योंकि उसको तो अपने दावों की, अपने ऊपर हुए अत्याचारों की याद थी। उसे यह धुन सवार थी कि सिद्धांतों और न्याय के लिये लड़ना होगा, न्याय और धर्म की रक्षा करनी होगी तथा अधर्म और अत्याचार से युद्ध करके उनको मार भगाना होगा। इसलिए उसने इस युद्ध के इस पहलू के बारे में न तो कभी गहराई के साथ सोचा न अपने हृदय के अंदर और जीवन के मर्मस्थल में अनुभव ही किया। भगवान् सारथी यह बात अब उसकी अंतर्दृष्टि के सामने लाते हैं, उसकी आँखोंके आगे सनसनीखेज तरीकेसे उपस्थित करते हैं और इससे उसकी संवेदनात्मक, प्राणमय और भावमय सत्ताके मर्म-स्थानोंमें एक गहरा धक्कासा लगता है।

इसका पहला परिणाम यह होता है कि उसकी इन्द्रियाँ और उसका शरीर भयानक संकट में पड़ जाते हैं, जिससे उपस्थित कर्म और उसके भौतिक फल से और फिर जीवन से ही उसका चित्त उचाट हो जाता है। अहंभावयुक्त मानव-जाति के प्राण जिस सुख और भोग के पीछे पड़े रहते हैं उनसे अर्जुन अपना मुँह फेर लेता है और क्षत्रियों के प्राणों में विजय, राज्य, अधिकार और मनुष्यों पर शासन करने की जो प्रधान लालसा रहती है, अर्जुन उसका भी त्याग कर देता है। यह धर्मयुद्ध आखिर है किसलिए, इस बात को यदि व्यावहारिक अर्थ में विचारा जाय, तो इसका सिवाय इसके और क्या हेतु है कि हमारी, हमारे भाइयों और हमारे दलवालों की बन आवे, हम लोग अधिकारारूढ़ हों, नाना प्रकार के भोग भोगें और संसार में राज करें? पर इन चीजों के लिये यदि इतनी बड़ी कीमत देनी पड़ती हो, तो ये व्यर्थ हैं। इन चीजों का स्वयं अपना मूल्य कुछ भी नहीं है, ये तो सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को सुसंपन्न बनाये रखने के साधनमात्र हैं और 'मैं अपने परिवार और जाति के लोगों का संहार करके इन उद्देश्यों को ही नष्ट करने जा रहा हूँ।' माया-ममता पुकार उठती है, अरे, जिन्हें तुम शत्रु मानकर मारना चाहते हो वे तो अपने ही लोग हैं जिनके लिये जीवन की और सुख की कामना की जाती है। सारी पृथ्वी का, या तीनों लोकों का राज लेकर भी इन्हें भला कौन मारना चाहेगा? इन्हें मारकर फिर यह

जीवन ही क्या रहेगा ? उसमें क्या सुख और क्या संतोष होगा ? ओफ ! यह सब तो एक महापापमय कांड है ! अब वह नैतिक बोध संवेदनों और माया-ममता के विद्रोह का समर्थन करने के लिये जग उठता है, यह पाप है, आपस के लोगों की मार-काट में न कहीं न्याय है, न धर्म ; विशेषत: जब कि मारे जाने-वाले स्वभावत: पूज्य और प्रेम-भाजन हैं, जिनके बिना जीना भार होगा, इन पवित्र भावनाओं की हत्या करना कभी पुण्य नहीं हो सकता, यही नहीं, यह पाप है, दारुण पाप है। माना कि अपराध उनका है, आक्रमण का आरंभ उनकी ओर से हुआ, पाप उनसे शुरू हुआ, लोभ और स्वार्थांधता के पातकी वे ही हैं जिनके कारण यह दशा उत्पन्न हुई ; फिर भी जैसी परिस्थिति है उसमें अन्याय का जवाब हथियारों से देना खुद ही एक पाप होगा और यह पाप उनके पाप से भी बढ़कर होगा, क्योंकि वे तो लोभ से अंधे हो रहे हैं और अपने पाप का उन्हें ज्ञान नहीं, पर हम लोग तो जानते हैं कि यह लड़ाई लड़ना पाप है। लड़ाई भी किसलिए ? कुल-धर्म की रक्षा के लिए, जाति-धर्म की रक्षा के लिए, राष्ट्र-धर्म की रक्षा के लिए ? पर इन्हीं धर्मों का तो इस गृह-युद्ध से नाश होगा ; कुल नष्टप्राय होगा, जाति का चरित्र कलुषित होगा और उसकी शुद्धता नष्ट होगी, सनातन जाति-धर्म और कुलधर्म नष्ट होंगे। जाति ध्वस्त होगी, परंपरा टूट जायगी, लोग आचार-भ्रष्ट होंगे और इस अपराध के अपराधियों को मरक मिलेगा ; इस भयंकर गृह-युद्ध के यही प्रत्यक्ष परिणाम होंगे। इसलिए, अर्जुन गांडीव धनुष और कभी खाली न होनेवाला तरकस, जिनको देवताओं ने उसको इस विषम घड़ी के लिये दिया था, नीचे रखकर पुकार उठता है, 'मेरा कल्याण तो इसीमें अधिक है कि धृतराष्ट्र के पुत्र मुझ शस्त्रहीन और विरोध न करनेवाले को मार डालें ! मैं तो युद्ध नहीं करूँगा।'

अतएव, अर्जुन के ऊपर जो यह आंतरिक संकट आया उसका कारण किसी रहस्यवादी जिज्ञासु के अन्दर उठनेवाला कोई प्रश्न नहीं है, न यह इस कारण से ही पैदा हुआ है कि अर्जुन जीवन के दृश्यों से घबराकर अपनी दृष्टि को वस्तुओं के सत्य की, स्थिति के यथार्थ आशय की खोज में और इस जगत् की अंधेरी पहेली को सुलझाने या उससे बचने के लिये अंतर्मुखी करना चाहता हो, यह तो उस मनुष्य के इन्द्रिय, मन, प्राण, हृदय और धर्म-बुद्धि का विद्रोह है जो अबतक निश्चित भाव से कर्म और उसके प्रचलित मानदंड से संतुष्ट रहा है। पर इस मानदंड और इन कर्मों ने उसे एक ऐसे भीषण विप्लव में लाकर झोंक दिया है कि यहाँ वे कर्म और उनके वे मानदंड एक-दूसरे के और स्वयं अपने भी भयंकर विरोधी हो गये हैं और आचार का कोई आधार ही नहीं रह गया है जिसपर वह

खड़ा हो सके, जिसके सहारे वह चल सके, अर्थात् कोई धर्म ही नहीं रह गया।[1] मनोमय कर्मी पुरुष के ऊपर आनेवाली सबसे बड़ी आपत्ति यही है, यही उसकी सबसे बड़ी च्युति और अवनति है। इस विद्रोह का स्वरूप सहज और स्वाभाविक है; इन्द्रियों और मन का विद्रोह यों कि वे भय, अनुकंपा और जुगुप्सा से विवश हो गये हैं, प्राणों का विद्रोह यों कि कर्म के इष्ट और सुपरिचित उद्देश्यों में और जीवन के ध्येय में कोई आकर्षण, कोई श्रद्धा नहीं रह गयी, हृदय का विद्रोह यों कि समाज के अंगभूत मनुष्यमात्र के हृदय में स्नेह, श्रद्धा, सबके लिये समान सुख और संतोष की इच्छा आदि जो भाव होते हैं, वे ही उस कठोर कर्तव्य के विरुद्ध आकर खड़े हो गये, क्योंकि उस कर्तव्य से ये भाव कुचले जाने लगे; धर्म-बुद्धि का विद्रोह यों कि पाप और नरक की मौलिक भावनाएँ उठ खड़ी हुई और रुधिर-प्रदिग्ध भोग कहकर युद्ध से हटने का तकाजा करने लगीं; प्रकृत व्यवहार की दृष्टि से विद्रोह यों कि धर्माधर्म-विचार के इस मानदंड को मानने का यह फल देख पड़ा कि धर्म-कर्म का जो प्रकृत उद्देश्य है, वही इससे नष्ट हुआ जाता है। पर सबका परिणाम यह रहा कि अर्जुन के सर्वांत:करण का दिवाला निकल गया और **"कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:"** कहकर अर्जुन अपनी इसी अवस्था को प्रकट करता है, न केवल उसका विचार, बल्कि उसका हृदय, उसकी प्राणगत वासनाएँ, उसकी संपूर्ण चेतना ही उपहत हो गयी और वह **"धर्म-संमूढचेता:"** हो गया—धर्म का उसे कहीं पता नहीं चला, क्या करें और क्या न करें इसको स्थिर करने का कोई पैमाना नहीं मिला। बस, इसीलिए वह शिष्य होकर श्रीकृष्ण की शरण में आता है और वह यथार्थ में प्रार्थना करता है कि मुझे वह वस्तु दीजिये जिसको मैंने खो दिया है, एक सच्चा धर्म दीजिये, धर्म का एक स्पष्ट विधान बता दीजिये, एक मार्ग दिखा दीजिये जिसके सहारे मैं फिर दुबारा निश्चय के साथ चल सकूँ। वह इस जीवन या संसार के रहस्य और इस सबके उद्देश्य और हेतु को नहीं जानना चाहता, जानना चाहता है केवल धर्म।

तथापि भगवान् उसे वही रहस्य बतलाना चाहते हैं जिसे जानने की अर्जुन ने कोई इच्छा नहीं की, कम-से-कम उसका उतना ज्ञान तो देना ही चाहते हैं जो उसे किसी उच्चतर जीवन की ओर ले जाने के लिये आवश्यक है; क्योंकि भगवान् चाहते हैं कि अर्जुन सब धर्मों का त्याग कर दे तथा उसका एक ही वृहत् और विशाल धर्म हो और वह हो भगवान् में सचेतन होकर निवास करना तथा

---

१ धर्म शब्द का धात्वर्थ धारण करना है—अर्थात् धर्म माने वह विधि, मान, नियम, कर्म और जीवन जिसको धारण किया जाता है और जो सब पदार्थों को एकत्र धारण करता है।

उसी चेतना से युक्त होकर कर्म करना। इसलिए आचार के सामान्य मानकों के प्रति अर्जुन के अंतःकरण के विद्रोह की भलीभाँति जाँच करके भगवान् उसे वह बात बतलाना आरम्भ करते हैं जिसका सम्बन्ध आत्मिक अवस्था से है, कर्म के किसी बाह्य विधान से बिलकुल नहीं। अर्जुन को उपदेश किया जाता है कि तुम आत्मा की समता में निवास करो, कर्म के फलों की इच्छा त्याग दो, पाप-पुण्य-सम्बन्धी जो बौद्धिक विचार हैं उनसे ऊपर उठो, मन को समाधि में लगाकर, योगस्थ होकर अर्थात् भगवान् में ही सर्वथा स्थित होकर रहो और कर्म करो। अर्जुन को संतोष नहीं होता, वह जानना चाहता है कि यह स्थिति प्राप्त होने से मनुष्य के बाह्य कर्म पर क्या असर होगा, उसके भाषण पर, उसकी गति-विधि पर, उसकी अवस्था पर इसका क्या परिणाम होगा, इसके कारण इस कर्मनिष्ठ सजीव मानवप्राणी में क्या अंतर होगा? श्रीकृष्ण फिर भी, उन्हीं ज्ञान की बातों को विशद करते हैं जिन्हें वे यहाँतक बता चुके हैं, कर्म के पीछे रहनेवाली आत्मा की अपनी स्थिति का ही निर्देश करते हैं, स्वयं कर्म की कोई बात नहीं कहते। वह बतलाते हैं कि अपनी बुद्धि को कामना-वासनारहित समता की अवस्था में स्थिर रूप से रखो, बस इसी की जरूरत है। अर्जुन अधीर हो उठता है, क्योंकि जो आचार वह जानना चाहता था उसका कोई पता नहीं चलता, बल्कि यहाँ तो उसे संपूर्ण कर्म का अभाव ही देख पड़ता है। अर्जुन बड़ी व्यग्रता से पूछता है, "यदि बुद्धि को आप कर्म से श्रेष्ठ बतलाते हैं, तो मुझे इस घोर कर्म में क्यों लगाते हैं? आपकी दुतरफा मिली हुई बात से मेरी बुद्धि घबरा जाती है, एक बात निश्चित रूप से बताइये, जिससे मैं श्रेय की प्राप्ति कर सकूँ।" फलवादी मनुष्य के लिये आध्यात्मिक विचार तथा आन्तरिक जीवन का कोई मूल्य नहीं होता यदि इनसे उसे उस धर्म की प्राप्ति न होती हो जिसे वह खोजता है। उसकी खोज यही होती है कि वह सांसारिक जीवन को सुव्यवस्थित करने के लिये कोई विधान पा जाय, भले ही जरूरत होने पर यह विधान उसे संसार को छोड़ देने के लिये क्यों न कहे, कारण यह भी एक निश्चयात्मक बात होगी जिसको वह समझ सकेगा। परन्तु संसार में रहकर कर्म करना और फिर उससे परे रहना, यह एक ऐसी "व्यामिश्र" (मिली हुई) और चक्कर में डालनेवाली बात है जिसे ग्रहण करने के लिये उसमें धैर्य नहीं।

अर्जुन के शेष सभी प्रश्न और कथन इसी स्वभाव और चारित्र्य से उत्पन्न हुए हैं। जब उससे कहा जाता है कि आत्मस्थिति प्राप्त होने पर यह जरूरी नहीं कि कर्म का बाह्य रूप भी बदल जाय, कर्म सदा स्वभाव के अनुसार ही करना होगा, चाहे वह कर्म दूसरे के कर्म की तुलना में सदोष और त्रुटिपूर्ण ही क्यों न

प्रतीत हो, तब इस बात से उसका चित्त घबरा उठता है। स्वभाव के अनुसार कर्म करना होगा! किन्तु, अर्जुन का जो मुख्य विषय है अर्थात् इस कर्म को करने से पाप की जो आशंका होती है उसका क्या हुआ? क्या यह स्वभाव के कारण ही नहीं है कि मनुष्य मानो विवश होकर, अपनी मर्जी के खिलाफ भी पाप और अपराध करते हैं? इसी प्रकार जब श्रीकृष्ण आगे चलकर कहते हैं कि मैंने ही पुराकाल में यह योग विवस्वान् को बतलाया था, जो काल पाकर नष्ट हुआ और वही मैं आज तुम्हें फिर बता रहा हूँ, तब भी अर्जुन की व्यावहारिक बुद्धि चकरा गयी और उसने जब इसका खुलासा पूछा तो श्रीकृष्ण ने अवतार-तत्व और उसके सांसारिक प्रयोजन के सम्बन्ध में वे प्रसिद्ध वचन कहे, जिनका जहाँ-तहाँ पुनः-पुनः स्मरण किया जाता है। अर्जुन फिर श्रीकृष्ण के शब्दों से घबरा जाता है जब श्रीकृष्ण कर्म और कर्म-संन्यास दोनों का समन्वय करते हैं और वह फिर वही बात कहता है कि एक ही बात निश्चित रूप से बताइये, यह "व्यामिश्र" वाक्य नहीं। अर्जुन से जिस योग को अपनाने के लिये कहा जा रहा है उसका स्वरूप जब वह पूरे तौर पर समझ लेता है तो उसका फलवादी स्वभाव जो अपने मन के संकल्प, पसंद और इच्छा से ही कर्म में प्रवृत्त होना जानता है, इस योग को बहुत कठिन जानकर शंकित हो उठता है। अर्जुन पूछता है कि उस पुरुष की क्या गति होती है जो इस योग का साधन करता तो है पर योगसिद्धि को नहीं प्राप्त होता, क्या वह मानव कर्म, विचार और भाववाले इस जीवन को जिसे योग के लिये पीछे छोड़ दिया था तथा उस ब्राह्मी स्थिति को जिसे पाने के लिये वह आगे बढ़ा था, दोनों को ही तो नहीं खो बैठता और इस प्रकार दोनों ओर से भ्रष्ट होकर छिन्न-भिन्न बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता?

जब उसकी सब शंकाओं का समाधान हो गया और सब उलझनें सुलझ गयीं और उसने जाना कि भगवान् को ही उसे अपना धर्म-कर्म मानना होगा, तब भी वह बार-बार उसी सुस्पष्ट और सुनिश्चित ज्ञान के लिये आग्रह करता है, जो उसे इस मूल तक, इस भावी कर्म-विधान तक हाथ पकड़कर पहुँचा दे। सत्ता की जिन विविध अवस्थाओं में हम सामान्यतया रहते हैं, उनमें हम भगवान् को कैसे परखें? संसार में उनकी आत्मशक्ति की वे कौन-सी प्रधान अभिव्यक्तियाँ हैं जिनको वह ध्यान द्वारा पहचान सकता है और अनुभव कर सकता है? क्या अर्जुन इस क्षण में भी उनके भागवत विश्वरूप को नहीं देख सकता जो मानव मन, बुद्धि और शरीर की आड़ में रहकर उससे वास्तव में बात कर रहा है? अर्जुन के अंतिम प्रश्न, कर्म-संन्यास और सूक्ष्मतर संन्यास (जिसे करने को अर्जुन से कहा जा रहा है) के बीच भेद को तथा पुरुष और प्रकृति, क्षेत्र और

क्षेत्रज्ञ के बीच वास्तविक भेद को स्पष्टता से जानने के लिये हैं जो कि भागवत संकल्प से प्रेरित होकर निष्काम कर्म करने के अभ्यास के लिये अत्यंत आवश्यक है ; और फिर अंत में अर्जुन प्रकृति के तीन गुणों के कर्म और उनके परिणाम सुस्पष्ट रूप से समझ लेना चाहता है, क्योंकि इन तीनों गुणों को पार करने के लिए उससे कहा गया है।

गीता में भगवान् गुरु अपने ऐसे शिष्य को अपनी भागवत शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। अहंभाव के साथ कर्म करते-करते शिष्य अपने आंतर विकास की उस अवस्था को प्राप्त हुआ है जिसमें उसके अहंता-ममतायुक्त जीवन और सामाजिक आचार-विचार का कोई मानसिक, नैतिक और भाविक मूल्य नहीं रह गया है, हठात् उनका दिवाला निकल गया है, ठीक इसी संधिक्षण में गुरु अपने शिष्य को पकड़ते हैं और वे उसे इस निम्न जीवन से उठाकर पर-चैतन्य में ले जाना चाहते हैं, कर्म की इस अज्ञानमयी आसक्ति से छुड़ाकर उस सत्ता को प्राप्त कराना चाहते हैं, जो कर्म के परे है, पर है कर्म का उत्पादन और व्यवस्थापन करनेवाली। वे उसे अहंकार से निकालकर आत्मा में ले जाना चाहते हैं, मन-बुद्धि, प्राण और शरीर के जीवन से निकालकर मन-बुद्धि के परे की उस परा प्रकृति में ले जाना चाहते हैं जो भागवत स्थिति है। इसके साथ ही भगवान् को उसे वह चीज भी देनी है जो वह माँग रहा है और जिसे माँगने और ढूँढ़ने की प्रेरणा उसे अपनी अंत:स्थित सत्ता के निर्देश के द्वारा मिल रही है, अर्थात् इस जीवन और कर्म के लिए एक नवीन धर्म देना है जो इस अपर्याप्त सामान्य मनुष्य-जीवन के परस्पर-विग्रह, विरोध, उलझन और भ्रामक निश्चयों से परिपूर्ण विधान से बहुत ऊपर की चीज है, वह परम धर्म जिससे जीव कर्म-बंध से मुक्त होता है और फिर भी अपने भागवत स्वरूप की विशाल मुक्त स्थिति में कर्म करने और विजय संपादन करने की शक्ति से युक्त होता है। क्योंकि कर्म तो करना ही होगा, जगत् को अपने कालचक्र पूरे करने ही होंगे और मनुष्य की आत्मा को उस नियत कर्म की ओर से अज्ञानवश अपनी पीठ नहीं मोड़नी चाहिये जिसके लिये वह यहाँ आयी है। गीता की शिक्षा का संपूर्ण क्रम, उसकी व्यापक-से-व्यापक परिक्रमा में भी, इन्हीं तीन उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त है और उधर ही ले जानेवाला है।

उपदेश का सारमर्म

हम जानते हैं कि गीता में गुरु भगवान् हैं, और हम देखते हैं कि शिष्य मानव है ; अब यह बाकी है कि हमें गीता की शिक्षा की स्पष्ट धारणा हो जाय। यह स्पष्ट धारणा ऐसी होनी चाहिये कि गीता की मुख्य शिक्षा, उसका सारमर्म हमारी समझ में आ जाय, क्योंकि गीता में बहुमूल्य और बहुमुखी विचार होने के कारण तथा इसमें आध्यात्मिक जीवन के नानाविध पहलुओं का समालिंगन होने और इसका प्रतिपादन वेगयुक्त चक्राकार गति से होने के कारण सहज ही ऐसा हो जाता है कि लोग इसकी शिक्षा का, अन्य सद्ग्रंथों की अपेक्षा भी अधिक मात्रा में, पक्षपातयुत बुद्धि से पैदा हुआ एकपक्षीय भ्रांत निरूपण करने लगते हैं। किसी तथ्य, शब्द या भावना को ग्रंथ के अभिप्रेत तात्पर्य से, जाने-बेजाने अलग करके उससे अपने किसी पूर्वगृहीत विचार या शिक्षा अथवा अपनी पसंद का कोई सिद्धान्त स्थापित करना भारतीय नैयायिकों की दृष्टि में हेत्वाभास का एक बड़ा ही सुगम प्रवंचक प्रकार है ; और शायद यह प्रकार ऐसा है कि अत्यंत सावधान रहनेवाले दार्शनिक के लिए भी इससे बचना बड़ा कठिन होता है। कारण इस विषय में मनुष्य की बुद्धि अपना दोष आप ही ढूंढ़ निकालने की सावधानी सदा रख सकने में असमर्थ होती है ; उसका स्वभाव ही किसी एकतरफा सिद्धान्त, विचार या तत्व को ग्रहण कर उसीका मंडन करने और उसीको संपूर्ण सत्य के पाने की कुंजी बना लेने का होता है और इस स्वभाव में अपने-आपको बढ़ाने की वृत्ति होती है जिसका कोई अंत नहीं है। अर्थात् मनुष्य-बुद्धि में यह स्वरूप-गत और पालित-पोषित दोष है, अपने कार्य में इस दोष को ढूंढ़ निकालने से इसकी दृष्टि फिरी रहती है। गीता के संबंध में इस प्रकार की गलती सहज रूप से होती है, क्योंकि इसके किसी भी एक पहलू को लेकर उसी पर खास जोर देकर अथवा इसके किसी खास जोरदार श्लोक को लेकर उसीको आगे बढ़ाकर अठारहों अध्यायों को पीछे धकेलकर या उन्हें गौण और सहायक रूप करार देकर गीता को अपने ही मत या सिद्धान्त का पोषक बना लेना आसान है।

इस प्रकार कुछ लोगों का कहना है कि गीता में कर्म-योग का प्रतिपादन

ही नहीं है, बल्कि वे इसकी शिक्षा को संसार और सब कर्मों के संन्यास के लिये तैयार करनेवाली एक साधना मानते हैं ; नियत कर्मों को अथवा जो कोई कर्म सामने आ पड़े उसको उदासीन होकर करना ही साधन या साधना है ; संसार और सब कर्मों का अंत में संन्यास ही एकमात्र साध्य है। गीता से ही जहाँ-तहाँ के श्लोक लेकर और गीता की विचार-पद्धति में जहाँ-तहाँ थोड़ी खींचतान करके इस बात को प्रमाणित करना सरल है और जब गीता में संन्यास शब्द के विशेष प्रयोग की ओर से हम आँखें फेर लेते हैं तब तो यह काम और भी आसान हो जाता है। परन्तु इस मत का आग्रह तब नहीं ठहर सकता जब कोई पक्षपात-रहित होकर देखता है कि ग्रंथ में अंत तक बार-बार यही कहा जा रहा है कि अकर्म की अपेक्षा कर्म ही श्रेष्ठ है और कर्म की श्रेष्ठता इस बात में है कि इसमें वास्तविक रूप से समत्व के द्वारा कामना का आंतरिक त्याग करके कर्म परम-पुरुष को अर्पण करना होता है।

फिर कुछ लोग कहते हैं कि गीता का संपूर्ण अभिप्राय भक्ति-तत्व का प्रति-पादन है। ये लोग गीता के अद्वैत तत्वों की, और इसमें सबके एक आत्मा ब्रह्म में शांत भाव से निवास करने की स्थिति को जो ऊँचा स्थान दिया गया है उसकी, अवहेलना करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि गीता में भक्ति पर बड़ा जोर दिया गया है, बारंबार इस बात को दुहराया गया है कि भगवान् ही ईश्वर और पुरुष हैं, और फिर गीता ने पुरुषोत्तम सिद्धान्त स्थापित कर यह स्पष्ट कर दिया है कि भगवान् पुरुषोत्तम हैं, उत्तम पुरुष हैं अर्थात् क्षर पुरुष के परे और अक्षर पुरुष से भी श्रेष्ठ हैं और वही हैं जिन्हें जगत् के सम्बन्ध से हम ईश्वर कहते हैं, गीता की ये सब बातें बड़े मार्के की हैं, मानो उसकी जान हैं। तथापि ये ईश्वर वह आत्मा हैं, जिनमें संपूर्ण ज्ञान की परिपूर्ति होती है, ये ही यज्ञ के प्रभु हैं, सब कर्म हमें इन्हीं के पास ले जाते हैं और ये ही प्रेममय स्वामी हैं जिनमें भक्त हृदय प्रवेश करता है। गीता इन तीनों में संतुलन रखती है। कहीं ज्ञान पर जोर देती है, कहीं कर्म पर और कहीं भक्ति पर, परन्तु यह जोर उसके तात्कालिक विचार-प्रसंग से सम्बन्ध रखता है, इस मतलब से नहीं कि इनमें से कोई किसी से सर्वथा श्रेष्ठ या कनिष्ठ है। जिन भगवान् में ये तीनों मिलकर एक हो जाते हैं वे ही परम पुरुष हैं, पुरुषोत्तम हैं।

परन्तु आजकल, अर्थात् जबसे आधुनिकों ने गीता को मानना और उसपर कुछ विचार करना आरम्भ किया है, तबसे लोगों का झुकाव गीता के ज्ञानतत्व और भक्तितत्व को गौण मानकर, उसके कर्म-विषयक लगातार आग्रह का लाभ उठाकर उसे एक कर्मयोग-शास्त्र, कर्म-मार्ग में ले जानेवाला प्रकाश, कर्म-विषयक

सिद्धान्त ही मानने की ओर दिखायी देता है। इसमें संदेह नहीं कि गीता कर्म-योग-शास्त्र है, पर उन कर्मों का जो ज्ञान में अर्थात् आध्यात्मिक सिद्धि में और शांति में परिसमाप्त होते हैं, उन कर्मों का जो भक्ति-प्रेरित हैं, अर्थात् यह वह ज्ञानयुक्त सचेतन शरणागति है जिसमें भक्त कर्मी अपने-आपको पहले भगवान् के हाथों में सौंप देता है और फिर भगवान् की सत्ता में प्रवेश करता है, यह उन कर्मों का शास्त्र हर्गिज नहीं है जिन्हें आधुनिक मन कर्म मान बैठा है, उन कर्मों का बिलकुल नहीं जो अहंकार और परोपकार के भाव से किये जाते हैं या जो वैयक्तिक, सामाजिक और भूतदया के विचारों, सिद्धान्तों और आदर्शों से प्रेरित होते हैं। फिर भी गीता के आधुनिक टीकाकार यही दिखाना चाहते हैं कि गीता में कर्म का आधुनिक आदर्श ग्रहण किया गया है। कितने ही अधिकारी पुरुषों द्वारा लगातार यह कहा जाता है कि भारतीय विचार और आध्यात्मिकता की जो सामान्य प्रवृत्ति है कि मनुष्य को वैरागी और शान्तिकामी निवृत्तिमार्गी बना दे, उसका गीता विरोध करती है, यह स्पष्ट शब्दों में कर्म के मानव सिद्धान्त का, अर्थात् सामाजिक कर्तव्यों को निःस्वार्थ भाव से करने के आदर्श का, इतना ही नहीं, बल्कि समाजसेवा के सर्वथा आधुनिक आदर्श का भी प्रतिपादन करती है। इन सब बातों का उत्तर मेरे पास इतना ही है कि गीता में, स्पष्ट ही, और केवल इसका ऊपरी अर्थ ग्रहण करते हुए भी, इस तरह की कोई बात नहीं है, यह केवल आधुनिकों की समझ का फेर है, कुछ-का-कुछ समझ लेना है, यह एक प्राचीन ग्रंथ को अर्वाचीन बुद्धि से समझने का फल है, सर्वथा पुरातन, प्राच्य और भारतीय शिक्षा को वर्तमान यूरोपीय या यूरोपीयकृत बुद्धि से जानने की व्यर्थ चेष्टा है। गीता जिस कर्म का प्रतिपादन करती है वह मानव-कर्म नहीं बल्कि दिव्य कर्म है, सामाजिक कर्तव्यों का पालन नहीं बल्कि कर्तव्य और आचरण के अन्य सब पैमानों को त्यागकर अपने स्वभाव के द्वारा कर्म करनेवाले भागवत संकल्प का निरहंकार निर्मम आचरण है, समाजसेवा नहीं, बल्कि श्रेष्ठ, भगवत्-अधिकृत महापुरुषों का कर्म है जो नाहंकृत भाव से संसार के लिये उन भगवान् की प्रीतिपूजा के तौर पर यज्ञ-रूप से किया जाता है जो मनुष्य और प्रकृति के पीछे सदा विद्यमान हैं।

दूसरे शब्दों में कहें तो, गीता नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र का ग्रंथ नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक जीवन का ग्रंथ है। आधुनिकों की बुद्धि वर्तमान समय में यूरोपीय बुद्धि है जो अपने मूल सूत्र-स्वरूप यूनानी-रूमी संस्कृति की परमोच्च अवस्था के दार्शनिक आदर्शवाद का ही नहीं, बल्कि मध्यकालीन युग के ईसाई भक्तिवाद का भी परित्याग करके ऐसी बन गयी है। दार्शनिक आदर्शवाद

और भक्तिवाद के स्थान पर इसने व्यावहारिक आदर्शवाद और समाजसेवा, देशसेवा और मानवसेवा का भाव ला बैठाया है। ईश्वर से इसने छुटकारा पा लिया है अथवा यह कहिये कि ईश्वर को केवल रविवार की छुट्टी के लिये रख छोड़ा है और ईश्वर के स्थान पर देवरूप से मनुष्य को और प्रत्यक्ष पूज्य प्रतिमा-रूप से समाज को प्रतिष्ठित किया है। अपनी सर्वोत्तम अवस्था में यह व्यवहार्य, नैतिक और सामाजिक है, इसमें कर्मनिष्ठा है, परोपकार की और मनुष्य-जाति को सुखी करने की अभिलाषा है। ये सब बातें बहुत अच्छी हैं, आजकल इनकी खास आवश्यकता भी है, और ये भगवत्संकल्प का ही एक अंश हैं, क्योंकि यदि ये भगवत्संकल्प के अंग न होतीं तो मनुष्य-जाति में इन्हें इतनी प्रधानता प्राप्त न होती। और, इसका कोई कारण नहीं है कि जिस मनुष्य ने भागवत स्वरूप को प्राप्त कर लिया हो, जो ब्राह्मी-स्थिति की चिन्मय अवस्था में तथा भागवत सत्ता में रहता हो, उसके कर्म में ये सब बातें न हों, बल्कि यदि यही युगधर्म हो, ये ही काल-विशेष की सबसे उत्कृष्ट ध्येय वस्तुएँ हों, और उस समय इनसे बड़ी और कोई चीज न हो, कोई महत् आमूल परिवर्तन न होना हो तो ये सब बातें उसके कर्म में अवश्य रहेंगी। कारण, जैसा कि भगवान् अपने शिष्य से कहते हैं, वह पुरुष श्रेष्ठ है और उसे ऐसा आचरण करके दिखाना है जो दूसरों के लिये प्रमाण-स्वरूप हो, और सचमुच अर्जुन से जो बात कही जा रही है वह यही है कि वह अपने समय के सर्वोत्कृष्ट आदर्श और तत्कालीन संस्कृति के अनुसार आचरण करे, पर ज्ञानयुक्त होकर करे, उस वस्तु को जानकर करे जो इन सबके पीछे है, सामान्य मनुष्यों की तरह नहीं जो केवल बाह्य धर्म और विधि का ही अनुसरण करते हैं।

परन्तु विचारणीय बात यह है कि आधुनिकों की बुद्धि ने अपनी व्यावहारिक प्रेरक शक्ति में से जिन दो चीजों को अर्थात् ईश्वर या सनातन ब्रह्म को और आध्यात्मिकता या परमात्म-स्थिति को निकाल बाहर कर दिया है वे ही गीता की सर्वोत्कृष्ट भावनाएँ हैं। आधुनिकों की बुद्धि मानवता के दायरे के अन्दर ही रहती है और गीता कहती है कि भगवान् में रहो ; इसका जीना केवल इसके प्राण, हृदय और बुद्धि में है और गीता कहती है कि आत्मा में जिओ ; इसकी शिक्षा है क्षर पुरुष में, **सर्वाणि भूतानि** में रहने की और गीता की शिक्षा है अक्षर और परम पुरुष में भी रहने की ; इसका कहना है सदा बदलनेवाले काल-प्रवाह के साथ बहे चलो और गीता का आदेश है सनातन में निवास करो। गीता की इन उच्चतर बातों की ओर यदि आजकल कुछ-कुछ ख्याल दौड़ने भी लगा है तो वह केवल इसलिए कि मनुष्य और मनुष्य-समाज की इनसे कुछ सेवा करायी

जाय। परन्तु भगवान् और आध्यात्मिक जीवन ऐसी चीजें हैं जो अपनी सत्ता से हैं, किसी के पुछल्ले नहीं। और, व्यवहार में हमारे अन्दर जो कुछ निम्न है उसको उच्च के लिये जीना सीखना होगा, ताकि हममें जो उच्च है वह भी निम्न के लिये सचेतन रूप से विद्यमान रहे ताकि वह उसको अपनी उच्च भूमिका के अधिकाधिक समीप ले आवे।

इसलिए आजकल की मनोवृत्ति के विचार से गीता का अर्थ करना और गीता से जबर्दस्ती यह शिक्षा दिलाना कि निःस्वार्थ होकर कर्त्तव्य का पालन करना ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वसंपूर्ण धर्म है, बिलकुल गलत रास्ता है। जिस प्रसंग से गीतोपदेश हुआ है उसका किंचिन्मात्र विचार करने से ही यह स्पष्ट हो जायगा कि गीता का यह अभिप्राय हो ही नहीं सकता। कारण, जिस प्रसंग से गीता का आविर्भाव हुआ है और जिस कारण से शिष्य को गुरु की शरण लेनी पड़ी उसका सारा मर्म तो कर्त्तव्य की परस्पर-संबद्ध विविध भावनाओं का बेतरह उलझा हुआ वह संघर्ष है जो मानव-बुद्धि के द्वारा खड़ी की गयी सारी उपयोगी, बौद्धिक और नैतिक इमारत को ढा देता है। मनुष्य-जीवन में किसी-न-किसी प्रकार का संघर्ष तो प्रायः उत्पन्न हुआ ही करता है, जैसे कभी गार्हस्थ्य-धर्म के साथ देश-धर्म या देश की पुकार का, कभी देश के दावे के साथ मानव-जाति की भलाई का या किसी वृहत्तर धार्मिक या नैतिक सिद्धांत का। एक आंतरिक परिस्थिति भी खड़ी हो सकती है, जैसी कि गौतम बुद्ध के जीवन में हुई थी; इस परिस्थिति के आने पर अंतःस्थित भगवान् के आदेश का पालन करने के लिए सभी कर्त्तव्यों को त्याग देना, कुचल डालना और एक ओर फेंक देना पड़ता है। मैं नहीं समझता कि इस प्रकार की आंतरिक परिस्थिति का समाधान गीता कभी यों कर सकती है कि वह बुद्ध को फिर से अपनी पत्नी और पिता के पास भेज दे और उन्हें शाक्य राज्य की बागडोर हाथ में लेने के लिये कहे। न यह परमहंस रामकृष्ण से ही कह सकती है कि तुम किसी पाठशाला में जाकर पंडित होकर रहो और छोटे-छोटे बच्चों को निष्काम होकर पाठ पढ़ाया करो, न विवेकानन्द को ही मजबूर कर सकती है कि तुम जाकर अपने परिवार का भरण-पोषण करो और इसके लिये वीतराग होकर वकालत या डाक्टरी या अखबार-नवीसी का धंधा अपनाओ। गीता निःस्वार्थ कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा नहीं देती, बल्कि दिव्य जीवन बिताने की शिक्षा देती है, सब धर्मों का परित्याग सिखाती है, "**सर्वधर्मान् परित्यज्य,**" एक परमात्मा का ही आश्रय ग्रहण करने को कहती है; और बुद्ध, रामकृष्ण या विवेकानन्द का भागवत कर्म गीता की इस शिक्षा के सर्वथा अनुकूल था। इतना ही नहीं, गीता कर्म को अकर्म से श्रेष्ठ बतलाते

हुए भी कर्म-संन्यास का निषेध नहीं करती, बल्कि इसे भी भगवत्प्राप्ति के साधनों में से एक साधन स्वीकार करती है। यदि कर्म और जीवन और सब कर्त्तव्यों का त्याग करने से ही उसकी प्राप्ति होती हो और इस त्याग के लिए प्रबल आंतरिक पुकार हो तो सब कर्मों का स्वाहा करना ही होगा, इसमें किसी का कोई वश नहीं चल सकता। भगवान् की पुकार अलंघ्य है, दूसरे कोई भी विचार उसके सामने नहीं ठहर सकते।

परन्तु यहाँ एक और कठिनाई यह है कि जो कर्म अर्जुन को करना है वह ऐसा कर्म है जिससे उसकी नैतिक बुद्धि पीछे हटती है। आप कहते हैं कि युद्ध करना उसका धर्म है, पर वह धर्म ही तो इस समय उसकी बुद्धि में भयंकर पाप हो गया है। तुम्हें निःस्वार्थ भाव से और विकार-रहित होकर कर्त्तव्य-पालन करना चाहिये, ऐसा कहने से उसकी क्या सहायता हो सकती है या उसकी कठिनाई कैसे हल हो सकती है? वह यह जानना चाहेगा कि उसका कर्त्तव्य क्या है अथवा यह कि अपने गोतियों, जाति-भाइयों और देशवासियों का संहार करना और रक्त बहाना भला उसका कर्त्तव्य कैसे हो सकता है? उससे कहा जा रहा है कि न्याय, धर्म, सत्य तुम्हारे पक्ष में हैं, पर इससे उसको संतोष नहीं होता, संतोष हो ही नहीं सकता; कारण उसका कहना यही है कि हमारा पक्ष न्याय का है सही, पर उसके लिये राष्ट्र का भविष्य बिगाड़नेवाला निर्दय रक्तपात करना न्याय नहीं है। तो क्या अर्जुन से यह कहना होगा कि तुम्हें इन सब बातों से क्या मतलब, तुम सैनिक हो—सैनिक का काम करो, लड़ो-कटो, मरो-मारो, चाहे पाप हो या पुण्य, इसका कुछ भी फल हो, उसका विचार न करो, निर्विकार भाव से अपना कर्म किये जाओ? परन्तु यह सीख किसी राज्य की ओर से हो सकती है, राजनीतिज्ञ, वकील, नैतिक धर्माधर्मविचारक ऐसा कह सकते हैं, पर कोई महान् धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथ, जिसका उद्देश्य जीवन और कर्म के प्रश्न को जड़मूल से हल करना हो, ऐसी शिक्षा नहीं दे सकता। और, यदि नैतिक और अध्यात्म-विषयक ऐसे मार्मिक प्रश्न के विषय में गीता को यही बात कहनी हो तो इसे संसार के महान् धर्मग्रंथों की सूची से अलग ही करना होगा और फिर यदि इसे कहीं रखना ही हो तो राजनीतिशास्त्र और आचारशास्त्र के किसी पुस्तकालय में रख सकते हैं।

निश्चय ही गीता में, उपनिषदों की तरह उस समता का उपदेश है जो पुण्य और पाप से ऊपर, अच्छे और बुरे के परे है, पर वह समता केवल ब्राह्मी चेतना का एक अंग है और उसका उपदेश उसीके लिये है जो उस मार्ग पर हो और उस परम धर्म को चरितार्थ करने के लिये काफी आगे बढ़ चुका हो। यह मनुष्य

के सामान्य जीवन के लिए अच्छे और बुरे से उदासीन होने का उपदेश नहीं देती, जहाँ इस प्रकार की शिक्षा का बहुत ही हानिकारक परिणाम हो सकता है। वैसे जीवन के लिये तो गीता का निर्देश है कि बुरे कर्म करनेवाले कभी ईश्वर को नहीं पा सकते। इसलिए यदि अर्जुन केवल मनुष्य-जीवन के सामान्य धर्म को ही सर्वोत्तम प्रकार से चरितार्थ करना चाहता हो तो जिस चीज को वह पाप समझता है, नरक की वस्तु समझता है उसीको नि:स्वार्थ होकर करने से उसका कुछ भी भला न होगा, चाहे एक सैनिक के नाते वह पाप उसका कर्त्तव्य ही क्यों न हो। उसकी विवेक-बुद्धि जिस काम से घृणा कर रही है उससे उसे हटना ही होगा, चाहे उससे हजार कर्त्तव्य-कर्म धूल में मिल जायँ।

हमें याद रखना चाहिये कि कर्त्तव्य वह भावना है जो व्यवहार में सामाजिक धारणाओं पर निर्भर है, इस सामान्य अर्थ से हम इस शब्द को और अधिक व्यापक करके यह कह सकते हैं कि अमुक कर्म हमारा अपने प्रति कर्तव्य है अथवा इस व्याप्ति से भी आगे बढ़कर यह कह सकते हैं कि सर्वस्व का त्याग करना बुद्ध का कर्तव्य था या यह भी कह सकते हैं कि गुहा में स्थिर होकर बैठना यती का कर्तव्य है! पर यह सब, स्पष्ट ही, शब्दों का खेल है। कर्तव्य आपेक्षिक शब्द है और दूसरों के साथ अपने संबंध पर इसका अर्थ निर्भर है। पिता के नाते पिता का यह कर्तव्य है कि वह अपने बच्चों का लालन-पालन करे और उन्हें सुशिक्षित करे; वकील का यह कर्तव्य है कि वह अपने मुवक्किल की पैरवी करने में पूरी कोशिश करे चाहे उसे यह ज्ञात भी हो कि मुवक्किल कसूरवार है और उसने जो जवाब दिया है वह झूठा है; सिपाही का यह कर्तव्य है कि वह लड़े, हुकुम पाते ही गोली मार दे चाहे उसका सामना करनेवाला उसका नाती-गोती या देश-भाई ही क्यों न हो; जज का यह कर्तव्य है कि वह अपराधी को जेल भेजे और खूनी को सूली पर चढ़वा दे। जबतक मनुष्य इन पदों पर रहना स्वीकार करता है तबतक उसका कर्तव्य स्पष्ट है, और जब इस कर्त्तव्य में उसकी मर्यादा और समता का सवाल न उठता हो तब भी उसके लिये अपने कर्त्तव्य का पालन करना एक व्यावहारिक बात हो जाती है और उसको अपने इस कर्तव्य का पालन करते हुए निरपेक्ष धार्मिक और नैतिक विधान का उल्लंघन करना पड़ता है। परन्तु यदि आंतरिक दृष्टि ही बदल जाय, यदि वकील की आँख खुल जाय और वह यह देखने लगे कि झूठ सदा पाप ही है, यदि जज को यह विश्वास हो जाय कि किसी मनुष्य को फाँसी की सजा देना मानवता की दृष्टि से पाप करना है, समर-भूमि में सिपाही का ही चित्त यदि आधुनिक युद्ध-विरोधियों का-सा हो जाय या टालस्टाय के समान उसके चित्त में यह आ जाय कि किसी भी मनुष्य की जान

किसी भी हालत में लेना वैसा ही घृणित काम है जैसा कि मनुष्य का मांस भक्षण करना, तब क्या होगा ? ऐसे प्रसंग में अपने अंत:करण का धर्म ही, जो सब आपेक्षिक धर्मों से ऊपर है, माना जायगा, यह बात बिलकुल साफ है ; और यह धर्म कर्तव्य-विषयक सामाजिक संबंध या भावना पर निर्भर नहीं, बल्कि मनुष्य की, नैतिक मनुष्य की जागी हुई अंत:प्रतीति पर निर्भर है।

संसार में वस्तुत: दो प्रकार के आचार-धर्म हैं, दोनों ही अपने-अपने स्थान पर आवश्यक और समुचित हैं, एक वह आचार-धर्म है जो मुख्यत: बाह्य अवस्था पर निर्भर है और दूसरा वह है जो बाह्य पद-मर्यादा से सर्वथा स्वतंत्र और अपने ही सदसद्विवेक और विचार पर निर्भर करता है। गीता की शिक्षा यह नहीं है कि श्रेष्ठ भूमिका के आचार-धर्म को कनिष्ठ भूमिका के आचार-धर्म के अधीन कर दो, गीता यह नहीं कहती कि अपनी जागृत नैतिक चेतना को मारकर उसे सामाजिक मर्यादा पर निर्भर धर्म की वेदी पर बलि चढ़ा दो। गीता हमें ऊपर उठने के लिये कहती है, नीचे गिरने के लिये नहीं ; दो क्षेत्रों के संघर्ष से, गीता हमें ऊपर चढ़ने का, उस परा स्थिति को प्राप्त करने का आदेश देती है जो केवल व्यावहारिक एवं केवल नैतिक चैतन्य से ऊपर है, जो ब्राह्मी स्थिति है। समाज-धर्म के स्थान में गीता यहाँ भगवान् के प्रति अपने कर्तव्य की भावना को प्रतिष्ठित करती है। यहाँ बाह्य कर्म के अधीन होकर रहने की अवस्था दूर हो जाती है और इसके स्थान पर कर्म की गहन गति से मुक्त पुरुष का अपने कर्म को स्वत: निर्धारित करने का सिद्धांत स्थापित हो जाता है। और, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यही ब्राह्मी चेतना, कर्म से पुरुष की मुक्ति और अंत:स्थित तथा ऊर्ध्वस्थित परमेश्वर के द्वारा स्वभाव में कर्मों का निर्धारण—यही कर्म के विषय में गीता की शिक्षा का मर्म है।

गीता को समझना, और गीता जैसे किसी भी महान् ग्रंथ को समझना तभी सम्भव है जब उसका आदि से अंत तक और एक विकासात्मक शास्त्र के हिसाब से अध्ययन किया जाय। परन्तु आधुनिक टीकाकारों ने, बंकिमचंद्र चटर्जी जैसे उच्च कोटि के लेखक से आरंभ कर, जिन्होंने पहले-पहल गीता को आधुनिक अर्थ में कर्तव्य का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र बताया, सभी टीकाकारों ने गीता के पहले तीन-चार अध्यायों पर ही प्राय: सारा जोर दिया है, और उनमें भी समत्व की भावना और "कर्तव्य कर्म" पर, और "कर्तव्य" से इनका अभिप्राय वही है जो आधुनिक दृष्टि में गृहीत है ; **"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"** (कर्म में ही तेरा अधिकार है, कर्मफल में जरा भी नहीं)—इसी वचन को ये लोग गीता का महावाक्य कहकर आम तौर पर उद्धृत करते हैं और बाकी के

अध्याय और उनमें भरा हुआ उच्च तत्वज्ञान इनकी दृष्टि में गौण है ; हाँ, ग्यारहवें अध्याय के विश्वरूप-दर्शन की मान्यता इनके यहाँ अवश्य है। आधुनिक मन-बुद्धि के लिये यह बिलकुल स्वाभाविक है, क्योंकि तात्विक गूढ़ बातों और अतिदूरवर्ती आध्यात्मिक अनुसंधान की चेष्टाओं से यह बुद्धि घबरायी हुई है या अभी कलतक घबराती रही है और अर्जुन के समान कर्म का ही कोई काम में लाने योग्य विधान, कोई धर्म ढूंढ़ रही है। पर गीता जैसे ग्रंथ के निरूपण का यह गलत रास्ता है।

गीता जिस समता का उपदेश देती है वह उदासीनता नहीं है—गीता के उपदेश की आधारशिला जब रखी जा चुकी और उसपर उपदेश का प्रधान मंदिर जब निर्मित हो चुका, तब अर्जुन को जो महान् आदेश दिया गया है कि, "उठ, शत्रुओं का संहार कर और समृद्ध राज्य का भोग कर", उसमें कोरे परोपकार-वाद की या किसी विशुद्ध विकार-रहित सर्वत्याग के भाव की ध्वनि तक नहीं है ; गीता की समता एक आंतरिक संतुलन और विशालता की स्थिति है, जो आध्यात्मिक मुक्ति की आधारशिला है। इस संतुलन के साथ और इस प्रकार की मुक्ति की अवस्था में हमें उस कर्म का सम्यक् आचरण करने का आदेश मिलता है जो "कार्य कर्म" है—**"कार्यं कर्म समाचर"**, गीता की यह शब्द-योजना अत्यंत व्यापक है, इसमें **"सर्वकर्माणि"**, सब कर्मों का समावेश है, यद्यपि सामाजिक कर्तव्य या नैतिक कर्तव्य भी इसमें आ जाते हैं, पर इतने से ही इसकी इति नहीं होती, "कार्यं कर्म" इन सबका समावेश करता हुआ भी इन सबका अतिक्रम करके बहुत दूर तक विस्तृत होता है। वह "कार्यं कर्म" क्या है, यह किसी व्यक्ति की अपनी पसंद से निश्चित नहीं होता ; और न कर्म में अधिकार और कर्मफल का त्याग ही गीता का महावाक्य है, बल्कि यह एक प्राथमिक उपदेश है जो योगपर्वत पर चढ़ना आरंभ करनेवाले शिष्य की प्राथमिक अवस्था पर लागू होता है। आगे चलकर इससे बड़ा उपदेश प्राप्त होता है। क्योंकि बाद में गीता बड़े जोर के साथ बतलाती है कि मनुष्य कर्म का कर्ता नहीं है ; कर्त्री प्रकृति है, त्रिगुणमयी शक्ति ही उसके द्वारा कर्म करती है और शिष्य को यह साफ-साफ देख लेना सीखना होगा कि कर्म का कर्ता वह नहीं है। इसलिए **"कर्मण्येवाधिकारः"** की भावना तभी तक के लिये है जबतक हम इस भ्रम में हैं कि हम कर्ता हैं ; ज्योंही हमें अपनी चेतना के अन्दर यह अनुभव होता है कि हम अपने कर्मों के कर्ता नहीं हैं, त्योंही कर्मफलाधिकार के समान ही कर्माधिकार भी मन-बुद्धि से तिरोहित हो जाता है। तब कर्म-विषयक सारे अहंकार, फलाधिकार के संबंध में कहिये या कर्माधिकार के संबंध में, समाप्त हो जाते हैं।

परन्तु प्रकृति का नियतिवाद भी गीता का अंतिम वचन नहीं है। मन, हृदय और बुद्धि के साथ भगवत्-चैतन्य में प्रवेश करने और उसमें रहने के लिये बुद्धि की समता और फल का त्याग, केवल साधन हैं और गीता ने इस बात को स्पष्ट रूप से कहा है कि इनसे तबतक काम लेना होगा जबतक साधक इस योग्य नहीं हो जाता कि वह इस भगवच्चैतन्य में रह सके या कम-से-कम अभ्यास के द्वारा इस उच्चतर अवस्था को अपनेमें क्रमशः विकसित न कर ले। अच्छा तो यह भगवान् कौन हैं जिनके बारे में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह मैं ही हूँ? ये पुरुषोत्तम हैं, जो अकर्ता पुरुष के परे हैं, जो कर्त्री प्रकृति के परे हैं, जो एक के आधार हैं और दूसरे के स्वामी, ये वे प्रभु हैं जिनका यह सारा प्राकट्य है, जो हमारी वर्तमान मायावशता की अवस्था में भी अपने जीवों के हृदय में विराज रहे हैं और जो प्रकृति के कर्मों के नियामक हैं, ये वे हैं जिनके द्वारा कुरुक्षेत्र की समर-भूमि की सेनाएँ जीवित होती हुई भी मारी जा चुकी हैं और जो अर्जुन को इस भीषण संहारकर्म का केवल यंत्र या निमित्तमात्र बनाये हुए हैं। प्रकृति उनकी केवल कार्यकारिणी शक्ति है। साधक को इस प्रकृति-शक्ति और उसके त्रिविध गुणों से ऊपर उठना होगा, उसको त्रिगुणातीत होना होगा। उसे अपने कर्म प्रकृति को नहीं समर्पित करने होंगे, जिनपर अब उसका कुछ भी दावा या अधिकार नहीं है, बल्कि उसे अपने कर्म उन परम पुरुष की सत्ता में समर्पित करने होंगे। अपना मन, अपनी बुद्धि, अपना हृदय, अपना संकल्प उन्हीं में रखकर, आत्म-ज्ञान के साथ, भगवद्-ज्ञान के साथ, जगत्-संबंधी ज्ञान के साथ, पूर्ण समता, अनन्य भक्ति और पूर्ण आत्म-दान के साथ उसे अपने कर्म उन प्रभु के भेंट-स्वरूप करने होंगे जो सारे तपों और समस्त यज्ञों के स्वामी हैं। उनके संकल्प के साथ अपने संकल्प का तादात्म्य कर लेना होगा, उनकी चेतना से सचेतन होना होगा और उन्हीं को अपने कर्म का निर्णय और आरंभ करने देना होगा। भगवान् गुरु अपने शिष्य की शंकाओं का जो समाधान करते हैं वह यही है।

गीता का परम वचन, गीता का महावाक्य क्या है सो ढूँढकर नहीं निकालना है; गीता स्वयं ही अपने अंतिम श्लोकों में उस महान् संगीत का परम स्वर घोषित करती है:—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।...
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।.....

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"अपने हृदेशस्थित भगवान् की, सर्वभाव से, शरण ले ; उन्हीं के प्रसाद से तू पराशांति और शाश्वत पद को लाभ करेगा। मैंने तुझे गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान बताया है। अब उस गुह्यतम ज्ञान को, उस परम वचन को सुन जो मैं अब बतलाता हूँ। मेरे मनवाला हो जा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए यज्ञ कर, और मेरा नमन-पूजन कर ; तू निश्चय ही मेरे पास आयेगा, क्योंकि तू मेरा प्रिय है। सब धर्मों का परित्याग करके मुझ एक की शरण ले। मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा ; शोक मत कर।"

गीता का प्रतिपादन अपने-आपको तीन सोपानों में बाँट लेता है, जिनपर चढ़कर कर्म मानव-स्तर से ऊपर उठकर दिव्य स्तर में पहुँच जाता है और वह उच्चतर धर्म की मुक्तावस्था के लिए नीचे के धर्म-बंधनों को नीचे ही छोड़ जाता है। पहले सोपान में मनुष्य कामना का त्याग कर, पूर्ण समता के साथ अपने को कर्ता समझता हुआ यज्ञ-रूप से कर्म करेगा, यह यज्ञ वह उन भगवान् के लिए करेगा जो परम हैं और एकमात्र आत्मा हैं, यद्यपि अभी तक उसने इनको स्वयं अपनी सत्ता में अनुभव नहीं किया है। यह आरंभिक सोपान है। दूसरा सोपान है केवल फलेच्छा का त्याग नहीं, बल्कि कर्ता होने के भाव का भी त्याग और यह अनुभूति कि आत्मा सम, अकर्ता, अक्षर तत्व है और सब कर्म विश्व-शक्ति के, प्रकृति के हैं जो विषम, कर्त्री और क्षर शक्ति है। अंतिम सोपान है परम आत्मा को वह परम-पुरुष जान लेना जो प्रकृति के नियामक हैं, प्रकृतिगत जीव उन्हीं की आंशिक अभिव्यक्ति है, वे ही अपनी पूर्ण परात्पर स्थिति में रहते हुए प्रकृति के द्वारा सारे कर्म कराते हैं। प्रेम, भजन, पूजन और कर्मों का यजन सब उन्हीं को अर्पित करना होगा ; अपनी सारी सत्ता उन्हीं को समर्पित करनी होगी और अपनी सारी चेतना को ऊपर उठाकर इस भागवत चैतन्य में निवास करना होगा जिसमें मानव-जीव भगवान् की प्रकृति और कर्मों से परे जो दिव्य परात्परता है उसमें भागी हो सके और पूर्ण आध्यात्मिक मुक्ति की अवस्था में रहते हुए कर्म कर सके।

प्रथम सोपान है कर्मयोग, भगवत्प्रीति के लिए निष्काम कर्मों का यज्ञ ; और यहाँ गीता का जोर कर्म पर है। द्वितीय सोपान है ज्ञानयोग, आत्म-उपलब्धि,

आत्मा और जगत् के सत्स्वरूप का ज्ञान ; यहाँ उसका ज्ञान पर जोर है, पर साथ-साथ निष्काम कर्म भी चलता रहता है, यहाँ कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग के साथ एक हो जाता है पर उसमें घुल-मिलकर अपना अस्तित्व नहीं खोता। तृतीय सोपान है भक्तियोग, परमात्मा की भगवान् के रूप में उपासना और खोज ; यहाँ भक्ति पर जोर है, पर ज्ञान भी गौण नहीं है, वह केवल उन्नत हो जाता है, उसमें एक जान आ जाती है और वह कृतार्थ हो जाता है, और फिर भी कर्मों का यज्ञ जारी रहता है ; द्विविध मार्ग यहाँ ज्ञान, कर्म और भक्ति का त्रिविध मार्ग हो जाता है। और, यज्ञ का फल, एकमात्र फल जो साधक के सामने ध्येय-रूप से अभी तक रखा हुआ है, प्राप्त हो जाता है, अर्थात् भगवान् के साथ योग और परा भागवती प्रकृति के साथ एकत्व प्राप्त हो जाता है।

कुरुक्षेत्र

अब गीता के उपदेशक गुरु के इस विशाल सोपान-क्रम का अनुसरण करते हुए हम आगे बढ़ें और मनुष्य के इस त्रिविध मार्ग का उन्होंने जिस प्रकार अंकन किया है उसका निरीक्षण करें। यह वही मार्ग है जिसपर चलनेवाले मनुष्य के मन, हृदय और बुद्धि उन्नत होकर उन परम को प्राप्त होते और उनकी सत्ता में निवास करते हैं जो समस्त कर्म, भक्ति और ज्ञान के परम ध्येय हैं। परन्तु इसके पूर्व फिर एक बार उस परिस्थिति का विचार करना होगा जिसके कारण गीता का प्रादुर्भाव हुआ है और इस बार इसे इसके अत्यंत व्यापक रूप में अर्थात् इसे मनुष्य-जीवन का और समस्त संसार का भी प्रतीक मानकर देखना होगा। यद्यपि अर्जुन को केवल अपनी ही परिस्थिति से, अपने ही आंतरिक संघर्ष और कर्म-विधान से मतलब है, तथापि जैसा कि हम लोग देख चुके हैं, जो विशेष प्रश्न अर्जुन ने उठाया है और जिस ढंग से उसे उठाया है उससे वास्तव में मनुष्य-जीवन और कर्म का ही सारा सवाल उपस्थित होता है। यह संसार क्या है और क्यों है और यह जैसा है उसमें इस सांसारिक जीवन का आत्मजीवन के साथ कैसे मेल बैठे? इस गहरे, कठिन विषय को श्रीगुरु हल करना चाहते हैं, क्योंकि उसी की बुनियाद पर वे उस कर्म का आदेश देते हैं जिसे सत्ता की एक नवीन सन्तुलित अवस्था से मोक्षप्रद ज्ञान के प्रकाश में करना होगा।

तब फिर वह कौन-सी चीज है जो उस मनुष्य के लिए कठिनाई उपस्थित करती है जिसे इस संसार को, जैसा यह है, स्वीकार करना है और इसमें कर्म करना है और साथ ही अपने अन्दर की सत्ता में, आध्यात्मिक जीवन में निवास करना है। संसार का वह कौन-सा पहलू है जो उसके जागृत मन को व्याकुल कर देता है और उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है जिसके कारण गीता के प्रथम अध्याय का नाम सार्थक शब्दों में 'अर्जुन-विषादयोग' पड़ा—वह विषाद और निरुत्साह जो मानव-जीव को तब अनुभूत होता है जब यह संसार जैसा है ठीक वैसा ही, अपने असली रूप में उसके सामने आता है, और उसे इसका सामना करना पड़ता है, जब न्याय-नीति और नेकी के भ्रम का परदा उसकी आँखों के सामने

से, और किसी बड़ी चीज के साथ मेल होने से पहले ही, फट जाता है ? यह वही पहलू है जिसने बाह्यतः कुरुक्षेत्र के नर-संहार और रक्तपात के रूप में आकार ग्रहण किया है और अध्यात्मतः समस्त वस्तुओं के स्वामी के कालरूप-दर्शन में जो अपने सृष्ट प्राणियों को निगलने, चबा जाने और नष्ट करने के लिये प्रकट हुए हैं। यह दर्शन अखिल विश्व के उन प्रभु का दर्शन है जो विश्व के स्रष्टा हैं, पर साथ ही विश्व के संहारकर्ता भी, जिनका वर्णन प्राचीन शास्त्रकारों ने बड़े ही कठोर रूपक में यों किया है कि, "ऋषि-मुनि और रथी-महारथी इनके भोज्य हैं और मृत्यु इनके जेवनार का मसाला है।" दोनों एक ही सत्य के रूप हैं, वही सत्य पहले जीवन के तथ्यों में अप्रत्यक्ष और अस्पष्ट रूप से देखा गया, फिर वही सत्य अंतरात्मा की दृष्टि से प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप में उस तत्व के रूप में देखा गया जो अपने-आपको जीवन में व्यक्त किया करता है। इसका बाह्य पहलू जगत्-जीवन और मानव-जीवन है जो लड़ते-भिड़ते और मारते-काटते हुए आगे बढ़ते हैं ; अंतरंग पहलू है विराट् पुरुष जो विराट् सर्जन और विराट् संहार के द्वारा अपने-आपको पूर्ण करते हैं। जीवन एक युद्ध है, संहार-क्षेत्र है, यही कुरुक्षेत्र है ; ये भगवान् महारुद्र हैं, यही दर्शन अर्जुन को उस समर-भूमि में हुआ था।

हेराक्लिटस का कहना है कि, युद्ध सब वस्तुओं का जनक है, युद्ध सबका राजा है। इस ग्रीक तत्ववेत्ता के अन्य सूत्र-वचनों के समान यह सूत्र-वचन भी एक बड़े गंभीर सत्य का सूचक है। जड़-प्राकृतिक या अन्य शक्तियों के संघर्ष के द्वारा ही इस जगत् की प्रत्येक वस्तु जनमती हुई प्रतीत होती है ; शक्तियों, प्रवृत्तियों, सिद्धांतों और प्राणियों के परस्पर-संघर्ष से यह जगत् आगे बढ़ता दीखता है, सदा नये पदार्थ उत्पन्न करते हुए और पुराने नष्ट करते हुए यह आगे बढ़ा चला जा रहा है—किधर जा रहा है, किसी को ठीक पता नहीं ; कोई कहते हैं यह अपने संपूर्ण नाश की ओर जा रहा है ; और कोई कहते हैं यह व्यर्थ के चक्कर काट रहा है और इन चक्करों का कोई अंत नहीं ; आशावाद का सबसे बड़ा सिद्धांत यह है कि ये चक्कर प्रगतिशील हैं और हर चक्कर के साथ जगत् अधिकाधिक उन्नति को प्राप्त होता है, रास्ते में चाहे जो कष्ट और गड़बड़ दीख पड़े, पर यह जगत् बराबर किसी दिव्य अभीष्ट-सिद्धि के अधिकाधिक समीप जा रहा है। यह चाहे जैसा हो, पर इसमें संदेह नहीं कि यहाँ संहार के बिना कोई निर्माण-कार्य नहीं होता, अनेकविध वास्तव और संभावित बेसुरेपन को जीतकर परस्पर-विरोधी शक्तियों का संतुलन किये बिना कोई सामंजस्य नहीं होता ; इतना ही नहीं, बल्कि जबतक हम निरंतर अपने-आपको ही न खाते रहें और दूसरों के

जीवन को न निगलते रहें तबतक इस जीवन का निरवच्छिन्न अस्तित्व भी नहीं रहता। हमारा शारीरिक जीवन भी ऐसा ही है जिसमें हमें बराबर मरना और मर-कर जीना पड़ता है, हमारा अपना शरीर भी फौजों से घिरे हुए एक नगर जैसा है, आक्रमणकारी फौजें इसपर आक्रमण करतीं और संरक्षणकारी इसका संरक्षण करती हैं और इन फौजों का काम एक-दूसरेको खा जाना है और यह तो हमारे सारे जीवन का केवल एक नमूना ही है। सृष्टि के आरंभ से ही मानो यह आदेश चला आया है कि, "तू तबतक विजयी नहीं हो सकता जबतक अपने साथियों से और अपनी परिस्थिति से युद्ध न करेगा; बिना युद्ध किये, बिना संघर्ष किये और बिना दूसरों को अपने अन्दर हजम किये तू जी भी नहीं सकता। इस जगत् का जो पहला नियम मैंने बनाया वह संहार के द्वारा ही सर्जन और सरक्षण का नियम है।"

प्राचीन शास्त्रकारों ने जगत् का सूक्ष्म निरीक्षण कर जो कुछ देखा उसके फलस्वरूप उन्होंने इस आरंभिक विचार को स्वीकार किया। अति प्राचीन उपनिषदों ने इस बात को बहुत ही स्पष्ट रूप से देखा और इसका बड़े साफ और जोरदार शब्दों में वर्णन किया। ये उपनिषदें सत्य के संबंध में किसी चिकनी-चुपड़ी बात को या किसी आशावादी मतमतांतर को सुनना भी नहीं पसंद करतीं। उपनिषदों ने कहा, भूख जो मृत्यु है, वही इस जगत् का स्रष्टा और स्वामी है, और प्राणमय जीवन को इन्होंने यज्ञ के अश्व का रूपक दिया। जड़-तत्व को इन्होंने अन्न कहा है, इनका कहना है कि हम इसे अन्न इसलिये कहते हैं कि यह स्वयं खाया जाता है और साथ ही प्राणियों को निगल जाता है। भक्षक भक्षण कर भक्ष्य होता है, यही इस जड़-प्राकृतिक जगत् का मूल सूत्र है, और डारविन-मतवादियों ने इसी बात का फिरसे आविष्कार किया जब उन्होंने कहा कि जीवन-संग्राम विकसनशील सृष्टि का विधान है। आधुनिक सायंस ने उन्हीं सत्यों को केवल नवीन शब्दों में ढालकर प्रकट किया है जो उपनिषदों के वर्णित रूपकों में या हिराक्लिटस के वचनों में बहुत अधिक जोरदार, व्यापक और ठीक-ठीक अर्थ देनेवाले सूत्रों के रूप में बहुत पहले ही कहे जा चुके थे।

नीत्शे का आग्रहपूर्वक कहना है कि युद्ध जीवन का एक पहलू है और आदर्श मनुष्य वही है जो योद्धा है। आरंभ में वह ऊँट-प्रकृतिवाला हो सकता है और उसके बाद शिशु-प्रकृतिवाला बन सकता है, पर यदि उसे पूर्णत्व प्राप्त करना है, तो मध्य में सिंह-प्रकृतिवाला मनुष्य होना पड़ेगा। नीत्शे ने अपने इन मतों से लोकाचार और व्यवहार के लिये जो सिद्धांत निकाले उनसे हमारा मतभेद चाहे जितना क्यों न हो, पर उसके इन लोकनिंदित मतों में कोई ऐसा तथ्य भी है जो अस्वीकार नहीं किया जा सकता, बल्कि उससे एक ऐसे सत्य का स्मरण

होता है जिसे हम लोग सामान्यत: अपनी दृष्टि की ओट रखना पसंद करते हैं। यह अच्छा है कि हम लोगों को उस सत्य की याद दिलायी जाय ; क्योंकि एक तो, प्रत्येक बलवान् आत्मा पर इसको देख लेने का बड़ा बलवर्द्धक परिणाम होता है; खूब मीठी-मीठी दार्शनिक, धार्मिक या नैतिक भावुकताओं के कारण हमपर जो सुस्ती छा जाती है उससे हम बच जाते हैं ; इस प्रकार की भावुकता का यह परिणाम होता है कि लोग प्रकृति को प्रेम, सौन्दर्य और कल्याण-स्वरूप ही देखना पसंद करते हैं और उसके कराल-काल-रूप से भागते हैं, ईश्वर को शिवरूप से तो पूजते हैं, पर उसके रुद्र-रूप की पूजा करने से इनकार करते हैं ; दूसरे यह कि जीवन जैसा है उसको वैसा ही देखने की सच्चाई और साहस यदि हममें न हो तो इसमें जो विविध द्वंद्व और परस्पर-विरोध हैं उनका समाधान करनेवाला कोई अमोघ उपाय हमें कभी प्राप्त नहीं हो सकता। पहले हमें यह देखना होगा कि यह जीवन क्या है और यह जगत् क्या है ; तब इस बात को ढूंढ़ने चलना अधिक अच्छा होगा कि इस जीवन और जगत् को, जैसे ये होने चाहियें उस रूप में रूपांतरित करने का ठीक रास्ता कौन-सा है। यदि संसार के इस अप्रिय लगनेवाले पहलू में कोई ऐसा रहस्य हो जो इसके अंतिम सामंजस्य को ले आनेवाला हो, तो इसकी उपेक्षा या अवहेलना करने से हम उस रहस्य को नहीं पा सकेंगे और इस प्रश्न को हल करने के हमारे सारे प्रयास, प्रश्न के वास्तविक तत्वों की मनमानी उपेक्षा करने के दोष के कारण, विफल हो जायेंगे। इसके विपरीत, यदि वह ऐसा शत्रु हो जिसे मारना, कुचल डालना, जड़ से उखाड़ फेंकना या नष्ट करना जरूरी हो तो भी जीवन पर उसका जो प्रभाव या दखल है उसे एक मामूली-सी बात समझने अथवा इस बात को देखने से इनकार करने से कि प्रभावकारी भूतकाल में तथा जीवन के यथार्थत: कार्यकारी सिद्धांतों में इसकी जड़ें कितनी मजबूती के साथ जमी हुई हैं, हमें कुछ भी लाभ नहीं है।

युद्ध और संहार का विश्वव्यापी सिद्धांत हमारे इस ऐहिक जीवन के निरे स्थूल पहलू से ही नहीं, बल्कि हमारे मानसिक और नैतिक जीवन से भी संबंध रखता है। यह तो स्वत:सिद्ध है कि मनुष्य का जो वास्तविक जीवन है, चाहे वह बौद्धिक हो या सामाजिक, राजनीतिक हो या नैतिक, उसमें बिना संघर्ष के—अर्थात् जो कुछ है और जो कुछ होना चाहता है इन दोनों के बीच तथा इन दोनों के पीछे के तत्वों में जबतक परस्पर-युद्ध न हो तबतक—हम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। जबतक मनुष्य और संसार वर्तमान अवस्था में हैं, कम-से-कम तबतक के लिये तो आगे बढ़ना, उन्नत होना और पूर्णावस्था को प्राप्त करना और साथ ही हमारे सामने जिस अहिंसा के सिद्धांत को मनुष्य का उच्चतम और

सर्वोत्तम धर्म कहकर उपस्थित किया जाता है, उसका यथार्थतः और संपूर्णतः पालन करना असंभव है। केवल आत्मबल का प्रयोग करेंगे, युद्ध करके या भौतिक बलप्रयोग से अपनी रक्षा का उपाय करके हम किसी का नाश नहीं करेंगे ? अच्छी बात है, और जबतक आत्मबल अमोघ न हो उठे तबतक मनुष्यों और राष्ट्रों में जो आसुरी बल है वह चाहे हमें रौंदता रहे, हमारे टुकड़े-टुकड़े करता रहे, हमें जबह करता रहे, हमें जलाता रहे, भ्रष्ट करता रहे, जैसा करते हुए आज हम उसे देख रहे हैं, तब तो वह इस काम को और भी मौज से और बिना किसी बाधा-विघ्न के करेगा। और, आपने अपने अप्रतीकार के द्वारा उतनी ही जानें गँवाईं होतीं जितनी कि दूसरे हिंसा का सहारा लेकर गँवाते ; फिर भी आपने एक ऐसा आदर्श तो रखा है जो कभी अच्छी दशा ला सकता है या कम-से-कम जिसे अच्छी दशा लानी चाहिये। परन्तु आत्मबल भी, जब वह अमोघ हो उठता है तब, नाश करता है। जिन्होंने आँखें खोलकर आत्मबल का प्रयोग किया है वही जानते हैं कि यह तलवार और तोप-बंदूक से कितना अधिक भयंकर और नाशकारी होता है। और, जो अपनी दृष्टि को किसी विशिष्ट कर्म और उसके सद्यःफल तक ही सीमित नहीं रखते वे ही यह भी देख सकते हैं कि आत्मबल के प्रयोग के बाद उसके परिणाम कितने प्रचंड होते हैं, उनसे कितना नाश होता है और जो जीवन उस विनष्ट क्षेत्र पर आश्रित रहता था या पलता था उसकी भी कितनी बरबादी होती है। बुराई अकेले नहीं मरती, उसके साथ वे सब चीजें भी विनाश को प्राप्त होती हैं जो उससे पलती हैं ; चाहे हम हिंसा के सनसनीदार कर्म की पीड़ा से बच जायें, पर इससे नाश का परिणाम कुछ कम नहीं होता।

फिर, जब-जब हम आत्मबल का प्रयोग करते हैं तब-तब हम अपने शत्रु के विरुद्ध एक ऐसी प्रचण्ड कर्मशक्ति खड़ी कर देते हैं, जिसके उपरांत की क्रियाओं को अपने बस में रखना हमारे सामर्थ्य के बाहर होता है। विश्वामित्र के क्षात्र बल के मुकाबले वसिष्ठ आत्मबल का प्रयोग करते हैं और परिणाम यह होता है कि हूण, शक और पल्लव सेनाएँ आक्रामक पर घहराकर टूट पड़ती हैं। आक्रमण और हिंसा की अवस्था में आध्यात्मिक पुरुष का शांत और निष्क्रिय रहना संसार की प्रचण्ड शक्तियों को बदला लेने के लिये जगा देता है। जो अशुभ और दुष्टता के प्रतिनिधि हैं उन्हें यदि रौंदने और कुचलने के लिये खुला छोड़ दिया जाय तो वे अपने ऊपर इतनी बड़ी तबाही बुला लेंगे जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। अतः उन्हें रोकना और इसके लिये बल प्रयोग करना भी दया का काम होगा। हमारे अपने हाथ पाक और साफ रहें, हमारी आत्मा में कोई दाग न लगे, इतने-

से ही संसार से संघर्ष और विनाश का विधान मिट नहीं जाता ; इसकी जो जड़ है उसे पहले मानव-जाति में से उखड़ जाना चाहिए। केवल हाथ-पर-हाथ धरके बैठे रहने से या जड़तावश बुराई का प्रतीकार करने की अनिच्छा या अक्षमता से यह विधान नष्ट नहीं होगा ; वास्तव में संघर्ष करने की राजसिक वृत्ति से उतनी हानि नहीं होती जितनी जड़ता और तमस् से होती है, क्योंकि राजसिक संघर्ष जितना नाश करता है उससे अधिक सर्जन करता है। इसलिए वैयक्तिक कर्म की मीमांसा का जहाँतक सम्बन्ध है, व्यक्ति संघर्ष एवं संग्राम से तथा उसके फलस्वरूप होनेवाले नाश से स्थूल और भौतिक रूप में बचने के अपने नैतिक भाव की सहायता तो कर सकता है, पर इससे प्राणियों का संहारक ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

बाकी के लिए मानव-इतिहास साक्षी है कि यह संहार-तत्व जगत् में निर्मम प्राणशक्ति के साथ लगातार अस्तित्व रखता आया है। यह हमारे लिए स्वाभाविक ही है कि हम इसकी उग्रता को ढांकने और दूसरे पहलुओं पर अधिक जोर देने का प्रयास करते हैं। युद्ध और विनाश ही सब कुछ नहीं हैं; विच्छेद और परस्पर-संघर्ष की संहारक शक्ति की तरह परस्पर-संघ और साहाय्य की संरक्षक शक्ति भी है। प्रेम की शक्ति अपनी धाक जमानेवाली अहंकारभरी शक्ति से कम नहीं है। दूसरों के लिये अपनी बलि चढ़ाने के आवेग की तरह अपने लिये दूसरों को बलि चढ़ाने का आवेग भी होता है। यदि हम यह देखें कि इन्होंने किस तरह काम किया है तो इनके विरोधी तत्वों की ताकत पर मुलम्मा चढ़ाने या उनकी उपेक्षा करने के लिये प्रेरित न होंगे। संघशक्ति का उपयोग केवल पारस्परिक सहायता के लिये ही नहीं, बल्कि साथ-ही-साथ रक्षण और आक्रमण के लिये भी हुआ है। इस जीवनसंग्राम में जो कोई हमारे ऊपर आक्रमण करता या हमारा प्रतिरोध करता है उसके विरुद्ध अपने-आपको बलवान् बनाने में भी इसका उपयोग हुआ है। संघशक्ति स्वयं युद्ध की, अहंकार की, एक प्राणी के द्वारा दूसरेपर स्वत्व स्थापित करनेवाली वृत्ति की दासी रही है। स्वयं प्रेम सदा मृत्यु की शक्ति रहा है। विशेषत: शुभ के प्रेम को और भगवान् के प्रेम को मानव-अहंकार ने जिस रूप में गले लगाया उसके कारण बहुत-सी लड़ाई-भिड़ाई, मार-काट और तबाही-बरबादी हुई है। आत्मबलिदान बहुत बड़ी और उदात्त चीज है, पर बड़े-से-बड़े आत्मबलिदान का यही अर्थ होता है कि हम मृत्यु के द्वारा जीवन के सिद्धान्त को ही सकारते हैं और इस भेंट को हम अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिये उस शक्ति की वेदी पर चढ़ाते हैं जो बलि चाहती है। चिड़िया अपने बच्चों की रक्षा के लिये घातक पशु का सामना करती है, देशभक्त अपने देश की

स्वतंत्रता के लिये अपने शरीर की आहुति देता है, धर्मात्मा अपनेको धर्म पर न्योछावर करता है और भावुक अपनी भावनापर, ये सब प्राणी-जीवन की नीची से लेकर ऊँची श्रेणियों तक में, आत्म-बलिदान के सर्वोत्कृष्ट दृष्टांत हैं, और यह स्पष्ट है कि ये किस बात के साक्षी हैं।

लेकिन अगर हम आनेवाले परिणामों को देखें तो सहज-आशावाद और भी कम सम्भव रह जाता है। देशभक्त को देश की स्वाधीनता के लिये मरते हुए देखिये। और जब कर्म का अधिष्ठाता रक्त और कष्टों का मूल्य चुका दे तो उसके कुछ ही दशकों के बाद उस देश को देखिये। वह अपनी बारी में अत्याचारी, शोषक और उपनिवेशों और अधीन देशों का विजेता बन जाता है और आक्रामक के रूप में जीने और सफल होने के लिये दूसरों को हड़पता है। ईसाई शहीद साम्राज्य-शक्ति के मुकाबले आत्मशक्ति को लगाकर हजारों की संख्या में मर मिटे, ताकि ईसा की जय हो, ईसाई-धर्म की धाक जमे। आत्मबल विजयी हुआ, ईसाई-धर्म की धाक जमी, पर ईसा की नहीं ; विजयी धर्म लड़ाकू और हुकूमत करनेवाला संप्रदाय बन गया, जिस मत और संप्रदाय को हटाकर इसने अपना प्रभुत्व जमाया था उससे भी अधिक यह आततायी और अत्याचारी बन बैठा। धर्म भी आपस में लड़नेवाली शक्तियों में संगठित हो जाते हैं और संसार में रहने, बढ़ने और उसपर अपनी धाक जमाने के लिये परस्पर भीषण संग्राम करते हैं।

इन सब बातों से यही प्रकट होता है कि इस जगत् के जीवन में कोई ऐसा तत्व है, कदाचित् वह आदि तत्व ही हो, जिसपर विजय प्राप्त करने का ढंग हम नहीं जानते और इसका कारण या तो यह है कि वह जीता ही नहीं जा सकता अथवा यह कि हमने उसे ऐसी बलवान् और पक्षपातरहित दृष्टि से देखा ही नहीं कि शान्त-स्थिर और निष्पक्ष होकर उसे पहचान सकें और यह जान लें कि वह क्या चीज है। यदि वास्तविक समाधान पाना हमारा उद्देश्य है, वह समाधान चाहे जैसा भी क्यों न हो, तो हमें जीवन का पूरी तरह सामना करना होगा और जीवन का सामना करने का अर्थ है भगवान् का सामना करना क्योंकि दोनों को एक-दूसरे-से अलग नहीं किया जा सकता और जिसने जगत्-जीवन को बनाया है, और जो उसमें व्याप्त है उससे जगत् के विधानों की जिम्मेदारी को हटाया नहीं जा सकता। इस सम्बन्ध में भी हम वास्तविकता को मृदु, मधुर और भ्रामक रूप देकर दिखाना पसन्द करते हैं। हम प्रेम और दया के ईश्वर को गढ़ लेते हैं जो हमारी धारणा के अनुसार शुभ, न्याय, सद्गुण और सदाचार का देवता, न्यायकर्ता, सद्गुणी और सदाचारी है, और बाकी जो कुछ है उसके सम्बन्ध में हम झट कह देते हैं कि वह ईश्वर नहीं है न ईश्वर का उससे कुछ वास्ता है, वह

किसी शैतान की सृष्टि है जिसे किसी कारणवश ईश्वर ने उसकी दुष्ट इच्छा पूरी करने दी अथवा वह अंधकार के स्वामी अहिर्मन की सृष्टि है जो शिवस्वरूप अहुर्मज्द की मंगलमय कृति को धूल में मिलाना चाहता है, अथवा यह स्वार्थी और पापी मनुष्य का ही काम है कि उसने ईश्वर की मूल निर्दोष सृष्टि को बिगाड़ डाला। मानो प्राणिजगत् में मृत्यु और निगलने का विधान मनुष्य का बनाया हुआ हो और यहाँ जो भीषण प्रक्रिया कार्य कर रही है जिसके द्वारा प्रकृति सृष्टि करती है, उसकी स्थिति रखती है, और अपने उसी गहन कर्म से संहार भी करती है,—मनुष्य की रची हुई हो। संसार में कुछ ही धर्म ऐसे हैं जिन्होंने भारत के आर्य-धर्म के समान निःसंकोच यह कहने का साहस किया है कि यह रहस्यमय विश्व-शक्ति एक ही भगवत्तत्व है, एक ही त्रिमूर्ति है; यही धर्म यह कह सका है कि जो शक्ति इस जगत्-कर्म में व्याप्त है वह केवल परोपकारी दुर्गा ही नहीं बल्कि रक्तरंजित संहार-नृत्य करनेवाली, करालवदना काली भी है और 'यह भी माता हैं; इन्हें भी परमेश्वरी जानो और सामर्थ्य हो तो इनका भी पूजन करो।' यह बड़े मार्के की बात है कि जिस धर्म में ऐसी अचल सत्यनिष्ठा और ऐसा प्रचण्ड साहस था वही ऐसी गंभीर और व्यापक आध्यात्मिकता का निर्माण कर सका, जिसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता। क्योंकि सत्य ही वास्तविक आध्यात्मिकता का आधार है और साहस उसकी आत्मा। **"तस्यै सत्यमायतनम्।"**

इन सब बातों का यह अभिप्राय नहीं कि संग्राम और विनाश ही जीवन का अथ और इति है या सामंजस्य संग्राम से बड़ी चीज नहीं है और प्रेम मृत्यु की अपेक्षा भगवान् का अधिक अभिव्यक्त रूप नहीं है, या हमें भौतिक बल का स्थान आत्म-बल को, युद्ध का स्थान शान्ति को, फूट का स्थान एकत्व को, निगलने का स्थान प्रेम को, अहंभाव का स्थान विश्वभाव को, मृत्यु का स्थान अमर जीवन को नहीं देना चाहिये। भगवान् केवल संहारकर्ता ही नहीं बल्कि सब प्राणियों के सुहृद् हैं; केवल विश्व के त्रिदेव ही नहीं बल्कि परात्पर पुरुष हैं; करालवदना काली स्नेहमयी मंगलकारिणी माता भी हैं; कुरुक्षेत्र के स्वामी दिव्य सखा और सारथी हैं, सब प्राणियों के मनमोहन हैं, अवतार श्रीकृष्ण हैं। वे इस संग्राम, संघर्ष और विशृंखला में से होकर हमें चाहे जहाँ ले जा रहे हों, इसमें संदेह नहीं कि वे हमें उन सब पहलुओं के परे ले जा रहे हैं जिनपर हम दृढ़ता के साथ आग्रह कर रहे थे। पर कहाँ, कैसे, किस प्रकार की परात्परता से, किन साधनों से—यह हमें ढूंढ़ना होगा, और इसे ढूंढ़ने के लिये पहली आवश्यक बात यह है कि हम इस जगत् को जैसा यह है वैसा देखें, और उनकी क्रिया आरम्भ में और अब जैसे-जैसे दिखायी देती जाय वैसे-वैसे उसको देखते जायें और उसका ठीक-ठीक

मूल्य आँकते जायँ, इसके बाद उनका मार्ग और लक्ष्य स्वयं प्रत्यक्ष हो जायेंगे। हमें कुरुक्षेत्र को मानना होगा, मृत्यु के द्वारा जीवन का जो विधान है उसे स्वीकार करना होगा, तभी हम अमर जीवन के पथ का अनुसन्धान कर सकेंगे। हमें अपनी आँखें खोलकर—अर्जुन की अपेक्षा कम व्यथित दृष्टि से—ईश्वर के कालरूप का दर्शन करना होगा और इस विश्व-संहार को अस्वीकार करने, इससे घृणा करने या इससे भय खाकर भागने की वृत्ति को छोड़ देना होगा।

मनुष्य और जीवन-संग्राम

इस प्रकार, जब हम गीता की शिक्षा को उसके व्यापक, उदार रूप में समझते हैं तब हमें जगत् के व्यक्त रूप और क्रम के सम्बन्ध में बौद्धिक स्तर पर गीता के आधारबिन्दु और साहसपूर्ण दृष्टि को स्वीकार करना ही होगा। कुरुक्षेत्र के सारथी भगवान् एक ओर तो सर्वलोकमहेश्वर, सब प्राणियों के मित्र और सर्वज्ञ गुरु हैं, दूसरी ओर संहारक काल हैं जो "यहाँ इन सब लोगों का संहार करने में प्रवृत्त हुए हैं—**लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः।**" गीता ने उदार हिंदूधर्म के सार-भाव का ही अनुसरण करके इस काल-रूप को भी भगवान् कहा है ; गीता जगत् की पहेली को टालने के लिये जगत् में से किसी बगल के दरवाजे से निकल भागने की चेष्टा नहीं करती। और यदि सचमुच ही संसार को हम किसी असंस्कृत विवेकशून्य जड़प्राकृतिक शक्ति की ही कोई यांत्रिक क्रियामात्र नहीं समझते अथवा दूसरी ओर किसी अनादि शून्य से उत्पन्न हुई भावनाओं और शक्तियों की वैसी ही यांत्रिक क्रीड़ामात्र नहीं मानते या यह भी नहीं मानते कि यह अक्रिय आत्मा में होनेवाला केवल एक आभास है या अलिप्त, अचल, अक्षर परब्रह्म के ऊपरी तल के चैतन्य में होनेवाला मिथ्या दुःस्वप्न मात्र या स्वप्न का ही क्रम-विकास है और स्वयं परब्रह्म उससे विचलित नहीं होता न उसमें वस्तुतः उसका कोई हाथ ही है, अर्थात् यदि हम इस बात को जरा भी मानते हैं, जैसा कि गीता मानती है कि, भगवान् हैं और वे सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं और फिर भी सबके परे रहनेवाले परमपुरुष हैं जो जगत् को प्रकट करके स्वयं भी उसमें प्रकट होते हैं, जो अपनी माया, प्रकृति या शक्ति के दास नहीं, प्रभु हैं, जिनकी जगत्-परिकल्पना या योजना को उनका बनाया हुआ कोई भी जीवजंतु, मानव-दानव इधर-उधर या उलट-पलट नहीं कर सकता, जो अपनी सृष्टि या अभिव्यक्ति के किसी भाग के उत्तरदायित्व को अपने सृष्ट या अभिव्यक्त प्राणियों के ऊपर लाद-कर स्वयं उससे बरी होने की कोई जरूरत नहीं रखते—यदि हम ऐसा मानते हैं—तब तो आरम्भ से ही मानव-प्राणी को एक महान् और महाकठिन श्रद्धा धारण करके ही आगे बढ़ना होगा। मानव अपने-आपको एक ऐसे जगत् में

पाता है जहाँ ऊपर से देखने में ऐसा लगता है कि लड़ाकू शक्तियों ने एक भीषण विशृंखला कर रखी है, बड़ी-बड़ी अंधकार की शक्तियों का संग्राम छिड़ा हुआ है, जहाँका जीवन सतत परिवर्तन और मृत्यु के द्वारा ही टिका हुआ है, और व्यथा, यंत्रणा, अमंगल और विनाश की विभीषिका द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ है। ऐसे जगत् के अन्दर उसे सर्वव्यापी ईश्वर को देखना होगा और इस बात से सचेतन होना होगा कि इस पहेली का कोई हल अवश्य है और यह कि जिस अज्ञान में वह इस समय वास करता है उसके परे कोई ऐसा ज्ञान है जो इन विरोधों को मिटाता है। उसे इस श्रद्धा और विश्वास के आधार पर खड़ा होना होगा कि, "तू मुझे मार भी डाले, तो भी मैं तेरा भरोसा न छोड़ूंगा।" सभी प्रकार की कार्यरत निष्ठा में चाहे वह आस्तिक की हो, नास्तिक की हो या सर्वेश्वरवादी की—न्यूनाधिक स्पष्टता और पूर्णता के साथ इस प्रकार का भाव पाया जाता है। इसमें स्वीकृति है और विश्वास भी। स्वीकृति इस बात की कि संसार में सर्वत्र अनबन है और विश्वास इस बात का कि कोई भागवत तत्व भी है—विश्वपुरुष अथवा प्रकृति जो भी कहिये—जिसके बल से हम इन परस्पर-विरोधों को पार कर सकते हैं, जीत सकते हैं या समन्वित कर सकते हैं, कदाचित् एक साथ तीनों ही बातें कर सकते हैं, इनको जीतकर और इनको पार करके हम इन्हें समन्वित कर सकते हैं।

तब, मनुष्यजीवन की वास्तविकता का जहांतक सम्बन्ध है, हमें उसके संघर्ष और युद्ध के पहलू को मानना होगा जिसकी भीषणता बढ़ते-बढ़ते कुरुक्षेत्र के जैसे महासंकट तक जा पहुँचती है। गीता, जैसा कि हम देख आये हैं, परिवर्तन और संकट के एक ऐसे काल को अपना आधार बनाती है जो मानवजाति के इतिहास में पुनः-पुनः आया करता है और इस काल में बड़ी-बड़ी शक्तियाँ किसी भीषण बौद्धिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक ध्वंस और पुनर्निर्माण के लिये एक-दूसरेसे टकराती हैं और मनुष्य की वास्तविक मनोवैज्ञानिक और सामाजिक अवस्था में साधारणतया ये शक्तियाँ संघर्ष, युद्ध और क्रान्ति के भीषण भौतिक आंदोलनों में अपनी पराकाष्ठा को पहुँचती हैं। गीता का प्रारम्भ ही इस मान्यता से होता है कि ऐसे भीषण क्रान्तिकारक प्रसंग प्रकृति में आवश्यक होते हैं, केवल उनका नैतिक पहलू ही नहीं अर्थात् धर्म और अधर्म में, शुभ के स्थापित होते हुए विधान और उसकी प्रगति को रोकनेवाली शक्तियों में जो युद्ध होता है वही नहीं, बल्कि उनका भौतिक अंग भी अर्थात् शुभाशुभ शक्तियों के प्रतिनिधिस्वरूप जो मनुष्य हैं उनके बीच सशस्त्र संग्राम अथवा अन्य किसी प्रकार का प्रचण्ड शारीरिक युद्ध भी आवश्यक होता है। यहाँ हमें स्मरण रखना होगा

कि गीता की रचना ऐसे समय में हुई थी जब युद्ध मानव गतिविधि का आज से भी अधिक आवश्यक अंग था और उसके बहिष्कार का विचार तक आकाश-कुसुम जैसा होता। मनुष्यों में विश्वव्यापी शांति और सद्भाव को स्थापित करने का उपदेश—क्योंकि विश्वव्यापी शांति और पूर्ण सद्भाव के बिना सच्ची और स्थायी शान्ति नहीं हो सकती—हमारी उन्नति के एतिहासिक काल में एक क्षण के लिये भी मानवजीवन को अधिकृत नहीं कर सका है, क्योंकि जाति की नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक अवस्था इसके लिये तैयार नहीं थी और विकासात्मक प्रकृति की अभी तक जो हालत थी उसके कारण वह इस बात की इजाजत नहीं दे सकती थी कि मानव-जाति ऐसी उच्चतर स्थिति के लिये एकाएक तैयार कर ली जाय। आज भी हम लोग, सिवाय इसके कि परस्पर-विरोधी स्वार्थों के बीच यथासंभव कोई ऐसा समझौता कर लिया करें जिससे अतिभीषण और बीभत्स संघर्ष-संग्राम कुछ कम हो जायँ, जरा भी आगे नहीं बढ़ पाये हैं। और इसके लिए मनुष्यजाति को अपनी ही प्रकृति के वश जिस उपाय और जिस ढंग का अवलंबन करना पड़ता है वह है एक ऐसा महाभयंकर रक्तपात जिसका इतिहास में जोड़ नहीं! अर्थात् आधुनिक मनुष्य को जगद्व्यापी शान्ति की स्थापना का जो सीधा और सफल मार्ग मिला है वह है कटुता और दुर्दमनीय द्वेष से परिपूर्ण विश्वव्यापी महायुद्ध! इस शान्ति की स्थापना के मूल में भी कोई ऐसा भाव नहीं है जो मनुष्य-स्वभाव के आमूल परिवर्तन से उत्पन्न हुआ हो, बल्कि मनुष्यों की जैसी बौद्धिक धारणाएँ हैं, आर्थिक सुविधा का जो ख्याल है, प्राणहानि के भय से उनके प्राण और उनकी भावुकता जो काँप उठती है, युद्ध से उनको जो असुविधा और घबराहट होती है उसीसे ऐसी शान्ति की इच्छा की जाती है और राजनीतिक अधिकार आदि ले-देकर ही इस शान्ति की रक्षा का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार से जो शान्ति स्थापित की जाती है उसकी नींव दृढ़ हो और वह बहुत काल तक स्थिर रहे ऐसा भरोसा नहीं होता। एक दिन आ सकता है, बल्कि हम कहेंगे कि निश्चय ही आयेगा, जब मनुष्य-जाति आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक रूप से इस बात के लिये तैयार होगी कि सर्वत्र शांति का राज्य हो; लेकिन तबतक किसी व्यावहारिक तत्वज्ञान और धर्मशास्त्र को यह मानकर चलना होगा कि युद्ध जीवन का अंग है, और लड़ना मनुष्य का स्वभाव और कर्म है और मनुष्य के योद्धा-रूप के स्वभाव और कर्तव्य को मानकर उसका लेखा-जोखा करना होगा। किसी सुदूर भविष्य में मानव-जीवन किस प्रकार का होगा, केवल इसी का विचार न करके, उसके वर्तमान रूप को देखती हुई, गीता यह प्रश्न उपस्थित करती है कि मनुष्य-जीवन के इस पहलू और कर्तव्य का, जो

वास्तव में मनुष्य की सर्वसाधारण गतिविधि का ही एक अंग और स्वभाव है, उसकी आत्मिक स्थिति के साथ कैसे मेल बैठाया जाय ?

इसीलिए गीता एक योद्धा से कही गयी है जो कर्मठ है ; उसके जीवन का कर्तव्य है युद्ध और संरक्षण। युद्ध उसके प्रजापालनधर्म का एक अंग है, उन लोगों की रक्षा के लिये जो युद्ध-कर्म से बरी हैं, जो अपनी रक्षा आप करने से वंचित कर दिये गये हैं और इसलिए बलवान् और आततायी मनुष्यों से अपने-को नहीं बचा सकते। और फिर युद्ध का एक और नैतिक और वीरोचित भाव है, अर्थात् दीन-दुर्बलों और पीड़ितों की रक्षा और जगत् में धर्म और न्याय की स्थापना। ये सभी सामाजिक और व्यावहारिक, नैतिक और वीरोचित भाव-नाएँ क्षत्रिय शब्द के भारतीय भाव के अंतर्गत आ जाती हैं, क्षत्रिय कर्म से योद्धा और शासक होता है और स्वभाव से शूर-वीर और राजा। यद्यपि हमारे लिये गीता के सर्वसामान्य और व्यापक सिद्धान्त ही सबसे अधिक महत्व रखते हैं तथापि ये सिद्धान्त जिस विशिष्ट भारतीय संस्कृति और समाज-व्यवस्था के समय में प्रादु-र्भूत हुए और इस कारण इन सिद्धांतों पर उस संस्कृति और व्यवस्था का जो रंग चढ़ा है और जिस ओर इनका रुख है उनका कोई विचार न करके योंही छोड़ देना ठीक न होगा। उस समाजव्यवस्था की धारणा आधुनिक समाजव्यवस्था की धारणा से भिन्न थी। आधुनिकों की बुद्धि में एक ही मनुष्य विचारक, योद्धा, कृषक, व्यवसायी और सेवक सब कुछ है और आजकल की सामाजिक व्यवस्था का रुख इस ओर है कि इन सब कर्मों को मिला-जुला दिया जाय और प्रत्येक व्यक्ति से समाज के बौद्धिक, सामरिक और आर्थिक जीवन और जरूरत के लिये उसका अपना हिस्सा माँगा जाय और इस बात में उसकी अपनी प्रकृति और उसके स्व-भाव की मांग पर कोई ध्यान न दिया जाय। प्राचीन भारतीय संस्कृति में व्यक्ति-गत सहज गुण, कर्म, स्वभाव का बहुत अधिक ध्यान रखा जाता था और इसी गुण-कर्म-स्वभाव से व्यक्तिमात्र का विशेष धर्म, कर्म और समाज में उसका स्थान नियत करने का प्रयत्न किया जाता था। उस काल में मनुष्य को मूलत: एक सामाजिक प्राणी नहीं समझा जाता था, न उसकी सामाजिक स्थिति की पूर्ण संपन्नता ही सर्वोच्च आदर्श मानी जाती थी, बल्कि यह मान्यता थी कि मनुष्य एक आध्यात्मिक जीव है जो क्रमश: गठित और विकसित हो रहा है और उसका सामाजिक जीवन, उसका विशेष धर्म, उसके स्वभाव की क्रिया और उसके कर्म का उपयोग, ये सब उसके आध्यात्मिक गठन के साधन और अवस्थामात्र हैं। चिंतन और ज्ञान, युद्ध और राज्य-प्रबंध, शिल्प, कृषि और वाणिज्य, मजदूरी और सेवा, ये सब समाज के विधिपूर्वक बँटे हुए कर्म थे, जो सहज भाव

से जिस कर्म के योग्य होते उन्हीं को वह काम सौंपा जाता था और वही कर्म उनका वह उचित साधन होता था जिसके द्वारा वे व्यक्तिशः अपनी आध्यात्मिक उन्नति और आत्मसिद्धि की ओर आगे बढ़ सकते थे।

आधुनिकों की जो यह भावना है कि अखिल मानव-कर्म के सभी मुख्य-मुख्य विभागों में सब मनुष्यों को ही समान रूप से योगदान करना चाहिये, इस भावना के अपने कुछ लाभ हैं; और जहाँ भारतीय वर्णव्यवस्था का अन्त में यह परिणाम हुआ कि व्यक्ति के अनगिनत विभाजन हो गये, उसमें अतिविशेषीकरण की भरमार हो गयी तथा उसका जीवन संकुचित और कृत्रिम बंधनों से बंध गया, वहां आधुनिक व्यवस्था समाज के जीवन को अधिक संघटित, एकत्रित और पूर्ण बनाने में तथा संपूर्ण मानव-सत्ता का सर्वांगीण विकास करने में सहायता देती है। परन्तु आधुनिक व्यवस्था के भी अपने दोष हैं और इसके कतिपय व्यावहारिक प्रयोगों में इस व्यवस्था का बहुत अधिक कठोरतापूर्वक उपयोग किये जाने के कारण इसका परिणाम बेढंगा और अनर्थकारी हुआ है। आधुनिक युद्ध का स्वरूप देखने से ही यह बात स्पष्ट हो जायगी। आज जिस समाज में मनुष्य रहता और पलता है उसकी रक्षा करना और उसके लिये लड़ना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपना क्षात्र कर्म करने के लिये बंधा है। इस आधुनिक व्यवस्था का परिणाम यह हुआ है कि राष्ट्र का सारा-का-सारा पुरुषत्व रक्तरंजित खाइयों में मरने और मारने के लिये ढकेल दिया जाता है, विचारक, कलाकार, दार्शनिक, पुजारी, व्यवसायी और कारीगर, सब-के-सब अपने स्वाभाविक कर्म से अलग कर दिये जाते हैं, समाज का सारा जीवन अव्यवस्थित हो जाता है, विचार और धर्माधर्मविवेक का भाव क्षात्र धर्म के नीचे दब जाता है, यहांतक होता है कि जिस पुरोहित को राज्य की ओर से शान्ति और प्रेम के भाव का प्रचार करने के लिये वृत्ति मिलती है या यह काम उसका सहज कर्म होता है उसे भी अपना धर्म त्याग देना पड़ता है और अपने भाइयों का कत्ल करने के लिये कसाई बन जाना पड़ता है! इस प्रकार के लड़ाकू राज्य के आदेश द्वारा धर्माधर्मविवेक और मनुष्य के विशिष्ट स्वभाव का ही उल्लंघन होता हो सो नहीं, बल्कि राष्ट्र-संरक्षण का भाव बढ़ते-बढ़ते उन्माद की हदतक पहुँच जाता है और उसका वह राष्ट्र-संरक्षण राष्ट्रीय आत्महत्या में बदल जाने का उत्कट प्रयास होता है।

इसके विपरीत भारतीय संस्कृति का यह मुख्य लक्ष्य था कि युद्ध और उससे होनेवाला अनर्थ और विनाश, जहाँतक हो सके, कम-से-कम हो। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये भारतीय समाज-व्यवस्था में क्षात्र-धर्म समाज के एक ऐसे छोटे-से

वर्ग के लोगों में ही परिसीमित कर दिया गया था जो अपने जन्म, स्वभाव और परंपरा से इस कर्म के लिये विशेष उपयुक्त थे और इस कर्म में उनके साहस, उनकी अनुशासित शक्ति, उनकी परोपकार-परायणता, उनकी वीरतापूर्ण महानता आदि गुणों की वृद्धि होकर उनका आत्म-प्रस्फुटन होता था और फलतः वह जीवन उनके आत्मविकास का एक साधन होता था, क्योंकि किसी उच्च आदर्श को सामने रखकर जो लोग योद्धा-जीवन बिताते हैं उनके आत्मविकास के लिये यह जीवन एक क्षेत्र और अवसर बन जाता है। इस प्रकार के कर्म के जो अधिकारी थे उन्हीं के जिम्मे यह युद्ध-कर्म कर दिया गया था ; अन्य लोग इससे बरी थे, मारकाट और लूटमार से उनकी हर तरह से रक्षा की जाती थी, उनका जीवन और जीविका यथासंभव इससे अलग ही रखे जाते थे। मानव-स्वभाव में युद्ध और संहार करने की जो प्रवृत्तियां होती हैं उनका क्षेत्र मर्यादित कर दिया गया था, उनकी एक जातिविशेष के अन्दर ही हद बांध दी गयी थी और इस तरह युद्ध से होनेवाली राष्ट्र के सर्वसाधारण जीवन की हानि की संभावना यथासंभव कम कर दी गयी थी। इसके साथ ही युद्ध का जैसा उच्च नैतिक आदर्श था और धर्मयुद्ध के जो मनुष्योचित वीर और उदात्त नियम थे उनसे युद्ध योद्धाओं को क्रूर नरपशु बनाने का निमित्त नहीं बल्कि उन्नत और उदार बनाने का कारण होता था। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गीता जो युद्ध करने को कहती है वह ऐसा ही युद्ध था और इन्हीं अवस्थाओं के अंतर्गत लड़ा जाता था, वह युद्ध जो मानव-जीवन का एक अपरिहार्य अंग माना जाता था, पर वह इतना मर्यादित और संयमित था कि अन्य कर्मों के समान यह कर्म भी मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास में सहायक होता था। और यह नैतिक और आत्मिक विकास ही उस काल में जीवन का एकमात्र और वास्तविक लक्ष्य था, वह युद्ध कतिपय छोटे से दायरों के अन्दर ही व्यक्तियों के जीवन का संहार-कार्य करता था किन्तु इस प्रकार के युद्ध द्वारा योद्धा के आंतरिक जीवन का गठन होता था और जाति की नैतिक उन्नति भी। पूर्वकाल में उस उच्च आदर्श को सामने रखकर जो युद्ध किये जाते थे उनसे उत्कर्ष ही साधित होता था। यह बात चाहे चरमपंथी दुराग्रही शांतिवादी न स्वीकार करें, पर शौर्य और वीरता को युद्ध ने ही विकसित किया है, भारत का क्षात्र-धर्म और जापान का सामुराई-धर्म युद्ध के ही फल हैं। हाँ, अपना काम कर चुकने के बाद भले ही युद्ध संसार से बिदा हो जाय ; कारण इसकी उपयोगिता समाप्त हो जाने पर भी यदि यह बना रहना चाहे तो यह हिंसा की एक अप्रशमित क्रूरता के रूपमें ही प्रकट होगा और क्योंकि इसमें युद्ध का आदर्श और संगठनात्मक पहलू होगा ही नहीं, इसलिए मनुष्य का प्रगतिशील मन इसको

त्याग देगा। परन्तु विकास के इतिहास को यदि विवेकपूर्वक देखें तो पूर्वकाल में युद्ध ने मनुष्यजाति की जो सेवा की है उसे स्वीकार करना ही होगा।

युद्ध का भौतिक तत्व जीवन के एक सर्वसामान्य तत्व की विशेष और बाह्य अभिव्यक्तिमात्र है और मानव-जीवन की पूर्णता के लिये जिस वैशिष्ट्य की आवश्यकता है क्षत्रिय उसकी एक बाह्य अभिव्यक्ति और नमूना है। हम लोगों के क्या आंतरिक और क्या बाह्य, दोनों ही प्रकार के जीवन में, संघर्ष का जो पहलू है वही एक विशिष्ट भौतिक आकार धारण करके युद्ध के रूप में प्रकट होता है। यह संसार संघर्ष का क्षेत्र है, यहाँका तरीका है कि विभिन्न शक्तियां एक-दूसरेसे टकराती और भिड़ती हैं और इस तरह परस्पर संहार के द्वारा एक ऐसे सतत परिवर्तनशील सामंजस्य की ओर आगे बढ़ती हैं जो स्वयं किसी प्रगतिशील सुसंगति-साधन का द्योतक है तथा पूर्ण समन्वय की आशा दिलाता है, और इसका आधार है एकता की एक ऐसी निहित संभावना जो अभी तक पकड़ में नहीं आयी है। क्षत्रिय, मनुष्य में विद्यमान योद्धा का प्रतीक और मूर्त रूप है। वह इसे अपने जीवन का सिद्धान्त बना लेता है और योद्धा के नाते युद्ध का सामना करता हुआ विजय के लिये यत्न करता है, मानव शरीरों और रूपों का संहार करने में तो वह नहीं हिचकता, पर इस संहार-कर्म में उसका लक्ष्य होता है किसी ऐसे सत्य, न्याय और धर्म के सिद्धान्त की उपलब्धि जो उस सामंजस्य की बुनियाद हो सके जिसकी ओर यह सारा संघर्ष प्रवाहित हो रहा है। गीता विश्व-ऊर्जा के इस पहलू को तथा युद्ध के भौतिक तथ्य को—जो इस पहलू का मूर्त रूप है—स्वीकार करती है और एक क्षत्रिय को सम्बोधित करती है अर्थात् उस मनुष्य को जो कर्मशील, उद्योगी और योद्धा है—यह युद्ध अन्दर शान्ति और बाहर अहिंसा रखने की अंतरात्मा की उच्च अभीप्सा से एकदम विपरीत है और जिस योद्धा को गीता उपदेश देती है उसके कार्य और संघर्ष की आवश्यक हलचल अंतरात्मा के शान्त प्रभुत्व और आत्म-अधिकृति जैसे आदर्शों के सर्वथा विपरीत मालूम होती है। ऐसी परस्पर-विरोधी अवस्थाओं में से गीता एक रास्ता निकालने और एक ऐसे स्थल पर पहुँचाने का प्रयास करती है जहाँ दोनों बातें बराबर होकर मिल जायँ और वह संतुलित अवस्था हो जाय जो सामंजस्य और परा-स्थिति का मूल और पहला आधार हो।

मनुष्य जीवन-संग्राम का सामना अपनी प्रकृति के सर्वोपरि मूलभूत गुण के अनुरूप ही किया करता है; सांख्य सिद्धांत के अनुसार—जो इस प्रसंग में गीता को भी मान्य है—विश्व-ऊर्जा के, और इसलिए मानव-स्वभाव के भी, तीन मूलभूत तत्व या गुण हैं। सत्व संतुलित अवस्था, ज्ञान और संतोष का

गुण है ; रज प्राणावेग, कर्म एवं द्वन्द्वमय भावावेग का और तम अज्ञान तथा जड़ता का। मनुष्य में जब तमोगुण की प्रधानता होती है तब वह अपने चारों ओर चक्कर काटनेवाली और अपने ऊपर आ धमकनेवाली जगत्-शक्तियों के वेगों और धक्कों का उतना सामना नहीं करता, क्योंकि उनके सामने वह हिम्मत हार जाता, उनके प्रभाव में आ जाता, शोकाकुल हो जाता और उनकी अधीनता स्वीकार कर लेता है ; अथवा अधिक-से-अधिक अपने अन्य गुणों से मदद पाकर किसी तरह बचे रहना भर चाहता है, जबतक टिक सके तबतक टिका रहना चाहता है, किसी ऐसे आचार-विचार से बँधे जीवनक्रम के गढ़ में छिपकर अपनी जान बचाना चाहता है जिसमें पहुँचकर वह अपने-आपको किसी अंश में इस संग्राम से बचा हुआ समझे और यह समझे कि उसकी उच्चतर प्रकृति उससे जो कुछ माँग रही है उसे वह अस्वीकार कर सकेगा तथा इस संघर्ष को और आगे बढ़ाने और एक वर्धमान प्रयास एवं प्रभुत्व के आदर्श को चरितार्थ करने की मेहनत से मुक्त हो सकेगा। रजोगुण की जब प्रधानता होती है तो मनुष्य अपने-आपको युद्ध में झोंक देता है और शक्तियों के संघर्ष का उपयोग अपने ही अहंकार के लाभ के लिए अर्थात् विरोधी को मारने-काटने, जीतने, उसपर प्रभुत्व पाने और जीवन का भोग करने के लिए करता है ; अथवा अपने सत्वगुण से कुछ मदद पाकर इस संघर्ष को अपनी आंतरिक प्रभुता, अंत:सुख-शक्ति-संपत्ति बढ़ाने का साधन बना लेता है। जीवन-संग्राम उसके आनन्द और नशे की चीज बन जाता है, इसका कारण कुछ तो यह होता है कि संघर्ष करना उसका स्वभाव होता है, इस तरह कर्मण्यता में उसे सुख मिलता है और उसको अपनी शक्ति का अनुभव होता है और कुछ अंश में यह उसकी वृद्धि और स्वाभाविक आत्मविकास का साधन होता है। जब सत्वगुण की प्रधानता होती है तब मनुष्य संघर्ष के बीच धर्म, सत्य, संतुलित अवस्था, समन्वय, शान्ति, संतोष का कोई तत्व ढूँढ़ा करता है। विशुद्ध सात्विक मनुष्य इसीका अनुसंधान अपने अन्दर करता रहता है, चाहे केवल अपने लिए ही करे अथवा यह भाव चित्त में रखे कि जब चीज हासिल होगी तब वह दूसरों को भी दी जायगी, किन्तु यह काम साधारणतया सक्रिय जगत्-शक्ति के झगड़े और कोलाहल से निर्लिप्त होकर अथवा बाह्यत: उनका त्याग करके किया जाता है ; पर सात्विक मनुष्य जब अंशत: राजसी वृत्ति स्वीकार करता है तो वह इसको संघर्ष और बाहरी गड़बड़झाले के ऊपर संतुलित अवस्था और सामंजस्य को लादने के लिए, युद्ध, अनबन और संघर्ष पर शान्ति, प्रेम और सामंजस्य को विजय दिलाने के लिए करता है। जीवन-समस्या को हल करने के लिए मनुष्य का मन जो-जो ढंग अख्तियार करता है वे सब ढंग इन्हीं गुणों में से

किसी एक गुण की प्रधानता से या इन गुणों के बीच सन्तुलन और सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न से ही उत्पन्न होते हैं।

परन्तु एक ऐसी अवस्था आती है जब मन इस सारी समस्या से ही फिर जाता है और प्रकृति की तीन अवस्थाओं या त्रैगुण्य से प्राप्त होनेवाले उपायों से असन्तुष्ट होकर किसी ऐसे हल को ढूंढने लगता है जो त्रैगुण्य से परे या ऊपर हो। मन किसी ऐसी चीज में भाग जाना चाहता है जो गुणों के बाहर हो या जो समस्त गुणों से सर्वथा रहित और इसलिए कर्मरहित हो, अथवा किसी ऐसी चीज में जाना चाहता है जो इन तीनों गुणों से श्रेष्ठ हो और ये गुण जिसके वश में हों, इसलिए वहाँ पहुँचकर वह कर्म भी कर सके और उससे अलिप्त और अप्रभावित भी रह सके, यानी निर्गुण या त्रिगुणातीत अवस्था में पहुँचना चाहता है, निरपेक्ष शान्ति और निरुपाधि स्थिति के लिये अथवा प्रबल स्थिरता और श्रेष्ठतर स्थिति के लिये अभीप्सा करता है। इनमें से पहले भाव की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है संन्यास की ओर और दूसरे भाव की प्रवृत्ति होती है प्रकृति की माँगों तथा उसकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के चक्कर पर प्रभुत्व प्राप्त करने की ओर, और इसका सिद्धांत होता है समता की स्थापना तथा आवेशों और कामना का आंतरिक त्याग। अर्जुन के चित्त में पहले वही पहला आवेग हुआ था जिसके कारण कुरुक्षेत्र में, अर्थात् युद्ध और हत्याकांड के घोर संहार-क्षेत्र में अपने वीर कर्म की दुःखद पराकाष्ठा से उसका मन फिर गया, अबतक उसका जो कर्म-सम्बन्धी सिद्धान्त था वह लुप्त हो गया और उसको ऐसा बोध होने लगा कि अकर्म अर्थात् जीवन और जीवन की माँगों का त्याग ही एकमात्र उपाय है। परन्तु भगवान् गुरु की वाणी उसे जो कुछ करने को कहती है वह जीवन और कर्म का बाह्य संन्यास नहीं है, बल्कि उनपर आंतरिक प्रभुता की स्थापना है।

अर्जुन क्षत्रिय है, एक ऐसा रजोगुणी पुरुष है जो अपना राजसिक कर्म एक उच्च सात्विक आदर्श से नियत करता है। इस भीषण संग्राम में, कुरुक्षेत्र के इस महासमर में वह युद्ध का हौसला लेकर, रणरंग में मस्त होकर आया है, उसे अपने पक्ष के न्यायपूर्ण होने का साभिमान विश्वास भी है, वह अपने तेज रथपर बैठकर शत्रुओं के हृदयों को अपने युद्धशंख के विजयनिनाद से दहलाता हुआ आगे बढ़ता है ; क्योंकि वह देखना चाहता है कि उसके विरुद्ध खड़े होकर अधर्म का बल बढ़ाने और धर्म, न्याय और सत्य को कुचलकर उनके स्थान में स्वार्थी और उद्दंड अहंकार की प्रभुता स्थापित करने कौन-कौन राजा आये हैं। पर उसका यह विश्वास चूर-चूर हो गया और वह अपने सहज-स्वभाव से तथा जीवन-सम्बन्धी अपने मानसिक आधार से एक भीषण आघात खाकर गिर पड़ा ; इसका कारण

यह हुआ कि राजसिक अर्जुन में तमोगुण की एक बाढ़ आ गयी और इसने उसको आश्चर्य, शोक, भय, निरुत्साह, विषाद, मन की व्याकुलता और अपने ही तर्कों के परस्पर-संग्राम द्वारा व्यथित कर इस कार्य से मुँह मोड़ने के लिए उकसाया और वह अज्ञान और जड़ता में डूब गया। परिणाम यह हुआ कि वह संन्यास की ओर मुड़ा। वह सोचने लगा कि इस क्षात्र-धर्म से जिसका फल अविवेकपूर्ण संहार है, प्रभुता, यश और अधिकार के सिद्धान्त से होनेवाले नाश और रक्त-पात से, रक्तरंजित सुखभोग से, न्याय और धर्मविरोधी उपायों से सत्य और न्याय की स्थापना करने से, और एक ऐसे युद्ध के द्वारा सामाजिक विधान की रक्षा करने से जो समाज की प्रक्रिया और परिणाम का विरोधी हो—इन सबकी अपेक्षा तो भीख माँगकर जीनेवाले भिक्षुक का जीवन भी अच्छा है।

संन्यास का अर्थ है जीवन और कर्म तथा प्रकृति के त्रिगुण का त्याग, किन्तु इस त्रिगुण में से किसी एक गुण के द्वारा ही संन्यास की ओर जाना होता है। संन्यास की ओर जाने का आवेग तामसिक हो सकता है, अर्थात् क्लीवता, भय, विद्वेष, जुगुप्सा, जगत् और जीवन से त्रास अनुभव होता हो; अथवा हो सकता है कि यह तमकी ओर झुका हुआ राजसिक गुण हो, अर्थात् संघर्ष से थकावट मालूम पड़ने लगी हो, शोक छा गया हो, निराशा उत्पन्न हो गयी हो और कष्ट तथा अनन्त असंतोष से भरे हुए कर्म के इस व्यर्थ के हुल्लड़ को स्वीकार करने से जी ऊब गया हो; अथवा हो सकता है कि यह सत्य की ओर झुका राजसिक आवेग हो, अर्थात् यह जीवन जो कुछ दे सकता है उससे किसी श्रेष्ठ वस्तु तक पहुँचने, किसी उच्चतर अवस्था पर विजय प्राप्त करने, समस्त बंधनों को तोड़नेवाली और समस्त सीमाओं को पार करनेवाली किसी आंतरिक शक्ति के पैरों तले स्वयं जीवन को ही कुचल डालने का आवेग उठा हो; अथवा हो सकता है कि यह सात्विक हो अर्थात् जीवन की निस्सारता का और इस जगत्-जीवन के, किसी सच्चे लक्ष्य या औचित्य के बिना ही, निरंतर चक्कर काटते रहने का एक बौद्धिक आभास हुआ हो या फिर उस सनातन, अनन्त, निश्चल-नीरव, नाम-रूप-रहित परात्पर शान्ति का कोई आध्यात्मिक अनुभव हुआ हो और इसलिए जगत्-जीवन और कर्म से संन्यास ले लेने का आवेग उठा हो। अर्जुन को जो विराग हुआ है वह सत्य की ओर प्रवृत्त रजोगुणी पुरुष का कर्म से तामस विराग है। गुरु चाहें तो उसे इसी रास्ते पर स्थिर कर सकते हैं, इसी अंधेरे दरवाजे से विरक्त जीवन की शुद्धता और शान्ति में उसे प्रविष्ट करा सकते हैं; अथवा इस वृत्ति को तुरन्त शुद्ध करके वे उसे संन्यास की सात्विक प्रवृत्ति के अत्युच्च शिखरों पर चढ़ा सकते हैं। पर वास्तव में वे इन दोनों में से एक भी नहीं करते। गुरु उसके तामस

विराग और संन्यास ग्रहण करने की प्रवृत्ति से उसका चित्त फेरते हैं और कर्म को ही जारी रखने के लिये कहते हैं और वह भी उसी भीषण और घोर कर्म को। परन्तु इसके साथ ही उसे एक दूसरे और ऐसे आंतरिक वैराग्य का निर्देश करते हैं जो उसके संकट का सच्चा निराकरण है, और जो विश्वप्रकृति पर जीवन की श्रेष्ठता स्थापित करने का रास्ता है और यह होते हुए भी मनुष्यों को स्थिर और आत्म-अधिकृत कर्म में प्रवृत्त रखता है। शारीरिक नहीं, बल्कि आंतरिक तपस्या ही गीता में अभिप्रेत है।

आर्य क्षत्रिय-धर्म[1]

अर्जुन की वेगवती शंकाओं की जो पहली बाढ़ आयी—जिसमें उसका चित्त संहार-कर्म से हट गया, जिसमें उसे दुःख और पाप ही दीखने लगा, जीवन शून्य और निस्सार प्रतीत होने लगा, पाप-कर्म से भविष्य में होनेवाले पापमय परिणाम दिखायी देने लगे—उनका एक ही उत्तर भगवान् श्रीगुरु ने दिया और वह था एक बड़ी फटकार। उन्होंने कहा कि यह सब उसके मन की उथल-पुथल है, मन का भ्रम है, उसके हृदय का दौर्बल्य है, कापुरुषता है, उसके अपने क्षात्र तेज से, शूरवीर के पौरुष से च्युत होना है। यह पृथा के पुत्र को शोभा नहीं देता। धर्म-कार्य के प्रधान रक्षक को, जिसपर उसके सफल होने का सारा भरोसा है, ऐन मौके पर, ऐसे विकट संकट-काल में अपने हृदय और इन्द्रियों के विद्रोह के वश होकर उसे छोड़ देना ठीक नहीं और न यह उसके लिये उचित है कि अपनी विवेक-बुद्धि पर परदा पड़ने दे और अपने संकल्प से च्युत होकर देवप्रदत्त गांडीव धनुष आदि शस्त्रों को नीचे रखकर भगवान् के सौंपे हुए कर्म को करने से मुँह फेर ले। यह आर्यों की रीति नहीं है, यह भाव न तो स्वर्ग से आया है, न स्वर्ग ले जानेवाला है। और, इस लोक में यह उस कीर्ति का नाश करनेवाला है जो बल, वीर्य, पराक्रम और उदार कर्म से ही प्राप्त हुआ करती है। इसलिए यही उचित है कि वह इस दुर्बल और आत्मकेंदित दया को त्यागकर अपने शत्रुओं का संहार करने के लिये उठ खड़ा हो।

क्या हम कहेंगे कि यह तो एक वीर का दूसरे वीर को वीरोचित उत्तर है, लेकिन ऐसा नहीं जिसकी हम भागवत गुरु से आशा करते हैं; क्योंकि ऐसे गुरु से तो यही आशा की जाती है कि वे सदा मृदुता, साधुता एवं आत्मत्याग के भावों को तथा सांसारिक ध्येयों और दुनियादारी से विरक्ति के भाव को ही प्रोत्साहित करेंगे। गीता स्पष्ट कहती है कि अर्जुन अवीरोचित दुर्बलता में आ पड़ा था, "उसके नेत्र आकुल और अश्रुपूर्ण हो गये थे, उसका हृदय विषाद से भर गया था," कारण वह "कृपाविष्ट"—कृपा से आक्रांत हो गया था। तब क्या यह दैवी

१ गीता, द्वितीय अध्याय १-३८

दुर्बलता नहीं थी ? कृपा क्या दैवी भावावेग नहीं है, इस प्रकार की कृपा को क्या ऐसी कड़ी फटकार के साथ निरुत्साहित करना चाहिए ? अथवा हम किसी ऐसी शिक्षा के सामने तो नहीं आ पड़े जो केवल युद्ध और वीर कर्म का ही उपदेश देती हो, जो नीत्शे के सिद्धान्त जैसी हो, जिसका ताकत और गर्वोन्मत्त बल ही एकमात्र धर्म है, जो इब्रानी और पुराने टचूटानिकों की कठोरता की तरह हो जिसमें कृपा एक दुर्बलता समझी जाती है और जो उस नारवेजियन वीर के भाव में चिंतन करती है जो ईश्वर को इसलिये धन्यवाद देता था कि उसने उसको एक कठोर हृदय दिया था ? परन्तु गीता का उपदेश भारतीय धर्म से निकला है और भारतीयों के लिये करुणा सदा से ही दैवी प्रकृति का एक प्रधान अंग मानी गयी है। आगे चलकर स्वयं भगवान् ही एक अध्याय में दैवी प्रकृति की संपदाओं को गिनाते हुए प्राणिमात्र पर दया, मृदुता, अक्रोध, अहिंसा आदि गुणों को अभय, वीर्य और तेज के बराबर ही आवश्यक बतलाते हैं। क्रूरता, कठोरता, भयानकता और शत्रुओं के वध में हर्ष, धन-संचय और अन्यायपूर्ण भोग आसुरी गुण हैं ; इनकी उत्पत्ति उस प्रचण्ड आसुरी प्रकृति से होती है जो जगत् में और मनुष्य में भगवान् की सत्ता नहीं मानती और कामना को ही अपना आराध्य देव जानकर पूजती है। तो ऐसे किसी दृष्टिकोण से अर्जुन की दुर्बलता फटकारी जाने लायक नहीं है।

"यह विषाद, यह कलंक, यह अज्ञान ऐसे विकट संकट के समय तुझमें कहाँसे आया ?"[1] श्रीकृष्ण अर्जुन से पूछते हैं। प्रश्न का इशारा है अर्जुन के अपने वीर स्वभाव से स्खलित होने के वास्तविक स्वरूप की ओर। एक दैवी करुणा होती है जो हमपर ऊपर से उतरती है और जिस मनुष्य की प्रकृति में यह दया नहीं है, जिसका चरित्र इस दया के साँचे में ढला हुआ नहीं है उसका अपने-आपको श्रेष्ठ मनुष्य, सिद्ध पुरुष या अतिमानव बतलाना मूर्खता और धृष्टतामात्र है, कारण अतिमानव उसीको कहना चाहिये जिसके द्वारा मानव-जाति के अन्दर भगवान् का उच्चतम स्वभाव व्यक्त होता है। यह करुणा युद्ध और संघर्ष, मनुष्य की ताकत और दुर्बलता, उसके पुण्य और पाप, उसके सुख और दुःख, उसके ज्ञान और अज्ञान, उसकी बुद्धिमत्ता और मूर्खता, उसकी अभीप्सा और असफलता, इन सभी द्वंद्वों को प्रेम की, ज्ञान की और स्थिर सामर्थ्य की दृष्टि से देखती है और उनमें प्रवेश करके सबकी सहायता करती और सबके क्लेश का निवारण करती है। साधु पुरुषों और परोपकारियों में यह दया प्रेम या उदारता की प्रचुरता के रूप में मूर्त होती है ; विचारकों और

---

१. २—२

वीरों में यह सहायक ज्ञान एवं बल की विशालता तथा शक्ति का रूप धारण करती है। आर्य योद्धा में यह करुणा ही उसके शौर्य का प्राण होती है, जो किसी मरे को नहीं मारा करती, बल्कि दुर्बल, दीन, पीड़ित, पराभूत, आहत और गिरे हुए की सहायता और रक्षा करती है। परन्तु वह भी दैवी करुणा ही है जो बलशाली पीड़क और धृष्ट अत्याचारी को मार गिराती है, क्रोध और घृणा से नहीं,—क्योंकि क्रोध और घृणा कोई बड़े दैवी गुण नहीं हैं, पापियों पर ईश्वर का कोप, दुष्टों से ईश्वर की घृणा इत्यादि बातें अर्द्ध-प्रबुद्ध संप्रदायों की वैसी ही कल्पित कहानियाँ हैं जैसी उनकी ईजाद की हुई बाह्य नरकों की नानाविध स्थूल यंत्रणाओं की कहानियाँ। जैसा कि प्राचीन आध्यात्मिकता ने स्पष्ट रूप से देखा, यह दैवी करुणा जब बल के मद से मत्त पापी दैत्य की हत्या करती है तब भी इसमें वही प्रेम और अनुकंपा होती है जो प्रेम और अनुकंपा उन दीन-दुखियों और पीड़ितों पर होती है जिन्हें उस दैत्य की हिंसावृत्ति और अन्याय से इसे बचाना है।

परन्तु जो दया अर्जुन को उसके कर्म और जीवन के लक्ष्य का परित्याग करने के लिये उकसा रही है वह दैवी करुणा नहीं है। वह दया ही नहीं है, बल्कि दुर्बल आत्मदया से परिपूर्ण नपुंसकता है। जो कर्म उसके सामने उपस्थित है उसके फलस्वरूप जो मानसिक यंत्रणा उसे भोगनी पड़ेगी वह उससे बचना चाहता है, वह कहता है कि, "मेरी इन्द्रियों को सुखानेवाले इस शोक को मैं कैसे दूर करूँ, यह मेरी समझ में नहीं आता,"[1] यह आत्मदया अत्यंत तुच्छ और अनार्य भावों में गिनी जाती है। इसमें जो दूसरों के सुख के लिये कृपा का भाव है वह भी एक प्रकार की आत्म-तुष्टि ही है, यह स्नायुओं का हत्याकाण्ड से पीछे हटना है, धार्त्तराष्ट्रों के संहार-कार्य से उसके चित्त का अहमात्मक और भावावेगमय संकोच है, क्योंकि ये लोग उसके स्वजन हैं और इनके बिना तो जीवन ही शून्य हो जायगा। यह दया मन और इन्द्रियों की दुर्बलता है जो उन लोगों के लिये अच्छी है जो अभी अपने विकास के निम्न स्तर पर हैं, जिन्हें दुर्बल होना ही चाहिये अन्यथा वे क्रूर और कठोर बन जायँगे ; उन्हें अपने संवेदनात्मक अहंकार के कठोर रूपों को अपने कोमल स्वभाव के द्वारा ठीक करना पड़ता है, प्रकाशमय तत्व अर्थात् सत्वगुण की सहायता के लिये दुर्बल और आलसी तत्व अर्थात् तमोगुण का इसलिए आवाहन करना पड़ता है कि वह राजसिक आवेशों और ज्यादतियों को दबाये रहे। पर यह मार्ग उस उन्नत आर्य पुरुष का नहीं है जिसको दुर्बलता के रास्ते से नहीं, बल्कि अधिकाधिक बलवान् होकर ही आगे

१. २—८

बढ़ना है। अर्जुन देवनर है, नरश्रेष्ठ बनाये जाने की प्रक्रिया में है और इसलिए देवताओं ने उसे चुना है। उसे एक काम सौंपा गया है, उसके समीप उसके रथ पर स्वयं भगवान् विराजमान हैं, उसके हाथों में दिव्य गांडीव धनुष है और अधर्म के नेता, संसार में भगवान् के नेतृत्व के विरोधी उसके सामने खड़े हैं। उसे यह अधिकार नहीं है कि अपने भावावेगों और आवेशों के अनुसार कर्म और अकर्म का निर्णय करे, या अपने अहंपरायण हृदय और बुद्धि की बात मानकर एक आवश्यक संहार-कर्म से हट जाय, अथवा यह सोचकर अपने कर्तव्य कर्म से विरत हो कि इससे जीवन दु:खमय और सारहीन हो जायगा या चूंकि इस संग्राम में जिन लाखों प्राणियों का विनाश होगा उनके वियोग के कारण इसके लौकिक परिणाम का उसकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं। यह सब उसका अपने उच्चतर स्वभाव से दुर्बलतावश अध:पतन है। उसका अधिकार बस अपने "कर्तव्य कर्म" को देखने का है, उसे चाहिए कि केवल भगवान् के उस आदेश को सुने जो उसके क्षात्र-स्वभाव में से होकर दिया जा रहा है और यही अनुभव करे कि जगत् और मानव-जाति का भवितव्य उसे अपना देव-प्रेषित मनुष्य जानकर इसलिए पुकार रहा है कि वह जगत् और मानव-जाति के आगे बढ़ने में सहायक हो और अंधकार का पक्ष लेनेवाली जो शत्रु-सेनाएँ मार्ग को रोके हुई हैं, उन्हें मार भगावे।

अर्जुन श्रीकृष्ण को उत्तर देते हुए फटकार को स्वीकार करता है, हालाँकि अब भी वह उनके आदेश का पालन करने से हिचकता और इनकार करता है। वह अपनी दुर्बलता को जानता है, फिर भी उसके अधीन होकर रहना चाहता है। उसके हृदय की कृपणता ने उसके असली वीर स्वभाव को पराभूत कर दिया है; उसकी सारी चेतना धर्मसंमूढ़ हो गयी है और वह अपने सखा भगवान् को अपने गुरुरूप से वरण करता है; परन्तु उसने अपने धर्म-ज्ञान का समर्थन जिन भावावेगमय और बौद्धिक आधारों पर किया था, वे एकदम गिर गये हैं और वह गुरु के ऐसे आदेश को नहीं स्वीकार कर सकता जो उसकी नजर में उसके पुराने दृष्टिकोण के जैसा ही है और कर्म-संबंधी कोई नया आधार नहीं देता। इसलिए अब भी वह उपस्थित कर्म न करने की बात का ही समर्थन करने की चेष्टा करता है और उसकी पुष्टि में अपनी स्नायवीय और संवेदनात्मक सत्ता के दावे को उपस्थित करता है जो इस हत्याकाण्ड से और इसके रक्त से सने हुए भोगों के परिणाम से काँपती है, अपने हृदय के दावे को उपस्थित करता है जो इस संहार-कर्म से इसलिए पीछे हटता है कि इससे जीवन खोखला और उदास हो जायगा, अपने प्रचलित नैतिक विचारों के दावे को उपस्थित करता है जो इसलिए भयभीत हो गये हैं कि भीष्म और द्रोणाचार्य जैसे गुरुओं की हत्या करना

आवश्यक होगा, अपनी तर्कबुद्धि के दावे को उपस्थित करता है जो उसको सौंपे गये भीषण और प्रचण्ड कर्म में कोई भी भलाई नहीं देखती, बल्कि जिसमें उसे बुराई-ही-बुराई नजर आती है। उसने यह निश्चय कर लिया है कि अबतक जिन विचारों और प्रेरक-भावों के आधार पर वह लड़ सकता था उनके आधार पर तो वह अब नहीं लड़ेगा और इस निश्चय के साथ वह मौन होकर बैठ गया और अपनी आपत्तियों के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा, वह समझता था कि इन आपत्तियों का कोई उत्तर नहीं हो सकता। श्रीकृष्ण सबसे पहले अर्जुन की अहमात्मक सत्ता के इन दावों का निराकरण करते हैं जिससे उसके अन्दर ऐसे उच्चतर धर्म के लिये स्थान खाली हो जाय जो कर्म के समस्त अहमात्मक प्रेरक हेतुओं से परे है।

श्रीगुरु का उत्तर दो विभिन्न धाराओं पर चलता है। पहला संक्षिप्त उत्तर आर्य-संस्कृति की उच्चतम भावनाओं के आधार पर है जिसमें अर्जुन पला है, दूसरा, सर्वथा भिन्न प्रकार का और अधिक व्यापक है, उसका आधार है वह अधिक अंतरंग ज्ञान जो हमारी सत्ता के गभीरतर सत्यों में हमारा प्रवेश कराता है, और वहीं से गीता की वास्तविक शिक्षा आरंभ होती है। पहला उत्तर वेदांत-दर्शन की दार्शनिक और नैतिक धारणा पर तथा कर्तव्य और स्वाभिमान-संबंधी सामाजिक भावना पर अवलंबित था और ये ही थे आर्यों के समाज के नैतिक आधार। अर्जुन ने युद्ध करने से इनकार करते समय नैतिक और यौक्तिक कारण दिखाकर अपनी बात को पुष्ट करना चाहा, किन्तु इसमें उसने अपने अज्ञानी और अशुद्ध चित्त के विद्रोह को ऊपरी युक्तियों के शब्दजाल से ढक दिया है। उसने भौतिक जीवन और शरीर की मृत्यु के संबंध में ऐसी-ऐसी बातें कही हैं मानो ये ही मूल सद्वस्तु हों ; परन्तु ज्ञानी और पंडितों की दृष्टि में इनका ऐसा कोई तात्विक मूल्य नहीं है। अपने सगे-संबंधियों और बंधु-बांधवों की शारीरिक मृत्यु का दुःख एक ऐसा शोक है जो बुद्धिमत्ता और जीवन के सच्चे ज्ञान की दृष्टि से अनुचित है। ज्ञानवान जीवन-मरण पर रोया नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि दुःख और मृत्यु आत्मा के इतिहास में सामान्य घटनाएँ मात्र हैं। आत्मा ही सद्वस्तु है, शरीर नहीं। ये सब राजा जिनकी मृत्यु समीप जानकर अर्जुन शोक कर रहा है, इस जीवन के पहले भी जीते थे और आगे भी मनुष्य-रूप में जीयेंगे ; क्योंकि जीव जैसे शरीरतः कौमार से यौवन और यौवन से वार्द्धक्य की अवस्था को पहुँचता है वैसे ही वह शरीर परिवर्तन करता है। जो धीर है, जो विचारक है, जिसका मन अचंचल और ज्ञानी है, जो जीवन को स्थिर दृष्टि से देखता है और अपने इन्द्रियानुभवों और भावावेगों से विक्षुब्ध और अंधा नहीं

होता उसे ये बाह्य भौतिक दृश्य धोखा नहीं दे सकते ; उसके खून का, उसकी स्नायुओं का और उसके हृदय का कोलाहल उसके निर्णय पर परदा नहीं डाल सकता न उसके ज्ञान को अन्यथा कर सकता है। वह शरीर और इन्द्रियों के जीवन के बाह्य तथ्यों के परे जाकर अपनी सत्ता के वास्तविक तथ्य को देखता है। वह अज्ञानमय प्रकृति की भावावेगमय और भौतिक कामनाओं से ऊपर उठकर मानव-जीवन के एकमात्र सच्चे ध्येय में पहुँच जाता है।

वास्तविक तथ्य क्या है? वह परम ध्येय क्या है? यह कि जगत् के इन महान् आवर्तनों के भीतर मनुष्य के जीवन-मरण का जो सतत प्रवाह चल रहा है वह एक दीर्घ-कालव्यापी प्रगति है जिसके द्वारा मानव-प्राणी अपने-आपको अमृतत्व के लिये तैयार करता है। वह अपने-आपको कैसे तैयार करे? कौन-सा मनुष्य अधिकारी होता है? वह जो अपने-आपको प्राण और शरीर समझनेवाली धारणा से ऊपर उठाता है, जो संसार के भौतिक और संवेदनात्मक प्रभाव को बहुत अधिक मूल्य नहीं देता अथवा उतना मूल्य नहीं देता जितना देहात्म-बुद्धि रखनेवाला देता है, जो अपने-आपको और सबको आत्मा जानता है, जो अपने शरीर में नहीं, बल्कि आत्मा में रहने का अभ्यासी होता है और दूसरों के साथ, उन्हें केवल देह-स्वरूप जानकर नहीं, बल्कि आत्मा जानकर ही व्यवहार करता है। कारण अमृतत्व का अर्थ मृत्यु के बाद केवल जीना ही नहीं है—वह तो मन को लेकर जन्मे हुए प्रत्येक प्राणी को प्राप्त है—अमृतत्व का अर्थ है जीवन-मरण की अवस्था को पार कर जाना। यह वह ऊर्ध्व-गति है जिससे मनुष्य मन से अनुप्राणित शरीर के रूप में न रहकर अंत में आत्मा होकर आत्मा में ही रहने लगता है। जो कोई शोक और दुःख के वशीभूत होता है, इन्द्रियानुभवों और भावावेगों का दास बनता है, क्षणभंगुर और अनित्य मात्रास्पर्शों में लिप्त रहता है, वह अमृतत्व का अधिकारी नहीं हो सकता। इन सबको तबतक सहना होगा जबतक इनपर प्रभुत्व न स्थापित हो जाय, जबतक वह मुक्त अवस्था न प्राप्त हो जाय जहाँ ये कोई दुःख न दे सकें, जबतक कि संसार की सब पार्थिव घटनाएँ, चाहे वे सुखद हों या दुःखद, ज्ञानयुक्त स्थिरता और समता से वैसे ही ग्रहण न की जा सकें जैसे हमारे अन्दर रहनेवाली शांत सनातन गूढ़ आत्मा उन्हें ग्रहण करती है। शोक और भय से विचलित होना, जैसे अर्जुन हुआ है, और अपने गंतव्य पथ से भ्रष्ट हो जाना, तथा दैन्य और दुःखभार से दबकर शारीरिक मृत्यु की अनिवार्य और अतिसामान्य घटना का सामना करने से पीछे हटना अनार्यजुष्ट है, आर्य अपनी धीर शक्ति के साथ जिस अमर जीवन की ओर ऊपर चढ़ता रहता है उसका यह रास्ता नहीं है।

मृत्यु यथार्थ में कोई चीज नहीं है, क्योंकि मरता तो शरीर है और शरीर मनुष्य नहीं है। जो वास्तव में है, उसका अस्तित्व कभी नष्ट नहीं हो सकता ; हाँ, वह जिन रूपों को लेकर प्रकट होता है उनको बदल सकता है। वैसे ही, जो नहीं है वह हो भी नहीं सकता। आत्मा है और उसका अस्तित्व कभी समाप्त नहीं हो सकता। यह सत् और असत् (है और नहीं) का जो अंतर है, आत्मभाव और भूतभाव का अंतर दिखानेवाली यह जो तुला है जिससे मनुष्य का मन इस जगत् और जीवन को देखा करता है, इसकी परिणति उस आत्मानुभव में हुआ करती है जहाँ यह बोध होता है कि एक आत्मा ही अविनाशी पुरुष है जिसके द्वारा यह सारा विश्व प्रसारित है। शरीर सांत है, उसका अंत हुआ करता है पर जो इस शरीर को धारण करता और इससे काम लेता है वह अनंत, अपरिच्छिन्न, सनातन और अविनाशी है। वह जीर्ण-शीर्ण शरीरों को छोड़कर नये शरीर धारण करता है, जैसे मनुष्य अपने फटे-पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्र धारण करता है ; इसमें शोक करने, सहमने और पीछे हटने की कौन-सी बात है ? वह न जनमता है न मरता है, न वह ऐसी वस्तु है जो होकर लुप्त हो जाय और कभी न हो। वह अज, अनादि, अव्यय आत्मा है ; शरीर के मारे जाने से वह नहीं मारा जाता। अजर-अमर आत्मा को मार ही कौन सकता है ? शस्त्र उसे छेद नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता, हवा सुखा नहीं सकती। वह स्थाणु है, अचल है, सर्वव्यापी है, सनातन है—सदा से है और सदा रहेगा। शरीर की तरह वह व्यक्त नहीं है, लेकिन समस्त अभिव्यक्ति से महत्तर है, उसका विचार द्वारा विश्लेषण नहीं हो सकता, क्योंकि वह समूचे मन से बड़ा है, प्राणशक्ति और उसके करणोपकरण एवं उनके विषयों की तरह उसमें विकार और परिवर्तन नहीं होते, बल्कि वह मन, प्राण और शरीर के परिवर्तनों के परे है, फिर भी वह वह सद्वस्तु है जिसे ये सब मूर्तिमान् करने में लगे हैं।

यदि आत्मा का सत्य इतना महान्, विशाल और जीवन-मरण के परे न हो, यदि आत्मा सदा जनमती और मरती हो, तो भी प्राणियों की मृत्यु शोक का कारण नहीं होनी चाहिये। क्योंकि जीव की आत्म-अभिव्यक्ति की यह एक अनिवार्य अवस्था है। उसके जन्म का अर्थ है उसका किसी ऐसी अवस्था से बाहर निकल आना जहाँ वह अस्तित्वहीन तो नहीं है, पर हमारी मर्त्य इन्द्रियों के लिये अप्रकट है, उसकी मृत्यु का अर्थ है उसी अप्रकट जगत् या अवस्था में लौट जाना जहाँसे वह इस भौतिक अभिव्यक्ति में फिर प्रकट होगा। भौतिक मन और इन्द्रियाँ रोग-शय्या पर या रणक्षेत्र में होनेवाली मृत्यु और उसके भय के संबंध में जो रोना-पीटना मचाती हैं वह प्राण की हायतोबाओं में सबसे अधिक

अज्ञानमय है। मनुष्यों की मृत्यु पर हमारा शोक, उनके लिये अज्ञानभरा दु:ख है, जिनके लिये दु:ख करने का कोई कारण नहीं, क्योंकि न तो वे अस्तित्व से बाहर गये हैं न उनकी अवस्था में कोई दु:खद या भयानक परिवर्तन ही हुआ है। वे अपनी सत्ता में मृत्यु के उतने ही परे हैं जितने कि व जीवन में रहते हुए थे और जीवन की अपेक्षा इस अवस्था में अधिक दु:खी नहीं हैं। परन्तु यथार्थ में उच्चतर सत्य ही वास्तविक सत्य है। सब कुछ वही आत्मा है, वही "एक" है, वही परमात्मा है जिसे हम समझ से परे, अद्‌भुत मानते हैं और उसके बारे में यही कहते और सुनते हैं। क्योंकि हमारी इतनी खोज और ज्ञान की घोषणा के बाद भी तथा ज्ञानी जनों से इतना सब सुनने के बाद भी, उस "केवल" को कोई मानव-मन कभी नहीं जान सका है। वह "केवल", शरीर का स्वामी ही यहाँ इस जगत् की ओट में छिपा हुआ है; सारा जीवन उसकी छायामात्र है; जीव का भौतिक अभिव्यक्ति में आना और मृत्यु के द्वारा हमारा इस अभिव्यक्ति से बाहर निकल जाना, उसकी एक गौण क्रियामात्र है। जब हम अपने-आपको इस रूप में जान लेते हैं तब यह कहना कि हमने किसी की हत्या की या किसी ने हमारी हत्या की, निरर्थक है। सत्य तो एकमात्र यही है और इसी में हमें रहना होगा कि मनुष्य की आत्मा की यात्रा के इस महान् चक्र में मानव-जीव-रूप से वह शाश्वत पुरुष ही स्वयं प्रकट होता है, जिसमें जन्म और मृत्यु उस यात्रा के मार्ग में मील के पत्थर हैं, परलोक उसके विश्राम-स्थान हैं, जीवन की सारी अवस्थाएँ, चाहें सुखद हों या दु:खद, हमारी प्रगति, संग्राम और विजय के साधन हैं और अमरत्व हमारा धाम है जहाँके लिये आत्मा यात्रा कर रही है।

इसलिए, गुरु कहते हैं कि हे भारत, इस वृथा शोक और हृदय-दौर्बल्य को दूर कर और लड़। परन्तु यह निष्कर्ष कहाँसे निकला? यह उच्च और महान् ज्ञान,—मन और आत्मा का यह कष्टसाध्य आत्मानुशासन जिसके द्वारा उसे भावावेगों के कोलाहल और इन्द्रियों के धोखों के परे आत्मज्ञान में ऊपर उठना है—हमें शोक और मोह से तो मुक्त कर सकता है; मृत्यु का भय और मरे हुओं का शोक तो इससे दूर हो सकता है; इससे यह बोध भी हो सकता है कि जिन्हें हम मरा हुआ जानते हैं वे मरे हुए हैं ही नहीं, उनके लिये शोक करने की कोई बात नहीं, क्योंकि वे केवल परलोक में चले गये हैं; साथ ही वह शिक्षा मिल सकती है जिससे हम जीवन के भयंकर थपेड़ों को और शरीर की मृत्यु को अविचलित भाव से एक मामूली घटना के तौर पर देख सकें; इससे हम इतने ऊँचे उठ सकते हैं कि जीवन की सारी अवस्थाओं को उसी "एक" का प्राकट्य जानें और यह जानें कि ये हमारी आत्माओं के लिये जगत के बाह्य दृश्यों से ऊपर

उठने के साधन हैं, और हमारा यह ऊर्ध्वगामी विकास तबतक चलेगा जबतक हम अपने-आपको अमर आत्मा के रूप में न जान लें ; पर इससे अर्जुन को दिये गये कर्म के आदेश और कुरुक्षेत्र के हत्याकाण्ड को कैसे न्यायसंगत ठहराया जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि अर्जुन को जिस मार्ग पर चलना है उस मार्ग में उसके लिए यह कर्म करना आवश्यक है ; यह कर्म उसके सामने, अपने स्वधर्म का, अर्थात् सामाजिक कर्तव्य, जीवनधर्म और अपनी सत्ता के धर्म का पालन करते हुए अपरिहार्य रूप से आ पड़ा है। यह जगत्, भौतिक जगत् में आत्मा का यह प्राकट्य, केवल जीव के आंतरिक विकास का चक्र नहीं है, बल्कि यह एक क्षेत्र है जिसमें जीवन की बाह्य अवस्थाओं को उस आंतरिक विकास-साधन के लिये परिस्थिति और प्रसंग के रूप में ग्रहण करना होता है। यह जगत् परस्पर-साहाय्य और संघर्ष का क्षेत्र है ; यह हमें किसी ऐसी प्रगति का अवसर नहीं देता कि हम अपने अनायास प्राप्त सुखों को भोगते हुए शांति और चैन के साथ आगे बढ़ते चले जायँ, बल्कि यहाँ एक-एक पैड़ी वीरोचित प्रयास से और परस्पर-विरोधी शक्तियों के संघर्ष से होकर ही चढ़नी होती है। क्षत्रिय, पराक्रमी पुरुष वे ही हैं जो इस आंतरिक और बाह्य संघर्ष को, यहांतक कि इसके अत्यंत भौतिक रूप अर्थात् रण को भी अंगीकार करते हैं; युद्ध, विक्रम, महानता, और साहस उनका स्वभाव होता है ; धर्म की रक्षा करना और रण का आह्वान होते ही उत्साह के साथ उसमें कूद पड़ना उनका गुण और कर्तव्य होता है। धर्म और अधर्म, न्याय और अन्याय, संरक्षण करनेवाली शक्ति और अत्याचार एवं पीड़न करनेवाली शक्ति, इनके बीच सतत संघर्ष होता ही रहता है और एक बार जहाँ इसने स्थूल संग्राम का रूप धारण कर लिया तो सत्य, न्याय और धर्म की ध्वजा को लेकर चलनेवाले पुरुष का यह काम नहीं है कि वह अपने इस कर्म के हिंसामय और घोर रूप को देखकर घबरा जाय या काँप उठे ; उसके लिये यह कदापि उचित नहीं कि चूंकि हिंसक और क्रूर के प्रति उसमें एक दुर्बल अनुकम्पा है तथा जिस संहार-कार्य को करने का उसे आदेश मिला है उसकी विशालता को देखकर उसके जी में एक भौतिक त्रास होता है इसलिए वह अपने अनुयायियों और सहयोद्धाओं का साथ छोड़ दे, अपने पक्षवालों को धोखा दे, धर्म तथा न्याय की ध्वजा को धूल में घसीटे जाने दे या आततायियों के रक्त-रंजित पैरों तले कीचड़ में रौंदे जाने दे। उसका धर्म और कर्तव्य युद्ध करने में है, युद्ध से पराङ्मुख होने में नहीं ; यहाँ संहार करना नहीं, बल्कि संहार से हाथ खींचना ही पाप होगा।

इसके बाद गुरु क्षण भर के लिये प्रस्तुत विषय से अलग होकर अर्जुन के

आत्मीय-स्वजनों की मृत्यु से होनेवाले दुःख-संबंधी विलाप का एक और उत्तर देते हैं, जिसमें उसने कहा था कि इससे तो मेरा जीवन ही निस्सार हो जायगा, क्योंकि तब जीवन के हेतु और विषय ही नहीं रहेंगे। क्षत्रिय के जीवन का सच्चा उद्देश्य क्या है और किस बात में उसका वास्तविक सुख है? अपने-आपको खुश रखना, परिवार को सुखी देखना और मित्रों और नातेदारों के बीच रहते हुए आराम से और मौज से सुख-शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करना क्षत्रिय-जीवन का सच्चा उद्देश्य नहीं है; क्षत्रिय-जीवन का सच्चा उद्देश्य है सत्य के लिये लड़ना और उसका बड़े-से-बड़ा सुख इसी बात में है कि उसे कोई ऐसा शुभ कार्य और अवसर प्राप्त हो जिसके लिये या तो वह अपना जीवन दान कर सके या विजयी होकर वीर जीवन का यश और गौरव प्राप्त कर सके। "क्षत्रिय के लिये धर्मयुद्ध से बढ़कर और कोई श्रेय नहीं, ऐसे युद्ध का अवसर उसकी ओर स्वर्ग के खुले द्वार की तरह आता है, तो क्षत्रिय सुखी हो जाता है। यदि तू धर्म की रक्षा के लिये यह युद्ध न करेगा तो तू स्वधर्म और कीर्ति का परित्याग करके पाप का भागी होगा।"[1] यदि वह ऐसे अवसर पर लड़ने से इनकार करेगा तो अपमानित होगा, लोग उसे कायर और दुर्बल कहेंगे और उसके क्षत्रिय-नाम की मर्यादा नष्ट होगी। क्षत्रिय के लिये सबसे बड़ा शोक क्या है? वह है उसकी आन की हानि, उसकी कीर्ति की हानि, शूरवीरों में, बलवान और साहसी पुरुषों में उसका जो उच्च स्थान है उससे च्युति; उसके लिये यह मरण से भी बुरा है। संग्राम, साहस, शक्ति, शासन, वीरों का मान और युद्ध में वीरगति—यह है योद्धा का आदर्श। इस आदर्श को गिराना, इस मान पर छींटें पड़ने देना, वीरों में ऐसे वीर का उदाहरण रखना जो स्वयं कायरता और दुर्बलता से कलंकित हो और इस प्रकार मानव-जाति के नैतिक मानदण्ड को नीचे गिराना अपने प्रति असत्याचरण है और जगत् अपने नेताओं व राजाओं से जैसी आशा करता है उसका अपलाप है। "रण में मारा जायगा तो स्वर्ग लाभ करेगा, जीतेगा तो पृथ्वी पर राज करेगा; इसलिये, हे कुन्ती-पुत्र, युद्ध का निश्चय करके उठ।"[2]

इस स्थल से पहले जिस समत्वपूर्ण आध्यात्मिकता का उपदेश हुआ है और इस स्थल के आगे जिस गभीरतर आध्यात्मिकता की चर्चा होगी, उनके सामने यह वीरोचित पुकार नीचे दर्जे की प्रतीत होती है; क्योंकि बाद के ही श्लोक में अर्जुन को यह उपदेश दिया जाता है कि सुख-दुख, लाभालाभ और जयाजय में

१. २—३१,२.

२. २—३१

समता बनाये रखकर युद्ध कर और यही गीता का वास्तविक उपदेश है। परन्तु भारतीय धर्मशास्त्र ने मनुष्य के विकासोन्मुख नैतिक और आध्यात्मिक जीवन के लिए उत्तरोत्तर चढ़ते हुए आदर्शों की व्यावहारिक आवश्यकता का सदा अनुभव किया है। यहाँ क्षत्रिय का जो आदर्श सामने रखा गया है वह चातुर्वर्ण्य के अनुसार सामाजिक दृष्टि से रखा गया है, इसकी जो आध्यात्मिक दृष्टि आगे चलकर दिखायी गयी है उस दृष्टि से नहीं। श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुन से वास्तव में यही कह रहे हैं कि "यदि तू सुख और दुःख और कर्म के परिणाम का हिसाब लगाकर ही अपने कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करना चाहता है तो मेरा यही जवाब है। मैं पहले बता चुका हूँ कि आत्मा और जगत् का जो उच्चतम ज्ञान है उस दृष्टि से तेरा क्या कर्तव्य है और अब मैंने यह भी बताया कि तेरा सामाजिक कर्तव्य और तेरा अपना नैतिक आदर्श तुझे किस ओर चलने का इशारा करता है—**'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य।'** तू चाहे जिस भी पहलू से देख परिणाम एक ही है। परन्तु, यदि तुझे अपने सामाजिक कर्तव्य और वर्णधर्म से संतोष न होता हो, और समझता हो कि उससे तू दुःख और पाप का भागी बनेगा तो मेरा आदेश है कि तुझे किसी हीन आदर्श की ओर नीचे गिरने की अपेक्षा किसी ऊँचे आदर्श की ओर ऊपर उठना चाहिए। अहंकार का सर्वथा त्यागकर दुःख की, लाभ-हानि की तथा ऐहिक परिणामों की परवाह न कर; बल्कि उस हेतु पर अपनी दृष्टि रख जिसकी पूर्ति में तुझे सहायक होना है और उस काम की ओर ध्यान दे जिसे तुझे सिद्ध करना है और जो भगवन्निर्दिष्ट है। ऐसा करने से तू पाप का भागी न होगा—**"नैवं पापमवाप्स्यसि।"** इस प्रकार अर्जुन की जो दलीलें थीं—उसका दुःखी होना, हत्याकांड से पीछे हटना, इसमें पापका बोध और इस कर्म के दुष्परिणाम की आशंका—इन सबका उत्तर, अर्जुन की जाति और युग के उच्चतम ज्ञान और श्रेष्ठ नैतिक आदर्श के अनुसार दिया जा चुका।

आर्य योद्धा का यही धर्म है और इस धर्म का यह निर्देश है कि "ईश्वर को जान, अपने-आपको जान, मनुष्यों की मदद कर; धर्म की रक्षा कर, भय, दुविधा और दुर्बलता को त्याग कर संसार में अपना युद्ध-कर्म कर। तू शाश्वत अविनाशी आत्मा है, तेरी आत्मा अमृतत्व के ऊर्ध्वगामी मार्ग पर चलती हुई इस संसार में आयी है; जीवन-मरण कोई चीज नहीं हैं, दुःख और क्लेश और कष्ट कोई चीज नहीं हैं, इन सबको जीतना और वश में करना होगा। अपने सुख, प्राप्ति और लाभ को मत देख, बल्कि ऊपर की ओर और चारों ओर देख, ऊपर उस प्रकाशमय शिखर को देख जिसकी ओर तू चढ़ रहा है, और अपने चारों ओर इस संग्राममय और संकटपूर्ण जगत् को देख जिसमें शुभ और अशुभ, उन्नति और

अवनति परस्पर घोर संघर्ष में जकड़े हुए हैं। लोग तुझे सहायता के लिये पुकारते हैं, तू उनका लौह पुरुष है, लोकनायक है, सहायता कर, लड़, संहार कर अगर संहार के द्वारा ही जगत् की प्रगति हो, लेकिन जिसका संहार करे उससे घृणा न कर और न मरे हुए के लिये शोक ही कर। सर्वत्र उस एक ही आत्मा को जान, सब प्राणियों को अमर आत्मा और शरीर को बस मिट्टी जान। अपना काम स्थिर, दृढ़ और सम भाव से कर, लड़ और शान से मैदान में काम आ, या फिर पराक्रम से विजय प्राप्त कर। क्योंकि भगवान् ने और तेरे स्वभाव ने तुझे यही काम पूरा करने के लिये दिया है।"

सांख्य और योग

गुरु अर्जुन की कठिनाइयों का पहला उत्तर संक्षेप में दे चुके, अब वे दूसरे उत्तर की ओर मुड़ते हैं और उनके मुँह से एक आध्यात्मिक समाधान करनेवाले जो पहले शब्द निकलते हैं उनमें तुरन्त वे यह बताते हैं कि सांख्य और योग में एक भेद है, जिसको जान लेना गीता को समझने के लिये अत्यंत आवश्यक है। भगवान् कहते हैं कि "यह बुद्धि (अर्थात् वस्तुओं और संकल्प का बुद्धिगत ज्ञान) तुझे सांख्य में बता दी, अब इसे योग में सुन, इस बुद्धि से यदि तू योग में स्थित रहे, तो हे पार्थ, तू कर्मबंधन को छुड़ा सकेगा।" जिन शब्दों से गीता इस भेद को सूचित करती है उनका यह शब्दशः अनुवाद है।

गीता मूलतः वेदांत-ग्रंथ है। वेदांत के जो तीन सर्वमान्य प्रमाणग्रंथ हैं उनमें एक गीता है। श्रुति में अवश्य ही इसकी गणना नहीं की जाती, क्योंकि इसकी प्रतिपादनशैली बहुत कुछ बौद्धिक, तार्किक और दार्शनिक है, फिर भी इसका आधार परम सत्य ही है, लेकिन यह वह श्रुति, वह मंत्रदर्शन नहीं है जो ज्ञान की उच्च भूमिका में द्रष्टा को स्वतः प्राप्त होता है। तथापि इसका इतना अधिक आदर है कि यह ग्रंथ लगभग तेरहवीं उपनिषद् ही माना जाता है। परन्तु इसके वैदांतिक विचार आरम्भ से अंत तक सांख्य और योग के विचार से अच्छी तरह रंगे हुए हैं और इस रंग के कारण इसके दर्शन पर एक विलक्षण समन्वय की छाप आ गयी है। वास्तव में यह मूलतः योग की क्रियात्मक पद्धति का उपदेश है, और जो तात्विक विचार इसमें आये हैं वे इसके योगकी व्यावहारिक व्याख्या करने के लिए ही लिये गये हैं। यह केवल वेदांत-ज्ञान का ही निरूपण नहीं, बल्कि कर्म को ज्ञान और भक्तिकी नींव पर खड़ा करती और फिर कर्मको उसकी परिणति ज्ञान तक उठाकर उसे भक्ति से अनुप्राणित करती है जो कर्म का हृदय और उसके भाव का सारतत्व है। फिर, गीता का योग विश्लेषणात्मक सांख्यदर्शन पर स्थापित है, सांख्य को वह अपना आरम्भस्थल बनाता है और उसकी पद्धति और उसके मत में सांख्य को बराबर ही एक बड़ा स्थान प्राप्त है, तथापि गीता का यह योग सांख्य के बहुत आगे जाता है, यहाँतक कि सांख्य की कुछ विशिष्ट बातों को अस्वी-

कार करके यह एक ऐसा उपाय बताता है जिससे सांख्य के विश्लेषणात्मक कनिष्ठ ज्ञान के साथ उच्चतर समन्वयात्मक और वैदांतिक सत्य का सम्मिलन साधित होता है।

तब फिर, गीता के ये सांख्य और योग क्या हैं? ये अवश्य ही वे दर्शन नहीं हैं जो हमें यथाक्रम ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका और पतंजलि के योगसूत्रों के रूप में प्राप्त हैं। यह सांख्यकारिका का सांख्य नहीं है—सांख्य शब्द से जो साधारण धारणा होती है, कम-से-कम वह नहीं है; क्योंकि गीता कहीं एक क्षण के लिये भी जीवन के मूल सत्य-रूप से बहु पुरुषों का होना स्वीकार नहीं करती, बल्कि सांख्य-परंपरा जिसका जोरदार शब्दों में इनकार करती है उसी "एक" को गीता दृढ़ता के साथ आत्मा और पुरुष, फिर उसी "एक" को परमेश्वर, ईश्वर या पुरुषोत्तम तथा जगत् का आदि कारण घोषित करती है। सांख्य-परंपरा, आधुनिक परिभाषा में कहना हो तो, अनीश्वरवादी है; पर गीता के सांख्य में जगत्-कारण-रूप से ईश्वरवाद, बहुदेववाद और अद्वैतवाद, इन सभी सिद्धांतों का स्वीकार और सूक्ष्म समन्वय है।

न गीता का योग पतंजलि का योगदर्शन ही है। पतंजलि का योगदर्शन राजयोग की केवल एक आत्मनिष्ठ प्रणाली है, एक आंतरिक अनुशासन है, एक नपी-तुली पद्धति है, एक बंधा हुआ कठोर साधनसूत्र है जिसमें उत्तरोत्तर चढ़ता हुआ एक कठोर शास्त्रीय साधनक्रम है, जिसके द्वारा मन को निस्तब्ध करके समाधि में पहुँचाया जाता है जिससे हमारे आत्म-अतिक्रमण के ऐहिक और पारलौकिक, दोनों फल प्राप्त हों; ऐहिक, जीवन के ज्ञान और बल के अति विस्तार-द्वारा और पारलौकिक, भगवान् के साथ एकता द्वारा। परन्तु गीता का योग एक उदार, लचीली और बहुमुखी पद्धति है, जिसमें अनेक प्रकार के तत्वों का समावेश है, और ये सभी तत्व एक प्रकार के स्वाभाविक और सजीव सात्म्यकरण द्वारा गीता में समन्वित किये गये हैं; राजयोग तो इन तत्वों में से केवल एक तत्व है और वह भी कोई अत्यंत महत्वपूर्ण नहीं। गीता के योग में कोई नियमबद्ध और शास्त्रीय श्रेणीविभाग का विधान नहीं है, यह योग तो स्वाभाविक आत्म-विकास की प्रक्रिया है। गीता चाहती है कि अन्दर की संतुलित अवस्था द्वारा और कर्म के कुछ सिद्धांतों के अवलंबन द्वारा जीव का पुनरुद्धार करे, निम्न प्रकृति से दिव्य प्रकृति में कोई परिवर्तन, आरोहण या नवजन्म लाये। इसी तरह इसका समाधि का विचार भी साधारणतया जो समाधि समझी जाती है उससे सर्वथा भिन्न है। पतंजलि योग में कर्म को एक प्रारम्भिक महत्ता देते हैं जिसकी आवश्यकता केवल नैतिक शुद्धि और धार्मिक एकाग्रता के लिये है, पर गीता कर्म

को योग का विशेष लक्षण तक मानती है। पतंजलि कर्म को प्रारम्भिक साधन-मात्र मानते हैं और गीता में कर्म चिरंतन आधारभूत है। राजयोग में सिद्धि के मिलते ही कर्म को हटा देना पड़ता है या यह कहिये कि योगसाधन के लिये उसकी आवश्यकता नहीं रहती और गीता में कर्म सर्वोच्च अवस्था में पहुँचने का जहाँ साधन है वहाँ आत्मा के पूर्ण मोक्ष लाभ कर चुकने के बाद भी बना रहता है।

यहाँ इतना कह देना इसलिए आवश्यक है कि उन परिचित शब्दों के प्रयोग से कोई भ्रम उत्पन्न न हो जो यहाँ अपने परिचित और रूढ़ अर्थ की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। फिर भी सांख्य और योग दर्शनों में जो कुछ सार-तत्व है अर्थात् जो कुछ व्यापक, उदार और सर्वमान्य सत्य है वह गीता में स्वीकृत है, लेकिन गीता इन परस्पर-विरोधी दर्शनों के समान केवल उन्हीं सत्यों से बँधी नहीं है। गीता का सांख्य उदार और वेदांतमान्य सांख्य है, यह वह सांख्य है जिसके प्रथम सिद्धांत और तत्व उपनिषदों के वैदांतिक समन्वय में पाये जाते हैं और जिसका वर्णन बाद के विकास में अर्थात् पुराणों में भी आया है। गीता का योग वह आत्मनिष्ठ साधना और आंतरिक परिवर्तन है जो आत्मा को ढूंढ निकालने या भगवान् से एकता लाभ करने के लिये आवश्यक है और राजयोग इसका एक विशिष्ट प्रयोगमात्र है। गीता का आग्रह है कि सांख्य और योग परस्पर भिन्न, विसंगत और विरोधी शास्त्र नहीं हैं, बल्कि दोनों का सिद्धांत और उद्देश्य एक है, भेद केवल उनकी प्रक्रिया और मार्गारंभ में है। सांख्य भी योग है पर यह केवल ज्ञानमार्ग से आगे बढ़ता है, अर्थात् इसका आरम्भ हमारी सत्ता के तत्वों के बौद्धिक विवेक और विश्लेषण द्वारा होता है और अंत में यह सत्य का दर्शन कर उसपर अधिकार प्राप्त करके अपने लक्ष्य तक पहुँचता है। दूसरी ओर, योग कर्ममार्ग से अग्रसर होता है ; इसका प्रथम सिद्धान्त है कर्मयोग ; परन्तु गीता की संपूर्ण शिक्षा से तथा कर्म शब्द की जो परिभाषा पीछे की गयी है उससे स्पष्ट है कि कर्म शब्द का प्रयोग गीता में बहुत व्यापक अर्थ में किया गया है और योग शब्द से गीता का अभिप्राय है एक ऐसा निःस्वार्थ समर्पण जिसमें हमारी समस्त आंतरिक और बाह्य कर्मण्यताओं को यज्ञ-रूप से कर्म के ईश्वर को, उस सनातन परब्रह्म को भेंट कर देना होता है जो जीवकी समस्त ऊर्जा और तपस्या के स्वामी हैं। यह योग उस सत्य की साधना है जिसका दर्शन ज्ञान से होता है, इस साधना की प्रेरक-शक्ति है एक प्रकाशमान भक्ति का भाव, एक शांत या उग्र आत्मसमर्पण का भाव उस परमात्मा के प्रति जिन्हें ज्ञान पुरुषोत्तम के रूप में देखता है।

पर सांख्य के सत्य क्या हैं? सांख्य-दर्शन का यह नाम उसकी विश्लेषण-पद्धति के कारण पड़ा है ; सांख्य में हमारी सत्ता के तत्वों का विश्लेषण, संख्या-

करण, विभाजन और विवेचन है, जिनके संघात या संघात के फल को ही मनुष्य की साधारण बुद्धि देख पाती है। सांख्य-दर्शन ने समन्वय-साधन की कोई चेष्टा नहीं की। इस दर्शन का मूलभूत सिद्धांत यथार्थ में द्वैत है, वह आपेक्षिक द्वैत नहीं जो वेदांत का मत है, बल्कि यह वह द्वैत है जो सर्वथा निरपेक्ष और निराला है। इस सिद्धांत के अनुसार जगत्कारणस्वरूप कोई एक ही सत्ता नहीं है, बल्कि दो मूलतत्व हैं जिनका संयोग ही इस जगत् का कारण है—एक है पुरुष जो अकर्ता है और दूसरी है प्रकृति जो कर्त्री है। पुरुष आत्मा है, साधारण और प्रचलित अर्थ में नहीं, बल्कि उस सचेतन सत्ता के अर्थ में जो अचल, अक्षर और स्वयं-प्रकाश है। प्रकृति है ऊर्जा और उसकी प्रक्रिया। पुरुष स्वयं कुछ नहीं करता, पर वह ऊर्जा और उसकी प्रक्रियाओं को आभासित करता है ; प्रकृति जड़ है पर पुरुष में आभासित होकर वह अपने कर्म में चैतन्य का रूप धारण कर लेती है और इस प्रकार सृष्टि, स्थिति और संहार अर्थात् जन्म, जीवन और मरण, चेतना और अवचेतना, इन्द्रियगम्य और बुद्धिगम्य ज्ञान तथा अज्ञान, कर्म और अकर्म, सुख और दुःख, ये सब घटनाएँ उत्पन्न होती हैं और पुरुष प्रकृति के प्रभाव में आकर इन सबको अपने ऊपर आरोपित कर लेता है। वास्तव में ये उसके अंग नहीं हैं बल्कि प्रकृति की क्रिया और उसकी गति के अंग हैं।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है ; सत्व ज्ञान का बीज है, यह ऊर्जा के कर्मों की स्थिति रखता है ; रज शक्ति और कर्म का बीज है, यह शक्ति की क्रियाओं की सृष्टि करता है ; तमस् जड़त्व और अज्ञान का बीज है, यह सत्व और रजका अपलाप है ; जो कुछ वे सृष्टि करते तथा जिसकी वे स्थिति रखते हैं उसका यह संहार करता है। प्रकृति के ये तीन गुण जब साम्यावस्था में रहते हैं तब सब कुछ जहाँ-का-तहाँ पड़ा रहता है, कोई गति, कर्म या सृष्टि नहीं होती। इसलिए चिन्मय आत्मा की अक्षर ज्योतिर्मय सत्ता में आभासित या प्रतिबिंबित होनेवाली भी कोई वस्तु नहीं होती। पर जब यह साम्यावस्था विक्षुब्ध हो जाती है तब तीनों गुण परस्पर विषम हो उठते हैं और वे एक-दूसरेसे संघर्ष करते और एक-दूसरेपर अपना प्रभाव जमाने का प्रयत्न करते हैं, और उसी से विश्व को प्रकटानेवाला यह सृष्टि, स्थिति और संहार का विरामरहित व्यापार आरम्भ होता है। यह कर्म तबतक होता रहता है जबतक पुरुष अपने अन्दर इस वैषम्यको, जो उसके सनातन स्वभाव को ढक देता और उसपर प्रकृति के स्वभाव को आरोपित करता है, प्रतिभासित होने देता है। पर जब पुरुष अपनी इस अनुमति को हटा लेता है तब तीनों गुण फिर साम्यावस्था को प्राप्त हो जाते हैं और पुरुष अपने सनातन अविकार्य अचल स्वरूप में लौट आता है, वह विश्व-प्रपंच से मुक्त हो जाता

है। ऐसा लगता है कि अपने अन्दर प्रकृति को आभासित होने देना और यह अनुमति देना या लौटा लेना ही पुरुष की एकमात्र शक्ति है। प्रकृति को अपने अन्दर आभासित देखने के नाते पुरुष गीता की भाषा में साक्षी और अनुमति देने के नाते अनुमंता है, पर सांख्य के अनुसार वह कर्त्तारूप से ईश्वर नहीं है। उसका अनुमति देना भी निष्क्रिय है और उस अनुमति को लौटा लेना एक दूसरे प्रकार की निष्क्रियता है। कर्ममात्र ही, चाहे वह आत्मनिष्ठ हो या वस्तुनिष्ठ, आत्मा का स्वधर्म नहीं, उसमें न कोई सकर्मक संकल्प है न कोई सकर्मक बुद्धि। इसलिए पुरुष अकेला ही इस जगत् का कारण नहीं हो सकता, और कोई दूसरा कारण भी है इसको स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। केवल पुरुष ही अपने चिन्मय ज्ञान, संकल्प और आनंद के स्वभाव से जगत् का कारण नहीं है, बल्कि पुरुष और प्रकृति दोनों की द्विविध सत्ता ही जगत् का कारण है, एक है निष्क्रिय चैतन्य और दूसरी है गतिशील ऊर्जा। जगत् के अस्तित्व के विषय में सांख्य की व्याख्या उक्त प्रकार की है।

परन्तु तब ये सचेतन बुद्धि और सचेतन संकल्प कहांसे आते हैं जिन्हें हम अपनी सत्ता का इतना बड़ा अंग अनुभव करते हैं और जिन्हें हम सामान्यतः और सहज ज्ञान से ही प्रकृति की कोई चीज न मानकर पुरुष की ही मानते हैं? सांख्य के अनुसार बुद्धि और संकल्प सर्वथा प्रकृति की यांत्रिक ऊर्जा के अंग हैं, पुरुष के गुणधर्म नहीं; ये दोनों ही बुद्धि-तत्व हैं जो जगत् के चौबीस तत्वों में से एक तत्व है। इस सृष्टि के विकास के मूल में प्रकृति अपने तीनों गुणों सहित सब पदार्थों की मूल वस्तु के रूप में अव्यक्त अचेतन अवस्था में रहती है। फिर उसमें से क्रमशः ऊर्जा या जड़तत्व,—क्योंकि सांख्य-दर्शन में ऊर्जा और महाभूत एक ही चीज हैं—के पांच मूल तत्व प्रकट होते हैं। इनको प्राचीन शास्त्रों में पंचमहाभूत कहा है, ये हैं आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी; पर यह याद रहे कि आधुनिक सायंस की दृष्टि में ये मूलतत्व नहीं हैं, बल्कि ये जड़-प्राकृतिक शक्ति की ऐसी अति सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं जिनका विशुद्ध स्वरूप इस स्थूल जगत् में कहीं भी प्राप्य नहीं। सब पदार्थ इन्हीं पांच सूक्ष्म तत्वों के संघात से उत्पन्न होते हैं। फिर इन पंचमहाभूतों में से, प्रत्येक से एक-एक तन्मात्रा उत्पन्न होती है। ये पंचतन्मात्राएँ हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन्हीं के द्वारा ज्ञानेंद्रियों को विषयों का ज्ञान होता है। इस प्रकार मूल प्रकृति से उत्पन्न इन पंचमहाभूतों और उनकी इन पंचतन्मात्राओं से, जिनके द्वारा स्थूल का बोध होता है, उसका विकास होता है जिसे आधुनिक भाषा में विश्व-सत्ता का वस्तुनिष्ठ पक्ष कहते हैं।

तेरह तत्व और हैं जिनसे विश्व-ऊर्जा का आत्मनिष्ठ पक्ष निर्मित होता है—

बुद्धि या महत्, अहंकार, मन और उसकी दस इन्द्रियां (पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ)। मन मूल इन्द्रिय है, यह बाह्य पदार्थों का अनुभव करता और उनपर प्रतिक्रिया करता है ; क्योंकि इसमें अंतर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों क्रियाएँ साथ-साथ होती रहती हैं ; इन्द्रियानुभव के द्वारा यह उन अर्थों को ग्रहण करता है जिन्हें गीता में "बाह्य स्पर्श" कहा गया है और उनके द्वारा जगत् को जानता और सक्रिय प्राणशक्ति द्वारा उसपर प्रतिक्रिया करता है। परन्तु पाँच ज्ञानेंद्रियों की सहायता से, शब्द स्पर्श रूप रस और गंध जिनके विषय हैं, यह अपनी ग्रहण करने की अति सामान्य क्रियाओं को विशेष रूप से चलाता है ; इसी प्रकार पाँच कर्मेन्द्रियों की सहायता से वाणी, गति, वस्तुओं के ग्रहण, विसर्जन और प्रजनन के द्वारा यह प्रतिक्रिया करनेवाली कतिपय प्राणी की आवश्यक क्रियाओं को विशेष रूप से चलाता है। बुद्धि जो विवेक-तत्व है, वह एक ही साथ बोध और संकल्प दोनों है, यह प्रकृति की वह शक्ति है जो विवेक के द्वारा पदार्थों को उनके गुण-धर्मानुसार पृथक् करती और उनमें संगति बैठाती है। अहंकार बुद्धि का अहं-पद-वाच्य वह तत्व है जिससे पुरुष प्रकृति और उसकी क्रियाओं के साथ तादात्म्य को प्राप्त होता है। परन्तु ये आत्मनिष्ठ करण उतने ही यांत्रिक हैं, अचेतन प्रकृति के उतने ही अंश हैं जितने कि उसके वस्तुनिष्ठ करण। यदि हमारी समझ में यह बात न आती हो कि कैसे बुद्धि और मन जड़ प्रकृति के अंश हैं या स्वयं जड़ हैं तो हमें इतना ही याद रखना चाहिये कि आधुनिक सायंस को भी यही सिद्धांत ग्रहण करना पड़ा है। परमाणु की अचेतन क्रिया में भी एक शक्ति होती है जिसे अचेतन संकल्प ही कह सकते हैं, प्रकृति के सब कर्मों में यही व्यापक संकल्प अचेतन रूप से बुद्धि का काम करता है। हम लोग जिसे मानसिक बुद्धि कहते हैं वह तत्वत: ठीक वही चीज है जो इस जड़-प्राकृतिक विश्व के सब कर्मों में अवचेतन रूप से विवेक करने और संगति मिलाने का काम किया करती है, और आधुनिक सायंस यह दिखलाने का यत्न करती है कि मनुष्य के अन्दर जो सचेतन मन है वह भी अचेतन प्रकृति के जड़ कर्म का ही परिणाम और प्रतिलिपि है। परन्तु आधुनिक विज्ञान जिस विषय को अँधेरे में छोड़ देता है अर्थात् किस प्रकार जड़ और अचेतन सचेतन का रूप धारण करता है, उसे सांख्यशास्त्र समझा देता है। सांख्य के अनुसार इसका कारण है प्रकृति का पुरुष में प्रति-भासित होना ; पुरुष के चैतन्य का प्रकाश जड़ प्रकृति के कर्मों पर आरोपित होता है और पुरुष साक्षी-रूप से प्रकृति को देखता और अपने-आपको भूलता हुआ प्रकृति द्वारा प्रेरित भाव से विमोहित होकर यह समझता है कि मैं ही सोचता, अनुभव करता और संकल्प करता हूँ, मैं ही सब कामों का कर्ता हूँ, जब कि यथार्थ

में ये सब कर्म प्रकृति और उसके तीन गुणों द्वारा हो रहे हैं, उसके द्वारा जरा भी नहीं। इस मोह को दूर करना प्रकृति और उसके कर्मों से आत्मा के मुक्त होने का प्रथम सोपान है।

अवश्य ही हमारे इस जगत् में बहुत-सी चीजें हैं जिन्हें सांख्यशास्त्र निरूपित नहीं करता और करता भी है तो पूर्ण समाधानकारक रीति से नहीं, परन्तु यदि हम जो कुछ चाहते हैं वह इतना ही है कि हम केवल यौक्तिक व्याख्या द्वारा यह समझ लें कि इस विश्व की प्रक्रियाएँ तत्वतः क्या हैं जिसमें हम उस लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकें जो सभी प्राचीन दर्शनों का लक्ष्य है, अर्थात् विश्व-प्रकृति के जंजाल से आत्मा की मुक्ति, तब तो सांख्य का जगत्-निरूपण और मुक्ति का मार्ग उतना ही उत्तम और प्रभावकारी है जितना कि कोई अन्य मार्ग। यहाँ जो बात पहले समझ में नहीं आती वह यह है कि सांख्य प्रकृति को एक, और पुरुष को अनेक मानकर अपने द्वैत सिद्धांत में बहुत्व की स्थापना किसलिए करता है। ऐसा मालूम होता है कि एक ही प्रकृति और एक ही पुरुष को मानने से भी विश्व की सृष्टि और उसके प्रसरण की व्याख्या की जा सकती थी। परन्तु पदार्थों के मूल तत्वों के निरीक्षण की कठोर विश्लेषण-पद्धति के फलस्वरूप पुरुष-बहुत्व के सिद्धांत का प्रतिपादन करना सांख्य के लिये अनिवार्य था। पहली बात यह है कि हम इस संसार में अनेक सचेतन प्राणियों को देखते हैं और इनमें से प्रत्येक इस जगत् को अपने ही ढंग से देखता है, और इसकी आंतरिक और बाह्य वस्तुओं को अपने ही ढंग से अनुभव करता है। यद्यपि अनुभव करनेवाली तथा प्रतिक्रिया करनेवाली क्रियाएँ एक ही हैं फिर भी प्रत्येक प्राणी इसके साथ पृथक्-पृथक् रूप से व्यवहार करता है। पुरुष यदि एक ही होता तो यह केन्द्रीय स्वातंत्र्य और पार्थक्य न होता, सभी प्राणी जगत् को एक-सा अनुभव करते और देखते, एक ही रूप में पदार्थों को ग्रहण करते और सबका व्यवहार उनके साथ एक-सा ही होता। चूँकि प्रकृति एक है, इसलिए सब प्राणी उसी एक जगत् को देखते हैं; और चूँकि उसके तत्व हर जगह एक ही हैं इसलिए जिन सर्वसाधारण तत्वों के कारण आंतरिक और बाह्य अनुभूतियाँ होती हैं वे भी सबके लिए एक-सी हैं; परन्तु इन प्राणियों की दृष्टि, विचार और रुख में तथा इनके कर्म, अनुभव और अनुभव से भागने की वृत्ति में जो असंख्य भेद हैं—अवश्य ही ये भेद प्रकृति की स्वाभाविक क्रिया के नहीं, बल्कि साक्षी चेतना के हैं—इस विषय की इसके सिवाय और कोई व्याख्या नहीं हो सकती कि बहुत-से साक्षी हैं, अनेक पुरुष हैं। हम कह सकते हैं कि पृथक्त्व धर्मवाला अहंकार ही कारण है, यही इस विषय का पर्याप्त उत्तर है। पर अहंकार तो प्रकृति का एक तत्व है जो सबके लिये समान है, उसमें भेद होना

जरूरी नहीं है। वह स्वयं तो केवल इतना ही करता है कि पुरुष को प्रकृति के साथ तादात्म्य कर लेने में प्रवृत्त करे, और यदि एक ही पुरुष होता तो सब जीव एक होते, अपनी अहंभावमय चेतना में जुटे हुए और एक-से होते। उनके रूपों में और उनके प्राकृतिक अंगों के संघातों के ब्योरे में चाहे कितना भी भेद होता तो भी जीव पर पड़नेवाले जगत्-दृश्य का असर भिन्न-भिन्न प्रकार का न होता और सबकी अनुभूति भिन्न-भिन्न प्रकार की न होती। प्रकृति में होनेवाले परिवर्तनों से एक साक्षी या एक पुरुष में यह केन्द्रिक भेद, यह दृष्टयंतर और अथ से इति पर्यन्त अनुभूति का यह पार्थक्य न होना चाहिये था। इसलिए वेदांत के पुरातन ज्ञान से निकली हुई, पर पीछे उससे विच्छिन्न, सांख्य की पद्धति में बहु पुरुष का सिद्धांत एक न्याय-संगत आवश्यकता थी। विश्व और उसकी प्रक्रिया को एक पुरुष और एक प्रकृति का व्यापार कहकर समझाया जा सकता है, किन्तु इससे विश्व में सचेतन जीवों की बहुलता का समाधान नहीं होता।

फिर इतनी ही बड़ी एक और कठिनाई है। अन्य दर्शनों की तरह सांख्य ने भी अपना लक्ष्य "मोक्ष" ही रखा है। हम कह आये हैं कि यह मोक्ष, पुरुष द्वारा प्रकृति के कर्मों से अपनी अनुमति हटा लेने से प्राप्त होता है, क्योंकि प्रकृति के ये कर्म उसीको आनन्द देने के लिये हैं। परन्तु, वास्तव में, यह कहने का एक ढंग है। पुरुष अकर्ता है और अनुमति देने या हटा लेने की जो क्रिया है वह यथार्थ में पुरुष की नहीं हो सकती, बल्कि यह अवश्य ही, स्वयं प्रकृति में होनेवाली एक गति है। विचार करने से मालूम होगा कि यह भी बुद्धितत्व में——विवेक-शील संकल्प में—होनेवाली एक क्रिया है, उसकी एक प्रतिक्षेपक या प्रत्यावर्तन-कारी गतिमात्र है। बुद्धि ही मन के द्वारा होनेवाली विषय-प्रतीति से अपना संबंध जोड़ती रही है; बुद्धि ही विश्व-प्रकृति के द्वारा होनेवाले कर्मों का व्यतिरेक और अन्वय करती और अहंकार की सहायता से प्रकृति के विचार, अनुभव और कर्म के साथ द्रष्टा पुरुष का तादात्म्य-साधन करती रही है। यही बुद्धि फिर विवेक द्वारा इस कटु और विघटनात्मक अनुभूति को प्राप्त होती है कि प्रकृति के साथ पुरुष का तादात्म्य केवल भ्रम है; अंत में इसको यह विवेक होता है कि पुरुष प्रकृति से अलग है और यह सारा विश्वप्रपंच प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था का विक्षोभमात्र है। तब बुद्धि, जो एक ही साथ बुद्धि और संकल्प-शक्ति भी है, इस मिथ्यात्व से तुरंत हट जाती है जिसका वह अबतक पोषण करती रही है, और पुरुष बंधन-मुक्त हो जाता है और विश्वप्रपंच में रमनेवाले मन का संग नहीं करता। इसका अंतिम फल यह होता है कि प्रकृति की पुरुष में प्रतिभासित होने की शक्ति नष्ट हो जाती है। क्योंकि अहंकार का प्रभाव अब नष्ट हो

गया है और बुद्धि-संकल्प के उदासीन हो जाने के कारण प्रकृति की अनुमति का साधन नहीं रहता : तब अवश्य ही उसके गुण आप ही साम्यावस्था को प्राप्त होंगे, विश्व-प्रपंच बंद हो जायगा और पुरुष को अपनी अचल शांति में लौट जाना होगा। परन्तु यदि पुरुष एक ही होता तो बुद्धि-संकल्प के भ्रम से निवृत्त होते ही सारा विश्व-प्रपंच ही बन्द हो जाता। पर हम देखते हैं कि ऐसा नहीं होता। असंख्य प्राणियों में से कुछ ही मोक्ष को प्राप्त होते या मोक्ष-मार्ग के अनुगामी होते हैं ; शेष सब प्राणी जहाँ-के-तहाँ रहते हैं और विश्व-प्रकृति की जो क्रीड़ा उनके साथ हो रही है उसमें इस क्षिप्र त्याग से उस प्रकृति को रंचमात्र भी असुविधा नहीं होती जब कि उसका सारा कारबार ही इस कार्य से बन्द हो जाना चाहिये था। इसकी व्याख्या के लिये यही कहा जा सकता है कि पुरुष अनेक हैं और वे सब-के-सब स्वतंत्र हैं। वैदांतिक अद्वैतवाद की दृष्टि के अनुसार यदि इसकी कोई न्याय-संगत व्याख्या हो सकती है तो वह मायावाद है। पर मायावाद को मान लेने पर यह सारा प्रपंच एक स्वप्नमात्र हो जाता है, तब बंधन और मुक्ति दोनों ही अविद्या की अवस्थाएँ, माया की व्यावहारिक भ्रांतिमात्र हो जाती हैं ; वास्तव में न कोई बद्ध है, न कोई मुक्त। सांख्य जो अधिक यथार्थवादी है, सृष्टि-विषयक इस मायिक भावना को स्वीकार नहीं करता कि यह सब दृष्टि-भ्रम है। इसलिए वह वेदांत के इस समाधान को ग्रहण नहीं कर सकता। इस प्रकार यहाँ भी सांख्यों की जगत्-विश्लेषण-पद्धति से प्राप्त निष्कर्षों को ग्रहण करते हुए बहु पुरुष का सिद्धांत ही अपरिहार्य रूप से मानना पड़ता है।

गीता सांख्य के इस विश्लेषण को ग्रहण करके अपना उपदेश आरंभ करती है और जहाँ वह योग का निरूपण करती है वहाँ भी पहले तो ऐसा दिखायी देता है मानो वह सांख्य के इस विचार को प्रायः पूर्णतया स्वीकार करती है। वह प्रकृति, उसके तीन गुणों और चौबीस तत्वों को स्वीकार करती है ; प्रकृति द्वारा समस्त कर्मों का होना और पुरुष का अकर्ता होना भी गीता को स्वीकार है ; विश्व में अनेक सचेतन प्राणियों का होना भी उसे स्वीकार है ; अहंकार का तथा बुद्धि की भेदभाव करनेवाली क्रिया का लय और प्रकृति के गुण-कर्म का अतिक्रमण ही मोक्ष का साधन है, इसको भी गीता स्वीकार करती है। आरंभ से ही अर्जुन से जिस योग की साधना करने को कहा जा रहा है, वह है बुद्धियोग। परन्तु एक महत्वपूर्ण व्यत्यय या भेद है। यहाँ पुरुष एक है, अनेक नहीं। गीता का मुक्त, अशरीरी, अचल, सनातन, अक्षर पुरुष केवल एक बात को छोड़-कर और सब बातों में वेदांत की भाषा में सांख्यों का ही सनातन, अकर्ता, अचल, अक्षर पुरुष है। पर बहुत बड़ा भेद यही है कि यह पुरुष एक है, बहु नहीं।

इससे वह बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है जिसको सांख्य का बहुपुरुषवाद टाल जाता है, और फिर किसी सर्वथा नये समाधान की आवश्यकता खड़ी हो जाती है। गीता यह समाधान, अपने वैदांतिक सांख्य में वैदांतिक योग के सिद्धांतों और तत्वों को लाकर करती है।

जो पहला नया महत्वपूर्ण सिद्धांत यहाँ प्राप्त होता है वह स्वयं पुरुष के संबंध में है। प्रकृति कर्म का संचालन करती है पुरुष के आनन्द के लिये। पर यह आनन्द कैसे साधित होता है? सांख्यों के विश्लेषण में इस आनन्द के साधन में शांत साक्षी की निष्क्रिय अनुमतिमात्र ही कारण है; निष्क्रिय रहकर साक्षी पुरुष बुद्धि और अहंकार के कार्य में अनुमंता होता है और निष्क्रिय रहकर ही वह उस बुद्धि के अहंकार से अलग हट जाने में अनुमति देता है। पुरुष द्रष्टा है, अनुमति का मूल कारण है, आभास के द्वारा प्रकृति के कर्म को धारण करनेवाला है,—इस प्रकार साक्षी, अनुमंता और भर्ता है, इसके सिवाय और कुछ नहीं। परन्तु गीतोक्त पुरुष प्रकृति का प्रभु भी है, वह ईश्वर है। जहाँ संकल्पात्मक बुद्धि का संचालन प्रकृति के हाथ में है, वहाँ सचेतन पुरुष ही सक्रिय रूप से इसका प्रवर्तन करता और इसे शक्ति देता है; वही तो प्रकृति का प्रभु है। जहाँ 'संकल्पात्मक' बुद्धि के कार्य प्रकृति के हैं, वहाँ पुरुष ही सक्रिय रूप से इस बुद्धि को आधार और प्रकाश प्रदान करता है। वह केवल साक्षी ही नहीं, बल्कि ज्ञाता और ईश्वर भी है, ज्ञान और संकल्प का स्वामी भी है। प्रकृति की कर्म में प्रवृत्ति का वही परम कारण है। सांख्यों की विश्लेषणात्मक विवेचन-पद्धति में पुरुष और प्रकृति विश्व के दो कारण हैं; और इस समन्वयात्मक सांख्य में पुरुष, अपनी प्रकृति के द्वारा, विश्व का एकमात्र कारण है। हम तुरन्त देख सकते हैं कि सांख्य-परंपरा की जकड़ी हुई कट्टर-पंथी विश्लेषण-प्रणाली से हम कितनी दूर निकल आये।

परन्तु गीता आरंभ से जिस एक, अद्वितीय पुरुष की बात कह रही है जो अक्षर, अचल और नित्य मुक्त है, उसका क्या हुआ? वह अव्यय, अविकार्य, अज, अव्यक्त ब्रह्म है, फिर भी उसीके द्वारा यह सारा विश्व प्रसारित है। इसलिए ऐसा मालूम होगा कि ईश्वरतत्व उसकी सत्ता में है; एक ओर यदि वह अचल है तो दूसरी ओर समस्त कर्मों और गतियों का कारण और प्रभु भी है। पर कैसे? और विश्व में जो अनेक सचेतन प्राणी हैं, कैसे हैं? ये तो ईश नहीं, अनीश ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि ये त्रिगुण के कर्म और अहंकारजन्य भ्रमके वशीभूत हैं, और यदि ये सब एक ही आत्मा हैं, जैसा कि गीताका आशय मालूम होता है, तो यह प्रकृति में लीनता, वश्यता और भ्रांति कहाँसे उत्पन्न हुई, अथवा इसका सिवाय

यह कहने के कि पुरुष सर्वथा निष्क्रिय है, दूसरा क्या समाधान है ? और, फिर पुरुष का यह बहुत्व कहाँसे आया ? अथवा यह क्या बात है कि जहाँ उस एक, अद्वितीय पुरुष की किसी एक शरीर और मन में तो मुक्ति होती है, वहीं अन्य शरीरों और मनों में वह बंधन के भ्रम में बना रहता है ? ये शंकाएँ हैं जिनका समाधान करना ही होगा, इन्हें योंही नहीं टाला जा सकता।

गीता के बाद के अध्यायों में इन सब शंकाओं का, प्रकृति और पुरुष के विश्लेषण द्वारा समाधान किया गया है। इस विश्लेषण में कुछ ऐसे नवीन तत्वों का आविष्कार किया गया है जो सांख्य-परंपरा के लिये तो पराये हैं, पर वैदांतिक योग के लिये उपयुक्त हैं। यहाँ तीन पुरुष या एक पुरुष के तीन पाद कहे गये हैं। उपनिषदों में सांख्य सिद्धांतों का विवेचन करते हुए कभी-कभी दो ही पुरुषों का वर्णन देख पड़ता है। एक मंत्र में यह वर्णन है कि एक अजा है जिसके तीन वर्ण हैं, यह प्रकृति के सनातन स्त्री-तत्व का वर्णन है जो अपने तीनों गुणों के साथ सतत सृष्टि-कर्म कर रही है ; और दो अज हैं, दो पुरुष हैं जिनमें से एक प्रकृति से लिपटा हुआ है और उसे भोगता है, दूसरा उसे त्याग देता है, क्योंकि वह उसके सब भोग भोग चुका है। दूसरे मंत्र में यह वर्णन है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी हैं, दोनों एक-दूसरेके सदा से सयुज सखा हैं; एक उस वृक्ष के फल खाता है (अर्थात् प्रकृतिस्थ पुरुष प्रकृति के विश्व-प्रपंच को भोगता है), दूसरा नहीं खाता, पर अपने सखा को देखता रहता है—यह निश्चल और नीरव साक्षी पुरुष है जो भोग से निवृत्त है ; जब पहला दूसरेको देखता और यह जानता है कि सारी महिमा उसी की है तब वह दुःख से मुक्त हो जाता है। दोनों मंत्रों में विभिन्न दृष्टि से वर्णन किया गया है, पर आशय दोनों का एक है। उन दो पक्षियों में से एक सदा निश्चल-नीरव मुक्त पुरुष है जिसके द्वारा यह विश्व प्रसारित है और जो अपने द्वारा प्रसारित इस विश्व को देखता है, पर इससे निर्लिप्त रहता है ; दूसरा प्रकृतिस्थ पुरुष है। प्रथम मंत्र यह बतलाता है कि दोनों पुरुष एक ही हैं, उसी एक चिद्रूप पुरुष की बद्ध और मुक्त इन दो अवस्थाओं को प्रतिभासित करते हैं ; क्योंकि जो दूसरा अज है वह प्रकृति में उतरकर उसके भोगों को भोगकर उनसे निवृत्त हुआ है। दूसरा मंत्र यह बात बतलाता है, जो हमको पहले मंत्र से नहीं मिलती, कि पुरुष अपनी एकत्व की परमावस्था में सदा ही मुक्त, अकर्ता और अनासक्त है और केवल अपनी निम्न सत्ता में स्थित होकर प्रकृति द्वारा सृष्ट प्राणियों के बहुत्व में उतर आता है और फिर किसी व्यक्तिभूत प्राणी के द्वारा वापस लौटकर प्रकृति से निवृत्त हो जाता और अपनी उच्चतर अवस्था में आ जाता है। एक ही सचेतन आत्मा की द्विविध अवस्था

का यह सिद्धांत एक रास्ता तो खोल देता है, पर एक के अनेक होने की प्रक्रिया अब भी उलझी हुई है।

इन दो पुरुषों में, गीता उपनिषदों[1] के अन्य वचनों का आशय विशद करते हुए एक और पुरुष मिलाती है, जिसकी महिमा यह सारी सृष्टि है। इस प्रकार तीन पुरुष हुए क्षर, अक्षर और उत्तम। क्षर क्षरणशील विकार्य प्रकृति है, स्वभाव है ; यह है जीव की बहुविध संभूति ; यहाँपर जो पुरुष है वह भागवत सत्ता की बहुत्वावस्था है, यही बहुपुरुष है, यह पुरुष प्रकृति से स्वतंत्र नहीं है, बल्कि यह 'प्रकृतिस्थ पुरुष' है। अक्षर, कूटस्थ, अविकार्य पुरुष निश्चल-नीरव और निष्क्रिय आत्मा है, यह भागवत सत्ता की एकत्वावस्था है, यहाँ पुरुष प्रकृति का साक्षी है, पर प्रकृति के कार्यों में लीन नहीं ; यह प्रकृति और उसके कर्मों से मुक्त, अकर्ता पुरुष है। उत्तम पुरुष परमेश्वर, परब्रह्म, परमात्मा है, जिसमें अक्षर का एकत्व और क्षर का बहुत्व, दोनों ही अवस्थाएँ सन्निविष्ट हैं। वह अपनी प्रकृति की विशाल गतिशीलता और कर्म के द्वारा, अपनी कर्त्री शक्ति, अपने संकल्प और सामर्थ्य के द्वारा जगत् में अपने-आपको व्यक्त करता है और अपनी महत्तर निस्तब्धता और अचलता के द्वारा उससे अलग रहता है ; फिर भी वह अपने पुरुषोत्तम-रूप में, प्रकृति से अलगाव और प्रकृति से आसक्ति इन दोनों अवस्थाओं के ही परे है। पुरुषोत्तम की यह भावना यद्यपि उपनिषदों में सर्वत्र ही अभिप्रेत है, तथापि इसको स्पष्ट और विनिश्चित रूप से गीता ने ही सामने रखा है और भारतीय धार्मिक चेतना के पिछले संस्कारों पर इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। अद्वैतवाद की सूत्रबद्ध परिभाषाओं का अतिक्रम कर जाने का दावा करनेवाले उच्चतम भक्तियोग का आधार यही पुरुषोत्तम-भाव है और भक्ति-प्रधान पुराणों के पीछे भी यही भाव है।

गीता सांख्यशास्त्र के प्रकृति-विश्लेषण के चौखटे के अन्दर भी बँधी नहीं रहती ; क्योंकि इस विश्लेषण के अनुसार प्रकृति में केवल अहंकार को स्थान मिलता है, बहु-पुरुष को नहीं—वहाँ पुरुष प्रकृति का कोई अंश नहीं, बल्कि प्रकृति से पृथक् है। इसके विपरीत गीता का सिद्धांत यह है कि परमेश्वर ही अपने स्वभाव से जीव बनता है। यह कैसे संभव है जब विश्व-प्रकृति के चौबीस तत्व हैं, चौबीस छोड़कर कोई पच्चीसवाँ तत्व नहीं ? गीता के भगवान् गुरु कहते हैं कि हाँ, त्रिगुणात्मिका प्रकृति के बाह्य कर्म का यही सही विवरण है और इस विवरण में पुरुष और प्रकृति का जैसा संबंध बताया गया है, वह भी बिलकुल

१. पुरुषः·····—अक्षरात्·····परतः परः—यद्यपि अक्षर पुरुष परम है, पर उससे भी परे एक परम पुरुष है, उपनिषदें ऐसा कहती हैं।

सही है और प्रवृत्ति या निवृत्ति के साधन में इसका बहुत बड़ा व्यावहारिक उपयोग भी है ; परन्तु यह त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति है जो जड़ और बाह्य है, इसके परे एक परा प्रकृति है जो चित्स्वरूपा और भागवत-भावरूपा है और यही परा प्रकृति जीव बनी है। अपरा प्रकृति में प्रत्येक जीव अहंकार के रूप में भासित होता है, परा प्रकृति में प्रत्येक जीव व्यष्टिरूप पुरुष है, अर्थात् बहुत्व उस एक का ही आध्यात्मिक स्वभाव है। यह व्यष्टि-पुरुष, भगवान् कहते हैं कि, स्वयं मैं हूँ, इस सृष्टि में मेरा ही आंशिक प्राकट्य है, यह मेरा ही अंश है, "**ममैवांशः**", और इसमें मेरी सब शक्तियाँ मौजूद हैं ; यह साक्षी है, अनुमंता है, भर्ता है, ज्ञाता है, ईश्वर है। यह अपरा प्रकृति में उतर आता है और यह समझता है कि मैं कर्म से बँधा हूँ, इसलिये कि निम्न सत्ता को भोग सके ; यह इससे निवृत्त होकर यह जान सकता है कि मैं कर्म के बंधन से सर्वथा विनिर्मुक्त अकर्ता पुरुष हूँ। यह त्रिगुण से ऊपर उठकर और कर्म-बंधन से मुक्त होकर भी कर्म कर सकता है, जैसे भगवान् कहते हैं कि मैं करता हूँ, और पुरुषोत्तम की भक्ति पाकर और उनसे युक्त होकर उनकी दिव्य प्रकृति का पूर्ण आनन्द ले सकता है।

गीता का विश्लेषण ऐसा है जो बाह्य सृष्टि-क्रम से ही बद्ध न होकर परा प्रकृति के 'उत्तम रहस्य' तक में प्रविष्ट है। उसी उत्तम रहस्य के आधार पर गीता वेदांत, सांख्य और योग का समन्वय, ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय स्थापित करती है। केवल सांख्य-शास्त्र के द्वारा कर्म और भक्ति का समन्वय परस्पर-विरोधी होने से असंभावित है। केवल अद्वैत सिद्धांत के आधार पर योग के अंगरूप से कर्मों का सदा आचरण और पूर्ण ज्ञान, मुक्ति और सायुज्य के बाद भी भक्ति में रमण असंभव है या कम-से-कम युक्ति-विरुद्ध और निष्प्रयोजन है। गीता का सांख्य-ज्ञान इन सब बाधाओं को दूर करता है और गीता का योगशास्त्र इन सबपर विजय लाभ करता है।

सांख्य, योग और वेदांत

गीता के प्रथम छः अध्यायों का संपूर्ण लक्ष्य सांख्य और योग, इन दो मार्गों को, जिन्हें सामान्यतः एक-दूसरेसे भिन्न और विरोधी समझा जाता है, वेदांतिक सत्य के विशाल आयतन में समन्वित करना है। सांख्य से ही आरंभ किया गया है सांख्य को ही आधार बनाकर; पर आरंभ से ही उसमें, उत्तरोत्तर अधिक दृढ़ता से योग की भावनाएँ और पद्धतियाँ भरी गयी हैं और सांख्य को योग के ही भाव में एक नये रूप में ढाला गया है। सांख्य और योग में जो प्रकृत भेद उस समय की धर्म-बुद्धि में प्रतीत होता था वह प्रथमतः यह था कि सांख्य का साधन ज्ञान तथा बुद्धियोग द्वारा और योग का साधन कर्म तथा सक्रिय चेतना के रूपांतर के द्वारा होता है। दूसरा भेद—जो प्रथम भेद से आप ही निष्पन्न होता है—यह था कि, सांख्य पूर्ण निष्क्रियता और संन्यास की ओर ले जानेवाला माना जाता था जब कि योग में कामना का आंतरिक त्याग, आंतरिक तत्वों का पवित्रीकरण—जो कर्म की ओर और कर्मों को भगवत्-निमित्त कर देव-जीवन और मुक्ति[1] की ओर ले जाता है—पर्याप्त माना जाता था। फिर भी दोनों का उद्देश्य एक ही था, अर्थात् जन्म और इस पार्थिव जीवन के परे जाना और मानव-आत्मा का परमात्मा के साथ एक हो जाना। सांख्य और योग के बीच गीता जो भेद बताती है, वह यही है।

इन दो परस्पर-विरोधी सिद्धांतों का कोई समन्वय संभव भी है, यह समझना अर्जुन के लिये जो कठिन प्रतीत हुआ, इसीसे यह सूचित होता है कि उस समय के लोग इन दो पद्धतियों को साधारणतया कितना विभिन्न मानते थे। गुरु कर्म और बुद्धियोग का मिलाप कराते हुए अपना कथन आरंभ करते हैं। भगवान् कहते हैं, निरे कर्म की अपेक्षा बुद्धियोग बहुत अधिक श्रेष्ठ है; बुद्धियोग के द्वारा, ज्ञान के द्वारा मनुष्य जब अपनी असंस्कृत प्राकृत मन-बुद्धि और उसकी कामनाओं से ऊपर उठकर सर्वकाम-रहित ब्राह्मी स्थिति की पवित्रता और समता को प्राप्त होता है तभी वह उन कर्मों को कर सकता है जो भगवत्स्वीकार्य हो सकते हैं।

---

१. ३-१

फिर भी कर्म मुक्ति के साधन हैं, किन्तु वे ही कर्म जो इस प्रकार ज्ञान से विशुद्ध हुए हों। अर्जुन में उस समय की प्रचलित संस्कृति के विचार भरे हुए थे और इधर गुरु ने वैदांतिक सांख्य की जिन बातों पर जोर दिया अर्थात् इन्द्रियों पर विजय, मन से हटकर आत्मा में निवास, ब्राह्मी स्थिति में आरोहण, अपने निम्न व्यक्तित्व का निर्व्यक्तित्व के निर्वाण में लय—योग के मुख्य विचार अभी तक गौण और अप्रकट हैं—इनसे अर्जुन की बुद्धि चकरा गयी। उसने पूछा कि, "यदि आपका यह मत है कि कर्म की अपेक्षा बुद्धियोग ही श्रेष्ठ है तो मुझे इस घोर कर्म में क्यों नियुक्त करते हैं? आप अपनी व्यामिश्र बातों से मेरी बुद्धि को मोहित किये डालते हैं; निश्चित रूप से एक बात कहिये जिससे मैं श्रेय को प्राप्त कर सकूं।"

इसके उत्तर में भगवान् यह बतलाते हैं कि सांख्य ज्ञान और संन्यास का मार्ग है और योग कर्म का; परन्तु योग के बिना अर्थात् जबतक समत्व-बुद्धि से, फलेच्छा-रहित होकर, इस बात को जानते हुए कि कर्म प्रकृति के द्वारा होता है आत्मा के द्वारा नहीं, जबतक कर्म यज्ञार्थ नहीं किया जाता तबतक सच्चे संन्यास का होना असंभव है; पर यह कहकर फिर तुरत ही भगवान् यह भी कहते हैं कि ज्ञान-यज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है, सब कर्म ज्ञान में ही परिसमाप्त होते हैं, ज्ञान की अग्नि से सब कर्म दग्ध हो जाते हैं; इसलिए जो पुरुष अपनी आत्मा को पा लेता है उसके कर्म योग के द्वारा संन्यस्त होते हैं और उसे कर्म का बंधन नहीं होता। अर्जुन की बुद्धि फिर चकरा जाती है; क्योंकि निष्काम कर्म तो हुआ योग का सिद्धांत, और कर्म-संन्यास हुआ सांख्य का सिद्धांत, और दोनों ही सिद्धांत उसे एक साथ बताये जा रहे हैं मानो दोनों एक ही प्रक्रिया के दो भाग हों; पर इन दोनों में कोई मेल तो दीखता ही नहीं। कारण जिस तरह का मेल पहले भगवान् गुरु बता चुके—अर्थात् बाह्य अकर्म में कर्म को होते हुए देखना और बाह्य कर्म में यथार्थ अकर्म को देखना, क्योंकि पुरुष अपने कर्ता होने का भ्रम त्याग चुका है और अपने कर्म यज्ञ के स्वामी के हाथों में सौंप चुका है—वह मेल अर्जुन की व्यावहारिक बुद्धि के लिये इतना बारीक, इतना सूक्ष्म है और यह ऐसी पहेली-दार भाषा में प्रकट किया गया है कि अर्जुन इसके आशय को नहीं ग्रहण कर सका या कम-से-कम इसके मर्म और इसकी वास्तविकता तक नहीं पहुँच सका। इसलिए वह फिर पूछता है कि, "हे कृष्ण, आप मुझे कर्म का संन्यास बता रहे हैं और फिर कहते हैं कि योग कर, तो इनमें से कौन-सा मार्ग उत्तम है यह मुझे स्पष्ट रूप से निश्चित करके बताइये।"[1]

१. ५-१

भगवान् इसका जो उत्तर देते हैं वह महत्वपूर्ण है, क्योंकि उससे योग और सांख्य का भेद एकदम स्पष्ट हो जाता है और इनके समन्वय का एक संकेत मिल जाता है, यद्यपि उसमें समन्वयसंबंधी पूर्ण विचारधारा अभी नहीं बतायी गयी है। वह उत्तर है, "संन्यास और कर्मयोग दोनों ही जीव को मुक्त करनेवाले हैं, पर इन दोनों में कर्मयोग संन्यास की अपेक्षा श्रेष्ठ है। उसीको नित्य संन्यासी जानना चाहिये जो (कर्म करते हुए भी) न द्वेष करता है न आकांक्षा ही ; क्योंकि निर्द्वन्द्व होने से वह अनायास और सुखपूर्वक बंधन से मुक्त होता है। सांख्य और योग को अल्पबुद्धि लोग ही एक-दूसरेसे पृथक् बतलाया करते हैं, ज्ञानी नहीं ; यदि कोई मनुष्य संपूर्ण रूप से किसी एक में ही लगे तो वह दोनों का फल पा जाता है,"[1] क्योंकि अपनी संपूर्णता में ये दोनों ही एक-दूसरेको धारण किये हुए हैं। "सांख्य द्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है योगी भी वहीं पहुँचते हैं ; सांख्य और योग दोनों को जो एक देखता है, वही देखता है। पर योग के बिना संन्यास कठिन है ; जो मुनि योग करता है वह शीघ्र ब्रह्म को प्राप्त होता है ; उसकी आत्मा सारी सृष्टि की आत्मा हो जाती है, **"सर्वभूतात्मभूतात्मा"**, और कर्म करते हुए भी वह उनमें लिप्त नहीं होता।"[2] वह जानता है कर्म उसके नहीं हैं, बल्कि प्रकृति के हैं और इसी ज्ञान के द्वारा वह मुक्त है ; वह कर्मसंन्यास कर चुका है, वह कोई कर्म नहीं करता, यद्यपि उसके द्वारा कर्म होते हैं ; वह आत्मा हो जाता है, **"ब्रह्मभूत"** हो जाता है, वह देखता है कि इस सृष्टि के समस्त प्राणी उसी एक स्वतःसिद्ध सत्ता के व्यक्त रूप, **"भूतानि,"** हैं और वह स्वयं अनेक व्यक्त रूपों में से एक है, वह देखता है कि इनके समस्त कर्म केवल विश्व-प्रकृति का विकासमात्र हैं जो उनके व्यष्टिगत स्वभाव के अन्दर से कार्य कर रही है और वह देखता है कि उसके अपने कर्म भी इसी विश्व-क्रिया का ही एक अंशमात्र हैं। गीता की संपूर्ण शिक्षा यही नहीं है ; क्योंकि यहाँतक केवल अविकार्य आत्मा या पुरुष, अर्थात् अक्षर ब्रह्म का और उस प्रकृति का ही वर्णन है जो विश्वसर्जन का कारण है, अभी तक ईश्वर की, पुरुषोत्तम की बात साफ तौर पर नहीं कही गयी है ; यहाँतक कर्म और ज्ञान का ही समन्वय साधित हुआ है, किन्तु अभी तक, कुछ संकेतमात्र किये जाने पर भी, भक्ति का वह परम तत्व नहीं विवृत किया गया जो आगे चलकर इतना महत्वपूर्ण हो जाता है ; यहाँतक केवल एक अकर्ता पुरुष और अपरा प्रकृति की ही बात कही गयी है, अभी तक त्रिविध पुरुष और द्विविध प्रकृति का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। ईश्वर की बात

---

१. ५-२-४

२. ५-५-७

आयी तो जरूर है, पर ईश्वर का आत्मा और प्रकृति के साथ क्या संबंध है यह निश्चित रूप से निर्दिष्ट नहीं हुआ। प्रथम छः अध्यायों में जो समन्वय साधित हुआ है वह उतना ही है जितना कि आगे बताये गये अति महत्वपूर्ण सत्यों की व्याख्या के बिना हो सकता है और जब इन सत्यों का प्रवेश होगा तो इससे पूर्व-साधित समन्वय का परिहार तो नहीं होगा, बल्कि वह बहुत कुछ विस्तृत और परिवर्तित हो जायगा।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि पुरुष की निष्ठा दो प्रकार की होती है जिससे वह ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त होता है; "सांख्यों की ज्ञानयोग के द्वारा और योगियों की कर्मयोग के द्वारा।"[1] यहाँ सांख्य का ज्ञानयोग से और योग का कर्ममार्ग से जो तादात्म्य बताया गया है वह ध्यान देने योग्य है, क्योंकि इससे पता चलता है कि उन दिनों आज की वेदान्त से प्रभावित पद्धति से बिलकुल भिन्न विचार-पद्धति प्रचलित थी। भारतीय चिन्तन पर महान् वैदान्तिक विकास के फल-स्वरूप—स्पष्टतः यह गीता की रचना के बाद की बात है—मोक्ष के व्यावहारिक साधन के रूप में अन्य वैदिक दर्शनों का चलन नहीं रहा। गीता की भाषा को न्याय-संगत ठहराने के लिए हमें यह मानना पड़ेगा कि उस काल में जो लोग ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करते थे वे आम तौर पर सांख्य-पद्धति[2] को ही अपनाते थे। पीछे जब बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ तब सांख्यों का ज्ञानमार्ग बौद्ध-सिद्धांतों से बहुत कुछ आच्छन्न हो गया होगा। सांख्यों के समान ही अनीश्वरवादी और अद्वैत-विरोधी बौद्ध-मत में भी विश्व-ऊर्जा के कार्यों की अनित्यता पर बहुत जोर दिया गया है। बौद्ध-सिद्धांत विश्व-ऊर्जा को प्रकृति न कहकर कर्म कहता है, क्योंकि बौद्धों ने न तो वेदांत-प्रतिपाद्य ब्रह्म को ही स्वीकार किया न सांख्यों के अकर्ता पुरुष को, और इसलिये विवेक-बुद्धि के द्वारा कर्म की इस अनित्यता को जान लेना ही उनके यहाँ मोक्ष का साधन था। जब बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया उठी तब वह पुराने सांख्य संस्कार लेकर नहीं उठी, बल्कि उसने शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदांत का रूप धारण किया। शंकर ने बौद्धों की अनित्यता के स्थान में उसी कोटि के वैदांतिक मायावाद की स्थापना की, और बौद्धों के असत्, अनिर्वचनीय निर्वाण और, अभावात्मक 'केवल' के स्थान में उसके विरुद्ध पर उसी तरह के अवर्णनीय सत्, ब्रह्म, उस अनिर्वचनीय भावात्मक 'केवल' की स्थापना की जिसमें नामरूप और कर्म का सर्वथा अभाव होता है, क्योंकि उसमें ये नामरूप

---

१. ३-३

२. पुराणों और तंत्रों में सांख्यों के विचार भरे पड़े हैं, अवश्य ही उनपर वेदांत के विचार की छाप है और उनके साथ अन्य विचार भी मिले हुए हैं।

कभी थे ही नहीं, उनके मत से ये मात्र मन के भ्रम हैं। आज जब ज्ञानमार्ग का नाम लिया जाता है तब हम साधारणतया शंकर की उस पद्धति की बात सोचते हैं जो उनके दर्शन की इन्हीं धारणाओं पर अवलंबित है, अर्थात् जीवन का त्याग करना होगा, क्योंकि वह माया है, भ्रम है। परन्तु गीता के समय में माया वेदांत-दर्शन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण शब्द नहीं बना था, न इस शब्द का इतने स्पष्ट रूप से वह अर्थ ही किया गया था जो शंकर ने इतनी साफ और जोरदार भाषा में किया ; क्योंकि गीता में माया की चर्चा बहुत कम है, उसमें अधिकतर प्रकृति की ही चर्चा है, और माया शब्द का जहाँ प्रयोग हुआ है वहाँ प्रकृति के ही अर्थ में, वह भी प्रकृति की निम्न कक्षा सूचित करने के लिए हुआ है ; माया कहा गया है त्रिगुणात्मिका, अपरा प्रकृति को—**"त्रैगुण्यमयी माया।"** गीता में विश्व का निमित्त-कारण प्रकृति है, भरमानेवाली माया नहीं।

अध्यात्मशास्त्र के सिद्धांतों में चाहे जो सूक्ष्म विशिष्टताएँ हों, तो भी गीता में दिये हुए सांख्य और योग का जो व्यावहारिक भेद है वह वही है जो आजकल वेदांत के ज्ञानयोग और कर्मयोग में माना जाता है, और इन दोनों के फलों में जो विभिन्नता है वह भी वैसी ही है। सांख्य ने वेदांत के ज्ञानमार्ग की ही तरह बुद्धि से आरंभ किया और विचार द्वारा उसने पुरुष के सच्चे स्वभाव का विवेक किया और यह बताया कि आसक्ति और तादात्म्य के द्वारा प्रकृति अपने कर्मों को पुरुष पर आरोपित करती है, ठीक उसी तरह वैदांतिक पद्धति इसी साधन द्वारा आत्मा के सच्चे स्वभाव के भेद तक पहुँची है और उसने बताया है कि आत्मा पर जगत् का आभास मन के भ्रम के कारण पड़ता है और इसीसे अहंभावयुत तादात्म्य और आसक्ति पैदा होती है। वैदांतिक पद्धति के अनुसार आत्मा जब अपने नित्य सनातन ब्रह्म-स्वरूप में लौट आती है तो उसके लिये माया की सत्ता नहीं रहती और विश्व-क्रिया तिरोहित हो जाती है ; सांख्य-प्रणाली के अनुसार जीव जब अपनी सत्य सनातन निष्क्रिय पुरुष-अवस्था में लौट आता है तब गुणों का कर्म बंद हो जाता है और विश्व-क्रिया समाप्त हो जाती है। माया-वादियों का ब्रह्म शांत, अक्षर और अकर्ता है, सांख्यों का पुरुष भी ऐसा ही है ; इसलिए दोनों के लिये जीवन और कर्मों का संन्यास मोक्ष का आवश्यक साधन है। परन्तु गीता के योग में वैदांतिक कर्मयोग के समान ही, कर्म केवल आधार को तैयार करने का साधन नहीं है, बल्कि यह मोक्ष का स्वतःसिद्ध साधन माना गया है ; और इसी सिद्धांत की सत्यता को गीता बराबर बड़े जोरदार आग्रह के साथ हृदय में जमा देना चाहती है ; दुर्भाग्यवश यह आग्रह

बौद्धमत[1] की प्रचण्ड लहर के सामने न ठहर सका, और पीछे संन्यास-संप्रदाय के मायावाद की तीव्रता में तथा संसारत्यागी संतों और भक्तों की उमंग में, इसका लोप हो गया और अब हाल में ही भारतवासियों की बुद्धि पर इसका वास्तविक और हितकर प्रभाव फिर से पड़ने लगा है। संन्यास तो अपरिहार्य रूप से आवश्यक है, पर सच्चा संन्यास कामना और अहंकार का आंतरिक त्याग है; इस आन्तरिक त्याग के बिना कर्मों का बाह्य भौतिक त्याग मिथ्या और व्यर्थ है। आंतरिक त्याग हो तो बाह्य त्याग की आवश्यकता भी जाती रहती है, यद्यपि उसकी कोई मनाही भी नहीं है। ज्ञान मुख्य है, मुक्ति के लिये इससे बड़ी और कोई शक्ति नहीं है; पर ज्ञान-सहित कर्म की भी आवश्यकता है; ज्ञान और कर्म के एकत्व से जीव पूर्णतया ब्राह्मी स्थिति में रहता है, केवल विश्राम में और निष्क्रिय शांति की अवस्था में ही नहीं, बल्कि कर्म के भीषण घात-प्रतिघात में भी। भक्ति की बड़ी महिमा है, पर भक्ति-सहित कर्म का माहात्म्य भी कम नहीं; ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों के संयोग से जीव ईश्वर के परम पद को प्राप्त होता है और वहाँ उन पुरुषोत्तम में निवास करता है जो शाश्वत आध्यात्मिक शांति और शाश्वत विश्व-कर्मण्यता दोनों के स्वामी हैं। यही गीता का समन्वय है।

परन्तु सांख्य के ज्ञानमार्ग में और योग के कर्ममार्ग में जो भेद है उसके अतिरिक्त स्वयं वेदांत में भी वैसा ही एक दूसरा विरोध था और गीता को उसका भी विचार करना पड़ा, जिससे कि आर्य आध्यात्मिक संस्कृति की इस विशाल नवीन व्याख्या में उनकी त्रुटियों को दूर करके उनका मेल मिला दिया जाय। यह भेद था कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के बीच, उस मूल विचार के बीच जिसका पर्यवसान वेदवाद या पूर्वमीमांसा दर्शन में और ब्रह्मवाद या उत्तरमीमांसा दर्शन में हुआ।[2] यह भेद उन दो संप्रदायों के बीच था जिनमें से एक तो वैदिक मंत्रों

---

१. पर साथ ही बौद्धों के महायान संप्रदाय पर गीता का बहुत बड़ा प्रभाव देख पड़ता है और बौद्धों के धर्मशास्त्रों में गीता के कुछ श्लोक अक्षरशः उद्धृत हुए पाये जाते हैं। इससे यह मालूम होता है कि बौद्धमत जो पहले नैष्कर्म्यप्रवण और संबुद्ध यतियों का ही मार्ग था, पीछे बहुत कुछ गीता के प्रभाव से ही ध्यानपरायण भक्ति का और करुणात्मक कर्म का धर्म बन गया और समग्र एशिया महाद्वीप की संस्कृति पर उसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।

२. मोक्ष-संबंधी जैमिनीय सिद्धांत यह है कि वह शाश्वत ब्रह्मलोक ही मोक्ष है जिसमें ब्रह्म को जाननेवाले जीव को दिव्य देह और दिव्य भोग प्राप्त होते हैं। गीता के मत में ब्रह्मलोक मोक्ष नहीं है; मोक्ष के लिए जीव को इसके भी परे विश्वातीत पद लाभ करना होता है।

और वैदिक यज्ञों की परंपरा में ही वास करता था और दूसरा इनको नीचे दरजे का ज्ञान बताकर इनकी उपेक्षा करता था और उपनिषदों से निकले उत्कृष्ट आध्यात्मिक ज्ञान पर जोर देता था। वेदवादियों की कर्मप्रधान बुद्धि में ऋषियों का आर्य धर्म यही था कि वैदिक यज्ञों को विधिपूर्वक संपन्न करके तथा पवित्र वैदिक मंत्रों का विशुद्ध प्रयोग करके इस लोक में संपत्ति, संतति, विजय, हर प्रकार का सौभाग्य आदि मनुष्य की काम्य वस्तुओं को प्राप्त किया जाय और परलोक में अमरत्व का आनन्द लाभ किया जाय। ब्रह्मवादियों के आदर्श के हिसाब से यह केवल प्राथमिक साधन था, उनके अनुसार मनुष्य का सच्चा पुरुषार्थ तो ब्रह्म के ज्ञान की ओर मुड़ने से आरंभ होता है और ब्रह्म के ज्ञान से ही उसे उस अकथनीय आध्यात्मिक आनन्द का सच्चा अमर-पद प्राप्त होगा जो इस जगत् के क्षुद्र सुखों से और किसी भी छोटे-मोटे परलोक से बहुत दूर है। वेद का वास्तविक मूल और अभिप्राय जो कुछ भी रहा हो, पर यह भेद गीता के काल के बहुत पहले से स्थापित हो चुका था और इसलिए गीता को इसकी मीमांसा करनी पड़ी।

कर्म और ज्ञान का समन्वय करते हुए भगवान् ने जो पहली बात कही, उसमें उन्होंने वेदवाद की जोरदार, प्रायः भयानक शब्दों में निन्दा और भर्त्सना की है। उन्होंने कहा, "यह पुष्पिता या लच्छेदार भाषा वे बोलते हैं जिनकी बुद्धि ठिकाने नहीं, जो वेदवाद में ही रत हैं, जिनका मत यह है कि इसके सिवाय और कुछ है ही नहीं, जो कामात्मा हैं, स्वर्ग के अभिलाषी हैं, यह (वाणी) जन्मकर्म के फल देनेवाली, विविध-विधिसंकुल कर्मों का विधान करनेवाली और भोग तथा ऐश्वर्य की ओर ले जानेवाली है।"[1] गीता स्वयं वेद पर आक्रमण करती-सी प्रतीत होती है, जिसका यद्यपि भारतीय समाज के व्यवहार में इस समय लोप ही हो गया है, तो भी भारतीय समाज की भावना में वेद अब भी समस्त भारतीय दर्शन-शास्त्रों और धर्मों का अतीन्द्रिय, अनुल्लंघनीय, अत्यंत पवित्र और स्वतःसिद्ध प्रमाण और मूल है। गीता कहती है कि, "त्रिगुणात्मक कर्म ही वेदों का विषय है; पर हे अर्जुन, तू इस त्रिगुण से मुक्त हो जा।"[2] सब वेद उस मनुष्य के लिये निष्प्रयोजन बताये गये हैं जो ज्ञानी है। यहाँ वेदों में, **"सर्वेषु वेदेषु"**, उपनिषदों का भी समावेश माना जा सकता है और शायद है भी, क्योंकि आगे चलकर वेद और उपनिषद्, दोनों के वाचक सामान्य श्रुति शब्द का ही प्रयोग हुआ है। "चारों ओर जहाँ जल ही जल हो वहाँ किसी कुएँ का जितना प्रयोजन हो सकता है उतना ही प्रयोजन समस्त वेदों का उस ब्राह्मण के लिये है जो ज्ञानी

१. २—४३. २. २—४३

है।"[1] यही नहीं, बल्कि शास्त्र-वचन बाधक भी होते हैं, क्योंकि शास्त्र के शब्द—शायद परस्पर-विरोधी वचनों और उनके विविध और एक दूसरे के विरुद्ध अर्थों के कारण—बुद्धि को भरमानेवाले होते हैं, जो अन्दर की ज्योति से ही निश्चितमति और एकाग्र हो सकती है। भगवान् कहते हैं, "जब तेरी बुद्धि मोह के घिराव को पार कर जायगी तब तू अबतक सुने हुए और आगे सुने जानेवाले शास्त्र-वचनों से उदासीन हो जायगा, '**तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च**'। "जब तेरी बुद्धि जो श्रुति से भरमायी हुई है, "**श्रुतिविप्रतिपन्ना**", समाधि में निश्चल और स्थिर होगी, तब तू योग को प्राप्त होगा।"[2] यह सब परंपरागत धार्मिक भावनाओं के लिये इतना अप्रिय है कि अपनी सुविधा देखनेवाले और अवसर से लाभ उठानेवाले मानव-कौशल का गीता के कुछ श्लोकों के अर्थ को तोड़-मरोड़-कर उनका कुछ और अर्थ करने की कोशिश करना स्वाभाविक ही था, किन्तु इन श्लोकों के अर्थ स्पष्ट हैं और अथ से इति तक सुसंबद्ध हैं। शास्त्र-वचन-संबंधी यह भाव आगे चलकर एक और श्लोक में मंडित और सुनिर्दिष्ट हुआ है जहाँ यह कहा गया है कि ज्ञानी का ज्ञान 'शब्द' ब्रह्म को अर्थात् वेद और उपनिषद् को पार कर जाता है, "**शब्दब्रह्मातिवर्तते**"।

अस्तु, इस विषय को हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, क्योंकि यह तो निश्चित ही है कि गीता जैसे समन्वय-साधक और उदार शास्त्र में आर्य-संस्कृति के इन महत्वपूर्ण अंगों का विचार केवल इन्हें अस्वीकार करने या इनका खंडन करने की दृष्टि से नहीं किया गया है। गीता को कर्म के द्वारा मुक्ति का प्रतिपादन करनेवाले योगमार्ग के साथ ज्ञान के द्वारा मुक्ति का प्रतिपादन करने-वाले सांख्य-मार्ग का समन्वय साधना है, ज्ञान को कर्म में मिलाकर एक कर देना है। इसके साथ-ही-साथ पुरुष और प्रकृति के सिद्धांत को, जो सांख्य और योग में एक ही सरीखा है, प्रचलित वेदांत के उस ब्रह्मवाद के साथ समन्वित करना है जिसमें उपनिषदों के पुरुष, देव, ईश्वर सब एक अक्षर ब्रह्म की सर्वग्राही भावना में समा जाते हैं, और फिर गीता को ईश्वर, परमेश्वरसंबंधी योग-भावना को उसपर पड़े हुए ब्रह्मवाद के आच्छादन से बाहर निकालकर उसके असली स्वरूप में दिखाना है, और यह वैदांतिक ब्रह्मवाद को अस्वीकार करके नहीं, बल्कि उसको समन्वित करके करना है। गीता को उसमें अपना वह जगमगाता हुआ विचार भी जोड़ना है जो उसके समन्वय-साधन की पराकाष्ठा है अर्थात् पुरुषोत्तम का सिद्धांत और पुरुष के त्रिविध होने का सिद्धांत जो उपनिषदों में बीज-रूप से तो है पर उसका कोई स्पष्ट, सुनिश्चित, निर्विवाद प्रमाण उपनिषदों के मंत्रों में

१. २—४६. २. २—५३

अनायास नहीं मिल सकता, बल्कि यह सिद्धांत पहली नजर में तो श्रुति के उस मंत्र के विरुद्ध प्रतीत होता है जिसमें पुरुष दो माने गये हैं। इसके अतिरिक्त, कर्म और ज्ञान का समन्वय साधते समय गीता को केवल योग और सांख्य के विरोध की ही संगति नहीं बिठानी है, बल्कि स्वयं वेदांत के अन्दर भी कर्म और ज्ञान में जो विरोध है—जो सांख्य और योग के विरोध जैसा ही नहीं है, क्योंकि वेदांत में इन दो शब्दों के फलितार्थ सांख्य के फलितार्थ से अलग हैं और इसलिये इनका विरोध भी सांख्य के विरोध से भिन्न है—उसका भी ध्यान रखना है। इसलिए चलते-चलते यहाँपर ऐसा कहा जा सकता है कि, वेद और उपनिषदों के मंत्र ही जिनके आधार हैं ऐसे इन नानाविध दार्शनिक संप्रदायों में जब इतना विरोध है तब गीता का यह कहना कि श्रुति बुद्धि को घबरा और चकरा देती है, उसे कई दिशाओं में घुमा देती है, **"श्रुतिविप्रतिपन्ना"**, कोई आश्चर्य की बात नहीं। आज भी भारत के पंडितों और दार्शनिकों के बीच इन प्राचीन वचनों के अर्थों के संबंध में कितने बड़े-बड़े शास्त्रार्थ और झगड़े हो जाते हैं और कितने विभिन्न सिद्धांत स्थापित किये जाते हैं। इनसे बुद्धि विरक्त और उदासीन होकर, **"गन्तासि निर्वेदं"**, नवीन और प्राचीन शास्त्र-वचनों को, **"श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च"**, सुनने से इनकार करके स्वयं ही गूढ़तर, आंतर और प्रत्यक्ष अनुभव के सहारे सत्य का अन्वेषण करने के लिये अपने अन्दर प्रवेश कर सकती है।

गीता के प्रथम छः अध्यायों में कर्म और ज्ञान के समन्वय की, सांख्य, योग और वेदांत के समन्वय की एक विशाल नींव डाली गयी है। पर आरंभ में ही गीता देखती है कि वेदांतियों की भाषा में कर्म शब्द का एक खास अर्थ है ; वहाँ कर्म का अभिप्राय है वैदिक यज्ञों और अनुष्ठानों से, अथवा अधिक-से-अधिक इन श्रौत कर्मों के साथ-साथ उन गृह्यसूत्रों के अनुसार जीवनचर्या से जिनमें ये आचार-अनुष्ठान ही जीवन के महत्वपूर्ण अंग और धर्म के प्राण माने गये हैं। इन्हीं धार्मिक कर्मों को, इन्हीं याग-यज्ञों को जो बड़ी 'विधि' से किये जाते हैं और जिनकी क्रियाएँ एकदम बँधी हुई और जटिल हैं, **"क्रियाविशेषबहुलां"**, वेदांती कर्म कहते हैं। पर योग में कर्म का बहुत व्यापक अर्थ है। इसी व्यापक अर्थ पर गीता का आग्रह है ; जब हम आध्यात्मिक कर्म की बात कहते हैं तब हमारे ध्यान में यह बात आ जानी चाहिये कि इस शब्द के अन्दर सभी कर्मों, **"सर्वकर्माणि"**, का समावेश है। साथ ही गीता यज्ञ की भावना का, बौद्धमत की तरह, निषेध भी नहीं करती, गीता उसे समुन्नत और व्यापक बनाती है। वस्तुतः गीता का कहना यह है कि यज्ञ केवल जीवन का सबसे महत्वपूर्ण अंग ही नहीं है, बल्कि संपूर्ण जीवन और समस्त कर्म यज्ञ ही होने चाहियें, अवश्य ही अज्ञानी लोग उच्चतर

ज्ञान के बिना ही और महामूढ़ तो "अविधिपूर्वक" भी, यज्ञ करते हैं। यज्ञ के बिना जीवन की स्थिति ही संभव नहीं है ; प्रजापति ने प्रजाओं का **'सह यज्ञाः'** यानी यज्ञ के साथ निर्माण किया है। पर वेदवादियों के यज्ञ काममूलक हैं, वैषयिक भोगों के लिये हैं ; उनका यह काम कर्मों के फल के लिये उत्सुक है, स्वर्ग का विशाल भोग चाहता है, उसीको अमृतत्व और परम मुक्तिधाम जानता है। गीता अपनी साधन-प्रणाली में इसका समावेश नहीं कर सकती ; क्योंकि गीता आरंभ से ही कहती है कि वासना का त्याग करो, इसे आत्मा का शत्रु जानकर त्यागो और नष्ट करो। वैदिक याग-यज्ञों की सार्थकता को भी गीता अस्वीकार नहीं करती ; गीता उन्हें स्वीकार करती है और कहती है कि इन साधनों के द्वारा इस लोक में भोग और ऐश्वर्य और परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति होती है। भगवान् गुरु कहते हैं कि वह "मैं" ही हूँ जो इन यज्ञों को ग्रहण करता है, जिसके प्रीत्यर्थ ये यज्ञ किये जाते हैं और जो देवताओं के रूप में इनके फल प्रदान करता है, क्योंकि इसी भाव से लोग मेरे पास आना पसंद करते हैं। पर यह सच्चा पथ नहीं है, न स्वर्ग का सुखभोग ही वह मोक्ष और पूर्णत्व है जिसे मनुष्य को प्राप्त करना है। अज्ञानी ही देवताओं को भजते हैं, वे यह नहीं जानते कि इन सब देव-रूपों में अज्ञात रूप से वे किसको भज रहे हैं, क्योंकि चाहे अज्ञान की अवस्था में ही क्यों न हो, पर वे भजते हैं उसी "एक" को, उसी ईश्वर को, उसी एकमात्र देव को और यह वही है जो इनका हव्य ग्रहण करता है। इसी ईश्वर के प्रति यज्ञ को, जीवन की सारी शक्तियों और कर्मों के उस सच्चे यज्ञ को, भक्तिभाव के साथ, निष्काम होकर, उसीके लिये और लोक-कल्याण के लिये अर्पण करना होगा। चूँकि वेदवाद इस सत्य को ढाँक देता है और अपने विधि-विधानों की गाँठ लगाकर मनुष्य को त्रिगुण के कर्म में बाँध डालता है, इसलिए वेदवाद की तीव्र भर्त्सना करनी पड़ी और उसे इतने रूखेपन के साथ एक किनारे रख देना पड़ा ; पर उसकी केन्द्रिक भावना नष्ट नहीं की गयी है ; उसे रूपांतरित और समुन्नत किया गया है, उसे सच्चे आध्यात्मिक अनुभव के और मोक्ष-साधन-मार्ग के एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंग में परिणत कर दिया गया है।

ज्ञान के संबंध में वेदांत का जो सिद्धांत है उसमें ठीक ऐसी ही कठिनाइयाँ उपस्थित नहीं होतीं। गीता इस सिद्धांत को तुरत और पूरे तौर पर अपनाती है और पहले छः अध्यायों में सर्वत्र सांख्यों के अचल, अक्षर, किन्तु बहुपुरुष के स्थान पर वेदांतियों के अक्षर, एकमेवाद्वितीय, विश्वव्यापक ब्रह्म को धीरे से लाकर बैठा देती है। इन अध्यायों में सर्वत्र, निष्काम कर्म को ज्ञान का परमावश्यक अंग बतलाते हुए भी, ज्ञान और ब्रह्मानुभूति को मोक्ष का सर्वप्रधान और अनिवार्य

साधन माना है। अक्षर निर्व्यक्तिक ब्रह्म की अनंत समता में अहंकार का निर्वाण मोक्ष-साधन के लिये आवश्यक है, इस सिद्धांत को भी गीता उतना ही मान देती है; इस तरह से अहंकार का यह निर्वाण और सांख्यों के अकर्ता अक्षर पुरुष का प्रकृति के कर्मों की उपाधि से निकलकर अपने स्वरूप में लौट आना, इन दोनों बातों को गीता करीब-करीब एक कर देती है; गीता ने वेदांत और सांख्य, दोनों की भाषाओं को मिलाकर एक कर दिया है, जैसा कि कतिपय उपनिषदों[1] में भी पहले किया गया था। फिर भी वेदांतियों के सिद्धांत में एक त्रुटि है जिसे दूर करना जरूरी है। शायद हम ऐसा अनुमान लगा सकते हैं कि इस समय तक वेदांत ने उन परवर्ती आस्तिक प्रवृत्तियों को पुनर्विकसित नहीं किया था जो उपनिषदों में तो तत्वरूप से पहले से उपस्थित थीं; लेकिन वहाँ उनका महत्व इतना नहीं है जितना बाद के वैदांतिक वैष्णव दर्शन-शास्त्रों में पाया जाता है, जहाँ यह प्रवृत्ति केवल बहुत प्रधान ही नहीं, सर्वोपरि है। हम यह मान सकते हैं कि कट्टर वेदांत कम-से-कम अपनी प्रधान प्रवृत्तियों में, आधार में विश्व-ब्रह्मवादी और शिखर पर अद्वैतवादी था।[2] यह एकमेवाद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादक है, विष्णु, शिव, ब्रह्मा आदि देवताओं की इसमें ब्रह्म के ही नामरूप होने के नाते मान्यता है। परन्तु एकमेव परब्रह्म को ईश्वर, पुरुष, देवरूप से मानने की भावना इसमें अपने उच्च स्थान से नीचे गिर गयी है।[3] ईश्वर, पुरुष, देव—ये शब्द उपनिषदों में ब्रह्म के विशेषण रूप से प्रायः प्रयुक्त हुए हैं और वहाँ इनका प्रयोग ठीक भी है, किन्तु वहाँ इनका आशय सांख्य और ईश्वरवाद-विषयक धारणा की अपेक्षा अधिक व्यापक है। विशुद्ध तार्किक ब्रह्मवाद में इन नामों का प्रयोग ब्रह्मभाव के गौण या कनिष्ठ पहलुओं के लिये ही हुआ है। गीता इन नामों की तथा इनसे सूचित होनेवाले भावों की मूलगत समता को ही पुनः स्थापित करके चुप नहीं होती, बल्कि एक कदम और आगे बढ़ना चाहती है। ब्रह्म का जो परम भाव है उसीको, उसके कनिष्ठ भाव को नहीं, पुरुष-रूप में और अपरा प्रकृति को उसीकी माया के रूप में दिखाकर उसे वेदांत और सांख्य का पूर्ण

---

१. विशेषकर श्वेताश्वतरोपनिषद् में।

२. विश्वब्रह्मवादियों का मूल सूत्र यह है कि ब्रह्म और विश्व एक ही हैं, अद्वैतवादी उसमें यह जोड़ देते हैं कि केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व है और यह विश्व केवल मिथ्या आभास है, या एक वास्तविक पर आंशिक अभिव्यक्ति है।

३. यह कुछ संदेहजनक है, पर कम-से-कम यह तो कहा जा सकता है कि इस तरह की एक प्रबल विचारधारा थी और उसीकी परिसमाप्ति आचार्य शंकर के सिद्धांत में हुई है।

समन्वय साधना है और उसीको ईश्वर-रूप में दिखाकर वेदांत और सांख्य का योग के साथ संपूर्ण समन्वय सिद्ध करना है। यही नहीं, बल्कि गीता ईश्वर अर्थात् पुरुषोत्तम को अचल, अक्षर ब्रह्म से भी उत्तम दिखाने जा रही है और इस क्रम में निर्व्यक्तिक ब्रह्म में अहंकार के निर्वाण की जो बात आरंभ में आयी है वह पुरुषोत्तम के साथ एकता प्राप्त करने के साधन का केवल एक महान् प्राथमिक और आवश्यक सोपान-मात्र है। कारण पुरुषोत्तम ही परब्रह्म हैं। इसलिए गीता वेदों और उपनिषदों के सर्वोत्तम अधिकारी व्याख्याताओं द्वारा उपदिष्ट शिक्षा का साहस के साथ अतिक्रमण करके इन ग्रंथों के संबंध में स्वयं अपनी एक शिक्षा को, जिसको गीता ने इन्हीं ग्रंथों से निकाला है, निश्चित रूप से घोषित करती है; तब हो सकता है कि इन ग्रंथों का वेदांती लोग साधारणतया जो अर्थ करते हैं उसकी चहारदीवारी के अन्दर गीता के इस अर्थ को शायद न बैठाया जा सके।[1] वस्तुतः शास्त्रीय वाक्यों की ऐसी स्वतंत्र और समन्वयकारी व्याख्या के बिना तत्कालीन नानाविध संप्रदायों में जो मतभेद था और वैदिक व्याख्याओं की जो उस समय प्रचलित पद्धतियाँ थीं, उन सबका एक विशाल समन्वय साधना असंभव ही होता।

गीता के पिछले अध्यायों में वेदों और उपनिषदों की बड़ी प्रशंसा है। वहाँ कहा गया है कि वे ईश्वर-प्रणीत शास्त्र हैं, शब्दब्रह्म हैं। स्वयं भगवान् ही वेदों के जाननेवाले और वेदांत के प्रणेता हैं, "**वेदविद् वेदान्तकृत**"। सब वेदों के वे ही एकमात्र ज्ञातव्य विषय हैं, "**सर्वैः वेदैः अहमेव वेद्यः**", इस भाषा का फलितार्थ यह होता है कि वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान का ग्रंथ और इन ग्रंथों के नाम इनके उपयुक्त ही हैं। स्वयं पुरुषोत्तम ही अक्षर और क्षर पुरुष से भी ऊपर उनकी जो परमावस्था है उसमें से इस जगत् में और वेद में प्रसारित हुए हैं। फिर भी शास्त्रों के शब्द बंधनकारक और भरमानेवाले होते हैं, जैसा कि ईसाई-धर्म के प्रचारक ने अपने शिष्यों से कहा था, शब्द मारते हैं और भाव तारते हैं। शास्त्रों की भी एक हद है और इस हद को पार कर जाने के बाद उनकी कोई उपयोगिता नहीं रहती। ज्ञान का वास्तविक मूल है हृदय में विराजमान ईश्वर; गीता कहती है कि "मैं (ईश्वर) प्रत्येक मनुष्य के हृदय में स्थित हूँ और मुझसे ही ज्ञान

---

१. वस्तुतः पुरुषोत्तम का सिद्धांत उपनिषदों में आ चुका है, अवश्य ही गीता की तरह नहीं, बल्कि कुछ बिखरे हुए ढंग से। पर गीता के समान ही उपनिषदों में भी जहाँ-तहाँ ब्रह्म या परम पुरुष का इस प्रकार वर्णन आता है कि उसमें सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म दोनों का समावेश है, वह 'निर्गुणोगुणी' है। यह नहीं कि वह इनमें से एक चीज तो हो पर दूसरी न हो, जो हमारी बुद्धि को उसके विपरीत प्रतीत होती है।

निःसृत होता है।" शास्त्र उस आंतर वेद के, उस स्वयंप्रकाश सद्वस्तु के केवल वाङ्मय रूप हैं, ये शब्द-ब्रह्म हैं। वेद कहते हैं, मंत्र हृदय से निकला है, उस गुह्य स्थान से जो सत्य का धाम है, "**सदनात् ऋतस्य गुहायां**"। वेदों का यह मूल ही उनका प्रामाण्य है ; फिर भी वह अनंत सत्य अपने शब्द की अपेक्षा कहीं अधिक महान् है। किसी भी सद्ग्रंथ के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि जो कुछ है बस यही है, इसके सिवाय और कोई सत्य ग्राह्य नहीं हो सकता, जैसा कि वेदों के विषय में वेदवादी कहते थे, "**नान्यदस्तीतिवादिनः**"। यह बात बड़ी रक्षा करनेवाली है, और संसार के सभी सद्ग्रंथों के विषय में कही जा सकती है। बाइबल, कुरान, चीन के धर्मग्रंथ, वेद, उपनिषद्, पुराण, तंत्र, शास्त्र और स्वयं गीता आदि सभी सद्ग्रंथ, जो आज हैं, या कभी रहे हों, उन सबमें जो सत्य है उसे तथा जितने तत्ववेत्ता, साधु-संत, ईश्वरदूत और अवतारों की वाणियाँ हैं, उन सबको एकत्र कर लें तो भी आप यह न कह सकेंगे कि जो कुछ है बस यही है, इसके अलावा कुछ है ही नहीं या जिस सत्य को आपकी बुद्धि इनके अन्दर नहीं देख पाती वह सत्य ही नहीं, क्योंकि वह इनके अन्दर नहीं है। यह तो सांप्रदायिकों की संकीर्ण बुद्धि हुई या फिर सब धर्मों से अच्छी-अच्छी बात चुननेवाले धार्मिक मनुष्य की मिश्रित बुद्धि हुई, स्वतंत्र और प्रकाशमान मन का और ईश्वरानुभवप्राप्त जीव का अव्याहत सत्यान्वेषण नहीं। श्रुत हो या अश्रुत, वह सदा सत्य ही है जिसको मनुष्य अपने हृदय की ज्योतिर्मय गभीर गुहा में देखता या अखिल ज्ञान के स्वामी सनातन वेदविद् सर्वज्ञ परमेश्वर से अपने हृद्देश में श्रवण करता है।

बुद्धियोग

पिछले दो परिच्छेदों में मुझे मुख्य विषय से हटकर दार्शनिक मतवाद के नीरस क्षेत्र में पाठकों को अपने साथ इसलिये घसीट ले जाना पड़ा—यद्यपि विभिन्न दार्शनिक मतवादों का निरूपण बहुत ही सरसरी तौर पर किया गया है और वह बहुत ही अपर्याप्त और ऊपरी है—कि हम इस बात को समझ लें कि गीता ने जिस विशिष्ट प्रतिपादनशैली को अपनाया है उसका वह अंत तक क्यों अनुसरण करती है। वह शैली यह है कि पहले तो गीता किसी आंशिक सत्य का मृदुमंद संकेत भर कर देती है और फिर आगे चलकर अपने इन संकेतों की ओर लौटती है और उनके मर्म को दिखलाती है और यह उस समय तक होता रहता है जबतक कि वह इन सबके ऊपर उठकर अपनी उस अंतिम महान् सूचना में, अपने उस परम रहस्य में नहीं पहुँच जाती जिसका वह स्वयं कोई खुलासा नहीं करती, बल्कि उसको मनुष्यजीवन में प्रस्फुटित होने के लिये छोड़ देती है, जिस सूचना या परम रहस्य को भारतीय आध्यात्मिकता के उत्तर युगों में प्रेम की, आत्मसमर्पण की और आनन्द की महान् लहरों में उपलब्ध करने का प्रयास किया गया। गीता की दृष्टि सदा अपने समन्वय पर है और उसमें जो विभिन्न विचारधाराओं का वर्णन है वह इसलिए है कि मानव-मन को क्रमशः अन्तिम महान् वचन के लिये तैयार किया जाय।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि सांख्यों में मोक्षदायिनी बुद्धि की जो संतुलित अवस्था है वह, मैंने तुझे बता दी, और अब मैं योग में जो दूसरी संतुलित अवस्था है उसका वर्णन करूँगा। तू अपने कर्मों के फलों से डर रहा है, तू कोई दूसरा ही फल चाहता है और अपने जीवन के सच्चे कर्म-पथ से हट रहा है; क्योंकि यह पथ तुझे तेरे वांछित फलों की ओर नहीं ले जाता। परन्तु कर्म और कर्म-फल को इस दृष्टि से देखना, फल की इच्छा से कर्म में प्रवृत्त होना, कर्म को अपनी इच्छापूर्ति का साधन बनाना बंधन है जो उन अज्ञानियों को बाँधता है जो यह नहीं जानते कि कर्म क्या चीज है, कहाँसे इसका प्रवाह चला है, यह कैसे होता है और इसका श्रेष्ठ उपयोग क्या है। मेरा योग तुझे इन कर्म-बंधनों से मुक्त

कर देगा—"**कर्मबन्धं प्रहास्यसि।**" तुझे बहुत-सी चीजों का डर लग रहा है—पाप का डर, दुःख का डर, नरक और दंड पाने का डर, ईश्वर का डर और इस जगत् का डर, परलोक का डर और अपना डर। भला बता तो, इस समय ऐसी कौन-सी चीज है जिसका, हे आर्य वीर, जगत् के वीरशिरोमणि, तुझे डर न लगता हो? परन्तु यह महाभय ही तो मानव-जाति को घेरे रहता है—लोक और परलोक में पाप और दुःख का भय, जिस संसार के सत्य स्वभाव को वह नहीं जानती उस संसार में भय, उस ईश्वर का भय जिसकी सत्य सत्ता को उसने नहीं देखा है और न जिसकी विश्वलीला के अभिप्राय को ही समझा है। मेरा योग तुझे इस महाभय से तार देगा और इस योग का स्वल्प-सा साधन भी तुझे मुक्ति दिला देगा। एक बार जहाँ तूने इस मार्ग पर चलना शुरू किया कि तू देखेगा कि कोई कदम व्यर्थ नहीं रखा गया, प्रत्येक साधारण-सी गति भी एक कमाई होगी; तुझे ऐसी बाधा नहीं मिलेगी जो तेरी प्रगति को अटका सके। कितनी निर्भीक और निरपेक्ष प्रतिज्ञा है! परन्तु सर्वत्र विघ्नों से घिरकर लुढ़कते-पुढ़कते चलनेवाले चंचल मन को, भयभीत और शंकित मन को सहसा इसपर पूर्ण भरोसा नहीं होता। इस प्रतिज्ञा का व्यापक और पूर्ण सत्य भी तबतक साफ समझ में नहीं आता जबतक गीता के प्रारंभिक वचनों के साथ उसका यह अंतिम वचन मिलाकर न पढ़ा जाय :—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥[1]

—"सब धर्मों को छोड़ दे और केवल एक मेरी शरण में चला आ; मैं तुझे सब पापों और अशुभों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर।"

परन्तु भगवान् द्वारा मनुष्य को कहे हुए इस गंभीर और हृदयस्पर्शी शब्द के साथ गीता का वर्णन आरंभ नहीं किया गया है, आरंभ में तो इस मार्ग पर चलने के लिये आवश्यक ज्योति की कुछ किरणें भर छिटका दी गयी हैं और वे भी अंतिम वचन की नाईं अंतरात्मा का स्पर्श करने के लिये नहीं, बल्कि उसकी बुद्धि को प्रकाश देने के लिये। पहले-पहल मनुष्य के सुहृद् और प्रेमी भगवान् नहीं बोले, बल्कि वे भगवान् बोले हैं जो उसके पथ-प्रदर्शक और गुरु हैं, शिष्य वास्तविक आत्मा को, जगत् के स्वभाव को और अपने कर्म के उद्गम स्थान को नहीं जानता; उसके इस अज्ञान को उन्हें दूर करना था। चूँकि मनुष्य अज्ञानपूर्वक और अशुद्ध बुद्धि के साथ कर्म करता है, और ऐसी हालत में इन कर्मों के संबंध में उसका संकल्प

---

१. १८-६६

भी अशुद्ध ही होता है, इसलिए वह कर्मबंधन में पड़ता है या बद्ध-सा जान पड़ता है ; नहीं तो मुक्त आत्मा के लिए तो कर्मबंधन का कारण है ही नहीं। इस अशुद्ध बुद्धि के कारण ही मनुष्य को आशा, भय, क्रोध और शोक तथा क्षणिक सुख होता है ; अन्यथा पूर्ण शांति और स्वतंत्रता के साथ कर्म किये जा सकते हैं। इसलिए सबसे पहले अर्जुन को बुद्धियोग ही बताया गया है। शुद्ध बुद्धि और फलतः शुद्ध संकल्प के साथ उस एक परमात्मा में स्थित होकर, सबमें उस एक आत्मा को जानते हुए तथा उसकी सम शांति में से कार्य करते हुए और उपरितल के मनोमय पुरुष की हजारों प्रेरणाओं के वश इधर-उधर भटके बिना कर्म करना ही बुद्धियोग है।

गीता कहती है कि मनुष्य की बुद्धि दो प्रकार की है। एक बुद्धि एकाग्र, संतुलित, एक, समरस और केवल परम सत्य में ही संलग्न है : एकत्व उसकी विशिष्टता है और एकाग्र स्थिरता उसका प्राण। दूसरी बुद्धि में कोई स्थिर संकल्प नहीं, कोई एक निश्चय नहीं, उसमें अनेक शाखा-पल्लवों से युक्त असंख्य विचार हैं, वह जीवन और परिस्थिति से उठनेवाली इच्छाओं के पीछे इधर-उधर भटका करती है। जिस बुद्धि शब्द का यहाँ प्रयोग हुआ है उसका विशिष्ट अर्थ तो समझने-बूझने की मानसिक शक्ति है, किन्तु गीता में बुद्धि शब्द का प्रयोग इसके व्यापक दार्शनिक अर्थ में हुआ है, गीता में बुद्धि से अभिप्रेत है मन की विवेक और निश्चय करनेवाली समस्त क्रिया, मन अर्थात् वह तत्व जो हमारे विचारों का कार्य और उनकी गति की दिशा तथा हमारे कर्मों का उपयोग और उनकी गति की दिशा—इन दोनों बातों का निश्चय करता है। विचार, बोध, निर्णय, मानसिक पसंद और लक्ष्य ये सब बुद्धि के धर्म के अंतर्गत हैं। क्योंकि एकनिष्ठ बुद्धि का लक्षण केवल बोध करनेवाले मन की एकाग्रता ही नहीं है, बल्कि उस मन की एकाग्रता भी है जो निश्चय करनेवाला अर्थात् व्यवसायी है और फिर यह मन अपने निश्चय पर जमा रहता है, दूसरी ओर अव्यवसायात्मिका बुद्धि का लक्षण भी उसकी भावनाओं और इन्द्रियानुभवों का भटकते रहना उतना नहीं है जितना उसके लक्ष्यों और उसकी इच्छाओं का फलतः उसके संकल्प का इधर-उधर भटकते रहना है। संकल्प और ज्ञान, ये दोनों कर्म बुद्धि के हैं। एकनिष्ठ बुद्धि ज्ञानदीप्त आत्मा में स्थिर होती है, आंतर आत्मज्ञान में एकाग्र होती है ; और इसके विपरीत जो बुद्धि बहुशाखावाली और बहुधंधी है, जो बहुत से व्यापारों में लगी है लेकिन अपने एकमात्र परमावश्यक कर्म की उपेक्षा करती है, वह मन की चंचल तथा इधर-उधर भटकनेवाली क्रियाओं के अधीन रहती और बाह्य जीवन और कर्मों तथा उनके फलों में बिखरी रहती है। "कर्म", भगवान् कहते

है कि, "बुद्धियोग की अपेक्षा बहुत नीचे दर्जे की चीज है, इसलिए बुद्धि की शरण लेने की इच्छा करो ; वे लोग दरिद्र और पामर हैं जो कर्मफल को अपने विचार और अपनी कर्मण्यताओं का विषय बनाते हैं।"[1]

हमें सांख्यों की उस मनोवैज्ञानिक क्रमव्यवस्था को याद रखना चाहिये जिसे गीता ने स्वीकार किया है। इस क्रमव्यवस्था में एक ओर पुरुष है जो स्थिर, अकर्ता, अक्षर, एक और अविकार्य है ; दूसरी ओर प्रकृति है जो सचेतन पुरुष के बिना स्वयं जड़ है, जो कर्त्री है,—पर इसका यह गुण पुरुष की चेतना के सान्निध्य से, उसके संपर्क में आने से ही है। कहा जा सकता है कि आरंभ में वह पुरुष के साथ एक नहीं हो जाती, बल्कि अनिश्चित रूप से उसके संपर्क में आती है, जिस रूप में वह त्रिगुणात्मिका है, विवर्तन और निवर्तन की योग्यता रखती है। पुरुष और प्रकृति के परस्पर-संपर्क से ही आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ क्रीड़ा होती है, जो हमारी सत्ता का अनुभव है। हमारा जो अंतरंग है पहले वह विकसित होता है, क्योंकि प्रथम कारण पुरुष-चैतन्य है, और जड़ प्रकृति केवल द्वितीय कारण है और पहले पर आश्रित है। तथापि हमारी अंतरंगता के जो करण हैं उनकी उत्पत्ति प्रकृति से है ; पुरुष से नहीं। इस क्रम में पहले बुद्धि अर्थात् विवेक और निश्चय करनेवाली शक्ति का और अहंकार अर्थात् इतरों से अपना पार्थक्य करनेवाली बुद्धि की अनुगत शक्ति का विकास होता है। तब इस क्रमव्यवस्था के द्वितीय विकास में बुद्धि और अहंकार में से मन उत्पन्न होता है जो विषयों की पृथक्-पृथक् पहचान करता है। यहाँ हमें भारतीय नामों का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि उनके समानवाची अंग्रेजी शब्द सचमुच उनके पर्याय नहीं हैं ; इस क्रमव्यवस्था के तीसरे विकास में मन से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पांच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं ; तदनंतर ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियाँ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध उत्पन्न होते हैं, जो हमारे मन के लिये स्थूल विषयों का मूल्य निर्द्धारित करते हैं और हमारी आत्मनिष्ठता में पदार्थों की जो प्रतीति होती है वह उन्हीं के द्वारा होती है। इन्हीं पाँच विषयों के उपादान-स्वरूप पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं, जिनके विभिन्न सम्मिश्रणों से बाह्य जगत् के पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

प्रकृति के गुणों की ये अवस्थाएँ और शक्तियाँ पुरुष के विशुद्ध चैतन्य में प्रतिभासित होकर हमारे अशुद्ध अंतःकरण के उपादान बनती हैं। अशुद्ध इसलिए कि इसका कार्य बाह्य जगत् के अनुभवों और अंतःकरण पर होनेवाली उनकी प्रतिक्रियाओं पर निर्भर है। इसी बुद्धि के—जो मात्र विधायक शक्ति है और जो अपनी अनिश्चित अचेतन शक्ति में से सब जड़वत् विधान किया

---

१. २-४९

करती है—हमारे अन्दर दो रूप हो जाते हैं, एक मेधा और दूसरा संकल्प। मन, जो एक अचेतन शक्ति है, प्रकृति के भेदों को बहिरंग क्रिया और प्रतिक्रिया के द्वारा ग्रहण करता और आकर्षण के द्वारा उनसे संलग्न होता है, इन्द्रियानुभव और कामना बनता है जो बुद्धि और संकल्प के ही दो असंस्कृत अवयव या विकार हैं,—यही मन संवेदन-शक्ति, भावावेग-शक्ति और इच्छा-शक्ति बनता है, इच्छा-शक्ति से यहाँ अभिप्रेत है निम्नकोटि की इच्छा, आशा, कामनामय आवेश, प्राण का आवेग, और ये सबके सब संकल्प-शक्ति के ही विकार हैं। इन्द्रियाँ इस मन का उपकरण बनती हैं, जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और पाँच कर्मेन्द्रियाँ, जो अंतरंग जगत् और बहिरंग जगत् के बीच मध्यस्थ का काम करती हैं; बाकी सब हमारी चेतना के विषय, इन्द्रियों के विषय हैं।

स्थूल जगत् के विकास का जो क्रम हम लोग देखते हैं उससे यह क्रम विपरीत प्रतीत होता है। परन्तु यदि हम यह स्मरण रखें कि स्वयं बुद्धि भी अपने-आपमें जड़ प्रकृति की एक जड़ क्रिया है और परमाणु में भी कोई जड़ संकल्प और बोध, पार्थक्य और निश्चय करनेवाली गुणक्रिया होती है, यदि हम यह देखें कि पौधों में भी, जीवन के इन अवचेतन रूपों में भी, संवेदन, भावावेग, स्मृति और आवेगों के असंस्कृत अचेतन उपादान मौजूद हैं और फिर यह देखें कि प्रकृति की ये शक्तियाँ ही किस प्रकार आगे चलकर पशु और मनुष्य की विकासोन्मुख चेतना में अंतःकरण के रूप धारण करती हैं, तो हमें यह पता लगेगा कि आधुनिक विज्ञान ने जड़ प्रकृति के निरीक्षण द्वारा जो कुछ तथ्य प्राप्त किया है, उसके साथ सांख्य प्रणाली का मेल मिल जाता है। प्रकृति से लौटकर अपने पुरुष-स्वरूप को प्राप्त करने के लिये जीव की जो विकास-क्रिया होती है उसमें प्रकृति-विकास के मूल क्रम का उलटा क्रम ग्रहण करना पड़ता है। उपनिषदों ने और उपनिषदों का ही अनुसरण करके, प्रायः उपनिषदों के वचनों को ही उद्धृत करके गीता ने हमारे अंतःकरण की शक्तियों का आरोहणक्रम इस प्रकार बतलाया है—"विषयों से इन्द्रियाँ परे हैं, इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे जो है वह, 'वह' है"[1]—चिदात्मा, चैतन्य पुरुष। इसलिए गीता कहती है, इस पुरुष को, हमारे आत्मनिष्ठ जीवन के इस परम कारण को हमें बुद्धि से समझना और जान लेना होगा; उसीमें अपने संकल्प को स्थिर करना होगा। इस प्रकार हम प्रकृतिस्थ निम्नतर अंतरंग पुरुष को उस महत्तर चिन्मय पुरुष की सहायता से सर्वथा संतुलित और निस्तब्ध करके अपनी शांति और प्रभुत्व के शत्रु, मन की "कामना" को, जो सदा अशांत और चंचल रहती है, मार सकेंगे।"

१. ३-४२

कारण, यह तो स्पष्ट ही है कि बुद्धि की क्रिया की दो सम्भावनाएँ हैं। या तो वह निम्नगामी और बहिर्मुख होकर प्रकृति के तीनों गुणों की लीला में इन्द्रियानुभवों और संकल्पों की छितरी हुई क्रियाओं में संलग्न रहे, या ऊर्ध्वगामी और अंतर्मुख होकर, प्रकृति के जंजाल से छूटकर, प्रशांत चिदात्मा की स्थिरता और सनातन विशुद्धता में चिरशांति और समता लाभ करे। पहले विकल्प में अंतरंग सत्ता इन्द्रियों के विषयों के अधीन रहती है, वह वस्तुओं के बाह्य संपर्क में ही निवास करती है। यह कामना का जीवन है। इसमें इन्द्रियाँ विषयों से उत्तेजित होकर अशांत, बहुधा भीषण विक्षोभ उत्पन्न करती हैं, उन विषयों को हथियाने और उन्हें भोगने के लिये बड़ी तेजी से अंधाधुंध बाहर की ओर दौड़ पड़ती हैं और मन को अपने साथ खींच ले जाती हैं, जैसे समुद्र में वायु नौका को खींच ले जाती है ; फिर इन्द्रियों की इस बहिर्मुख गति द्वारा जगाये हुए भावावेगों, आवेशों, लालसाओं और प्रेरणाओं से पराभूत हुआ मन, उसी प्रकार, बुद्धि को खींच ले जाता है। इससे बुद्धि अपना स्थिर विवेक और प्रभुता खो बैठती है। निम्नगा बुद्धि का परिणाम यह होता है कि प्रकृति के तीनों गुणों की जो सदा गुत्थंगुत्था और भिड़न्त होती रहती है, जीव उसकी उलझी हुई क्रीड़ा के अधीन हो जाता है, वह अज्ञानमय हो जाता है, उसका जीवन मिथ्या, इन्द्रियपरायण और बहिरंग हो जाता है, वह शोक, क्रोध, आसक्ति और आवेश का दास हो जाता है,—यही है साधारण, अज्ञानी, असंयमी मनुष्य का जीवन। जो लोग वेदवादियों के समान इन्द्रियभोग को ही कर्म का लक्ष्य और उसीकी पूर्णता को जीव का परम ध्येय बनाते हैं उनके उपदेश हमारे काम के नहीं। अंतःस्थ निर्विषय आत्मानंद हमारा सच्चा लक्ष्य है और यही हमारी शांति और मुक्ति की उच्च और व्यापक समस्थिति है।

अतः, बुद्धि को ऊर्ध्वमुख और अंतर्मुख करना ही हमारा व्यवसाय होना चाहिये, अर्थात् निश्चयपूर्वक बुद्धि को स्थिर रूप से एकाग्र करके अध्यवसाय के साथ पुरुष के प्रशांत आत्मज्ञान में स्थित करना चाहिए। इसमें सबसे पहली बात कामना से छुटकारा पाना है ; क्योंकि कामना ही सब दुःखों और कष्टों का मूल कारण है। कामना से छुटकारा पाने के लिये कामना के कारण का अर्थात् विषयों को पाने और भोगने के लिए इन्द्रियों की दौड़ का, अंत करना होगा। जब इस तरह से इन्द्रियाँ दौड़ पड़ें तब उन्हें पीछे खींचना होगा, विषयों से सर्वथा हटा लेना होगा—जैसे कछुआ अपने अंगों को अपनी ढाल के अन्दर कर लेता है, वैसे ही इन्द्रियों को उनके मूल उपादान मन में लाकर शांत करना होगा, और मन को बुद्धि में और बुद्धि को आत्मा एवं उसके आत्मज्ञान में लाकर

शांत करना होगा। यह आत्मा वह पुरुष है जो प्रकृति के कर्म को देखता है, उसमें फँसता नहीं ; क्योंकि विषयों से मिलनेवाली कोई भी चीज वह नहीं चाहता।

यहाँ यह शंका उठ सकती है कि श्री कृष्ण संन्यास का उपदेश दे रहे हैं, इसे दूर करने के लिये वे कहते हैं कि मैं किसी बाह्य वैराग्य या विषयों के भौतिक संन्यास की बात नहीं कह रहा। सांख्यों का संन्यास या प्रखर विरागी तपस्वियों के उपवासादि तप, कायक्लेश या त्याग आदि से मेरा अभिप्राय नहीं है, मैं तो आंतरिक वैराग्य एवं कामना के परित्याग की बात कहता हूँ। देही के जबतक देह है तबतक इस देह को नित्य दैहिक कर्म करने के योग्य बना रखने के लिये आहार देना ही होगा ; निराहार होने से देही विषयों के साथ अपने दैहिक संबंध का ही विच्छेद कर सकता है, पर इससे वह आंतरिक संबंध नहीं छूटता जो उस संबंध को दुःखद बनाने का कारण है। उसमें विषयों का रस—राग और द्वेष जिसके दो पहलू ह—तो बना ही रहता है। इसके विपरीत देही को तो, ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे वह राग-द्वेष से अलिप्त रहकर बाह्य स्पर्श को सह सके। अन्यथा विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, **'विषया विनिवर्त्तन्ते'**, परन्तु आंतरिक निवृत्ति नहीं होती, मन निवृत्त नहीं होता ; और इन्द्रियाँ मन की हैं, अंतरंग हैं, इसलिए रस की आंतरिक निवृत्ति ही प्रभुता का एकमात्र वास्तविक लक्षण है। परन्तु विषयों से इस प्रकार का निष्काम संपर्क, इन्द्रियों का इस प्रकार निर्लेप उपयोग कैसे संभव है ? यह संभव है परम को देखने से **"परं दृष्ट्वा"**, परम पुरुष के दर्शन से और बुद्धियोग के द्वारा उसके साथ सर्वान्तःकरण से युक्त होने से, एकत्व को प्राप्त होने से ; क्योंकि वह 'एक' आत्मा शांत है, अपने ही आनंद से संतुष्ट है, और एक बार यदि हमने अपने अन्दर रहनेवाले इस परम पुरुष का दर्शन कर लिया, अपने मन और संकल्प को उसके अन्दर स्थापित कर दिया तो यह द्वन्द्वशून्य आनन्द,—इन्द्रियों के विषयों से पैदा होनेवाले मानसिक सुख और दुःख का स्थान अधिकृत कर सकता है। यही मुक्ति का सच्चा रास्ता है।

निश्चय ही आत्म-संयम, आत्म-नियंत्रण कभी आसान नहीं होता। सभी बुद्धिमान मनुष्य इस बात को जानते हैं कि उन्हें थोड़ा बहुत संयम करना चाहिए, अपने-आपको वश में रखना ही चाहिए और इन्द्रियों को वश में रखने के लिए जितने उपदेश मिलते हैं उतने शायद ही किसी दूसरी चीज के लिए मिलते हों। परन्तु सामान्यतः यह उपदेश अपूर्ण रूप से ही दिया जाता है और इसका पालन भी अपूर्ण रूप से और वह भी बहुत ही मर्यादित और अपर्याप्त मात्रा में किया

जाता है। पूर्ण आत्म-प्रभुत्व की प्राप्ति के लिए परिश्रम करनेवाला ज्ञानी, स्पष्ट द्रष्टा, बुद्धिमान् और विवेकी पुरुष भी यह देखता है कि इन्द्रियाँ उसे बेकाबू करके सहसा खींच ले जाती हैं। ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि मन स्वभावतः इन्द्रियों के विषयों में आंतरिक रस लेता है, वह विषयों पर जम जाता है और उनको बुद्धि के लिए विचारों की व्यस्तता का और संकल्प के लिये तीव्र रुचि का विषय बना देता है। इससे आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से कामना, कामना से अर्थात् कामना की पूर्ति न होने पर या उसके विफल या विपरीत होने पर संताप, आवेश और क्रोध उत्पन्न होता है, इससे मोह होता है, बुद्धि के बोधि और संकल्प दोनों ही स्थिर साक्षी पुरुष को देखना और उसीमें स्थित रहना भूल जाते हैं, अपनी सदात्मा की स्मृति से पतन हो जाता है और इस पतन से बुद्धिगत संकल्प आच्छादित हो जाता है, नष्ट तक हो जाता है। उस समय के लिए तो हमारी स्मृति से उसका लोप ही हो जाता है, वह मोह के बादल में छिप जाता है और हम स्वयं मोह, क्रोध और शोक बन जाते हैं; आत्मा, बुद्धि और संकल्प नहीं रहते। इसलिए ऐसा न होने देना चाहिए और सब इन्द्रियों को अच्छी तरह वश में ले आना चाहिए; क्योंकि इन्द्रियों के पूर्ण संयम से ही विज्ञ और स्थिर बुद्धि अपने स्थान में दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हो सकती है।

बुद्धि के अपने प्रयत्न से ही, केवल मानसिक संयम से ही यह कार्य पूर्ण रूप से सिद्ध नहीं हो सकता; यह केवल ऐसी वस्तु के साथ युक्त होने से हो सकता है जो बुद्धि से ऊँची हो और स्थिरता तथा आत्म-प्रभुता जिसमें स्वभावसिद्ध हो। इस योग की सिद्धि भगवान् की ओर लगने से, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मेरी ओर' लगने से, 'मद्भावापन्न' होने से, 'सर्वात्मना मेरे समर्पित' होने से, होती है; कारण मुक्तिदाता श्रीभगवान् हमारे अन्दर हैं, पर हमारा मन या हमारी बुद्धि या हमारी अपनी इच्छा, यह भागवत सत्ता नहीं है, ये तो केवल उपकरण हैं। हमें, जैसा कि गीता के अंत में बताया गया है, सर्वभाव से ईश्वर की ही शरण जाना और इसके लिए पहले उन्हें अपनी संपूर्ण सत्ता का ध्येय बनाना होगा और उनसे आत्म-संबंध बनाये रखना होगा। "सर्वथा मत्पर होकर, मुझमें योगयुक्त होकर स्थित रह" इसका यही अभिप्राय है। पर अभी यह संकेतमात्र है, जो गीता की प्रतिपादनशैली के अनुसार ही है। **"युक्त आसीत मत्परः"** इन तीन शब्दों में वह परम रहस्य बीज-रूप से भर दिया गया है जिसका विस्तार आगे होना है।

ऐसा जब हो जाय तब विषयों में विचरते हुए, उनके संपर्क में रहते हुए, उनपर क्रिया करते हुए भी इन्द्रियों को अंतरात्मा के सर्वथा अधीन रखना—विषय और उनके संस्पर्श तथा उनकी प्रतिक्रियाओं के वशीभूत होकर नहीं—

और फिर इस अंतरात्मा को परम-आत्मा, परम पुरुष के अधीन रखना संभव होता है। तब विषयों की प्रतिक्रियाओं से छूटकर इन्द्रियाँ राग-द्वेष से वियुक्त, काम-क्रोध से मुक्त होती हैं और तब आत्मप्रसाद अर्थात् आत्मा की स्थिरता, शांति, विशुद्धता और संतुष्टि प्राप्त होती है। वह आत्मप्रसाद जीव के परम सुख का कारण है; उसके रहते कोई दुःख उस शांत पुरुष को स्पर्श नहीं कर सकता; उसकी बुद्धि तुरत आत्मा की शांति में स्थित हो जाती है; दुःख रह ही नहीं जाता। इसी आत्मावस्था और आत्मज्ञान में स्थिर, निष्काम, दुःख-रहित बुद्धि की धृति को गीता ने समाधि कहा है।

समाधिस्थ मनुष्य का लक्षण यह नहीं है कि उसको विषयों और परिस्थितियों का तथा अपने मनोमय और अन्नमय पुरुष का होश ही न रहे और शरीर को जलाने या पीड़ित करने पर भी उसे इस चेतना में लौटाया न जा सके, जैसा कि साधारणतया लोग समझते हैं; इस प्रकार की समाधि तो चेतना की एक विशिष्ट प्रकार की प्रगाढ़ता है, यह समाधि का मूल लक्षण नहीं है। समाधि की कसौटी है सब कामनाओं का बहिष्कार, किसी भी कामना का मन तक न पहुँच सकना, और यह वह आन्तरिक अवस्था है जिससे यह स्वतंत्रता उत्पन्न होती है, आत्मा का आनन्द अपने ही अन्दर जमा रहता है और मन सम, स्थिर तथा ऊपर की भूमिका में ही अवस्थित रहता हुआ आकर्षणों और विकर्षणों से तथा बाह्य जीवन के घड़ी-घड़ी बदलनेवाले आलोक-अंधकार और तूफानों तथा झंझटों से निर्लिप्त रहता है। वह बाह्य कर्म करते हुए भी अंतर्मुख रहता है; बाह्य पदार्थों को देखते हुए भी आत्मा में ही एकाग्र होता है; दूसरों की दृष्टि में सांसारिक कर्मों में लगा हुआ प्रतीत होने पर भी सर्वथा भगवान् की ओर लगा रहता है। अर्जुन औसत मनुष्य के मन में उठनेवाला यह प्रश्न करता है कि इस महान् समाधि का वह कौन-सा लक्षण है जो बाह्य, शारीरिक और व्यावहारिक रूप में जाना जा सके; समाधिस्थ मनुष्य कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है? इस तरह के कोई लक्षण नहीं बताये जा सकते और न भगवान् गुरु ही बतलाने का प्रयास करते हैं; क्योंकि समाधि की जो कोई कसौटी हो सकती है, वह आंतरिक है और कसकर देखने की बहुत-सी विरोधी शक्तियाँ हैं और ये भी मनोगत हैं। मुक्त पुरुष का महान् लक्षण समता है और समता की पहचान के लिये जो अति स्पष्ट चिह्न हैं वे भी आंतरिक हैं। "दुःख में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुख की इच्छा जिसकी जाती रही है, राग, भय और क्रोध जिसका निकल गया है, वही मुनि स्थितप्रज्ञ

है।"[1] वह "निस्त्रैगुण्य, निर्द्वन्द्व, सदा अपनी सत्य सत्ता में प्रतिष्ठित, निर्योगक्षेम, आत्मवान्"[2] होता है। कारण मुक्त पुरुष का योग-क्षेम क्या है? जहाँ एकबार हम आत्मवान् हुए वहाँ सब कुछ तो प्राप्त हो गया, सब कुछ तो हमारा ही है।

पर फिर भी आत्मवान् पुरुष कर्म से विरत नहीं होता। यही गीता की मौलिकता और शक्ति है कि पुरुष की इस स्थितिशील अवस्था का प्रतिपादन करके भी, प्रकृति पर पुरुष का श्रेष्ठत्व बताकर भी, मुक्त पुरुष के लिए प्रकृति की साधारण क्रिया की निःसारता को दिखाकर भी वह उसे कर्म जारी रखने को कहती है, कर्म का उपदेश करती है और ऐसा करने के कारण गीता उस बड़े भारी दोष से बच जाती है जो मात्र शान्तिकामी और वैरागी मतों में पाया जाता है,—यद्यपि आज वे इस दोष से बचने का प्रयत्न कर रहे हैं। "कर्म पर तेरा अधिकार है, पर केवल कर्म पर, कर्म के फल पर कदापि नहीं; अपने कर्मों के फलों की इच्छा करनेवाला तू मत बन और अकर्म में भी तेरी आसक्ति न हो।"[3] इस बात से यह स्पष्ट है कि यह कर्म वेदवादियों का वह कर्म नहीं है जो फलविशेष की कामना से किया जाता है, और न यह उस प्रकार का कर्म है जिसका दावा सांसारिक या राजसी वृत्ति के कर्मी किया करते हैं और जो अशांत उद्योगी मन की संतुष्टि के लिये सदा किया जाता है। "योगस्थ होकर कर्म कर, संग का त्याग करके, सिद्धि-असिद्धि में सम होकर; समत्व ही योग से अभिप्रेत है।"[4] यह प्रश्न उठता है कि शुभ और अशुभ के आपेक्षिक विचार के कारण, पाप से भय और पुण्य के कठिन प्रयास के कारण कर्म क्या केवल दुःखदायी ही नहीं होता? परन्तु वह मुक्त पुरुष जिसने अपनी बुद्धि और संकल्प को भगवान् के साथ एक कर लिया है, वह इस द्वन्द्वमय संसार में भी शुभ कर्म और अशुभ कर्म दोनों का परित्याग किये रहता है; क्योंकि वह शुभाशुभ के परे जो धर्म है, जिसकी प्रतिष्ठा आत्म-ज्ञान की स्वाधीनता में है, उसमें ऊपर उठ जाता है। कहा जा सकता है कि ऐसे निष्काम कर्म में तो कोई निश्चितता, कोई अमोघता, कोई लाभदायक प्रेरक-भाव, कोई विशाल या ओज-सृष्टि-सामर्थ्य नहीं हो सकता? ऐसा नहीं है; योगस्थ होकर किया जानेवाला कर्म न केवल उच्चतम प्रत्युत अत्यंत ज्ञानपूर्ण, सांसारिक विषयों के लिये भी अत्यंत शक्तिशाली और अत्यंत अमोघ होता है; क्योंकि उसमें सब कर्मों के स्वामी भगवान् का ज्ञान और संकल्प भरा रहता है; "योग है कर्म की कुशलता, **"योगः कर्मसु कौशलम्"**। परन्तु जीवन के लिये किया जानेवाला कर्म योगी को उसके महान् ध्येय से दूर ल जाता है और यह बात तो सर्वसम्मत ही है कि योगी का ध्येय इस दुःख-शोकमय मानव-जन्म के बन्धन से

१. २-५६. २. २-४५. ३. २-४७. ४. २-४८.

छुटकारा पाना होता है ? नहीं, ऐसा भी नहीं है ; जो योगी कर्मफल की इच्छा के बिना, भगवान् के साथ योग में स्थित होकर कर्म करते हैं, वे जन्म-बंध से मुक्त होते हैं और उस परम पद को प्राप्त होते हैं, जहाँ दुःखी मानव-जाति के मन और प्राण को सतानेवाली किसी भी व्याधि का नामोनिशान तक नहीं होता।

योगी जिस पद को प्राप्त होता है वह ब्राह्मी स्थिति है, वह ब्रह्म में दृढ़प्रतिष्ठ हो जाता है। संसार-बद्ध प्राणियों की जो कुछ दृष्टि, अनुभूति, ज्ञान, मूल्यांकन और देखना-सुनना है वहां यह सब कुछ पलट जाता है। यह द्वन्द्वमय जीवन जो इन बद्ध प्राणियों का दिन है, जो इनकी जागृति है, जो इनकी चेतना है, जो इनके लिये कर्म करने और ज्ञान प्राप्त करने की उज्ज्वल अवस्था है, उसके लिये यह रात है, दुःखभरी नींद और आत्मविषयक अंधकार है ; और वह उच्चतर सत्ता जो इन बद्ध प्राणियों के लिये रात है, वह नींद है जिसमें इनका सारा ज्ञान और कर्मसंकल्प लुप्त हो जाता है, उस संयमी पुरुष के लिये जागृत अवस्था है, सत्य सत्ता, ज्ञान और शक्ति का प्रकाशमय दिवस है। ये बद्ध प्राणी उन चंचल पंकिल जलाशयों की तरह हैं जो कामना की जरा-सी लहर का धक्का लगते ही हिलने लग जाते हैं ; योगी विशाल सत्ता और चेतना का वह समुद्र है जो सदा भरा जाने पर भी अपनी आत्मा की विशाल समस्थिति में सदा अचल रहता है ; संसार की सब कामनाएँ उसमें प्रविष्ट होती हैं, जैसे समुद्र में नदियाँ, फिर भी उसमें कोई कामना नहीं होती, कोई चांचल्य नहीं होता। इन प्राणियों में भरा रहता है अंधकार और "मेरा-तेरा" का उद्वेगजनक भाव, और वह सबके एक अखिलांतरात्मा के साथ एक होता है, उसमें न "मैं" है न 'मेरा'। वह कर्म तो दूसरों की तरह ही करता है, पर सब कामनाओं और उनकी लालसाओं को छोड़कर। वह महान् शांति को प्राप्त होता है और बाहरी दिखावों से विचलित नहीं होता ; उसने अपने व्यष्टिगत अहंभाव को उस एक अखिलांतरात्मा में निर्वापित कर दिया है, वह उसी एकत्व में रहता है और अंतकाल में उसी में स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है—यह ब्रह्मनिर्वाण बौद्धों का अभावात्मक आत्म-विध्वंस नहीं है, प्रत्युत पृथक वैयक्तिक आत्मा का उस एक अनंत निर्व्यक्तिक सत्ता के विराट् सत्य में महान् निमज्जन है।

इस प्रकार सांख्य, योग और वेदान्त का यह सूक्ष्म एकीकरण गीता की शिक्षा की पहली नींव है। यही सब कुछ नहीं है, बल्कि ज्ञान और कर्म की यह प्राथमिक अनिवार्य व्यावहारिक एकता है जिसमें जीव की परिपूर्णता के लिये परमावश्यक सर्वोच्च और आत्यंतिक तीसरे अंग का अर्थात् भावगत प्रेम और भक्ति का संकेतमात्र किया गया है।

कर्म और यज्ञ

बुद्धियोग और ब्राह्मी स्थिति में उसकी परिसमाप्ति, जो गीता के द्वितीय अध्याय के अंतिम भाग का विषय है, उसमें गीता की बहुत कुछ शिक्षा बीज-रूप से आ गयी है—गीता का निष्काम कर्म, समत्व, बाह्य संन्यास का वर्जन और भगवद्भक्ति, ये सभी सिद्धांत इसमें आ गये हैं। परन्तु अभी ये सब बहुत ही अल्प और अस्पष्ट रूप में हैं। जिस बात पर अभीतक सबसे अधिक जोर दिया गया है वह यही है कि मनुष्य के कर्म करने का जो सामान्य प्रेरक-भाव हुआ करता है उससे, अर्थात् उसकी अपनी कामना से तथा आवेशों और अज्ञान के साथ इंद्रिय-सुख के पीछे दौड़नेवाले विचार और संकल्पमय उसके सामान्य प्राकृत स्वभाव से और अनेक शाखा-पल्लवों से युक्त संतप्त विचारों और इच्छाओं में भटकते रहने का उसका जो अभ्यास है उससे, मनुष्य की बुद्धि हट जाय और वह ब्राह्मी स्थिति की निष्काम स्थिर एकता और निर्विकार प्रशान्ति में पहुँच जाय। इतना अर्जुन ने समझ लिया है। इसमें उसके लिये कोई नयी बात नहीं; क्योंकि उस समय की प्रचलित शिक्षा का यही सार था जो मनुष्य को सिद्धि प्राप्त करने के लिये ज्ञान का मार्ग तथा जीवन और कर्म से संन्यास का मार्ग दिखा देता था। बुद्धि का इन्द्रियों से, विषय-वासनाओं से तथा मानव-कर्म से हटकर उस परम में, उस एकमेवाद्वितीय अकर्ता पुरुष में, उस अचल निराकार ब्रह्म में लगना ही ज्ञान का सनातन बीज है। यहाँ कर्म के लिये कोई स्थान नहीं, क्योंकि कर्म अज्ञान के हैं; कर्म ज्ञान से सर्वथा विपरीत हैं; कर्म का बीज है कामना और उसका फल है बंधन—यही कट्टर दार्शनिक मत है और श्रीकृष्ण भी इसे स्वीकार करते हुए मालूम होते हैं, जब वे कहते हैं कि कर्म बुद्धियोग के सामने बहुत ही नीचा है। और फिर भी जोर देकर यह कहा जाता है कि योग के अंग के रूप में कर्म करना होगा; इस तरह इस शिक्षा में एक मूलगत परस्पर-विरोध देख पड़ता है। इतना ही नहीं; क्योंकि ज्ञान की अवस्था में भी कुछ काल तक किसी प्रकार का कोई कर्म बना रह सकता है, ऐसा कर्म जो कम-से-कम हो, अत्यंत निर्दोष हो; पर यहाँ जो कर्म बताया जा रहा है वह तो ज्ञान के, सौम्यता के और स्वांतःसुखी जीव की

अचल शान्ति के सर्वथा विरुद्ध है—यह कर्म तो एक भयानक, यहाँतक कि राक्षसी कर्म है, खून-खराबे से भरा हुआ संघर्ष है, एक निर्दय संग्राम है, एक दानवी हत्याकांड है। फिर भी इसी कर्म का यहाँ विधान किया जा रहा है और अंतःस्थ शान्ति और निष्काम समता तथा ब्राह्मी स्थिति की शिक्षा से इसका समर्थन किया जा रहा है! यह ऐसा परस्पर-विरोध है जिसका अभी मेल नहीं मिला है। अर्जुन इस बात का उलहना देता है कि मुझे ऐसी शिक्षा दी जा रही है जिसमें सिद्धांतों का परस्पर-विरोध है और उससे बुद्धि बड़े असमंजस में पड़ती है, ऐसा कोई स्पष्ट और सुनिश्चित मार्ग नहीं दिखाया जा रहा, जिसपर चलकर मनुष्य की बुद्धि बिना इधर-उधर भटके सीधे परम कल्याण की ओर चली जाय। इसी आपत्ति का उत्तर देने के लिये गीता तुरत अपने निश्चित और अलंघनीय कर्म-सिद्धांत का अधिक स्पष्ट प्रतिपादन आरम्भ करती है।

गुरु पहले मोक्ष के उन दो साधनों का भेद स्पष्ट करते हैं जिन्हें मनुष्य इस लोक में अलग-अलग अपना सकते हैं, एक है ज्ञानयोग और दूसरा है कर्मयोग। साधारण मान्यता ऐसी है कि ज्ञानयोग कर्मों को मुक्ति का बाधक कहकर त्याग देता है और कर्मयोग इनको मुक्ति का साधन मानकर स्वीकार करता है। गुरु अभी इन दोनों को मिला देने पर, इन दोनों का विभाजन करनेवाले विचारों में मेल मिलाने पर बहुत अधिक जोर नहीं दे रहे हैं, बल्कि यहाँ इतनेसे आरम्भ करते हैं कि सांख्यों का कर्मसंन्यास न तो एकमात्र मोक्षमार्ग है और न कर्मयोग से उत्तम ही है। नैष्कर्म्य अर्थात् कर्मरहित शान्त शून्यता अवश्य ही वह अवस्था है जो पुरुष को प्राप्त करनी है; क्योंकि कर्म प्रकृति के द्वारा होता है और पुरुष को सत्ता की कर्मण्यताओं में लिप्त होने की अवस्था से ऊपर उठकर उस शान्त कर्मरहित अवस्था और समस्थिति में पहुँचना होगा जहाँसे वह प्रकृति के कर्मों का साक्षित्व तो कर सके, पर उनसे प्रभावित न हो। पुरुष का नैष्कर्म्य तो यथार्थ में यही है, प्रकृति के कर्मों का बन्द हो जाना नहीं। इसलिए यह समझना भूल है कि किसी प्रकार का कर्म न करने से ही नैष्कर्म्य अवस्था को पाया और भोगा जा सकता है। केवल कर्मों का संन्यास तो मुक्ति का पर्याप्त, यहांतक कि एकदम उचित साधन भी नहीं है। "कर्म न करने से ही मनुष्य नैष्कर्म्य को नहीं प्राप्त होता, न केवल (कर्मों के) संन्यास से उसे सिद्धि ही प्राप्त होती है।"[1] यहां सिद्धि से मतलब है, योगसाधना के लक्ष्य की प्राप्ति।

पर कम-से-कम कर्मों का संन्यास एक आवश्यक, अनिवार्य और अलंघनीय साधन तो होगा ही? यदि प्रकृति के कर्म होते रहें तो पुरुष के लिये यह कैसे संभव

---

१. ३-४

है कि वह उनमें लिप्त न हो ? यह कैसे संभव है कि मैं युद्ध भी करूँ और अपने अन्दर यह न समझूँ, यह न अनुभव करूँ कि मैं, अमुक व्यक्ति युद्ध कर रहा हूँ, न तो विजय-लाभ की इच्छा करूँ और न हारने पर अन्दर दुख ही हो। सांख्यों का यह सिद्धान्त है कि जो पुरुष प्रकृति के कर्मों में नियुक्त होता है, उसकी बुद्धि अहंकार, अज्ञान और काम में फँस जाती है और इसलिए वह कर्म में प्रवृत्त होती है। दूसरी ओर, बुद्धि यदि निवृत्त हो तो इच्छा और अज्ञान की समाप्ति होने से कर्म का भी अंत हो जाता है। इसलिए मोक्षमार्ग की साधना में संसार और कर्म का परित्याग एक आवश्यक अंग, अपरिहार्य अवस्था और अनिवार्य अंतिम साधन है। उस समय की विचार-पद्धति का यह आक्षेप—यद्यपि अर्जुन के मुख से यह बात बाहर नहीं हुई है, पर यह उसके मन में है, यह उसकी बाद की बातचीत से झलकता है—भगवान् गुरु ताड़ जाते हैं। वे कहते हैं कि नहीं, इस प्रकार के संन्यास का अनिवार्य होना तो दूर रहा, ऐसे संन्यास का होना ही संभव नहीं है। "कोई प्राणी एक क्षण के लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता ; प्रकृतिजात गुण हर किसी से बरबस कर्म कराते ही हैं।"[1] इस महान् विश्वकर्म का और विश्व-प्रकृति की शाश्वत कर्मण्यता और शक्ति का यह स्पष्ट और गभीर अनुभव गीता की एक विलक्षण विशेषता है। प्रकृति के इसी भाव पर तांत्रिक शाक्तों ने आगे चलकर बहुत जोर दिया, उन्होंने तो प्रकृति या शक्ति को पुरुष से भी श्रेष्ठ बना दिया। प्रकृति या शक्ति की महिमा का गीता में यद्यपि मृदु संकेतमात्र है, फिर भी, उसके ईश्वरवादी और भक्तिवादी तत्वों की शिक्षा के साथ मिलकर यह महिमा काफी बलवान् हो गयी है और इसने प्राचीन दार्शनिक वेदांत की शान्ति-कामी प्रवृत्ति का संशोधन कर अपने योगमार्ग में कर्म की उपयोगिता को सिद्ध कर दिया है। प्रकृति के जगत् में शरीरधारी मनुष्य एक क्षण के लिए, एक पल-विपल के लिए भी कर्म नहीं छोड़ सकता ; उसका यहाँ रहना ही एक कर्म है ; सारा विश्वब्रह्मांड ईश्वर का एक कर्म है, केवल जीना भी उसी की एक क्रिया है।

हमारा दैहिक जीवन, उसका पालन, उसकी निरवच्छिन्न स्थिति एक यात्रा है, एक शरीरयात्रा है, और कर्म के बिना वह पूरी नहीं हो सकती। परन्तु यदि कोई मनुष्य अपने शरीर को न पाले-पोसे, यों ही बेकार छोड़ दे, किसी वृक्ष-सा सदा चुप खड़ा रह जाय या पत्थर-सा अचल बैठा रहे तो भी इस वैटप या शैल अचलता से वह प्रकृति के हाथ से नहीं बच सकता ; प्रकृति के गुण-कर्म से उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। कारण केवल हमारे शरीर का चलना-फिरना और अन्य कर्म करना ही कर्म नहीं है, हमारा मानसिक जीवन भी तो एक बहुत

---

१. ३-५.

बड़ा जटिल कर्म है, बल्कि चंचला प्रकृति के कर्मों का यही बृहत्तर और महत्तर अंग है—हमारे बाह्य दैनिक कर्म का यही आंतरिक कारण और नियामक है। यदि हमने आंतरिक कारण की क्रिया को तो जारी रखा और उसके फलस्वरूप होनेवाले बाह्य कर्म का निग्रह किया तो इससे कोई लाभ नहीं। इन्द्रियों के विषय हमारे बंधन के केवल निमित्त-कारण हैं, असल कारण तो मन का तद्विषयक आग्रह है। मनुष्य चाहे तो कर्मेन्द्रियों का नियमन कर सकता है और उन्हें उनकी स्वाभाविक कर्मक्रीड़ा से रोक सकता है, पर यदि उसका मन इन्द्रियों के विषयों का ही स्मरण और चिंतन करता रहे तो ऐसे संयम और दमन से कोई लाभ नहीं। ऐसा मनुष्य तो आत्म-संयम को कुछ-का-कुछ समझकर अपने-आपको भ्रम में डालता है; वह न तो संयम के उद्देश्य को समझता है न उसकी वास्तविकता को, न अपने अंतःकरण के मूल तत्वों को ही; इसलिए संयम के संबंध में उसके सब प्रयत्न मिथ्या और व्यर्थ हो जाते हैं और वह मिथ्याचारी[1] कहलाता है। शरीर के कर्म, और मन से होनेवाले कर्म भी अपने-आपमें कुछ नहीं हैं, न वे बंधन हैं न बंधन के मूल कारण ही। मुख्य बात है प्रकृति की वह प्रबल शक्ति जो मन, प्राण और शरीर के महान् क्षेत्र में अपनी ही चलायेगी, वह अपने ही रास्ते चलेगी : उसमें खतरनाक चीज है त्रिगुण की वह ताकत जिससे बुद्धि मोहित होती और भरमती है और इस तरह आत्मा को आच्छादित करती है। आगे चलकर हम देखेंगे कि कर्म और मोक्ष के संबंध में गीता का सारा रहस्य यही है। त्रिगुण के व्यामोह और व्याकुलता से मुक्त हो जाओ, फिर कर्म हुआ करे, क्योंकि वह तो होता ही रहेगा; फिर वह कर्म चाहे जितना भी विशाल हो, समृद्ध हो या कैसा भी विकट और भीषण हो, उसका कुछ महत्व नहीं, क्योंकि तब पुरुष को उसकी कोई चीज छू नहीं सकती, जीव नैष्कर्म्य की अवस्था को प्राप्त हो चुकता है।

परन्तु इस बृहत्तर तत्व का गीता अभी तुरत वर्णन नहीं कर रही है। जब मन ही कारण है, अकर्म जब असंभव है, तब यही युक्ति-संगत, आवश्यक और उचित है कि आंतर और बाह्य कर्मों को संयम के साथ किया जाय। मन को चाहिए कि ज्ञानेन्द्रियों को मेधावी संकल्प के यंत्र के रूप में अपने वश में करे और कर्मेन्द्रियों को उनके उचित कर्म में लगाये, लेकिन ऐसे कर्म में जो योग के रूप में किया जाय। पर इस आत्मसंयम का सारतत्व क्या है, कर्मयोग का अभिप्राय

१. मेरे विचार में मिथ्याचारी का अर्थ पाखण्डी नहीं हो सकता। जो अपने शरीर को इतने क्लेश पहुंचाता और भूखों मार डालता है वह पाखण्डी कैसे हो सकता है? वह भूला हुआ है, भ्रम में है, 'विमूढात्मा' है और उसका आचार मिथ्या और व्यर्थ है, अवश्य ही गीता का यहां यही अभिप्राय है।

क्या है ? कर्मयोग का अभिप्राय है अनासक्ति ; कर्म करना, पर मन को इन्द्रियों के विषयों से और कर्मों के फल से अलिप्त रखना। संपूर्ण अकर्म नहीं, संपूर्ण अकर्म तो भ्रम है, मन की उलझन है, आत्मप्रवंचन है और असंभव है, बल्कि वह कर्म जो पूर्ण और स्वतंत्र हो, इन्द्रियों और आवेशों के वश होकर न किया गया हो—ऐसा निष्काम और आसक्तिरहित कर्म ही सिद्धि का प्रथम रहस्य है। इस प्रकार भगवान् कहते हैं कि नियत कर्म करो, "**नियतं कुरु कर्म त्वं**"। मैंने यह कहा है कि ज्ञान, बुद्धि, कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है, "**ज्यायसी कर्मणो बुद्धिः**" ; पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि कर्म से अकर्म श्रेष्ठ है, श्रेष्ठ तो अकर्म की अपेक्षा कर्म ही है, "**कर्म ज्यायो अकर्मणः**"। कारण ज्ञान का अर्थ कर्म का संन्यास नहीं है, ज्ञान का अर्थ है समता, तथा वासना और इन्द्रियों के विषयों से अनासक्ति। और इसका अर्थ है बुद्धि का उस आत्मा में स्थिर-प्रतिष्ठ होना जो स्वतंत्र है, प्रकृति के निम्न कर्मों के बहुत ऊपर है और वहीं से मन, इन्द्रियों और शरीर के कर्मों को आत्मज्ञान की तथा आध्यात्मिक अनुभूति के विशुद्ध निर्विषय आत्मानंद की शक्ति द्वारा नियत करता है। इस प्रकार से जो कर्म नियत होता है, वही "**नियतं कर्म**"[1] है। बुद्धियोग कर्म द्वारा परिपूर्ण होता है, आत्म-मुक्ति को देनेवाला बुद्धियोग निष्काम कर्मयोग द्वारा सार्थक होता है। निष्काम कर्म की आवश्यकता का यह सिद्धांत गीता प्रस्थापित करती है, और सांख्यों की ज्ञान-साधना को—मात्र बाह्य विधि का परित्याग करके—योग की साधना के साथ एक करती है।

परन्तु फिर भी एक मूलगत समस्या का अभीतक समाधान नहीं हुआ। मनुष्यों के जितने भी कर्म हैं वे सभी किसी-न-किसी कामना से प्रेरित हुआ करते हैं और इसलिए यह कहना पड़ता है कि पुरुष यदि कामना से मुक्त हो जाय तो फिर

---

१. 'नियतं कर्म' का आजकल जो अर्थ लगाया जाता है, मैं उसे नहीं मान सकता। नियतं कर्मका अर्थ बंधे-बंधाये और वैध कर्म अर्थात् वेदोक्त याज्ञिक आनुष्ठानिक नित्यकर्म और दिनचर्या नहीं है। निश्चय ही पिछले श्लोक के 'नियम्य' शब्द का तात्पर्य लेकर ही इस श्लोक में 'नियत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। भगवान् पहले एक वर्णन करते हैं, "जो कोई मन से इन्द्रियों का नियमन करके कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मयोग करता है, वह श्रेष्ठ है (मनसा नियम्य आरभते कर्मयोगम्) और यह कहकर फिर तुरत इसी कथन से, इसीके सारांशस्वरूप इसी को विधि बनाते हुए यह आज्ञा देते हैं कि "तू नियत कर्म कर (नियतं कुरु कर्म त्वं)"—'नियतं' शब्द में "नियम्य" को लिया गया है और "कुरु कर्म" शब्द में "आरभते कर्मयोगम्" को। यहां किसी बाह्य विधि द्वारा निश्चित वैध कर्म की बात नहीं है, बल्कि गीता की शिक्षा है मुक्त बुद्धि द्वारा नियत किया हुआ निष्काम कर्म।

उसके लिए कर्म का प्रेरक कोई कारण नहीं रहता। हो सकता है कि शरीर की रक्षा के लिए फिर भी हमें कुछ-न-कुछ कर्म करना पड़े, पर यह भी शरीरसंबंधी वासना की एक अधीनता हुई और यदि हमें सिद्धि प्राप्त करनी है तो ऐसी वासना से भी मुक्त होना होगा। परन्तु यदि हम यह मान लें कि ऐसा नहीं किया जा सकता, तो फिर एक ही रास्ता रह जाता है कि हम कर्म का कोई ऐसा नियम मान लें जो हमारे बाहर हो और हमारे अंत:करण की किसी चीज से परिचालित न होता हो, अर्थात् जो मुमुक्षु है वह वैदिक नित्यकर्म, आनुष्ठानिक यज्ञ, दैनंदिन कर्म, सामाजिक कर्तव्य आदि किया करे और इन सबको केवल इसलिए करे कि यह शास्त्र की आज्ञा है तथा इनमें वह न तो कोई वैयक्तिक हेतु रखे और न आंतरिक रस ले, वह जो कुछ करे सर्वथा उदासीन रहकर करे, प्रकृति के वश होकर नहीं, बल्कि शास्त्र का आदेश समझकर। परन्तु यदि कर्मतत्व इस प्रकार बाहर की कोई चीज न होकर अंत:करण की वस्तु हो, यदि मुक्त और ज्ञानी पुरुषों के कर्म भी उनके स्वभाव से ही नियत और निश्चित होते हों, **"स्वभावनियतं"**, तब तो वह आंतरिक तत्व एकमात्र कामना ही हो सकती है, फिर वह कामना चाहे कैसी भी हो—चाहे वह शरीर की लालसा हो या हृदय का भावावेग या मन का कोई क्षुद्र या महान् ध्येय—पर होगी प्रकृति के गुणों के अधीन कामना ही। यदि यह मान लिया जाय तो गीता के नियत कर्म को वेदविहित नित्यकर्म और उसके 'कर्तव्य कर्म' को सामाजिक आर्य धर्म समझना होगा और उसके 'यज्ञार्थ कर्म' को वैदिक यज्ञ, एवं नि:स्वार्थ भाव से तथा बिना किसी वैयक्तिक उद्देश्य के किया हुआ बंधा-बंधाया सामाजिक कर्तव्य मानना होगा। लोग गीता के नि:स्वार्थ कर्म की बहुधा इसी तरह की व्याख्या किया करते हैं। परन्तु मुझे लगता है कि गीता की शिक्षा इतनी अनगढ़ और सहज नहीं है, इतनी देशकालमर्यादित और लौकिक तथा अनुदार नहीं है। गीता की शिक्षा उदार, स्वतंत्र, सूक्ष्म और गंभीर है ; सब काल और सब मनुष्यों के लिये है, किसी खास समय और देश के लिये नहीं। गीता की यह विशेषता है कि यह सदा बाहरी आकारों, ब्योरों और सांप्रदायिक धारणाओं के बंधनों को तोड़कर मूल सिद्धान्तों की ओर तथा हमारे स्वभाव और हमारी सत्ता के महान् तथ्यों की ओर अपना रुख रखती है। गीता व्यापक दार्शनिक सत्य और आध्यात्मिक व्यावहारिकता का ग्रंथ है, अनुदार सांप्रदायिक और दार्शनिक सूत्रों और बँधे-बँधाये मतवादों का ग्रंथ नहीं।

परन्तु कठिनाई यह है कि हमारा वर्तमान स्वभाव, और कर्मों के प्रेरक तत्व कामना के होते हुए निष्काम कर्म संभव है क्या ? जिसे हम साधारणतया नि:स्वार्थ कर्म कहते हैं वह यथार्थ में निष्काम नहीं होता, उसमें छोटे-मोटे वैयक्तिक स्वार्थ

की जगह दूसरी बृहत्तर वासनाएँ होती हैं, उदाहरणार्थ, पुण्य-संचय, देश-सेवा, मानव-समाज की सेवा। फिर कर्म मात्र ही, जैसा कि भगवान् आग्रह-पूर्वक कहते हैं, प्रकृति के गुणों द्वारा ही हुआ करता है ; शास्त्र के अनुकूल आचरण करते हुए भी हम अपने स्वभाव के ही अनुकूल कर्म करते हैं। प्रायः शास्त्रोक्त कर्म के पीछे हमारी इच्छाएँ, पूर्वनिश्चित मत, आवेश, अहंकार, वैयक्तिक, राष्ट्रीय और सांप्रदायिक अभिमान, मत और अनुराग छिपे होते हैं। यदि, मान लीजिये, ऐसा न भी हो और अत्यंत विशुद्ध भाव से ही शास्त्रोक्त कर्म किया जाय तो भी ऐसे कर्म में हम अपनी प्रकृति की पसंद का ही अनुसरण करते हैं, क्योंकि यदि हमारी प्रकृति ऐसे कर्म के अनुकूल न होती, यदि हमारी बुद्धि और हमारे संकल्प पर गुणों के किसी दूसरे संघात की क्रिया हुई होती तो हम शास्त्रोक्त कर्म करने की ओर कदापि न झुकते, बल्कि अपनी मौज या अपनी बुद्धि की धारणा के अनुसार ही अपना जीवन व्यतीत करते अथवा सामाजिक जीवन का त्याग कर एकांतवास करते या संन्यासी हो जाते। अस्तु, अपने-आपसे बाहर का कोई विधान मानने से ही हम नैर्व्यक्तिक नहीं हो सकते, कारण इस प्रकार हम अपने-आपसे बाहर नहीं हो सकते। यह काम हम केवल अपने अन्दर उच्चतम तत्व को प्राप्त करके ही कर सकते हैं, अर्थात् हमें अपनी नित्यमुक्त अंतरात्मा और जीवात्मा को प्राप्त करना होगा, जो सबके अन्दर एक ही है और इसलिए इसका कोई निजी स्वार्थ नहीं होता, और फिर हमें अपनी सत्ता में जो भगवान् हैं उन्हें प्राप्त करना होगा, क्योंकि भगवान् अपनी विश्वातीत महिमा में नित्यप्रतिष्ठ होने के कारण अपने विश्वकर्मों और अपनी व्यक्तिगत क्रियाओं से बँधे हुए नहीं हैं—जब हम यह कर सकेंगे तभी अपने नैर्व्यक्तिक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकेंगे। यही गीता की शिक्षा है और निष्कामता इस नैर्व्यक्तिक अवस्था को प्राप्त करने का एक साधन है, स्वयं साध्य नहीं। माना, पर यह हो कैसे ? सभी कामों को केवल यज्ञ के उद्देश्य से करके, यही है भगवान् का उत्तर। "यज्ञार्थ कर्म को छोड़कर जो कर्म किये जाते हैं उनसे यह मनुष्यलोक कर्म में बंधा है ; हे कुंतीसुत, तू आसक्ति से मुक्त होकर यज्ञ के लिये कर्म कर।" यह स्पष्ट है कि केवल यज्ञ-याग और सामाजिक कर्तव्य ही नहीं, बल्कि सभी कर्म इस भाव से किये जा सकते हैं। कोई भी कर्म संकुचित या संवर्धित अहंभाव से किया जा सकता या फिर भगवान् के लिए किया जा सकता है। प्रकृति की सारी सत्ता और सारा कर्म भगवान् के लिए ही है ; भगवान् से ही उसका उद्भव होता है, भगवान् से ही उसकी स्थिति है और भगवान् की ओर ही उसकी गति है। पर जबतक हम अहं-भाव के अधीन हैं तबतक इस सत्य को नहीं जान सकते, न सत्य के इस भाव के साथ

कर्म कर सकते हैं, तबतक हमारा सारा कर्म अहंभाव से, अहंकार की तुष्टि के लिए अर्थात् यज्ञ के विपरीत भाव से, "यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र", ही हुआ करता है। यह अहंकार के बंधन की गाँठ है। अहंकार को छोड़कर, भगवत्-प्रीत्यर्थ कर्म करने से यह गाँठ ढीली पड़ जाती है और अंत में हम मुक्त हो जाते हैं।

जो हो, आरम्भ में गीता ने यज्ञ के वेदोक्त भाव को ही लिया है और उस समय प्रचलित वैदिक परिपाटी के अनुसार ही यज्ञ के विधान का वर्णन किया है। ऐसा करने का एक विशिष्ट हेतु है। हम लोग देख चुके हैं कि संन्यास और कर्म में जो झगड़ा है उसके दो रूप हैं; एक सांख्य और योग का विरोध जिसका सिद्धांततः समन्वय इससे पहले किया जा चुका है और दूसरा वेदवाद और वेदांतवाद का विरोध जिसका गुरु को अभी समन्वय करना है। इस विरोधविषयक पहले वर्णन में श्रीकृष्ण ने कर्म को सर्वसाधारण और व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। सांख्य इस सिद्धांत को मानकर चलता है कि अक्षर और अकर्ता पुरुष की स्थिति ही परा स्थिति है और वास्तव में प्रत्येक जीव यही है, तथा पुरुष का नैष्कर्म्य और प्रकृति की कर्मण्यता दोनों परस्पर विरोधी तत्व हैं। अतएव सांख्य-सिद्धांत का कर्म की समाप्ति में पर्यवसान होना न्यायसंगत ही है। दूसरी ओर, योगमार्ग का निरूपण आरम्भ होता है उन भगवान् की धारणा के साथ जो ईश्वर हैं, प्रकृति के कर्मोंके स्वामी हैं, इसलिए उनके परे हैं, अतएव योगमार्ग का मुक्तिसंगत पर्यवसान कर्म की समाप्ति में नहीं, बल्कि आत्मा की श्रेष्ठता और समस्त कर्म करते हुए भी उसकी मुक्तावस्था में होता है। वेदवाद और वेदांतवाद के बीच जो विरोध है उसमें कर्म वैदिक कर्मों में ही परिसीमित हैं और कहीं-कहीं तो कर्म का अभिप्राय वैदिक यज्ञ और श्रौतकर्मों से ही है, बाकी सब कर्मों को मुक्तिमार्ग के लिये अनुपयुक्त कहकर छोड़ दिया गया है। मीमांसकों के वेदवाद ने इन कर्मों को मुक्ति का साधन मानकर इनपर जोर दिया और वेदांतवाद ने उपनिषदों पर आधार रखते हुए इनको केवल प्राथमिक अवस्था के लिए ही स्वीकार किया और वह भी यह कहकर कि कर्म अज्ञान की अवस्था के हैं और अंत में इनका अतिक्रमण और त्याग ही करना होगा, क्योंकि मुमुक्षु के लिये कर्म बाधक हैं। वेदवाद यज्ञ के साथ देवताओं की पूजा करता और इन देवताओं को वे शक्तियाँ मानता है जो हमारी मुक्ति की सहायक हैं। वेदांतवाद के मत से ये सब देवता मानसिक और जड़प्राकृतिक जगत् की शक्तियाँ हैं और हमारी मुक्ति में बाधक हैं (उपनिषदें कहती हैं कि मनुष्य देवताओं के ढोर हैं और देवता यह नहीं चाहते कि मनुष्य ज्ञानवान् और मुक्त हों); इसने भगवान् को अक्षर ब्रह्म

के रूप में देखा है और इसके अनुसार हम ब्रह्म को यज्ञकर्मों और उपासना-कर्मों के द्वारा नहीं, बल्कि ज्ञान द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। वेदांतवाद के मत से कर्म केवल भौतिक फल और निम्न कोटि का स्वर्ग देनेवाले हैं ; इसलिए कर्मों का त्याग करना ही होगा।

गीता इस विरोध का समाधान इस सिद्धांत के प्रतिपादन से करती है कि ये देवता एक ही देव के, ईश्वर के, सब योगों, उपासनाओं, यज्ञों और तपों के परमेश्वर के ही केवल अनेक रूप हैं, और यदि यह सच है कि देवताओं को दिया हुआ हव्य भौतिक फल और स्वर्ग को देनेवाला है, तो यह भी सच है कि ईश्वर-प्रीत्यर्थ किया हुआ यज्ञ इनसे परे ले जानेवाला और महान् मोक्ष देनेवाला होता है। क्योंकि परमेश्वर और अक्षर ब्रह्म दो अलग-अलग सत्ताएँ नहीं हैं, बल्कि दोनों एक ही हैं और इसलिए जो कोई इनमें से किसीको भी पाने की कोशिश करता है वह उसी एक भागवत सत्ता को पाने की कोशिश करता है। समस्त कर्म ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं, **"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते"**। कर्म बाधा नहीं हैं, बल्कि परम ज्ञान के साधन हैं। इस प्रकार इस विरोध का भी यज्ञ शब्द के अर्थ को व्यापक दृष्टि से सुस्पष्ट करके समाधान किया गया है। यथार्थ में यह विरोध योग और सांख्य का जो बड़ा विरोध है उसीका संक्षिप्त रूप है ; वेदवाद योग का ही एक विशिष्ट और मर्यादित रूप है ; और वेदांतियों का सिद्धांत हू-ब-हू सांख्यों के सिद्धांत जैसा ही है, क्योंकि दोनों के लिए ही मोक्ष प्राप्त करने की साधना है बुद्धि का प्रकृति की भेदात्मक शक्तियों से, अहंकार, मन और इन्द्रियों से तथा आंतरिक और बाह्य विषयों से निवृत्त होकर निर्विशेष और अक्षर पुरुष में वापस लौट आना। विभिन्न मतों का समन्वय साधन करने की इस बात को ध्यान में रखकर ही भगवान् गुरु ने यज्ञविषयक अपने सिद्धांत के कथन का उपक्रम किया है ; परन्तु इस संपूर्ण कथन में सर्वत्र, यहां-तक कि एकदम आरंभ से ही, उनका ध्यान यज्ञ और कर्म के मर्यादित वैदिक अर्थ पर नहीं, बल्कि उनकी उदार और व्यापक व्यवहार्यता पर रहा है—गीता की दृष्टि सदा इन मतों की मर्यादित और बाह्य धारणाओं को विस्तृत करने और इन्होंने जिन महान् बहुप्रचलित सत्यों को सीमित रूप दे रखा है उन्हें उनके सत्य स्वरूप में प्रकट करने पर रही है।

यज्ञ-रहस्य

गीता की यज्ञसंबंधी परिकल्पना का वर्णन दो अलग-अलग स्थलों में हुआ है ; एक तीसरे अध्याय में और दूसरा चौथे अध्याय में ; पहला वर्णन ऐसा है कि यदि हम उसीको देखें तो ऐसा मालूम होगा कि गीता केवल आनुष्ठानिक यज्ञ की बात कह रही है ; दूसरा वर्णन उसीको बहुत व्यापक दार्शनिक अर्थ का प्रतीक बनाता है और इस प्रकार उसका अभिप्राय ही एकदम बदलकर उसे आंतरिक और आध्यात्मिक सत्य के एक ऊँचे क्षेत्र में ला बैठाता है। "पूर्वकाल में यज्ञ के साथ प्रजाओं की सृष्टि करके प्रजापति ने कहा, इससे तुम लोग वृद्धि-लाभ करो, यह तुम्हारी सब इच्छाओं को पूर्ण करनेवाला हो। इससे तुम लोग देवताओं का पोषण करो और देवता तुम्हारा पालन-पोषण करें ; परस्पर पालन-पोषण करते हुए तुम लोग परम श्रेय को प्राप्त होओगे। यज्ञ से पुष्ट होकर देवता तुम्हें इष्ट-भोग प्रदान करेंगे ; जो उनके दिये हुए भोगों को भोगता है और उन्हें नहीं देता, वह चोर है। जो श्रेष्ठ पुरुष यज्ञ से बचे हुए अन्न का भक्षण करते हैं वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं ; परन्तु वे पापी हैं और वे पाप ही भक्षण करते हैं जो अपने ही लिए रसोई बनाते हैं। अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा से होता है, वर्षा यज्ञ से होती है, यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है ; कर्म को यह समझो कि ब्रह्म से उत्पन्न होता है और ब्रह्म की उत्पत्ति अक्षर से है ; इसलिए सर्वगत ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित है। इहलोक में जो कोई इस प्रकार चलाये हुए चक्र के पीछे नहीं चलता, उसका जीवन पापमय है, वह इन्द्रियों में रमता है ; हे पार्थ, वह व्यर्थ ही जीता है।" इस प्रकार यज्ञ की आवश्यकता बतला-कर—अवश्य ही हमें आगे चलकर यह देखना है कि यहाँ यज्ञ का जो वर्णन है जो प्रथम दृष्टि में कर्मकांड-संबंधी परंपरागत मान्यता और आनुष्ठानिक हवन करने की आवश्यकता का ही निर्देश करता हुआ प्रतीत होता है उसे हम लोग और किस व्यापक अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं—श्रीकृष्ण आगे यह बतलाते हैं कि इन कर्मों की अपेक्षा उस आत्मा में स्थित पुरुष श्रेष्ठ है। "जिस पुरुष की रति आत्मा में ही है, जो आत्मा से ही तृप्त है, आत्मा में ही संतुष्ट है, उसके लिए ऐसा

कोई कर्म नहीं जिसका करना आवश्यक हो। उसे न तो कृत कर्म से कुछ पाना है न अकृत कर्म से कुछ लेना है; उसे किसी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए इन सब भूतों पर निर्भर नहीं करना है।"

ये दो विभिन्न आदर्श हैं, दोनों मानो अपने मूलगत परस्पर-पार्थक्य और विरोध को लिये हुए खड़े हैं। एक है वैदिक आदर्श और दूसरा है वैदांतिक आदर्श; एक है यज्ञ के द्वारा और मनुष्यों तथा देवताओं के परस्पर-अवलंबन के द्वारा इहलोक में ऐहिक भोग और परलोक में परम श्रेय की प्राप्ति का सक्रिय आदर्श, और उसीके सामने दूसरा है उस मुक्त पुरुष का कठोरतर आदर्श जो आत्मा के स्वातंत्र्य में स्थित है और इसलिये जिसे भोग से या कर्म से अथवा मानव-जगत् से या दिव्य जगत् से कुछ भी मतलब नहीं, जो परम आत्मा की शांति में निवास करता और ब्रह्म के प्रशांत आनन्द में रमण करता है। इसके आगे के श्लोक इन दो चरम पंथों के बीच समन्वय साधन करने के लिये जमीन तैयार करते हैं; इस समन्वय का रहस्य यह है कि उच्चतर सत्य की ओर झुकने के साथ ही जिस वृत्ति का ग्रहण इष्ट है वह अकर्म नहीं, बल्कि निष्काम कर्म है जो उस सत्य की उपलब्धि के पहले और पीछे भी वांछनीय है। मुक्त पुरुष को कर्म से कुछ लेना नहीं है, पर अकर्म से भी उसे कोई लाभ नहीं उठाना है; उसे कर्म और अकर्म में से किसी एक को अपने ही लाभ या हानि की दृष्टि से पसन्द नहीं करना है। "इसलिये अनासक्त होकर सतत कर्तव्य कर्म करो (संसार के लिए, लोक-संग्रह के लिए, जैसा कि आगे उसी सिलसिले में स्पष्ट किया गया है); क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करने से पुरुष परम को प्राप्त होता है। कर्म के द्वारा ही जनक आदि ने सिद्धि लाभ की।" यह सच है कि कर्म और यज्ञ परम श्रेय के साधक हैं, "**श्रेयः परमवाप्स्यथ**"; परन्तु कर्म तीन प्रकार के होते हैं; एक वह जो यज्ञ के बिना वैयक्तिक सुख-भोग के लिए किया जाता है, ऐसा कर्म सर्वथा स्वार्थ और अहंकार से भरा होता है और जीवन के वास्तविक धर्म, ध्येय और उपयोग से वंचित रहता है, "**मोघं पार्थ स जीवति**"; दूसरा वह कर्म जो होता तो है कामना से ही पर यज्ञ के साथ, और इसका भोग केवल यज्ञ के फल-स्वरूप ही होता है, इसलिए उस हद तक यह कर्म निर्मल और पवित्र है; तीसरा वह कर्म जिसमें कोई कामना या आसक्ति नहीं होती। इसी अंतिम कर्म से जीव परम को प्राप्त होता है, "**परमाप्नोति पुरुषः**"।

यज्ञ, कर्म और ब्रह्म, इन शब्दों से जो अर्थ हम ग्रहण करें, उसी पर इस शिक्षा का संपूर्ण अर्थ और अभिप्राय निर्भर है। यदि यज्ञ का अर्थ केवल वैदिक यज्ञ ही हो, यदि जिस कर्म से इसका जन्म होता है वह

वैदिक कर्मविधि ही हो और यदि वह ब्रह्म जिससे समस्त कर्मों का उद्भव होता है वह वेदों की शब्दराशिरूप शब्दब्रह्म ही हो तो वेदवादियों के सिद्धान्त की सब बातें स्वीकृत हो जाती हैं और कुछ बाकी नहीं रहता। आनुष्ठानिक यज्ञ संतति, संपत्ति और भोग की प्राप्ति का सम्यक् साधन है; इस यज्ञ का विधिपूर्वक संपादन करने से आदित्य-लोक से वृष्टि होती है और सुख-समृद्धि तथा वंश-विस्तार का होना निश्चित हो जाता है; मानव-जीवन देवताओं और मनुष्यों के बीच आदान-प्रदान का चिरंतन व्यापार है जिसमें मनुष्य देवताओं के दिये हुए भोग्य विषयों में से यज्ञाहुति के द्वारा देवताओं को अंश प्रदान करते हैं और इसके बदले देवता उन्हें संपन्न, सुरक्षित और संवर्द्धित करते हैं। इसलिए समस्त मानव-कर्मों को आनुष्ठानिक यज्ञों और विधिवत् पूजनों के साथ करना होगा और उन्हें धर्म-संस्कार मानना होगा; जो कर्म इस प्रकार देवताओं को अर्पित नहीं किया जाता, वह अभिशप्त होता है; पहले आनुष्ठानिक यज्ञ किये बिना और देवताओं को चढ़ाये बिना जो भोग भोगा जाता है वह पाप होता है। मोक्ष भी, परम श्रेय भी, आनुष्ठानिक यज्ञ से प्राप्त होता है। इसे कभी नहीं छोड़ना चाहिये। मुमुक्षु को भी आनुष्ठानिक यज्ञ करते रहना चाहिए, यद्यपि वह हो आसक्ति-रहित; आनुष्ठानिक यज्ञों और शास्त्रोक्त कर्मों को निःसंग होकर करने से ही जनक जैसों को आत्मसिद्धि और मुक्ति प्राप्त हुई।

स्पष्ट है कि गीता का यह अभिप्राय नहीं हो सकता; क्योंकि यह बाकी ग्रंथ के विरुद्ध होगा। यज्ञ शब्द की जो उद्बोधक व्याख्या चौथे अध्याय में की गयी है उसके बिना भी जो कुछ यहाँ कहा गया है उसीमें यज्ञ शब्द की व्यापकता का संकेत मिलता है। यहाँ कहा गया है कि यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है, कर्म ब्रह्म से, ब्रह्म अक्षर से; इसलिए सर्वगत ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित है। यहाँपर "इसलिए" शब्द का पूर्वापर संबंध और "ब्रह्म" शब्द की पुनरुक्ति का विशेष अर्थ है; इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस ब्रह्म से सब कर्म उत्पन्न होते हैं उस ब्रह्म को हमें प्रचलित वेदवादियों के शब्दब्रह्म के अर्थ में नहीं, बल्कि वेद का रूपकात्मक अर्थ करके सर्जनकारी शब्द को सर्वगत ब्रह्म के साथ, शाश्वत पुरुष के साथ, सब भूतों में जो एक आत्मा है उसके साथ तथा समस्त भूतों की क्रियाओं के अन्दर प्रतिष्ठित जो ब्रह्म है उसके साथ, एक समझना होगा। वेद है भगवद्विषयक ज्ञान—आगे चलकर एक अध्याय में श्रीकृष्ण कहेंगे कि मैं वह हूँ जो सब वेदों का वेद्य अर्थात् ज्ञातव्य तत्व है, "वेदेषु वेद्यः" पर उनके विषय का यह ज्ञान प्रकृति के द्वारा होनेवाले त्रिगुणात्मक कर्मों के अन्दर उनकी जो सत्ता है उसीका ज्ञान है, "त्रैगुण्य-

विषया वेदाः"। ऐसा कहा जा सकता है कि, प्रकृतिगत कर्मों में स्थित यह ब्रह्म या भगवत्तत्व, उस अक्षर ब्रह्म या पुरुष से उत्पन्न हुआ है जो निस्त्रैगुण्य है, प्रकृति के सब गुणों और गुण-कर्मों के ऊपर है। ब्रह्म एक है, पर उसकी आत्म-अभिव्यक्ति के दो पहलू हैं; एक है अक्षर पुरुष आत्मा और दूसरा सब भूतों में कर्मों का स्रष्टा और प्रवर्तक "**सर्वभूतानि**"; पदार्थमात्र की अचल सर्वस्थित आत्मा और पदार्थमात्र में होनेवाली चलत्-क्रिया का आध्यात्मिक तत्व; आत्मस्थित निष्क्रिय पुरुष और प्रकृतिस्थ सक्रिय पुरुष; ये ही ब्रह्म के दो भाव हैं, अक्षर और क्षर। इन दोनों ही भावों में पुरुषोत्तम अपने-आपको विश्व में अभिव्यक्त करते हैं; गुणों के परे जो अक्षर भाव है वही उनकी शान्ति की, आत्मवत्ता की और समता की स्थिति है, उसीको "**समं ब्रह्म**" कहते हैं; उसीसे प्रकृति के गुणों में और विश्व के सब कर्मों में उनका प्राकट्य होता है; प्रकृति में स्थित इन पुरुष से, इन सगुण ब्रह्म से ही मनुष्य में और सब भूतों में कर्म[1] की उत्पत्ति होती है; इस कर्म से ही यज्ञतत्व पैदा होता है। देवताओं और मनुष्यों के बीच द्रव्यों का आदान-प्रदान भी इसी तत्व पर चलता है, जैसा कि वर्षा और उससे होनेवाले अन्न का इसी क्रिया पर निर्भर करना और उनसे फिर प्राणियों का उत्पन्न होना दृष्टांत-स्वरूप बताया गया है। प्रकृति का सारा कर्म ही, अपने वास्तविक रूप में यज्ञ है और समस्त कर्म, यज्ञ और तप के भोक्ता सर्वभूत-महेश्वर श्रीभगवान् हैं "**भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वभूतमहेश्वरम्**"। और, इन भगवान् को जो सर्वगत हैं तथा यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित हैं, "**सर्वगतं नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितं**", जानना ही सच्चा वैदिक ज्ञान है।

परन्तु इन्हीं भगवान् को हम देवताओं के रूप से अर्थात् प्रकृतिस्थ परमेश्वर की शक्तियों के रूप से कर्म की कनिष्ठ कोटि में तथा इन शक्तियों और मानव-जीव के बीच होनेवाले सनातन परस्पर व्यवहार में भी जान सकते हैं। यह

---

१. कर्म, ब्रह्म, अक्षर इन शब्दों का यही वास्तविक अर्थ है, यह बात आठवें अध्याय के उपक्रम से भी स्पष्ट होती है जहां अक्षर (ब्रह्म), स्वभाव, कर्म, क्षरभाव, पुरुष, अधियज्ञ इन विश्व-तत्वों का विवरण है। अक्षर अचल अविनाशी आत्मा है; स्वभाव आत्म-तत्व है, वह अध्यात्मतत्व जो पुरुष की मूल प्रकृति, स्वयंभू—स्वयं होने की प्रकृति है और अक्षर ब्रह्म से ही इसको प्रवृत्ति है; कर्म की प्रवृत्ति उसी से होती है, यह कर्म सर्जन-कर्म अर्थात् विसर्ग है जिससे प्रकृति के सब भूत और भूतों के आंतर और बाह्य रूप निर्मित होते हैं; कर्म का फल, इस प्रकार, यह सारा क्षर भाव है जो स्वभाव से ही निकलकर प्रकृति के इन नानात्व को प्राप्त हुआ है; पुरुष आत्मा, जीव-भूत प्रकृति में भगवत्तत्व है, अधिदैवत है जिसकी उपस्थिति से ही कर्म की क्रिया अन्तःस्थित भगवान् के प्रति यज्ञ-स्वरूप होती है; अधियज्ञ ये ही गूढ़ाशय-स्थित भगवान् हैं जो यज्ञको ग्रहण करते हैं।

व्यवहार परस्पर आदान-प्रदान, परस्पर साहाय्य-संवर्द्धन और परस्पर के कार्यों का उन्नयन-रूप ऐसा व्यवहार है जिसमें मनुष्य उत्तरोत्तर परम श्रेय की प्राप्ति का अधिकाधिक पात्र होता है। वह इस व्यवहार के द्वारा यह जानने लगता है कि उसका जीवन प्रकृतिस्थ परमेश्वर के कर्म का एक अंशमात्र है, कोई ऐसा जीवन नहीं है जिसको वह अपने लिए ही धारण करे या बितावे। वह प्राप्त होनेवाले सुख और कामनाओं की पूर्ति को यज्ञ का फल और भगवान् के कार्य में लगे हुए देवताओं की देन जानता है। और, वह पापमय अहंकारपूर्ण स्वार्थ-परता के मिथ्या और दुष्ट भाव से प्रेरित होकर उन भोगों का पीछा करना छोड़ देता है और यह नहीं समझता कि ये भोग ऐसा श्रेय हैं जिसे उसे अपने बल के आधार पर जीवन से छीन लेना है और इसके लिए न तो प्रतिदान देना है न कृतज्ञ होना है। यह भाव ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह अपनी इच्छाओं को अपने अधीन करता है, जीवन और कर्मों का सारतत्व यज्ञ को ही जानकर उससे संतुष्ट होता और यज्ञावशेष को पाकर ही परितृप्त होता है, बाकी जो कुछ है उसे अपने जीवन और जगत्-जीवन के बीच परस्पर होनेवाले महान् और परम हितकर आदान-प्रदान पर स्वच्छंद रूप से न्योछावर कर देता है। जो कर्म के इस विधान के विरुद्ध चलता है और अपने ही वैयक्तिक पृथक् स्वार्थ की सिद्धि के लिए कर्म करता और फल भोगता है वह व्यर्थ ही जीता है ; वह जीवन के वास्तविक अर्थ और उद्देश्य और उपयोग तथा जीव की ऊर्ध्वगति से वंचित रहता है ; वह उस मार्ग पर नहीं है जो परम श्रेय की ओर ले जाता है। परन्तु परम श्रेय की प्राप्ति तब होती है जब यज्ञ देवताओं के लिए नहीं, बल्कि उन सर्वगत परमेश्वर के लिए किया जाता है जो यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं, देवता जिनके कनिष्ठ रूप और शक्तियाँ हैं, और जब यजमान अपने काम-भोगपरायण अहमात्मा को किनारे कर अपने व्यष्टिगत कर्तृत्वभाव को सब कर्मों की यथार्थ कर्त्री प्रकृति को तथा अपने भोग के भाव को प्रकृति के सब कर्मों के यथार्थ भोक्ता परमेश्वर, परमात्मा, जगदात्मा को, अर्पण कर देता है। वह उसी परम आत्मस्थिति में, अपने किसी व्यष्टिगत भोग में नहीं, अपना ऐकांतिक संतोष, परम तृप्ति और विशुद्ध आनन्द प्राप्त करता है ; उसे अब कर्म या अकर्म से कोई लाभ नहीं, वह किसी पदार्थ के लिए न देवताओं का आश्रित है न मनुष्यों का, वह किसी से किसी अर्थ की अभिलाषा नहीं करता ; क्योंकि वह स्वात्मानन्द से पूर्ण परितृप्त है ; परन्तु फिर भी वह केवल भगवान् के लिए, आसक्ति या कामना से रहित होकर यज्ञरूप से कर्म करता है। इस प्रकार वह समत्व को प्राप्त होता और प्रकृति के त्रिगुण से मुक्त निस्त्रैगुण्य हो जाता है। जब वह प्रकृति की कर्मधारा

में कर्म करता है तब भी उसकी आत्मा प्रकृति की अस्थिरता में नहीं, बल्कि अक्षर ब्रह्म की शांति में स्थित होती है। इस प्रकार यज्ञ परमपद की प्राप्ति में उसका साधन-मार्ग होता है।

इसके आगे जो कुछ कहा गया है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यज्ञ-संबंधी इस प्रकरण का यही अभिप्राय है अर्थात् कर्म का ध्येय लोक-संग्रह होना चाहिए, कर्म करनेवाली केवल प्रकृति ही है और भागवत पुरुष उन सब कर्मों का समान भर्ता है, तथा सब कर्म करते समय ही इस भागवत पुरुष को अर्पण करने होंगे—अंतःकरण से सब कर्मों का त्याग और फिर भी कर्मेन्द्रियों द्वारा उनका आचरण, यही यज्ञ की परिसमाप्ति है—तथा यह जो कहा गया कि सम और निष्काम बुद्धि से इस प्रकार जो कर्ममय यज्ञ किया जाता है उसका फल कर्मों के बंधनों से मुक्त होना है, ये सभी बातें इसी अभिप्राय को व्यक्त करनेवाली हैं। जो व्यक्ति जो कुछ मिल जाय उसीसे संतुष्ट और सफलता और असफलता में सम रहता है वह कर्म करके भी उसमें नहीं बँधता। जब कोई मुक्त अनासक्त पुरुष यज्ञार्थ कर्म करता है तो उसके समस्त कर्मों का लय हो जाता है, **"समग्रं प्रविलीयते"**, अर्थात् वह कर्म उसकी मुक्त, शुद्ध, सिद्ध, सम आत्मा पर अपना कोई बंधनकारक परिणाम या संस्कार नहीं छोड़ता। हमें इस प्रसंग को फिर से देखना होगा। इन श्लोकों के बाद ही गीता ने यज्ञ के अर्थ की विशद व्याख्या की है और वहाँ जिस भाषा का प्रयोग किया गया है उससे इस विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता कि यहाँ यज्ञसंबंधी वर्णन रूपकात्मक है और इस शिक्षा के द्वारा जिस यज्ञ को करने के लिए कहा गया है वह यज्ञ आंतरिक है। प्राचीन वैदिक पद्धति में सदा ही दो तरह का अर्थ रहा है, एक भौतिक और दूसरा मनोवैज्ञानिक, एक बाह्य और दूसरा रूपकात्मक, एक यज्ञ का बाह्य अनुष्ठान और दूसरा उसकी सब विधियों का आंतरिक आशय। परन्तु प्राचीन वैदिक योगियों की गूढ़ रहस्यमय रूपकात्मक भाषा को जो सर्वथा यथावत, अद्भुत, कवित्वमय और मनोवैज्ञानिक थी, इस समय तक लोग भूल चुके थे, इसलिए गीता में उसीके स्थान पर वेदांत और पश्चात्-कालीन योग के भाव को लेकर व्यापक, सर्वसामान्य और दार्शनिक भाषा का प्रयोग किया गया है। यज्ञ की अग्नि भौतिक अग्नि नहीं है, प्रत्युत ब्रह्माग्नि अथवा ब्रह्म की ओर जानेवाली ऊर्जा, आभ्यंतर अग्नि, यज्ञपुरोहित-स्वरूप अंतःशक्ति है जिसमें आहुति दी जाती है। अग्नि है आत्म-संयम या विशुद्ध इन्द्रिय-क्रिया अथवा राजयोग और हठयोग में समान रूप से प्रयुक्त प्राणायाम-साधन की प्राणशक्ति, अथवा अग्नि है आत्म-ज्ञानाग्नि, आत्मार्पणरूप यज्ञ की अग्निशिखा। यहाँ बताया गया है कि यज्ञ शिष्ट (यज्ञ से बचा हुआ भाग)

जो भक्षण किया जाता है वही अमृत है ; हम देखते हैं कि यहाँ भी कुछ-कुछ वेदों की रूपकात्मक भाषा है, जिसमें सोमरस को अमृत का भौतिक प्रतीक कहा जाता था—अमृत स्वयं वह दिव्य और अमरत्व देनेवाला आनन्द है जो यज्ञ से प्राप्त होता, देवताओं को चढ़ाया जाता और मनुष्यों द्वारा पान किया जाता है। इस यज्ञ में मनुष्य के (भौतिक या मनोवैज्ञानिक किसी भी शक्ति का कोई भी कर्म हव्य है जो उसके) द्वारा शारीरिक अथवा मानसिक क्रिया के रूप में देवताओं के लिए, अथवा देवाधिदेव के लिए, आत्मा के लिए अथवा विश्वसंचालक शक्तियों के लिए, अपनी ही उच्चतर सत्ता के लिए अथवा मानव-जाति और सर्वभूतों की अंतरात्मा के लिए उत्सर्ग की गयी हर क्रिया हव्य है।

यज्ञ का यह विस्तृत विवरण ही यज्ञ की एक ऐसी विशाल और व्यापक व्याख्या देता हुआ चलता है जिसमें यह स्पष्ट रूप से घोषणा की गयी है कि यज्ञ की क्रिया, यज्ञ की अग्नि, यज्ञ की हवि, यज्ञ का होता और यज्ञ का भोक्ता, यज्ञ का ध्येय और यज्ञ का उद्देश्य, सब कुछ ब्रह्म ही है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्म के द्वारा ब्रह्माग्नि में ही अर्पित है, ब्रह्मकर्म में समाधि के द्वारा ब्रह्म ही वह है जिसे पाना है। तो यह वही ज्ञान है जिससे युक्त होकर मुक्त पुरुष को यज्ञकर्म करना होता है। **"सोऽहं", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ब्रह्म एव पुरुषः"** प्राचीन काल में इन महान् वेदांत-वाक्यों में इसी ज्ञान की घोषणा हुई थी। यह समग्र एकत्व का ज्ञान है ; यह वह एक है जो कर्ता, कर्म और कर्मोद्देश्य के रूप से तथा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के रूप से प्रकट है। जिस विश्वशक्ति में कर्म की आहुति दी जाती है वह स्वयं भगवान् हैं ; आहुति की उत्सर्ग की हुई शक्ति भगवान् हैं ; जिस वस्तु की आहुति दी जाती है वह भगवान् का ही कोई रूप है, होता भी मनुष्य के अन्दर स्वयं भगवान् ही हैं ; क्रिया, कर्म, यज्ञ सब गतिशील कर्मशील भगवान् ही हैं ; यज्ञ के द्वारा गन्तव्य स्थान भी भगवान् ही हैं। जिस मनुष्य को यह ज्ञान है और जो इसी ज्ञान में रहता और कर्म करता है उसके लिए कोई कर्म बंधन नहीं बन सकता, उसका कोई कर्म वैयक्तिक और अहंकार-प्रयुक्त नहीं होता। दिव्य पुरुष ही अपनी दिव्य प्रकृति के द्वारा अपनी सत्ता में कर्म करता है, वह अपनी आत्म-चेतन विश्व-शक्ति की अग्नि में प्रत्येक पदार्थ की आहुति देता है ; और इस भगवत्-परिचालित गति और कर्म का लक्ष्य है जीव का, भगवान् के साथ एक होकर, भगवान् की स्थिति और चेतना के ज्ञान को प्राप्त करना और उनपर स्वत्व रखना। इस तत्व

को जानना, इसी एकत्व-साधक चेतना में रहना और कर्म करना ही मुक्त होना है।

किन्तु सभी योगी इस ज्ञान तक नहीं पहुँचते। "कुछ योगी दैव यज्ञ (देवताओं के प्रीत्यर्थ किये जानेवाले यज्ञ) करते हैं; कुछ और यज्ञ को यज्ञ के द्वारा ही ब्रह्माग्नि में हवन करते हैं।" दैव यज्ञ करनेवाले भगवान् की कल्पना, उनके रूपों और शक्तियों में करते हैं और विविध साधनों या धर्मों के द्वारा, अर्थात् कर्मसंबंधी सुनिश्चित विधि-विधान, आत्म-संयम और उत्सृष्ट कर्म के द्वारा उन्हें ढूँढ़ते हैं; और जो ब्रह्माग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ का हवन करनेवाले ज्ञानी हैं उनके लिये, यज्ञ का भाव है कि जो कुछ कर्म करें उसे सीधा भगवान् को अर्पण करना, अपनी सारी वृत्तियों और इन्द्रिय-व्यापारों को एकीभूत भागवत चैतन्य और शक्ति में निक्षिप्त कर देना ही एकमात्र साधन है, एकमात्र धर्म है। यज्ञ के साधन विविध हैं, हव्य भी नानाविध हैं। एक आत्म-नियंत्रण और आत्म-संयमरूप आंतरिक यज्ञ है जिससे उच्चतर आत्मवशित्व और आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। "कुछ अपनी इन्द्रियों को संयमाग्नि में हवन करते हैं, कुछ दूसरे इन्द्रियाग्नि में विषयों का हवन करते हैं, कुछ समस्त इन्द्रियकर्मों और प्राण-कर्मों का ज्ञानदीप्त आत्मसंयमयोगरूपी अग्नि में हवन करते हैं।" तात्पर्य, एक साधना यह है कि इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण तो किया जाता है, पर उस इन्द्रिय-व्यापार से मन को कोई क्षोभ नहीं होने दिया जाता, मन पर उसका कोई असर नहीं पड़ने दिया जाता, इन्द्रियाँ स्वयं ही विशुद्ध यज्ञाग्नि बन जाती हैं। फिर यह भी एक साधना है जिसमें इन्द्रियों को इतना स्तब्ध कर दिया जाता है कि अंतरात्मा अपने विशुद्ध, स्थिर और शांत रूप में मनःक्रिया के परदे के भीतर से निकलकर प्रकट हो जाता है। एक साधना यह है जिससे, आत्मस्वरूप का बोध होने पर, सब इन्द्रियकर्म और प्राणकर्म उस एक स्थिर प्रशांत आत्मा में ही ले लिये जाते हैं। सिद्धि का साधक योगी इस प्रकार जो यज्ञ करता है उसमें दी जानेवाली आहुति द्रव्यमय हो सकती है, जैसे भक्त लोग अपने इष्ट देव को पूजा चढ़ाते हैं; अथवा यह यज्ञ तपोयज्ञ भी हो सकता है, अर्थात् आत्म-संयम का वह तप जो किसी महत्तर उद्देश्य की सिद्धि के लिए किया जाय; अथवा राजयोगियों और हठयोगियों के प्राणायाम जैसा कोई योग भी हो सकता है। अथवा अन्य किसी भी प्रकार का योग-यज्ञ हो सकता है। इन सबका फल साधक के आधार की शुद्धि है; सब यज्ञ परम की प्राप्ति के साधन हैं।

इन विविध साधनों में मुख्य बात, जिसके होने से ही ये सब साधन बनते हैं, यह है कि निम्न प्रकृति की क्रियाओं को अपने अधीन करके, कामना के प्रभुत्व को

घटाकर उसके स्थान पर किसी महती शक्ति को प्रतिष्ठित करके अहमात्मक भोग को त्यागकर उस दिव्य आनन्द का आस्वादन किया जाय जो यज्ञ से, आत्मोत्सर्ग से, आत्म-प्रभुत्व से, अपने निम्न आवेगों को किसी महत्तर ध्येय पर न्योछावर करने से प्राप्त होता है। "जो यज्ञावशिष्ट अमृत भोग करते हैं वे ही सनातन ब्रह्म को लाभ करते हैं, **"यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्"**। यज्ञ ही विश्व का विधान है, यज्ञ के बिना कुछ भी हासिल नहीं हो सकता, न इस लोक में प्रभुत्व प्राप्त हो सकता है, न परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति ही हो सकती है—'जो यज्ञ नहीं करता उसके लिये यह लोक भी नहीं है, परलोक की तो बात ही क्या, **"नायं लोकोऽस्ति अयज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम"** ? इसलिए ये सब यज्ञ और अन्य अनेक प्रकार के यज्ञ ब्रह्म के मुख में विस्तृत हुए हैं—उस अग्नि के मुख में जो सब हव्यों को ग्रहण करता है। ये सब कर्म में प्रतिष्ठित उसी एक महान् सत् के साधन और रूप हैं, जिन साधनों के द्वारा मानव-जीव का कर्म उसी तत् को समर्पित होता है। मानव-जीव का बाह्य जीवन भी उसी तत् का एक अंश है और उसकी अंतरतम सत्ता उसके साथ एक है। ये सब साधन या यज्ञ 'कर्मज' हैं, सब भगवान् की उसी एक विशाल शक्ति से निकले, उसी एक शक्ति द्वारा निर्दिष्ट हुए हैं जो विश्वकर्म में अपने-आपको अभिव्यक्त करती और इस विश्व के समस्त कर्म को उसी एक परमात्मा परमेश्वर का क्रमशः बढ़ता हुआ नैवेद्य बनाती है जिसकी चरम अवस्था, मानव-प्राणी के लिए आत्म-ज्ञान की या भागवत चेतना की या ब्राह्मी चेतना की प्राप्ति है। "ऐसा जानकर तू मुक्त होगा—**एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे**।"

परन्तु यज्ञ के इन विभिन्न रूपों में उतरती-चढ़ती श्रेणियाँ हैं, जिनमें सबसे नीची श्रेणी है द्रव्यमय यज्ञ और सबसे ऊँची श्रेणी है ज्ञानमय यज्ञ। ज्ञान वह चीज है जिसमें यह सारा कर्म परिसमाप्त होता है। ज्ञान से यहाँ किसी निम्न कोटि का ज्ञान अभिप्रेत नहीं है, बल्कि यहाँ अभिप्रेत है परम ज्ञान, आत्म-ज्ञान, भगवत्-ज्ञान, वह ज्ञान जिसे हम उन्हीं लोगों से प्राप्त कर सकते हैं जो सृष्टि के मूल-तत्व को जानते हैं। यह वह ज्ञान है जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य मन के अज्ञानमय मोह में तथा केवल इन्द्रिय-ज्ञान की और वासनाओं और तृष्णाओं की निम्नतर क्रियाओं में फिर नहीं फँसता। यह वह ज्ञान है जिसमें सब कुछ परिसमाप्त होता है। उसके प्राप्त होने पर "तू सब भूतों को अशेषतः आत्मा के अन्दर और तब मेरे अन्दर देखेगा।" क्योंकि आत्मा वही एक, अक्षर, सर्वगत, सर्वाधार, स्वतःसिद्ध सद्वस्तु या ब्रह्म है जो हमारे मनोमय पुरुष के पीछे छिपा हुआ है और जिसमें चेतना अहंभाव से मुक्त होने पर विशालता को

प्राप्त होती है और तब हम जीवों को उसी एक सत् के अन्दर भूतरूप में देख पाते हैं।

परन्तु यह आत्मतत्व या अक्षर ब्रह्म हमारी वास्तविक अंतश्चेतना के सामने उन परम पुरुष के रूप में भी प्रकट होता है जो हमारी सत्ता के उद्गम-स्थान हैं और क्षर या अक्षर जिनका प्राकट्य है। वे ही हैं ईश्वर, भगवान्, पुरुषोत्तम। उन्हीं को हम हरएक चीज यज्ञरूप से समर्पित करते हैं, उन्हीं के हाथों में हम अपने सब कर्म सौंप देते हैं; उन्हीं की सत्ता में हम जीते और चलते-फिरते हैं; अपने स्वभाव में उनके साथ एक होकर और उनके अन्दर जो सृष्टि है उसके साथ एक होकर, हम उनके साथ और प्राणिमात्र के साथ एक जीव, सत्ता की एक शक्ति हो जाते हैं; हम अपनी आत्म-सत्ता को उनकी परम सत्ता के साथ तद्रूप और एक कर लेते हैं। कामवर्जित यज्ञार्थ कर्मों के करने से हमें ज्ञान होता है और आत्मा अपने-आपको पा लेती है; आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान में स्थित होकर कर्म करने से हम मुक्त हो जाते और भागवत सत्ता की एकता, शान्ति और आनन्द में प्रवेश करते हैं।

यज्ञ के अधीश्वर

आगे बढ़ने से पहले, जो कुछ कहा जा चुका है, उसके मूल सिद्धांतों का हम लोग सिंहावलोकन करते चलें। गीता का संपूर्ण कर्म-सिद्धांत उसकी यज्ञसंबंधी भावना पर अवलंबित है और ईश्वर, जगत् और कर्म के बीच सनातन संयोजक सत्य इसमें समाया हुआ है। मानव-मन साधारणतया जीवन के बहुमुखी सनातन सत्य की केवल आंशिक धारणाओं और दृष्टिकोणों को पकड़ पाता है और उन्हीं के आधार पर जीवन, सदाचार और धर्मसम्बन्धी नाना प्रकार के सिद्धांतों को गढ़ डालता है, तथा उनके इस या उस प्रकार या रूप पर जोर देने लगता है। लेकिन मन जब महान् प्रकाश के युग में अपने जगत्-ज्ञान के साथ भागवत ज्ञान और आत्मज्ञान के पूर्ण और समन्वयात्मक सम्बन्ध की ओर लौटता है तो उसे हमेशा किसी पूर्णता की ओर पुनर्जागृत होना चाहिए। गीता की शिक्षा वेदान्त के इस मूल सत्य पर आश्रित है कि सारी आत्मसत्ता एक ब्रह्मसत्ता ही है और सारी भूतसत्ता उसी ब्रह्म का चक्र है ; एक ऐसी दिव्य संसृति है जिसकी प्रवृत्ति भगवान् से होती और भगवान् में ही जिसकी निवृत्ति होती है। सब प्रकृति का ही प्राकट्य-कर्म है और प्रकृति भगवान् की वह शक्ति है जो अपने कर्मों के स्वामी और अपने रूपों के अंतर्यामी भागवत पुरुष की चेतना और इच्छा को ही कार्य में परिणत किया करती है। उसी अंतर्यामी की प्रसन्नता के लिये वह नामरूप की लीला में और प्राण तथा मन के कर्मों में अवतीर्ण होती है और फिर मन-बुद्धि और आत्म-ज्ञान के द्वारा वह उस आत्मा को सचेतन रूप से पुनः प्राप्त कर लेती है जो उसके अन्दर निवास करती है। पहले आत्मा, जो कुछ भी वह है तथा नामरूपात्मक विकास से उसका जो कुछ भी अभिप्राय है वह सब, प्रकृति में समा जाता है ; इसके बाद आत्मा का विकास होता है, अर्थात् वह जो कुछ है, उसका जो अभिप्राय है, और जो छिपा हुआ है, पर नामरूपात्मक सृष्टि जिसकी सूचना करती है, वह सब प्रकट होता है। प्रकृति का यह चक्र कभी संभव न होता यदि पुरुष अपनी तीन शाश्वत अवस्थाओं को एक साथ धारण करके बनाये न रखता, क्योंकि प्रत्येक अवस्था इस कर्म की समग्रता के लिये आवश्यक

है। पुरुष का क्षररूप में अपने-आपको प्रकट करना अपरिहार्य है, और हम देखते हैं कि क्षर-रूप में पुरुष परिच्छिन्न है, अनेक है, **'सर्वभूतानि'** है। अब हम उसे अनन्त वैचित्र्य और नानाविध संबंधों से युक्त असंख्य प्राणियों के परिच्छिन्न व्यक्तित्व के रूप में देखते हैं, फिर हमें वह इन सब प्राणियों के पीछे होनेवाली देवताओं की क्रियाओं के मूलतत्व और उनकी शक्ति के रूप में दिखायी देता है— अर्थात् भगवान् की उन विश्वशक्तियों और गुणों के रूप में जिनके द्वारा जगत्-जीवन संचालित होता है और जहाँ हमें वह एक सत्ता अपने विविध विश्वरूपों में दिखायी देती है, अथवा हो सकता है कि एक ही परम पुरुष की विभूति के ये विविध आत्म-आविर्भाव हों। फिर, इन सब रूपों और सत्ताओं के पीछे और इनके अन्दर हमें यह भी प्रतीति होती है कि एक गूढ़, अक्षर, अनन्त, देश-कालातीत, नैर्व्यक्तिक, अव्यय सत् विद्यमान है, जो सारे अस्तित्व का एक अखंड आत्मभाव है, जिसमें सृष्टि के सब बहुभाव यथार्थ में एक हो जाते हैं। अतएव उस एक पुरुष-भाव में लौट आने पर व्यष्टिगत पुरुष का सक्रिय सांत व्यक्तित्व यह देखता है कि इस अखंड अनंत से जो कुछ निःसृत होता और उसके द्वारा जो कुछ धारित होता है वह उसके अक्षर और अलिप्त ऐक्यकी शांति और समस्थिति में तथा विश्वव्यापकता की प्रशांत विशालता में मुक्त हो सकता है। अथवा चाहे तो इसमें जाकर वह व्यष्टिसत्ता से भी छुटकारा पा सकता है। परन्तु सबसे परम गुह्य **'उत्तमं रहस्यं'** है पुरुषोत्तमतत्व। पुरुषोत्तम परब्रह्म परमेश्वर हैं, जो अनन्त और सांत दोनों अवस्थाओं को अपने अन्दर धारण किये हुए हैं और जिनमें व्यक्ति और निर्व्यक्ति, एक ब्रह्म और अनेक भूत, आत्मसत्ता और भूत-भाव, संसार-कर्म और विश्वातीत शान्ति, प्रवृत्ति और निवृत्ति, ये सब-के-सब मिलकर एकत्व को प्राप्त होते हैं, एक साथ और अलग-अलग भी धारण किये जाते हैं। परमेश्वर के अन्दर ही सब वस्तुओं का गुह्य सत्य और निरपेक्ष समन्वय होता है।

कर्मों का सारा सत्य सत्ता के सत्य पर ही निर्भर होता है। सारा सक्रिय जीवन अपने अंतरतम सत्स्वरूप में प्रकृति का पुरुष के प्रति कर्म-यज्ञ के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। यह प्रकृति का अपने अन्दर रहनेवाले सांत बहुपुरुष की कामना को उस एक परम और अनन्त पुरुष के चरणों में भेंट चढ़ाना है। जीवन एक यज्ञवेदी है जिसपर प्रकृति अपने सब कर्मों और कर्मफलों को लाती और उन्हें भगवान् के उस रूप के सामने रखती है जिस रूप तक उसकी चेतना उस समय पहुँच पायी हो। इस यज्ञ से उसी फल की कामना की जाती है जिसे शरीर-मन-प्राण में रहनेवाला जीव अपना तात्कालिक या परम श्रेय मानता हो।

प्रकृतिस्थ पुरुष अपनी चेतना और आत्मसत्ता के जिस स्तर तक पहुँचता है उसी के अनुसार उस ईश्वर का वह स्वरूप होता है जिसे वह पूजता है, आनन्द का वह स्वरूप होता है जिसे वह ढूँढता है और वह आशा होती है जिसके लिये वह यज्ञ करता है। प्रकृतिगत क्षर पुरुष की प्रवृत्ति में सारा व्यवहार पारस्परिक आदान-प्रदान है। क्योंकि सारा जीवन एक है और इसके विभाजन स्वभावतः परस्पर अवलंबन के किसी ऐसे विधान पर स्थापित हो सकते हैं जिसमें प्रत्येक विभाग दूसरेके सहारे बढ़ता और सबके सहारे जीता हो। जहाँ यज्ञ में स्वेच्छा से आहुति नहीं दी जाती वहाँ प्रकृति जबरदस्ती वसूल करती है और इस प्रकार अपने जीवन-विधान की रक्षा करती है। पारस्परिक आदान-प्रदान जीवन का नियम है जिसके बिना वह एक क्षण के लिये भी नहीं टिक सकता और यह तथ्य संसार पर उस भगवान् के सर्जनशील संकल्प की छाप है जिसने संसार को अपनी सत्ता में अभिव्यक्त किया है। और यह इस बात का प्रमाण है कि यज्ञ के साथ, यज्ञ को सदा के लिये प्रजाओं का साथी बनाकर प्रजापति ने सृष्टि की थी। यज्ञ का यह विश्वव्यापक विधान इस बात का सुस्पष्ट चिह्न है कि यह संसार ईश्वर का है और ईश्वर का ही इसपर अधिकार है। जीवन उसी का राज्य और अर्चना-मंदिर है, किसी स्वतंत्र अहंकार की आत्मतुष्टि का साधन-क्षेत्र नहीं। अहंकार की पुष्टि हम लोगों के स्थूल और असंस्कृत जीवन का आरम्भमात्र है, जीवन का परम हेतु तो भगवान् की प्राप्ति, अनन्त देवेश की पूजा और खोज है, इसका साधन निरंतर बढ़ते रहनेवाला वह यज्ञ है जिसकी परिपूर्णता पूर्ण आत्मज्ञान पर प्रतिष्ठित पूर्ण आत्मदान में होती है। जीवन में जो अनुभव प्राप्त होते हैं उनका हेतु अंत में भगवान् की ओर ले जाना ही है।

परन्तु व्यष्टिभूत जीव का जीवन अज्ञान के साथ शुरू होता है और बहुत काल-तक अज्ञान में ही रहता है। अपने-आपपर ही दृष्टि रहने के कारण वह भगवान् को नहीं, बल्कि अहंकार को ही जीवन का मूल कारण और एकमात्र अर्थ समझता है। वह अपने कर्मों का कर्ता अपने-आपको ही जानता है और यह नहीं देख पाता कि जगत् के सारे कर्म जिनमें उसके अपने आंतर और बाह्य सब कर्म ही शामिल हैं, एक ही विश्व-प्रकृति द्वारा होनेवाले कर्म हैं, और कुछ भी नहीं। वह अपने-आपको ही सब कर्मों का भोक्ता समझता है और यह कल्पना करता है कि सब कुछ उसके भोगके लिए है और इसलिए यही चाहता है कि प्रकृति उसकी व्यष्टिगत इच्छाओं को माने और तृप्त करे ; उसे यह नहीं सूझता कि उसकी इच्छाओं को तृप्त करने से प्रकृति का कुछ भी वास्ता नहीं है, उसकी इच्छाओं को जानने की उसे परवा भी नहीं, प्रकृति एक उच्चतर संकल्प की आज्ञा का पालन करती है और उस देव

को तृप्त करना चाहती है जो उससे, उसके कर्मों और उसकी सृष्टियों से अतीत है। मनुष्य की परिसीमित सत्ता, उसकी इच्छा और उसकी इच्छा की तृप्ति उसकी अपनी नहीं, बल्कि प्रकृति की है और प्रकृति इन सब चीजों को प्रतिक्षण उन भगवान् को यज्ञ-रूप से अर्पण किया करती है जिनके हेतु को सिद्ध करने के लिए वह इन सब चीजों को अज्ञात, अप्रकट साधनमात्र बनाया करती है। इस अज्ञान के कारण ही, जिसकी मुहर-छाप अहंकार है, जीव यज्ञ के विधान की उपेक्षा करता है और संसार में सब कुछ अपने लिए ही बटोरना चाहता है और केवल उतना ही देता है जितना प्रकृति अपनी भीतरी और बाहरी दबाव से दिलवाती है। यथार्थ में वह उससे अधिक कुछ नहीं ले सकता, जितना प्रकृति उसे लेने देती है, जितना प्रकृति में स्थित ईश्वरी शक्तियाँ उसकी कामना पूरी करने के लिए देती हैं। यज्ञमय संसार में अहंकारविमूढ़ जीव मानो ऐसा है जैसे कोई चोर या लुटेरा हो जो इन दैवी शक्तियों का दिया हुआ सब कुछ लेता तो है, पर बदले में कुछ देने की नीयत नहीं रखता। वह जीवन के वास्तविक अभिप्राय से वंचित रह जाता है और चूँकि वह अपने जीवन तथा कर्मों का उपयोग यज्ञ के द्वारा अपनी सत्ता को उदार, विशाल और उन्नत बनाने में नहीं करता, इसलिए वह व्यर्थ ही जीता है।

जब व्यष्टिभूत जीव अपने सब व्यवहारों में दूसरों में स्थित आत्मा के महत्व को उतना ही अनुभव करने और मानने लगता है जितना कि वह अपने अहंकार की ताकत और आवश्यकताओं को मानता है, जब वह अपने सब कार्यों के पीछे विश्वप्रकृति को अनुभव करने लगता और विश्वदेवताओं के रूप में उस अखण्ड अनन्त एक की झलक पाता है, तब वह अहंजन्य अपनी सीमा को पार करने और अपने आत्मस्वरूप को पा लेने के रास्ते पर आ जाता है। वह एक ऐसे धर्म को, एक ऐसे विधान को जानने लगता है जो उसकी कामनाओं के विधान से भिन्न होता है, उसकी कामनाओं को उस विधान के ही अधिकाधिक अधीन और अनुगत होना चाहिए। अबतक जहाँ उसकी सत्ता में केवल अहंकार ही अहंकार दिखायी देता था, वहाँ अब समझ और नैतिकता विकसित हो जाती है। वह अपने अहंकार की माँग की अपेक्षा दूसरों की आत्माओं की माँग को अधिक महत्व देने लगता है ; वह अहंकार और परोपकार के बीच के संघर्ष को स्वीकार करता और अपनी परोपकारवृत्ति को बढ़ाकर अपनी चेतना और सत्ता का विस्तार करता है। वह प्रकृति और प्रकृति में स्थित दैवी शक्तियों को अनुभव करने लगता और यह मानता है कि मुझे इनका यजन-पूजन करना चाहिए, इनकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए, क्योंकि इन्हीं के द्वारा और इन्हीं की उपस्थिति और महत्ता को अपने विचार,

संकल्प और प्राण में संवर्धित करने से मैं अपनी शक्ति, ज्ञान और सत्कर्म को तथा इनसे प्राप्त होनेवाली तुष्टि-पुष्टि को बढ़ा सकता हूँ। इस प्रकार वह जीवन-विषयक अपने जड़प्राकृतिक और अहमात्मक भाव में धार्मिक और अतिभौतिक भाव को जोड़ देता और सांत से होकर अनन्त में ऊपर उठ जाने के लिए तैयारी करता है।

परन्तु यह केवल एक बीचकी और बहुत दिनों तक रहनेवाली अवस्था है। यह अवस्था अभी भी कामना के विधान और उसके अहंकार की आवश्यकता और धारणा की प्रधानता के तथा उसकी सत्ता और कर्मों पर उसकी प्रकृति के नियंत्रण के अधीन है, यद्यपि यह कामना संयत और नियंत्रित है, यह अहंकार परिमार्जित है और यह प्रकृति के सत्वगुण के द्वारा अधिकाधिक मात्रा में सूक्ष्मीभूत और प्रकाशमान है। पर यह सब क्षर, सांत व्यष्टि बुद्धि के क्षेत्र में, अवश्य ही उसके बहुत अधिक व्यापक क्षेत्र में, होता है। वास्तविक आत्मज्ञान और फलतः सच्चा कर्ममार्ग इसके परे है; क्योंकि ज्ञानयुक्त होकर किया जानेवाला यज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ है और वही आदर्श कर्म को लाता है। यह अवस्था तभी आ सकती है जब मनुष्य यह अनुभव करे कि मेरे अन्दर और दूसरों के अन्दर जो आत्मा है, वह एक ही सत्ता है और यह आत्मा अहंकार से ऊँची चीज है, यह अनन्त है, नैर्व्यक्तिक है, विश्वव्यापी सत् है जिसमें सब प्राणी चलते-फिरते और जीते-जागते हैं, जब वह यह अनुभव करता है कि समस्त विश्व-देवता, जिनके लिए वह इन सब यज्ञों को करता है, एक ही अनन्त परमेश्वर के विभिन्न रूप हैं और जब वह उस एक परमेश्वर-सम्बन्धी अपनी मर्यादित और मर्यादित करनेवाली धारणाओं का परित्याग करके उन्हें एक अनिर्वचनीय परमदेव जानता है जो एक ही साथ सांत और अनन्त है, जो एक पुरुष है और साथ ही अनेक भी, जो प्रकृति के परे होकर भी प्रकृति के द्वारा अपने-आपको प्रकट करता है, जो त्रिगुण के बंधनों के परे होकर भी अपने अनन्त गुणों के द्वारा अपनी सत्ता की शक्ति को नामरूपान्वित किया करता है। वही पुरुषोत्तम हैं जिन्हें यज्ञमात्र समर्पित करना होता है, किसी क्षणिक वैयक्तिक कर्मफल के लिए नहीं, बल्कि भगवान् को प्राप्त करने के लिए ताकि भगवान् के साथ समस्वरता और एकता में रहा जा सके।

दूसरे शब्दों में, मनुष्य की मुक्ति और सिद्धि का मार्ग उत्तरोत्तर बढ़नेवाली नैर्व्यक्तिकता के द्वारा ही मिलता है। मनुष्य का यह पुरातन और सतत अनुभव है। वह नैर्व्यक्तिक और अनन्त पुरुष की ओर—जो विशुद्ध, ऊर्ध्व और सब वस्तुओं में और सत्ताओं में एक और सम है, जो प्रकृति में नैर्व्यक्तिक और अनन्त है, जो जीवन में नैर्व्यक्तिक और अनन्त है, जो उसकी अंतरंगता में नैर्व्य-

क्तिक और अनन्त है—जितना अधिक खुलता है उतना ही अहंकार तथा सांत के दायरे से कम बंधता है, और उतना ही अधिक विशालता, शान्ति और निर्मल आनन्द का अनुभव करता है, जो आमोद, सुख और चैन उसे सान्त से ही मिल जाता है या उसका अहंकार अपने ही अधिकार से प्राप्त कर सकता है, वह क्षणिक, क्षुद्र और अरक्षित होता है। अहंभाव में और उसकी संकुचित धारणाओं, शक्तियों और सुखों में ही डूबे रहना इस संसार को सदा के लिये **'अनित्यं असुखं'** बना लेना है; सान्त जीवन सदा ही व्यर्थता के भाव से व्यथित रहता है और इसका मूल कारण यह है कि सांतता जीवन का समग्र या उच्चतम सत्य नहीं है; जीवन तबतक पूर्णतया यथार्थ नहीं होता जबतक वह अनन्त की भावना की ओर नहीं खुलता। यही कारण है कि गीता ने अपनी कर्मयोग की शिक्षा के आरम्भ में ही ब्राह्मी स्थिति पर, नैर्व्यक्तिक जीवन पर इतना जोर दिया है, जो प्राचीन मुनियों की साधना का महान् लक्ष्य था। क्योंकि जिस नैर्व्यक्तिक अनन्त एक में विश्व की चिरंतन, परिवर्तनशील, नानाविध कर्मण्यताओं को स्थायित्व, संरक्षण और शान्ति प्राप्त होती है वह अचल अविनाशी आत्मा, अक्षर, ब्रह्म ही है, जो उन सबके ऊपर है। यदि इस बात को हम समझ लें तो यह भी समझ लेंगे कि अपनी चेतना और आत्मस्थिति को सीमाबद्ध व्यष्टिगत भाव से निकालकर इस अनंत नैर्व्यक्तिक ब्रह्म में ऊपर ले जाना सबसे पहली आध्यात्मिक आवश्यकता है। इस एक आत्मा के अन्दर सब सत्ताओं को अनुभव करना ही वह ज्ञान है जो जीव को अहंभावजनित अज्ञान और उसके कर्मों तथा कर्मफलों से ऊपर उठा देता है; इस ज्ञान में रहना ही शान्ति लाभ करना और दृढ़ आध्यात्मिक नींव की प्रतिष्ठा करना है।

इस महान् रूपान्तर का मार्ग द्विविध है; एक है ज्ञानमार्ग और दूसरा कर्म-मार्ग। गीता इन दोनों का सुदृढ़ समन्वय करती है। ज्ञानमार्ग है बुद्धि को मन और इन्द्रियों के व्यापार में रत होनेवाली निम्न वृत्ति से फेरना और उसे एक आत्मा, पुरुष या ब्रह्म की ओर ऊर्ध्वमुखी कर देना, उसे सदा एक पुरुष की एक ही भावना में रखना और मन की अनेक शाखा-प्रशाखाओंवाली धारणाओं और कामनाओं के नानाविध प्रवाहों से बाहर निकालना। यदि इतना ही लिया जाय तो ऐसा लगेगा कि यह पूर्ण कर्मसंन्यास, निश्चल निश्चेष्टता और प्रकृति-पुरुष के विच्छेद का मार्ग है। परन्तु यथार्थ में इस प्रकार का निरपेक्ष कर्मसंन्यास, निश्चेष्टता और प्रकृति-पुरुष-विच्छेद संभव नहीं है। पुरुष और प्रकृति सत्ता के युगल तत्व हैं जो एक-दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते, और जबतक हम प्रकृति में निवास करते हैं तबतक प्रकृति में हमारा कर्म भी होता ही रहेगा, चाहे

अज्ञानी जिस प्रकार कर्म करता है उससे ज्ञानी का कर्म अपने प्रकार और अर्थ में भिन्न ही क्यों न हो। संन्यास तो करना ही होगा, पर वास्तविक संन्यास कर्म से भागना नहीं, बल्कि अहंकार और कामना का वध करना है और इसका मार्ग है कर्म करते हुए भी कर्मफल की आसक्ति का त्याग और प्रकृति को कर्म की कर्त्री जानकर उसे अपने कर्म करने देना तथा साक्षी और भर्तारूप से पुरुष के अन्दर वास करके प्रकृति के कर्मों को देखना और संभालना पर उन कर्मों या उनके फलों से आसक्त न होना, इससे अहंकार अर्थात् सीमाबद्ध विक्षुब्ध व्यष्टिभाव शान्त होता और एक नैर्व्यक्तिक आत्मा के चैतन्य में निमज्जित हो जाता है। हमारी दृष्टि के आगे प्रकृति के कर्म जीते-जागते, चलते-फिरते और कर्मरत दिखायी देने-वाले इन सब भूत प्राणियों के द्वारा सर्वथा प्रकृति की ही प्रेरणा से उस एक अनन्त आत्मसत्ता में होते रहते हैं; हमारा अपना सान्त जीवन भी इन्हीं भूतसत्ताओं में से एक है, ऐसा देख पड़ता और अनुभव होता है। इसके द्वारा होनेवाले कर्म उस सदात्मा के कर्म नहीं लगते जो सदा निश्चल-नीरव नैर्व्यक्तिक एकत्व है, बल्कि ऐसे दिखायी देते और अनुभूत होते हैं कि वे प्रकृति के ही हैं। पहले अहंकार यह दावा करता था कि ये उसके कर्म हैं और इसलिए इन कर्मों को हम अपने कर्म समझते थे; पर अब अहंकार तो मर गया इसलिए कर्म भी हमारे नहीं रहे बल्कि प्रकृति के हो गये। अहंकार का वध करके हमने अपनी सत्ता और चेतना में नैर्व्यक्तित्व को सिद्ध किया; और कामना का संन्यास करके अपनी प्रकृति के कर्मों में नैर्व्यक्तित्व लाभ किया। अब हम मुक्त हैं केवल अकर्म में ही नहीं बल्कि कर्म में भी, हमारी मुक्ति शरीर और मन की निश्चलता और शून्यता पर निर्भर नहीं है, न कर्म करते ही हम अपनी मुक्ति से च्युत होते हैं। स्वाभाविक कर्म के पूर्ण प्रवाह में भी हमारी नैर्व्यक्तिक आत्मा स्थिर, शांत और मुक्त रहती है।

इस पूर्ण नैर्व्यक्तिकता से प्राप्त होनेवाली मुक्ति सच्ची, पूरी और अनिवार्य होती है; परन्तु क्या यही सब कुछ है, क्या यही इस विषय की अंतिम इति है? हम कह चुके हैं कि सारा जीवन, सारे जगत् का अस्तित्व एक यज्ञ है जो प्रकृति उस पुरुष के प्रीत्यर्थ किया करती है जो प्रकृति के अन्दर सबका एक गूढ़ांत-रात्मा है, जिसके अन्दर प्रकृति के सब कर्म होते हैं; परन्तु यज्ञ के इस वास्तविक स्वरूप को हमारा अहंकार, हमारी कामना, हमारा सीमित सक्रिय बहुभावापन्न व्यक्तित्व छिपा देता है। अब हम अहंकार, कामना और सीमित व्यक्तित्व से ऊपर उठ चुके हैं और इस अवस्था का संशोधन करनेवाली जो नैर्व्यक्तिकता है उससे हमने नैर्व्यक्तिक ब्रह्म को पा लिया है; हमने अपनी सत्ता को उस आत्मा

और पुरुष में मिला दिया है जिसमें सबका अस्तित्व है। कर्मों का यज्ञ जारी है, पर इसके करनेवाले अब हम नहीं, बल्कि प्रकृति है जो हमारी अनन्त सत्ता में उसके सान्त भाग अर्थात् मन-बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर के द्वारा कर्म करती है। परन्तु तब इस यज्ञ को किसके अर्पण किया जाता है और किस उद्देश्य से? क्योंकि नैर्व्यक्तिक ब्रह्म में कोई कर्तृत्व नहीं, कोई कामना-वासना नहीं, कोई प्राप्तव्य नहीं; प्राणियों के इस जगत् में किसी चीज पर उसकी निर्भरता नहीं; वह अपने लिए, अपने ही आत्मानन्द में अपनी ही अक्षर अविनाशी अव्यय सत्ता में रहता है। इस नैर्व्यक्तिक आत्मस्थिति और आत्मरति तक पहुँचने के लिए साधन के तौर पर निष्काम कर्म आवश्यक हो सकता है, पर इस अवस्था में पहुँचने पर कर्म का ध्येय पूरा हो जाता है; फिर यज्ञ की क्या आवश्यकता? कर्म तब भी हो सकते हैं, क्योंकि प्रकृति मौजूद है और उसके कर्म हो रहे ह; परन्तु फिर इन कर्मों का ध्येय कुछ नहीं रहता। अर्थात् मुक्ति के बाद हमारे कर्म करते रहने का एकमात्र कारण केवल अभावात्मक है; यह हमारी सत्ता के सान्त भागों, मन, प्राण और शरीर पर प्रकृति की जबरदस्ती है। परन्तु यदि यही सब कुछ हो तो पहली बात यह है कि कर्मों की संख्या घटाकर कम-से-कम की जा सकती है, उतने ही काम किये जायं जितने प्रकृति हमारे शरीर से जबरदस्ती कराती है; दूसरी बात यह है कि कर्मों को चाहे कम-से-कम न भी किया जाय—क्योंकि कर्म का कुछ महत्व नहीं है न अकर्म ही ध्येय है—तो भी कर्म के स्वरूप का कोई महत्व नहीं है। अर्जुन ज्ञान प्राप्त करके अपने पुराने क्षत्रिय-स्वभाव के अनुसार कुरुक्षेत्र की लड़ाई लड़ सकता है अथवा उसे छोड़कर अपनी नवीन निवृत्तिमूलक प्रेरणा के अनुसार संन्यासी का जीवन अपना सकता है। इन दोनों में से वह कुछ भी करे, उसका महत्व नहीं, बल्कि यह कहा जा सकता है कि युद्ध की अपेक्षा संन्यासी का जीवन ही अधिक अच्छा है, क्योंकि इससे उसके पूर्व कर्मों की प्रवृत्ति के कारण मन पर प्रकृति की जिन प्रेरणाओं का दखल जमा हुआ है वे शीघ्र क्षीण हो जायेंगी और वह शरीर छूटने पर निर्विघ्न रूप से अनंत नैर्व्यक्तिक ब्रह्म में चला जायगा, उसे इस **'अनित्यं असुखं लोकम्'** के दुःखमय प्रमादमय जीवन में लौटने की कोई आवश्यकता न रहेगी।

यदि यही होता तो गीता का कोई मतलब ही न रह जाता; क्योंकि इस बात से गीता का प्रथम और प्रधान उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। परन्तु गीता इस बात पर जोर देती है कि कर्म का स्वरूप भी महत्वपूर्ण है और कर्म को जारी रखने के लिये एक निश्चयात्मक आदेश है और सर्वथा अभावात्मक और यांत्रिक कारण यानी प्रकृति की उद्देश्यहीन जबरदस्ती ही काफी नहीं है। अहंकार

को जीत लेने के बाद भी यज्ञ के भोक्ता भगवान् तो रहते ही हैं (**भोक्तारं यज्ञतपसां**) इसलिए यज्ञ का उद्देश्य फिर भी रहता है। नैर्व्यक्तिक ब्रह्म ही अंतिम वचन या हमारी सत्ता का सर्वोत्तम रहस्य नहीं है ; क्योंकि नैर्व्यक्तिक और सव्यक्तिक, सांत और अनंत उसी भगवत्सत्ता के दो विपरीत पर सहवर्त्ती पहलू हैं जो इन भेदों से सीमित नहीं है और एक साथ दोनों है। परमेश्वर एक, चिर-अव्यक्त अनंत हैं और वे अपने-आपको सांत में अभिव्यक्त करने के लिए सदा स्वतःप्रेरित हैं ; वे वह महान् नैर्व्यक्तिक पुरुष हैं जिनके सब व्यक्तित्व आंशिक रूप हैं ; वे वह भगवान् हैं जो मानव-प्राणी में अपने-आपको प्रकट करते हैं, वे प्रभु हैं जो मनुष्य के हृदेश में निवास करते हैं। ज्ञान हमें उन्हीं के एक नैर्व्यक्तिक ब्रह्म में सब प्राणियों को देखने की शिक्षा देता है, क्योंकि इस तरह हम पृथग्भूत अहंभाव से मुक्त होते हैं और तब मुक्तिदायक नैर्व्यक्तिकत्व के द्वारा उनको इन प्रभु के अन्दर देखते हैं, '**आत्मनि अथो मयि**', 'आत्मा के अन्दर और तब मेरे अन्दर'। हमारा अहंकार, हमारे बंधनकारक व्यष्टिभाव ही उन प्रभु को पहचानने का रास्ता रोके रहते हैं जो सबके अन्दर हैं और सब जिनके अन्दर हैं ; क्योंकि व्यष्टिभाव के अधीन होने के कारण हम उनके ऐसे खण्ड-खण्ड स्वरूपों को देख पाते हैं जिन्हें वस्तुओं के सांत रूप देखने दें। हमें उनके पास अपने निम्न व्यष्टि-भाव के द्वारा नहीं, बल्कि अपनी सत्ता के उच्च, अनन्त और नैर्व्यक्तिक अंश के द्वारा पहुँचना होगा; और वह हम आत्मा बनकर ही, जो सबके अन्दर एक है और जिसकी सत्ता में सारा जगत् अवस्थित है, उन प्रभु को पा सकते हैं। यह अनन्त जो सब सांत रूपों को विलग नहीं करता, बल्कि उन्हें अपनेमें समाए हुए है, यह नैर्व्यक्तिक जो समस्त व्यष्टित्वों और व्यक्तित्वों का त्याग नहीं करता, बल्कि उन्हें अपने अन्दर लिये हुए है, यह अक्षर जो प्रकृति की सारी हलचल से अलग नहीं है, बल्कि उसका पोषण करता है, उसमें व्याप्त है और उसे धारण किये हुए है, यही वह स्वच्छ दर्पण है जिसमें भगवान् अपनी सत्ता को प्रकट करेंगे। इसलिए पहले नैर्व्यक्तिक ब्रह्म की प्राप्ति करनी होगी ; विश्वदेवताओं के द्वारा, सांत के विभिन्न अंगों के द्वारा ही भगवान् का पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। पर जैसी कि एक धारणा है कि शांत, अचल, नैर्व्यक्तिक ब्रह्म अपने-आपमें बन्द है और जिनका वह पोषण और धारण करता है तथा जिनमें व्याप्त रहता है उनसे उसका कोई वास्ता नहीं है, उनसे सर्वथा अलग है,—ऐसे नैर्व्यक्तिक ब्रह्म की नीरव अचलता भी भगवान् का सर्वप्रकाशक और पूर्णसंतोषप्रद सत्य नहीं है। उसके लिए हमें इस नैर्व्यक्तिक ब्रह्म की अचल शान्ति को प्राप्त होकर उन पुरुषोत्तम को देखना होगा जो अपनी भागवत महिमा के अन्दर अक्षर और क्षर दोनोंको

धारण किये हुए हैं। अचलता में वे स्थित हैं, पर विश्वप्रकृति की सारी प्रवृत्ति और कर्म में वे अपने-आपको अभिव्यक्त करते हैं। मुक्त होने के बाद भी प्रकृति में होनेवाले कर्मों के द्वारा उनका यजन बराबर होता रहता है।

इसलिए भगवान् पुरुषोत्तम के साथ जीती-जागती और स्वत:परिपूरक एकता ही योग का वास्तविक लक्ष्य है, केवल अक्षर ब्रह्म में अपने-आपको मिटा देनेवाला लय नहीं। अपने सारे जीवन को उन्हींमें ऊपर उठाना, उन्हींमें निवास करना, उनके साथ एक हो जाना, उनकी चेतना के साथ अपनी चेतना को एक कर देना, अपनी खण्ड प्रकृति को उनकी पूर्ण प्रकृति का प्रतिबिंब बना देना, अपने विचार और इन्द्रियों को संपूर्ण रूप से भागवत ज्ञान के द्वारा अनुप्राणित करना, अपने संकल्प और कर्म को सर्वथा और निर्दोष रूप से भागवत संकल्प के द्वारा प्रवृत्त करना, उन्हींके प्रेमानन्द में अपनी कामना-वासना को खो देना—यही मनुष्य की पूर्णता है, इसीको गीता ने गुह्यतम रहस्य कहा है। मनुष्य-जीवन का यही वास्तविक लक्ष्य है, यही उसके जीवन की चरितार्थता है और यही हमारे प्रगतिशील कर्म-यज्ञ की सबसे ऊँची सीढ़ी है। कारण वे ही अंत तक कर्मों के प्रभु और यज्ञ की अंतरात्मा बने रहते हैं।

दिव्य कर्म का सिद्धांत

सो गीता की यज्ञविषयक शिक्षा का अभिप्राय यही है। इसका पूर्ण मर्म पुरुषोत्तम-तत्व की भावना पर निर्भर है, जिसका विवेचन अभी तक अच्छी तरह नहीं हुआ है—गीता के १८ अध्यायों के शेष भाग में ही इस तत्व का वर्णन स्पष्ट रूप से आया है—और इसीलिए हमें गीता की प्रगतिशील वर्णन-शैली की मर्यादा का अतिक्रम करके भी इस केन्द्रीभूत शिक्षा की चर्चा पहले से ही करनी पड़ी। अभी भगवान् गुरु ने पुरुषोत्तम की परम सत्ता का अक्षर ब्रह्म के साथ—जिनमें ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर पूर्ण शान्ति और समता की अवस्था में अपने-आपको स्थिर करना पहला काम है और हमारी अति आवश्यक आध्यात्मिक माँग है—क्या संबंध है इसका एक संकेतमात्र दिया है, एक हलकी-सी झलक भर दिखायी है। अभी वे पुरुषोत्तम-भाव की स्पष्ट भाषा में नहीं बोल रहे, बल्कि "मैं" कृष्ण, नारायण, अवतार-रूप से बोल रहे हैं—वह अवतार, जो नर में नारायण हैं, इस विश्व में भी परम प्रभु हैं और कुरुक्षेत्र के सारथी के रूप में अवतरित हुए हैं। 'पहले आत्मा में पीछे मुझमें (**आत्मनि अथो मयि**), वे यहाँ यही सूत्र बतलाते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि व्यष्टिबद्ध पुरुष-भाव को स्वतःस्थित नैर्व्यक्तिक ब्रह्म-भाव का ही एक 'भूतभाव' जानकर इस व्यष्टिबंधन से मुक्त होकर इसके परे पहुँचना उन गुह्यतम नैर्व्यक्तिक परम पुरुष को प्राप्त होने का एक साधनमात्र है जो निश्चल, स्थिर और प्रकृति के परे, नैर्व्यक्तिक ब्रह्म में आसीन हैं, पर इसके साथ ही इन असंख्य भूतभावों की प्रकृति में भी विद्यमान और क्रियाशील हैं। अपने निम्नतर व्यष्टिबद्ध पुरुष-भाव का नैर्व्यक्तिक ब्रह्म में लय करके हम अंत में उन परम पुरुष के साथ एकत्व लाभ करते हैं जो पृथक् व्यक्ति या व्यष्टिभाव न होते हुए भी सब व्यष्टियों का अभिनय करते हैं। त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति को पार कर और अंतरात्मा को त्रिगुणातीत अक्षर पुरुष में स्थित करके हम अंत में उन अनंत परमेश्वर की परा प्रकृति में पहुँच सकते हैं जो प्रकृति द्वारा कर्म करते हुए भी त्रिगुण में आबद्ध नहीं होते। शांत पुरुष के आंतर नैष्कर्म्य को प्राप्त होकर और प्रकृति को अपना काम करने

के लिए स्वतंत्र छोड़कर हम कर्मों के परे उस परम पद को, उस दिव्य प्रभुत्व को प्राप्त कर सकते हैं जिसमें सब कर्म किये जा सकते हैं पर बंधन किसी का नहीं होता। इसलिए पुरुषोत्तमकी भावना ही, जो पुरुषोत्तम यहाँ अवतीर्ण नारायण, कृष्णरूप में दिखायी देते हैं इसकी कुंजी है। इस कुंजी के बिना निम्न प्रकृति से निवृत्त होकर ब्राह्मी स्थिति में चले जाने का अर्थ होगा मुक्त पुरुष का निष्क्रिय, और जगत् के कर्मों से उदासीन हो जाना ; और इस कुंजी के होने से यही अलग होना, यही निवृत्ति एक ऐसी प्रगति हो जाती है जिससे जगत् के कर्म भगवान् के स्वभाव के साथ, भगवान् की स्वतंत्र सत्ता में, आत्मा के अन्दर ले लिये जाते हैं। शान्त ब्रह्म को अपना लक्ष्य बनाओ तो संसार और उसके समस्त कर्मों का त्याग करना ही होगा ; और उन ईश्वर, भगवान्, पुरुषोत्तम को अपना लक्ष्य बनाओ, जो कर्म के परे होने पर भी कर्म के आंतरिक आध्यात्मिक कारण और ध्येय तथा मूल संकल्प हैं, तो संसार अपने सारे कर्मों के साथ जीत लिया जाता और पुरुष अपने जगत् से परे दिव्य स्वरूप में स्थित होकर उसपर अधिकार रखता है। संसार तब कारागार नहीं रहता, बल्कि 'समृद्ध राज्य' बन जाता है जिसे हमने दैत्यराट् अहंकार की सीमा का नाश कर, कामनारूपी जेलर के बंधन को काटकर और अपनी वैयक्तिक संपत्ति और भोग के कैदखाने को तोड़कर, आध्यात्मिक जीवन के लिये जीता है। तब बंधनों से मुक्त विश्वात्मभूत अंतरात्मा ही स्वराट्-सम्राट् हो जाती है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि यज्ञ-कर्म मुक्ति और पूर्ण संसिद्धि के साधक हैं। "उस महान् प्राचीन योग के करनेवाले जनक और अन्य बड़े-बड़े कर्मयोगी बिना किसी अहंता-ममता के सम और निष्काम कर्म को यज्ञरूप से करके संसिद्धि को प्राप्त हुए (**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः**)।" उसी प्रकार और उसी निष्कामता के साथ, मुक्ति और संसिद्धि प्राप्त होने के पश्चात् भी हम विशाल भागवत भाव से तथा आध्यात्मिक प्रभुत्व से युक्त शान्त प्रकृति से कर्म कर सकते हैं। "लोकसंग्रहार्थं, अर्थात् जनता को एक साथ रखने के लिये भी तुझे कर्म करना चाहिये (**लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि**)। श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करते हैं उसीका इतर लोग अनुसरण करते हैं ; उन्हींके निर्माण किये हुए प्रमाण को मानकर सर्वसाधारण लोग चलते हैं। हे पार्थ, इस त्रिलोक में मेरे लिए कुछ भी ऐसा काम नहीं है जिसे करना मेरे लिए जरूरी हो, कोई चीज ऐसी नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो और जिसे प्राप्त करना बाकी हो, फिर भी मैं कर्म करता ही हूँ (**वर्त्त एव च कर्मणि**)।" 'एव' पद का फलितार्थ यह है कि मैं कर्म करता ही रहता हूँ और उन संन्यासियों की तरह कर्म को छोड़ नहीं देता

जो यह समझते हैं कि कर्मों का त्याग तो हमें करना ही पड़ेगा। "यदि मैं कर्म-मार्ग में तंद्रारहित होकर लगा न रहूं तो लोग—वे हर तरह से मेरे ही पीछे चलते हैं—मेरे कर्म न करने पर ध्वंस को प्राप्त हो जायेंगे और मैं संकर का कारण और इन प्राणियों का हंता बनूंगा। जो जानते नहीं, वे कर्म में आसक्त होकर कर्म करते हैं पर जो जानता है उसे लोकसंग्रह का हेतु रखकर अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए। कर्म में आसक्त रहनेवाले अज्ञानियों का वह बुद्धिभेद न करे, बल्कि स्वयं ज्ञानयुक्त और योगस्थ होकर कर्म करके उन्हें सब कर्मों में लगावे।"[1] इन सात श्लोकों से अधिक महत्वपूर्ण श्लोक गीता में कम ही हैं।

परन्तु हम इस बात को अच्छी तरह समझ लें कि इन श्लोकों का आधुनिक व्यवहारवादी वृत्तिवालों की तरह अर्थ लगाने का प्रयास न करना चाहिए, क्योंकि वे किसी उच्च और दूरस्थ आध्यात्मिक संभावना की अपेक्षा जगत् की वर्तमान अवस्था से ही मतलब रखते हैं—और इन श्लोकों का उपयोग समाज-सेवा, देश-सेवा, जगत्-सेवा, मानव-सेवा तथा आधुनिक बुद्धि को आकर्षित करनेवाली सैकड़ों प्रकार की समाज-सुधार की योजनाओं और स्वप्नों का दार्शनिक और धार्मिक समर्थन करने में करते हैं। यहाँ इन श्लोकों में जिस विधान की घोषणा की गयी है वह किसी व्यापक नैतिक और बौद्धिक परोपकार-निष्ठा का नियम नहीं, बल्कि ईश्वर के साथ और जो ईश्वर में रहते तथा जिनमें ईश्वर रहता है उन प्राणियों के इस जगत् के साथ आध्यात्मिक एकता का विधान है। यह विधान व्यक्ति को समाज और मानव-जाति के अधीन बना देने या मानव-समष्टि की वेदी पर व्यक्ति के अहंकार की बलि देने का आदेश नहीं है, बल्कि ईश्वर में व्यक्ति को परिपूर्ण करने और अहंकार को सर्वग्राही भागवत सत्ता की एकमात्र सच्ची वेदी पर बलि चढ़ाने की आज्ञा है। गीता भावनाओं और अनुभूतियों की एक ऐसी भूमिका पर विचरण करती है जो आधुनिक मन की भावनाओं और अनुभूतियों की भूमिका से ऊँची है। आधुनिक मन वस्तुतः अभी अहंकार के फंदों को काटने के लिए संघर्ष करने की अवस्था में है; परन्तु अब भी उसकी दृष्टि लौकिक है और उसका भाव आध्यात्मिक नहीं, बौद्धिक और नैतिक है। देश-प्रेम, विश्वबंधुत्व, समाज-सेवा, समष्टि-सेवा, मानव-सेवा, मानव-जाति का आदर्श या धर्म, ये सब व्यष्टिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय अहंकाररूपी पहली अवस्था से निकलकर दूसरी अवस्था में जाने के लिए सराहनीय साधन हैं, इस अवस्था में पहुँचकर व्यष्टि, जहाँतक कि बौद्धिक, नैतिक और भावावेगमय भूमिकाओं पर संभव है, यह अनुभव करता है कि मेरा

१. ३-२०-६

अस्तित्व दूसरे सब प्राणियों के अस्तित्व के साथ एक है। यहाँ यह जान लेना चाहिए कि इन भूमिकाओं पर वह इस अनुभव को पूरे तौर पर और ठीक-ठीक तथा अपनी सत्ता के पूर्ण सत्य के अनुसार नहीं प्राप्त कर सकता। परन्तु गीता के विचार इस दूसरी अवस्था के भी परे जाकर हमारी विकसनशील आत्म-चेतना की एक तीसरी अवस्था का दिग्दर्शन कराते हैं जिसमें पहुँचने के लिये दूसरी अवस्था केवल आंशिक प्रगति है।

भारत का सामाजिक झुकाव व्यक्ति को समाज के दावों के अधीन रखने की ओर रहा है, किन्तु भारत के धार्मिक चिंतन और आध्यात्मिक अनुसंधान का लक्ष्य सदा ही उदात्त रूप से वैयक्तिक रहा है। गीता जैसा भारतीय दर्शनशास्त्र व्यक्ति के विकास को, उसकी उच्चतम आवश्यकता को, अपनी विशालतम आध्यात्मिक स्वतंत्रता, महानता, गौरव और प्रभुत्व का विकास कर उन्हें उपयोग में लाने के दावे को और आध्यात्मिक अर्थ में जिसको द्रष्टा और स्वराट् कहा जाता है वैसे प्रकाशमान द्रष्टा और स्वराट्-पद में विकसित होने के लक्ष्य को—और यही प्राचीन वैदिक ऋषियों की आदर्श मानव-जाति के सम्बन्ध में पहला महान् अधिकारपत्र था—सबसे पहला स्थान दिये बिना नहीं रह सकता। व्यक्ति के लिए वैदिक ऋषियों का यही लक्ष्य था कि वह जो कुछ है उसके आगे बढ़े, अपने वैयक्तिक उद्देश्यों को किसी सुसंगठित मनुष्य-समाज के उद्देश्य में खोकर नहीं, बल्कि ईश्वर की चेतना में अपने-आपको फैलाके, ऊँचा करके और बढ़ाके। गीता यहाँ जिस नियम का विधान कर रही है वह नियम मानव-श्रेष्ठ के लिए, अतिमानव के लिए, दिव्यकृत मानव-सत्ता के लिए है। गीता का अतिमानव या मानवश्रेष्ठ एकांगी नहीं है, बेढंगा नहीं है, यह अतिमानवता नीत्शेकी अतिमानवता नहीं है, यह अतिमानवता यूनानी ओलिम्पस,[1] अपोलो[2] या डायोनीसियस[3] जैसी अथवा देवदूत और दैत्य के जैसी अतिमानवता नहीं है। गीता का अतिमानव वह मनुष्य है जिसका सारा व्यक्तित्व एकमेवाद्वितीय परात्पर विश्वव्यापी भगवान् की सत्ता, प्रकृति और चेतना पर उत्सर्ग हो गया है और जिसने अपने क्षुद्र भाव को खोकर अपनी महत्तर आत्मा को, अपने दिव्य स्वरूप को पा लिया है।

निम्नतर अपूर्ण प्रकृति से, त्रैगुण्यमयी माया से अपने-आपको ऊपर उठाना

---

१. एक यूनानी पर्वत जो हिमालय की तरह देवताओं की वासभूमि माना जाता है।

२. प्राचीन यूनानी पुराणों में वर्णित एक देवता जो काव्य, संगीत, आयुर्वेद, धनुर्वेद और शकुन-शास्त्र का अधिष्ठाता माना गया है।

३. यूनानी सुरा-देवता, कोई-कोई इस देवता को नहुष और परशुराम के समान मानते हैं।

और भागवत सत्ता, चेतना और प्रकृति के साथ[1] एक हो जाना 'मद्भावमागताः' —यही योग का लक्ष्य है। परन्तु जब यह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है, जब मनुष्य ब्राह्मी स्थिति में पहुँच जाता है और अपने-आपको तथा जगत् को मिथ्या अहंकार की दृष्टि से नहीं देखता, बल्कि प्राणिमात्र को आत्मा में, ईश्वर में देखता है और आत्मा को, ईश्वर को प्राणिमात्र में देखता है तब उसका कर्म कैसा होगा—क्योंकि कर्म तो फिर भी रहेगा ही—जो उसके ब्राह्मी स्थिति के ज्ञान से उद्भूत होता है, और फिर उसके कर्मों में विश्वगत या व्यक्तिगत हेतु क्या होगा ? यही अर्जुन का प्रश्न[2] है, किन्तु अर्जुन ने जिस दृष्टिबिन्दु से प्रश्न किया था उससे अलग ही दृष्टि-बिन्दु से उत्तर दिया गया। अब बौद्धिक, नैतिक, भावावेगमय स्तर की कोई वैयक्तिक कामना उसके कर्म का हेतु नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो छोड़ी जा चुकी,—नैतिक हेतु भी छोड़ा जा चुका, क्योंकि मुक्त पुरुष पाप-पुण्य के भेद से ऊपर उठकर, उस महिमान्वित पवित्रता में रहता है जो शुभ और अशुभ के परे है। निष्काम कर्म के द्वारा पूर्ण आत्मविकास करने के लिए आध्यात्मिक आवाहन भी अब उसके कर्म का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि इस आवाहन का तो उत्तर मिल चुका, उसका आत्म-विकास सिद्ध और पूर्ण हो चुका। तब उसके कर्मों का एकमात्र हेतु लोकसंग्रह ही हो सकता है (**चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्**)। ये सब लोग जो किसी अतिदूरस्थ भागवत आदर्श की ओर जा रहे हैं, उन्हें एक साथ रखना होगा, उन्हें मोह में गिरने से, बुद्धि-भेद और बुद्धिभ्रंश में जा गिरने से बचाना होगा ; नहीं तो ये किंकर्तव्यविमूढ़ और नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे—दुनिया जो अपने अज्ञान की अंधेरी रात या अंधेरे अर्धप्रकाश में आगे बढ़ती जा रही है उसे यदि श्रेष्ठ पुरुषों के ज्ञानालोक, बल, आचरण, उदाहरण और दृश्य मानक तथा अदृश्य प्रभाव के द्वारा एक साथ न रखा जायगा, इसे वह रास्ता न दिखाया जायगा जिसपर चलने में ही इसका कल्याण है तो वह विघटन और विनाश की ओर सहजरूप से प्रवृत्त होगी। श्रेष्ठ पुरुष अर्थात् वे व्यक्ति जो जनसमूह की सर्वसाधारण पंक्ति और सर्वसाधारण भूमिका से आगे बढ़े हुए हैं, वे ही मनुष्य-जाति के स्वभावसिद्ध नेता हैं, क्योंकि वे ही जाति को उसके चलने का रास्ता दिखा सकते हैं और वह पैमाना या आदर्श उसके सामने रख सकते हैं जिसके अनुसार वह अपना जीवन बनावे। परन्तु देवमनुष्य की यह श्रेष्ठता ऐसी-वैसी नहीं है ; इसका प्रभाव, इसका उदाहरण इतना सामर्थ्यवान् होता है कि सामान्यतः हम

---

१. सायुज्य, सालोक्य और साध्म्य या साधर्म्य। भगवान् के स्वरूप और कर्म के साथ एक होना साधर्म्य है।

२. किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्?

जिसे श्रेष्ठ कहते हैं उसमें वह प्रभाव या बल नहीं हो सकता। तब वह जिस उदाहरण को लोगों के सामने रखेगा, वह क्या होगा? वह किस विधान या प्रमाण को मानकर चलेगा?

अपने आशय को और भी अच्छी तरह स्पष्ट करने के लिए भगवान् गुरु, अवतार, अपना ही उदाहरण, अपना ही मानक अर्जुन के सामने रखते हैं। वे कहते हैं, "मैं कर्ममार्ग पर चलता हूँ, उस मार्ग पर जिसका सब मनुष्य अनुसरण करते हैं; तुझे भी कर्ममार्ग पर चलना होगा। जिस प्रकार मैं कर्म करता हूँ उसी प्रकार तुझे भी कर्म करना होगा। मैं कर्मों की आवश्यकता से परे हूँ क्योंकि मुझे उनसे कुछ नहीं पाना है; मैं भगवान् हूँ, जगत् के सारे पदार्थ और प्राणी मेरे ही हैं, मैं स्वयं जगत् के परे और जगत् के अन्दर भी हूँ, किसी भी अर्थ की प्राप्ति के लिये मैं इस त्रिलोक में किसी भी पदार्थ या प्राणी का आश्रित नहीं हूँ; तथापि मैं कर्म करता हूँ। कर्म करने का यही तरीका और यही भाव तुझे भी ग्रहण करना होगा। मैं परमेश्वर ही नियम और मानक हूँ; मैं ही वह मार्ग बनाता हूँ जिसपर लोग चलते हैं; मैं ही मार्ग हूँ और मैं ही गंतव्य स्थान। पर मैं यह सब उदार और व्यापक रूप से करता हूँ जिसका केवल अंश दिखायी देता है और उससे कहीं अधिक अदृष्ट रहता है; मनुष्य यथार्थ रूप से मेरे कर्म की रीति को नहीं जानते। जब तू जान और देख सकेगा, जब तू देवमनुष्य बनेगा तब तू ईश्वर की ही एक व्यष्टि-शक्ति हो जायगा, मनुष्य के लिये मनुष्य-रूप में एक दिव्य दृष्टांत बन जायगा, वैसे ही जैसे मैं अवतार-रूप में हूँ। अधिकांश मनुष्य अज्ञान में रहते हैं, ईश्वर-द्रष्टा ज्ञान में रहता है; पर उसे अपनी श्रेष्ठता के वश संसार के कर्मों का त्याग करके मनुष्यों के सामने ऐसा खतरनाक उदाहरण न रखना चाहिये जिससे उनमें बुद्धिभेद हो; कर्म के सूत को पूरा कात लेने से पहले उसे बीच में ही न काटना चाहिये। जिन मार्गों को मैंने बनाया है उनकी चढ़ती-उतरती अवस्थाओं और श्रेणियों में उलझनें डालकर उन्हें अयथार्थ न बनाना चाहिए। इस सारे मानव कर्म-क्षेत्र की व्यवस्था मैंने इसलिए की है कि मनुष्य अपरा प्रकृति से परा प्रकृति में पहुँच जाय और अपने बाह्य अभागवत रूप से सचेतन भागवत स्वरूप को प्राप्त हो। ईश्वरवेत्ता मानव-कर्मों के सारे क्षेत्र में विचरण करता रहेगा। उसकी सारी व्यक्तिगत और सामाजिक क्रिया, उसकी बुद्धि, हृदय और शरीर के सारे कर्म अब भी उसी के होंगे, पर अपने पृथक् व्यक्तित्व के लिए नहीं बल्कि संसार में स्थित उन ईश्वर के लिए जो सब प्राणियों में विराज रहे हैं, और इसलिए कि वे सब प्राणी, स्वयं उसकी तरह ही, कर्ममार्ग पर चलकर उन्नत हों और अपने अन्दर भगवान् को खोज लें। हो सकता है कि बाह्यतः

उसके और अन्य मनुष्यों के कर्मों में कोई मौलिक अन्तर न हो; युद्ध, शासन, शिक्षादान, और ज्ञानचर्चा, मनुष्य के साथ मनुष्य के जितने विभिन्न प्रकार के आदान-प्रदान हो सकते हैं वे सभी उसके हिस्से पड़ सकते हैं। पर जिस भाव से वह इन कर्मों को करेगा वह अवश्य भिन्न होगा और उसीका यह प्रभाव होगा कि लोग उसकी ऊँची स्थिति की ओर खिंचे चले आवेंगे, वह मानवसमूह के आरोहण में एक बड़े उत्तोलक-यंत्र का काम देगा।"

मुक्त मनुष्य के लिये भगवान् ने जो अपना दृष्टांत रखा वह गंभीर-अर्थपूर्ण है; क्योंकि इस दृष्टांत से दिव्य कर्मों के सम्बन्ध में गीता का आधार सम्पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है। मुक्त पुरुष वही है जिसने अपने-आपको भागवत प्रकृति में उठा लिया है और उसी भागवत प्रकृति के अनुसार सब कर्म करता है। पर यह भागवत प्रकृति है क्या? वह पूरी तरह अपने-आपमें केवल अचल, अकर्ता, नैर्व्यक्तिक अक्षर ब्रह्म की ही प्रकृति नहीं है; क्योंकि यह भाव मुक्त पुरुष को निष्क्रिय निश्चलता की ओर ले जायगा। यह केवल विविध, व्यष्टिगत, प्रकृतिबद्ध क्षर पुरुष की प्रकृति भी नहीं है, क्योंकि ऐसा ही हो तो मुक्त पुरुष फिर से अपने व्यष्टित्व के तथा अपरा प्रकृति और उसके गुणों के अधीन हो जायगा। यह भागवत प्रकृति उन पुरुषोत्तम की प्रकृति है जो अक्षर भाव और क्षर भाव दोनों को एक साथ धारण करते और अपनी परम दिव्यता के द्वारा एक भागवत सामंजस्य में इनका समन्वय करते हैं। यही भगवत्सत्ता का परम रहस्य है, **"रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।"** प्रकृति से बंधे हुए लोग जिस व्यष्टिगत भाव से कर्म किया करते हैं उस अर्थ में भगवान् कर्मों के कर्ता नहीं हैं; क्योंकि भगवान् अपनी शक्ति, माया, प्रकृति के द्वारा कर्म करते हैं, फिर भी उससे ऊपर रहते हैं, उसमें फंसते नहीं, उसके अधीन नहीं होते, ऐसे नहीं हैं कि उसके बनाये हुए नियमों, कार्य-प्रणालियों और कर्म-संस्कारों से ऊपर न उठ सकें और उन्हीं में आसक्त या बंधे रहें तथा हम लोगों की तरह मन-प्राण-शरीर की क्रियाओं से अपने-आपको अलग न कर सकें। वे कर्मों के ऐसे कर्ता हैं जिन्हें अकर्ता समझना चाहिए—**"कर्तारम् अकर्त्तारम्।"** भगवान् कहते हैं कि "चातुर्वर्ण्य का कर्ता मैं हूँ पर मुझे अविनाशी अकर्त्ता जान। कर्म मुझे लिप्त नहीं करते, न कर्मफलों की मुझे कोई स्पृहा है।" फिर भी भगवान् निष्क्रिय, उदासीन और निर्बल साक्षिमात्र नहीं हैं; क्योंकि वे ही अपनी शक्ति के पदक्षेपों और मानदंडों में कर्म करते हैं; प्रकृति की प्रत्येक गति में, प्राणिजगत् के प्रत्येक अणुरेणु में उन्हीं की उपस्थिति व्याप्त है, उन्हीं की चेतना भरी हुई है, उन्हीं का संकल्प काम कर रहा है, उन्हीं का ज्ञान रूपान्वित कर रहा है।

फिर वे ऐसे निर्गुणी हैं जिनमें सब गुण हैं। उपनिषदें उन्हें **'निर्गुणो गुणी'** कहती हैं। वे प्रकृति के किसी गुण या कर्म से बंधे नहीं हैं, न वे हमारे व्यक्तित्व की तरह प्रकृति के गुणधर्मों के समूहों से तथा मानसिक, नैतिक, भावावेगमय, प्राणमय और भौतिक सत्ता की लाक्षणिक क्रियाओं से बने हैं। वे तो समस्त धर्मों और गुणों के मूल हैं और किसी भी गुण या धर्म को अपनी इच्छा के अनुसार जब चाहें, जितना चाहें, जिस प्रकार चाहें विकसित करने की क्षमता रखते हैं, वे वह अनन्त सत्ता हैं जिसके ये सब भूतभाव हैं। वह सत्ता अपरिमेय राशि और असीम अनिवर्चनीय तत्त्व है जिसके ये सब परिमाण, संख्या और प्रतीक हैं और जिसको ये विश्व के मानदंड के अनुसार छंदोबद्ध और संख्याबद्ध करते हैं। फिर भी वे कोई नैर्व्यक्तिक अनिर्दिष्ट सत्ता ही नहीं हैं, न केवल ऐसी सचेतन सत्ता हैं जहाँ से समस्त निर्देश और व्यष्टिभाव अपना उपादान प्राप्त करते रहें, बल्कि वे परम सत्ता हैं, अद्वितीय मूल चिन्मय सत् हैं, पूर्ण पुरुष हैं जिनके साथ अत्यंत स्थूल और घनिष्ठ सभी प्रकार के मानव-सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं; क्योंकि वे सुहृत्, सखा, प्रेमी, खेल के संगी, पथ के दिखानेवाले, गुरु, प्रभु, ज्ञानदाता, आनन्ददाता हैं और इन सब सम्बन्धों में रहते हुए भी इनसे अलिप्त, मुक्त और निरपेक्ष हैं। देवनर भी, अपनी यथाप्राप्त सिद्धि के अनुसार व्यक्तिभाव में रहते हुए नैर्व्यक्तिक ही, सांसारिक जनों के साथ सब प्रकार के अत्यंत वैयक्तिक और घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हुए भी गुण या कर्म से सर्वथा अलिप्त, धर्म का बाह्यतः आचरण करते हुए उससे अनासक्त ही, रहता है। न तो कर्मप्रधान मनुष्य की कर्मण्यता और न संन्यासी, वैरागी या निवृत्तिमार्गी की कर्मविहीन ज्योति, न तो कर्मी मनुष्य का प्रचंड व्यक्तित्व और न तत्वज्ञानी ऋषि का उदासीन नैर्व्यक्तित्व, इनमें से कोई भी संपूर्ण भागवत आदर्श नहीं है। ये संसारी जनों के तथा संन्यासी, वैरागी या निवृत्तिमार्गी के दो परस्पर-विरोधी सर्वथा भिन्न मानदण्ड हैं। इनमें से एक क्षर के कर्म में डूबे रहते हैं और दूसरे सर्वथा अक्षर की शान्ति में निवास करने का प्रयास करते हैं; परन्तु समग्र भागवत आदर्श पुरुषोत्तम की उस प्रकृति की चीज है जो इस परस्पर-विरोध के परे है और जिसमें सभी भागवत संभावनाओं का समन्वय होता है।

कर्मी मनुष्य किसी ऐसे आदर्श से संतुष्ट नहीं होता जो इस विश्वप्रकृति की, इसकी इस त्रिगुणक्रीड़ा की, मन-बुद्धि-हृदय-शरीर के इस मानव-कर्म की परिपूर्णता पर अवलम्बित न हो। वह कह सकता है कि इस कर्म की चरम परिपूर्णता ही मेरी समझ में मनुष्य की परम सिद्धि है, मनुष्य की भागवत सम्भावना से मैं जो कुछ समझता हूँ वह यही है; जिस आदर्श से मानव-प्राणी को सन्तोष

हो सकता है वह ऐसा आदर्श होना चाहिए जो मनुष्य की बुद्धि को, उसके हृदय को, उसकी नैतिक सत्ता को सन्तुष्ट कर सके, वह ऐसा आदर्श होना चाहिए जो कर्मरत मानव-प्रकृति का हो ; वह कह सकता है कि मेरे सामने तो कोई ऐसी चीज होनी चाहिए जिसे मैं अपने मन, प्राण और शरीर की क्रिया में पा सकूँ। क्योंकि यही उसकी प्रकृति और उसका धर्म है और जो चीज उसकी प्रकृति के बाहर की हो उसमें वह अपने-आपको कैसे परिपूर्ण कर सकता है ? क्योंकि प्रत्येक जीव अपनी प्रकृति से बंधा है और उसे अपनी सिद्धि को इस दायरे के अन्दर ढूँढ़ना होगा। हमारी मानव-प्रकृति के अनुसार ही हमारी मानव-सिद्धि हो सकती है और इसलिए प्रत्येक मनुष्य को उसके लिए अपने व्यष्टिधर्म अर्थात् स्वधर्म के अनुसार अपने जीवन और कर्म में यत्न करना चाहिए, जीवन और कर्म के बाहर नहीं। इस बात का गीता यह उत्तर देती है कि हाँ, इसमें भी एक सत्य है ; मनुष्य के अन्दर ईश्वर की पूर्ण अभिव्यक्ति, जीवन में भगवान् की लीला अवश्य ही आदर्श सिद्धि का एक अंग है। परन्तु यदि तुम उसे केवल बाहर ही ढूंढो, जीवन में और कर्म के सिद्धान्त में ही उसकी खोज करते रहो तो तुम उसे कभी नहीं पा सकते ; क्योंकि तब तुम केवल इतना ही नहीं करोगे कि अपनी प्रकृति के अनुसार ही कर्म करो,—जो अपने-आपमें सिद्धि का ही एक विधान है—बल्कि सदा उसके गुणों के अधीन रहोगे (और यह असिद्धि का एक लक्षण है), सदा राग-द्वेष और सुख-दुख के द्वंद्वों में धक्के खाते रहोगे, विशेषत: प्रकृति की उस राजसी प्रवृत्ति के वश हो जाओगे जो कामका चंचल सर्वग्रासी तत्व है और क्रोध, शोक और लालसा जिसके जाल हैं, जो कभी सन्तुष्ट न होनेवाली आग है जिससे तुम्हारा सारा सांसारिक कर्म घिरा रहता है, जो ज्ञान का चिरशत्रु है जिससे तुम्हारे स्वभाव के अन्दर ज्ञान वैसे ही ढका रहता है, जैसे आग धुएँ से या दर्पण धूल से। यदि तुम आत्मस्वरूप के शान्त, स्वच्छ और प्रकाशमय सत्य में रहना चाहते हो तो इस काम को मार ही डालना होगा। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपूर्णता के इस अनादि कारण के अधिष्ठान हैं और इसपर भी तुम इनमें, निम्न प्रकृति की क्रीड़ा में ही सिद्धि की खोज करना चाहते हो। यह प्रयास व्यर्थ है। तुम्हारी प्रकृति का जो कर्म-पार्श्व है उसे पहले निवृत्ति की शान्ति को अपने अन्दर ले आना चाहिए ; तुम्हें अपने-आपको निम्न प्रकृति से ऊपर उठाकर उस प्रकृति में लाना होगा जो त्रिगुण के ऊपर है, जो परमतत्व में, आत्मतत्व में प्रतिष्ठित है। जब तुम्हें वह आत्मप्रसाद लाभ होगा तभी तुम मुक्त भागवत कर्म करने में समर्थ होगे।

इसके विपरीत शान्तिप्रार्थी, वैरागी या संन्यासी किसी ऐसी सिद्धि की सम्भावना नहीं देखते जिसमें जीवन और कर्म का प्रवेश हो सके। वे कहते हैं, क्या

जीवन और कर्म ही अपूर्णता और बंधन के घर नहीं हैं? क्या अपूर्णता कर्म के साथ वैसे ही नहीं लगी रहती जैसे अग्नि के साथ धुआं? क्या कर्म का धर्म ही राजसिक नहीं है? इस रजोगुण से ही तो कामना पैदा होती है और इसका फल होता है ज्ञान को ढक देना, कामना तथा असफलता और विफलता के अन्दर चक्कर काटते रहना, हर्ष और शोक में डोलते रहना, पुण्य और पाप के द्वन्द्व में फंसे रहना। परमेश्वर संसार में हो सकते हैं, पर वे संसार के नहीं हैं; वे त्याग के ईश्वर हैं, हमारे कर्मों के प्रभु या कारण नहीं। हमारे कर्मों का स्वामी काम है और उनका कारण अज्ञान। यदि यह जगत्, यह क्षर सृष्टि किसी प्रकार भगवान् की अभिव्यक्ति या लीला कही भी जाय तो यह अज्ञ मूढ़ प्रकृति के साथ उनकी असिद्ध क्रीड़ा है, यह उनकी अभिव्यक्ति नहीं बल्कि उनका ढंकाव ही है। संसार की प्रकृति के प्रथम दर्शन में ही यह बात स्पष्ट हो जाती है और जगत् के पूर्ण अनुभव से भी क्या इसी सत्य की शिक्षा नहीं मिलती? क्या यह अज्ञान का वह चक्र नहीं है जो जीव को कामना और कर्म की प्रेरणा के द्वारा बार-बार जन्म लेने के लिये विवश करता है और क्या यह जन्म लेना तभी बन्द न होगा जब अंत में इस प्रेरणा का क्षय हो जाय या फिर इसे त्याग दिया जाय? केवल कामना ही नहीं, किन्तु कर्म भी छोड़ देना आवश्यक है, तभी तो निश्चल आत्मा में प्रतिष्ठित होकर जीव गतिहीन, कर्महीन, क्षोभहीन, केवल ब्रह्म में जा सकेगा। गीता ने संसारी मनुष्य की, कर्मी व्यक्ति की आपत्तियों की अपेक्षा निर्गुणब्रह्मवादी, शान्तिप्रार्थी की आपत्तियों का उत्तर देने पर ज्यादा ध्यान दिया है। इसका कारण यह है कि निवृत्तिमार्ग एक उच्चतर और बलवत्तर सत्य का आश्रय लिये हुए है—अवश्य ही यह सत्य भी अभी समग्र या परम सत्य नहीं है—और यदि इस धर्म को मनुष्यजीवन का विश्वव्यापी, पूर्ण और उच्चतम आदर्श कहकर फैलाया जाय तो इसका परिणाम मानव-जाति के लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने में मात्र कर्मवाद की भूल की अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिभेद और अनिष्ट करनेवाला हो सकता है। जब कोई भी बलवान् एकांगी सत्य पूर्ण सत्य के रूप में सामने रखा जाता है तो उसका प्रकाश बहुत तीव्र होता है, पर साथ ही उससे बहुत तीव्र संकर भी होता है; क्योंकि उसमें जो सत्यांश है उसकी तीव्रता ही उसके प्रमादवाले अंश को बढ़ानेवाली होती है। कर्मवादियों के आदर्श में जो भूल है उससे केवल अज्ञान में पड़े रहने की अवधि लंबी हो जाती है और मानव-उन्नति का क्रम रुक जाता है, क्योंकि यह कर्मवाद मनुष्यों को पूर्णता या सिद्धि का अनुसंधान करने के लिए ऐसे मार्ग में प्रवृत्त करता है जहाँ सिद्धि या पूर्णता है ही नहीं; परन्तु निवृत्ति-मार्ग के आदर्श में जो भूल है उसमें तो संसार के नाश का बीज है। श्रीकृष्ण

कहते हैं कि यदि इस आदर्श को सामने रखकर मैं कर्म करूँ तो मैं इन सब प्राणियों का खातमा कर दूंगा और संकर का कर्ता बनूंगा। यद्यपि किसी व्यष्टि-पुरुष की भूल से, चाहे वह देवतुल्य पुरुष ही क्यों न हो, सारी मानवजाति नष्ट नहीं हो सकती तथापि उससे कोई ऐसी विस्तृत विशृंखला पैदा हो सकती है जो मानव-जीवन के मूल तत्व को ही काटनेवाली और उसकी उन्नति के सुनिश्चित क्रम को बिगाड़नेवाली हो।

इसलिए मनुष्य के अन्दर जो निवृत्ति का झुकाव है उसे अपनी अपूर्णता को जान लेना चाहिए और प्रवृत्ति के झुकाव के पीछे जो सत्य है, अर्थात् मनुष्य के अन्दर भगवान् की पूर्णता और मानवजाति के कर्मों में भगवान् की उपस्थिति, उसको भी अपनी बराबरी का स्थान देना होगा। भगवान् केवल नीरवता में ही नहीं हैं, कर्म में भी हैं। जिसपर प्रकृति का कोई असर नहीं पड़ता ऐसे निष्कर्म पुरुष की निवृत्ति, और जो अपने-आपको इसलिए प्रकृति के हवाले कर देता है कि यह महान् विश्व-यज्ञ, पुरुष-यज्ञ संपन्न हो ऐसे कर्मी पुरुष की प्रवृत्ति, ये दोनों बातें—निवृत्ति और प्रवृत्ति—कोई ऐसी चीजें नहीं हैं जिनमें से एक सच्ची हो और दूसरी झूठी और इन दोनों का सदा से संग्राम चला आया हो, अथवा यह भी नहीं है कि ये एक-दूसरेकी विरोधी हैं, एक श्रेष्ठ और दूसरी कनिष्ठ है और दोनों एक-दूसरे के लिये घातक हैं; बल्कि भागवत प्राकट्य का यह द्विविध भाव है। अक्षर अकेला ही इनकी परिपूर्णता की कुंजी या परम रहस्य नहीं है। इन दोनों की परिपूर्णता को, इनके समन्वय को पुरुषोत्तम-भाव में खोजना होगा जो यहाँ श्रीकृष्णरूप से उपस्थित हैं। देवनर उन्हीं की दिव्य प्रकृति में प्रवेश करके उसी तरह कर्म करेगा जैसे वे करते हैं; वह अकर्म की शरण नहीं लेगा। अज्ञानी और ज्ञानी दोनों ही मनुष्यों में भगवान् कार्य कर रहे हैं। उन भगवान् का ज्ञान हो, यही जीव का परम कल्याण और उसकी सिद्धि की शर्त्त है, किन्तु उन्हें विश्वातीत शान्ति और निश्चल-नीरवता के रूप में जानना और उपलब्ध करना ही सब कुछ नहीं है। जिस रहस्य को जानना है वह तो अज अव्यय परमात्मा और उनके दिव्य जन्म-कर्म का रहस्य है **(जन्म कर्म च मे दिव्यम्)**। इस ज्ञान से जो कर्म निःसृत होता है वह सब बंधनों से मुक्त होता है, "इस प्रकार जो मुझे जानता है," भगवान् कहते हैं कि, "वह कर्मों से नहीं बंधता।" यदि कर्म और वासना के बंधन से और पुनर्जन्म के चक्र से छूटना उद्देश्य और आदर्श हो तो ऐसे ज्ञान को ही सच्चा ज्ञान, मुक्ति का प्रशस्त पथ जानना होगा; कारण गीता का कथन है कि, "हे अर्जुन, जो तत्वतः मेरे दिव्य जन्म-कर्म को जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर, पुनर्जन्म

को नहीं बल्कि, मुझे प्राप्त होता है।" दिव्य जन्म को जानकर और अधिकृत करके वह अज अव्यय भगवान् को, जो सकलांतरात्मा हैं, प्राप्त होता है ; और दिव्य कर्मों के ज्ञान और आचरण से कर्मों के अधीश्वर को, जो 'भूतानां ईश्वरः' हैं, प्राप्त होता है। तब वह अज अविनाशी सत्ता में ही रहता है ; उसके कर्म उस सर्व-लोकमहेश्वर के कर्म होते हैं।

अवतार की संभावना और हेतु

जिस योग में कर्म और ज्ञान एक हो जाते हैं, कर्मयज्ञयोग और ज्ञानयोग एक हो जाते हैं, जिस योग में कर्म की परिपूर्णता ज्ञान में होती है और ज्ञान कर्म का पोषण करता, उसका रूप बदल देता और उसे आलोकित कर देता है और फिर ज्ञान और कर्म दोनों ही उन परम भगवान् पुरुषोत्तम को समर्पित किये जाते हैं जो हमारे अन्दर नारायण-रूप से सदा हमारे हृदयों में गुप्त भाव से विराजमान हैं, जो मानव-आकार में भी अवतार‌रूप से प्रकट होते हैं और दिव्य जन्म ग्रहण करके हमारी मानवता को अपने अधिकार में ले लेते हैं, उस योग का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण बातों-बातों में यह कह गये कि यही वह सनातन आदियोग है जो मैंने सूर्यदेव विवस्वान् को प्रदान किया और विवस्वान् ने जिसे मनुष्यों के जनक मनुको और मनु ने सूर्यवंश के आदिपुरुष इक्ष्वाकु को दिया और इस प्रकार यह योग एक राजर्षि से दूसरे राजर्षि को मिलता रहा और इसकी परंपरा चलती रही, फिर काल की गति में यह खो गया। भगवान् अर्जुन से कहते हैं आज वही योग मैं तुझे दे रहा हूँ, क्योंकि तू मेरा प्रेमी, भक्त, सखा और साथी है। भगवान् ने इस योग को परम रहस्य कहकर इसे अन्य सब योगों से श्रेष्ठ बताया, क्योंकि अन्य योग या तो निर्गुण ब्रह्म को या सगुण साकार इष्टदेव को ही प्राप्त करानेवाले, या निष्कर्मज्ञानस्वरूप मोक्ष अथवा आनन्दनिमग्न मुक्ति के ही दिलानेवाले हैं, किन्तु यह योग परम रहस्य और संपूर्ण रहस्य को खोलकर दिखानेवाला, दिव्य शक्ति और दिव्य कर्म को प्राप्त करानेवाला तथा पूर्ण स्वतंत्रता से युक्त दिव्य ज्ञान, कर्म और परमानन्द को देनेवाला है। जैसे भगवान् की परम सत्ता अपनी व्यक्त सत्ता की सब परस्पर-विभिन्न और विरोधी शक्तियों और तत्वों का समन्वय कर उन्हें अपने अन्दर एक कर लेती है वैसे ही इस योग में भी सब योगमार्ग मिलकर एक हो जाते हैं। इसलिए गीता का यह योग केवल कर्मयोग नहीं है जैसा कि कुछ लोगों का आग्रह है और जो इसे तीन मार्गों में से सबसे कनिष्ठ मार्ग बतलाते हैं, बल्कि यह परम योग है, पूर्ण समन्वयात्मक और अखंड है, जिसमें जीव के अंग-प्रत्यंगों की सारी शक्तियाँ भगवन्मुखी की जाती हैं।

इस योग को विवस्वान् आदि को दिये जाने की बात को अर्जुन ने अत्यंत स्थूल अर्थ में ग्रहण किया (इस बात को दूसरे अर्थ में भी लिया जा सकता है) और पूछा कि सूर्यदेव जो जीव-सृष्टि में अग्रजन्माओं में से एक हैं, जो सूर्यवंश के आदिपुरुष हैं उन्होंने मनुष्यरूप श्रीकृष्ण से, जो अभी-अभी जगत् में उत्पन्न हुए, यह योग कैसे ग्रहण किया। इस प्रश्न का उत्तर श्रीकृष्ण यह दे सकते थे कि सम्पूर्ण ज्ञान के मूलस्वरूप जो भगवान् हैं उस भगवद्रूप से मैंने यह उपदेश उन सविता को किया था जो भगवान् के ही ज्ञान के व्यक्त रूप हैं और जो समस्त अंतर्बाह्य दोनों ही प्रकाशों के देनेवाले हैं—**"भर्गो सवितुर्देवस्य यो नो धियः प्रचोदयात्।"** परन्तु यह उत्तर उन्होंने नहीं दिया। उन्होंने इस प्रश्न के प्रसंग से अपने छिपे हुए ईश्वर-रूप की वह बात कही जिसकी भूमिका वे तभी बांध चुके थे जब उन्होंने कर्म करते हुए भी कर्मों से न बंधने के प्रसंग में अपना दिव्य दृष्टांत सामने रखा था। पर वहाँ उन्होंने इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट नहीं किया था। अब वे अपने-आपको स्पष्ट शब्दों में अवतार घोषित करते हैं।

भगवान् गुरु की चर्चा के प्रसंग में वेदांत की दृष्टि से अवतार-तत्व का प्रतिपादन संक्षेप में किया जा चुका है। गीता भी इस तत्व को वेदांत की ही दृष्टि से हमारे सामने रखती है। अब हम इस तत्व को जरा और अन्दर पैठकर देखें और उस दिव्य जन्म के वास्तविक अभिप्राय को समझें जिसके बाह्य रूप को ही अवतार कहते हैं, क्योंकि गीता की शिक्षा में यह चीज एक ऐसी लड़ी है जिसके बिना इस शिक्षा की शृंखला पूरी नहीं होती। सबसे पहले हम श्रीगुरु के उन शब्दों का अनुवाद करके देखें जिनमें अवतार के स्वरूप और हेतु का संक्षेप में वर्णन किया गया है और उन श्लोकों को या वचनों को भी ध्यान में ले आवें जो उससे सम्बन्ध रखते हैं। "हे अर्जुन, मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके; मैं उन सबको जानता हूँ, पर तू नहीं जानता। हे परंतप, मैं अपनी सत्ता से यद्यपि अज और अविनाशी हूँ, सब भूतों का स्वामी हूँ, तो भी अपनी प्रकृति को अपने अधीन रखकर आत्म-माया से जन्म लिया करता हूँ। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का उत्थान, तब-तब मैं अपना सृजन करता हूँ। साधु पुरुषों को उबारने और पापात्माओं को नष्ट करने और धर्म की संस्थापना करने के लिए मैं युग-युग में जन्म लिया करता हूँ। मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्म को जो कोई तत्वतः जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर पुनर्जन्म को नहीं, बल्कि, हे अर्जुन, मुझको प्राप्त होता है। राग, भय और क्रोध से मुक्त, मेरे ही भाव में लीन, मेरा ही आश्रय लेनेवाले, ज्ञानतप से पुनीत अनेकों पुरुष मेरे भाव को (पुरुषोत्तम-भाव को) प्राप्त हुए हैं। जो जिस प्रकार मेरी ओर आते हैं, उन्हें

मैं उसी प्रकार प्रेमपूर्वक ग्रहण करता हूँ (भजामि) ; हे पार्थ, सब मनुष्य सब तरह से मेरे ही पथ का अणुसरण करते हैं।"[1]

गीता अपना कथन जारी रखते हुए बतलाती है कि बहुत से मनुष्य अपने कर्मों की सिद्धि चाहते हुए, देवताओं के अर्थात् एक परमेश्वर के विविध रूपों और व्यक्तित्वों के प्रीत्यर्थ यज्ञ करते हैं, क्योंकि कर्मों से—ज्ञानरहित कर्मों से—होनेवाली सिद्धि मानव-जगत् में सुगमता से प्राप्त होती है ; वह केवल उसी जगत् की होती है। परन्तु दूसरी सिद्धि, अर्थात् पुरुषोत्तम के प्रीत्यर्थ किये जानेवाले ज्ञानयुक्त यज्ञ के द्वारा मनुष्य की दिव्य आत्मपरिपूर्णता, उसकी अपेक्षा अधिक कठिनता से प्राप्त होती है ; इस यज्ञ के फल सत्ता की उच्चतर भूमिका के होते हैं और जल्दी पकड़ में नहीं आते। इसलिए मनुष्यों को अपने गुण-कर्म के अनुसार चतुर्विध धर्म का पालन करना पड़ता है और सांसारिक कर्म के इस क्षेत्र में वे भगवान् को उनके विविध गुणों में ही ढूंढते हैं। परन्तु भगवान् कहते हैं कि यद्यपि मैं चतुर्विध कर्मों का कर्ता और चातुर्वर्ण्य का स्रष्टा हूँ तो भी मुझे अकर्ता, अव्यय, अक्षर आत्मा भी जानना चाहिए। "कर्म मुझे लिप्त नहीं करते, न कर्मफल की मुझे कोई स्पृहा है।" कारण भगवान् नैर्व्यक्तिक हैं और इस अहं-भावापन्न व्यक्तित्व के तथा प्रकृति के गुणों के इस द्वन्द्व के परे हैं, और अपने पुरुषोत्तम-स्वरूप में भी, जो उनका नैर्व्यक्तिक पुरुषभाव है, वे कर्म के अन्दर रहते हुए भी अपनी इस परम स्वतंत्रता पर अधिकार रखते हैं। इसलिए दिव्य कर्मों के कर्ता को चातुर्वर्ण्य का पालन करते हुए भी उसी को जानना और उसी में रहना होता है जो परे है, जो नैर्व्यक्तिक है और फलतः परमेश्वर है। भगवान् कहते हैं "इस प्रकार जो मुझे जानता है, वह अपने कर्मों से नहीं बंधता। यही जानकर मुमुक्षु लोगों ने पुराकाल में कर्म किया ; इसलिए तू भी उसी पूर्वतर प्रकार के कर्म कर जैसे पूर्वपुरुषों ने किये थे।"[2]

जिन श्लोकों का अनुवाद ऊपर दिया गया है, उनमें से पीछे के श्लोक, जिनका सारांश-मात्र दिया गया है, 'दिव्य कर्म' का स्वरूप बतलानेवाले हैं और उसका निरूपण हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं ; और उनमें से पहले के श्लोक, जिनका संपूर्ण अनुवाद दिया गया है, वे 'दिव्य जन्म' अर्थात् अवतारतत्व का प्रतिपादन करनेवाले हैं। पर यहाँ हमें एक बात बड़ी सावधानी के साथ कह देना है कि अवतार का आना—जो मानवजाति के अन्दर भगवान् का परम रहस्य है—केवल धर्म का संस्थापन करने के लिए ही नहीं होता। क्योंकि धर्मसंस्थापन स्वयं कोई इतना

---

१. ४-५-११

२. ४-१२-५

बड़ा और पर्याप्त हेतु नहीं है, कोई ऐसा महान् लक्ष्य नहीं है जिसके लिये ईसा या कृष्ण या बुद्ध को उतरकर आना पड़े, धर्मसंस्थापन तो किसी और भी महान्, परतर और भागवत संकल्पसिद्धि की एक सामान्य अवस्थामात्र है। कारण दिव्य जन्म के दो पहलू हैं ; एक है अवतरण, मानव-जाति में भगवान् का जन्मग्रहण, मानव आकृति और प्रकृति में भगवान् का प्राकट्य, यही सनातन अवतार है ; दूसरा है आरोहण, भगवान् के भाव में मनुष्य का जन्मग्रहण, भागवत प्रकृति और भागवत चैतन्य में उसका उत्थान (**मद्भावमागताः**), यह जीव का नव-जन्म, द्वितीय जन्म है। भगवान् का अवतार लेना और धर्म का संस्थापन करना इसी नव-जन्म के लिए होता है। अवतारविषयक गीतासिद्धांत के इस द्विविध पहलू की ओर उन लोगों का ध्यान नहीं जाता जो गीता को सरसरी तौरपर पढ़ जाते हैं और अधिकांश पाठक ऐसे ही होते हैं जो इस ग्रंथ की गंभीर शिक्षा की ओर न जाकर इसके ऊपरी अर्थ से ही संतुष्ट हो जाते हैं। और वे भाष्यकार भी, जो अपनी सांप्रदायिक चहारदीवारी के अन्दर बंद रहते हैं, इसको नहीं देख पाते। इसलिए अवतारतत्वसम्बन्धी गीता का जो सिद्धान्त है उसके सम्पूर्ण अर्थ को समझने के लिए अवतार के इस द्विविध पहलू को जान लेना आवश्यक है। इसके बिना अवतार की भावना एक मतविशेष भर, एक प्रचलित मूढ़ विश्वास भर रह जायगी अथवा यह हो जायगा कि ऐतिहासिक या पौराणिक अतिमानवों को कल्पना के जोर से या रहस्यमय तरीके से भगवान् बना दिया जायगा और यह भावना वह नहीं रह जायगी जो गीता की शिक्षा है, जो गंभीर दार्शनिक और धार्मिक सत्य है और जो **"उत्तम रहस्य"** को प्राप्त कराने का एक आवश्यक अंग या पदक्षेप है।

यदि परमेश्वर-सत्ता में मनुष्य के आरोहण की सहायता करना मनुष्य-रूप में परमेश्वर के अवतीर्ण होने का प्रकृत हेतु न हो तो धर्म के लिए भगवान् का अवतार लेना एक निरर्थक-सा व्यापार प्रतीत होगा ; कारण धर्म, न्याय और सदाचार की रक्षा का कार्य तो भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता अपने सामान्य साधनों के द्वारा अर्थात् महापुरुषों और महान् आंदोलनों के द्वारा तथा ऋषियों, राजाओं और धर्माचार्यों के द्वारा सदा कर ही सकती है, उसके लिए अवतार की कोई प्रकृत आवश्यकता नहीं। अवतार का आगमन मानव-प्रकृति में भागवत प्रकृति को प्रकटाने के लिये होता है, ईसा, कृष्ण और बुद्ध की भगवत्ता को प्रकटाने के लिए, जिससे मानव-प्रकृति अपने सिद्धांत, विचार, अनुभव, कर्म और सत्ता को ईसा, कृष्ण और बुद्ध के सांचे में ढालकर स्वयं भागवत प्रकृति में रूपांतरित हो जाय। अवतार जो धर्म संस्थापित करते हैं उसका मुख्य हेतु भी यही होता है ; ईसा,

बुद्ध, कृष्ण इस धर्म के तोरणद्वार बनकर स्थित होते हैं और अपने अन्दर से होकर ही वह मार्ग निर्माण करते हैं जिसका अनुवर्त्तन करना मनुष्यों का धर्म होता है। यही कारण है कि प्रत्येक अवतार मनुष्यों के सामने अपना ही दृष्टांत रखते और अपने-आपको ही एकमात्र मार्ग और तोरणद्वार घोषित करते हैं ; अपनी मानवता को ईश्वर की सत्ता के साथ एक बतलाते और यह भी प्रकट करते हैं कि मैं जो मानव पुत्र हूँ वह और जिस ऊर्ध्वस्थित पिता से मैं अवतरित हुआ हूँ वह, दोनों एक ही हैं,—मनुष्य-शरीर में जो श्रीकृष्ण हैं वे **(मानुषीं तनुमाश्रितम्)** और परमेश्वर तथा सर्वभूतों के सुहृत् जो श्रीकृष्ण हैं वे, ये दोनों उन्हीं भगवान् पुरुषोत्तम के ही प्रकाश हैं, वहां वे अपनी ही सत्ता में प्रकट हैं, यहाँ मानव-आकार में प्रकट हैं।

अवतार का दूसरा और वास्तविक उद्देश्य ही गीता के समग्र प्रतिपादन का मुख्य विषय है। यह बात उस श्लोक से ही, यदि उसका यथार्थ रूप से विचार किया जाय तो, प्रकट है। पर केवल उस एक श्लोक से ही नहीं—क्योंकि ऐसा करना गीता के श्लोकों का ठीक अर्थ लगाने का गलत रास्ता है—बल्कि अन्य श्लोकों के साथ उसका जो सम्बन्ध है उसका पूरा ध्यान रखते हुए और समग्र प्रतिपादन के साथ उसका मेल मिलाते हुए विचार किया जाय तो यह बात और भी अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाती है। गीता का यह सिद्धान्त कि सबमें एक ही आत्मा है, और प्रत्येक प्राणी के हृद्देश में भगवान् विराजमान हैं और साथ ही सृष्टिकर्ता प्रजापति और उनकी प्रजा, इन दोनों का जैसा परस्पर-सम्बन्ध गीता बतलाती तथा विभूति-तत्व का प्रतिपादन जिस जोरदार आग्रह के साथ करती है, इन सभी बातों को ध्यान में रखना होगा और एक साथ विचारना होगा। भगवान् अपने निष्काम कर्म का उदाहरण देते हैं, जो मानव श्रीकृष्ण पर उतना ही घटता है जितना सर्वलोकमहेश्वर पर, उसकी भाषा को भी ध्यान में रखना होगा और नवें अध्याय के इस वचन को भी उसका प्राप्य स्थान देना होगा कि, "मूढ़ लोग मानुषी तनु में आश्रित मुझे तिरस्कृत करते हैं क्योंकि वे मेरे सर्वलोकमहेश्वर परम भाव को नहीं जानते ;"[1] और इन विचारों को सामने रखकर तब इस वचन का अभिप्राय निकालना होगा जो इस समय हमारे सामने है कि उनके दिव्य जन्म और दिव्य कर्म के ज्ञानद्वारा मनुष्य भगवान् के पास आता है और भगवन्मय होकर तथा उनका आश्रित होकर उनके भाव को प्राप्त होता है **(मद्भावम्)**। तब हम दिव्य जन्म और उसके हेतु का यह तत्व समझ सकेंगे कि यह कोई सबसे न्यारी अचरजभरी विलक्षण-सी चीज नहीं है, बल्कि जगत्-प्राकट्य का जो संपूर्ण क्रम है उसमें इसका भी एक विशिष्ट स्थान है ; इसके बिना हम अवतार के इस दिव्य

१. ९-११

रहस्य को समझ ही नहीं सकेंगे, बल्कि इसकी खिल्ली उड़ायेंगे या बिना समझे इसे मान लेंगे अथवा इसके बारे में आधुनिक मन के उन क्षुद्र और बाहरी विचारों में जा फंसेंगे जिनसे इसका जो आंतरिक और उपयोगी अर्थ है, वह नष्ट हो जायगा।

क्योंकि आधुनिक मन के लिए अवतार-तत्त्व तर्कबद्ध मानव-चेतना पर पूर्व की ओर से धारा-प्रवाह आनेवाली विचारधाराओं में एक विचार है और इसे स्वीकार करना या समझना सबसे कठिन है। यदि वह अवतारतत्व को उदार भाव से ले तो वह कहेगा कि यह मानव शक्ति का, स्वभाव का, प्रतिभा का, जगत् के लिए जगत् में किये गये किसी महान् कर्म का एक प्रतीक मात्र है और यदि वह इसको अनुदार भाव से ग्रहण करे तो वह कहेगा कि यह एक कुसंस्कार या मूढ़-विश्वासमात्र है। नास्तिक के लिए यह एक मूर्खतापूर्ण विचार है और यूनानी के लिये मार्ग का रोड़ा। जड़-वादी तो इस विचार को अपने ध्यान में भी नहीं ला सकते, क्योंकि वे ईश्वर की सत्ता को ही नहीं मानते; युक्तिवादी या भागवत प्राकट्य को न माननेवाले ईश्वर-वादी इसे मूर्खता और उपहास का विषय समझ सकते हैं; कट्टर द्वैतवादियों की दृष्टि में मानव-स्वभाव और देवस्वभाव के बीच का अंतर कभी मिट ही नहीं सकता, इसलिए उनकी दृष्टि में तो ऐसी बात कहना ईश्वर की निन्दा ही है। युक्तिवादियों का पक्ष यह है कि ईश्वर यदि है तो विश्वातीत, विश्व के परे है, संसार के मामलों में वह दखल नहीं देता, बल्कि संसार का अनुशासन एक सुनि-श्चित विधान के बने-बनाये यंत्र के द्वारा होने देता है—यथार्थ में वह विश्व से दूर रहनेवाला कोई वैधानिक राजा सा या कोई जड़भरत सा आध्यात्मिक राजा है, उसकी अधिक-से-अधिक प्रशंसा यही हो सकती है कि वह प्रकृति के पीछे रहने-वाला, सांख्यवर्णित साधारण और वस्तुनिरपेक्ष साक्षी पुरुष सा अकर्ता आत्म-तत्व है; वह विशुद्ध आत्मा है, वह शरीर धारण नहीं कर सकता; वह अपरि-च्छिन्न अनन्त है, मनुष्य की तरह सांत परिच्छिन्न नहीं हो सकता; वह अजन्मा सृष्टिकर्ता है, संसार में जन्मा हुआ सृष्ट प्राणी नहीं हो सकता—ये बातें उसकी निरपेक्ष शक्तिमत्ता के लिए भी असंभव हैं। कट्टर द्वैतवादी इन बातों में अपनी तरफ से इतनी बात और जोड़ देगा कि ईश्वर हैं पर उनका स्वरूप, उनका कर्म और स्वभाव मनुष्य से भिन्न और पृथक् हैं; वे पूर्ण हैं और मनुष्य की अपूर्णता को अपने ऊपर नहीं ओढ़ सकते; अज अविनाशी साकार परमेश्वर मनुष्य नहीं बन सकते; सर्वलोकमहेश्वर प्रकृति से बंधे हुए मानवकर्म में और नाशवान् मानव-शरीर में सीमाबद्ध नहीं हो सकते। ये आक्षेप जो पहली नजर में बड़े प्रबल मालूम होते हैं, गीता के वक्ता भगवान् गुरु की दृष्टि के सामने मौजूद रहे होंगे जब वे कहते हैं कि, यद्यपि मैं अपनी आत्म-सत्ता में अज हूँ, अव्यय हूँ, प्राणि-

मात्र का ईश्वर हूँ, फिर भी मैं अपनी प्रकृति का अधिष्ठान करके अपनी माया के द्वारा जन्म लिया करता हूँ ; और जब वे यह कहते हैं कि मूढ़ लोग मनुष्य-शरीर में होने के कारण मुझे तुच्छ गिनते हैं पर यथार्थ में अपनी परम सत्ता के अन्दर मैं प्राणिमात्र का ईश्वर हूँ, और यह कि मैं अपनी भागवत चेतना की क्रिया में चातुर्वर्ण्य का स्रष्टा हूँ तथा जगत् के कर्मों का कर्ता हूँ और यह होते हुए भी अपनी भागवत चेतना की नीरवता में मैं अपनी प्रकृति के कर्मों का उदासीन साक्षी हूँ, क्योंकि मैं सदा कर्म और अकर्म दोनों के परे हूँ, परम प्रभु हूँ, पुरुषोत्तम हूँ। और इस तरह गीता अवतार-तत्व के विरुद्ध किये जानेवाले आक्षेपों का पूजा जवाब दे देती है और इन सब विरोधों का समन्वय करने में समर्थ होती है, क्योंकि ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध में वेदान्त-शास्त्र के सिद्धान्त से गीता का आरम्भ होता है।

वेदान्त की दृष्टि में ये आपातप्रबल आक्षेप प्रारम्भ से ही निस्सार और निरर्थक हैं। वेदान्त की योजना के लिए अवतार की भावना अनिवार्य नहीं है सही, पर फिर भी यह भावना उसमें सर्वथा युक्तियुक्त और न्यायसंगत धारणा के रूप में सहज भाव से आ जाती है। यहाँ जो कुछ है सब ईश्वर, आत्मा, एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही तो है और ऐसी कोई चीज नहीं जो उससे भिन्न हो, कोई चीज हो ही नहीं सकती जो उससे इतर और भिन्न हो ; प्रकृति भागवत चेतना की ही एक शक्ति होने के अतिरिक्त न कुछ है न हो सकती है ; सब प्राणी एक ही भागवत सत्ता के आन्तर और बाह्य, अहं और इदं, जीवरूप और देहरूप के अतिरिक्त न कुछ हैं न हो सकते हैं, ये उसी भागवत चेतना की शक्ति से उत्पन्न होते और उसीमें स्थित रहते हैं, अनंत ईश्वर के सांत भाव को धारण करने के बारे में सवाल ही नहीं उठता जब कि सारा जगत् उस अनन्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस समग्र विशाल जगत् में, जहाँ हम रहते हैं, हम जिधर दृष्टि उठाकर देखें, चाहे जैसे देखें, उसी को देखेंगे, और किसी को नहीं। आत्मा का साकार न हो सकना अथवा अन्नमय या मनोमय रूप के साथ सम्बन्ध जोड़ने और परिच्छिन्न स्वभाव या शरीर धारण करने से घृणा करना तो दूर रहा, यहाँ तो जो कुछ है वही है, उसी सम्बन्ध से, उसी परिच्छिन्न स्वभाव और शरीर को धारण करने से ही इस जगत् का अस्तित्व है। जगत् का यंत्रवत् चलनेवाला विधान-मात्र होना तो दूर रहा, जिसकी शक्तियों की गति में या जिसके मन-प्राण-शरीर से होनेवाले कर्मों में हस्तक्षेप करनेवाला कोई आत्मा या पुरुष नहीं है, है केवल कोई आदि तटस्थ आत्मतत्व की सत्ता जो इस जगत् में नहीं, इसके बाहर या ऊपर कहीं निष्क्रिय रूप से रहती है, यह सारा जगत् और इसका प्रत्येक अणु-रेणु ही कर्मरत भागवत शक्ति है और इसकी प्रत्येक गति

का निर्धारण और नियमन उसी भागवत शक्ति के द्वारा होता है, इसके प्रत्येक रूप में उसी का निवास है, प्रत्येक जीव और उसका अंत:करण उसीका है ; सब कुछ ईश्वर में है और उसी में सब कुछ होता रहता है, सबमें वही है, वही कर्म करता और अपनी सत्ता दरशाता है ; प्रत्येक प्राणी छद्मवेश में नारायण ही है।

अजन्मा जन्म नहीं ले सकता यह बात तो दूर रही, यहाँ तो प्रत्येक जीव अपने व्यक्तित्व के अन्दर रहते हुए भी वही अजन्मा आत्मा है, वही सनातन है जिसका न कोई आदि है न अंत। और अपने मूल अस्तित्व और अपनी विश्व-व्यापकता में सभी जीव वही एक अजन्मा आत्मा हैं, जिसके आकार-ग्रहण और आकार-परिवर्तन का नाम ही जन्म और मृत्यु है। इस जगत् का सारा रहस्यमय व्यापार यही तो है कि अपूर्णता को पूर्ण कैसे धारण किए हुए है ? पर यह अपूर्णता धारण किए गये मन और शरीर के रूप और कर्म में ही प्रकट होती है, यहाँके बाह्य जगत् में ही रहती है ; जो इसे धारण करता है, उसमें कोई अपूर्णता नहीं होती ; जैसे सूर्य, जो सबको आलोकित करता है, उसमें प्रकाश या दर्शन-शक्ति की कोई कमी नहीं होती, कमी होती है व्यक्ति-विशेष की दर्शनेंद्रिय की क्षमता में। फिर, यह भी नहीं है कि भगवान् बहुत दूर किसी स्वर्ग में विराजे इस जगत् का राज करते हों, बल्कि उनका राज तो उनकी अपनी निगूढ़ सर्वव्यापकता से हुआ करता है ; प्रत्येक परिच्छिन्न सांत गुणकर्म अपरिच्छिन्न अनन्त शक्ति का ही एक कार्य है, किसी पृथक् परिच्छिन्न स्वयंभू क्रिया-शक्ति का नहीं जो अपने ही बल से कोई परिश्रम कर रही हो ; मन-बुद्धि के संकल्प और ज्ञानी की प्रत्येक परिच्छिन्न क्रिया में हम अपरिच्छिन्न अखिल संकल्प और अखिल ज्ञान के किसी कर्म का आश्रयरूप से होना ढूँढकर देख सकते हैं। भगवान् का राज ऐसा राज नहीं है जहाँ का शासक अनुपस्थित रहता हो, विदेशी हो या बाहरी हो ; वे इसलिए सबका शासन करते हैं कि वे सबका अतिक्रमण करते हैं, साथ ही इसलिए भी कि वे सब क्रियाओं में स्वयं रहते हैं और वे ही उन क्रियाओं के एकमात्र प्राण और आत्मा हैं। इसलिए अवतार की सम्भावना के विरुद्ध जो-जो आक्षेप हमारी तर्क-बुद्धि में आया करते हैं वे सिद्धान्ततः टिक नहीं सकते क्योंकि यह सब हमारे बौद्धिक तर्कद्वारा उपस्थित किया हुआ एक ऐसा व्यर्थ का विभेद है जिसे जगत् का सारा व्यापार और उसकी सारी वास्तविकता दोनों ही प्रतिक्षण खंडित और अप्रमाणित कर रहे हैं।

परन्तु अवतार की सम्भावना के प्रश्न को छोड़कर एक और प्रश्न है और वह यह है कि क्या भगवान् सचमुच इस प्रकार कर्म करते हैं, क्या सचमुच भागवत

चेतना परदे से बाहर निकलकर इस सांत, मनोमय, अन्नमय, परिच्छिन्न, अपूर्ण बाह्य जगत् में सीधे कर्म करती है ? यह सांत बाह्य परिच्छिन्न रूप आखिर क्या है—यह अनन्त के ही विभिन्न चिद्भावों के सामने अनन्त की अपनी अभिव्यक्तियों का एक सुनिश्चित बाह्य रूप, उनका एक बाहरी मूल्य है ; प्रत्येक सान्त बाह्य रूप का वास्तविक मूल्य तो यह है कि वह बाह्य प्रकृति के कर्म और सांसारिक आत्म-अभिव्यक्ति में चाहे जैसा हो पर अपनी बाह्य आत्म-सत्ता में अनन्त ही है। यदि हम अधिक गौर से देखें तो मनुष्य सर्वथा अकेला नहीं है, वह सर्वथा पृथक् रहनेवाला स्वतःस्थित व्यक्ति नहीं है, बल्कि किसी मनविशेष और शरीर-विशेष में स्वयं मानव-जाति है ; और स्वयं मानव-जाति भी स्वतःस्थित सबसे पृथक् जाति नहीं है, बल्कि भूमा विश्वपति ही मानवजाति के रूप में मूर्तिमान हैं ; इस रूप में वे कतिपय संभावनाओं को क्रियान्वित करते हैं, आधुनिक भाषा में कहें तो अपनी अभिव्यक्ति की शक्तियों को प्रस्फुटित और विकसित करते हैं, पर जो कुछ विकसित होकर आता है वह स्वयं अनंत होता है, स्वयं आत्मा होता है।

आत्मा से हमारा अभिप्राय है उस स्वयंभू सत्ता से जिसमें चेतना की अनन्त शक्ति और अपार आनन्द निहित हैं ; आत्मा यही है और यदि यह न हो तो कुछ भी नहीं है अथवा कम-से-कम मनुष्य और जगत् के साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और इसलिए मनुष्य और जगत् का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। स्थूल द्रव्य, शरीर तो सचेतन सत्ता की शक्ति का ही पुंजीभूत कर्म है, चेतना की इन्द्रिय-शक्ति द्वारा क्रियान्वित होनेवाले चेतना के परिवर्तनशील सम्बन्धों को काम में लाने के लिए साधन के तौर पर यह उपयोग में लाया जाता है। यथार्थ में स्थूल द्रव्य कहीं भी चेतना से खाली नहीं है ; क्योंकि एक-एक अणु-रेणु और छिद्र-रंध्र में भी कोई संकल्पशक्ति, कोई बुद्धि कार्य कर रही है, यह बात अब आधुनिक सायंस को भी मजबूरन स्वीकार करनी पड़ी है। परन्तु यह संकल्पशक्ति या बुद्धि उस आत्मा या ईश्वर की है जो इसके अन्दर विद्यमान है, यह किसी जड़ छिद्र या अणु का अपना, अपनेसे ही उपजा हुआ पृथक् संकल्प या विचार नहीं है। स्थूल में अंतर्लीन विराट् संकल्प और बुद्धि कार्य के बाद एक रूपों में से होकर अपनी शक्तियों का विकास करते रहते हैं और अंत में पृथ्वी पर मनुष्य के अन्दर पहुँचकर पूर्ण भागवत शक्ति के ज्यादा से ज्यादा पास पहुँच जाते हैं और यहीं इनको, इनकी बहिर्गत और रूपगत बुद्धि में भी, पहले-पहल अपनी दिव्यता का कुछ-कुछ धुंधला-सा आभास मिलता है। परन्तु यहाँ भी एक सीमा होती है, यह प्राकट्य भी अभी अपूर्ण है और इसलिए निम्नतर रूपों को भगवान् के साथ अपने तादात्म्य का ज्ञान नहीं हो पाता। क्योंकि प्रत्येक ससीम प्राणी में बाह्य जगत् की क्रिया

की एक सीमा बंधी होती है और उसके साथ-साथ उसकी बाह्य चेतना की भी एक सीमा लगी रहती है जो जीव के स्वभाव का निरूपण करती और एक-एक जीव के अन्दर आन्तरिक भेद उत्पन्न कर देती है। अवश्य ही भगवान् इस सबके पीछे रहकर कर्म करते हैं और इस बाह्य अपूर्ण चेतना और संकल्प के द्वारा अपनी विशेष अभिव्यक्तियों का नियमन करते हैं, किन्तु, जैसा कि वेद में कहा गया है, वे अपने-आपको गुहा में छिपाये रहते हैं। गीता इसी बात को यों कहती है कि "ईश्वर सब प्राणियों के हृद्देश में वास करते हैं और सबको माया से यंत्रारूढ़-वत् चलाते रहते हैं।"[1] हृद्देश में छिपे हुए भगवान्, अहमात्मक प्राकृत चेतना के द्वारा जिस प्रकार कर्म करते हैं वही जगत् के प्राणियों के साथ ईश्वर की कार्य-प्रणाली है। जब ऐसा ही है, तब हमें यह मानने की क्या आवश्यकता है कि, वे किसी रूप में, यानी प्राकृत चेतना में भी सामने आकर प्रकट होते और प्रत्यक्ष में अपने विरुद्ध चैतन्य के साथ कार्य करते हैं? इसका उत्तर यही है कि यदि भगवान् इस तरह आते हैं तो मनुष्य और अपने बीच के परदे को फाड़ने के लिए आते हैं जिस परदे को अपनी प्रकृति में सीमित मनुष्य उठातक नहीं सकता।

गीता कहती है कि जीव साधारणतया जो अपूर्ण रूप से कर्म करता है उसका कारण यह है कि वह प्रकृति की यांत्रिक क्रिया के वश में होता है और माया के रूपों से बंधा रहता है। प्रकृति और माया भागवत चैतन्य की कार्यशक्ति के ही दो परस्पर-पूरक पहलू हैं। माया यथार्थ में भ्रम नहीं है—भ्रम का भाव या आभास केवल अपरा प्रकृति के अज्ञान से अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया से उत्पन्न होता है—भागवत चैतन्य में सत्ता की विविध आत्माभिव्यक्तियों को करने की शक्ति को माया कहते हैं, और प्रकृति उसी चैतन्य की वह कार्यशक्ति है जो भगवान् के प्रत्येक अभिव्यक्त रूप का उसके स्वभाव और स्वधर्म के अनुसार, उसके गुण-कर्म के अनुसार जगत्-अभिनय में परिचालन करती है। भगवान् कहते हैं कि, "मैं अपनी प्रकृति के ऊपर स्थित होकर, उसपर दबाव डालकर इन विविध प्राणियों को, जो प्रकृति के वश में अवश हैं, सिरजता हूँ।"[2] जो लोग मानवशरीर में निवास करनेवाले भगवान् को नहीं जानते, वे इस बात से अनभिज्ञ हैं, क्योंकि वे सर्वथा प्रकृति की यांत्रिकता के वश में, उसके मनोमय बन्धनों में अवश रूप से बंधे हुए और उन्हीं को मानकर चलनेवाले हैं और उस आसुरी प्रकृति में वास करते हैं जो कामना से मन को मोहती और अहंकार से बुद्धि को भरमाती है (**मोहिनीं प्रकृतिं श्रिताः**)। क्योंकि अंतःस्थित भगवान् पुरुषोत्तम हरएक के सामने सहसा

१. १८-६१
२. ९-८

प्रकट नहीं होते; वे अपने-आपको किसी घने काले मेघ के अन्दर या किसी चमकदार रोशनी के बादल में छिपाये, अपनी योगमाया का आवरण ओढ़े रहते हैं (**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः**)। गीता बतलाती है कि "यह सारा जगत् प्रकृति के त्रिगुणमय भावों से विमोहित है और मुझे नहीं पहचानता; क्योंकि मेरी दैवी गुणमयी माया बड़ी दुस्तर है; वे ही इसे तरते हैं जो मेरी शरण में आते हैं; पर जो आसुरी प्रकृति का आश्रय किये रहते हैं उनका ज्ञान माया हर लेती है।"[1] दूसरे शब्दों में, सबके अन्दर भागवत चैतन्य निहित है, क्योंकि सबमें ही भगवान् निवास करते हैं; परन्तु भगवान् का यह निवास उनकी माया से आवृत है और इस कारण इन प्राणियों का मूल आत्म-ज्ञान इनसे अपहृत हो जाता है और माया की क्रिया से, प्रकृति की यंत्रवत् क्रिया से, अहंकाररूप भ्रम में बदल जाता है। तथापि प्रकृति की इस यांत्रिकता से पीछे हटकर उसके आंतर और गुप्त स्वामी की ओर जाने से मनुष्य को अंतर्यामी भगवान् का प्रत्यक्ष बोध हो सकता है।

अब यह बात ध्यान में रखने की है कि गीता भगवान् के सामान्य प्राणिजन्म के कर्म और स्वयं अवतारूप से जन्म लेने के कर्म इन दोनों ही कर्मों का, शब्दों के सामान्य से पर महत्वपूर्ण फेरफार के साथ, एकसा वर्णन करती है। "अपनी प्रकृति को वश में करके (**प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य**) मैं इन प्राणियों के समूह को जो प्रकृति के वश में हैं उत्पन्न करता हूँ (**विसृजामि**)।"[2] फिर, "अपनी प्रकृति के ऊपर स्थित होकर मैं अपनी आत्ममाया से जन्म लेता हूँ (**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय . . . . . आत्ममायया**)—अपने-आपको उत्पन्न करता हूँ (**आत्मानम् सृजामि**)[3]।" 'अवष्टभ्य' पद से दबाव डालना सूचित किया गया है जिससे अधिकृत वस्तु परवश, परपीड़ित, अपनी क्रिया में अवरुद्ध या परिसीमित और वशी के वश में (**अवशं वशात्**) होती है; इस क्रिया में प्रकृति यंत्रवत् जड़ होती है और प्राणिसमूह उसकी इस यांत्रिकता में बेबस फंसे रहते हैं, अपने कर्म के स्वामी नहीं होते। 'अधिष्ठाय' पद इसके विपरीत, अन्दर स्थित होना तो सूचित करता ही है, पर साथ ही प्रकृति के ऊपर स्थित होना भी सूचित करता है जिससे यह अभिप्राय निकला कि इसमें भगवान् अंतर्यामी अधिष्ठातृ-देवता होकर प्रकृति का सचेतन नियंत्रण और शासन करते हैं, यहाँ पुरुष अज्ञान के वश में विवश होकर प्रकृति के चलाये नहीं चलता, बल्कि प्रकृति ही पुरुष के प्रकाश और संकल्प से परिपूर्ण होती है।

---

१. ७-१३-५

२. ९-८

३. ४-६

इसलिए सामान्य प्राणिजन्मरूप जो विसर्ग है वह प्राणियों या भूतों की सृष्टि है जिसे गीता 'भूतग्रामं' कहती है और दिव्यजन्मरूप जो सर्ग या आत्मसृष्टि है वह स्वात्मसचेतन स्वयंभू आत्मा का जन्म है जिसे गीता 'आत्मानं' कहती है। यहाँपर यह बात जान लेनी चाहिए कि 'आत्मानं' और 'भूतानि' का वेदान्तशास्त्र में वही भेद माना गया है जो भेद पाश्चात्य दर्शन सत्ता और उसकी संभूति में करता है। दोनों जन्मों में माया ही सृष्टि या अभिव्यक्ति का साधन है, पर दिव्य जन्म में यह 'आत्ममाया' है, अज्ञान की निम्नतर माया में संवेष्टन नहीं, बल्कि स्वतः-स्थित परमेश्वर का प्रकृतिरूप में अपने-आपको प्रकट करने का सचेतन कर्म है जिसे अपनी क्रिया और अपने हेतु का पूरा बोध है। इसी कर्मशक्ति को गीता ने अन्यत्र योगमाया कहा है। सामान्य प्राणिजन्म में भगवान्, इस योगमाया के द्वारा अपने-आपको निम्नतर चेतना से ढांके और छिपाये रहते हैं, इसलिए यही हमारे अज्ञान का कारण बनती है, यही अविद्या माया है; परन्तु फिर इसी योगमाया के द्वारा हमारी चेतना को भगवान् की ओर पलटाकर हमें आत्म-ज्ञान की प्राप्ति करायी जाती है, वहाँ यह ज्ञान का कारण बनती और विद्यामाया कहाती है; और दिव्य जन्म में इसकी क्रिया यह होती है कि जो कर्म सामान्यतः अज्ञान में किये जाते हैं उनको यह स्वयं ज्ञानस्वरूप रहकर संयत और आलोकित करती है।

इसलिए गीता की भाषा से यह स्पष्ट होता है कि दिव्य जन्म में भगवान् अपनी अनन्त चेतना के साथ मानव-जाति में जन्म लेते हैं और यह मूलतः सामान्य जन्म का उलटा प्रकार है—यद्यपि जन्म के साधन वे ही हैं जो सामान्य जन्म के होते हैं—क्योंकि यह अज्ञान में जन्म लेना नहीं, बल्कि यह ज्ञान का जन्म है, कोई भौतिक घटना नहीं बल्कि यह आत्मा का जन्म है। यह आत्मा का स्वतःस्थित पुरुषरूप से जन्म के अन्दर आना है, अपने भूतभाव को सचेतन रूप से नियंत्रित करना है, अज्ञान के बादल में अपने-आपको खो देना नहीं; यह पुरुष का प्रकृति के प्रभु-रूप से शरीर में जन्म लेना है। यहाँ प्रभु अपनी प्रकृति के ऊपर खड़े स्वेच्छा से स्वच्छंदतापूर्वक उसके अन्दर कार्य करते हैं, उसके अधीन होकर, बेबस, भवचक्ररूपी यंत्र में फंसे-भटकते नहीं रहते, क्योंकि उनका कर्म ज्ञानकृत होता है, सामान्य प्राणियों का सा अज्ञानकृत नहीं। यह सब प्राणियों के अन्दर छिपे हुए अंतर्यामी अंतरात्मा का ही परदे की आड़ से बाहर निकल आना और मानवरूप में पर भगवान् की भांति, उस जन्म को अधिकृत करना है जिसे वह सामान्यतः परदे की आड़ में ईश्वररूप से अधिकृत किये रहता है, जब कि परदे के बाहर की जो बहिर्गत चेतना है वह अधिकारी होने की अपेक्षा स्वयं ही अधिकृत

रहती है, क्योंकि वहाँ वह आंशिक सचेतन सत्ता-रूप से आत्मविस्मृत जीव है और प्रकृति के अधीन जो यह जगद्व्यापार है उसके द्वारा अपने कर्म में बंधा है। इसलिए अवतार का अर्थ है[1] भागवत पुरुष श्रीकृष्ण का पुरुष के दिव्य भाव को मानवता के अन्दर प्रत्यक्ष रूप से प्रकट करना। भगवान् गुरु अर्जुन को जो मानव-आत्मा है, मानव-प्राणी का श्रेष्ठतम नमूना है, विभूति है, उसी दिव्य भाव में ऊपर उठने के लिये निमंत्रित करते हैं जिसमें वह तभी पहुँच सकता है जब अपनी सामान्य मानवता के अज्ञान और सीमा को पार कर ले। यह ऊपर से उसी तत्व का नीचे आकर आविर्भूत होना है जिसे हमें नीचे से ऊपर चढ़ा ले जाना है ; यह मानव-सत्ता के उस दिव्य जन्म में भगवान् का अवतरण है जिसमें हम मर्त्य प्राणियों को आरोहण करना है ; यह मानव-प्राणी के सम्मुख, मनुष्य के ही आकार और प्रकार के अन्दर तथा मानवजीवन के सिद्ध आदर्श नमूने के अन्दर, भगवान् का एक आकर्षक दिव्य उदाहरण है।

१. 'अवतार' शब्द का अर्थ है उतरना ; यह भगवान् का उस रेखा के नीचे उतर आना है, जो भगवान् को मानव-जगत् या मानव-अवस्था से पृथक् करती है।

भगवान् की अवतरण-प्रणाली

हम देखते हैं कि मनुष्य में परमेश्वर का अवतरण अर्थात् परमेश्वर का मानव-रूप और मानव-स्वभाव-धारण एक ऐसा रहस्य है जो गीता की दृष्टि में स्वयं मानव-जन्म के चिरंतन रहस्य का एक दूसरा पहलू है ; क्योंकि मानव-जन्म मूलतः, बाह्यतः न सही, ऐसा ही आश्चर्यमय व्यापार है। प्रत्येक मनुष्य का सनातन और विराट् आत्मा स्वयं परमेश्वर है ; उसका व्यष्टिभूत आत्मा भी परमेश्वर का ही अंश है (**ममैवांशः**) जो निश्चय ही परमेश्वर से कटकर अलग हुआ कोई टुकड़ा नहीं,—कारण परमेश्वर के सम्बन्ध में कोई ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती कि वे छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे हुए हों,—बल्कि वह एक ही चैतन्य का आंशिक चैतन्य है, एक ही शक्ति का शक्त्यंश है, सत्ता के आनन्द के द्वारा जगत्-सत्ता का आंशिक आनन्द-उपभोग है, और इसलिए व्यक्त रूप में या यह कहिए कि प्रकृति में यह जीव उसी एक अनन्त अपरिच्छिन्न पुरुष का एक सांत परिच्छिन्न भाव है। इस परिच्छिन्नता की जो छाप उसपर पड़ी है वह एक ऐसा अज्ञान है जिससे वह न केवल उन परमेश्वर को जिनसे वह आया, बल्कि उन परमेश्वर को भी भूल जाता है जो सदा उसके अंतर में विराजमान हैं, उसकी अपनी प्रकृति के गुह्य हृद्देश में अवस्थित हैं और उसके अपने मानवचैतन्य के देवालय की अंतर्वेदी में प्रच्छन्न अग्नि के समान प्रज्वलित हैं।

मनुष्य उन्हें नहीं जानता, क्योंकि उसकी आत्मा की आँखों पर और उसकी समस्त इन्द्रियों पर उस प्रकृति की, उस माया की छाप लगी हुई है जिसके द्वारा वह परमेश्वर की सनातन सत्ता से बाहर निकालकर अभिव्यक्त किया गया है ; प्रकृति ने उसे भागवत सत्व की अत्यंत मूल्यवान् धातु से सिक्के के रूप में ढाला है, पर उसपर अपने प्राकृत गुणों के मिश्रण का इतना गहरा लेप चढ़ा दिया है, अपनी मुद्रा की और पाशविक मानवता के चिह्न की इतनी गहरी छाप लगा दी है कि यद्यपि भागवत भाव का गुप्त चिह्न वहाँ मौजूद है लेकिन वह आरम्भ में दिखायी नहीं देता, उसका बोध होना सदा ही दुस्तर होता है, उसका पता चलता है तो केवल आत्म-स्वरूप के रहस्य की उस दीक्षा से जो बहिर्मुख मानवता से ईश्वरा-

भिमुख मानवता का पार्थक्य स्पष्ट दिखा देती है। अवतार में अर्थात् दिव्य-जन्मप्राप्त मनुष्य में वह भागवत सत्व लेप के रहते हुए भी भीतर से जगमगा उठता है ; प्रकृति की मुहरछाप वहाँ केवल रूप के लिये होती है, अवतार की दृष्टि अंत:-स्थित ईश्वर की दृष्टि होती है, उनकी जीवन-शक्ति अंत:स्थित ईश्वर की जीवन-शक्ति होती है और वह धारण की हुई मानव-प्रकृति की मुहरछाप को भेद कर बाहर निकल पड़ती है ; ईश्वर का यह चिह्न, अंतरस्थ अंतरात्मा का यह चिह्न कोई बाह्य या भौतिक चिह्न न होने पर भी उनके लिए स्पष्ट बोधगम्य होता है जो उसे देखना चाहें या देख सकें ; आसुरी प्रकृति अवश्य ही यह सब नहीं देख सकती, क्योंकि वह केवल शरीर को देखती है आत्मा को नहीं, वह बाह्य सत्ता को देखती है अंत:सत्ता को नहीं, वह परदे को देखती है उसके भीतर के पुरुष को नहीं। सामान्य मानव-जन्म में मानवरूप धारण करनेवाले जगदात्मा जगदीश्वर का प्रकृतिभाव ही मुख्य होता है ; अवतार के मनुष्य-जन्म में उनका ईश्वरभाव प्रकट होता है। एक में ईश्वर मानव-प्रकृति को अपनी आंशिक सत्तापर अधिकार और शासन करने देते हैं और दूसरे में वे अपनी अंशसत्ता और उसकी प्रकृति को अपने अधिकार में लेकर उसपर शासन करते हैं। गीता हमें बतलाती है कि साधारण मनुष्य जिस प्रकार विकास को प्राप्त होता हुआ या ऊपर उठता हुआ भागवत जन्म को प्राप्त होता है उसका नाम अवतार नहीं है, बल्कि भगवान् जब मानवता के अंदर प्रत्यक्ष रूप में उतर आते हैं और मनुष्य के ढांचे को पहन लेते हैं, तब वह अवतार कहलाते हैं।

परन्तु अवतार लेने के लिए यह स्वीकृति या यह अवतरण मनुष्य के आरोहण या विकास को सहायता पहुँचाने के लिए ही होता है, इस बात को गीता ने बहुत स्पष्ट करके कहा है। कहा जा सकता है कि मानव-प्राणी के रूप में भगवान् के प्राकट्य की सम्भावना को दृष्टांतरूप से सामने रखने के लिए अवतार होता है, ताकि मनुष्य देखे कि यह क्या चीज है और उसमें इस बात का साहस हो कि वह अपने जीवन को उसके जैसा बना सके। और यह इसलिए भी होता है कि पार्थिव प्रकृति की नसों में इस प्राकट्य का प्रभाव बहता रहे और उस प्राकट्य की आत्मा पार्थिव प्रकृति के ऊर्ध्वगामी प्रयास का नेतृत्व करती रहे। यह जन्म मनुष्य को दिव्य मानवता का एक ऐसा आध्यात्मिक सांचा देने के लिए होता है जिसमें मनुष्य की जिज्ञासु अंतरात्मा अपने-आपको ढाल सके। यह जन्म एक धर्म देने के लिए—कोई संप्रदाय या मतविशेषमात्र नहीं, बल्कि आंतर और बाह्य जीवनयापन की प्रणाली—आत्म-संस्कारक मार्ग, नियम और विधान देने के लिए होता है जिसके द्वारा मनुष्य दिव्यता की ओर बढ़ सके। चूँकि

मनुष्य का इस प्रकार आगे बढ़ना, इस प्रकार आरोहण करना मात्र पृथक् और वैयक्तिक व्यापार नहीं है, बल्कि भगवान् के समस्त जगत्-कर्म की तरह एक सामूहिक व्यापार है, मानवमात्र के लिये किया गया कर्म है इसलिए अवतार का आना मानव-यात्रा की सहायता के लिए, महान् संकट-काल के समय मानव-जाति को एक साथ रखने के लिए, अधोगामी शक्तियाँ जब बहुत अधिक बढ़ जायें तो उन्हें चूर्ण-विचूर्ण करने के लिए, मनुष्य के अन्दर जो भगवन्मुखी महान् धर्म है उसकी स्थापना या रक्षा के लिए, भगवान् के साम्राज्य की (फिर चाहे वह कितना ही दूर क्यों न हो) प्रतिष्ठा के लिए, प्रकाश और पूर्णता के साधकों (**साधूनां**) को विजय दिलाने के लिए और जो अशुभ और अंधकार को बनाये रखने के लिए युद्ध करते हैं उनके विनाश के लिए होता है। अवतार के ये हेतु सर्वमान्य हैं और उसके कर्म को देखकर ही जनसमुदाय उन्हें विशिष्ट पुरुष जानता और पूजने को तैयार होता है। केवल आध्यात्मिक मनुष्य ही यह देख पाते हैं कि अवतार एक चिह्न है, मानसिक और शारीरिक क्षेत्र में अभिव्यक्त होकर उसे अपने साथ एकता में विकसित करने और उसपर अधिकार करने के लिए अपने-आपको अभिव्यक्त करने वाले सनातन आन्तरिक भगवान् का प्रतीक है। बाह्य मानवरूप में ईसा, बुद्ध या कृष्ण का जो दिव्य प्राकट्य होता है और मनुष्य के अन्दर भगवान् के चिरंतन अवतार का जो प्राकट्य होता है, दोनों के मूल में एक ही गूढ़ सत्य है। जो कुछ अवतारों के द्वारा इस पृथ्वी के बाह्य मानव-जीवन में किया गया है वह समस्त मानव-प्राणियों के अन्दर दोहराया जा सकता है।

अवतार लेने का यही उद्देश्य होता है, पर इसकी प्रणाली क्या है? अवतार के संबंध में एक यौक्तिक या संकीर्ण विचार है जिसे केवल इतना ही दिखायी देता है कि अवतार किन्हीं नैतिक, बौद्धिक और क्रियात्मक दिव्यतर गुणों की असाधारण अभिव्यक्तिमात्र होते हैं, जो साधारण मानवजाति का अतिक्रमण कर जाते हैं। इस विचार में अवश्य ही कुछ सत्य है। अवतार विभूति भी हैं। ये श्रीकृष्ण जो अपनी अंतःसत्ता में मानव-शरीरधारी ईश्वर हैं, वे ही अपनी बाह्य मानवसत्ता में अपने युग के नेता, वृष्णिकुल के महापुरुष हैं। यह प्रकृति के दृष्टिकोण से है, आत्मा की दृष्टि से नहीं। भगवान् अपने-आपको प्रकृति के अनन्त गुणों में प्रकट करते हैं और इस प्राकट्य की तीव्रता उन गुणों की शक्ति और सिद्धि से जानी जाती है। इसलिए भगवान् की विभूति, नैर्व्यक्तिक भाव से उनके गुणों की अभिव्यक्त शक्ति है, वह उनका बहिःप्रवाह है चाहे ज्ञान के रूप में हो अथवा शक्ति, प्रेम, बल या अन्य किसी रूप में; और वैयक्तिक भाव से यह वह मनोमय रूप और सजीव सत्ता है जिसमें वह शक्ति सिद्ध होती

और अपने महत् कर्म करती है। इस आंतरिक और बाह्य सिद्धि को प्राप्त करने में कोई प्रधानता, भागवत गुण की कोई महत्तर शक्ति, कोई कारगर ताकत ही विभूति का लक्षण है। मानव विभूति भागवत सिद्धि प्राप्त करने के लिए मानव-जाति के संघर्ष का अग्रणी नेता होता है—कारलाइल के अनुसार मनुष्यों के अन्दर एक भागवत शक्ति। "वृष्णियों में मैं वासुदेव (श्रीकृष्ण) हूँ, पांडवों में धनंजय (अर्जुन) हूँ, मुनियों में व्यास और कवियों में उशना कवि हूँ", अर्थात् प्रत्येक कोटि या कक्षा में सर्वोत्तम, प्रत्येक समूह में सबसे महान्, जिन-जिन गुणों और कर्मों के द्वारा उस समूह की विशिष्ट आत्मशक्ति प्रकट होती है उन गुणों और कर्मों का प्रकाश जिसके द्वारा सर्वोत्तम रूप से प्रकट होता है वह ईश्वर की विभूति है। जीव की शक्तियों का यह उत्कर्ष भागवत प्राकट्य के क्रम में अत्यंत आवश्यक है। कोई भी महान् पुरुष जो हमारी औसत कक्षा के ऊपर उठ जाता है वह अपने उस कर्म से साधारण मानव-जाति को ऊपर उठा देता है; वह हमारी भागवत संभावनाओं का एक सजीव आश्वासन, परमेश्वर की एक प्रतिश्रुति और भागवत प्रकाश की एक प्रभा तथा भागवत शक्ति का एक उच्छ्वास होता है।

मनुष्यों में महामनस्वी और वीर पुरुषों को देवता की तरह पूजने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है उसके मूल में यही सत्य है। भारतवासियों का मन तो सभी बड़े-बड़े संत-महात्माओं, आचार्यों और पंथ-प्रवर्त्तकों को अनायास ही आंशिक अवतार मान लेने में अभ्यस्त है और दक्षिण के वैष्णव तो अपने कुछ संतों को भगवान् विष्णु के प्रतीकात्मक सचेतन शस्त्रों के अवतार मानते हैं, क्योंकि सचमुच महान् आत्माएँ भगवान् की सचेतन शक्तियाँ और शस्त्र ही तो हैं, जिनसे ऊपर की ओर आगे बढ़ने और विघ्न-बाधाओं से संग्राम करने का काम लिया जाता है। यह विचार जीवन के बारे में हर रहस्यवादी या आध्यात्मिक दृष्टि के लिए—जो भागवत सत्ता और प्रकृति तथा मानवसत्ता और प्रकृति के बीच अमिट रेखा नहीं खींचती—सहज और अपरिहार्य है—यह मानवता में भगवान् का बोध है। परन्तु फिर भी विभूति अवतार नहीं हैं; यदि विभूति और अवतार एक ही होते तो अर्जुन, व्यास, उशना सब वैसे ही अवतार होते जैसे श्रीकृष्ण थे, चाहे उनमें अवतारपन की शक्ति इनसे कुछ कम ही होती। परन्तु दिव्य गुण का होना ही पर्याप्त नहीं है; अवतार होना तो तब कहा जा सकता है जब कि अपने परमेश्वर और परमात्मा होने का आंतरिक ज्ञान हो और यह ज्ञान हो कि हम अपनी भागवत सत्ता से मानव-प्रकृति का शासन कर रहे हैं। गुणों की शक्ति का उत्कर्ष संभूति (भूतग्राम) का अंश है, सामान्य अभिव्यक्ति

में यह ऊर्ध्व की ओर आरोहण है। पर अवतार में एक विशेष अभिव्यक्ति होती है, यह दिव्य जन्म ऊपर से होता है, सनातन विश्वव्यापक विश्वेश्वर व्यष्टिगत मानवता के एक आकार में उतर आते हैं **'आत्मानं सृजामि'** और वे केवल परदे के अन्दर ही अपने स्वरूप से सचेतन नहीं रहते, बल्कि बाह्य प्रकृति में भी उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान रहता है।

एक मध्यस्थ विचार भी है, अवतार के बारे में एक अधिक रहस्यमय दृष्टि है जिसके अनुसार मानव-आत्मा अपने अन्दर भगवान् का आवाहन करके यह अवतरण कराती है और तब वह भागवत चैतन्य के अधिकार में हो जाती है अथवा उसका प्रभावशाली प्रतिबिंब या माध्यम बन जाती है। यह विचार किन्हीं आध्यात्मिक अनुभवों के सत्य पर अवलंबित है। यह मनुष्य में भागवत जन्म, अर्थात् मनुष्य का आरोहण, मानव-चैतन्य का भागवत चैतन्य में संवर्धन है और पृथक् आत्मा का भागवत चैतन्य में लय हो जाना ही इसकी परिणति है। आत्मा अपने व्यष्टिभाव को अनन्त और विश्वव्यापक सत्ता में मिला देती या परात्पर सत्ता की परा स्थिति में खो देती है; वह विराट् आत्मा के साथ, ब्रह्म के साथ, भगवान् के साथ एक हो जाती है अथवा जैसा कि प्रायः और भी अधिक निश्चित रूप से कहा जाता है—वह स्वयं ही एकमेवाद्वितीय आत्मा, ब्रह्म, भगवान् बन जाती है। जीव के ब्रह्मभूत होने और उसी कारण भगवान् में, श्रीकृष्ण में निवास करने की बात स्वयं गीता भी कहती है, पर यह ध्यान में रहे कि गीता ने कहीं भी यह नहीं कहा है कि जीव भगवान् या पुरुषोत्तम हो जाता है। हाँ, जीव के संबंध में गीता ने इतना अवश्य कहा है कि जीव सदा ही ईश्वर है, भगवान् की अंशसत्ता है (**ममैवांशः**)। कारण यह जो महामिलन है, यह जो उच्चतम भाव है यह आरोहण का ही एक अंग है; और यद्यपि यह वह दिव्य जन्म है जिसे प्रत्येक जीव प्राप्त होता है, पर यह परमेश्वर का नीचे उतरना नहीं है, यह अवतार नहीं है, अधिक-से-अधिक, बौद्ध सिद्धांत के अनुसार इसे हम बुद्धत्व की प्राप्ति कह सकते हैं, यह जीव का अपने अभी के जागतिक व्यष्टिभाव से जागकर अनंत परचैतन्य को प्राप्त होना है। इसमें अवतार की आंतरिक चेतना अथवा अवतार के लाक्षणिक कर्म का होना जरूरी नहीं है।

दूसरी ओर, भागवत चैतन्य में प्रवेश करने के फलस्वरूप यह हो सकता है कि भगवान् हमारी सत्ता के मानव-अंगों में प्रवेश करें या उनमें आगे आकर प्रकट हों और अपने-आपको मनुष्य की प्रकृति, उसकी कर्मण्यता, उसके मन और शरीर तक में ढाल दें; और तब इसे कम-से-कम अंशावतार तो कहा ही जायगा। गीता कहती है कि ईश्वर हृद्देश में निवास करते हैं,—अवश्य ही गीता का

अभिप्राय सूक्ष्म शरीर के हृदय से है जो भावावेगों, संवेदनों और मनोमय चेतना का ग्रंथिस्थान है, जहाँ व्यष्टि-पुरुष भी अवस्थित है,—पर यहाँ वे परदे की आड़ में ही रहते हैं, अपनी माया से अपने-आपको ढँके रहते हैं। परन्तु, ऊपर उस लोक में, जो हमारे अन्दर है पर अभी हमारी चेतना के परे है, जिसे प्राचीन तत्व-दर्शियों ने स्वर्ग कहा है, वहाँ ये ईश्वर और यह जीव दोनों एक साथ एक ही स्वरूप में प्रत्यक्ष होते हैं। इन्हीं को कुछ संप्रदायों की सांकेतिक भाषा में पिता और पुत्र कहा गया है—पिता हैं भागवत पुरुष और पुत्र है भागवत मनुष्य जो उन्हींसे उन्हींकी परा प्रकृति से, परा माया से निम्न, मानव-प्रकृति में जन्म लेता है। इन्हीं परा प्रकृति, परा माया को जिनके द्वारा यह जीव अपरा मानव प्रकृति में उत्पन्न होता है, कुमारी माता[1] कहा गया है। ईसाइयों के अवतारवाद का यही भीतरी रहस्य प्रतीत होता है। त्रिमूर्ति में पिता ऊपर इसी अंतःस्वर्ग में हैं; पुत्र अर्थात् गीता की जीवभूता परा प्रकृति इस लोक में, इस मानव-शरीर में दिव्य या देव-मनुष्य के रूप में है; और पवित्र आत्मा (होली स्पिरिट) इन दोनों को एक बना देती है और इसीमें इन दोनों का परस्पर-व्यवहार होता है; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वह पवित्र आत्मा ईसा में उतर आयी थी और इसी अवतरण के फलस्वरूप ईसा के शिष्यों में भी, जो सामान्य मानव-कोटि के थे, उस महत् चैतन्य की क्षमता आ गयी थी।

परन्तु यह भी संभव है कि परम पुरुष पुरुषोत्तम का उच्चतर भागवत चैतन्य मनुष्य के अन्दर उतर आये और जीव-चैतन्य का उसमें लय हो जाय। श्रीचैतन्य के समकालीन लोग बतला गये हैं कि वे अपनी साधारण चेतना में भगवान् के केवल एक प्रेमी और भक्त थे और देवत्वारोपण को अस्वीकार करते थे। किन्तु कभी-कभी वे एक ऐसे विलक्षण भाव में आ जाते थे कि उस अवस्था में वे स्वयं भगवान् हो जाते तथा भगवद्भाव से ही भाषण और कर्माचरण करते थे; और ऐसे समय उनसे भगवत्-सत्ता के प्रकाश, प्रेम और शक्ति का अबाध प्रवाह उमड़ पड़ता था। इसीको यदि जीवन की सामान्य अवस्था मान लें, अर्थात् मनुष्य सदा इस भागवत सत्ता और भागवत चैतन्य का केवल एक पात्र ही बना रहे तो ऐसा पुरुष अवतार-संबंधी मध्यवर्ती भावना के अनुसार अवतार होगा? मानव-धारणा के अनुसार अवतार-संबंधी यह भावना ठीक ही जँचती है; क्योंकि यदि मानवप्राणी अपनी प्रकृति को इतना उन्नत कर ले कि उसे भागवत सत्ता के साथ

१. बौद्ध आख्यायिका में गौतम बुद्ध की माता का नाम इस सांकेतिक भाषा को खोल देता है; ईसाइयों के यहां यह संबंध सुपरिचित पौराणिक कथाओं की रचना-प्रणाली के अनुसार नजरेथ के ईसा की मानुषी माता के साथ जोड़ दिया गया है।

एकत्व अनुभव हो और वह भगवान् के चैतन्य, प्रकाश, शक्ति और प्रेम का एक वाहक-सा बन जाय, उसका अपना संकल्प और व्यक्तित्व भगवान् के संकल्प और उनकी सत्ता में घुल-मिलकर अपना पृथकत्व खो दे—क्योंकि यह भी एक मानी हुई आध्यात्मिक अवस्था है—तो मानव-जीव के अन्दर, उसके संपूर्ण व्यक्तित्व को अधिकृत करके, भगवान् का ही संकल्प, भगवान् की ही सत्ता और शक्ति, उन्हींके प्रेम, प्रकाश और चैतन्य प्रतिबिंबित हो सकते हैं, और यह जरा भी असंभव नहीं है। और, इस प्रकार की अवस्था मनुष्य का केवल आरोहण द्वारा दिव्य जन्म और दिव्य स्वभाव को प्राप्त होना ही नहीं है, बल्कि उसमें दिव्य पुरुष का मानव में अवतरण भी है, यह एक अवतार है।

परन्तु गीता इसके भी आगे चलती है। वह साफ-साफ कहती है कि भगवान् स्वयं जन्म लेते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे बहुत से जन्म बीत चुके और अपने शब्दों से यह स्पष्ट कर देते हैं कि वे ग्रहणशील मानव-प्राणी में उतर आने की बात नहीं कह रहे हैं, बल्कि भगवान् के ही बहुत से जन्म ग्रहण करने की बात कह रहे हैं, क्योंकि यहाँ वे ठीक सृष्टिकर्ता की भाषा में बोल रहे हैं और इसी भाषा का प्रयोग वे वहाँ करेंगे जहाँ अपनी जगत्-सृष्टि की बात कहेंगे। "यद्यपि मैं प्राणियों का अज अविनाशी ईश्वर हूँ तो भी मैं अपनी माया से अपने-आपको सृष्ट करता हूँ"[1]—अपनी प्रकृति के कार्यों का अधिष्ठाता होकर। यहाँ ईश्वर और मानव-जीव या पिता या पुत्र की, दिव्य मनुष्य की कोई बात नहीं है, बल्कि केवल भगवान् और उनकी प्रकृति की बात है। भगवान् अपनी ही प्रकृति के द्वारा मानव-आकार और प्रकार में उतरकर जन्म लेते और यद्यपि वे स्वेच्छा से मनुष्य के आकार, प्रकार और साँचे के अन्दर रहकर कर्म करना स्वीकार करते हैं, तो भी उसके अन्दर भागवत चेतना और भागवत शक्ति को ले आते हैं और शरीर के अन्दर प्रकृति के कर्मों का नियमन वे उसकी अंत:स्थित और ऊर्ध्व-स्थित आत्मा-रूप से करते हैं, **"प्रकृतिं स्वां अधिष्ठाय।"** ऊपर से वे सदा ही शासन करते हैं, क्योंकि इसी तरह वे समस्त प्रकृति का शासन चलाते हैं, और मनुष्य-प्रकृति भी इसके अंतर्गत है; अन्दर से भी वे स्वयं छिपे रहकर सारी प्रकृति का शासन करते हैं, अंतर यह है कि अवतार में वे अभिव्यक्त रहते हैं, प्रकृति के ईश्वर-रूप में भगवान् की सत्ता का, अंतर्यामी का सचेतन ज्ञान रहता है, यहाँ प्रकृति का संचालन ऊपर से उनकी गुप्त इच्छा के द्वारा 'स्वर्गस्थ पिता की प्रेरणा के द्वारा' नहीं होता, बल्कि भगवान् अपने प्रत्यक्ष प्रकट संकल्प से ही प्रकृति का संचालन करते हैं। यहाँ किसी मानव मध्यस्थ के लिये कोई स्थान नहीं है, क्योंकि यहाँ

१. ४-६

भूतानां ईश्वर अपनी प्रकृति (**प्रकृतिं स्वां**) का आश्रय लेकर, किसी जीव की विशिष्ट प्रकृति का नहीं, मानव-जन्म के जामे को ओढ़ लेते हैं।

बात बड़ी विलक्षण है, जल्दी समझ में आनेवाली नहीं, मनुष्य की बुद्धि के लिए इसे ग्रहण कर लेना आसान नहीं ; इसका कारण भी स्पष्ट है—अवतार स्पष्ट रूप से मनुष्य जैसे ही होते हैं। अवतार के सदा दो रूप होते हैं—भागवत रूप और मानव-रूप ; भगवान् मानव-प्रकृति को अपना लेते हैं, उसे सारी बाह्य सीमाओं के साथ भागवत चैतन्य और भागवत शक्ति की परिस्थिति, साधन और करण तथा दिव्य जन्म और दिव्य कर्म का एक पात्र बना लेते हैं और यही होना चाहिए ; वरना अवतार के अवतरण का उद्देश्य ही पूर्ण नहीं हो सकता। अवतरण का उद्देश्य यही दिखलाना है कि मानव-जन्म मनुष्य की सब सीमाओं के रहते हुए भी दिव्य जन्म और दिव्य कर्म का साधन और करण बनाया जा सकता है, अभिव्यक्त दिव्य चैतन्य के साथ मानव-चैतन्य का मेल बैठाया जा सकता है, उसका धर्मान्तर करके उसे दिव्य चैतन्य का पात्र बनाया जा सकता है, और उसके साँचे को रूपांतरित करके उसके प्रकाश, प्रेम, सामर्थ्य और पवित्रता की शक्तियों को ऊपर उठाकर उसे दिव्य चैतन्य के अधिक समीप लाया जा सकता है। अवतार यह भी दिखाते हैं कि यह कैसे किया जा सकता है। यदि अवतार अद्भुत चमत्कारों के द्वारा ही काम करें, तो इससे अवतरण का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। असाधारण अथवा अद्भुत चमत्काररूप अवतार के होने का कुछ मतलब ही नहीं रहता। यह भी जरूरी नहीं है कि अवतार असाधारण शक्तियों का प्रयोग—जैसे कि ईसा के रोगियों को आराम कर देनेवाले तथाकथित चमत्कार—करें ही नहीं, क्योंकि असाधारण शक्तियों का प्रयोग मानव-प्रकृति की संभावना के बाहर नहीं है। परन्तु इस प्रकार की कोई शक्ति न हो तो भी अवतार में कोई कमी नहीं आती, न यह कोई मौलिक बात है। यदि अवतार का जीवन असाधारण आतिशबाजी का खेल हो तो इससे भी काम न चलेगा। अवतार ऐंद्रजालिक जादूगर बनकर नहीं आते, प्रत्युत मनुष्य-जाति के भागवत नेता और भागवत मनुष्य के एक दृष्टांत बनकर आते हैं। मनुष्योचित शोक और भौतिक दुःख भी उन्हें झेलने पड़ते हैं और उनसे काम लेना पड़ता है, ताकि वे यह दिखला सकें कि किस प्रकार इस शोक और दुःख को आत्मोद्धार का साधन बनाया जा सकता है। ईसा ने दुःख उठाकर यही दिखाया। दूसरी बात उन्हें यह दिखलानी होती है कि मानव-प्रकृति में अवतरित भागवत आत्मा इस शोक और दुःख को स्वीकार करके उसी प्रकृति में उसे किस प्रकार जीत सकता है। बुद्ध ने यही करके दिखाया था। यदि कोई बुद्धिवादी ईसा के आगे

चिल्लाया होता "तुम यदि ईश्वर के बेटे हो तो उतर आओ इस सूली पर से।" अथवा अपना पाण्डित्य दिखाकर कहता कि अवतार ईश्वर नहीं थे, क्योंकि वे मरे और वह भी बीमारी से—कुत्ते की मौत मरे—तो वह बेचारा जानता ही नहीं कि वह क्या बक रहा है, क्योंकि वह तो विषय की वास्तविकता से ही वंचित है। भागवत आनन्द के अवतार से पहले शोक और दुःख को झेलनेवाले अवतार की भी आवश्यकता होती है; मनुष्य की सीमा को अपनाने की आवश्यकता होती है, ताकि यह दिखाया जा सके कि इसे किस प्रकार पार किया जा सकता है। और, यह सीमा किस प्रकार या कितनी दूर तक पार की जायगी, केवल आंतरिक रूप से पार की जायगी या बाह्य रूप से भी, यह बात मानव-जाति के उत्कर्ष की अवस्था पर निर्भर है, यह सीमा किसी अमानव चमत्कार के द्वारा नहीं लांघी जायगी।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है और यही असल में मनुष्य की बुद्धिके लिये एकमात्र बड़ी समस्या है—क्योंकि यहाँ आकर मानव-बुद्धि अपनी ही सीमा के अन्दर लुढ़कने-पुढ़कने लगती है—कि अवतार मानव-मन-बुद्धि और शरीर का ग्रहण कैसे करता है? कारण इनकी सृष्टि अकस्मात् एक साथ इसी रूप में नहीं हुई होगी, बल्कि भौतिक या आध्यात्मिक या दोनों ही प्रकार के किसी विकासक्रम से ही हुई होगी। इसमें संदेह नहीं कि अवतार का अवतरण, दिव्य जन्म की ओर मनुष्य के आरोहण के समान ही तत्वतः एक आध्यात्मिक व्यापार है; जैसा कि गीता के "**आत्मानं सृजामि**" वाक्य से जान पड़ता है,—यह आत्मा का जन्म है। परन्तु फिर भी इसके साथ एक भौतिक जन्म तो लगा ही रहता है। तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अवतार के मानव-मन और शरीर का कैसे निर्माण होता है। यदि हम यह मान लें कि शरीर सदा ही वंशानुक्रमिक विकास से निर्मित होता है, अचेतन प्रकृति और तदनुस्यूत प्राणशक्ति शरीर-निर्माण का यह कार्य किया करती है, इसमें व्यष्टिगत अंतरात्मा के करने की कोई बात नहीं, तो मामला सीधा हो जाता है। तब यही मान लेना पड़ेगा कि किसी शुचि और महत् वंश के विकास-क्रम से ही यह अन्नमय और मनोमय शरीर भगवत्-अवतार के उपयुक्त तैयार होता है और तब अवतरित होनेवाले भगवान् उस शरीर को धारण कर लेते हैं। परन्तु गीता के इसी अवतारवाले श्लोक में पुनर्जन्म का सिद्धांत स्वयं अवतार पर भी हिम्मत के साथ घटाया गया है, और पुनर्जन्म के संबंध में सामान्य मान्यता यही है कि पुनर्जन्म ग्रहण करनेवाला जीव अपने पिछले आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक विकास के अनुसार अपने मनोमय और भौतिक शरीर को निर्द्धारित करता या यों कहें कि तैयार करता है। जीव

स्वयं अपना शरीर निर्माण करता है, उसका शरीर उससे पूछे बिना योंही तैयार नहीं कर दिया जाता। तो क्या इससे हम यह समझ लें कि सनातन या सतत अवतार अपने अनुकूल अपना मनोमय और अन्नमय शरीर मानव-विकास की आवश्यकता और गति के अनुसार आप ही निर्माण करते और इस तरह युग-युग में प्रकट हुआ करते हैं? इसी तरह के किसी एक भाव से कुछ लोग विष्णु के दश अवतारों की व्याख्या करते हैं। पहले कई पशुरूप, बाद में नरसिंह-मूर्ति, तब वामन-मूर्ति, उसके बाद प्रचण्ड आसुरिक परशुराम, फिर देव-प्रकृति-मानव महत्तर राम, इसके बाद सजग आध्यात्मिक बुद्ध, और काल के हिसाब से पहले पर स्थान के हिसाब से अंतिम, पूर्ण दिव्याभावापन्न मनुष्य श्रीकृष्ण—क्योंकि आखिरी अवतार कल्कि केवल श्रीकृष्ण के द्वारा आरंभ किये हुए कर्म को ही संपन्न करते हैं, पहले के अवतार समस्त संभावनाओं से युक्त जिस महत् प्रयास को प्रस्तुत कर गये हैं, कल्कि उसीको शक्ति देकर सिद्ध करते हैं। हमारी आधुनिक मनोवृत्ति के लिए इसे स्वीकार करना कठिन है, किन्तु ऐसा मालूम होता है कि गीता की भाषा का रुख इसी ओर है। अथवा जब गीता इस समस्या का साफ तौर पर हल नहीं करती तब हम अपने किसी दूसरे तरीके से इस प्रश्न को हल कर सकते हैं और कह सकते हैं कि अवतार का शरीर तो जीव के द्वारा निर्मित होता है पर जन्म से ही भगवान् उसे धारण करते हैं, अथवा यह भी कह सकते हैं कि इस शरीर को गीतोक्त '**चत्वारो मनवः**' अर्थात् प्रत्येक मानव मन और शरीर के आध्यात्मिक पितर प्रस्तुत करते हैं। इस तरह से कहना अवश्य ही गूढ़ रहस्यमय क्षेत्र की गहराई में प्रवेश करना है जिसकी बातें आधुनिक बुद्धिवादी लोग अभी तो सुनना ही नहीं चाहते; परन्तु जब हमने अवतार का होना मान लिया तब रहस्यमय क्षेत्र में तो प्रविष्ट हो ही गये और जब प्रविष्ट हो गये तो एक-एक कदम मजबूती से रखते हुए बढ़े चलना ही उत्तम है।

ऐसा है गीता का अवतार-विषयक सिद्धांत। भगवान् की अवतरण-प्रणाली का यहाँ जो विस्तार किया गया और इसी तरह पहले के अध्याय में अवतार की संभावना के विषय में जो आलोचना की गयी, इसका कारण यह है कि इस प्रश्न को इसके सभी पहलुओं से देखना और मनुष्य की तर्कबुद्धि में इस बारे में जो कठिनाइयाँ खड़ी हो सकती हैं उनका सामना करना आवश्यक था। यह सही है कि भौतिक रूप में ईश्वर के अवतार का गीता में विशेष विस्तार नहीं है, पर गीता की शिक्षा का जो क्रम है उसकी शृंखला में इसका अपना विशिष्ट स्थान है जो गीता की संपूर्ण योजना में अनुस्यूत है। गीता का ढाँचा यही है कि अवतार एक विभूति को, उस मनुष्य को जो मानवता की ऊँची अवस्था में

पहुँच चुका है, दिव्य जन्म और दिव्य कर्म की ओर ले जा रहे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि मानव जीव को अपनेतक उठाने के लिये भगवान् का अवतार लेना ही मुख्य बात है—इन्हीं आन्तरिक कृष्ण, बुद्ध या ईसा से ही असली मतलब है। पर जिस प्रकार आन्तरिक विकास के लिए बाह्य जीवन भी अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है, वैसे ही बाह्य अवतार भी इस महान् आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिए किसी प्रकार कम महत्व की वस्तु नहीं हैं। मानसिक और शारीरिक प्रतीक की परिपूर्णता आंतर सद्वस्तु के विकास में सहायक होती है ; फिर यही आंतरिक सद्वस्तु और भी अधिक शक्ति के साथ जीवन के द्वारा अधिक उत्कृष्ट रूप में अपने-आपको प्रकट करती है। मानव-जाति में भागवत अभिव्यक्ति ने आध्यात्मिक सद्वस्तु और मानसिक तथा भौतिक अभिव्यक्ति के बीच, परस्पर सतत आदान-प्रदान के द्वारा संगोपन और प्रकटन के चक्रों में गति करना स्वीकार किया है।

दिव्य जन्म और दिव्य कर्म

भगवान् के जन्म की तरह उस कर्म का भी, जिसके लिये अवतार हुआ करता है, द्विविध भाव और द्विविध रूप होता है। क्रिया और प्रतिक्रिया के जिस विधान के द्वारा, उत्थान और पतनरूपी जिस सहज व्यवस्था के द्वारा प्रकृति अग्रसर होती है, उस विधान और व्यवस्था के होते हुए भागवत धर्म की रक्षा और पुनर्गठन के लिए इस बाह्य जगत् पर भागवत शक्ति की जो क्रिया होती है, वही दिव्य कर्म का बाह्य पहलू है, और यह भागवत धर्म ही मानव-जाति के भगवन्मुख प्रयास को समस्त विघ्न-बाधाओं से उबारकर निश्चित रूप से आगे बढ़ाता है। इसका आंतर पहलू यह है कि भगवन्मुख चैतन्य की दिव्य शक्ति व्यक्ति और जाति की आत्मा पर क्रिया करती है ताकि वह मानवरूप में अवतरित भगवान् के नये-नये प्रकाश को ग्रहण कर सके और अपने ऊर्ध्वमुखी आत्म-विकास की शक्ति को बनाये रख सके, उसमें एक नवजीवन ला सके और उसे समृद्ध कर सके। अवतार का अवतरण केवल किसी महान् बाह्य कर्म के लिए नहीं होता जैसा कि मनुष्य की कर्म-प्रवण बुद्धि समझा करती है। कर्म और बाह्य घटना का अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं होता, उनका मूल्य उस शक्ति पर आश्रित है जिसकी ओर से वे होते हैं और उस भाव पर आश्रित है जिसके वे प्रतीक होते हैं और जिसे सिद्ध करना ही उस शक्ति का काम होता है।

जिस संकट की अवस्था में अवतार का आविर्भाव होता है वह बाहरी नजर को महज घटनाओं और जड़ जगत् के महत् परिवर्तनों का नाजुक काल प्रतीत होता है। परन्तु उसके स्रोत और वास्तविक अर्थ को देखें तो यह संकट मानव-चेतना में तब आता है जब उसका कोई महान् परिवर्तन, कोई नवीन विकास होनेवाला हो। इस परिवर्तन के लिये किसी दिव्य शक्ति की आवश्यकता होती है, किन्तु शक्ति जिस चेतना में काम करती है उसके बल के अनुसार बदलती है; इसलिए मानव-मन और अंतरात्मा में भागवत चैतन्य का आविर्भाव आवश्यक होता है। जहाँ मुख्यतः बौद्धिक और लौकिक परिवर्तन करना हो वहाँ अवतार के हस्त-क्षेप की आवश्यकता नहीं होती; मानव-चेतना का उत्थान होता है, शक्ति की महान्

अभिव्यक्ति होती है जिसके फलस्वरूप सामयिक तौर पर मनुष्य अपनी साधारण अवस्था से ऊपर उठ जाते हैं और चेतना और शक्ति की यह लहर कुछ असाधारण व्यक्तियों में तरंग-शृंग बन जाती है और इन्हीं असाधारण व्यक्तियों को विभूति कहते हैं ; इन विभूतियों का काम सर्वसाधारण मानव-जाति के कर्म का नेतृत्व करना है और यह उद्दिष्ट परिवर्तन के लिये पर्याप्त होता है। यूरोपीय पुनर्निर्माण और फ्रांस की राज्य-क्रांति इसी प्रकार के संकट थे ; ये महान् आध्यात्मिक घटनाएँ, बल्कि बौद्धिक और लौकिक परिवर्तन थे। एक में धार्मिक तथा दूसरे में सामाजिक और राजनीतिक भावनाओं, रूपों और प्रेरक-भावों का परिवर्तन हुआ और इसके फलस्वरूप जनसाधारण की चेतना में जो फेरफार हुआ वह बौद्धिक और लौकिक था, आध्यात्मिक नहीं। पर जब किसी संकट के मूल में कोई आध्यात्मिक बीज या हेतु होता है तब मानव-मन और आत्मा में प्रवर्तक और नेता के रूप से भागवत चैतन्य का पूर्ण या आंशिक प्रादुर्भाव होता है। यही अवतार है।

अवतार के बाह्य कर्म का वर्णन गीता में **"धर्मसंस्थापनार्थाय"** कहकर किया गया है ; जब-जब धर्म की ग्लानि या ह्रास होता है, उसका बल क्षीण हो जाता है और अधर्म सिर उठाता, प्रबल होता और अत्याचार करता है तब-तब अवतार आते और धर्म को फिर से शक्तिशाली बनाते हैं। जो बातें विचार के अंतर्गत होती हैं वे कर्म के द्वारा तथा विचारों की प्रेरणा का अनुगमन करनेवाले मानव-प्राणी के द्वारा प्रकट होती हैं, इसलिए अत्यंत मानव और लौकिक भाषा में अवतार का काम है प्रतिगामी अंधकार के राज्य द्वारा सताये गये धर्म के अन्वेषकों की रक्षा करना (**परित्राणाय साधूनां**) और अधर्म को बनाये रखने की इच्छा करनेवाले दुष्टों का नाश करना। परन्तु इस बात को कहने में गीता ने जिन शब्दों का प्रयोग किया है उनकी ऐसी संकीर्ण और अधूरी व्याख्या भी की जा सकती है जिससे अवतार का आध्यात्मिक गंभीर अर्थ जाता रहे। धर्म एक ऐसा शब्द है जिसका नैतिक और व्यावहारिक, प्राकृतिक और दार्शनिक, धार्मिक और आध्यात्मिक, सभी प्रकार का अर्थ होता है और इनमें से किसी भी अर्थ में इस शब्द का इस तरह से प्रयोग किया जा सकता है कि उसमें अन्य अर्थों की गुंजायश न रहे, उदाहरणार्थ, इसका केवल नैतिक अथवा केवल दार्शनिक या केवल धार्मिक अर्थ किया जा सकता है। नैतिक रूप से सदाचार के नियम को, जीवनचर्या-संबंधी नैतिक विधान को अथवा और भी बाह्य और व्यावहारिक अर्थ में सामाजिक और राजनीतिक न्याय को या केवल सामाजिक नियमों के पालन को धर्म कहा जाता है। यदि हम इस शब्द को इसी अर्थ में ग्रहण करें,

तो इसका यही अभिप्राय हुआ कि जब अनाचार, अन्याय और दुराचार का प्राबल्य होता है तब भगवान् अवतार लेकर सदाचारियों को बचाते और दुराचारियों को नष्ट करते हैं, अन्याय और अत्याचार को रौंद डालते और न्याय और सद्व्यवहार को स्थापित करते हैं।

कृष्णावतार का प्रसिद्ध पौराणिक वर्णन इसी प्रकार का है—कौरवों का अत्याचार—दुर्योधनादि जिसके मूर्त रूप हैं—इतना बढ़ा कि पृथिवी के लिए उसका भार असह्य हो उठा और पृथिवी को भगवान् से अवतार लेने और भार हल्का करने की प्रार्थना करनी पड़ी ; तदनुसार विष्णु कृष्णरूप में अवतीर्ण हुए, उन्होंने अत्याचार-पीड़ित पांडवों का उद्धार और अन्यायी कौरवों का संहार किया। इसके पूर्व अन्यायी-अत्याचारी रावण का वध करने के लिए जो विष्णु का रामावतार अथवा क्षत्रियों की उद्दंडता को नष्ट करने के लिए परशुरामावतार या दैत्यराज बलि के राज्य को मिटाने के लिए वामनावतार हुआ उसका भी ऐसा ही वर्णन है। परन्तु यह प्रत्यक्ष है कि पुराणों के इस प्रसिद्ध वर्णन से कि अवतार इस प्रकार के किसी सर्वथा व्यावहारिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक कर्म को करने के लिए आते हैं, अवतार के कार्य का सच्चा विवरण नहीं मिलता। इस वर्णन में अवतार के आने का आध्यात्मिक हेतु छूट जाता है ; और यदि इस बाह्य प्रयोजन को ही हम सब कुछ मान लें तो बुद्ध और ईसा को हमें अवतारों की कक्षा से अलग कर देना होगा, क्योंकि इनका काम तो दुष्टों को नष्ट करने और शिष्टों को बचाने का नहीं, बल्कि अखिल मानव-समाज को एक नया आध्यात्मिक संदेश सुनाना तथा दिव्य विकास और आध्यात्मिक सिद्धि का एक नया विधान देना था। धर्म शब्द को यदि हम केवल धार्मिक अर्थ में ही ग्रहण करें अर्थात् इसे धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन का एक विधान मानें तो हम इस विषय के मूल में तो जरूर पहुँचेंगे, किन्तु इसमें भय है कि हम अवतार के एक अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य को कहीं दृष्टि की ओट न कर दें। भगवदवतारों के इतिहास में सर्वत्र ही यह दिखायी देता है कि उनका कार्य द्विविध होता है और यह अपरिहार्य है, द्विविध होने का कारण यह है कि अवतीर्ण भगवान् मानव-जीवन में होनेवाले भगवत्-कार्य को ही अपने हाथ में उठा लेते हैं, जगत् में जो भगवत्-इच्छा और भगवत्-ज्ञान काम कर रहे हैं, उन्हींका अनुसरण कर अपना कार्य करते हैं और यह कार्य सदा आंतर और बाह्य दो प्रकार से सिद्ध होता है—आत्मा में आंतरिक उन्नति के द्वारा और जागतिक जीवन में बाह्य परिवर्तन द्वारा।

हो सकता है कि भगवान् का अवतार, किसी महान् आध्यात्मिक गुरु या त्राता के रूप में हो, जैसे बुद्ध और ईसा, किन्तु सदा ही उनकी पार्थिव अभिव्यक्ति

की समाप्ति के बाद भी उनके कर्म के फलस्वरूप जाति के केवल नैतिक जीवन में ही नहीं बल्कि उसके सामाजिक और बाह्य जीवन और आदर्शों में भी एक गंभीर और शक्तिशाली परिवर्तन हो जाता है। दूसरी ओर, हो सकता है कि वे दिव्य जीवन, दिव्य व्यक्तित्व और दिव्य शक्ति के अवतार होकर आवें, अपने दिव्य कर्म को करने के लिए, जिसका उद्देश्य बाहर से सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक ही दिखायी देता हो ; जैसा कि राम और कृष्ण की कथाओं में बताया गया है, फिर भी सदा ही यह अवतरण जाति की आत्मा में उसके आंतरिक जीवन के लिए और उसके आध्यात्मिक नवजन्म के लिए एक स्थायी शक्ति का काम करता है। यह एक अनोखी बात है कि बौद्ध और ईसाई धर्मों का स्थायी, जीवंत तथा विश्वव्यापक फल यह हुआ कि जिन मनुष्यों तथा कालों ने इनके धार्मिक और आध्यात्मिक मतों, रूपों और साधनाओं का परित्याग कर दिया, उनपर भी इन धर्मों के नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक आदर्शों का शक्तिशाली प्रभाव पड़ा। पीछे के हिन्दुओं ने बुद्ध, उनके संघ और धर्म को अमान्य कर दिया, पर बुद्धधर्म के सामाजिक और नैतिक प्रभाव की अमिट छाप उनपर पड़ी हुई है और हिन्दूजाति का जीवन और आचार-विचार उससे प्रभावित है। आधुनिक यूरोप नाममात्र को ईसाई है, पर इसमें जो मानवदया का भाव है वह ईसाई-धर्म के आध्यात्मिक सत्य का सामाजिक और राजनीतिक रूपान्तर है ; और स्वाधीनता, समता और विश्वबंधुता की यह अभीप्सा मुख्यतः उन लोगों ने की है जिन्होंने ईसाई-धर्म और आध्यात्मिक साधना को व्यर्थ तथा हानिकर बतलाकर त्याग दिया था और यह काम उस युग में हुआ जिसने स्वतंत्रता के बौद्धिक प्रयास में ईसाई-धर्म को धर्म मानना छोड़ देने की पूरी कोशिश की। राम और कृष्ण की जीवनलीला ऐतिहासिक काल के पूर्व की है, काव्य और आख्यायिका के रूप में हमें प्राप्त हुई है और इसे हम चाहें तो केवल काल्पनिक कहानी भी कह सकते हैं ; पर चाहे काल्पनिक कहानी कहिये या ऐतिहासिक तथ्य, इसका कुछ महत्व नहीं ; क्योंकि उनके चरित्रों का जो शाश्वत सत्य और महत्व है वह तो इस बात में है कि ये चरित्र जाति की आंतरिक चेतना और मानव-जीव के जीवन में सदा के लिए एक आध्यात्मिक रूप, सत्ता और प्रभाव के रूप में अमर हो गये हैं। अवतार दिव्य जीवन और चैतन्य के तथ्य हैं ; वे किसी बाह्य कर्म में भी उतर सकते हैं, पर उस कर्म के हो चुकने और उनका कार्य पूर्ण होने के बाद भी उस कर्म का आध्यात्मिक प्रभाव बना रहता है ; अथवा वे किसी आध्यात्मिक प्रभाव को प्रकटाने और किसी धार्मिक शिक्षा को देने के लिए भी प्रकट हो सकते हैं, किन्तु उस हालत में भी, उस नये धर्म या साधना के क्षीण हो चुकने पर भी,

मानवजाति के विचार, उसकी मनोवृत्ति और उसके बाह्य जीवन पर उनका स्थायी प्रभाव बना रहता है।

इसलिए अवतार-कार्य के गीतोक्त वर्णन को ठीक तरह से समझने के लिए आवश्यक है कि हम धर्म शब्द के अत्यंत पूर्ण, अत्यंत गंभीर और अत्यंत व्यापक अर्थ को ग्रहण करें, धर्म को वह आंतर और बाह्य विधान समझें जिसके द्वारा भागवत संकल्प और भागवत ज्ञान मानवजाति का आध्यात्मिक विकास साधन करते और जाति के जीवन में उसकी विशिष्ट परिस्थितियाँ और उनके परिणाम निर्मित करते हैं। भारतीय धारणा के हिसाब से धर्म केवल शुभ, उचित, सदाचार, न्याय और आचारनीति ही नहीं है, बल्कि अन्य प्राणियों के साथ, प्रकृति और ईश्वर के साथ मनुष्यों के जितने भी सम्बन्ध हैं उन सबका सम्पूर्ण नियमन है और यह नियामक तत्व ही वह दिव्य धर्मतत्व है जो जगत् के सब रूपों और कर्मों के द्वारा, आंतर और बाह्य जीवन के विविध आकारों के द्वारा तथा जगत् में जितने प्रकार के परस्पर-सम्बन्ध हैं उनकी व्यवस्था के द्वारा अपने-आपको सिद्ध करता रहता है। धर्म[1] वह है जिसे हम धारण करते हैं और वह भी जो हमारी सब आंतर और बाह्य क्रियाओं को एक साथ धारण किये रहता है। धर्म शब्द का प्राथमिक अर्थ हमारी प्रकृति का वह मूल विधान है जो गुप्त रूप से हमारे कर्मों को नियत करता है और इसलिए इस दृष्टि से प्रत्येक जीव, प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक जाति, प्रत्येक व्यक्ति और समूह का अपना-अपना विशिष्ट धर्म होता है। दूसरी बात यह है कि हमारे अन्दर जो भागवत प्रकृति है उसे भी तो हमारे अन्दर विकसित और व्यक्त होना है, और इस दृष्टि से धर्म अंतः-क्रियाओं का वह विधान है जिसके द्वारा भागवत प्रकृति हमारी सत्ता में विकसित होती है। फिर एक तीसरी दृष्टि से धर्म वह विधान है जिससे हम अपने बहिर्मखी विचार, कर्म और पारस्परिक सम्बन्धों का नियंत्रण करते हैं ताकि भागवत आदर्श की ओर उन्नत होने में हमारी और मानवजाति की अधिक-से-अधिक सहायता हो।

धर्म को साधारणतया सनातन और अपरिवर्तनीय कहा जाता है, और इसका मूल तत्व और आदर्श है भी ऐसा ही ; पर इसके रूप निरंतर बदला करते हैं, उनका विकास होता रहता है ; कारण मनुष्य ने अभी उस आदर्श को प्राप्त नहीं किया है या यह कहिए कि उसमें अभी उसकी स्थिति नहीं है ; अभी तो इतना ही है कि मनुष्य उसे प्राप्त करने की अधूरी या पूरी इच्छा कर रहा है, उसके ज्ञान और अभ्यास की ओर आगे बढ़ रहा है। और इस विकास में धर्म वही है जिससे भागवत पवित्रता, विशालता, ज्योति, स्वतंत्रता, शक्ति, बल, आनन्द,

१. धर्म शब्द 'धृ' धातु से बनता है जिसका अर्थ है धारण करना।

प्रेम, शुभ, एकता, सौन्दर्य हमें अधिकाधिक प्राप्त हों। इसके विरुद्ध इसकी परछाईं और इनकार खड़ा है, अर्थात् वह सब जो इसकी वृद्धि का विरोध करता है, जो इसके विधान के अनुगत नहीं है, वह जो भागवत संपदा के रहस्य को न तो समर्पण करता है न समर्पण करने की इच्छा रखता है, बल्कि जिन बातों को मनुष्य को अपनी प्रगति के मार्ग में पीछे छोड़ देना चाहिए, जैसे अशुचिता, संकीर्णता, बंधन, अंधकार, दुर्बलता, नीचता, असामंजस्य, दुःख, पार्थक्य, बीभत्सता और असंस्कृति आदि, एक शब्द में, जो कुछ धर्म का विकार और प्रत्याख्यान है उस सबका मोरचा बनाकर सामने डट जाता है। यही अधर्म है जो धर्म से लड़ता और उसे जीतना चाहता है, जो उसे पीछे और नीचे की ओर खींचना चाहता है, यही वह प्रतिगामी शक्ति है जो अशुभ, अज्ञान और अंधकार का रास्ता साफ करती है। इन दोनों में सतत संग्राम और संघर्ष चल रहा है ; कभी इस पक्ष की विजय होती है ; कभी उस पक्ष की ; कभी ऊपर की ओर ले जानेवाली शक्तियों की जीत होती है तो कभी नीचे की ओर खींचनेवाली शक्तियों की। मानवजीवन और मानव-आत्मा पर अधिकार जमाने के लिए जो संग्राम होता है उसे वेदों ने देवासुर-संग्राम कहा है (देवता अर्थात् प्रकाश और अविभाजित अनन्तता के पुत्र, असुर अर्थात् अंधकार और भेद की संतान) ; जरथुस्त्र के मत में यही अहुर्मज्द-अहिर्मन-संग्राम है और पीछे के धर्मसंप्रदायों में इसी को मानव जीवन और आत्मा पर अधिकार करने के लिए ईश्वर और उनके फरिश्तों के साथ शैतान या इबलीस और उनके दानवों का संग्राम कहा गया है।

यही बात अवतार के कर्म का स्वरूप निश्चित और निर्द्धारित करती है। बौद्धमतालंबी साधक अपनी मुक्ति के विरोधी तत्वों से बचने के लिए धर्म, संघ और बुद्ध, इन तीन शक्तियों की शरण लेते हैं। ईसाई मत में भी ईसाई जीवनचर्या, गिरिजाघर और स्वयं ईसा हैं। अवतार के कार्य में ये तीन बातें अवश्य होती हैं। अवतार एक धर्म बतलाते हैं, आत्म-अनुशासन का एक विधान बतलाते हैं, जिससे मनुष्य निम्नतर जीवन से निकलकर उच्चतर जीवन में संवर्द्धित हों। धर्म में, सदा ही, कर्म के विषय में तथा दूसरे मनुष्यों और प्राणियों के साथ साधक का क्या सम्बन्ध होना चाहिए इस विषय में एक विधान भी रहता है, जैसे कि अष्टांग-मार्ग अथवा श्रद्धा, प्रेम और पवित्रता का धर्म अथवा इसी प्रकार का और कोई धर्म जो अवतार के भागवत स्वभाव में प्रकट हुआ हो। इसके बाद, चूंकि मनुष्य की प्रवृत्ति के सामूहिक और वैयक्तिक पहलू होते हैं, जो लोग एक ही मार्ग का अनुसरण करते हैं उनमें स्वभावतः एक आध्यात्मिक साहचर्य और एकता स्थापित हो जाती है, इसलिए अवतार एक संघकी स्थापना करते

हैं, संघ अर्थात् उन लोगों का सख्य और एकत्व जो अवतार के व्यक्तित्व और शिक्षा के कारण एक सूत्र में बंध जाते हैं। यही त्रिक "भागवत, भक्त और भगवान्" के रूप से वैष्णव धर्म में भी है। वैष्णव-धर्मसम्मत उपासना और प्रेम का धर्म ही भागवत है, उस धर्म का जिन लोगों में प्रादुर्भाव होता है उन्हीं का संघ-समुदाय भक्त कहाता है, और जिन प्रेमी और प्रेमास्पद की सत्ता और स्वभाव में यह प्रेममय भागवत धर्म प्रतिष्ठित है और जिनमें इसकी पूर्णता होती है वही भगवान् हैं। अवतार त्रिक के इस तृतीय तत्व के प्रतीक हैं, वह भागवत व्यक्तित्व, स्वभाव और सत्ता हैं जो इस धर्म और संघ की आत्मा हैं, और वे इस धर्म और संघ को अपने द्वारा अनुप्राणित करते हैं, उसे सजीव बनाये रखते हैं तथा मनुष्यों को आनन्द और मुक्ति की ओर आकर्षित करते हैं।

गीता की शिक्षा में, जो अन्य विशिष्ट शिक्षाओं और साधनाओं की अपेक्षा अधिक उदार और बहुमुखी है, ये तीन बातें भी बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुई हैं। यहाँ की एकता सबको अपने साथ मिला लेनेवाली वह वैदांतिक एकता है जिसके द्वारा जीव सबको अपने अन्दर और अपने-आपको सबके अन्दर देखता और सब प्राणियों के साथ अपने-आपको एक कर लेता है। इसलिए सब मानव-सम्बन्धों को उच्चतर दिव्य अभिप्राय में ऊपर उठाना ही धर्म है। यह धर्म भगवान् की खोज करनेवाला साधक जिस समाज में रहता है, उस समग्र मानव-समाज को एक सूत्र में बाँधनेवाले नैतिक, सामाजिक और धार्मिक विधान से आरम्भ होता है और उसे ब्राह्मी चेतनाद्वारा अनुप्राणित करके ऊपर उठा देता है ; वह एकता, समता और मुक्त निष्काम भगवत्परिचालित कर्म का विधान देता है, ईश्वर-ज्ञान और आत्म-ज्ञान का वह विधान देता है जो समस्त प्रकृति और समस्त कर्म को अपनी ओर खींचता और आलोकित करता है, मानव-समाज को भागवत सत्ता और भागवत चेतना की ओर आकर्षित करता है, तथा भागवत प्रेम का वह विधान देता है जो ज्ञान और कर्म की शक्ति है, चरम सिद्धि है। गीता में जहाँ प्रेम और भक्ति के द्वारा भगवान् को पाने की साधना बतलायी गयी है वहीं संघ और भागवत भक्तों के भगवत्प्रेम और भगवदनुसंधान में सख्य और परस्पर-साहाय्य का मौलिक भाव आ गया है, पर गीता की शिक्षा का असली संघ तो समग्र मानव-जाति है। सारा जगत् और अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार प्रत्येक मनुष्य इसी धर्म की ओर जा रहा है। "यह मेरा ही तो मार्ग है जिसपर सब मनुष्य चले आ रहे हैं (**मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः**)।" और वह भगवदन्वेषक जो सबके साथ एक हो जाता, सबके सुख-दुःख तथा समस्त जीवन को अपना सुख-दुःख और जीवन बना लेता है, वह मुक्त पुरुष जो सब

भूतों के साथ एकात्मभाव को प्राप्त हो चुका है, वह समग्र मानव-जाति के जीवन में ही वास करता है, मानव-जाति के अखिलांतरात्मा के लिए, सर्वभूतांतरात्मा भगवान् के लिए ही जीता है, वह लोक-संग्रह के लिए अर्थात् सबको अपने-अपने विशिष्ट धर्म में और सार्वभौम धर्म में स्थित रखने के लिए, उन्हें सब अवस्थाओं और सब मार्गों से भगवान् की ओर ले जाने के लिए कर्म करता है। क्योंकि यद्यपि इस स्थलपर अवतार श्रीकृष्ण के नाम और रूप में प्रकट हैं पर वे अपने मानव-जन्म के इस एक रूप पर ही जोर नहीं दे रहे ; बल्कि उन भगवान् पुरुषोत्तम की बात कह रहे हैं जिनका यह एक रूप है, समस्त अवतार जिनके मानव-जन्म हैं और मनुष्य जिन-जिन देवताओं के नाम और रूप की पूजा करते हैं, वे सब भी उन्हीं के रूप हैं। श्रीकृष्ण ने जिस मार्ग का वर्णन किया है उसके बारे में यद्यपि यह घोषित किया गया है कि यही वह मार्ग है जिसपर चलकर मनुष्य सच्चे ज्ञान और सच्ची मुक्ति को प्राप्त कर सकता है, किन्तु यह वह मार्ग है जिसमें अन्य सब मार्ग समाये हुए हैं, उनका इसमें बहिष्कार नहीं है। भगवान् अपनी विश्वव्यापकता में समस्त अवतारों, समस्त शिक्षाओं और समस्त धर्मों को लिए हुए हैं।

यह जगत् जिस युद्ध की रंगभूमि है गीता उसके दो पहलुओं पर जोर देती है, एक आंतरिक संघर्ष, दूसरा बाह्य युद्ध। आंतरिक संघर्ष में शत्रुओं का दल अन्दर, व्यक्ति के अपने अन्दर है, और इसमें कामना, अज्ञान और अहंकार को मारना ही विजय है। पर मानव-समूह के अन्दर धर्म और अधर्म की शक्तियों के बीच एक बाह्य युद्ध भी चल रहा है। भगवान्, मनुष्य की देवोपम प्रकृति और उसे मानवजीवन में सिद्ध करने का प्रयास करनेवाली शक्तियाँ धर्म की सहायता करती हैं। उद्दण्ड अहंकार ही जिनका अग्रभाग है ऐसी आसुरी या राक्षसी प्रकृति, अहंकार के प्रतिनिधि और उसे सन्तुष्ट करने का प्रयास करनेवालों को साथ लेकर अधर्म की सहायता करती है। यही देवासुरसंग्राम है जो प्रतीक-रूप से प्राचीन भारतीय साहित्य में भरा है। महाभारत के महायुद्ध को, जिसमें मुख्य सूत्रधार श्रीकृष्ण हैं, प्रायः इसी देवासुरसंग्राम का एक रूपक कहा जाता है ; पांडव, जो धर्मराज्य की स्थापना के लिए लड़ रहे हैं, देवपुत्र हैं, मानवरूप में देवताओं की शक्तियाँ हैं और उनके शत्रु आसुरी शक्ति के अवतार हैं, असुर हैं, इस बाह्य संग्राम में भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करने, असुरों अर्थात् दुष्टों का राज्य नष्ट करने, उन्हें चलानेवाली आसुरी शक्ति का दमन करने और धर्म के पीड़ित आदर्शों को पुनः स्थापित करने के लिए भगवान् अवतार लिया करते हैं। व्यष्टिगत मानव-पुरुष में स्वर्गराज्य का निर्माण करना

जैसे भगवदवतार का उद्देश्य होता है वैसे ही मानव-समष्टि के लिए भी स्वर्गराज्य को पृथ्वी के निकटतर ले आना उनका उद्देश्य होता है।

भगवदवतार के आने का आंतरिक फल उन लोगों को प्राप्त होता है जो भगवान् की इस क्रिया से दिव्य जन्म और दिव्य कर्म के वास्तविक मर्म को जान लेते और अपनी चेतना में भगवन्मय होकर, सर्वथा भगवदाश्रित होकर रहते (**मन्मया मामुपाश्रिताः**) और अपने ज्ञान की तपःशक्ति से पूत होकर (**ज्ञान-तपसा पूताः**) अपरा प्रकृति से मुक्त होकर भगवान् के स्वरूप और स्वभाव को प्राप्त होते हैं (**मद्भावमागताः**)। मनुष्य के अन्दर इस अपरा प्रकृति के ऊपर जो दिव्य प्रकृति है उसे प्रकटाने के लिए तथा बंधरहित, निरहंकार, निष्काम, नैर्व्यक्तिक, विश्वव्यापक, भागवत ज्योति शक्ति और प्रेम से परिपूर्ण दिव्य कर्म दिखाने के लिए भगवान् का अवतार हुआ करता है। भगवान् आते हैं दिव्य व्यक्तित्व के रूप में, वह व्यक्तित्व जो मनुष्य की चेतना में बस जायगा और उसके अहंभावापन्न परिसीमित व्यक्तित्व की जगह ले लेगा जिससे कि मनुष्य अहंकार से मुक्त होकर अनन्तता और विश्वव्यापकता में फैल जाय, जन्म के पचड़े से निकलकर अमर हो जाय। भगवान् भागवत शक्ति और प्रेम के रूप में आते हैं, जो मनुष्यों को अपनी ओर बुलाते हैं ताकि मनुष्य उन्हीं का आश्रय लें और अपने मानवसंकल्पों को त्याग दें, अपने काम-क्रोध और भयजनित द्वन्द्वों से छूट जायं और इस महान् दुःख और अशांति से मुक्त होकर भागवत शान्ति और आनन्द में निवास करें।[1] अवतार किस रूप में, किस नाम से आवेंगे और भगवान् के किस पहलू को सामने रखेंगे, इसका विशेष महत्व नहीं है; क्योंकि मनुष्यों की भिन्न-भिन्न प्रकृति के अनुसार जितने भी विभिन्न मार्ग हैं उन सभी में मनुष्य भागवान् के द्वारा अपने लिए नियत मार्ग पर चल रहे हैं, जो अन्त में उन्हें भगवान् के समीप ले जायगा। भगवान् का वही पहलू मनुष्यों की प्रकृति के अनुकूल होता है जिसका वे उस समय अच्छी तरह से अनुसरण करें जब भगवान् नेतृत्व करने आवें, मनुष्य चाहे जिस तरह भगवान् को अपनाते, उनसे प्रेम करते और आनन्दित होते हों, भगवान् उन्हें उसी तरह से अपनाते, उनसे प्रेम करते और आनन्दित होते हैं, **"ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्।"**[2]

---

१. जन्म कर्म च मे दिव्यं एवं यो वेत्ति तत्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ४-९

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ ४-१०

२. ४-११

दिव्य कर्म

दिव्य जन्म को प्राप्त होना—अर्थात् जीव का किसी उच्चतर चेतना में उठकर दिव्य अवस्था को प्राप्त करानेवाले नवजन्म को प्राप्त होना—और दिव्य कर्म करना, सिद्धि से पहले साधन के तौर पर और पीछे उस दिव्य जन्म की अभिव्यक्ति के तौर पर, यही गीता का संपूर्ण कर्मयोग है। गीता दिव्य कर्म के ऐसे बाह्य लक्षण नहीं बतलाती जिनसे बाह्य दृष्टि से उसकी पहचान की जा सके या लौकिक आलोचना-दृष्टि से उसकी जाँच की जा सके; सामान्य नीति-धर्म के जो लक्षण हैं जिनसे मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार कर्तव्याकर्तव्य निश्चित करते हैं उन लक्षणों को भी गीता ने जान-बूझकर त्याग दिया है। गीता जिन लक्षणों से दिव्य कर्म की पहचान कराती है वे अत्यंत निगूढ़ और अंतःस्थ हैं; जिस मुहर से दिव्य कर्म पहचाने जाते हैं वह अलक्ष्य, आध्यात्मिक और नीतिधर्म से परे है।

दिव्य कर्म आत्मा से उद्भूत होते हैं और केवल आत्मा के प्रकाश से ही पहचाने जा सकते हैं। "बड़े-बड़े ज्ञानी मुनि भी, 'कर्म क्या है और अकर्म क्या है', इसका निश्चय करने में मोहित हो जाते हैं",[1] क्योंकि व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक मानदण्ड से वे इनके बाह्य लक्षणों को ही पहचान पाते हैं, इनकी जड़ तक नहीं पहुँच पाते; "मैं तुझे वह कर्म बतलाऊँगा जिसे जानकर तू अशुभ से मुक्त हो जायगा। कर्म क्या है इसको जानना होगा, विकर्म क्या है इसको भी जानना होगा और अकर्म क्या है यह भी जान लेना होगा; कर्म की गति गहन है।"[2] संसार में कर्म जंगल-सा है, जिसमें मनुष्य अपने काल की विचार-धारा, अपने व्यक्तित्व के मानदण्ड और अपनी परिस्थिति के अनुसार लुढ़कता-पुढ़कता चलता है; और ये विचार और मान उसके एक ही काल या एक ही व्यक्तित्व को नहीं, बल्कि अनेक कालों और व्यक्तित्वों को लिये हुए होते हैं, अनेक सामाजिक अवस्थाओं के विचार और नीति-धर्म तह-पर-तह जमकर आपस में

---

१. ४-१६

२. ४-१६, १७

बिंधे होते हैं और यद्यपि इनका दावा होता है कि ये निरपेक्ष और अविनाशी हैं फिर भी तात्कालिक और रूढ़िगत ही होते हैं, यद्यपि ये अपनेको सद्युक्ति की तरह दिखाने का ढोंग करते हैं पर होते हैं अशास्त्रीय और अयौक्तिक ही। इस सबके बीच सुनिश्चित कर्म-विधान के किसी महत्तम आधार और मूल सत्य को ढूंढ़ता हुआ ज्ञानी अंत में ऐसी जगह जा पहुँचता है जहाँ यही अंतिम प्रश्न उसके सामने आता है कि यह सारा कर्म और जीवन केवल एक भ्रमजाल तो नहीं है और कर्म को सर्वथा परित्याग कर अकर्म को प्राप्त होना ही क्या इस थके हुए, भ्रान्ति-युक्त मानव-जीव के लिये अंतिम आश्रय नहीं है। परन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस बारे में ज्ञानी भी भ्रम में पड़ते और मोहित हो जाते हैं। क्योंकि ज्ञान और मोक्ष कर्म से मिलते हैं, अकर्म से नहीं।

तब हल क्या है? वह किस प्रकार का कर्म है जिससे हम जीवन के अशुभ से छूट सकें, इस संशय, प्रमाद और शोक से, अपने विशुद्ध सद्हेतु-प्रेरित कर्मों के भी अच्छे-बुरे, अशुद्ध और भरमानेवाले परिणाम से, इन सहस्रों प्रकार की बुराइयों और दुःखों से, मुक्त हो सकें? उत्तर मिलता है कि कोई बाह्य प्रभेद करने की आवश्यकता नहीं; संसार में जो कर्म आवश्यक हैं उनसे बचने की आवश्यकता नहीं; हमारी मानव-कर्मण्यताओं की हदबन्दी की जरूरत नहीं, बल्कि सब कर्म किये जायँ अंतरात्मा को भगवान् के साथ योग में स्थित करके, **"युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्"**। अकर्म मुक्ति का मार्ग नहीं है; जिसकी उच्चतम बुद्धि की अंतर्दृष्टि खुल गयी है वह देख सकता है कि इस प्रकार का अकर्म स्वयं ही सतत होनेवाला एक कर्म है, एक ऐसी अवस्था है जो प्रकृति और उसके गुणों की क्रियाओं के अधीन है। शारीरिक अकर्मण्यता की शरण लेनेवाला मन अभी इसी भ्रम में पड़ा है कि वह स्वयं कर्मों का कर्ता है, प्रकृति नहीं; उसने जड़ता को मोक्ष समझ लिया होता है, वह यह नहीं देख पाता कि जो ईंट-पत्थर से भी अधिक जड़ दिखायी देता है उसमें भी प्रकृति की क्रिया हो रही होती है, उसपर भी प्रकृति अपना अधिकार अक्षुण्ण रखती है। इसके विपरीत, कर्म के पूर्ण प्लावन में भी आत्मा अपने कर्मों से मुक्त है, वह कर्ता नहीं है, जो कुछ किया जा रहा है उससे बद्ध नहीं है। जो आत्मा की इस मुक्तावस्था में रहता है और प्रकृति के गुणों में बँधा नहीं है, वही कर्मों से मुक्त रहता है। गीता के इस वाक्य का कि "जो कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखता है वही मनुष्यों में विवेकी और बुद्धिमान है,"[1] स्पष्ट रूप से यही अभिप्राय है। गीता का यह वाक्य सांख्य ने पुरुष और प्रकृति के बीच जो भेद किया है उसपर प्रतिष्ठित है—

१. ४-१८

वह भेद यह है कि पुरुष नित्य मुक्त, अकर्ता, चिरशान्त, शुद्ध तथा कर्मों के अन्दर भी अविचल है और प्रकृति चिरक्रियाशीला है जो जड़ता और अकर्म की अवस्था में भी उतनी ही कर्मरत है जितनी कि दृश्य कर्मस्रोत के कोलाहल में। यही वह उच्चतम ज्ञान है जो बुद्धि के उच्चतम प्रयास से प्राप्त होता है, इसलिए जिसने इस ज्ञान को प्राप्त कर लिया है वही यथार्थ में बुद्धिमान् है, **'स बुद्धिमान् मनुष्येषु'**, वह भ्रान्त मोहित बुद्धिवाला मनुष्य नहीं जो जीवन और कर्म को निम्नतर बुद्धि के बाह्य, अनिश्चित और अस्थायी लक्षणों से समझना चाहता है। इसलिए मुक्त पुरुष कर्म से भीत नहीं होता, वह संपूर्ण कर्मों का करनेवाला विशाल विराट् कर्मी होता है (**कृत्स्नकर्मकृत्**)। वह औरों की तरह प्रकृति के वश में रहकर कर्म नहीं करता, वह आत्मा की नीरव स्थिरता में प्रतिष्ठित होकर, भगवान् के साथ योगयुक्त होकर कर्म करता है। उसके कर्मों के स्वामी भगवान् होते हैं, वह उन कर्मों का निमित्तमात्र होता है जो उसकी प्रकृति अपने स्वामी को जानते हुए, उन्हींके वश में रहते हुए करती है। इस ज्ञान की धधकती हुई प्रबलता और पवित्रता में उसके कर्म अग्नि में ईंधन की तरह जलकर भस्म हो जाते हैं और इनका उसके मन पर कोई लेप या दाग नहीं लगता, वह स्थिर, शान्त, अचल, निर्मल, शुभ और पवित्र बना रहता है। कर्तृत्व-अभिमान से शून्य इस मोक्षदायक ज्ञान में स्थित होकर, समस्त कर्मों को करना ही दिव्य कर्मी का प्रथम लक्षण है।

दूसरा लक्षण है कामना से मुक्ति ; क्योंकि जहाँ कर्ता का व्यक्तिगत अहंकार नहीं होता वहाँ कामना का रहना असंभव हो जाता है, वहाँ कामना निराहार हो जाती है, निराश्रय हो जाने के कारण अवसन्न होकर क्षीण और नष्ट हो जाती है। बाह्यतः, मुक्त पुरुष भी दूसरे लोगों की तरह ही समस्त कर्मों को करता हुआ दिखायी देता है, शायद वह कर्मों को बड़े पैमाने पर और अधिक शक्तिशाली संकल्प और वेगवती शक्ति के साथ करता है, क्योंकि उसकी सक्रिय प्रकृति में भगवान् के संकल्प का बल काम करता है ; परन्तु उसके समस्त उपक्रमों और उद्योगों में कामना के हीनतर भाव और निम्नतर इच्छा का अभाव होता है, **'सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः'**। उसको अपने कर्मों के फल के लिए आसक्ति नहीं होती, और जहाँ फल के लिए कर्म नहीं किया जाता बल्कि सब कर्मों के स्वामी का नैर्व्यक्तिक यंत्र बनकर ही सारा कर्म किया जाता है वहाँ कामना-वासना के लिए कोई स्थान ही नहीं होता—वहाँ मालिक के काम को सफलतापूर्वक करने की कोई इच्छा भी नहीं होती, क्योंकि फल तो भगवान् का है और उन्हींके द्वारा विहित है, किसी व्यक्तिगत इच्छा या प्रयत्न के द्वारा नहीं, वहाँ यह इच्छा भी नहीं होती कि मालिक के काम को गौरव के साथ करूँ या इस

प्रकार करूँ जिससे मालिक संतुष्ट हों, क्योंकि यथार्थ में कर्मी तो स्वयं भगवान् हैं और सारी महिमा है उनकी शक्ति के उस रूप-विशेष की जिसके जिम्मे प्रकृति में उस कर्म का भार सौंपा गया है, न कि किसी परिच्छिन्न मानव-व्यक्तित्व की। मुक्त पुरुष का अंत:करण और अंतरात्मा कुछ भी नहीं करता, **'नैव किंचित् करोति सः'** ; यद्यपि वह अपनी प्रकृति के अन्दर से कर्म में नियुक्त तो होता है, पर कर्म करती है वह प्रकृति, वह कर्त्री शक्ति, वह चिन्मयी भगवती जो अंतर्यामी भगवान के द्वारा नियंत्रित होती है।

इसका यह मतलब नहीं कि कर्म पूर्ण कौशल के साथ, सफलता के साथ, उपयुक्त साधनों का ठीक-ठीक उपयोग करके न किया जाय। बल्कि, योगस्थ होकर शान्ति के साथ कर्म करने से कुशल कर्म करना जितना अधिक सुलभ होता है उतना आशा और भय से अंधे होकर या लुढ़कती-पुढ़कती बुद्धि के निर्णयों द्वारा लँगड़े बने हुए कर्मों को, या फिर अधीर मानव-इच्छा की उत्सुकतापूर्ण घबराहट के साथ दौड़-धूप करके कर्म करने से नहीं होता। गीता ने अन्यत्र कहा है, **'योगः कर्मसु कौशलम्'**। योग ही है कर्म का सच्चा कौशल। पर यह सब होता है नैर्व्यक्तिक भाव से एक महती विश्व-ज्योति और शक्ति के द्वारा जो व्यष्टि-पुरुष की प्रकृति में से अपना कर्म करती है। कर्मयोगी इस बात को जानता है कि उसे जो शक्ति दी गयी है वह भगवत्-निर्दिष्ट फल को प्राप्त करने के उपयुक्त होगी, उसे जो कर्म करना है वह कर्म के पीछे जो भागवत चिंता है उसके अनुकूल होगा और उसका संकल्प, उसकी गतिशक्ति और दिशा गुप्त रूप से भागवत प्रज्ञा के द्वारा नियंत्रित होती रहेगी—अवश्य ही उसका संकल्प न तो इच्छा होगी न वासना, बल्कि वह सचेतन शक्ति का किसी ऐसे लक्ष्य की ओर नैर्व्यक्तिक प्रवाह होगा जो उसका अपना नहीं है। कर्म का फल वैसा भी हो सकता है जिसे सामान्य मनुष्य सफलता समझते हैं अथवा ऐसा भी हो सकता है जो उन्हें विफलता जान पड़े, पर कर्मयोगी इन दोनों में अभीष्ट की सिद्धि ही देखता है, और वह अभीष्ट उसका अपना नहीं, बल्कि उन सर्वज्ञ का होता है जो कर्म और फल, दोनों के संचालक हैं। कर्मयोगी विजय की खोज नहीं करता, वह तो यही इच्छा करता है कि भगवत्संकल्प और भगवदभिप्राय पूर्ण हो और यह पूर्णता आपातदृश्य पराजय के द्वारा भी उतनी ही साधित होती है जितनी जय के द्वारा और प्राय: जय की अपेक्षा पराजय के द्वारा ही यह कार्य विशेष बल के साथ संपन्न होता है। अर्जुन को युद्ध के आदेश के साथ-साथ विजय का आश्वासन भी प्राप्त है ; पर यदि उसकी हार होनी होती तो भी उसका कर्तव्य युद्ध ही होता ; क्योंकि जिन क्रियाशक्तियों के समूह के द्वारा भगवान् का संकल्प

सफल होता है उसमें तात्कालिक भाग के तौर पर अर्जुन को उपस्थित काल में यह युद्ध-कर्म ही सौंपा गया है।

मुक्त पुरुष की व्यक्तिगत आशा-आकांक्षा नहीं होती ; वह चीजों को अपनी वैयक्तिक संपत्ति जानकर पकड़े नहीं रहता ; भगवत्संकल्प जो ला देता है वह उसे ग्रहण करता है, वह किसी वस्तु का लोभ नहीं करता, किसी से डाह नहीं करता ; जो कुछ प्राप्त होता है उसे वह राग-द्वेषरहित होकर ग्रहण करता है ; जो कुछ चला जाता है उसे संसार-चक्र में जाने देता है और उसके लिये दुःख या शोक नहीं करता, उसे हानि नहीं मानता। उसका हृदय और आत्मा पूर्णतया उसके वश में होते हैं, वे समस्त प्रतिक्रिया या आवेश से मुक्त होते हैं, वे बाह्य विषयों के स्पर्श से विक्षुब्ध नहीं होते। उसका कर्म मात्र शारीरिक कर्म होता है (**शारीरं केवलं कर्म**), क्योंकि बाकी सब कुछ तो ऊपर से आता है, मानव-स्तर पर पैदा नहीं होता, भगवान् पुरुषोत्तम के संकल्प, ज्ञान और आनन्द का प्रतिबिंब-मात्र होता है ; इसलिए वह कर्म और उसके उद्देश्यों पर जोर देकर अपने मन और हृदयों में वे प्रतिक्रियाएँ नहीं होने देता जिन्हें हम षड्रिपु और पाप कहते हैं। क्योंकि बाह्य कर्म पाप नहीं है, बल्कि वैयक्तिक संकल्प, मन और हृदय की जो अशुद्ध प्रतिक्रिया कर्म के साथ लगी रहती और कर्म कराती है उसीका नाम पाप है ; नैर्व्यक्तिक आध्यात्मिक मनुष्य तो सदा ही शुद्ध "**अपापविद्ध**" होता है और उसके द्वारा होनेवाले कार्य में उसकी सहज शुद्धता आ जाती है। यह आध्यात्मिक नैर्व्यक्तित्व दिव्य कर्मी का तीसरा लक्षण है। किसी प्रकार की महत्ता या विशालता को प्राप्त सभी मनुष्य यह अनुभव करते हैं कि कोई नैर्व्यक्तिक शक्ति या प्रेम या संकल्प और ज्ञान उनके अन्दर काम कर रहा है, पर वे अपने मानव-व्यक्तित्व की अहंभावापन्न प्रतिक्रियाओं से मुक्त नहीं हो पाते, और कभी-कभी तो ये प्रतिक्रियाएँ अत्यंत प्रचंड होती हैं। परन्तु मुक्त पुरुष इन प्रतिक्रियाओं से सर्वथा मुक्त होता है ; क्योंकि वह अपने व्यक्तित्व को नैर्व्यक्तिक पुरुष में निक्षेप कर देता है और अब उसका व्यक्तित्व उसका अपना नहीं रह जाता, उन भगवान् पुरुषोत्तम के हाथों में चला जाता है जो सब सांत गुणों का अनन्त और मुक्त भाव से व्यवहार करते हैं पर किसी के द्वारा बद्ध नहीं होते। मुक्त पुरुष आत्मा हो जाता है और प्रकृति के गुणों का पुंज-सा नहीं बना रहता ; और प्रकृति के कर्म के लिए उसके व्यक्तित्व का जो कुछ आभास बाकी रह जाता है वह एक ऐसी चीज होती है जो बंधमुक्त, उदार, नमनीय और विश्वव्यापक है ; वह भगवान् की अनन्त सत्ता का एक विशुद्ध पात्र बन जाता है, पुरुषोत्तम का एक जीवंत छद्मरूप हो जाता है।

इस ज्ञान, निष्कामता और नैर्व्यक्तिकता का फल है पुरुष और प्रकृति में पूर्ण समत्व। समत्व दिव्य कर्मी का चौथा लक्षण है। गीता कहती है कि वह 'द्वन्द्वातीत' हो जाता है, वह सफलता और विफलता, जय और पराजय को अविचल भाव से और समदृष्टि से देखता है, इतना ही नहीं वह सभी द्वन्द्वों के परे उस स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ द्वन्द्वों का सामंजस्य होता है। जिन बाह्य लक्षणों से मनुष्य जगत् की घटनाओं के प्रति अपनी मनोवृत्ति का रुख निश्चित करते हैं वे उसकी दृष्टि में गौण और यांत्रिक होते हैं। वह उनकी उपेक्षा नहीं करता, पर उनसे परे रहता है। शुभ और अशुभ का भेद कामना के अधीन मनुष्य के लिए सबसे बड़ी चीज है, पर निष्काम आत्मवान् पुरुष के लिए शुभ और अशुभ दोनों ही एक से ग्राह्य हैं, क्योंकि इन दोनों के संमिश्रण से ही शाश्वत श्रेय के विकासशील रूप निर्मित होते हैं। उसकी हार तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसकी दृष्टि के अनुसार प्रकृति के कुरुक्षेत्र अर्थात् धर्मक्षेत्र में सब कुछ भगवान् की विजय की ओर जा रहा है, इस कर्मक्षेत्र में जो विकसनशील धर्म का क्षेत्र है (**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे**), युद्ध के प्रत्येक मोड़ का नक्शा युद्ध के अधिनायक, कर्मों के स्वामी, धर्म के नेता की पूर्वदृष्टि से पहले ही खींचकर तैयार किया जा चुका है। मनुष्यों से मिलनेवाले मान-अपमान या निन्दा-स्तुति का उसपर कुछ भी असर नहीं पड़ सकता, क्योंकि उसके कार्य का निर्णायक अधिक विमल दृष्टिवाला कोई और ही है और उसके कार्य का पैमाना भी अलग है और उसका प्रेरक-भाव सांसारिक पुरस्कार पर जरा भी निर्भर नहीं है। क्षत्रिय अर्जुन की दृष्टि में मान और कीर्ति का बहुत बड़ा मूल्य होना स्वाभाविक ही है, उसका अपयश तथा कापुरुषता के अपवाद से बचना, उन्हें मृत्यु से भी बुरा मानना ठीक ही है, क्योंकि संसारमें मानकी रक्षा करना और साहस की मर्यादा को बनाये रखना उसके धर्म का अंग है, किन्तु मुक्त अर्जुन को इनमें से किसी बात की परवाह करने की आवश्यकता नहीं, उसे तो केवल अपना "**कर्तव्यं कर्म**" जानना है, उस कर्म को जानना है जिसकी मांग उसकी परम आत्मा उससे कर रही है, उसे वही करना है और फल को अपने कर्मों के ईश्वर के हाथों में छोड़ देना है। पापपुण्य के भेद से भी वह ऊपर उठ चुका है। मानव-जीव जब अपने अहंकार की पकड़ को ढीला करने के लिए और अपने प्राणावेगों के भारी और प्रचण्ड जूए के बोझ को हलका करने के लिए संघर्ष करता है तब पाप और पुण्य में विवेक का बहुत अधिक महत्व होता है, पर मुक्त पुरुष तो इसके भी परे चला जाता है, वह इन संघर्षों के ऊपर उठ जाता है तथा साक्षिस्वरूप ज्ञानमय आत्मा की पवित्रता में सुप्रतिष्ठित हो जाता है। अब पाप झड़कर गिर गया है और उसे अच्छे कर्मों से न पुण्य मिलता

है न उसके पुण्य की वृद्धि होती है, और इसी तरह किसी बुरे कर्म से पुण्य की हानि या नाश भी नहीं होता, वह दिव्य और निरहं प्रकृति की अविच्छेद्य और अपरिवर्तनीय पवित्रता के शिखर पर चढ़ गया है और वहीं आसन जमाकर बैठा है। उसके कर्मों का आरम्भ पाप-पुण्य के बोध से नहीं होता, न ये उसपर लागू होते हैं।

अर्जुन अभी अज्ञान में है। वह अपने हृदय में सत्य और न्याय की कोई पुकार अनुभव कर सकता है और मन-ही-मन सोच सकता है कि युद्ध से हटना पाप होगा, क्योंकि अधर्म की विजय होने से अन्याय, अत्याचार और अशुभ कर्म छा जाते हैं और इससे मनुष्य और राष्ट्र पीड़ित होते हैं और इस अवसर पर यह जिम्मेवारी उसी के सिर आ पड़ेगी। अथवा उसके हृदय में हिंसा और मारकाट के प्रति घृणा पैदा हो सकती है और वह मन-ही-मन यह सोच सकता है कि खून बहाना तो हर हालत में पाप है और रक्तपात का समर्थन किसी अवस्थामें नहीं किया जा सकता। धर्म और युक्ति की दृष्टि से ये दोनों मनोभाव ही एक-से मालूम होंगे ; इनमें से कौन-सा मनोभाव किसके मन पर हावी होगा या दुनिया की दृष्टि में जँचेगा यह बात तो देश, काल, पात्र और परिस्थिति पर निर्भर है। अथवा यह भी हो सकता है कि अपने शत्रुओंके मुकाबले अपने मित्रों की सहायता करने के लिए, अशुभ और अत्याचार के मुकाबले में धर्म और न्याय का पक्ष समर्थन करने के लिए उसका हृदय और उसकी कुलमर्यादा उसे विवश करें। परन्तु मुक्त पुरुष की दृष्टि इन परस्पर-विरोधी मानदण्डों के परे जाकर केवल यह देखती है कि विकासशील धर्म की रक्षा या अभ्युदय के लिए आवश्यक वह कौन-सा कर्म है जो परमात्मा मुझसे कराना चाहते हैं। उसका अपना निजी मतलब तो कुछ है ही नहीं, उसको किसी से कोई व्यक्तिगत रागद्वेष तो है ही नहीं, उसके पास कर्म-विषयक कसकर बंधा हुआ मानदण्ड तो है ही नहीं जो मनुष्यजाति की उन्नति की ओर बढ़ती हुई सुनम्य गति में रोड़ा अटका दे या अनन्त की पुकार के विरुद्ध खड़ा हो जाय। उसके कोई व्यक्तिगत शत्रु नहीं जिन्हें वह जीतना या मारना चाहे, वह सिर्फ ऐसे लोगों को देखता है जिन्हें परिस्थिति ने और पदार्थमात्र में निहित संकल्प ने उसके विरुद्ध लाकर इसलिए खड़ा कर दिया है कि वे प्रतिरोध के द्वारा भवितव्यता की गति की सहायता करें। इन लोगों के प्रति उसके मन में क्रोध या घृणा नहीं हो सकती क्योंकि दिव्य प्रकृति के लिये क्रोध और घृणा विजातीय चीजें हैं। असुर की अपने विरोधी को चूर-चूर करने और उसका सिर उतार लेने की इच्छा, राक्षस की संहार करने की निर्दयतापूर्ण लिप्सा का मुक्त पुरुष की स्थिरता, शान्ति, विश्वव्यापी सहानुभूति और समझ में होना असम्भव है। उसमें किसी को चोट पहुँचाने की इच्छा नहीं होती अपितु सारे संसार के लिए मैत्री और

करुणा का भाव होता है (**मैत्रः करुण एव च**); पर यह करुणा उस दिव्य आत्मा की करुणा है जो मनुष्यों को अपने उच्च स्थान से करुणाभरी दृष्टि से देखता है, सब जीवों को अपने अन्दर प्रेम से ग्रहण करता है, यह सामान्य मनुष्य की वह दीनता भरी कृपा नहीं है जो हृदय, स्नायु और मांस का दुर्बल कंपनमात्र होती है। वह शरीर से जीवित रहने को भी उतनी बड़ी चीज नहीं मानता, बल्कि शरीर के परे जो आत्म-जीवन है उसे जीवन मानता और शरीर को केवल एक उपकरण समझता है। वह सहसा संग्राम और संहार में प्रवृत्त न होगा, पर यदि धर्म के प्रवाह में युद्ध करना ही पड़े तो वह उसे स्वीकार करेगा और उसे जिनके बल और प्रभुत्व को चूर्ण करना है और जिनके विजयी जीवन के उल्लास को नष्ट करना है उनके साथ भी उसकी सहानुभूति होगी और वह उदार समबुद्धि और विशुद्ध बोध के साथ ही युद्ध में प्रवृत्त होगा।

कारण मुक्त पुरुष सबमें दो बातों को देखता है, एक यह कि भगवान् घट-घट में समरूप में वास करते हैं और दूसरी यह कि यह जो नानाविध प्राकट्य है वह अपनी क्षणथायी परिस्थिति में ही विषम है। पशु में, मनुष्य में, अशुचि-अंत्यज में, विद्वान् और पुण्यात्मा ब्राह्मण में, महात्मा और पापात्मा में, मित्र, शत्रु और तटस्थ में, जो उसे प्यार करते और उसका उपकार करते हैं उनमें और जो उससे घृणा करते और उसे पीड़ा पहुँचाते हैं उनमें, वह अपने-आपको देखता है, ईश्वर को देखता है और उसके हृदय में सबके लिए एक-सी दिव्य करुणा और दिव्य प्रीति होती है। परिस्थिति के अनुसार बाह्यतः वह किसी को अपनी छाती से लगा सकता है अथवा किसी से युद्ध कर सकता है, पर किसी हालत में उसकी समदृष्टि में कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसका हृदय सबके लिए खुला रहता है, उसका अंतर सबको गले लगाये रहता है। और उसके सब कर्मोंमें एक ही अध्यात्मतत्व अर्थात् पूर्ण समत्व काम करता है और एक ही कर्मतत्व काम करता है अर्थात् वह भगवत्-संकल्प जो भगवान् की ओर क्रमशः अग्रसर होती हुई मानव-जाति की सहायता के लिए उसके अन्दर से क्रियाशील है।

फिर दिव्य कर्मी का लक्षण वह है जो स्वयं भागवत चेतना का कैन्द्रिक लक्षण है, अर्थात् पूर्ण आन्तर आनन्द और शान्ति। ये निर्विषय होते हैं, इनकी उत्पत्ति या स्थिति जगत् के किसी पदार्थ पर निर्भर नहीं, ये स्वाभाविक होते हैं, अंतरात्मा के उपादान और दिव्य सत्ता के स्वरूप होते हैं। सामान्य मनुष्य अपने सुख के लिए बाह्य पदार्थों पर निर्भर है; इसीसे उसके वासनाकामना होती है, इसीसे उसमें क्रोध-क्षोभ, सुख-दुःख, हर्ष-शोक होते हैं, इसीलिए वह सब वस्तुओं को शुभा-शुभ के कांटे से तौलता है। परन्तु दिव्य आत्मा पर इनमें से किसी का कोई

असर नहीं पड़ सकता ; वह किसी प्रकार की निर्भरता के बिना सदा तृप्त रहता है, **'नित्यतृप्तो निराश्रयः'**, क्योंकि उसका आनन्द, उसकी दिव्य तृप्ति, उसका सुख, उसकी सुप्रसन्न ज्योति सदा उसके अन्दर वर्तमान हैं, उसके रोम-रोम में व्याप्त है, **"आत्मरतिः, अन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।"** वह बाह्य पदार्थों में जो सुख लेता है वह उनके कारण नहीं होता, उस रस के लिए नहीं जिसे वह उनमें ढूँढता और खो भी सकता है, बल्कि उनमें स्थित आत्मा के लिए, उनके द्वारा भगवान् की अभिव्यक्ति के लिए, उनमें स्थित शाश्वत तत्व के लिए होता है, जिसे वह कभी नहीं खो सकता। इन पदार्थों के बाह्य स्पर्शों में उसकी आसक्ति नहीं होती, बल्कि अपने अन्दर मिलने वाला आनन्द ही उसे सर्वत्र मिलता है ; क्योंकि उसकी आत्मा ही उनकी आत्मा है, वह चराचर प्राणियों की आत्मा के साथ एक हो गया है—उनके विभिन्न नामरूपों के होते हुए भी उनके अन्दर जो समब्रह्म है उसके साथ वह एक हो गया है **"ब्रह्मयोगयुक्तात्मा, सर्वभूतात्मभूतात्मा।"** प्रिय पदार्थ के स्पर्श से उसे हर्ष नहीं होता, अप्रिय से उसे शोक नहीं होता ; पदार्थों के, मित्रों के या शत्रुओं के घाव उसकी दृष्टि की स्थिरता भंग नहीं कर सकते न उसके हृदय को मोहित कर सकते हैं ; उपनिषद् के शब्दों में यह आत्मा अपने स्वरूप से 'अव्रणम्' होता है, उसपर कोई घाव, कोई क्षत नहीं होता। वह सब पदार्थों में वही अक्षय आनन्द भोग करता है, **"सुखमक्षयमश्नुते"**

वह समत्व, नैर्व्यक्तित्व, शांति, मुक्ति और आनन्द कर्म के करने न करने जैसी किसी बाहरी चीजपर अवलंबित नहीं है। गीता ने बार-बार त्याग और संन्यास अर्थात् आंतर संन्यास और बाह्य संन्यास के भेद पर जोर दिया है। त्याग के बिना संन्यास का कोई मूल्य नहीं है ; त्याग के बिना संन्यास हो भी नहीं सकता और जहाँ आन्तरिक मुक्ति है वहाँ बाह्य संन्यास की कोई आवश्यकता भी नहीं होती। यथार्थ में त्याग ही सच्चा और पूर्ण संन्यास है। "उसे नित्य संन्यासी जानना चाहिए जो न द्वेष करता है न आकांक्षा, इस प्रकार का द्वन्द्वमुक्त व्यक्ति अनायास ही समस्त बंधनों से मुक्त हो जाता है।"[1] बाह्य संन्यास का कष्टकर मार्ग (**दुःखमाप्तुं**) अनावश्यक है। यह सर्वथा सत्य है कि सब कर्मों और फलों को अर्पण करना होता है, उनका त्याग करना होता है, पर यह अर्पण, यह त्याग आंतरिक है, बाह्य नहीं ; यह प्रकृति की जड़ता में नहीं किया जाता, बल्कि यज्ञ के उन अधीश्वर को किया जाता है, उस नैर्व्यक्तिक ब्रह्म की शान्ति और आनन्द में किया जाता है जिसमें से बिना उसकी शान्ति को भंग किये सारा कर्म प्रवाहित होता है। कर्म का सच्चा संन्यास ब्रह्म में कर्मों का आधान करना ही है। "जो

---

१. ५, ३

संग का त्याग करके, ब्रह्म में कर्मों का आधान करके (या ब्रह्म को कर्मों का आधार बनाके) कर्म करता है (**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि**) उसे पापका लेप नहीं लगता जैसे कमल के पत्ते पर पानी नहीं ठहरता।"[1] इसलिए योगी पहले शरीर से, मन से, बुद्धि से अथवा केवल कर्मेंद्रियों से ही आसक्ति को छोड़कर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं। कर्मफलों की आसक्ति को छोड़ने से ब्रह्म के साथ युक्त होकर अंतरात्मा ब्राह्मी स्थिति की ऐकान्तिक शान्ति लाभ करता है, किन्तु जो ब्रह्म के साथ इस प्रकार युक्त नहीं है वह फल में आसक्त और काम-संभूत कर्म से बंधा रहता है। यह स्थिति, यह पवित्रता, यह शान्ति जहाँ एक बार प्राप्त हो जाती है वहाँ देही आत्मा अपनी प्रकृति को पूर्ण रूप से वश में किये हुए, सब कर्मों का 'मनसा' (मन से, बाहर से नहीं)-संन्यास करके "नवद्वारा पुरी में बैठा रहता है, वह न कुछ करता है न कुछ कराता है।" कारण यह आत्मा ही सबके अन्दर रहनेवाली नैर्व्यक्तिक आत्मा है, परब्रह्म है, प्रभु है, विभु है जो नैर्व्यक्तिक होने के नाते न तो जगत् के किसी कर्म की सृष्टि करता है न अपनेको कर्ता समझने-वाले मानसिक विचार की (**न कर्तृत्वं न कर्माणि**), और न ही कर्मफल-संयोगरूप कार्यकारणसम्बन्ध की। इस सबकी सृष्टि मनुष्य में प्रकृति के द्वारा या स्वभाव द्वारा होती है, स्वभाव का अर्थ है आत्म-संभूतिका मूल तत्व। सर्वव्यापी नैर्व्यक्तिक आत्मा न पाप ग्रहण करती है न पुण्य। पाप-पुण्य की सृष्टि जीव के अज्ञान से, उसके कर्तृत्व के अहंकार से, श्रेष्ठ आत्मभाव की उसकी अनभिज्ञता से, प्रकृति के कर्मों के साथ अपना तादात्म्य कर लेने से होती है, और जब उसका अन्तःस्थित आत्म-ज्ञान इस अंधकारमय आवरण से मुक्त हो जाता है तब उसका वह ज्ञान उसकी अन्तःस्थ सदात्मा को सूर्य के सदृश प्रकाशित कर देता है; तब वह अपने-आपको प्रकृति के करण-समूह के ऊपर रहनेवाली आत्मा जानने लगता है। उस विशुद्ध, अनन्त, अविकार्य अव्यय स्थिति में आकर वह फिर विचलित नहीं होता, क्योंकि वह इस भ्रम में नहीं रहता कि प्रकृति की क्रिया उसमें कुछ हेर-फेर कर सकती है, नैर्व्यक्तिक ब्रह्म के साथ पूर्ण तादात्म्य लाभ करके वह फिर से जन्म लेकर प्रकृति की क्रिया में वापस आने की आवश्यकता से अपने-आपको मुक्त कर सकता है।

फिर भी यह मुक्ति उसे कर्म करने से जरा भी नहीं रोकती। हाँ, अब कर्म करते हुए भी वह यह जानता है कि कर्म मैं नहीं कर रहा, कर्म करनेवाले हैं प्रकृति के त्रिगुण। "तत्ववित् व्यक्ति (निष्क्रिय नैर्व्यक्तिक ब्रह्म के साथ) युक्त होकर यही सोचता है कि कर्म मैं नहीं करता; देखते, सुनते, चखते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, देते, लेते, आँख खोलते-बंद करते वह यही धारणा

---

१. ५, १०

करता है कि इन्द्रियाँ विषयों पर क्रिया कर रही हैं।" वह स्वयं अक्षर अविकार्य आत्मा में सुप्रतिष्ठित होने के कारण त्रिगुणातीत हो जाता है ; वह न सात्विक है न राजसिक न तामसी ; उसके कर्मों में प्राकृतिक गुणों और धर्मों के जो परिवर्तन होते रहते हैं, प्रकाश और सुख, कर्मण्यता और शक्ति, विश्राम और जड़ता-रूपी इनका जो छन्दोबद्ध खेल होता रहता है उन्हें वह निर्मल और शान्त भाव से देखता है। अपने कर्म को इस प्रकार शान्त आत्मा के उच्चासन से देखना और उसमें लिप्त न होना, यह त्रैगुणातीत्य भी दिव्य कर्मी का एक महान् लक्षण है। यदि इसी विचार को सब कुछ मान लिया जाय तो इसका यह परिणाम निकलेगा कि सब कुछ प्रकृति की ही यांत्रिक नियति है और आत्मा इस सबसे सर्वथा अलग है, उसपर कोई जिम्मेदारी नहीं, पर गीता पुरुषोत्तम-तत्व की प्रकाशमान और परमेश्वरवादी भावना के द्वारा इस अपूर्ण विचार की भूल का निवारण करती है। गीता इस बात को स्पष्ट रूप से कहती है कि सब कुछ के मूल में प्रकृति ही नहीं है जो अपने कर्मों का यंत्रवत् निर्णय करती हो, बल्कि प्रकृति को प्रेरित करता है उन पुरुषोत्तम का संकल्प, जिन्होंने धार्तराष्ट्रों को पहलेसे ही मार रखा है, अर्जुन जिनका मानव-यंत्र मात्र है। वे विश्वात्मा परात्पर परमेश्वर ही प्रकृति के समस्त कर्मों के स्वामी हैं। नैर्व्यक्तिक ब्रह्म में कर्मों का आधान करना तो कर्तृत्व-अभिमान से छुटकारा पाने का एक साधन मात्र है, पर हमारा लक्ष्य तो है अपने समस्त कर्मों को सर्वभूतमहेश्वर के अर्पण करना। "आत्मा के साथ अपनी चेतना का तादात्म्य करके, मुझमें सब कर्मों का संन्यास करके (**मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा**), अपनी वैयक्तिक आशाओं और कामनाओं से तथा 'मैं' और 'मेरा' से मुक्त तथा विगतज्वर होकर युद्ध कर,"[1] कर्म कर, जगत् में मेरे संकल्प को कार्यान्वित कर। भगवान् ही अखिल कर्म का आरम्भण, प्रेरण और निर्द्धारण करते हैं ; मानव-आत्मा ब्रह्म में नैर्व्यक्तिक भाव को प्राप्त होकर उनकी शक्ति का विशुद्ध और नीरव स्रोतमार्ग बनती है ; यही शक्ति प्रकृति में आकर दिव्य कर्म संपादन करती है। केवल ऐसे कर्म ही मुक्त पुरुष के कर्म हैं ; क्योंकि किसी कर्म में मुक्त पुरुष की कोई अपनी प्रवृत्ति नहीं होती ; केवल ऐसे कर्म ही सिद्ध कर्मयोगी के कर्म हैं। इन कर्मों का उदय मुक्त आत्मा से होता और आत्मा में कोई विकार या संस्कार उत्पन्न किये बिना ही इनका लय हो जाता है, जैसे, अक्षर अगाध चित्-समुद्र में लहरें ऊपर-ही-ऊपर उठती हैं और फिर विलीन हो जाती हैं।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥[2]

---

१. ३, ३० २. ४, २३

समत्व

ज्ञान, निष्कामता, नैर्व्यक्तिकता, समता, स्वतःस्थित आंतर शान्ति और आनन्द, प्रकृति के त्रिगुण के मायाजाल से छुटकारा या कम-से-कम उससे ऊपर उठे रहने की स्थिति, ये सब मुक्त पुरुष के लक्षण हैं और इसलिए इन सब लक्षणों को उसके समस्त कर्मों में वर्तमान रहना चाहिए। ये आत्मा की अविचल शान्ति के आधार हैं, वह शान्ति जिसको आत्मा संसार की समस्त क्रियाओं, आघातों और शक्ति-संघर्षों से घिरा हुआ होने पर भी अपने अन्दर बनाये रहती है। यह शान्ति समस्त क्षरभावों में वर्तमान ब्रह्म के सम अक्षर भाव को प्रतिभासित करती है और यह उस अविभाज्य और सम एकता की शान्ति है, जो संसार के समस्त बहुत्वों में सदा ओत-प्रोत रहती है। कारण जगत् के असंख्य भेदों और वैषम्यों के बीच समस्वरूप और सबको समरूप करनेवाली आत्मा ही वह एकता है ; और आत्मा का यह समत्व ही एकमात्र वास्तविक समत्व है। जगत् के अन्य सब पदार्थों में केवल सादृश्य, समायोजन और संतुलन ही हो सकता है, किन्तु जगत् के बड़े-से-बड़े सादृश्यों में भी वैषम्य और असदृशता के भेद नजर आते हैं और जगत् में जो समायोजित संतुलन होता है वह विषम वजनों को मिलाकर तौल बराबर करने की प्रक्रिया से ही होता है।

इसीलिए गीता में कर्मयोग के जो तत्व बतलाये गये हैं उनमें समत्व को इतना अधिक महत्व दिया गया है ; वह जगत् के साथ मुक्त आत्मा के मुक्त सम्बन्ध को जोड़नेवाली गाँठ है। आत्मज्ञान, निष्कामता, नैर्व्यक्तिकता, आनन्द, निस्त्रैगुण्य, ये सब जब अंतर्मुख, अपने-आपमें लवलीन और निष्क्रिय हों तो इन्हें समत्व की कोई आवश्यकता नहीं होती ; क्योंकि वहाँ उन पदार्थों का भान ही नहीं जिनमें सम-विषम का द्वन्द्व उत्पन्न होता है। परन्तु ज्योंही आत्मा प्रकृतिकर्म के बहुत्वों, व्यक्तित्वों, विभेदों और विषमताओं का भान करके उनसे व्यवहार करने लगती है त्योंही उसे अपने मुक्त स्वरूप के इन अन्य लक्षणों को व्यवहार में लाने के लिए अपने अद्वितीय प्रकट चिह्न समत्व का आश्रय लेना पड़ता है। ज्ञान है एकमेवाद्वितीय के साथ एकता का बोध और इसे जगत् की नानाविध सत्ताओं

और अस्तित्वों के साथ अपने सम्बन्ध में यह प्रकट करना होगा कि यह सबके साथ समान रूप से एक है। नैर्व्यक्तिकता है एक अक्षर आत्मा की संसार में अपने नानाविध व्यक्तित्वों की विभिन्नता से श्रेष्ठता और इसे जगत् के व्यक्तित्वों के साथ अपने व्यवहार में यह प्रकट करना होगा कि इसकी क्रिया सबके साथ समान रूप से और निष्पक्ष भाव से होती है, फिर विविध सम्बन्धों और परिस्थितियों के अंतर्गत होने के कारण इस क्रिया के बाह्य रूप चाहे अनेक प्रकार के क्यों न हों। इसीलिए श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि मेरा न कोई प्रिय है न द्वेष्य, मैं सबके लिए आत्मभाव में सम हूँ ; फिर भी ईश्वर-प्रेमी मेरी कृपा को विशेष रूप से पाता है ; क्योंकि उसने मेरे साथ विशेष सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, और यद्यपि मैं सबका एक ही निष्पक्ष ईश्वर हूँ फिर भी मुझसे जो जैसे मिलता है उससे मैं वैसे ही मिलता हूँ। निष्कामता है जगत् के पृथक्-पृथक् काम्य विषयों के बंधनकारक आकर्षण से अनन्त आत्मा की श्रेष्ठता। और इसे जब उन विषयों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना हो तो वह निष्कामता इन विषयों के पाने पर सम निष्पक्ष उदासीनता के रूप में अथवा सबके लिए वैसे ही सम निष्पक्ष अनासक्त आनन्द और प्रेम के रूप में प्रकट होगी, क्योंकि ये आनन्द और प्रेम स्वत:सिद्ध होने के कारण विषयों के होने न होने पर निर्भर नहीं हैं बल्कि अपने स्वभाव में अविचल और अक्षर हैं। आत्मानन्द अपने अन्दर ही रहता है, और यदि इस आनन्द को जगत् के पदार्थों और प्राणियों से नाता जोड़ना हो तो वह इसी प्रकार अपनी मुक्त आत्मस्थिति को प्रकट कर सकता है। त्रैगुणातीत्य है चिर चंचल विषमस्वरूप प्रकृति के गुणकर्मों के प्रवाह से अविचल आत्मा की श्रेष्ठता, और यदि इसे प्रकृति की परस्पर-विरोधिनी और विषम क्रियाओं के साथ सम्बन्ध जोड़ना हो, यदि मुक्त आत्मा को अपने स्वभाव को कुछ भी कर्म करने देना हो तो उसे इस श्रेष्ठता को समस्त कर्मों, कर्म-फलों या घटनाओं के प्रति अपने निष्पक्ष समत्व के भाव के द्वारा ही प्रकट करना होगा।

समत्व ही मुमुक्षु का लक्षण और कसौटी है। जहाँ कहीं जीव में विषमता है वहाँ प्रकृति के गुणों की विषम क्रीड़ा प्रत्यक्ष है, वहाँ कामना का वेग है, व्यक्तिगत इच्छा, भाव या कर्म का खेल है, सुख-दु:ख की द्वन्द्वात्मक गति है या वह उद्विग्न या उद्वेगजनक आनन्द है जो सच्चा आध्यात्मिक आनन्द नहीं, बल्कि एक प्रकार की मानसिक तृप्ति है जिसके साथ अनिवार्य रूप से मानसिक अतृप्ति का प्रतिक्षेप या प्रतिरूप भी लगा रहता है। जीव में जहाँ कहीं विषमता है वहाँ ज्ञान से स्खलन है, सर्वसमाहारक और सर्वसमन्वयकारक ब्रह्मैक्य में और सचराचर जगत् के एकत्व में सुप्रतिष्ठ रहने का अभाव है। इस समत्व के द्वारा ही कर्मयोगी को कर्म करते समय भी यह ज्ञान रहता है कि वह मुक्त है।

गीता ने जिस समत्व का विधान किया है उसका स्वरूप है आध्यात्मिक, वह अपने स्वभाव और व्यापकता में उच्च और विश्वव्यापी है और यही इस विषय में गीता के उपदेश की विशेषता है। नहीं तो समत्व का उपदेश मात्र देकर यह कहना कि 'यह मन, अनुभव और स्वभाव की एक अत्यंत वांछनीय अवस्था है जिसमें पहुँचकर हम मानव-दुर्बलता के ऊपर उठ जाते हैं,' गीता की अनूठी विशेषता नहीं है। ऐसा समत्व तो दार्शनिक आदर्श और साधु-महात्माओं के स्वभाव के तौर पर सदा ही सराहा गया है। गीता इस दार्शनिक आदर्श को स्वीकार अवश्य करती है पर उसे बहुत दूर ऐसे उच्च प्रदेशों में ले जाती है जहाँ हम अपने-आपको अधिक विशाल और विशुद्ध वातावरण में सांस लेते हुए पाते हैं। आत्मा की सुख-दुख-उपेक्षी स्टोइक स्थिति और दार्शनिक का सन्तुलन गीतोक्त समत्व की पहली और दूसरी पैड़ियाँ हैं जिनसे प्राणावेग के भंवरजाल और कामनाओं के मंथन से ऊपर उठकर देवताओं की नहीं प्रत्युत भगवान् की परम आत्म-वशित्वपूर्ण शान्ति और आनन्द तक पहुँचा जा सकता है। स्टोइक संप्रदायवालों की समता की धुरी है सदाचार और यह तापस सहिष्णुता के द्वारा प्राप्त आत्म-प्रभुत्व पर प्रतिष्ठित है ; इससे अधिक सुख-साध्य और शान्त स्वरूप है दार्शनिकों की समता का, ये लोग ज्ञान के द्वारा, अनासक्ति के द्वारा और हमारे प्राकृत स्वभावसुलभ विक्षोभों से ऊपर उठी हुई उच्च बौद्धिक उदासीनता के द्वारा आत्म-वशित्व प्राप्त करना अधिक पसन्द करते हैं, इसीको गीता ने कहा है **'उदासीनवदासीनः।'** एक धार्मिक या ईसाई ढंग की समता भी है जिसका स्वरूप है भगवदिच्छा के सामने सदा नत होकर, घुटने टेककर झुके रहना या साष्टांग प्रणिपात के द्वारा भगवान् की इच्छा को सिर माथे चढ़ाना। दिव्य शान्ति के ये तीन साधन-सोपान हैं— वीरोचित सहनशीलता, विवेकपूर्ण विरक्ति और धर्मनिष्ठ समर्पण या तितिक्षा, उदासीनता और नति। गीता अपने समन्वय के उदार ढंग में इन सभी का समावेश कर लेती है और अपनी आत्मा की ऊर्ध्व गति में उन्हें सन्निविष्ट कर लेती है। वह इन तीनों की जड़ को अधिक गहराई में जमाती, प्रत्येक का लक्ष्य अधिक व्यापक बनाती और प्रत्येक में सर्वव्यापक और सर्वातीत परम अर्थ भर देती है। कारण गीता इनमें से प्रत्येक को इनका आध्यात्मिक मूल्य और इनकी आध्यात्मिक सत्ता की शक्ति देती है, जो चरित्रबलसाधन के आयास, बुद्धि की कठिन समस्थिति और भावावेगों के झोंके से परे की चीज है।

सामान्य मानव को प्राकृत जीवन के चिर-अभ्यस्त विक्षोभों से एक तरह का सुख मिलता है ; और चूँकि उसे उनमें सुख मिलता है और इस सुख से सुखी होकर वह निम्न प्रकृति की अशांत क्रीड़ा को अपनी अनुमति देता है इसलिए त्रिगुणा-

त्मिका प्रकृति की यह क्रीड़ा सदा चलती रहती है ; कारण प्रकृति जो कुछ करती है वह अपने प्रेमी और भोक्ता पुरुष के सुख के लिए और उसी की अनुमति से करती है। परन्तु इस सत्य को हम नहीं पहचान पाते, क्योंकि जब प्रतिकूल विक्षोभ का प्रत्यक्ष आघात होता है, शोक, क्लेश, असुविधा, दुर्भाग्य, विफलता, पराजय, निन्दा, अपमान के आघात से मन पीछे की ओर हटता है, और इसके विपरीत जब अनुकूल और सुखद उत्तेजना होती है जैसे हर्ष, सुख, हर प्रकार की तुष्टि, समृद्धि, सफलता, जय, गौरव, प्रशंसा आदि, तो मन उन्हें गले लगाने के लिए उछल पड़ता है ; पर इससे इस सत्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि जीव जीवन में सुख लेता है और यह सुख मन के द्वन्द्वों के पीछे सदा वर्तमान रहता है। योद्धा को अपने घावों से शारीरिक सुख नहीं मिलता न पराजित होने पर उसे मानसिक संतोष ही होता है ; फिर भी युद्ध के देवत्व में उसे पूरा आनन्द मिलता है, जो युद्ध उसके लिये जहाँ एक ओर पराजय और जखम लाता है वहाँ दूसरी ओर विजय भी दिलाता है। वह पराजय और जखम की संभावना को और विजय की आशा को युद्ध के ताने-बाने के तौर पर स्वीकार करता है और उसमें रहने का आनन्द खोजता है। युद्ध के जखम की स्मृति भी उसे हर्ष और गौरव देती है, पूरा हर्ष और गौरव तो तब होता है जब जखम की पीड़ा का अन्त हो जाता है। परन्तु प्रायः पीड़ा के रहते हुए भी ये उपस्थित रहते हैं और पीड़ा वास्तव में इनका पोषण करती है। हार में भी अधिक बलवान् शत्रु का अदम्य प्रतिकार करने के कारण उसे हर्ष और गर्व होता है, अथवा यदि वह हीन कोटि का योद्धा हो तो उसे द्वेष और प्रतिशोध की भावनाओं से भी एक प्रकार का गर्ह्य और क्रूर सुख मिलता है। इसी प्रकार आत्मा भी हमारे जीवन की प्राकृत क्रीड़ा का आनन्द लेती रहती है।

मन जीवन के प्रतिकूल आघातों से कष्ट और अरुचि के द्वारा पीछे हटता है ; यह आत्म-रक्षा-साधन में प्रकृति की युक्ति है जिसे जुगुप्सा कहते हैं, इसीके कारण हमारे स्नायु और शरीर के अतिकोमल अंग सहसा अपने ध्वंस का आलिंगन करने के लिए दौड़ नहीं पड़ते। जीवन के अनुकूल स्पर्शों से मन को हर्ष होता है, यह प्रकृति का राजस भोग देकर प्रलोभन देना है, जिससे जीव की शक्ति जड़ता और अकर्मण्यता की तामसी प्रवृत्तियों को जीत सके और वह कर्म, कामना, संघर्ष और सफलता के लिए पूर्ण रूप से लग जाय और मन को इनके साथ आसक्त करके प्रकृति अपना प्रयोजन सिद्ध कर सके। हमारी गूढ़ आत्मा इस द्वन्द्व और संघर्ष में एक प्रकार का सुख अनुभव करती है, यह सुख उसे विषाद और दुःख में भी मिलता है। अतीत विपद् को याद करने और पीछे फिरकर देखने में तो उसे पूरा सुख मिलता ही है, पर जिस समय विपद् सिर पर हो उस समय भी वह आत्मा

परदे के पीछे सुख लेती रहती है और प्रायः दुःखी मन के स्तर पर आकर भी उसके आवेश में सहारा देती है। परन्तु जो चीज आत्मा को सचमुच आकर्षित करती है वह इस संसार का नानाविध द्वन्द्वों से भरा हुआ वह पदार्थ है जिसे हम जीवन कहते हैं, जो संघर्ष और कामना के विक्षोभ से, आकर्षण और विकर्षण से, लाभ और हानि से, हर प्रकार के वैचित्र्य से भरा है। हमारे राजसिक कामनामय पुरुष को एकरस सुख, संघर्षरहित सफलता और आवरणरहित हर्ष कुछ काल बाद अवसादकर, नीरस, और अतृप्तिकर-सा लगने लगता है; प्रकाश का पूरा सुख भोगने के लिए इसे अंधकार की पृष्ठभूमि चाहिए; क्योंकि वह जो सुख चाहता और भोगता है वह ठीक उसी स्वभाव का, तत्वतः सापेक्ष होता है जो अपने विपरीत तत्व की प्रतीति और अनुभूति पर निर्भर है। हमारे मन को जीवन से जो सुख मिलता है, उसका रहस्य यही है कि हमारी आत्मा जगत् के द्वन्द्वों में रस लेती है।

यदि इस मन से इन सब विक्षोभों से ऊपर उठने और उस विशुद्ध आनन्दमय पुरुष के अमिश्र सुख को प्राप्त करने के लिए कहा जाय जो सदा गुप्त रूप से इस द्वन्द्वमय जीवन में बल देता और स्थायित्व बनाये रखता है, तो वह तुरन्त इस आवाहन से घबराकर पीछे हट जायगा। वह ऐसे अस्तित्व पर विश्वास ही नहीं करता, वह मानता है कि यदि यह अस्तित्व है भी तो वह जीवन तो नहीं हो सकता, जगत् में चारों ओर जो वैचित्र्यमय जीवन देख पड़ता है जिसमें रहकर आनन्द लेने का उसे अभ्यास है वैसा जीवन तो नहीं हो सकता, वह कोई बेस्वाद और नीरस चीज होगी। अथवा वह समझता है कि यह प्रयत्न उसके लिये अत्यंत कठिन होगा, वह ऊपर उठने के प्रयास से कतराता है, यद्यपि वास्तविकता यह है कि कामनामय पुरुष सुखस्वप्नों को चरितार्थ करने के लिए जितना प्रयत्न करता है उसकी अपेक्षा आध्यात्मिक परिवर्तन अधिक कठिन नहीं है और कामनामय पुरुष अपने अनित्य सुखों और कामनाओं के लिए जो महान् संघर्ष और उत्कट प्रयास करता है उससे अधिक संघर्ष और प्रयास की इसमें आवश्यकता नहीं होती। मन की अनिच्छा का असली कारण यह है कि उससे अपने निजी वातावरण से ऊपर उठने और जीवन की एक अधिक असाधारण और अधिक विशुद्ध वायु का सेवन करने के लिए कहा जाता है, जहाँके आनन्द और शक्ति को वह अनुभव नहीं कर सकता, और उनकी वास्तविकता पर भी मुश्किल से विश्वास करता है। इस निम्नतर पंकिल प्रकृति के सुख ही उसके परिचित हैं और इन्हीं को वह आसानी से भोग सकता है। निम्न प्रकृति के सुखों का भोग भी अपने-आपमें दोषपूर्ण और निरर्थक नहीं है; प्रत्युत अन्नमय पुरुष जिस तामस अज्ञान और जड़त्व

के अत्यंत अधीन होता है उससे ऊपर उठकर मानव-प्रकृति के ऊर्ध्वमुखीन विकास के साधन की यही शर्त है ; परम आत्मज्ञान, शक्ति और आनन्द की ओर मनुष्य का जो क्रमबद्ध आरोहण है उसकी यह राजसिक अवस्था है। परन्तु यदि हम सदा इसी भूमिका पर बने रहें जिसे गीता ने मध्यमा गति कहा है तो हमारा आरोहण पूरा नहीं होता, आत्म-विकास अधूरा रह जाता है। जीव की सिद्धि का रास्ता सात्विक सत्ता और स्वभाव के भीतर से होकर वहाँ पहुँचता है जो त्रिगुणातीत है।

जो क्रिया हमें निम्न प्रकृति के विक्षोभों से बाहर निकाल सकेगी वह अवश्य ही हमारे मन, चित्त और हमारी आत्मा में समत्व की ओर गति होगी। परन्तु यह बात ध्यान में रहे कि यद्यपि अंत में हमें निम्न प्रकृति के तीनों गुणों के परे पहुँचना है फिर भी हमें आरंभिक अवस्था में इन तीनों में से किसी एक गुण का आश्रय लेकर ही आगे बढ़ना होगा। समत्व का यह आरंभ सात्विक हो सकता है अथवा राजस या तामस, क्योंकि मानव-स्वभाव में तामसी समता भी सम्भव है। यह समता सर्वथा तामसी भी हो सकती है, अर्थात् प्राणवृत्ति अहदी बन गयी हो, जीवन के आघातों का प्रत्युत्तर जड़ता के कारण बन्द हो गया हो तथा एक प्रकार की मन्द संज्ञाहीनता के कारण जीवन के सुखों के प्रति अनिच्छा हो गयी हो। अथवा सुखों का बहुत अधिक भोग करते-करते भावावेग और काम अघा गये हों, या फिर जीवन की यंत्रणा सहते-सहते जीवन से एक प्रकार की निराशा या घृणा या ग्लानि पैदा हो गयी हो, जगत् से जी ऊब गया हो, वह भयावह त्रास-रूप हो उठा हो, उससे अरुचि हो गयी हो और ये सब कारण मिलकर तामसिक समता को ले आये हों ; पर इस अवस्था में वह मिश्रित राजस-तामस होती है, यद्यपि उसमें तमोगुण की प्रधानता होती है। अथवा तामसी समता सत्वगुण की ओर झुकते हुए इस मानसिक बोध का सहारा ले सकती है कि जीवन की कामनाओं की कभी तृप्ति नहीं हो सकती, जीव में इतनी शक्ति नहीं कि जीवन को अपने वश में करे, यह सब केवल दुःखमय और अनित्य प्रयास है, इस जीवन में कोई वास्तविक सत्य नहीं, कोई स्वस्ति नहीं, कोई प्रकाश नहीं, कोई सुख नहीं। यह समता का सात्विक-तामस सिद्धांत है, इसमें इतनी समता नहीं है—यद्यपि यह सिद्धांत समता की ओर ले जानेवाला हो सकता है—जितनी कि उदासीनता या समान रूप से अस्वीकृति। वस्तुतः तामसी समता प्रकृति के जुगुप्सा-तत्व का फैलाव है। किसी विशेष कष्ट या यंत्रणा से जी हटता है, वही फैलकर प्रकृति के समस्त जीवन को दुःखमय और यंत्रणामय मानने लगता है और यह समझने लगता है कि यह सारा जीवन दुःख और आत्म-यंत्रणा

की ओर प्रवाहित हो रहा है, जीव जिस आनन्द की इच्छा करता है उसकी ओर नहीं।

केवल तामसिक समता में वास्तविक मुक्ति नहीं है ; किन्तु जैसा कि भारतीय यतियों ने किया, इसको यदि प्रकृति के परे अक्षर ब्रह्म की महत्तर स्थिति, सत्यतर शक्ति और उच्चतर आनन्द के अनुभव द्वारा सात्विक बनाया जा सके तो आरंभ करने के लिए तामसिक समता भी एक शक्तिशाली साधन हो सकती है। पर इस प्रकार की गति स्वभावतः संन्यास, अर्थात् जीवन और कर्मों के त्याग की ओर ले जाती है न कि कामना के आन्तर त्याग के साथ प्रकृति के जगत् की चिरकर्मण्यता के एकत्व की ओर, जो गीता का प्रतिपाद्य विषय है। फिर भी, गीता इस प्रवृत्ति को स्वीकार करती है, वह जन्म, रोग, मृत्यु, बुढ़ापा, दुःख आदि जागतिक जीवन के दोषों पर आधारित पीछे हटने की वृत्ति को भी—जहाँसे बुद्ध का ऐतिहासिक त्याग आरंभ हुआ था—स्थान देती है। जो लोग जरा और मरण से छुटकारा पाने के लिए तामसिक वैराग्य से भी आत्मसंयम करते हैं (**जरामरणमोक्षाय मामश्रित्य यतन्ति ये**)[1] उनकी साधना को भी गीता स्वीकार करती है। किन्तु इस साधना से यदि कोई लाभ होना है तो इसके साथ एक उच्चतर अवस्था की सात्विक अनुभूति होनी चाहिये और भगवान् में ही आनन्द और भगवान का ही आश्रय लेना चाहिये (**मामाश्रित्य**)। तब जीव अपनी इस जुगुप्सा के द्वारा एक उच्चतर स्थिति को प्राप्त होता है, त्रिगुण से ऊपर उठ जाता है और जन्म, मृत्यु, जरा और दुःख से मुक्त होकर आत्मसत्ता का अमृतत्व भोगता है (**जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते**)[2]। जीवन के दुःख और प्रयास को स्वीकार करने की तामसिक अनिच्छा अपने-आपमें एक प्रकार की दुर्बलता और अधोगति है और इसमें यह खतरा भी समाया हुआ है कि इसके द्वारा सबको समान भाव से वैराग्य और संसार से घृणा का उपदेश दिया जा सकता है, जिससे अनधिकारी जीवोंपर तामसिक दुर्बलता और संकुचन की मुहर लग जाती है, उनका बुद्धिभेद होता है (**बुद्धिभेदम् जनयेत्**), उनकी सतत अभीप्सा, जीवन में विश्वास और पुरुषार्थ की शक्ति—जिसकी मानव-जीव को अपने उपयोगी और आवश्यक राजस प्रयास के लिए आवश्यकता है, ताकि वह अपनी परिस्थिति को वश में कर सके—किसी उच्चतर लक्ष्य, महत्तर प्रयास और बलवत्तर विजय की ओर खुले बिना (क्योंकि ऐसी क्षमता उसमें अभी नहीं आयी है) ही क्षीण हो जाती है। परन्तु अधिकारी जीवों में तामसी विरक्ति उनकी राजसिक आसक्ति तथा निम्नतर जीवन में तल्लीनता को नष्ट करके—जो उनके सत्वगुण के जागरण में बाधक

१. ७-२९ २. १४-२०

होकर उनकी उच्चतर सम्भावना को रोकती है—उपयोगी आध्यात्मिक हेतु सिद्ध कर सकती है। तब इस प्रकार अपनी बनायी हुई शून्यावस्था में आश्रय ढूंढ़ते हुए वे भगवान् की इस पुकार को सुन पाते हैं कि "हे जीव! तू जो अपने-आपको इस अनित्य असुखी जगत् में पाता है, मेरी ओर मुंह कर और मुझ में आनन्द ले **(अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्)**।"[1]

फिर भी इस क्रिया में समता केवल इतनी है कि यह, जगत् जिन-जिन चीजों से बना है उन सभी से समान भाव से भागती है और जगत् के प्रति उपेक्षा और अलगाव का भाव पैदा करती है, इससे वह शक्ति नहीं मिलती जिसके द्वारा हम जगत् के सुखद या दुःखद सब स्पर्शों को समभाव से, बिना किसी राग-द्वेष के ग्रहण कर सकें, जो गीता की साधना का एक आवश्यक तत्व है। इसलिए यदि हम तामसिक निवृत्ति से ही आरंभ करें—यद्यपि यह बिलकुल आवश्यक नहीं है—तो भी इसका उपयोग किसी महान् प्रयास में प्रवृत्त होने के लिए एक आरंभिक प्रेरणा के तौर पर ही किया जा सकता है, किसी स्थायी नैराश्य के तौर पर नहीं। साधना तो यथार्थ में तब आरंभ होती है जब हम पहले जिन चीजों से भागना चाहते थे उन्हें अपने काबू में करने का प्रयत्न करें। यहाँ एक प्रकार की राजसिक समता की संभावना होती है, जिसका निम्नतम रूप है आत्मवशित्व और आत्मसंयम प्राप्त करने में, प्राणावेग तथा दुर्बलता से ऊपर उठने में बलवान्-स्वभाव का गर्व। किन्तु स्टोइक आदर्श इसीको पकड़कर जीव को निम्न प्रकृति की समस्त दुर्बलताओं की अधीनता से सर्वथा मुक्त कर देने का प्रधान साधन बनाता है। जिस प्रकार तामसिक निवृत्ति प्रकृति के जुगुप्सा तत्व का, अर्थात् दुःख से आत्मसंरक्षण का फैलाव है उसी प्रकार ऊर्ध्वमुखी राजसिक प्रवृत्ति संघर्ष और प्रयास को स्वीकार करनेवाले तथा प्रभुत्व और विजय प्राप्त करने के लिए जीवन की अंतर्निहित प्रेरणा को स्वीकार करनेवाले प्रकृति के दूसरे तत्व का फैलाव है; पर यह प्रवृत्ति युद्ध को उस क्षेत्र की ओर मोड़ देती है जो पूर्ण विजय लाभ का एकमात्र क्षेत्र है। कुछ छितरे हुए बाह्य उद्देश्यों और क्षणिक सफलताओं के लिए लड़ने-झगड़ने के बजाय यह साधना साधक को आध्यात्मिक युद्ध के द्वारा और आंतरिक विजय के द्वारा प्रकृति और स्वयं जगत् को ही विजित करने के रास्ते पर ले आती है। तामसिक निवृत्ति जगत् के सुख और दुःख, दोनों से किनारा काटती तथा उनसे भागना चाहती है और राजसिक साधना उन्हें सहने, उन्हें काबू में करने और उनसे ऊपर उठने का रास्ता निकालती है। स्टोइक आत्मनियंत्रण कामना और प्राणावेग को अपने योद्धाभाव में समालिंगित करता

---

१. २-५६, ५७

है और उन्हें अपनी भुजाओं के बीच चूर-चूर कर देता है जैसे महाभारत में धृतराष्ट्र ने भीम की लौह प्रतिमा को चूर-चूर कर डाला था। यह संयम का मार्ग सुखद और दुःखद सभी चीजों के धक्कों को सहता, प्रकृति के भौतिक और मानसिक असर के कारणों को बरदाश्त करता और उनके परिणामों को चकनाचूर कर डालता है। इसकी पूर्णता तब समझनी चाहिए जब जीव बिना दुःखी या आकर्षित हुए, बिना उत्तेजित या व्याकुल हुए सब स्पर्शों को सह सके। इस साधना का हेतु मनुष्य को अपनी प्रकृति का विजेता और राजा बनाना है।

गीता अर्जुन के क्षात्र स्वभाव का आवाहन करके इसी वीरोचित साधना से अपना उपदेश आरंभ करती है। गीता अर्जुन का आवाहन करती है कि तुम इस महाशत्रु कामना पर टूट पड़ो और इसे मार डालो। गीता ने समत्व का जो पहला वर्णन किया है वह स्टोइक दार्शनिक के वर्णन के जैसा ही है। "दुःखों के बीच जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखों के बीच जिसे उनकी इच्छा नहीं होती, राग, भय, क्रोध जिससे निकल गये वही स्थितधी मुनि है। जो, चाहे उसे शुभ प्राप्त हो या अशुभ, सभी विषयों में स्नेहशून्य रहता है, न उनका हर्षपूर्ण स्वागत करता न उनसे द्वेष करता है उसीकी बुद्धि ज्ञान में स्थित है।"[1] गीताने एक स्थूल दृष्टांत देकर समझाया है कि यदि मनुष्य आहार न करे तो यह इन्द्रिय-विषय उसपर असर न करेगा, पर इन्द्रिय में 'रस' तो रहेगा ही; आत्मा की परम स्थिति तो तब प्राप्त होती है जब इन्द्रिय से विषय ग्रहण करते हुए भी वह इन्द्रिय-भोग की लालसा से मुक्त रह सके, विषयों के मोह को छोड़ सके और आस्वादन के सुख का त्याग कर सके। राग-द्वेष से मुक्त, आत्मवशीकृत ज्ञानेंद्रियों के द्वारा विषयों के ऊपर विचरण करते हुए (**विषयान् इन्द्रियैश्चरन्**) ही मनुष्य आत्मा और स्वभाव की उदार और मधुर पवित्रता को प्राप्त कर सकता है, जिसमें काम, क्रोध और शोक-मोह के लिए कोई स्थान नहीं है। सब कामनाएँ आत्मा में वैसे ही प्रवेश करेंगी जैसे नदी-नद समुद्र में, और तब भी आत्मा को अचल और परिपूरित परन्तु अक्षुब्ध रहना होगा, इस प्रकार अंत में सब कामनाओं का त्याग किया जा सकता है। इस बात पर बार-बार जोर दिया गया है कि काम-क्रोधमय मोह से छुटकारा पाना मुक्त-पद लाभ करने के लिए अत्यंत आवश्यक है और इसलिए हमें इनके धक्कों को सहना सीखना पड़ेगा और यह कार्य इन धक्कों के कारणों का सामना किये बिना नहीं हो सकता। "जो इस शरीर में काम-क्रोध से उत्पन्न होनेवाले वेग को सह सकता है वही योगी है, वही सुखी है।"[2] तितिक्षा,

---

१. ५-२३

२. २-१४, १५

अर्थात् सहने का संकल्प और शक्ति इसका साधन है। "शीत और उष्ण, सुख और दुःख देनेवाले मात्रास्पर्श अनित्य हैं, और आते-जाते रहते हैं, इन्हें सहना सीख। जिस पुरुष को ये व्यथित या दुःखी नहीं करते, सुख-दुःख में जो सम और धीर रहता है वही अपने-आपको अमृतत्व के लिए उपयुक्त बना लेता है।"[1] जिसकी आत्मा समत्व को प्राप्त हो गयी है उसे दुःख सहना होता है, पर वह दुःख से घृणा नहीं करता, उसे सुख ग्रहण करना होता है, पर वह सुख से हर्षित नहीं होता। शारीरिक यंत्रणाओं को भी सहिष्णुता के द्वारा जीतना होता है और यह भी स्टोइक साधना का एक अंग है। जरा, मृत्यु, दुःख, यंत्रणा से भागने की जरूरत नहीं है, प्रत्युत इन्हें स्वीकार करके उदासीनता से परास्त करना है। प्रकृति के निम्नस्तरीण छद्मरूपों से भीत होकर भागना नहीं, बल्कि ऐसी प्रकृति का सामना करके उसे जीतना ही पुरुषसिंह (**पुरुषर्षभ**) की तेजस्विनी प्रकृति का सच्चा सहज भाव है। ऐसे पुरुष से विवश होकर प्रकृति अपना छद्मवेश उतार फेंकती है और उसे असली आत्मस्वरूप दिखा देती है, जिस स्वरूप में वह प्रकृति का दास नहीं, बल्कि उसका स्वराट्, सम्राट् है।

परन्तु गीता इस स्टोइक साधना को, इस वीरधर्म को उसी शर्त पर स्वीकार करती है जिस शर्त पर वह तामसिक निवृत्ति को स्वीकार करती है, अर्थात् इसके ऊपर ज्ञान की सात्विक दृष्टि, इसके मूल में आत्मसाक्षात्कार का लक्ष्य और इसकी चाल में दिव्य स्वभाव की ओर ऊर्ध्वगति होनी चाहिए। जिस स्टोइक साधना के द्वारा मानव-स्वभाव के सामान्य स्नेहभाव कुचल डाले जाते हैं वह जीवन के प्रति तामसिक क्लांति, निष्फल नैराश्य और ऊसर जड़त्व की अपेक्षा तो कम खतरनाक है, क्योंकि यह जीव के पौरुष और आत्म-वशित्व को बढ़ानेवाली है, फिर भी यह अमिश्र शुभ नहीं है, क्योंकि इससे सच्ची आध्यात्मिक मुक्ति नहीं मिलती, बल्कि इससे हृदयहीनता और निष्ठुर ऐकांतिकता आ सकती है। गीता की साधना में स्टोइक समता का जो समर्थन मिलता है वह इसीलिए है कि यह साधना क्षर मानव-प्राणी को मुक्त अक्षर पुरुष का साक्षात्कार करने में (**परं दृष्ट्वा**) और इस नवीन आत्मचेतना को प्राप्त करने में (**एषा ब्राह्मी स्थितिः**) साथ और सहायता दे सकती है। "बुद्धि के भी परे जो परमात्मा हैं उनको बुद्धि के द्वारा जानकर आत्मा को आत्म-शक्ति से स्थिर और निश्चल करो और इस दुर्द्धर्ष कामना को मार डालो।"[2]

---

१. गीता का कथन है, 'धीरस्तत्र न मुह्यति' अर्थात् धीर बुद्धिमान् पुरुष उनसे घबराता नहीं। परन्तु फिर भी इन्हें जो स्वीकार करता है वह इन्हें जीतने के लिये ही करता है—'जरा मरणमोक्षाय।'

२. ३-४३

तामसिक विरक्ति और युद्ध करने और विजय लाभ करनेवाली राजसिक प्रवृत्ति दोनों ही अच्छी हो सकती हैं यदि उनका लक्ष्य सत्वगुण के द्वारा आत्म-ज्ञान को प्राप्त करना हो, क्योंकि निवृत्ति और संघर्षात्मक प्रवृत्ति दोनों की सार्थकता उसी में है।

विशुद्ध दार्शनिक, मनीषी, जन्म-ज्ञानी पुरुष अपने आचारविचार के लिए सत्वगुण को केवल अपना परम औचित्य नहीं मानता बल्कि आत्म-वशित्व के साधन में आरम्भ से उसी से काम लेता है। वह आरम्भ ही सात्विक समता से करता है। वह भी जड़प्राकृतिक और बाह्य जगत् की क्षणभंगुरता को देखता-समझता है और यह जानता है कि यह जगत् हमारी कामनाओं को पूरा नहीं कर सकता न यह हमें सच्चा सुख ही दे सकता है; परन्तु इससे उसमें शोक, भय या नैराश्य नहीं उत्पन्न होता। वह स्थिर शान्त बुद्धि से सब कुछ देख लेता और बिना किसी द्वेष या घबराहट के अपना मार्ग निश्चित कर लेता है। "विषयेंद्रिय-संयोग से उत्पन्न होनेवाले ये भोग ही दुःख के कारण हैं, इनका आदि है, अंत है; इसलिए ज्ञानी, जाग्रत् बुद्धिवाला पुरुष (बुध) इनमें रमण नहीं करता।"[1] "उसकी आत्मा इन बाह्य स्पर्शों में आसक्त नहीं होती, वह अपना सुख अपने ही अन्दर पाता है।"[2] वह देख पाता है कि हम ही अपने शत्रु हैं और हम ही अपने मित्र, इसलिए वह सदा सावधान रहता है और अपने-आपको कामक्रोध के हवाले नहीं करता (**नात्मानमवसादयेत्**), बल्कि अपनी अंतःशक्ति का प्रयोग कर अपने-आपको इनके कैदखाने से एकदम छुड़ा लेता है (**उद्धरेतदात्मनात्मानं**); क्योंकि जिसने अपनी निम्न प्रकृति को जीत लिया है वह अपने उच्चतर स्वभाव को अपने सर्वोत्तम सत्ता और साथी के रूप में पाता है। वह ज्ञान से तृप्त हो जाता है, अपनी इन्द्रियों का स्वामी हो जाता है, सात्विक समत्व के द्वारा योगी हो जाता है—क्योंकि समत्व ही तो योग है (**समत्वं योग उच्यते**),—उसकी दृष्टि में मिट्टी, पत्थर और सोना सब बराबर है; सरदी-गरमी में, सुख-दुःख में, मान-अपमान में वह एक-सा शान्त और सम रहता है। शत्रु, मित्र, तटस्थ और उदासीन सबके लिये वह आत्मभाव में सम होता है, क्योंकि वह देखता है कि ये सब संबंध अनित्य हैं और जीवन की सदा बदलनेवाली परिस्थिति से उत्पन्न होते हैं। विद्या, शुचिता और सदाचार की बुनियाद पर किये जानेवाले श्रेष्ठ-कनिष्ठ के भेद भी उसे नहीं भरमा सकते। वह साधु-असाधु, सदाचारपूत, विद्वान्, सुसंस्कृत ब्राह्मण और पतित चांडाल, अर्थात्, मनुष्यमात्र के लिए, सम, आत्मभावयुत होता है।

---

१. ५-२२

२. ५-२१

गीता में सात्विक समता का जो वर्णन है वह यही है और ज्ञानी मुनि की जिस शांत बौद्धिक समता से यह जगत् परिचित है, उसका सार इसमें अच्छी तरह आ गया है।

तब इस समता में और गीता जिस उदारतर समता का उपदेश देती है उसमें क्या भेद है? वह भेद यह है कि दार्शनिकों की समता का आधार है बौद्धिक विवेक और गीता की समता का आधार है आध्यात्मिक वैदांतिक अद्वैत ज्ञान। दार्शनिक अपनी विवेकवती बुद्धि के बल से अपने समत्व को बनाये रहते हैं परन्तु यह अपने-आप एक संदिग्ध नींव है। क्योंकि, यद्यपि सतत सावधान रहकर और मन को अभ्यस्त करके वे अपने-आपपर एक तरह का काबू रखते हैं, पर वास्तव में वे अपनी निम्न प्रकृति से मुक्त नहीं होते, और यह प्रकृति कई तरह से अपनी सत्ता दिखाती रहती है और अपने त्यागे जाने और निगृहीत किये जाने का किसी भी समय भयानक प्रतिशोध ले सकती है। कारण निम्न प्रकृतिका खेल सदा ही त्रिगुणात्मक है और रजोगुण तथा तमोगुण सात्विक मनुष्य पर हमला करने के लिए सदा घात लगाये रहते हैं। "सिद्धि के साधन में यत्नशील बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी हठी इन्द्रियाँ जबरदस्ती खींच ले जाती हैं।"[१] निम्न प्रकृति से पूर्ण संरक्षण तो किसी सत्वगुण से भी बड़ी चीज का, विवेक-बुद्धि से भी बड़ी चीज का, अर्थात्—आत्मा का—दार्शनिकों के बुद्धि-पुरुष का नहीं बल्कि दिव्य ज्ञानी की त्रिगुणातीत आध्यात्मिक आत्मा का—आश्रय लेने से ही प्राप्त होता है। इन सबकी परिपूर्ति उसी आध्यात्मिक परा प्रकृति में जन्म लेकर करनी होगी।

दार्शनिकों की समता स्टोइक के जैसी, जगत् से भागनेवाले यतीवैरागी-संन्यासियों की-सी होती है, जो मनुष्यों से अलग, उनसे बिलकुल दूर एक आंतरिक, निर्जन स्वातंत्र्य है; पर जिस मनुष्य का दिव्य जन्म हुआ है उसने भगवान् को केवल अपने ही अन्दर नहीं, बल्कि सभी जीवों में उपलब्ध किया है। उसने सबके साथ अपनी एकता का अनुभव किया है इसलिए उसकी समता सबके साथ सहानुभूति और एकता से परिपूर्ण होती है। वह सबको अपने जैसा देखता है और अपने अकेलेकी मुक्ति का इच्छुक नहीं होता। वह दूसरों के सुख-दुःखों का बोझ तक अपने ऊपर उठा लेता है और स्वयं न उससे प्रभावित होता है न उसके अधीन। गीता ने बार-बार इस बात को दुहराया है कि सिद्ध ज्ञानी सदा अपने उदार समत्व में स्थिर रहता हुआ सब जीवों के कल्याण-साधन में लगा रहता है, **"सर्वभूतहिते रताः"**। सिद्ध योगी आध्यात्मिक एकांत के किसी भव्य अट्टालिका पर आत्मा के ध्यान में मग्न होकर नहीं बैठा रहता, बल्कि जगत् के कल्याण के लिए, जगन्निवास भगवान् के लिए बहुविध विश्वव्यापी कर्मों का कर्ता होता है।

---

१. २-६०

क्योंकि वह प्रेमी और उपासक भक्त है, ज्ञानी है और योगी भी—ऐसा प्रेमी जो भगवान् से वे जहाँ मिल जायें प्रेम करता है और भगवान् उसे हर जगह मिलते हैं ; और जिससे वह प्यार करता है उसकी सेवा करने से विमुख नहीं होता। जो कर्म उसके द्वारा होता है वह उसे भगवान् के साथ एकत्व के आनन्द से अलग नहीं करता, क्योंकि उसके सारे कर्म उसके अन्दर स्थित उन्हीं एकसे निकलते और सबके अन्दर रहनेवाले उन्हीं एककी ओर प्रवाहित होते हैं। गीता का समत्व उदार समन्वयात्मक समत्व है, जो सबको भागवत सत्ता और भागवत प्रकृति की पूर्णता में ऊँचा उठा देता है।

समत्व और ज्ञान

गीता की शिक्षा के इस पहले भाग में योग और ज्ञान, जीव के वे दो पंख हैं जिनके सहारे वह ऊपर उठता है। योग से अभिप्रेत है निष्काम होकर, समस्त पदार्थों और मनुष्यों के प्रति आत्म-समत्व रखकर, पुरुषोत्तम के लिए यज्ञरूप से किये गये दिव्य कर्मों के द्वारा भगवान् से एकता, और ज्ञान से अभिप्रेत है वह ज्ञान जिसपर यह निष्कामता, यह समता, यह यज्ञ-शक्ति प्रतिष्ठित है। दोनों पंख निश्चय ही उड़ान में एक-दूसरेकी सहायता करते हैं; दोनों एक साथ क्रिया करते रहते हैं, फिर भी इस क्रिया में बारी-बारी से एक-दूसरेकी सहायता करने का सूक्ष्म क्रम रहता है, जैसे मनुष्य की दोनों आँखें बारी-बारी से देखती हैं इसीलिए एक साथ देख पाती हैं, इसी प्रकार योग और ज्ञान अपने सारतत्व के परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा एक-दूसरेको संवर्द्धित करते रहते हैं। ज्यों-ज्यों कर्म अधिकाधिक निष्काम, समबुद्धियुक्त और यज्ञभावापन्न होता जाता है, त्यों-त्यों जीव अपने कर्म की निष्काम और यज्ञात्मक समता में अधिकाधिक दृढ़ होता जाता है। इसलिए गीता ने कहा कि किसी द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। "चाहे तू पाप-कर्मियों में सबसे बड़ा पाप-कर्मी भी क्यों न हो, ज्ञान की नौका में बैठकर पाप के कुटिल समुद्र को पार कर जायगा। . . . इस जगत् में ज्ञान के समान पवित्र और कुछ भी नहीं है।"[१] ज्ञान से कामना और उसकी सबसे पहली संतान पाप का ध्वंस होता है। मुक्त पुरुष कर्मों को यज्ञरूप से कर सकता है, क्योंकि मन, हृदय और आत्मा के आत्मज्ञान में दृढ़प्रतिष्ठ होने के कारण वह आसक्ति से मुक्त होता है (**गतसंगस्य . . . ज्ञानवस्थितचेतसः**)। उसके सारे कर्म होने के साथ ही सर्वथा लय को प्राप्त हो जाते हैं, कहा जा सकता है कि वे ब्रह्म की सत्ता में विलीन हो जाते हैं (**प्रविलीयते**)। बाह्यतः जो कर्ता देख पड़ता है उसकी अंतरात्मा पर उन कर्मों का कोई प्रतिगामी परिणाम नहीं होता। स्वयं भगवान् ही उस कर्म को अपनी प्रकृति के द्वारा करते हैं, वे मानव-उपकरण के अपने नहीं रह जाते। स्वयं कर्म ब्रह्म सत्ता के स्वभाव और स्वरूप की एक शक्ति बन जाता है।

---

१. ४-३६

"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते"[1] गीता के इस वचन का यही अभिप्राय है—सारा कर्म ज्ञान में अपनी पूर्णता, परिणति और परिसमाप्ति को प्राप्त होता है। "प्रज्वलित अग्नि जिस तरह ईंधन को जलाकर राख कर देती है, उसी तरह ज्ञान की अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है।"[2] इसका यह अभिप्राय हर्गिज नहीं कि जब पूर्ण ज्ञान होता है तब कर्म बन्द हो जाते हैं। इसका वास्तविक अभिप्राय गीता के इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि—

"योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥"[3]

—अर्थात् जिसने ज्ञान के द्वारा अपने सब संशय को काट डाला और योग के द्वारा कर्मों का संन्यास किया वह आत्मवान् पुरुष अपने कर्मों से नहीं बंधता, फिर गीता का यह वचन कि, "सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते"[4] इसी अभिप्राय को व्यक्त करता है—जिसकी आत्मा सब भूतों की आत्मा हो गयी है वह कर्म करता है पर अपने कर्मों में लिप्त नहीं होता, उनमें फंसता नहीं, वह उनसे आत्मा को बंधन में डालनेवाली कोई प्रतिक्रिया ग्रहण नहीं करता। इसीलिए तो गीताने कहा है कि कर्मों के भौतिक संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है, कारण जहाँ संन्यास देहधारियों के लिए कठिन है—क्योंकि जबतक देह है तबतक उन्हें कर्म करना ही पड़ेगा—वहाँ कर्मयोग अभीष्टसिद्धि के लिए सर्वथा पर्याप्त है और यह जीव को ब्रह्म के पास शीघ्रता और सरलता से ले जाता है। पहले कहा जा चुका है कि कर्मयोग, संपूर्ण कर्म का भगवान् को अर्पण करना है, जिसकी परिसमाप्ति ब्रह्म के प्रति कर्मों के ऐसे अर्पण में होती है जो आंतरिक होता है, बाह्य नहीं, जो आध्यात्मिक होता है, भौतिक नहीं (**ब्रह्मण्याधाय.....मयि संन्यस्य**)। कर्मों का जब इस प्रकार ब्रह्म में आधान हो जाता है तब उपकरण में से कर्ता का भाव जाता रहता है; वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता; क्योंकि उसने केवल कर्मफलों का ही अर्पण नहीं किया है, बल्कि स्वयं कर्म और उसकी प्रक्रिया भी भगवान् को दे दी है। तब, भगवान् उसके कर्मों के भार को अपने ऊपर ले लेते हैं; भगवान् स्वयं कर्ता, कर्म और फल बन जाते हैं।

गीता जिस ज्ञान की बात कहती है वह मन की बौद्धिक क्रिया नहीं है, गीता का ज्ञान है सत्यस्वरूप दिव्य सूर्य के प्रकाश के उद्भासन के द्वारा सत्ता की उच्चतम

---

१. ४-३३
२. ४-३७
३. ४-४१
४. ५-७

अवस्था में संवर्द्धन। यह सत्य, यह सूर्य वही है जो हमारे अज्ञान-अंधकार के भीतर छिपा हुआ है और जिसके बारे में ऋग्वेद कहता है, 'तत्सत्यं सूर्यं तमसि क्षियन्तम्।' अक्षर ब्रह्म इस द्वन्द्वमय विक्षुब्ध निम्न प्रकृति के ऊपर आत्मा के व्योम में विराजमान है, निम्न प्रकृति के पाप-पुण्य उसे स्पर्श नहीं करते, वह हमारे धर्म-अधर्म की भावना को स्वीकार नहीं करता, इनके सुख और दुःख उसे स्पर्श नहीं करते, वह हमारी सफलता की खुशी और विफलता के शोक के प्रति उदासीन रहता है, वह सबका स्वामी है, प्रभु है, विभु है, स्थिर, समर्थ और शुद्ध है, सबके प्रति सम है। वह प्रकृति का मूल है, हमारे कर्मों का प्रत्यक्ष कर्ता नहीं बल्कि प्रकृति और उसके कर्मों का साक्षी है, वह हमपर कर्ता होने का भ्रम आरोपित नहीं करता, क्योंकि यह भ्रम तो निम्न प्रकृति के अज्ञान का परिणाम है। परन्तु हम इस मुक्ति, प्रभुता और विशुद्धता को नहीं देख पाते; क्योंकि हम प्राकृतिक अज्ञान के कारण विमूढ़ हुए रहते हैं और यह अज्ञान हमारे अन्दर कूटस्थ ब्रह्म के सनातन आत्मज्ञान को हमसे छिपाये रहता है। पर जो इस ज्ञान का लगातार अनुसंधान करते हैं उन्हें इसकी प्राप्ति होती है और यह ज्ञान उनके प्राकृतिक अज्ञान को दूर कर देता है; यह बहुत काल से छिपे हुए सूर्य की तरह उद्भासित होता है और हमारी दृष्टि के सामने उस परम आत्मसत्ता को प्रकाशित कर देता है जो इस निम्न जीवन के द्वन्द्व के परे है (**आदित्यवत् प्रकाशयति तत्परम्**)। दीर्घ एकनिष्ठ साधना से, अपनी समग्र सचेतन सत्ता को उसी आत्मतत्व की ओर लगाने से, उसी को अपना एकमात्र लक्ष्य बनाने से, उसी को अपनी विवेक-बुद्धि का विषय बनाने से और इस प्रकार उसको न केवल अपने अन्दर बल्कि अखिल जगत् में देखने से, हम उसके साथ एक-बुद्धि और एक-आत्मा हो जाते हैं (**तद्बुद्धयः तदात्मानः**), हमारी अधःसत्ता के कल्मष ज्ञान के जल से[1] धुल जाते हैं, "**ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।**"

गीता कहती है कि इसका फल सब पदार्थों और सब प्राणियों के प्रति पूर्ण समत्व की सिद्धि है; और ऐसा समत्व सिद्ध होने पर ही हम अपने कर्मों का 'ब्रह्म में' पूर्ण रूप से 'आधान' कर सकते हैं। कारण ब्रह्म सम है (**समं ब्रह्म**) और जब यह पूर्ण समता हममें आ जाती है (**साम्ये स्थितं मनः**) तभी हम "विद्याविनय-संपन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, श्वान और चाण्डाल को समदृष्टि से देखते हुए"[2]

---

१. ऋग्वेद में सत्यस्रोत की इन धाराओं का वर्णन है। ये सिद्ध ज्ञान की धाराएं हैं, दिव्य सूर्यलोक से परिपूर्ण हैं,—'ऋतस्य धाराः आपो विचेतसः, स्वर्वतीरापः।' यहां इनका प्रयोग आलङ्कारिक अर्थ में हुआ है, वहां (वेदों में) प्रत्यक्ष प्रतीक के रूप में।

२. ५-१८

सबको एक ब्रह्म ही जानते हुए और उस एकत्व में स्थित रहते हुए ब्रह्म के समान ही अपने कर्मों के प्रवाह को, आसक्ति, पाप या बंधन के भय से सर्वथा मुक्त होकर, प्रकृति से निकलता हुआ देख सकते हैं। तब पाप और कलंक नहीं लग सकते ; क्योंकि हमने उस सृष्टि को जीत लिया है (**तैर्जितः सर्गः**) जो कामना और उसके कर्मों और उनकी प्रतिक्रियाओं से भरी हुई है और जो अज्ञान की है और चूँकि अब हम दिव्य परा प्रकृति में रहने लगते हैं, इसलिए हमारे कर्म प्रमादरहित, दोष-रहित होते हैं, क्योंकि प्रमाद और दोष तो अज्ञानजनित विषमताओं की उपज हैं। सम ब्रह्म में कोई दोष नहीं (**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**) ; वह शुभ-अशुभ की द्वन्द्वमय भ्रान्ति के परे है, और ब्रह्म में निवास करते हुए हम भी शुभ-अशुभ से ऊपर उठ जाते हैं ; और हम उस विशुद्ध स्थिति में रहते हुए निर्दोष रूप से, प्राणिमात्र का समान रूप से हित साधने के एकमात्र हेतु से कर्म करते हैं, "**क्षीण-कल्मषाः सर्वभूतहिते रताः।**" हमारी अज्ञानावस्था में भी हमारे कर्मों के मूल हमारे हृद्देशस्थित ईश्वर ही हैं, पर उनकी यह क्रिया उनकी माया के द्वारा, हमारी निम्न प्रकृति के अहंकार के द्वारा होती है, और यह निम्न प्रकृति ही हमारे कर्मों के जटिल जाल को बुनकर तैयार करती है और बाद में इस जाल के फैलाव की जो प्रतिक्रियाएँ होती हैं उनको हमारे अहंकार पर ला पटकती है, जिसका आंतरिक असर पाप-पुण्य के रूप में और बाह्य असर सुख-दुःख और सौभाग्य-दुर्भाग्य के रूप में होता है, और यही है कर्म की जबरदस्त सांकल। जब ज्ञान के द्वारा हम इससे मुक्त होते हैं तब भगवान्, जो अब हृदय में छिपे हुए नहीं बल्कि हमारे परम आत्मा के रूप में प्रकट हो गये हैं, हमारे कर्मों को अपने हाथों में ले लेते और जगत् के उद्धार-कार्य में हमारा निर्दोष यंत्रवत् (**निमित्तमात्रम्**) उपयोग करते हैं। ज्ञान और समत्व में ऐसी ही घनिष्ठ एकता है, यहाँ बुद्धि के क्षेत्र में, ज्ञान स्वभाव के समत्व के रूप में प्रतिबिम्बित होता है और ऊपर, चेतना के उच्चतर क्षेत्र में, ज्ञान सत्ता का प्रकाश हो जाता है और समत्व प्रकृति का उपादान।

'ज्ञान' शब्द भारतीय दर्शनशास्त्रों और योगशास्त्रों में सर्वत्र इसी परम आत्म-ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ज्ञान वह ज्योति है जिसके द्वारा हम अपनी सत्य सत्ता में संवर्द्धित होते हैं, वह चीज नहीं जिससे हमारी जानकारी बढ़ती और हमारी बौद्धिक संपत्ति संचित होती है ; यह भौतिक विज्ञान या मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक या नैतिक या रससम्बन्धी अथवा जागतिक और व्यावहारिक ज्ञान नहीं है। ये सब भी निस्संदेह हमारी उन्नति में मदद करते हैं, पर ये हमारी संभूति के विकास में सहायक होते हैं, हमारी आंतरिक सत्ता के विकास में नहीं। यौगिक ज्ञान में इनका समावेश तब किया जा सकता है जब हम इनसे परमात्मा,

आत्मा, भगवान् को जानने में मदद लें। भौतिक विज्ञान को हम यौगिक ज्ञान तब बना सकते हैं जब हम उसकी प्रक्रियाओं और घटनाओं के पर्दे को भेद कर उस एकमात्र सद्वस्तु को देख लें जिससे सब बातें स्पष्ट हो जाती हैं, मनोवैज्ञानिक विद्या को यौगिक ज्ञान तब बनाया जा सकता है जब हम उससे अपने-आपको जानने और निम्न-उच्च का विवेक करने का काम ले सकें जिससे कि निम्न अवस्था को छोड़ हम उच्च अवस्था में संवर्द्धित हो सकें ; दार्शनिक विद्या को हम यौगिक ज्ञान तब बना सकते हैं जब हम इससे पाप और पुण्य के भेद को जान जायँ, पाप को दूर कर और पुण्य से ऊपर उठकर दिव्य प्रकृति की निर्मलता में पहुँच जायँ ; रसविद्या को हम यौगिक ज्ञान तब बना सकते हैं जब हम इसके द्वारा भगवान् के सौंदर्य को पा लें ; जागतिक और व्यावहारिक विद्या को हम यौगिक तब बना सकते हैं जब हम उसके भीतर से यह देख पावें कि ईश्वर अपनी सृष्टि के साथ कैसा व्यवहार करते हैं और फिर उस ज्ञान का उपयोग मनुष्य में रहनेवाले भागवान् की सेवा के लिए करें। परन्तु तब भी ये विद्याएँ सच्चे ज्ञान की सहायक भर होती हैं ; वास्तविक ज्ञान तो वही है जो मन के लिए अगोचर है, मन जिसका आभासमात्र पाता है। सच्चा ज्ञान तो आत्मा में ही होता है।

यह ज्ञान कैसे प्राप्त होता है इसका वर्णन करते हुए गीता कहती है कि पहले इस ज्ञान की तत्वदर्शी ज्ञानियों से दीक्षा लेनी होती है, उनसे नहीं जो तत्वज्ञान को केवल बुद्धि से जानते हैं बल्कि उन ज्ञानियों से जिन्होंने इसके मूल सत्य को प्रत्यक्ष देखा है (**ज्ञानिनः तत्वदर्शिनः**) ; परन्तु वास्तविक ज्ञान तो हमें अपने अन्दर से मिलता है, "योग के द्वारा संसिद्धि को प्राप्त मनुष्य उसको अपने-आप ही यथासमय अपनी आत्मा में पाता है,"[1] अर्थात् यह ज्ञान उस मनुष्य में संवर्द्धित होता रहता है और ज्यों-ज्यों वह मनुष्य निष्कामता, समता और भगवद्भक्ति में बढ़ता जाता है त्यों-त्यों ज्ञान में भी बढ़ता जाता है। परन्तु यह बात केवल परम ज्ञान के सम्बन्ध में ही पूर्ण रूप से कही जा सकती है, नहीं तो जो ज्ञान मनुष्य अपनी बुद्धि से बटोरता है उसे तो वह इन्द्रियों और तर्कशक्ति के द्वारा परिश्रम करके बाहर से ही इकट्ठा करता है। स्वतःस्थित, सहजस्फुरित, स्वानुभूत, स्वप्रकाश परम ज्ञान की प्राप्ति के लिए हमें संयतेंद्रिय होना होता है, जिससे हम उनके मोहपाश में न बंध सकें, बल्कि हमारा मन और इन्द्रियाँ उस परम ज्ञान के निर्मल दर्पण बन जायें ; हमें उस परम सद्वस्तु के सत्य में, जिसमें सब कुछ स्थित है, अपनी समग्र सचेतन सत्ता को प्रतिष्ठित करना होगा (**तत्परः**), ताकि वह अपनी ज्योतिर्मय आत्म-सत्ता को हममें प्रकट कर सके।

---

१. ४-३८

अन्त में इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए हमारे अन्दर ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए जिसे कोई भी बौद्धिक संदेह विचलित न कर सके (**श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्**), "जिस अज्ञानी में श्रद्धा नहीं है, जो संशयात्मा है वह नाश को प्राप्त होता है ; संशयात्मा के लिए न तो यह लोक है न परलोक, और न सुख।"[१] वास्तव में यह बिलकुल सच है कि श्रद्धा-विश्वास के बिना इस जगत् में या परलोक की प्राप्ति में कोई भी निश्चित स्थिति नहीं प्राप्त की जा सकती ; और जब कोई मनुष्य किसी सुनिश्चित आधार और वास्तविक सहारे को पकड़ पाता है तभी किसी परिमाण में लौकिक या पारलौकिक सफलता, संतोष और सुख को प्राप्त कर सकता है ; जो मन केवल संशयग्रस्त है वह अपने-आपको शून्य में खो देता है। परन्तु फिर भी निम्नतर ज्ञान में संदेह और अविश्वास होने का एक तात्कालिक उपयोग है ; किन्तु उच्चतर ज्ञान में ये रास्ते के रोड़े हैं, क्योंकि वहाँका सारा रहस्य बौद्धिक भूमिका की तरह सत्य और भ्रान्ति का सन्तुलन करना नहीं है, वहाँ तो स्वतःप्रकाशमान सत्य की सतत-प्रगतिशील अनुभूति होती रहती है और इसलिए संदेह और अविश्वास का कोई स्थान नहीं है। बौद्धिक ज्ञान में सदा ही असत्य अथवा अपूर्णत्व का मिश्रण रहता है जिसे हटाने के लिये स्वयं सत्य की संशयात्मक छानबीन करनी पड़ती है; परन्तु उच्चतर ज्ञान में असत्य नहीं घुस सकता और इस या उस मत पर आग्रह करके बुद्धि जो भ्रम ले आती है वह केवल तर्क के द्वारा दूर नहीं होता, पर वहाँकी अनुभूति में लगे रहने से वह अपने-आप दूर हो जाता है। जो ज्ञान प्राप्त हो चुका है उसमें जो कुछ अपूर्णता रह गयी हो उसे अवश्य दूर करना होगा, किन्तु यह काम जो कुछ अनुभूति हो चुकी है उसके मूलपर संदेह करने से नहीं बल्कि अपने जीवन को आत्मा की अधिक गहराई, ऊँचाई और विशालता में ले जाकर अबतककी प्राप्त अनुभूति से आगे की और भी पूर्णतर अनुभूति की ओर बढ़ने के द्वारा होगा। और जो कुछ अभी अनुभूत नहीं हैं उसके लिये श्रद्धा के हथियार से भूमि तैयार करनी होगी, यहाँ तर्क और शंका का काम नहीं ; क्योंकि यह वह सत्य है जिसे बुद्धि नहीं दे सकती, तार्किक और यौक्तिक मन जिन विचारों में उलझा रहता है यह बहुधा उनसे विपरीत होता है। इस सत्य को प्रमाणों के द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती, इसको अपने आन्तरिक जीवन में उतारना होता है, यह वह महत्तर सद्वस्तु है जिसमें हमें संवर्द्धित होना है। फिर भी यह सत्य अपने-आपमें स्थित है और यदि हम अपने अज्ञान के इन्द्रजाल में न फँसे होते तो यह स्वयंसिद्ध होता। जो संशय और मोह हमें इस सत्य को स्वीकार करने और इसका अनुसरण करने से रोकते हैं, वे अज्ञान से,

---

१. ४-४०

इन्द्रियविमोहित और मतवादविमूढ़ मन और हृदय से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इनकी स्थिति निम्न और बाह्य सत्य में है और इसलिए उच्चतर सद्वस्तु के विषय में इन्हें संशय होता है (**अज्ञानसंभूतं हृत्स्थं संशयं**)। गीता कहती है कि जिनके सत्य को जानने से सब कुछ जाना जाता है (**यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्**) उन परमात्मा के साथ एकत्व में निवास कर, सतत योगस्थ होकर, अनुभवगम्य ज्ञान के द्वारा, इस संशय को ज्ञान की तलवार से काट डालना होगा।

हमें वहाँ जो उच्चतर ज्ञान प्राप्त होता है वह ब्रह्मवित् पुरुष के लिए पदार्थ-मात्र को देखने की वह स्थायी दृष्टि है जो उसे ब्रह्म में निर्बाध रूप से स्थित होने पर प्राप्त होती है (**ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः**)। यह सबका बहिष्कार कर केवल ब्रह्म का दर्शन, या चेतना या ज्ञान नहीं है, बल्कि सब कुछ को ब्रह्म में और आत्मवत् देखना है। यहाँ कहा गया है कि जिस ज्ञान के द्वारा हम लोग उस स्थिति में पहुँचते हैं जहाँसे फिर इस मानसिक प्रकृति के मोहजाल में लौटना नहीं होता, वही वह ज्ञान है "जिससे तू सर्वभूतों को अशेष रूप से आत्मा के अन्दर और फिर मेरे अन्दर देखेगा।"[1] इसी बात को गीता ने अन्यत्र और भी अधिक विस्तृत रूप से इस प्रकार कहा है कि, "सर्वत्र समदर्शी पुरुष सब भूतों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सब भूतों को देखता है। जो कोई मुझे सर्वत्र देखता है और सब कुछ मेरे अन्दर देखता है वह कभी मुझे नहीं खोता न मैं ही उसे खोता हूँ। जो एकत्व को प्राप्त योगी सब भूतों में स्थित मुझको भजता है वह चाहे जैसे रहे या करे पर मेरे ही अन्दर रहता और कर्म करता है। हे अर्जुन! जो कोई सुख में, दुःख में, सर्वत्र, सबको अपनी ही तरह समान रूप से देखता है उसी को मैं परम योगी मानता हूँ।"[2] यही उपनिषद् का पुरातन वैदांतिक ज्ञान है जिसे गीता सतत हम लोगों के सामने रखती है; परन्तु वेदान्त-ज्ञान के जो निरूपण पीछे हुए उनकी अपेक्षा गीता की श्रेष्ठता इस विषय में यही है कि गीता ने इस ज्ञान को दिव्य जीवन का एक महान् व्यवहार-शास्त्र बना दिया है। इस एकत्व-ज्ञान और कर्मयोग के परस्पर-सम्बन्ध के विषय में गीता का विशेष आग्रह है और इसीलिए जगत् में मुक्त कर्म के आधार के रूप में एकत्व के ज्ञान पर जोर दिया गया है। जहाँ-जहाँ गीता ज्ञान की बात कहती है वहीं-वहीं तुरत समता की बात भी कहती है, जो ज्ञानका फल है; जहाँ-जहाँ वह समता की बात कहती है वहीं-वहीं ज्ञान की बात भी कहती है जो समता का आधार है। गीता जिस समता का उपदेश देती है उसका आरम्भ और अन्त जीव की स्थितिशील अवस्था में ही नहीं होता,—यह अवस्था तो केवल आत्म-मुक्ति के लिये ही उपयोगी है—गीता की

---

१. ४-३५ २. ६,२९-३२

समता सदा कर्मों की आधारभूमि है। मुक्त पुरुष में ब्रह्म की शान्ति नींव है और मुक्त प्रकृति में ईश्वर का विशाल, स्वतंत्र, सम और जगद्व्यापी कर्म उस शक्ति को संचारित करता है जो इस शान्ति से निःसृत होती है, और इन दोनों का एकीकरण दिव्य कर्म और दिव्य ज्ञान का समन्वय है।

गीता की ये बातें अन्य दार्शनिक, नैतिक या धार्मिक जीवन-सम्बन्धी शास्त्रों में भी हैं, किन्तु हम तुरत देख सकते हैं कि गीता में इनका अर्थ कितना गभीर और व्यापक है। हम कह चुके हैं कि तितिक्षा, दार्शनिक उदासीनता और नति तीन प्रकार की समता की नींव हैं; परन्तु गीता में जो ज्ञान का सत्य है वह इन तीनों को केवल एक साथ इकट्ठा ही नहीं करता, बल्कि इन्हें अत्यंत गभीर, अपूर्व एवं उदार सार्थक्य प्रदान करता है। स्टोइक ज्ञान जीव में धैर्य के द्वारा आत्मसंयम से आता है; वह अपनी प्रकृति से युद्ध करके समता लाभ करता है, जिसको वह प्राकृत विद्रोहों के सम्बन्ध में सतत सावधान रहकर और उन विद्रोहों को दबाकर बनाये रखता है। इससे एक महान् शान्ति मिलती है, एक तापस सुख मिलता है; परन्तु यह वह परम आनन्द नहीं है जो मुक्त पुरुष को, किसी नियम के अधीन रहने से नहीं, बल्कि अपनी दिव्य सत्ता की विशुद्ध, सहज-स्वाभाविक सिद्धस्थिति में रहने से प्राप्त होता है, यहाँ वह "चाहे जिस तरह रहे, चाहे जो करे भगवान् में ही रहता और कर्म करता है।"[1] कारण यहाँ जो सिद्ध-स्थिति प्राप्त होती है वह केवल प्राप्त ही नहीं होती, स्वाधिकार से सदा अधिकृत भी रहती है, इसकी रक्षा के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह जीव का स्वभाव बन जाती है। गीता निम्न प्रकृति के साथ हमारे युद्ध में सहनशक्ति और धैर्य को प्राथमिक साधन के तौर पर स्वीकार करती है; परन्तु जहाँ अपने पुरुषार्थ से एक प्रकार वशित्व प्राप्त होता है वहाँ इस वशित्व की मुक्तावस्था भगवत्सायुज्य से ही अर्थात् व्यष्टिपुरुष के उन 'एक' अद्वितीय भगवान् में निमज्जित या स्थित होने से और अपनी इच्छा को भगवान् की इच्छा में खो देने से ही प्राप्त होती है। प्रकृति और उसके कर्मों के एक अधीश्वर हैं जो प्रकृति में रहते हुए भी उसके ऊपर हैं, वे ही हमारी सर्वोत्तम सत्ता और हमारी विश्वव्यापी आत्मा हैं; उनके साथ एक हो जाना अपने-आपको दिव्य बनाना है। भगवान् के साथ एकत्व लाभ करके हम परम स्वातंत्र्य और परम प्रभुत्व में प्रवेश पाते हैं। स्टोइक तितिक्षा-धर्म का आदर्श वह मुनि है जो आत्मवशी है, अपना राजा अपने-आप है, क्योंकि वह आत्म-अनुशासन के द्वारा बाह्य परिस्थितियों को अपने वश में कर लेता है। यह आदर्श बाह्यतः वेदान्त के 'स्वराट्' और 'सम्राट्' से मिलता-जुलता है, पर

१. ६-३१

है उससे निम्नतर स्तर का। स्टोइक साम्राज्य की रक्षा अपने-आपपर और अपनी परिस्थिति पर एक प्रकार का बल प्रयोग करके ही की जाती है ; परन्तु योगी का पूर्ण मुक्त साम्राज्य दिव्य प्रकृति की सनातन स्वराट्-सत्ता से स्वभावतः सिद्ध है, यह जीव का ईश्वर की अबाध विश्व-सत्ता के साथ योग है। योगी जिस यंत्रात्मक प्रकृति के द्वारा कर्म करता है उससे ऊपर उठकर अंत में बिना किसी बलात्कार के सहज ही अपनी उस ऊर्ध्व-सत्ता और श्रेष्ठता में ही निवास करता है। जगत् के सब पदार्थ उसके वश में होते हैं क्योंकि वह सब पदार्थों के साथ एकात्म हो जाता है। रोमन प्रथा का[1] उदाहरण लें तो स्टोइक स्वाधीनता लिबर्टस की स्वाधीनता है जो मुक्त किये जाने के बाद भी उस शक्ति के अधीन रहता है जिसका वह गुलाम था। उसे प्रकृति से पुरस्कारस्वरूप मुक्ति मिली है। गीता की मुक्ति मुक्त पुरुष की सच्ची मुक्ति है, वह निम्न प्रकृति से निकलकर परा प्रकृति में जन्म लेने से प्राप्त मुक्ति है और वह अपनी दिव्यता में स्वतःस्थित रहती है। ऐसा मुक्त पुरुष जो कुछ करता है, चाहे जिस तरह से रहता है, रहता है भगवान् में ही ; वह घर का लाडला लाल है, 'बालवत्' है जिससे कोई भूल नहीं होती, जिसका कभी पतन नहीं होता, क्योंकि वह उन परम सिद्ध से, उन सर्वानन्द-मय सर्वप्रेममय सर्वसौंदर्यमय से भरा रहता है, वह जो कुछ करता है वह भी उन्हीं से परिपूर्ण होता है। जिस **'राज्यं समृद्धं'** का वह उपभोग करता है वह वही मधुर सुखमय राज्य है जिसके विषय में यूनानी तत्ववेत्ता ने सारगर्भित शब्दों में कहा है "वह शिशु-राज्य है।"

दार्शनिकों का ज्ञान ऐहिक जीवन के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है यानी जगत् के सब बाह्य पदार्थों की क्षणभंगुरता, जगत् के सारे भेद-प्रभेदों की निरर्थकता और आन्तरिक स्थिरता, शान्ति, ज्योति और आत्म-निर्भरता की श्रेष्ठता का ज्ञान है। यह दार्शनिक उदासीनता से प्राप्त एक प्रकार की समता है, जिससे एक बड़ी स्थिरता तो प्राप्त होती है, पर वह महान् आत्मानन्द नहीं मिलता ; यह संसार से अलग रहकर मिलनेवाली मुक्तावस्था है। यह ज्ञान किसी पहाड़ की चोटी पर बैठे हुए अपनी महिमा में स्थित ल्यूक्रेशियन पुरुष का, नीचे उस संसार समुद्र की—जिसमें से वह स्वयं निकल आया है—उद्दाम तरंगों से इधर-उधर झोंका खानेवाले दुखी प्राणियों को दूर से देखना है, है यह भी संसार से अलग रहना और अन्त में संसार के लिए व्यर्थ ही। उदासीनतारूपी दार्शनिक प्रेरक-भाव को गीता

---

१. रोमन समाज में जो क्रीतदास होते थे उनमें से किसी-किसीको उत्तम सेवा कार्य के पुरस्कार-स्वरूप मुक्त कर दिया जाता था, पर इस मुक्ति के बाद भी वह उस सत्ता के अधीन ही होता था जिसने उसको एक दिन गुलाम बना रखा था ; इसे लिबर्टस कहते थे।

एक प्रारम्भिक साधन के तौर पर स्वीकार करती है ; परन्तु उदासीनता का गीता में जो अंतिम रूप है—उसके लिए यदि इस अपर्याप्त शब्द का किसी तरह से व्यवहार किया भी जाय तो—उसमें दार्शनिक अलगावका भाव नहीं है। वह 'उदासीनवत्' आसीन होना है सही, पर वैसे ही जैसे भगवान् ऊर्ध्व में आसीन हैं, जिन्हें इस जगत् में किसी चीज की जरूरत नहीं, फिर भी जो सतत कर्म करते और सर्वत्र वर्तमान रहकर प्राणियों के प्रयत्न के आश्रय, सहायक और परिचालक होते हैं। यह समता सब प्राणियों के साथ एकत्व पर प्रतिष्ठित है। दार्शनिक समता में जो कमी है वह इससे पूरी होती है ; क्योंकि इसकी आत्मा शान्ति की आत्मा है और प्रेम की आत्मा भी। इस समता में भगवान् के अन्दर बिना अपवाद सबके दर्शन होते हैं। यह सब प्राणियों के साथ एकात्मभूत हो जाना है और इसलिए इसमें सबके साथ परम सहानुभूति रहती है। इस सर्वव्यापक, संपूर्ण आत्मगत सहानुभूति और आध्यात्मिक एकता में सबका 'अशेषेण' (बिना अपवाद) समावेश होता है, जो कुछ अच्छा है, सुन्दर है केवल उसी के साथ नहीं बल्कि इसके अन्दर सब कुछ आ जाता है, फिर चाहे वह कितना ही नीच, पतित, पापी या घृणित प्रतीत होता हो। केवल द्वेष, क्रोध या अनुदारता के लिए ही नहीं, बल्कि अलगाव, घृणा या अपनी श्रेष्ठतारूपी किसी प्रकार के क्षुद्र गर्व के लिए भी इसमें कोई स्थान नहीं है। इस समता में भासमान, बाह्य मनुष्य के संघर्षरत मन की अज्ञानता के प्रति एक दिव्य करुणा होगी, उसपर समस्त प्रकाश और शक्ति और सुख की वर्षा करने के लिए एक दिव्य संकल्प होगा सही, पर उसके अन्दर की आत्मा के प्रति इनसे भी कोई बड़ी चीज होगी, उसके प्रति होंगे श्रद्धा और प्रेम। क्योंकि सबके भीतर से, जैसे साधुमहात्माओं के अन्दर से वैसे ही चोर, वेश्या और चाण्डाल के अन्दर से भी वे ही प्रियतम ताका करते और पुकार कर कहते हैं "यह मैं हूँ।" "सब भूतों में जो मुझको प्यार करता है"—दिव्य सार्वत्रिक प्रेम की परम प्रगाढ़ता और गाम्भीर्य को देनेवाली इससे अधिक शक्तिशाली वाणी का प्रयोग संसार के और किस दर्शनशास्त्र या धर्म में हुआ है ?

नति एक प्रकार की धार्मिक समता का आधार है, यह भगवान् की इच्छा के अधीन होना है, विपरीत अवस्थाओं को धैर्य के साथ सहन करना है, सब कुछ चुपचाप बरदाश्त करना है। गीता में यह नति तत्व एक अधिक विशाल रूप धारण करता है और वहाँ इसका स्वरूप है समग्र सत्ता का भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण। यह केवल निष्क्रिय अधीनता नहीं है, बल्कि सक्रिय आत्म-दान है, यह समस्त वस्तुओं में विद्यमान भगवान् की इच्छा को देखना और स्वीकार करना भर नहीं है, बल्कि अपनी निजी इच्छा को कर्मों के प्रभु, भगवान् को दे देना है, ताकि

साधक उनका उपकरण बन सके और वह भी भगवान् का एक सेवक बनने की भावना से नहीं, बल्कि अंत में कम-से-कम इस भावना से कि वह अपनी चेतना और अपने कर्म, दोनों का ही उनमें संपूर्ण संन्यास कर दे, ताकि उसकी सत्ता भगवान् की सत्ता के साथ एक हो जाय और उसकी नैर्व्यक्तिक प्रकृति यंत्रमात्र रह जाय, और कुछ नहीं। वह हर फल को चाहे अच्छा हो या बुरा, प्रिय हो या अप्रिय, शुभ हो या अशुभ, यह जानकर स्वीकार करता है कि वह कर्मों के प्रभु भगवान् का है और अंत में यह अवस्था हो जाती है कि शोक और दुःख केवल सहन ही नहीं किये जाते, बल्कि उन्हें निर्वासित कर दिया जाता है और चित्त के अन्दर पूर्ण समता प्रतिष्ठित हो जाती है। उपकरण में तब वैयक्तिक इच्छा या संकल्प का आरोप नहीं होता ; यह देख पड़ता है कि जो कुछ हो रहा है वह सब विराट् पुरुष की सर्वज्ञ पूर्वदृष्टि और उनकी सर्वसमर्थ अमोघ शक्ति में पहले ही क्रियान्वित हो चुका है और मनुष्यों का अहंकार भगवान् के संकल्प के कार्यों को बदल नहीं सकता। इसलिए अंतिम रुख वही होगा जो अर्जुन को आगे चलकर बताया गया है, "सब कुछ मेरे द्वारा मेरी दिव्य इच्छा और पूर्वज्ञान में पहले ही किया जा चुका है, तू, हे अर्जुन, केवल निमित्त बन जा (**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**)।"[1] इस रुख का अंतिम परिणाम यह होगा कि वैयक्तिक संकल्प भगवान् के संकल्प के साथ पूर्ण रूप से एक हो जायगा, जीव के अन्दर ज्ञान की वृद्धि होने लगेगी और उसकी प्रकृति, जो उपकरणमात्र है, सर्वथा निर्दोष होकर भागवत शक्ति और ज्ञान के अनुकूल बन जायगी। परात्पर पुरुष, विराट् पुरुष और व्यष्टि पुरुष की इस परम एकता की संतुलित अवस्था में अंतःकरण के अन्दर आत्मसमर्पण से प्राप्त पूर्ण और निरपेक्ष समता रहेगी, मन भागवत प्रकाश और शक्ति का निष्क्रिय स्रोतमार्ग हो जायगा और हमारी सक्रिय सत्ता जगत् में दिव्य ज्योति और शक्ति के कार्य के लिए एक बलशाली अमोघ यंत्र हो जायगी।

इस अवस्था में हमारे अन्दर दूसरों के व्यवहार के प्रति भी समता रहेगी। उनके किसी व्यवहार से इस आंतरिक एकत्व, प्रेम और सहानुभूति में कोई अन्तर न पड़ेगा, क्योंकि सबमें जो एक आत्मा है, समस्त प्राणियों में जो भगवान् हैं उनका प्रत्यक्ष अनुभव होने से ही ये भाव उदित हुए हैं। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि दूसरे लोग चाहे जैसा व्यवहार करें, उन्हें और उनके व्यवहारों को नत होकर सह या मान लिया जायगा, स्वयं निष्क्रिय रहा जायगा और उनका कोई प्रतिरोध न होगा ; यह नहीं हो सकता, क्योंकि जगदीश्वर के जागतिक संकल्प का उपकरण होकर सतत उनकी आज्ञा का पालन करने का यही तो

---

१. ११-३३

अभिप्राय है कि जगत् में विरोधी शक्तियों का जो संघर्ष चल रहा है उसमें उन वैयक्तिक कामनाओं से युद्ध करना होगा जो अहंकार की तुष्टि में प्रवृत्त हैं। इसी लिए अर्जुन को प्रतिरोध करने, लड़ने और जीतने का आदेश दिया गया है; पर साथ-साथ यह भी आदेश है कि लड़ना होगा द्वेष-रहित होकर, व्यक्तिगत काम-क्रोध को छोड़कर, शत्रुता का परित्याग करके, क्योंकि मुक्त पुरुष में ये मनोविकार नहीं होते। निरहंकार होकर लोक-संग्रह के लिए कर्म करना, लोगों को भगवन्मार्ग पर कायम रखने और चलाने के लिए कर्म करना वह धर्म है जो भगवान् के साथ, विश्व-पुरुष के साथ अपनी अंतरात्मा की एकता से स्वभावतः उत्पन्न होता है, क्योंकि विश्व के अखिल कर्म का संपूर्ण अभिप्राय और लक्ष्य यही है। इस कर्म का सब जीवों के साथ, यहांतक कि हमारे विरोधी और शत्रु बनकर आनेवालों के साथ भी हमारी एकता का इससे कोई विरोध नहीं है। कारण भगवान् का जो लक्ष्य है वही उनका भी लक्ष्य है, क्योंकि वही सबका छिपा हुआ लक्ष्य है, उन जीवों का भी जिनके बहिर्मुख मन अज्ञान और अहंकार के मारे इस पथ से च्युत होकर भटका करते हैं और अपनी अंतःप्रेरणा का प्रतिरोध किया करते हैं। उनका विरोध करना और उन्हें हराना ही उनकी सबसे बड़ी बाहरी सेवा है। इस दृष्टि के द्वारा गीता उस अपूर्ण सिद्धांत का निराकरण कर देती है जो समता की एक ऐसी शिक्षा से उत्पन्न हो सकता था जिसमें अव्यावहारिक रूप से समस्त संबंधों की अवहेलना की जाती है और जो उस दुर्बलकारी प्रेम की शिक्षा से उत्पन्न हो सकता था जिसके मूल में ज्ञान का सर्वथा अभाव होता है। परन्तु, वह असली तत्व को अक्षुण्ण रखती है। वह अंतरात्मा के लिए सबके साथ एकत्व है, हृदय के लिए अचल विश्व-प्रेम, सहानुभूति और करुणा; परन्तु हाथों के लिए नैर्व्यक्तिक रूप से हित-साधन करने का स्वातंत्र्य—ऐसा हित-साधन नहीं जो भगवान् की योजना का कोई विचार न करे या उसके विरुद्ध जाकर इस या उस व्यक्ति के सुख-साधन में लग जाय, बल्कि ऐसा हित-साधन जो सृष्टि के हेतु का सहायक हो, जिससे मनुष्यों को अधिकाधिक सुख और श्रेय प्राप्त हो, सब भूतों का संपूर्ण कल्याण हो।

भगवान् के साथ एकत्व, सब प्राणियों के साथ एकत्व, सर्वत्र सनातन भागवत एकता का अनुभव और इसी एकता की ओर मनुष्यों को आगे बढ़ा ले जाना, यही वह जीवन-विषयक धर्म है जो गीता की शिक्षा से उद्भूत होता है। इससे अधिक महान्, अधिक व्यापक, अधिक गभीर और कोई धर्म नहीं हो सकता। स्वयं मुक्त होकर इस एकत्व में रहना और मानव-जाति को इसी रास्ते पर आगे बढ़ने में मदद देना तथा अपने सब कर्मों को भगवान्के लिए करते हुए (कृत्स्नकर्मकृत)

और मनुष्यों को जिसका जो कर्तव्य कर्म है उसे हर्ष और उत्साह के साथ करने में बढ़ावा देना (**जोषयेत् सर्वकर्माणि**), इससे अधिक महान् और उदार दिव्यकर्मविधान नहीं हो सकता। यह मुक्त स्थिति और यह एकत्व हमारी मानव-प्रकृति का गुप्त लक्ष्य है और यही मानव-जाति के जीवन में अंतर्निहित चरम इच्छा है। इसी की ओर मनुष्यजातिको उस सुख की प्राप्ति के लिए मुड़ना होगा जिसे वह अभीतक नहीं खोज पायी। पर यह तब होगा जब मनुष्यों की आँखें खुलेंगी और वे अपनी इन आँखों और अपने इन हृदयों को ऊपर उठाकर अपनेमें, अपने चारों ओर, सब भूतों में (**सर्वेषु भूतेषु**) और 'सर्वत्र' भगवान् को देखने लगेंगे और यह जान लेंगे कि हम सब भगवान् में ही रहते हैं और हमारी यह भेदजनक निम्न प्रकृति केवल एक कैदखाने की दीवार है जिसे तोड़ डालना होगा, या फिर यह बच्चों के पढ़ने की एक पाठशाला है जिसकी पढ़ाई खतम करके आगे बढ़ना होगा जिससे हम प्रकृति में प्रौढ़ और आत्मा में मुक्त हो जायँ। ऊर्ध्वस्थित भगवान् के साथ, मनुष्य में और जगत् में स्थित भगवान् के साथ एकात्मभाव को प्राप्त होना ही मुक्ति का अभिप्राय और संसिद्धि का रहस्य है।

प्रकृति का नियतिवाद

कर्म और आत्मज्ञान की एकता सिद्ध होने पर हमारा निवास जब उच्चतर आत्मा में हो जाता है तो हम प्रकृति की निम्नस्तरीण कर्मपद्धति से ऊपर उठ जाते हैं। तब हम प्रकृति और उसके गुणों के गुलाम नहीं रहते, बल्कि उन ईश्वर के साथ एक हो जाते हैं जो हमारी प्रकृति के स्वामी हैं, तब हम प्रकृति का उपयोग अपने अन्दर की भगवदिच्छा को सिद्ध करने के लिए कर्मबंधन की अधीनता में पड़े बिना ही कर सकते हैं; क्योंकि हमारे अन्दर जो महत्तर आत्मा है वह यही है, वह प्रकृति के कर्मों का अधीश्वर है और प्रकृति की विक्षुब्ध प्रतिक्रियाओं का उसपर कोई असर नहीं होता। इसके विपरीत, प्रकृति में बद्ध अज्ञानी जीव अपने उसी अज्ञान के कारण उसके गुणों में बँधता है, क्योंकि वहाँ वह सानन्द अपने सत्य स्वरूप के साथ नहीं, प्रकृति के ऊपर अधिष्ठित जो भगवान् हैं उनके साथ नहीं, बल्कि मूर्खतावश और दुर्भाग्यवश अपनी अहंबुद्धि के साथ तदाकार हो जाता है। उसकी यह अहंबुद्धि कितना ही बड़ा स्वांग क्यों न रचे पर है प्रकृति के कार्य करने का एक छोटा सा अंग ही, एक मानसिक ग्रंथि मात्र, एक केन्द्र, जिसे पकड़कर प्रकृति की कर्मधाराओं का खेल चलता रहता है। इस ग्रंथि को तोड़ना, अपने कर्मों का केन्द्र और भोक्ता इस अहं को न बने रहने देना, बल्कि परम दिव्य महान् आत्मा से सब कुछ प्राप्त करना और सब कुछ उसी को निवेदन करना—यही प्रकृति के गुणों के चंचल विक्षोभ से ऊपर उठने का रास्ता है। कारण इस अवस्था का अर्थ है परम चेतना में—अहंबुद्धि जिसका अपकर्ष है—निवास करना, सम और एकीकृत दिव्य संकल्प एवं शक्ति के अन्दर रहकर कर्म करना, त्रिगुण के विषम खेल में नहीं, जो ऐक्यहीन खोज और प्रयास है, एक विक्षोभ है, निम्नतर माया है।

कुछ लोगों ने उन श्लोकों का, जिनमें गीता ने अहमात्मक जीव के प्रकृतिवश होने पर जोर दिया है, ऐसा अर्थ लगाया है मानो वहाँ ऐसे निरंकुश यांत्रिक नियतिवाद का निरूपण है जो इस जगत् में रहते किसी स्वाधीनता के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता। निश्चय ही उन श्लोकों की भाषा बहुत जोरदार है, और सुनिश्चित

मालूम होती है। परन्तु अन्य स्थानों की तरह यहाँ भी, गीता के विचार को उसके समग्र रूप में ग्रहण करना चाहिए और किसी एक वाक्य को, अन्य वाक्यों के साथ के संबंध से सर्वथा अलग करके, सब कुछ नहीं मान लेना चाहिए। क्योंकि वास्तव में प्रत्येक सत्य, वह अपने-आपमें कितना ही दुरुस्त क्यों न हो, अन्य सत्यों से, जो उसे मर्यादित करते हुए भी परिपूर्ण करते हैं, अलग कर दिया जाय तो बुद्धि को फँसानेवाला जाल और मन को भरमानेवाला मत बन जाता है, क्योंकि यथार्थ में प्रत्येक सत्य संमिश्रित पट का एक तंतु है और कोई भी तंतु उस समग्र पट से अलग नहीं किया जा सकता। इसी तरह गीता में सब बातें एक-दूसरे से बुनी हुई हैं अतः उसकी हर बात को संपूर्ण कलेवर के साथ मिलाकर ही समझना चाहिए। स्वयं गीता ने 'अकृत्स्नवित्' अर्थात् सम्पूर्ण सत्य को न जाननेवाले और खण्ड सत्यों को माननेवाले तथा 'कृत्स्नवित्' अर्थात् समग्र सत्य का समन्वयात्मक ज्ञान रखनेवाले योगी में भेद किया है। योगी से जिस शान्त और पूर्ण ज्ञान की स्थिति में आरोहण करने के लिए कहा जाता है उसके लिए पहली आवश्यकता यह है कि समस्त जीवन को धीरता से उसके समग्र रूप में देखा जाय तथा इसके परस्पर-विरोधी दीखनेवाले सत्यों के कारण चित्त में कोई भ्रान्ति न आने दी जाय। हमारी संमिश्र सत्ता के एक छोर पर प्रकृति के साथ जीव के सम्बन्ध का एक ऐसा पहलू है जिसमें जीव एक प्रकार से पूर्ण स्वतंत्र है ; दूसरे छोर पर दूसरा पहलू है जिसमें एक प्रकार से प्रकृति का कठोर नियम है ; इसके अतिरिक्त स्वतंत्रता का एक आंशिक और दिखावटी, फलतः एक अवास्तविक आभास भी होता है जिसे जीव अपने विकसनशील मन के अन्दर इन दो विरोधी छोरों के विकृत प्रतिबिंब को ग्रहण करता है। हम स्वतंत्रता के इस आभास को ही न्यूनाधिक भूल के साथ, स्वाधीन इच्छा कहा करते हैं ; परन्तु गीता पूर्ण मुक्ति और प्रभुत्व को छोड़कर और किसी चीज को स्वाधीनता या स्वतंत्रता नहीं मानती।

गीता की शिक्षा के पीछे जीव और प्रकृति के विषय में जो दो महान् सिद्धान्त हैं उन्हें सदा ध्यान में रखना चाहिए—एक है पुरुष-प्रकृतिविषयक सांख्य का सत्य जिसको गीता ने त्रिविध पुरुषरूपी वेदान्त-सत्य के द्वारा संशोधित और परिपूर्ण कर दिया है, दूसरा है द्विविध प्रकृति का, जिसका निम्नतर रूप है त्रिगुणात्मिका माया और उच्चतर रूप है दिव्य प्रकृति, सच्ची अध्यात्म-प्रकृति। यही वह कुंजी है जो उन बातों का समन्वय और स्पष्टीकरण करती है, जिन्हें हम परस्पर विरुद्ध और विसंगत जानकर छोड़ देते। वास्तव में हमारे सचेतन जीवन के कई स्तर हैं, और एक स्तर पर जो बात व्यवहारतः सत्य मानी जाती है वह उससे ऊपर के स्तरपर जाते ही सत्य नहीं रह जाती, क्योंकि वहाँ उसका कुछ और ही

रूप हो जाता है, क्योंकि वहाँ हम वस्तुओं को अलग-अलग नहीं बल्कि अधिकतर उनकी समग्रता में देखने लगते हैं। हाल के वैज्ञानिक आविष्कार ने दिखाया है कि मनुष्य, पशु, वृक्ष और खनिज धातुओं तक में प्राणमय प्रतिक्रियाएँ सार रूप से एक-सी होती हैं, इसलिए यदि इनमें से प्रत्येक में एक ही प्रकार की 'स्नायवीय चेतना' है (अधिक उपयुक्त शब्द के अभाव में यही कहना होगा) तो, इनके यांत्रिक मनस्तत्व की आधारभूमि भी एक-सी होनी चाहिए। फिर भी इनमें से प्रत्येक यदि अपने-अपने अनुभवों का मनोमय विवरण दे सके तो एक ही प्रकार की प्रतिक्रियाओं और एक से प्रकृति-तत्वों के चार ऐसे विवरण प्राप्त होंगे जो एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न और बहुत हद तक एक-दूसरेसे उलटे होंगे, इसका कारण यह है कि जैसे-जैसे हम सचेतन सत्ता के ऊपर के स्तरों में उठते हैं वैसे-वैसे इनका अर्थ और मूल्य बदलता जाता है और वहाँ इन सबका विचार दूसरी ही दृष्टि से करना होता है। मानव-जीव के स्तरों की भी यही बात है। जिसे हम अपनी साधारण मनोवृत्ति के अनुसार स्वाधीन इच्छा कहते हैं, और एक हदतक यह कहना ठीक भी हो सकता है, वह उस योगी की दृष्टि में, जो ऊपर उठ चुका है और जिसके लिए हमारी रात तो दिन है और हमारा दिन रात, यह स्वाधीन इच्छा नहीं है बल्कि प्रकृति के गुणों की अधीनता है। वह भी उन्हीं तथ्यों को देखता है जिन्हें हम देखते हैं, किन्तु वह **'कृत्स्नवित्'** (समग्र सत्य को जाननेवाले) की उच्चतर दृष्टि से देखता है और हम देखते हैं **'अकृत्स्नवित्'** की दृष्टि से, जो बहुत ही मर्यादित होती है, जो अज्ञान ही है। हम जिस स्वाधीनता पर गर्व करते हैं वह उसके लिए बंधन है।

निम्न प्रकृति के जाल में पड़े हुए हम अज्ञानवश मान बैठते हैं कि हम स्वाधीन है, इस अज्ञान का खण्डन करने के लिए गीता ने बतलाया है कि अहमात्मक जीव इस स्तर पर पूरी तरह त्रिगुण के वश में होता है। "जब कि सब काम सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा कराये जा रहे हैं, अहंकार-विमूढ़ आत्मा समझता है कि इन्हें करनेवाला तो 'मैं' हूँ। परन्तु जो गुणों और कर्मों के भेदों के सच्चे नियमों को जानता है वह देखता है कि प्रकृति के गुण परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया कर रहे हैं और इसलिए वह आसक्त होकर इनमें नहीं फँसता। जो इन गुणों के द्वारा विमूढ़ हो जाता है, जो अकृत्स्नवित् है उसकी मनोभावना को कृत्स्नवित् विचलित न करे। तू अपने सब कर्म मुझे समर्पित कर, निरीह, निर्मम और विगतज्वर होकर, युद्ध कर।"[1] यहाँ चेतना के दो भिन्न स्तरों और कर्म के दो विभिन्न दृष्टिबिन्दुओं में स्पष्ट भेद किया गया है। एक स्तर वह है जहाँ जीव अपनी

१. ३-३०

अहमात्मक प्रकृति के जाल में जकड़ा है और प्रकृति से प्रेरित होकर कर्म करता है पर समझता है कि मैं अपनी स्वाधीन इच्छा से कर रहा हूँ। दूसरा स्तर वह है जिसमें जीव अहंकार के साथ तादात्म्य से मुक्त, प्रकृति से ऊपर उठा हुआ और उसके कर्मों का द्रष्टा, अनुमन्ता और नियंता है।

हम जीव को प्रकृति के अधीन कहते हैं, पर गीता, इसके विपरीत, पुरुष और प्रकृति के लक्षणों का विश्लेषण करते हुए बतलाती है कि प्रकृति कार्यकरी शक्ति है और पुरुष सदा ही ईश्वर है। यहाँ गीता ने बतलाया है कि यह पुरुष अहंकार से विमूढ़ हो जाता है, परन्तु वेदान्तियों का सदात्मा ब्रह्म, नित्यमुक्त, शुद्ध, बुद्ध है। तब यह जीव क्या है जो प्रकृति से विमूढ़ होता है, उसके अधीन रहता है? इसका उत्तर यह है कि यहाँ हम वस्तुओं के सम्बन्ध में अपनी निम्नतर या मानसिक दृष्टि की व्यावहारिक भाषा में बात कर रहे हैं, प्रतीयमान आत्मा या पुरुष की बात कर रहे हैं, सदात्मा या वास्तविक पुरुष की नहीं। अहंकार ही वस्तुतः प्रकृति के अधीन होता है, और यह अपरिहार्य है, क्योंकि वह प्रकृति का ही अंग है, उसके कलपुर्जों की एक क्रिया है; परन्तु जब मनश्चेतना का आत्म-बोध अहंकार के साथ तादात्म्य कर लेता है तो वह निम्नतर आत्मा के, एक अहमात्मक स्वके आभास की सृष्टि करता है। और इसी प्रकार जिसे हम सामान्यतः जीव या आत्मा कहते हैं वह हमारे अन्दर रहनेवाला कामनामय पुरुष है जो प्रकृति के कार्यों पर पुरुषचैतन्य का प्रतिबिम्ब है। यथार्थ में यह स्वयं त्रिगुण का एक कर्म है और इसलिए प्रकृति का ही अंग है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हमारे दो पुरुष हैं, एक प्रतीयमान पुरुष या कामनामय पुरुष जो गुणों के परिवर्तन के साथ बदलता है और सर्वथा उन गुणों से ही बना हुआ और उन्हीं के द्वारा नियंत्रित है, और दूसरा नित्यमुक्त सनातन पुरुष जो प्रकृति और उसके गुणों से कभी बद्ध नहीं होता। हमारी दो आत्माएँ हैं, एक प्रातिभासिक आत्मा है जो केवल अहंकार है अर्थात् हमारे अन्दर वह मनोगत केन्द्र जो प्रकृति की इस परिवर्तनशील क्रिया को, इस परिवर्तनशील व्यक्तित्व को अपने ऊपर ओढ़ लेता है और कहता है कि, "मैं यह व्यक्ति हूँ, मैं इन सब कर्मों का कर्ता प्राकृत पुरुष हूँ",—परन्तु प्राकृत पुरुष जो कुछ है वह केवल प्रकृति है, त्रिगुण का एक समुच्चय मात्र—और दूसरा सदात्मा है जो वास्तव में प्रकृति का भर्ता, भोक्ता, ईश्वर है; वह प्रकृति में रूपान्वित है पर स्वयं परिवर्तनशील प्राकृत व्यक्ति नहीं है। अतः मुक्त होने का मार्ग इस कामनामय पुरुष की कामनाओं तथा अहंकार के मिथ्या-आत्मबोध से मुक्त होना ही है, इसलिए भगवान् गुरु पुकारकर

कहते हैं कि, "कामना और अहंता से मुक्त होकर विगतज्वर होकर युद्ध कर- निराशीर्निर्ममो भूत्वा।"[1]

हमारी सत्ता के विषय में यह मत सांख्य के उस विश्लेषण से शुरू होता है, जिसमें हमारे स्वभाव के द्विविध तत्व पुरुष और प्रकृति बताये गये हैं। पुरुष अकर्ता है, प्रकृति कर्त्री है। पुरुष वह सत्ता है जो चैतन्य के प्रकाश से भरपूर है, प्रकृति जड़ है और अपने सब कर्म चिन्मय साक्षी पुरुष में प्रतिभासित करती है। प्रकृति के ये कर्म उसके गुणों की विषमता के द्वारा होते हैं और सदा एक-दूसरेसे टकराते, एक-दूसरेमें मिलते और एक-दूसरेमें परिवर्तित होते रहते हैं। और प्रकृति की अहं-बुद्धि का कर्म पुरुष को इन कर्मों के साथ एकात्म करके आत्मा की प्रशान्त सनातन सत्ता में कर्ता, विकारी, क्षणस्थायी व्यष्टि-पुरुष के होने की प्रतीति उत्पन्न करता है। अशुद्ध प्राकृत चेतना विशुद्ध आत्मचैतन्य को मेघाच्छादित कर देती है, मन अहंकार और व्यक्तित्व में 'पुरुष' को भूल जाता है। हम अपनी विवेक-बुद्धि को इन्द्रियाश्रित मन और उसकी बहिर्मुख क्रियाओं तथा प्राण और शरीर की कामनाओं के साथ बह जाने देते हैं। जबतक पुरुष इस प्रकार की क्रिया को अनुमति देता है तबतक अहंकार और कामना तथा अज्ञान ही हमारी प्राकृत सत्ता का नियंत्रण करते रहते हैं।

परन्तु यदि इतनी ही बात होती तो इसकी यही दवा है कि हम अनुमति देना बन्द कर दें और इस तरह अपनी सारी प्रकृति को त्रिगुण की निश्चल साम्यावस्था में जा गिरने दें या गिरने के लिये बाधित करें और इस प्रकार सब कर्म समाप्त हो जायं। परन्तु ठीक यही वह दवा है जिसका प्रयोग करने के लिए गीता हमें निरुत्साहित करती है, क्योंकि यद्यपि यह दवा तो है, पर है ऐसी जो रोग के साथ रोगी का भी खातमा कर देती है। विशेषकर यदि यह सत्य अज्ञानियों पर लाद दिया जाय तो वे तामसिक अकर्मण्यता की ही शरण लेंगे, उनका 'बुद्धिभेद' होगा— उनकी बुद्धि में एक मिथ्या भेद, एक झूठा विरोध उत्पन्न होगा ; उनके सक्रिय स्वभाव और बुद्धि एक-दूसरेके विरोधी हो जायेंगे और फलस्वरूप व्यर्थ का विक्षोभ और संकर पैदा हो जायगा, मिथ्या और आत्म-प्रतारक कर्म होने लगेंगे (मिथ्याचारः), या फिर तामसिक जड़ता छा जायगी, कर्मों का अंत हो जायगा, जीवन और कर्म के पीछे जो संकल्प है वह क्षीण हो जायगा और इसलिए इस सत्य के द्वारा उन्हें मुक्ति तो नहीं मिलेगी, मिलेगी केवल गुणों में सबसे निकृष्ट तमोगुण की अधीनता। अथवा ये लोग कुछ न समझेंगे और इस उच्च शिक्षा में ही दोष निकालेंगे, इसके विरुद्ध अपने वर्तमान मानसिक अनुभव के पक्ष को तथा स्वतंत्र इच्छासम्बन्धी

---

१. ३-३०

अपने अज्ञानमय विचार को ला खड़ा करेंगे। फलतः अहंकार और काम के मोह तथा कष्टजाल में पड़े हुए ये लोग अपने पक्ष की यौक्तिकता के सत्याभास में इतने अधिक फँस जायेंगे कि ये अज्ञान का और भी जोरदार और हठी समर्थन करने लगेंगे और अपनी मुक्ति का अवसर खो देंगे।

वास्तव में ये उच्चतर सत्य चेतना और सत्ता के उच्चतर और विशालतर स्तर पर ही सहायक हो सकते हैं, क्योंकि ये वहीं अनुभवगम्य और जीवनसाध्य हो सकते हैं। ऊपर के इन सत्यों को नीचे से देखना, इन्हें गलत देखना, गलत समझना और शायद इनका दुरुपयोग करना है। यह एक उच्चतर सत्य है कि शुभ और अशुभ का भेद अहंभावापन्न मानव-जीवन के लिए—और यह मानवजीवन, पशुभाव और दिव्य भाव के बीच की संक्रमण अवस्था है—एक व्यावहारिक तथ्य और प्रामाणिक धर्म है, पर इससे ऊपर की भूमिका में हम शुभ-अशुभ के ऊपर उठ जाते हैं और इन द्वन्द्वों की पहुँच के परे हो जाते हैं जैसे ईश्वर सदा इसके ऊपर रहता है। परन्तु यह सत्य निम्न चेतना में व्यावहारिक रूप से मान्य नहीं है, उस भूमिका से ऊपर उठे बिना ही जो अपरिपक्व मन इस सत्य को पकड़ने जायगा वह इस सत्य को अपनी आसुरी प्रवृत्तियों को प्रश्रय देने के लिए, शुभ और अशुभ के भेद को सर्वथा अस्वीकार करने के लिए और भोगविलास के द्वारा विनाश के गहरे दलदल में जा गिरने के लिए सुविधाजनक एक बहाना बना लेगा—"**सर्वज्ञान-विमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।**"[1] यह बात प्रकृति के नियतिवाद के सत्य पर लागू होती है। लोग इसे भी गलत देखेंगे और इसका दुरुपयोग करेंगे जैसे वे लोग करते हैं जो कहते हैं कि मनुष्य वैसा ही है जैसा उसकी प्रकृति ने उसे बना रखा है, प्रकृति उसे जो कुछ करने के लिए विवश करती है उसके सिवाय वह और कुछ कर ही नहीं सकता। एक अर्थ में यह बात सही है, पर उस अर्थ में नहीं जिसमें कही जाती है; इस अर्थ में नहीं कि अहमात्मक जीव जो कुछ करता है उसकी जिम्मेदारी उसपर न हो और वह उसके फल से बच जाय; क्योंकि अहमात्मक जीव का अपना संकल्प है, उसकी अपनी कामना है, और जबतक वह अपने संकल्प और कामना के अनुसार कर्म करता है, चाहे उसकी प्रकृति वैसी ही क्यों न हो, उसे अपने कर्म की प्रतिक्रियाओं को भोगना ही पड़ेगा। वह उस जाल में, यों कहिये उस फंदे में जा फँसा है जो भले ही उसकी वर्तमान अनुभूति को, उसके मर्यादित आत्मज्ञान को दुर्बोध, युक्तिविरुद्ध, अनुचित और भयंकर मालूम हो, पर है यह फंदा उसकी अपनी ही पसन्द का, यह जाल उसका अपना ही बुना हुआ है।

---

१. ३, ३२

गीता यह कहती अवश्य है कि "सब भूतप्राणी अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हैं, निग्रह करने से क्या होगा"[1] और यदि हम अकेले इसी वचन को ले लें तो ऐसा दिखायी देगा मानों प्रकृति की सर्वशक्तिमत्ता का पुरुष पर असम्भव रूप से सम्पूर्ण आधिपत्य है। "ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृति का ही अनुसरण करता है।"[2] और इसी की बुनियाद पर गीता का यह आदेश है कि सचाईके साथ अपने कर्मों के अन्दर अपने स्वधर्म का पालन करो, "अपना धर्म चाहे दोषयुक्त हो पर वह दूसरे के सुसंपादित धर्म से अच्छा है ; स्वधर्म में मर जाना भला है, दूसरे के धर्म का पालन भयावह है।"[3] इस स्वधर्म का वास्तविक अर्थ जानने के लिए हमें तबतक ठहरना होगा जबतक गीता के पिछले अध्यायों में किए गए पुरुष, प्रकृति और गुणों के विस्तृत विवेचन तक न पहुँच जायँ, किन्तु निश्चय ही इसका यह अर्थ तो नहीं है कि जिसे हम प्रकृति कहते हैं उसकी जो कोई भी प्रेरणा हो, चाहे वह अशुभ ही क्यों न हो, उसका पालन करना होगा। कारण इन दो श्लोकों के बीच में गीता ने यह आदेश भी तो दिया है कि, "प्रत्येक इन्द्रिय के विषय के अंदर रागद्वेष छिपे हुए हैं ; उनके वश में न आना, क्योंकि ये आत्मा के रास्ते में लुटेरे हैं।"[4] और इसके बाद ही जब अर्जुन यह प्रश्न करता है कि प्रकृति का अनुसरण करने में जब कोई दोष नहीं है तो अपने अन्दर की उस चीज को क्या कहें जो मनुष्य से, उसकी इच्छा और प्रयत्न के विरुद्ध, मानो बरबस पाप कराती है, तब भगवान् गुरु उत्तर देते हैं कि कामना और उसका साथी क्रोध—द्वितीय गुण, रजोगुण की सन्तान—ऐसा कराते हैं ; और यह कामना आत्मा का सबसे बड़ा शत्रु है, इसे मार ही डालना होगा। गीता कहती है, पापकर्म का त्याग मुक्ति की पहली शर्त है और सर्वत्र गीता का यह आदेश है कि आत्मवशी और आत्मसंयमी बनो तथा मन, इन्द्रिय और सम्पूर्ण निम्न सत्ता को अपने वश में रखो।

इसलिए अब हमें यह भेद जान लेना होगा कि प्रकृति में वह कौन सी चीज है जो उसका असली स्वरूप, उसका अपना और अनिवार्य कार्य है जिसका दमन या निग्रह करना बिलकुल हितकारी नहीं और फिर वह कौन सी चीज है जो असली नहीं गौण है, जो प्रकृति का विक्षेप, विभ्रम और विकार है जिसे हमें अपने वश में करना होगा। निग्रह और संयम में भी भेद है। निग्रह प्रकृति पर अपनी इच्छा का तीक्ष्ण बल-प्रयोग है जिससे आगे चलकर जीव की स्वाभाविक शक्तियाँ अवसाद को प्राप्त होती हैं (**आत्मानमवसादयेत्**) ; और संयम उच्चतर आत्मा का निम्नतर आत्मा को संयमित करना है जिससे जीव की स्वाभाविक शक्तियों को अपना

---

१. ३. ३३ २. ३. ३३
३. ३. ३५ ४. ३. ३४

स्वभावनियत कर्म और उसे करने का परम कौशल प्राप्त होता है (**योगः कर्मसु कौशलम्**)। छठे अध्याय के उपोद्घात में संयम का यह स्वरूप बहुत ही स्पष्ट रूप में बताया गया है। "आत्मा से आत्मा का उद्धार करे, आत्मा को (भोगविलास या निग्रह के द्वारा) अवसन्न होकर नीचे न गिरने दे ; क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु। उस मनुष्य की आत्मा उसका मित्र है जिसकी (उच्चतर) आत्मा के द्वारा (निम्नतर) आत्मा को जीत लिया गया है ; परन्तु जिस मनुष्य ने अपनी (उच्चतर) आत्मा पर अधिकार नहीं किया है उसकी (निम्नतर) आत्मा उसके लिये शत्रु जैसी है और वह शत्रुवत् आचरण करती है।"[1] जब कोई अपनी आत्मा को जीत लेता है और पूर्ण आत्मजय और आत्मवत्ता की अविचल स्थिति को प्राप्त होता है तब उसकी परम आत्मा उसकी बाह्य सचेतन मानव-सत्ता में भी स्थिर-प्रतिष्ठित अर्थात् 'समाहित' हो जाती है। दूसरे शब्दों में निम्नतर आत्मा को उच्चतर आत्मा से, प्राकृत आत्मा को आध्यात्मिक आत्मा से वश में करना ही मनुष्य की सिद्धि और मुक्ति का मार्ग है।

यहाँ प्रकृति के नियतिवाद की मर्यादा बाँध दी गयी है, उसके क्षेत्र और अर्थ का सीमांकन किया गया है। यदि हम प्रकृति के सोपान में नीचे से ऊपर तक गुणों की क्रिया का निरीक्षण करें तो अधीनता से प्रभुत्व तक के संक्रमण को अच्छी तरह समझ सकेंगे। सबसे नीचे वे जीव हैं जिनमें तमोगुण का तत्व मुख्य है, ये वे प्राणी हैं जो अभी आत्मचैतन्य के प्रकाश तक नहीं पहुँचे और जो पूरी तरह प्रकृति के प्रवाह के द्वारा ही चालित होते हैं। परमाणु के अन्दर भी एक इच्छाशक्ति है, पर यह स्पष्ट ही देख पड़ता है कि यह स्वाधीन इच्छाशक्ति नहीं है, क्योंकि यह इच्छाशक्ति यंत्रवत् है और परमाणु इसपर स्वत्व नहीं रखता, बल्कि खुद ही उसके अधिकार में होता है। बुद्धि, जो प्रकृति के अन्दर बोध और संकल्प का तत्व है वह यहाँ वास्तव में स्पष्ट रूप से, जैसा कि सांख्य ने बताया है, जड़ है, यह अभी यांत्रिक, बल्कि अचेतन तत्व है, और इसमें सचेतन आत्मा के प्रकाश ने अभी तक ऊपरितल पर आने के लिए कोई प्रयास नहीं किया है। परमाणु अपने बुद्धितत्व से सचेतन नहीं है, वह उस तमोगुण के कब्जे में है जिसने रजोगुण को पकड़ रखा है, सत्वगुण को अपने अन्दर छिपा रखा है और स्वयं अपने प्रभुत्व का महान् उत्सव मनाता है। जीव के इस रूप को प्रकृति अद्भुत शक्ति के साथ कार्य करने के लिए विवश तो करती है, पर स्वतंत्र रूप से कुछ नहीं करने देती, उसे जड़ यंत्रवत् चलाती रहती है (**यंत्रारूढानि मायया**)। इससे ऊपर के स्तर

१. ६, ५

में उद्‌भिद् कोटि है, उसमें रजोगुण बाहर निकल पड़ा है, उसके साथ उसकी जीवन-शक्ति है, उसकी स्नायवीय प्रतिक्रियाओं की क्षमता है और ये प्रतिक्रियाएँ वे ही हैं जो हमारे अन्दर सुख-दुःख के रूप में प्रकट होती हैं ; पर अभी तक सत्वगुण बिलकुल दबा हुआ है, उसने अभी बाहर निकलकर सचेतन बुद्धि के प्रकाश को नहीं जगाया है, अब भी यह सब जड़, अवचेतन या अर्द्धचेतन ही है जिसमें रज की अपेक्षा तमकी प्रबलता है और रज, तम दोनों मिलकर सत्व को कैद किए हुए हैं।

इससे ऊपर के स्तर में, अर्थात् पशुकोटि में, है तो तमकी ही प्रबलता और इसे भी हम "तामस सर्ग" के अंतर्गत रख सकते हैं, फिर भी यहाँ तमोगुण के विरुद्ध रजोगुण का पहले की अपेक्षा अधिक जोर है और इसलिए यहाँ कुछ उन्नत प्रकार की जीवन-शक्ति, इच्छा, उमंग, प्राणावेग और सुख-दुःख भी होते हैं ; सत्व-गुण यहाँ प्रकट तो हो रहा है पर अभी तक निम्न क्रिया के अधीन है, फिर भी उसने पशु-योनि में सचेतन मन के प्रथम प्रकाश, यांत्रिक अहंबोध, सचेतन स्मृति, एक प्रकार की चिन्तनशक्ति, विशेषतः पशुसुलभ सहजप्रेरणा और सहजस्फुरणा के चमत्कार का योगदान दिया है। परन्तु यहाँतक भी बुद्धि ने चेतना का पूर्ण विकास नहीं किया है ; अतएव पशुओं को उनके कर्मों का जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। परमाणु को उसकी अंध गति के लिए, आग को जलाने और खाक कर देने के लिए या आंधी-तूफान को बरबादी के लिए जितना दोष दिया जा सकता है शेर को उससे अधिक दोष प्राणियों को मारने और खाने के लिए नहीं दिया जा सकता। यदि शेर प्रश्न का जवाब दे सकता तो मनुष्य की तरह यही कहता कि मैं जो कुछ करता हूँ अपनी स्वाधीन इच्छा से करता हूँ ; वह कर्तापन का भाव रखना चाहता और कहता, "मैं मारता हूँ, मैं खाता हूँ।" पर हम स्पष्ट देख सकते हैं कि मारने-खाने की क्रिया करनेवाला शेर नहीं बल्कि उसके अन्दर की प्रकृति है, जो मारती और खाती है ; और यदि कभी शेर मारने और खाने से चूकता है तो इसका कारण परितृप्ति, डर या आलस्य होता है जो प्रकृति के ही एक और गुण का कर्म है जिसे तमोगुण कहते हैं। जैसे पशु के अन्दर की प्रकृति ने ही मारने की क्रिया की, वैसे ही स्वयं प्रकृति ने मारने से रुकने की क्रिया भी की। उसके अन्दर आत्मा किसी भी रूप में हो पर है स्वयं प्रकृति के कर्म का केवल निष्क्रिय अनुमंता ही, वह प्रकृति के कामक्रोध के वेग और कर्म में उतना ही निष्क्रिय है जितना उसके आलस्य या अकर्म में। परमाणु के समान ही पशु भी अपनी प्रकृति की यांत्रिकता के अनुसार चलता है, और किसी तरह नहीं, **"सदृशं चेष्ट ते स्वस्याः प्रकृतेः"**, जैसे कोई "माया के द्वारा यंत्र पर चढ़ाया हुआ हो **(यंत्रारूढ़ो मायया)**।"

खैर, कम-से-कम मनुष्य में तो अन्य प्रकार की क्रिया है, उसमें स्वतंत्र आत्मा, स्वाधीन इच्छा, दायित्वबोध है, वह वास्तविक कर्ता है जो प्रकृति से भिन्न और माया की यांत्रिकता से भिन्न है ? ऐसा मालूम तो होता है, क्योंकि मनुष्य में सचेतन बुद्धि है और इस बुद्धि में साक्षी पुरुष का प्रकाश भरपूर है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुरुष उस बुद्धि के द्वारा देखता, समझता, स्वीकार या अस्वीकार करता, अनुमति देता या निषेध करता है ; और ऐसा लगता है कि आखिर मनुष्य-कोटि में आकर पुरुष अपनी प्रकृति का प्रभु बनना आरम्भ कर देता है। मनुष्य शेर, आग या आंधी-तूफान के जैसा नहीं है। वह खून करके यह सफाई नहीं दे सकता कि, "मैं अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म कर रहा हूँ", और वह ऐसा कर भी नहीं सकता, क्योंकि उसका स्वभाव और स्वधर्म वह नहीं है जो शेर, आग या आंधी-तूफान का है। उसमें सचेतन बुद्धि है और उसे सब कामों के लिए सचेतन बुद्धि की सलाह लेनी होगी। यदि वह ऐसा नहीं करता और अपने आवेशों और प्राणावेगों के अनुसार अंधा होकर कर्म करता है तो उसका धर्म 'सु-अनुष्ठित' नहीं है, उसका आचरण उसके मनुष्यत्व के अनुकूल नहीं, बल्कि पशु जैसा है। यह सही है कि रजोगुण अथवा तमोगुण उसकी बुद्धि को अपने कब्जे में कर लेता है और उससे, उसके द्वारा होनेवाले प्रत्येक कर्म के करने या किसी भी कर्म के न करने का समर्थन करा लेता है ; परन्तु यहाँ भी, कर्म करने के पहले या पीछे, बुद्धि से समर्थन कराना या कम-से-कम उससे पूछ लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के अन्दर सत्वगुण जागृत है और यह केवल बुद्धि और बुद्धिमत्तापूर्ण संकल्प के रूप में ही काम नहीं करता, बल्कि प्रकाश, सत्यज्ञान और उस ज्ञान के अनुसार सत्य-कर्म के अन्वेषण के रूप में, तथा दूसरों के जीवन और दावों को सहानुभूति-पूर्ण रीति से अनुभव करने और, अपने निजी स्वभाव के उच्चतर धर्म को (जिसकी सृष्टि यह सत्वगुण ही करता है) जानने व मानकर चलने के प्रयास के रूप में तथा पुण्य, ज्ञान और सहानुभूति जिस महत्तर शान्ति और सुख को लाते हैं उसके बोध के रूप में भी, काम करता है। मनुष्य थोड़ा-बहुत यह जानता ही है कि उसे अपनी राजसिक और तामसिक प्रकृति पर अपनी सात्विक प्रकृति के द्वारा शासन करना है, और यही उसकी सामान्य मनुष्यता की सिद्धि का मार्ग है।

परन्तु क्या प्रधानतः सात्विक स्वभाव की अवस्था स्वाधीनता है और क्या मनुष्य की ऐसी इच्छा स्वाधीन इच्छा है ? गीता इस बात को उस चैतन्य की दृष्टि से अस्वीकार करती है, क्योंकि सच्ची स्वाधीनता तो उच्चतर चैतन्य में ही है। बुद्धि, अब भी, प्रकृति का ही उपकरण है और इसका जो कर्म होता है, वह चाहे अत्यंत सात्विक हो, पर होता है प्रकृति के द्वारा ही और पुरुष भी माया

के द्वारा ही यंत्रारूढ़वत् चालित होता है। बहरहाल, हमारी इस तथाकथित स्वाधीन इच्छा का नव-दशमांश स्पष्ट ही मिथ्या कल्पना है ; यह इच्छा किसी नियत काल में अपनी निजी स्वतःसिद्ध क्रिया के द्वारा उत्पन्न और निर्द्धारित नहीं होती, बल्कि इसकी उत्पत्ति और इसका निर्द्धारण हमारे भूतकाल के द्वारा, वंशानुक्रम, शिक्षा-दीक्षा और परिस्थिति के द्वारा तथा हमारे पीछे जो दारुण जटिल चीज लगी है, जिसे हम कर्म कहते हैं, उसके द्वारा होता है। यह कर्म क्या है ? यह हमपर और जगत् पर अतीत काल में प्रकृति की जो क्रिया हो चुकी है उसका समूह है जो हर व्यक्ति के अन्दर केन्द्रीभूत होता रहता है, और वह व्यक्ति जो कुछ है तथा किसी विशिष्ट काल में उस व्यक्ति की जो इच्छा होगी और, जहाँतक विश्लेषण द्वारा देखा जा सकता है वहाँतक, उस विशिष्ट काल में उसकी क्रिया तक जो होगी, इसका निर्द्धारण भी यही कर्म करता है। प्रकृति की इस क्रिया के साथ अहंकार शामिल हो जाता और कहता है कि 'मैंने किया', 'मैं इच्छा कर रहा हूँ', 'मैं दुःख भोग रहा हूँ', किन्तु यदि वह अपने-आपको देखे और यह जाने कि वह कैसे बना है तो उसे, मनुष्य-शरीर में भी पशु-शरीर की तरह, यही कहना पड़ेगा कि प्रकृति ने मेरे अन्दर यह काम किया, प्रकृति मेरे अन्दर यह इच्छा कर रही है और यदि इस प्रकृति को वह 'अपनी प्रकृति' कहे तो इसका अर्थ है वह प्रकृति जो उस व्यष्टिप्राणी में यह रूप धारण किये हुए है। जीवन के इस पहलू का बड़ा तीव्र अनुभव होने से ही बौद्धों को यह कहना पड़ा कि सब कुछ कर्म ही है और जीवन में कोई आत्मसत्ता नहीं है, आत्मा की भावना तो अहंबुद्धि का केवल एक भ्रम है। अहंकार जब यह सोचता है कि "मैं इस पुण्य कर्म को चुनता और इसका संकल्प करता हूँ, उस पाप कर्म का नहीं", तब वह इसके सिवाय और कुछ नहीं करता कि सत्वगुण की किसी प्रधान लहर या सुसंगठित धारा के साथ, जिसके द्वारा प्रकृति बुद्धि को अपना उपकरण बनाकर किसी एक प्रकार के कर्म से किसी दूसरे प्रकार के कर्म को चुनना अधिक पसन्द करती है, अपने-आपको शामिल कर लेता है, जैसे कि किसी घूमते हुए पहिये पर बैठी हुई वह मक्खी जो यह समझती है कि मैं ही घूम रही हूँ या किसी कल-पुरजे का एक दाँत या एक हिस्सा जो यदि उसे होश होता तो यही समझता कि मैं ही तो घूम रहा हूँ। सांख्य सिद्धांत के अनुसार प्रकृति हमारे अन्दर अकर्ता साक्षी पुरुष की प्रसन्नता के लिए स्वयं गठित होती और इच्छा करती है।

परन्तु इस आत्यंतिक वर्णन में यदि कोई हेरफेर करना आवश्यक हो, और हम आगे चलकर देखेंगे कि इसका किस अर्थ में हेरफेर करना है, तो भी हमारी इच्छा की स्वाधीनता (यदि हम उसे स्वाधीनता कहना ही पसन्द करें) बहुत सापेक्ष

और अल्प है, क्योंकि इसके साथ बहुत से नियामक तत्व मिले हुए हैं। इसकी प्रबलतम शक्ति को भी प्रभुता नहीं कह सकते। इसपर यह भरोसा नहीं किया जा सकता कि यह प्रत्येक घटना के तीव्र वेग को या किसी दूसरे स्वभाव को—जो उसे दबा देता या किसी प्रकार बदल देता अथवा उसमें मिल जाता है, और कुछ नहीं तो कम-से-कम छिपे-छिपे ही उसे धोखा देता या ठग लेता है—रोक सकेगी। अत्यंत सात्विक बुद्धि भी राजस या तामस गुणों से इतनी दब जाती या उनमें मिल जाती या उनके द्वारा ठगी जाती है कि उसमें सत्व का अंश थोड़ा-सा ही रह जाता है और इसीसे एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है जिसमें मनुष्य अपने-आपको जबरदस्त धोखा दे बैठता है, इच्छा न होते हुए भी और सर्वथा निर्दोष रहते हुए भी कुछ-का-कुछ मान बैठता है और अपने-आपसे चीजों को छिपाने लगता है, जिस बात को मनोविज्ञानवेत्ता की निर्मम दृष्टि मनुष्य के अच्छे-से-अच्छे काम में भी ढूंढ़ निकालती है। जब हम सोचते हैं कि हम सर्वथा स्वच्छन्दतापूर्वक काम कर रहे हैं तब यथार्थ में हमारे काम के पीछे ऐसी शक्तियाँ छिपी होती हैं, जिन्हें हम अत्यंत सावधानी से आत्म-निरीक्षण करते हुए भी नहीं देख पाते ; जब हम सोचते हैं कि हम अहंकार से मुक्त हैं, उस समय भी वहाँ—जैसे असाधु के मन में, वैसे ही साधु के मन में,—अहंकार छिपा रहता है। जब हमारी आँखें अपने कर्मों और उनके मूल स्रोतों को देखने के लिए वास्तविक रूप से खुलती हैं, तब हमें गीता के इन शब्दों को दुहराना पड़ता है कि, **"गुणा गुणेषु वर्तन्ते"**, प्रकृति के गुण ही गुणों में बरत रहे हैं।

इसलिए सत्वगुण का बहुत अधिक प्राधान्य भी स्वतंत्रता नहीं है। सत्व भी, जैसा कि गीता ने कहा है, अन्य गुणों के समान ही बंधनकारक है और यह भी अन्य गुणों की तरह कामना और अहंकार द्वारा ही बाँधा करता है ; अवश्य ही यह कामना महत्तर और यह अहंकार विशुद्धतर होता है, परन्तु जबतक ये दोनों किसी भी रूप में जीव को बाँधे हुए रहते हैं, तबतक स्वतंत्रता नहीं है। पुण्यात्मा और ज्ञानी पुरुष का अहंकार पुण्य और ज्ञान का अहंकार होता है और वह इसी सात्विक अहंकार की तृप्ति चाहता है, वह अपने लिए ही पुण्य और ज्ञान की इच्छा करता है। सच्ची स्वाधीनता तो तभी होती है जब हम अहंकार की तृप्ति करना बन्द कर दें, जब हम अहंकार के आसन से, हममें जो परिच्छिन्न "मैं" है उसके आसन से चिंतन और संकल्प करना बन्द कर दें। दूसरे शब्दों में, स्वतंत्रता का, उच्चतम आत्मवशित्व का आरंभ तब होता है जब हम अपने इस प्राकृत जीवभाव के ऊपर उस परम आत्मा को देखें और पकड़े रहें जिसके और हमारे बीच में यह अहंकार एक बाधक आवरण और आँखों के आगे अँधेरा करने-

वाली छाया है। और, यह तभी हो सकता है जब हम उस एक आत्मा को अपने अन्दर देखें जो प्रकृति के ऊपर अधिष्ठित है और अपने व्यष्टिभूत जीव की सत्ता और चेतना को उस परम आत्मा की सत्ता और चेतना के साथ एक कर लें तथा अपनी व्यक्तिगत कार्यकरी प्रकृति को उस अद्वितीय परम संकल्प-शक्ति का एक यंत्र बना लें जिसकी इच्छा ही एकमात्र स्वाधीन इच्छा है। इसके लिये हमें त्रिगुण से ऊपर उठना होगा, त्रिगुणातीत होना होगा ; क्योंकि यह आत्मा सत्वगुण के भी परे है। वहाँतक की चढ़ाई सत्वगुण से होकर ही पूरी करनी होगी, पर हम उसके निकट तभी पहुँचेंगे जब सत्वगुण को पार कर जायँगे ; हम अहंकार में से ही उसकी ओर जायँगे, पर उसके पास पहुँचेंगे तभी जब अहंकार को छोड़ देंगे। इच्छाओं में सबसे ऊँची, सबसे वेगवती, सबसे प्रबल और सबसे अधिक उल्लासमय इच्छा ही हमें उसकी ओर ले जायगी, पर उसमें हमारा स्थिर निश्चित वास तभी होगा जब सारी इच्छाएँ हममें से झड़कर गिर जायँगी। एक अवस्था वह आयेगी जब हमें मुक्ति की इच्छा से भी मुक्त होना होगा।

त्रैगुणातीत्य

तो, प्रकृति का नियंतृत्व यहाँतक फैला हुआ है। सारांश यह कि जिस अहंकार से हमारे सारे कर्म होते हैं वह अहंकार स्वयं ही प्रकृति के कर्म का एक करण है और इसलिए प्रकृति के नियंत्रण से मुक्त नहीं हो सकता; अहंकार की इच्छा प्रकृति द्वारा निर्धारित इच्छा है, यह उस प्रकृति का एक अंग है जो अपने पूर्व कर्मों और परिवर्तनों के द्वारा हमारे अन्दर गठित हुई है और इस प्रकार गठित प्रकृति में जो इच्छा है वही हमारे वर्तमान कर्म का निर्धारण करती है। कुछ लोगों का कहना है कि हमारे कर्म का मूलारंभ तो सर्वथा हमारी स्वाधीन पसन्द से होता है, पीछे जो कुछ होता है वह भले ही उस कर्म के द्वारा निश्चित होता हो, हममें कर्मारंभ करने की जो शक्ति है तथा इस प्रकार किये गये कर्म का हमारे भविष्य पर जो असर होता है वही हमें अपने कर्मों के लिए जिम्मेदार ठहराता है। परन्तु प्रकृति के कर्म का वह मूलारंभ कौन-सा है जिसका नियंता कोई पूर्व कर्म न हो, हमारी प्रकृति की वह कौन-सी वर्तमान अवस्था है जो समस्त रूप में और ब्योरेवार, हमारी पूर्व प्रकृति के कर्म का परिणाम न हो? किसी स्वाधीन कर्मारंभ को हम इसलिए मान लेते हैं, क्योंकि हम प्रतिक्षण अपनी वर्तमान अवस्था से भविष्य की ओर देखकर अपना जीवन बिताते हैं और सदा अपनी वर्तमान अवस्था से भूतकाल की ओर नहीं लौटते, इसलिए हमारे मन में वर्तमान और उसके परिणाम ही स्पष्ट रूप से प्रतीत होते हैं; पर इस बात की बहुत ही अस्पष्ट धारणा होती है कि हमारा वर्तमान पूरी तरह हमारे भूतकाल का ही परिणाम है। भूतकाल के बारे में हमें ऐसा लगता है कि वह तो मरकर खतम हो गया। हम ऐसे बोलते और करते हैं मानो इस विशुद्ध और अछूते क्षण में हम अपने साथ जो चाहें करने के लिए स्वाधीन हैं और ऐसा करते हुए हम अपनी पसन्द की आंतरिक स्वाधीनता का पूर्ण उपयोग करते हैं। परन्तु इस तरह की कोई पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है, हमारी पसन्द के लिए ऐसी कोई स्वाधीनता नहीं है।

हमारी इच्छा को सदा ही कतिपय संभावनाओं में से कुछ का चुनाव करना पड़ता है, क्योंकि प्रकृति के काम करने का यही तरीका है; यहाँतक कि हमारी

निश्चेष्टता, किसी प्रकार की इच्छा करने से इनकार करना भी एक चुनाव है, प्रकृति की हममें जो इच्छा-शक्ति है उसका वह एक कर्म ही है ; परमाणु में भी एक इच्छा-शक्ति सदा काम करती है। अन्तर केवल यही है कि कौन कहाँतक प्रकृति की इस इच्छा-शक्ति के साथ अपने-आपको जोड़ता है। जब हम अपने-आपको उसके साथ जोड़ लेते हैं तब यह सोचने लगते हैं कि यह इच्छा हमारी है और यह कहने लगते हैं कि यह एक स्वाधीन इच्छा है, हम ही कर्ता हैं। यह चाहे भूल हो या न हो, भ्रम हो या न हो, "अपनी" इच्छा, "अपने" कर्म की यह भावना सर्वथा निरर्थक या निरुपयोगी नहीं है, क्योंकि प्रकृति के अन्दर जो कुछ है उसकी एक सार्थकता और उपयोगिता है। यह हमारी सचेतन सत्ता की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा हमारे अन्दर जो प्रकृति है वह अपने अंतःस्थित निगूढ़ पुरुष की अवस्थिति को अधिकाधिक जान लेती और उसके अनुकूल होती है और इस ज्ञान-वृद्धि के द्वारा कर्म की एक महत्तर संभावना की ओर उद्घाटित होती है ; इस अहंभाव और व्यष्टिगत इच्छा की सहायता से ही वह अपने-आपको अपनी उच्चतर संभावनाओं की ओर उठाती है, तामसी प्रकृति की नितांत या प्रबल निश्चेष्टता से निकलकर राजसी प्रकृति के आवेग और संघर्ष को प्राप्त होती है और फिर राजसी प्रकृति के आवेग और संघर्ष से निकलकर सात्विक प्रकृति के महत्तर प्रकाश, सुख और पवित्रता को प्राप्त होती है। प्राकृत मनुष्य जो सापेक्ष आत्मवशित्व लाभ करता है वह उसकी प्रकृति की उच्चतर संभावनाओं का निम्नतर संभावनाओं पर आधिपत्य है और उसके अन्दर यह तब होता है जब वह निम्नतर गुण पर प्रभुता पाने के लिए, उसे अपने अधिकार में करने के लिए उच्चतर गुण के साथ अपने-आपको जोड़ लेता है। स्वाधीन इच्छा का बोध चाहे भ्रम हो या न हो, पर है प्रकृति के कर्म का एक आवश्यक यंत्र। मनुष्य के प्रगति-काल में इसका होना आवश्यक है तथा उच्चतर सत्य ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत होने के पूर्व ही इसे खो देना उसके लिए घातक होगा। यदि यह कहा जाय, जैसा कि कहा जा चुका है, कि प्रकृति अपने विधानों को पूरा करने के लिए मनुष्य को भ्रम में डालती है और इस प्रकार के भ्रमों में व्यष्टिगत इच्छा की भावना सबसे जबर्दस्त भ्रम है, तो इसके साथ यह भी कहना होगा कि यह भ्रम उसके भले के लिए है और इसके बिना वह अपनी पूर्ण संभावनाओं के उत्कर्ष को नहीं प्राप्त हो सकता।

परन्तु यह निरा भ्रम नहीं है, केवल दृष्टिकोण और नियोजन की ही भूल है। अहंकार समझता है कि मैं ही वास्तविक आत्मा हूँ और इस तरह कर्म करता है मानो कर्म का वास्तविक केन्द्र वही है और सब कुछ मानो उसीके लिए है और

यहीं वह दृष्टिकोण और नियोजन की भूल करता है। यह सोचना गलत नहीं है कि हमारे अन्दर, हमारी प्रकृति के इस कर्म में कोई चीज या कोई पुरुष ऐसा है जो हमारी प्रकृति के कर्म का वास्तविक केन्द्र है और सब कुछ उसीके लिये है ; परन्तु वह केन्द्र अहंकार नहीं, बल्कि हृद्देशस्थित निगूढ़ ईश्वर है और वह दिव्य पुरुष और जीव है जो अहंकार से पृथक् दिव्य पुरुष की सत्ता का ही एक अंश है। अहंकार का स्वत्व-प्रकाश हमारे मन पर उस सत्य की एक भग्न और विकृत छाया है जो बतलाता है कि हमारे अन्दर एक सदात्मा है जो सबका स्वामी है और जिसके लिए तथा जिसके आदेश से ही प्रकृति अपने कर्म में लगी रहती है। इसी प्रकार अहंकार की अपनी स्वाधीन इच्छा की कल्पना भी उस सत्य का एक विकृत और स्थानभ्रष्ट भाव है जो बतलाता है कि हमारे अन्दर एक स्वाधीन आत्मा है और प्रकृति की इच्छा उसी की इच्छा का परिवर्तित और आंशिक प्रतिबिम्ब है, परिवर्तित और आंशिक इसलिए कि यह इच्छा क्षण-क्षण परिवर्तित होनेवाले काल में रहती और सतत नये-नये ऐसे रूप धारण करके काम करती है जो अपने पूर्वरूपों को बहुत कुछ भूले रहते और स्वयं अपने ही परिणामों और लक्ष्यों को पूरा-पूरा नहीं जानते। परन्तु अन्दर की संकल्पशक्ति क्षण-क्षण परिवर्तित होनेवाले काल के परे है, वह इन सबको जानती है, और हम कह सकते हैं कि, प्रकृति का जो कर्म हमारे अन्दर होता है वह, इसी बात का प्रयास है कि अंतःस्थित संकल्प और ज्ञान के द्वारा अतिमानस-प्रकाश में जो कुछ पहले से देखा जा चुका है उसी को, प्राकृत और अहंभावापन्न अज्ञान की बड़ी कठिन अवस्थाओं में से होकर, कार्य-रूप में परिणत किया जाय।

परन्तु हमारी प्रगति के अन्दर एक समय निश्चय ही ऐसा आयेगा जब हम अपनी आँखों को अपनी सत्ता के वास्तविक सत्य को देखने के लिए खोलने को तैयार होंगे और तब अहंभावापन्न स्वाधीन इच्छा का भ्रम अवश्य दूर हो जायगा। अहंभावापन्न स्वाधीन इच्छा की भावना के त्याग का अर्थ यह नहीं है कि कर्म बन्द हो जायगा, क्योंकि कर्म करनेवाली तो प्रकृति है और वह इस अहंभावापन्न इच्छा-रूपी यंत्र को हटा देने पर भी अपना कर्म वैसे ही करती रहेगी जैसे उस समय करती थी जब प्रकृति के विकासक्रम की प्रक्रिया में यह यंत्र उपयोग में नहीं आया था। प्रकृति के लिए यह भी संभव हो सकता है कि जिस मनुष्य ने इस यंत्र का परित्याग कर दिया हो उसके अन्दर और भी महत्तर कर्म का विकास कर सके ; क्योंकि ऐसे मनुष्य का मन इस बात को अधिक अच्छी तरह से जान सकेगा कि उसकी प्रकृति अपने ही कर्म के फलस्वरूप इस समय कैसी बनी है, उसमें यह जानने की अधिक क्षमता होगी कि जो शक्तियाँ उसके इर्द-गिर्द हैं उनमें कौन सी उसके विकास

में साधक और कौनसी बाधक हैं, तथा वह इस बात से भी अधिक अवगत होगा कि कौन-कौनसी महत्तर सम्भावनाएँ उसकी प्रकृति में छिपी पड़ी हैं जो अभी अव्यक्त हैं, लेकिन व्यक्त होने की क्षमता रखती हैं। यह मन जिन महत्तर सम्भावनाओं को देखता है उन्हें कार्य में परिणत करने के लिए पुरुष की अनुमति प्राप्त करने का एक अधिक खुला हुआ मार्ग बन सकता है तथा प्रकृति के प्रत्युत्तर के लिए—और परिणामस्वरूप विकास और सिद्धि के लिए—अच्छा यंत्र हो सकता है। परन्तु स्वाधीन इच्छा का त्याग किसी रूप में अपनी वास्तविक आत्मा का आभास पाये बिना, केवल अदृष्टवाद को मानकर या प्रकृति की नियति को मानकर ही, नहीं होना चाहिए ; क्योंकि तब तो हम अहंकार को ही अपनी आत्मा जानते रहेंगे और अहंकार सर्वदा प्रकृति का करण होता है अतः उसीसे कर्म करते रहेंगे और हमारी इच्छा प्रकृति का एक यंत्र बनी रहेगी, इससे हमारे अन्दर कोई वास्तविक परिवर्तन न होगा, केवल हमारे बौद्धिक भाव में कुछ फेर-फार हो जायगा। तब हमने अपनी अहमात्मक सत्ता और कर्म के प्रकृति-द्वारा नियंत्रित होने का व्यावहारिक सत्य तो स्वीकार कर लिया होगा, अपनी अधीनता को भी देख लिया होगा, किन्तु हमारे अन्दर जो अज आत्मा है, जो गुणों के कर्म से परे है, उसे हम न देख पाये होंगे, यह न देख पाये होंगे कि हमारी मुक्ति का द्वार कहाँ है। प्रकृति और अहंकार ही हमारी सम्पूर्ण सत्ता नहीं हैं, मुक्त पुरुष भी है।

परन्तु पुरुष की इस स्वाधीनता का स्वरूप क्या है? प्रचलित सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष अपनी मूल सत्ता में स्वाधीन है, किन्तु इस स्वाधीनता का कारण यह है कि वह अकर्ता है। वह अपने अकर्तृ-स्वरूप पर प्रकृति के कर्म की जो छाया पड़ने देता है उसी से वह त्रिगुण के कर्मों द्वारा बाह्यतः बंध जाता है और अपनी स्वाधीनता को फिर से तब ही पा सकता है जब वह प्रकृति से अपना सम्बन्ध तोड़ दे और फलस्वरूप प्रकृति के कर्म बन्द हो जायँ। इस तरह यदि कोई अपने चित्त से इस विचार को हटा दे कि मैं कर्ता हूँ या ये मेरे कर्म हैं और गीता के उपदेशानुसार अपने-आपको अकर्ता जाने (**आत्मानं अकर्तारम्**) तथा सब कर्मों को अपने नहीं बल्कि प्रकृति के जाने, उन्हें उसके गुणों के खेल के रूप में देखे और इसी बुद्धि में स्थित हो जाय, तो क्या इसका परिणाम वैसा ही नहीं होगा? सांख्य का पुरुष अनुमंता है, पर उसकी अनुमति निष्क्रिय है, सारा कर्म प्रकृति का है ; यह पुरुष सार-रूप से केवल साक्षी और भर्ता है, जगदीश्वर का नियामक सक्रिय चैतन्य नहीं। यह वह पुरुष है जो देखता और ग्रहण करता है, जैसे कोई दर्शक अपने सामने होनेवाले अभिनय को देखता और ग्रहण करता है, वह पुरुष नहीं जो उस अभिनय को तैयार करके, अपनी ही सत्ता में देखता है और साथ-ही-साथ उसका संचालक

और दर्शक भी होता है। इसलिए यदि यह पुरुष प्रकृति के कर्म से अपनी अनुमति हटा ले, यदि उस मिथ्या कर्तृत्वाभिमान को त्याग दे जिससे प्रकृति का सारा खेल जारी रहता है, तो वह उसका भर्ता भी नहीं रह जाता और कर्म बन्द हो जाता है, क्योंकि प्रकृति साक्षी चैतन्य पुरुष की प्रसन्नता के लिए यह खेल खेलती और उसीका आश्रय पाकर उसे जारी रख सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पुरुष-प्रकृति-सम्बन्ध के विषय में गीता की धारणा वही नहीं है जो सांख्य की है, क्योंकि दोनों में एक ही साधन से एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न परिणाम होते हैं; सांख्य के अनुसार पुरुष के मुक्त होते ही कर्म बन्द हो जाता है और गीता के अनुसार पुरुष की मुक्ति का अर्थ है किसी महान्, निःस्वार्थ और दिव्य कर्म का होना। सांख्य-सिद्धान्त में पुरुष और प्रकृति दो भिन्न सत्ताएँ हैं, गीता में ये दोनों एक ही स्वतःसिद्ध सत्ता के दो पहलू हैं, दो शक्तियाँ हैं; पुरुष यहाँ केवल अनुमंता ही नहीं है, बल्कि प्रकृति का ईश्वर है जो प्रकृति के द्वारा जगत्-लीला को भोगता है, प्रकृति के द्वारा दिव्य संकल्प और ज्ञान को जगत् की उस योजना में क्रियान्वित करता है जिसे वह अपनी अनुमति द्वारा धारण किये रहता है और जो उसी की सर्वव्यापी अवस्थिति से उसी की सत्ता में स्थित है, जो उसी की सत्ता के विधान से तथा उसके सचेतन संकल्प से संचालित है। इस पुरुष की दिव्य सत्ता और स्वभाव को जानना, उसके अनुकूल होना और उसमें रहना ही अहंकार और उसके कर्म से निवृत्त होने का हेतु है। इससे मनुष्य त्रिगुण की निम्न प्रकृति से ऊपर उठकर उच्चतर दिव्य प्रकृति को प्राप्त होता है।

यह ऊपर उठना जिस क्रिया के द्वारा नियंत्रित होता है वह प्रकृति के साथ पुरुष के सम्बन्ध में पुरुष की जटिल स्थिति से पैदा होती है; त्रिविध पुरुष का गीतोक्त सिद्धान्त ही इसका आधार है। जो पुरुष प्रकृति की क्रिया को, उसके परिवर्तनों को, उसके आनुक्रमिक भूतभावों को सीधा अनुप्राणित करता है वह क्षर पुरुष है, जो प्रकृति के परिवर्तनों के साथ परिवर्तित होता सा और प्रकृति की गति के साथ चलता सा मालूम होता है, वह व्यष्टि पुरुष है जो प्रकृति के सतत कर्म-प्रवाह से अपने व्यक्तित्व में होनेवाले परिवर्तनों के साथ तदाकार हुआ चलता है। यहाँ प्रकृति क्षर है, जो काल के अन्दर सतत प्रवाहित और परिवर्तित होती रहती है, उसका सदा उद्भव होता रहता है। परन्तु यह प्रकृति पुरुष की केवल कार्यकारिणी शक्ति है; क्योंकि पुरुष जो कुछ है उसीसे प्रकृति का भूतभाव बन सकता है, उसकी संभूति की सम्भावनाओं के अनुसार ही वह कर्म कर सकती है; यह उसकी सत्ता के भूतभाव को ही कार्यान्वित करती है। उसका कर्म स्वभाव द्वारा, पुरुष की आत्म-संभूति के विधान द्वारा, नियंत्रित होता है, यद्यपि, प्रकृति

पुरुष के भूतभाव को व्यक्त करनेवाली कार्यकारिणी शक्ति है अतः प्रायः ऐसा दीखता है कि कर्म ही स्वभाव को नियत करता है। जो कुछ हम हैं उसी के अनुसार कर्म करते हैं, और अपने कर्म के द्वारा विकसित होते हैं तथा जो कुछ हम हैं उसे सिद्ध करते हैं। प्रकृति कर्म है, परिवर्तन है, भूतभाव है और वह शक्ति है जो इन सबको कार्य में परिणत करती है; परन्तु पुरुष वह चित्स्वरूप सत् है जिससे यह शक्ति निःसृत होती है, जिसकी प्रकाशमान चेतना से ही उसने यह इच्छा पायी है जो परिवर्तित होती रहती है और अपने परिवर्तनों को उस प्रकृति के कर्मों में अभिव्यक्त करती रहती है। यह पुरुष एक है और अनेक भी; यही वह प्राणसत्ता है जिसमें से सारा जीवन बनता है और यही सब प्राणी भी है; यही विश्व-सत्ता है और यही **'सर्वभूतानि'** है, क्योंकि ये सब 'एक' ही हैं; ये सब असंख्य पुरुष अपने मूल स्वरूप में एकमेव अद्वितीय पुरुष ही हैं। परन्तु प्रकृति में अहंभाव का यह यंत्र प्रकृति के कर्म का ही एक अंग है, वह मन को इस बात के लिए प्रवृत्त करता है कि वह पुरुष की चेतना को तात्कालिक परिच्छिन्न भूतभाव के साथ, देश-काल-मर्यादित किसी विशिष्ट क्षेत्र में प्रकृति की सक्रिय चेतना के साथ, प्रकृति के पूर्व-कर्म-समूह के क्षण-क्षण पर होनेवाले फल के साथ, तदाकार कर ले। एक तरह से यह संभव है कि इन समस्त जीवों की एकता को स्वयं प्रकृति में ही अनुभव किया जा सके और विश्वप्रकृति के अखिल कर्म के अन्दर व्यक्त विराट् पुरुष को जाना जा सके, यह जाना जा सके कि प्रकृति पुरुष को अभिव्यक्त करती है और पुरुष ही प्रकृति बनता है। परन्तु यह अनुभव करना और जानना विराट् भूतभाव को ही जानना है, जो मिथ्या असत् भाव नहीं है, किन्तु केवल इसी ज्ञान से हमें आत्मा का सच्चा ज्ञान नहीं मिलता; क्योंकि हमारी वास्तविक आत्मा सदा ही इससे कुछ अधिक है और इसके परे है।

कारण, प्रकृति में व्यक्त और उसके कर्म में बद्ध पुरुष के परे पुरुष की एक और स्थिति है, जो केवल एक स्थितिशील अवस्था है, वहाँ कर्म बिलकुल नहीं है; वह पुरुष की नीरव-निश्चल, सर्वगत, स्वतःस्थित, अचल, अक्षर आत्मसत्ता है, भूतभाव नहीं। क्षरभाव में पुरुष प्रकृति के कर्म में फँसा है, इसलिए वह काल के मुहूर्तों में, भूतभाव की तरंगों में केन्द्रीभूत है, मानो अपने-आपको खो बैठा है, पर यह खो बैठना वास्तविक नहीं, यह केवल ऐसा दिखायी देता है और चूंकि यहाँ पुरुष भूतभाव के प्रवाह का अनुसरण करता है इसीलिए ऐसा जान पड़ता है। अक्षरभाव में प्रकृति पुरुष में शान्ति और विश्रांति को प्राप्त होती है, इस कारण पुरुष अपने अक्षर स्वरूप को जान जाता है। क्षर सांख्योक्त पुरुष की वह अवस्था है जब वह प्रकृति के गुणों के नानाविध कर्मों को प्रतिबिम्बित करता है और अपने-

आपको सगुण, व्यष्टि-पुरुष जानता है ; अक्षर सांख्योक्त पुरुष की वह अवस्था है जब ये गुण साम्यावस्था को प्राप्त होते हैं और वह अपने-आपको निर्गुण, नैर्व्यक्तिक पुरुष जानता है। इसलिए जहाँ क्षर पुरुष की यह अवस्था है कि वह प्रकृति के कर्म के साथ युक्त होकर कर्ता भासित होता है वहाँ अक्षर पुरुष गुण-कर्मों से सर्वथा अलग, निष्क्रिय, अकर्ता और साक्षि मात्र रहता है। मनुष्य की आत्मा जब क्षरभाव में आती है तब व्यक्तित्व के खेल के साथ एक हो जाती और प्रकृतिगत अहंभाव से अपने स्वरूप-ज्ञान को ढक लेती है और इस तरह अपने-आपको कर्मों का कर्ता समझने लगती है ; और जब यह आत्मा अक्षर भाव में आती है तब अपने-आपको नैर्व्यक्तिक भाव के साथ एक कर लेती और यह जान लेती है कि कर्त्री प्रकृति है, वह तो निष्क्रिय अकर्ता साक्षी पुरुष है। मनुष्य के मन को दो भावों में से किसी एक भाव की ओर झुकना पड़ता है, मन इन दो भावों को यह समझकर ग्रहण करता है कि ये सर्वथा अलग-अलग हैं—या तो वह गुण और व्यक्तित्व के क्षरभावमय कर्म में जाकर प्रकृति के द्वारा बँध जाता है, नहीं तो अक्षर नैर्व्यक्तित्व में जाकर प्रकृति की क्रियाओं से मुक्त हो जाता है।

परन्तु यथार्थ में पुरुष का आत्मपद और अक्षरत्व तथा प्रकृति में कर्म और क्षरत्व, दोनों एक साथ ही रहते हैं। यदि आत्मा की सत्ता का ऐसा परम भाव न होता जिसके ये दोनों विपरीत पहलू हैं—पर वह इनमें से किसी से सीमित नहीं है—तो इन परस्पर-विरोधी बातों के समाधान के लिए या तो मायावाद जैसे किसी वाद का आश्रय लेना पड़ता या आत्मा को उभयविध और विभक्त मानना पड़ता। हमने देखा है कि गीता इस परम भाव को पुरुषोत्तम की भावना में पाती है। वे परम पुरुष ईश्वर हैं, भगवान् हैं, **'सर्व भूतमहेश्वर'** हैं। वे अपनी प्रकृति को, गीता के शब्दों में **'स्वां प्रकृतिं'** को अपने अन्दर से निकालते हैं, जो जीव में प्रकट होती है और प्रत्येक जीव के स्वभाव के द्वारा—उसमें स्थित भागवत सत्ता के धर्म के अनुसार, जिसकी मोटी रूप-रेखा का हरएक जीव को अनुसरण करना पड़ता है—क्रियान्वित की जाती है। परन्तु अहंकारमय प्रकृति में गुणों की एक-दूसरेपर होनेवाली भ्रामक क्रिया के द्वारा यह क्रियान्वित होती है **(गुणा गुणेषु वर्तन्ते)**। यह त्रैगुण्यमयी माया है जिसे पार करना मनुष्य के लिए बड़ा कठिन है **(दुरत्यया)**, फिर भी त्रिगुण को पार कर इसके परे पहुँचा जा सकता है। क्योंकि ईश्वर जब क्षरभाव के अन्दर अपनी प्रकृति-शक्ति के द्वारा यह सब कर रहे होते हैं, तब भी वे अपने अक्षर-भाव में इस सबसे अलिप्त और उदासीन रहते हैं, वे सबको समदृष्टि से देखते, सबके अन्दर प्रसारित रहते, और फिर भी सबके परे रहते हैं। तीनों अवस्थाओं में वे ही स्वामी हैं ; उत्तम भाव में वे परमेश्वर हैं,

अक्षरभाव में सबके अध्यक्ष (प्रभु) और सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म (विभु) हैं, और क्षरभाव में सर्वव्यापी भगवत्संकल्प और सर्वत्र विद्यमान सक्रिय ईश्वर हैं। वे अपने व्यक्तित्व का खेल खेलते हुए भी अपने निर्गुण स्वरूप में नित्यमुक्त हैं ; वे न तो केवल निर्गुण हैं, न केवल सगुण ही, बल्कि सगुण और निर्गुण उस एक ही सत्ता के दो पहलू हैं, उपनिषद् ने इनको **'निर्गुणो गुणी'** कहा है। किसी घटना के घटने से पहले ही वे उसका संकल्प कर चुकते हैं—तभी वे अभीतक जीते-जागते धार्तराष्ट्रों के सम्बन्ध में कहते हैं कि **"मयैव निहताः पूर्वमेव"** (मैं उन्हें पहले ही मार चुका हूँ)—और प्रकृति का कार्य-सम्पादन उन्हीं के संकल्प का परिणाम मात्र होता है ; फिर भी चूंकि उनके व्यक्ति-स्वरूप के पीछे उनका नैर्व्यक्तिक स्वरूप रहता है इसलिए वे अपने कर्मों से नहीं बंधते **(कर्त्तारम् अकर्त्तारम्)**।

परन्तु मनुष्य, कर्म और भूतभाव के साथ अज्ञानवश तदात्म हो जाने के कारण—मानो वे कर्मादि उससे निःसृत आत्मा की एक शक्ति ही नहीं, समग्र आत्मा है—अहंकार-विमूढ़ हो जाता है। वह सोचता है कि सब कुछ वह और दूसरे लोग ही कर रहे हैं ; वह यह नहीं देख पाता कि सारा कर्म प्रकृति कर रही है और अज्ञान तथा आसक्ति के कारण प्रकृति के कर्मों को वह गलत समझता और विकृत करता है। गुणोंने उसे अपना गुलाम बना रखा है, कभी तो तमोगुण उसे जड़ता में घर दबाता है, कभी रजोगुण की जोरदार आंधी उसे उड़ा ले जाती है और कभी सत्वगुण का आंशिक प्रकाश उसे बाँध रखता है और वह यह नहीं देख पाता कि वह अपने प्राकृत मन से अलग है और गुणों के द्वारा केवल प्राकृत मन में फेर-फार होता रहता है। इसीलिए सुख और दुःख, हर्ष और शोक, काम और क्रोध, आसक्ति और जुगुप्सा उसे अपने वश में कर लेते हैं, उसे जरा भी स्वाधीनता नहीं रहती।

मुक्त होने के लिए उसे प्रकृति के कर्म से पीछे हटकर अक्षर पुरुष की स्थिति में आ जाना होगा ; तब वह त्रिगुणातीत होगा। अपने-आपको अक्षर, अविकार्य, अपरिवर्तनीय पुरुष जानकर वह अपने-आपको अक्षर, निर्गुण आत्मा जानेगा और प्रकृति के कर्म को स्थिर शान्ति के साथ देखेगा तथा उसे निष्पक्षभाव से सहारा देगा, पर खुद स्थिर, उदासीन, अलिप्त, अचल, विशुद्ध तथा सब प्राणियों के साथ उनकी आत्मा में एकीभूत रहेगा, प्रकृति और उसके कर्म के साथ नहीं। यह आत्मा यद्यपि अपनी उपस्थिति से प्रकृति को कर्म करने का अधिकार देती है, यद्यपि अपनी सर्वव्यापी सत्ता द्वारा प्रकृति के कर्मों को सहारा देती है, उन्हें अनुमति देती है, अर्थात् यद्यपि यह प्रभु है, विभु है, फिर भी यह कर्म या कर्तृत्व या कर्म-फलसंयोग का सृजन नहीं करती, बल्कि क्षर-भाव में प्रकृति के द्वारा होनेवाले

इन सब कर्मों को केवल देखती रहती है ;[1] इस जन्म के अन्दर आये हुए किसी भी प्राणी के पाप और पुण्य को अपना मानकर उन्हें अपने सिर पर नहीं लेती— **"नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ;"**[2] यह अपनी आध्यात्मिक विशुद्ध दिव्य स्थिति में बनी रहती है। अज्ञान से विमूढ़ अहंकार ही इन सब चीजों को अपनी मान लेता है, क्योंकि यह कर्तापन की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता है और अपनेको उसी रूप में देखना पसन्द करता है, न कि अपने असली रूप में जिसमें यह किसी महत्तर शक्ति का यंत्रमात्र है, **"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।"**[3] निर्गुण, नैर्व्यक्तिक आत्मस्थिति में लौटकर जीव महत्तर आत्म-ज्ञान को फिर से पा जाता है और प्रकृति के कर्म-बंधन से मुक्त हो जाता है, तब प्रकृति के गुण उसे स्पर्श नहीं करते, वह उसके शुभाशुभ और सुख-दुःख के बाह्य रूपों से अलिप्त रहता है। प्राकृत सत्ता, मन-प्राण-शरीर अब भी रहते हैं, प्रकृति अब भी कर्म करती है ; पर आन्तरिक सत्ता अपने-आपको इनके साथ तदाकार नहीं करती, न यह उस समय सुखी या दुःखी ही होती है जब कि प्राकृत सत्ता में गुणों की क्रिया हो रही होती है। अब वह जीव स्थिर, मुक्त, सर्वसाक्षी अक्षर ब्रह्म हो जाता है।

क्या यही परम पद, परम प्राप्तव्य, उत्तम रहस्य है? नहीं, यह नहीं हो सकता, क्योंकि यह मिश्रित या विभक्त अवस्था है, पूर्ण समन्वित पद नहीं ; यह द्विविध सत्ता है, एकीभूत स्वरूप नहीं, यहाँ आत्मा में तो मुक्ति है पर प्रकृति में अपूर्णता है। यह केवल एक अवस्था हो सकती है। तब इसके परे क्या है? एक समाधान उन संन्यासवादियों का है जो प्रकृति का, कर्म का सर्वथा त्याग कर देते हैं, कम-से-कम कर्म का यथासम्भव त्याग कर देते हैं ताकि विशुद्ध अविभक्त मुक्ति-स्थिति प्राप्त हो ; किन्तु गीता इस समाधान को स्वीकार तो करती है पर इसे उत्तम नहीं मानती। गीता भी कर्मों के संन्यास पर जोर देती है **"सर्वकर्माणि संन्यस्य"**, पर यह ब्रह्म को आन्तरिक अर्पण है। क्षर भाव में ब्रह्म प्रकृति के कर्म को पूरा-पूरा सहारा देता है और अक्षर भाव में ब्रह्म प्रकृति के कर्म को सहारा देते हुए भी उससे अलग रहता है, अपने मुक्त स्वरूप को कायम रखता है ; अक्षर ब्रह्म के साथ युक्त व्यष्टि-पुरुष मुक्त और प्रकृति से अलग रहता है, फिर भी क्षर में स्थित ब्रह्म के साथ युक्त रहकर वह कर्म को सहारा देता है, पर उससे लिप्त नहीं होता। यह द्विविध भाव उत्तम प्रकार से तब क्रियान्वित होता है जब व्यक्ति

---

१. न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ ५-१४॥

२. ५-१५

३. ५-१५.

यह देख लेता है कि ये दोनों एक पुरुषोत्तम के ही दो पहलू हैं। पुरुषोत्तम सब भूतों में निगूढ़ अंतर्यामी ईश्वर-रूप से रहते हुए प्रकृति का नियंत्रण करते हैं और उन्हीं की इच्छा से, जो अब अहंभाव से विकृत या विरूप नहीं हैं, प्रकृति स्वभाव-नियत होकर कर्मसंपादन करती है ; और व्यष्टि-पुरुष दिव्यीकृत प्राकृत सत्ता को भगवत्संकल्प-साधन का एक यंत्रमात्र **'निमित्तमात्रं'** बना देता है। वह कर्म करता हुआ भी त्रिगुणातीत, निस्त्रैगुण्य ही बना रहता है और गीता ने आरम्भ में जो आदेश किया, **"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"** (हे अर्जुन ! तू निस्त्रैगुण्य हो जा), उसे अन्त में पूर्णतया कार्य में सफल करता है। वह अब भी गुणों का भोक्ता तो है पर ब्रह्म की तरह अर्थात् भोक्ता होने पर भी उनसे बद्ध नहीं **'निर्गुणं गुण-भोक्तृ च'**, और ब्रह्म की तरह ही अनासक्त होते हुए भी सबका भर्ता है **'असक्तं सर्वभृत्'**, उसमें गुणों की क्रिया का रूप बिलकुल बदल जाता है, यह क्रिया गुणों के अहमात्मक रूप और प्रतिक्रियाओं से ऊपर उठी रहती है। क्योंकि उसने अपनी सम्पूर्ण सत्ता को पुरुषोत्तम में एकीभूत कर लिया है, वह भागवत सत्ता और भूतभाव की उच्चतम दिव्य प्रकृति **'मद्भावम्'** को प्राप्त हो गया है, और अपने मन और चित्त को भी भगवान् के साथ एक कर लिया है **'मन्मना मच्चित्तः'**। यह रूपान्तर ही प्रकृति का चरम विकास और दिव्य जन्म की परम सिद्धि है, यही **"उत्तमं रहस्यं"** है। यह संसिद्धि जब प्राप्त हो जाती है तब पुरुष अपने-आपको प्रकृति का स्वामी जानता है और, भागवत ज्योति की एक ज्योति तथा भगवदिच्छा की ही एक इच्छा बनकर, वह अपनी प्रकृति की क्रियाओं को दिव्य कर्म में रूपान्तरित करने में समर्थ होता है।

निर्वाण और संसार में कर्म

ज्ञानमार्ग का अनुसरण करनेवाले संकीर्ण सिद्धान्त की तरह केवल अक्षर पुरुष के साथ एक हो जाना ही नहीं, अपितु समग्र सत्ता के योग द्वारा जीव का पुरुषोत्तम के साथ एक हो जाना गीता की संपूर्ण शिक्षा है। यही कारण है कि ज्ञान और कर्म का समन्वय साधने के पश्चात् गीता ने कर्म और ज्ञान से युक्त प्रेम और भक्ति की भावना का विकास करके बतलाया है कि जिस मार्ग के द्वारा उत्तम रहस्य तक पहुँचा जा सकता है उसकी सर्वोच्च भूमि यही है। यदि अक्षर पुरुष के साथ एक हो जाना ही एकमात्र रहस्य या परम रहस्य होता तो कर्म और ज्ञान से युक्त प्रेम और भक्ति का साधन सम्भव न होता, क्योंकि तब साधना में एक ऐसी अवस्था आजाती जब प्रेम और भक्ति के लिए हमारा आन्तरिक आधार कर्म के आन्तरिक आधार के समान चूर-चूर होकर ढह जाता। केवल अक्षर पुरुष के साथ सम्पूर्ण और अनन्य एकता का अर्थ होता है क्षर पुरुष के दृष्टिबिन्दु को सर्वथा नष्ट कर देना। यह, सामान्य और हीनतर कर्म में क्षर पुरुष की सत्ता के दृष्टिबिन्दु को नष्ट करना ही नहीं है, बल्कि स्वयं उसके मूल से, जो कुछ उसकी सत्ता को सम्भव बनाता है उस सबसे भी, इनकार करना है ; यह केवल उसकी अज्ञानावस्था के कर्म से ही नहीं, प्रत्युत उसकी ज्ञानावस्था के कर्म से भी इनकार है। इसका अर्थ है मानवजीवन की और भगवान् की चेतना तथा कर्मण्यता में जो भेद है, जिसके कारण क्षर भाव की लीला सम्भव होती है, उसे नष्ट कर देना ; क्योंकि तब क्षर पुरुष का कर्म केवल अज्ञान का खेल रह जायगा और उसके मूल में या उसके आधारस्वरूप कोई भागवत सद्वस्तु नहीं रहेगी। इसके विपरीत, योग के द्वारा पुरुषोत्तम के साथ एक होने का अर्थ होता है अपनी स्वतःस्थित सत्ता में उनके साथ एकत्व का ज्ञान और आस्वादन तथा अपनी क्रियाशील सत्ता में उनके साथ एक विशेष प्रकार के भेदभाव का ज्ञान और आस्वादन। दिव्य प्रेम की प्रेरक-शक्ति द्वारा परिचालित और संसिद्ध दिव्य प्रकृति द्वारा अनुष्ठित दिव्य कर्मों की लीला में सक्रिय सत्ता और पुरुषोत्तम के बीच उपर्युक्त विशेष प्रकार के भेदभाव का बना रहना तथा आत्मा के अन्दर भगवान् की उपलब्धि के साथ-साथ जगत् में भगवान् का

दर्शन, इन दो कारणों से ही मुक्त पुरुष के लिए कर्म और भक्ति करना सम्भव होता है, केवल सम्भव ही नहीं, बल्कि उसके सिद्ध स्वभाव के लिये अपरिहार्य होता है।

परन्तु पुरुषोत्तम के साथ एकता स्थापित करने का सीधा रास्ता अक्षर ब्रह्म की सुदृढ़ अनुभूति में से होकर ही है, और इस बात पर गीता ने बहुत जोर दिया है और कहा है कि यह जीव की पहली आवश्यकता है,—और इसे प्राप्त कर लेने के बाद ही कर्म और भक्ति अपने परम दिव्यार्थ को प्राप्त होंगे—इसी कारण हम गीता के आशय को समझने में भूल कर जाते हैं। यदि हम केवल उन्हीं श्लोकों को देखें जिनमें इस आवश्यकता पर जोरदार आग्रह किया गया है और गीता की विचारधारा के पूर्वापर का पूर्ण विचार न करें तो अनायास ही इस निर्णय पर पहुँचेगें कि गीता वास्तव में यह शिक्षा देती है कि कर्महीन लय ही जीव की परम गति है और कर्म अविचल अक्षर पुरुष में जाकर शान्त हो जाने का प्राथमिक साधन मात्र है। पाँचवें अध्याय के अन्त में और छठे अध्याय में सर्वत्र यही आग्रह अत्यंत प्रबल और व्यापक है। वहाँ एक ऐसे योग का वर्णन है जो पहली नजर में कर्म-मार्ग से विसंगत प्रतीत होता है और वहाँ योगी जिस पद को प्राप्त होता है उसे बार-बार 'निर्वाण' कहा गया है।

इस पद का लक्षण है निर्वाण की परम शान्ति (**शान्ति निर्वाणपरमां**) और शायद इस बात को स्पष्ट करने के लिए कि यह निर्वाण बौद्धों का शून्य में निर्वाण नहीं है बल्कि आंशिक सत्ता का पूर्ण सत्ता में वैदान्तिक लय है, गीता ने सदा 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है ब्रह्म में विलीन होना। और यहाँ 'ब्रह्म' शब्द से अवश्य ही अभिप्राय है अक्षर ब्रह्म का, कम-से-कम मुख्यतः उस अंतःस्थ कालातीत आत्मा का जो बाह्य प्रकृति में व्यापक होते हुए भी सक्रिय रूप से उसमें कोई भाग नहीं लेती। इसलिये हमें यह देखना होगा कि यहाँ गीता का आशय क्या है, विशेषकर यह कि यह शान्ति क्या पूर्ण नैष्कर्म्य की शान्ति ही है और क्या अक्षर ब्रह्म में निर्वाण होने का अभिप्राय क्षर के सम्पूर्ण ज्ञान और चैतन्य का तथा क्षर में होनेवाले सम्पूर्ण कर्म का सर्वथा परिहार ही है? हमें कुछ ऐसा अभ्यास पड़ा हुआ है कि हम निर्वाण तथा किसी प्रकार के जगत्-जीवन और कर्म को एक-दूसरेसे सर्वथा विसंगत मानते हैं और यहाँतक कह डालना चाहते हैं कि 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग स्वयं ही इस प्रश्न का निर्णय और पूर्ण उत्तर है। परन्तु यदि हम बौद्ध मत का ही सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो हमें यह सन्देह होगा कि क्या यह विरोध बौद्धों के यहाँ भी यथार्थतः था; और यदि हम गीता को अच्छी तरह देखें तो यह देख पड़ेगा कि यह विरोध वेदान्त की परम शिक्षा के अन्दर नहीं है।

जो ब्रह्म की चेतना में ऊपर उठ चुका है ऐसे ब्रह्मवेत्ता **'ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः'** की पूर्ण समता की चर्चा करने के बाद उसके परवर्ती नौ श्लोकों में गीता ने ब्रह्मयोग और ब्रह्मनिर्वाण-सम्बन्धी भावना को विस्तार के साथ कहा है। उसने अपना कथन यों आरम्भ किया है, "जब बाह्य पदार्थों में जीव की कोई आसक्ति नहीं रह जाती तब उस मनुष्य को वह सुख मिलता है जो आत्मा में है; ऐसा व्यक्ति अक्षय सुख भोग करता है, क्योंकि उसकी आत्मा ब्रह्म के साथ योग द्वारा युक्त है।"[1] गीता कहती है कि अनासक्त होना अत्यावश्यक है, इसलिए कि काम-क्रोध-लोभ-मोह से छुटकारा मिले, इस छुटकारे के बिना सच्चे सुख का मिलना सम्भव नहीं है। यह सुख और यह समत्व, मनुष्य को शरीर में रहते हुए ही पूर्ण रूप से प्राप्त करने होंगे; निम्न विक्षुब्ध प्रकृति के जिस दासत्व के कारण वह यह समझता था कि पूर्ण मुक्ति शरीर को छोड़ने के बाद ही प्राप्त होगी, उस दासत्व का लेशमात्र भी उसके अन्दर नहीं रह जाना चाहिए; इसी जगत् में, इसी मानव-जीवन में अर्थात् देह त्याग करने से पहले ही **'प्राक् शरीर-विमोक्षणात्'** पूर्ण आध्यात्मिक स्वातंत्र्य लाभ करना और भोगना होगा। इसके आगे गीता कहती है कि जो "अंतःसुख है, अंतराराम है और अंतर्ज्योति है वही योगी ब्रह्मभूत होकर ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त होता है।"[2] यहाँ निर्वाण का अर्थ स्पष्ट ही उस परम आत्म-स्वरूप में अहंकार का लोप होना है जो सदा देशकालातीत, कार्यकारणबंधनातीत तथा क्षरणशील जगत् के परिवर्तनों के अतीत है और जो सदा आत्मानन्दमय, आत्मप्रकाशमय और शान्तिमय है। वह योगी अब अहंकारस्वरूप नहीं रह जाता, वह छोटा-सा व्यक्तित्व नहीं रह जाता जो मन और शरीर से सीमित रहता है; वह ब्रह्म हो जाता है, उसकी चेतना शाश्वत पुरुष की उस अक्षर दिव्यता के साथ एक हो जाती है जो उसकी प्राकृत सत्ता में व्याप्त है।

परन्तु क्या यह जगत्-चैतन्य से दूर, समाधि की किसी गभीर निद्रा में सो जाना है अथवा क्या यह प्राकृत सत्ता तथा व्यष्टि पुरुष के किसी ऐसे निरपेक्ष ब्रह्म में लय हो जाने या मोक्ष पाने की तैयारी है जो सर्वथा और सदा प्रकृति और उसके कर्मों से परे है? क्या निर्वाण को प्राप्त होने के पहले विश्व-चैतन्य से अलग हो जाना आवश्यक है अथवा क्या निर्वाण, जैसा कि उस प्रकरण से मालूम होता है, एक ऐसी अवस्था है जो जगत्-चैतन्य के साथ-साथ रह सकती और अपने ही तरीके से उसका अपने अन्दर समावेश भी कर सकती है? यह पिछले प्रकार की अवस्था ही स्पष्ट रूप से गीता को अभिप्रेत मालूम होती है, क्योंकि

---

१. ५-२१

२. ५-२३

इसके बाद के ही श्लोक में गीता ने कहा है कि "वे ऋषि ब्रह्मनिर्वाण लाभ करते हैं जिनके पाप के सब दाग धुल गये हैं और जिनकी संशय-ग्रंथि का छेदन हो चुका है, जो अपने-आपको वश में कर चुके हैं और सब भूतों के कल्याण में रत हैं (**सर्व-भूतहिते रताः**)।"[1] इसका तो प्रायः यही अभिप्राय मालूम होता है कि इस प्रकार का होना ही निर्वाण को प्राप्त होना है। परन्तु इसके बाद का श्लोक बिलकुल स्पष्ट और निश्चयात्मक है, "यती, (अर्थात् जो लोग योग और तप के द्वारा आत्मवशी होने का अभ्यास करते हैं) जो काम और क्रोध से मुक्त हो चुके हैं और जिन्होंने आत्मवशित्व लाभ कर लिया है उनके लिये ब्रह्मनिर्वाण उनके चारों ओर ही रहता है, वह उन्हें घेरे हुए रहता है, वे उसीमें रहते हैं, क्योंकि उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त है।"[2] अर्थात् आत्मा का ज्ञान होना और आत्मवान् होना ही निर्वाण में रहना है। यह स्पष्ट ही निर्वाण की भावना का एक व्यापक रूप है। काम-क्रोधादि दोषों के दागों से सर्वथा मुक्त होना और यह मुक्ति जिस समत्व-बुद्धि के आत्मवशित्व पर अपना आधार रखती है उस आत्मवशित्व का होना, सब भूतों के प्रति समत्व का होना, सबके प्रति कल्याणकारी प्रेम का होना, अज्ञानजनित जो संशय और अंधकार, सर्वैक्यसाधक भगवान् से और हमारे अन्दर और सबके अन्दर जो 'एक' आत्मा है उसके ज्ञान से हमको अलग करके रखते हैं उनका सर्वथा नाश हो जाना, ये सब स्पष्ट ही निर्वाण की अवस्थाएँ हैं जो गीता के इन श्लोकों में बतलायी गयी हैं, इन्हीं से निर्वाण-पद सिद्ध होता है और ये ही उसके आध्यात्मिक तत्व हैं।

इस प्रकार निर्वाण स्पष्ट ही जगत्-चैतन्य और संसार के कर्मों के साथ विसंगत नहीं है। क्योंकि जो ऋषि निर्वाण को प्राप्त हैं वे इस क्षर जगत् में भगवान् को प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और कर्मों के द्वारा उनके साथ अति निकट संबंध बनाये रखते हैं; वे सब भूतों के कल्याण में लगे रहते हैं (**सर्वभूतहिते रताः**)। क्षर पुरुष की अनुभूतियों को उन्होंने त्याग नहीं दिया है, बल्कि उन्हें दिव्य बना दिया है; गीता कहती है कि क्षर पुरुष ही '**सर्वभूतानि**' है, और सब भूतों का कल्याण करना प्रकृति की क्षरता के अन्दर एक भागवत कर्म है। संसार में कर्म करना ब्राह्मी स्थिति से विसंगत नहीं है, बल्कि उस अवस्था की अपरिहार्य शर्त और बाह्य परिणाम है, क्योंकि जिस ब्रह्म में निर्वाण लाभ किया जाता है वह ब्रह्म, जिस आत्म-चैतन्य में हमारा पृथक् अहंभाव विलीन हो जाता है वह आत्म-चैतन्य केवल हमारे अन्दर ही नहीं है, बल्कि इन सब भूत प्राणियों में भी है। वह इन सब जगत्-प्रपंचों से

१. ५-२५
२. ५-२६

केवल पृथक् और इनके ऊपर ही नहीं है, बल्कि इन सबमें व्याप्त है, इन्हें धारण किये हुए है और इनमें प्रसारित है। इसलिए ब्रह्मनिर्वाण-पद का अर्थ उसी सीमित पृथक्कारी चेतना का नाश या निर्वाण समझना होगा जो सारे भ्रम और भेदभाव का कारण है और जो जीवन के बाह्य स्तर पर त्रिगुणात्मिका निम्नतर माया की एक रचनामात्र है। और इस निर्वाण-पद में प्रवेश उस एकत्वसाधक परम सच्चैतन्य की प्राप्ति का रास्ता है जो समस्त सृष्टि का हृदय और आधार है, और जो उसका सर्वसमाहारक, सर्वसहायक, समग्र मूल सनातन परम सत्य है। जब हम निर्वाण लाभ करते और उसमें प्रवेश करते हैं तब निर्वाण केवल हमारे अन्दर ही नहीं रहता, बल्कि हमारे चारों ओर भी रहता है (**अभितो वर्तते**), क्योंकि यह केवल वह ब्रह्म-चैतन्य नहीं है जो हमारे अन्दर गुप्त रूप से रहता है, बल्कि यह वह ब्रह्म-चैतन्य है जिसमें हम सब रहते हैं। यह वह आत्मा है जो हम अपने अंत:स्वरूप में हैं—हमारी व्यष्टि-सत्ता की परम आत्मा ; पर साथ ही वह आत्मा भी जो हम बाह्य रूप में हैं, यह समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड की परम आत्मा है, सब भूतों की आत्मा है। इस आत्मा में रहते हुए हम सबके अन्दर रहते हैं, और अब केवल अपनी अहंभावापन्न पृथक् सत्ता में ही नहीं रहते ; इस आत्मा के साथ एकत्व लाभ करने से जगत् में जो कुछ है उसके साथ निरन्तर एकत्व हमारी सत्ता का स्वभाव, हमारे क्रियाशील चैतन्य की मूल भूमिका और हमारे कर्मों का मूल प्रेरक-भाव बन जाता है।

परन्तु इसके बाद ही फिर दो श्लोक ऐसे आते हैं जो इस निर्णय में बाधक से प्रतीत होते हैं। "बाह्य स्पर्शों को अपने अन्दर से बाहर करके, भ्रूमध्य में अपनी दृष्टि को स्थिर करके और नासाभ्यंतरचारी प्राण तथा अपान को सम करके, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को वश में रखनेवाला मोक्ष-परायण मुनि, जिसके काम, क्रोध, भय दूर हो गये हैं, सदा ही मुक्त रहता है।"[1] यहाँ इस योग-प्रणाली में एक दूसरी ही बात आती है जो कर्मयोग से भिन्न है और उस विशुद्ध ज्ञानयोग से भी भिन्न है जो विवेक और ध्यान से साधित होता है ; इसके सब विशिष्ट लक्षण कायिक-मानसिक-तप:साध्य राजयोग के लक्षण हैं। यह 'चित्त-वृत्तिनिरोध' प्राणायाम, प्रत्याहार आदि का ही वर्णन है। ये सब मन:समाधि की ओर ले जानेवाली प्रक्रियाएँ हैं, इन सबका लक्ष्य मोक्ष है और सामान्य व्यवहार की भाषा में मोक्ष कहते हैं, केवल पृथक्कारी अहं-चैतन्य के त्याग को नहीं, बल्कि संपूर्ण कर्म-चैतन्य के त्याग को, परब्रह्म में अपनी सत्ता के संपूर्ण अस्तित्व का लय कर देने को। तब क्या हम यह समझें कि गीता ने यहाँ इसका विधान इस अभिप्राय

१. ५-२७-८

से किया है कि इसी लय को मुक्ति का चरम उपाय मानकर ग्रहण किया जाय या इस अभिप्राय से कि यह बहिर्मुख मन को वश में करने का केवल एक उपाय या शक्तिशाली साधन मात्र है ? क्या यही आखिरी बात, परम वचन या महावाक्य है ? हम इसे दोनों ही मान सकते हैं, एक विशेष उपाय, एक विशिष्ट साधन भी और अंततः चरम गति का एक द्वार भी ; अवश्य ही इस चरम गति का साधन लय हो जाना नहीं है, बल्कि विश्वातीत सत्ता में ऊपर उठ जाना है। क्योंकि यहाँ इस श्लोक में भी जो कुछ कहा गया है वह आखिरी बात नहीं है ; महावाक्य, आखिरी बात, परम वचन तो इसके बाद के श्लोक में आता है जो इस अध्याय का अंतिम श्लोक है। वह श्लोक है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।। गी० ५-२९

—अर्थात्, "जब मनुष्य मुझे सब यज्ञों और तपों का भोक्ता, सब लोकों का महेश्वर, सब प्राणियों का सुहृद् जानता है तब वह शान्ति को प्राप्त होता है।" यहाँ कर्मयोग की शक्ति ही फिर से आ जाती है ; यहाँ इस बात पर आग्रह किया गया है कि ब्रह्मनिर्वाण की शान्ति के लिए यह आवश्यक है कि जीव को सक्रिय ब्रह्म का, विराट् पुरुष का ज्ञान भी हो।

यहाँ हम गीता के परम प्रतिपाद्य विषय, पुरुषोत्तम की भावना की ओर वापिस आते हैं। यूँ तो यह नाम गीता के उपसंहार के कुछ ही पहले आता है, तथापि गीता में आदि से अंत तक जहाँ-जहाँ श्रीकृष्ण "अहं", "माम्" इत्यादि पदों का प्रयोग करते हैं वहाँ-वहाँ उनका अभिप्राय उन्हीं भगवान् से है जो हमारी कालातीत अक्षर सत्ता में हमारे एकमेवाद्वितीय आत्मस्वरूप में हैं, जो जगत् में भी अवस्थित हैं, सब भूतों में, सब कर्मों में विद्यमान हैं, जो निश्चल-नीरवता और शान्ति के अधीश्वर हैं, जो शक्ति और कर्म के स्वामी हैं, जो इस महायुद्ध में पार्थसारथीरूप से अवतीर्ण हैं, जो परात्पर पुरुष हैं, परमात्मा हैं, सर्वमिदं हैं, प्रत्येक जीव के ईश्वर हैं। वे सब यज्ञों और तपों के भोक्ता हैं, इसलिए मुक्ति-कामी पुरुष सब कर्मों को यज्ञ और तपरूप से करे ; वे सर्वलोकमहेश्वर हैं, और इस प्रकृति तथा सब प्राणियों में प्रकट हैं, इसलिए मुक्त पुरुष मुक्त होने पर भी, लोकसंग्रहार्थ कर्म करे, अर्थात् जगत् में लोगों का समुचित नियंत्रण करे और उन्हें सन्मार्ग दिखावे; 'वे सबके सुहृद् हैं' इसलिए वही मुनि है जिसने अपने अन्दर और अपने चारों ओर (अभितः) निर्वाण लाभ किया है, फिर भी वह सदा सब भूतों के कल्याण में रत रहता है—जैसे बौद्धों के महायान पंथ में भी निर्वाण का परम लक्षण जगत् के सब प्राणियों के प्रति करुणामय कर्म ही समझा जाता है। इसी

लिए अपने कालातीत अक्षर आत्मस्वरूप में भगवान् के साथ एक होने पर भी वह मनुष्य से दिव्य प्रेम कर सकता है, क्योंकि उसके अन्दर प्रकृति की क्रीड़ा के संबंध भी समाविष्ट हैं, और साथ ही वह भगवान् की भक्ति भी कर सकता है।

छठे अध्याय के आशय की तह में पहुँचने पर यह बात और भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि गीता के इन श्लोकों का यही तात्पर्य है। छठे अध्याय में पाँचवें अध्याय के इन्हीं अंतिम श्लोकों के भाव का विशदीकरण और पूर्ण विकास किया गया है—और इससे यह पता चलता है कि गीता इन श्लोकों को कितना महत्व देती है। इसलिए अब हम इसी छठे अध्याय के सार-मर्म का अति संक्षिप्त रूप से पर्यवेक्षण करेंगे। सबसे पहले भगवान् गुरु अपनी बार-बार दोहरायी गयी संन्यास के मूल तत्व की घोषणा पर जोर देते और उस बात को फिर से कहते हैं कि असली संन्यास आंतरिक है, बाह्य नहीं, "जो कोई कर्मफल का आश्रय किये बिना कर्तव्य कर्म करता है वही संन्यासी है, वही योगी है, वह नहीं जो यज्ञ की अग्नि जलाता न हो और अक्रिय हो। जिसे लोग संन्यास कहते हैं उसे तू योग समझ ; क्योंकि जिसने अपने मन के वासनामूलक संकल्पों का त्याग नहीं किया वह योगी नहीं हो सकता।"[1] कर्म करने होंगे, पर किस उद्देश्य से, किस क्रम से? पहले योग-पर्वत की चढ़ाई चढ़ते हुए करने होंगे, क्योंकि वहाँ कर्म 'कारण' हैं। कारण किसके? आत्मसंसिद्धि के, मुक्ति के, ब्रह्म-निर्वाण के ; क्योंकि आंतरिक संन्यास के निरंतर अभ्यास के साथ कर्म करने से यह संसिद्धि, यह मुक्ति, वासनात्मक मन, अहंबुद्धि और निम्न प्रकृति पर यह विजय अनायास प्राप्त होती है।

पर जब कोई चोटी पर पहुँच जाता है तब? तब कर्म कारण नहीं रह जाते, कर्म के द्वारा प्राप्त आत्मवशित्व और आत्मवत्ता की शान्ति कारण बन जाती है। लेकिन कारण किस चीज का? आत्मस्वरूप में, ब्रह्म-चैतन्य में स्थित बने रहने और उस पूर्ण समत्व को बनाये रखने का कारण बनती है जिसमें स्थित होकर मुक्त पुरुष दिव्य कर्म करता है। क्योंकि "जब कोई इन्द्रियों के अर्थों में और कर्मों में आसक्त नहीं होता और मन के सब वासनात्मक संकल्पों को त्याग चुकता है तो उसे योग-शिखर पर आरूढ़ कहते हैं।"[2] हम यह जान चुके हैं कि, मुक्त पुरुष के सब कर्म इसी भाव के साथ होते हैं ; वह कामनारहित, आसक्ति-रहित होकर कर्म करता है, उसमें कोई अहंभावापन्न व्यक्तिगत इच्छा नहीं होती, वासना का जनक मनोगत स्वार्थ नहीं होता। उसकी निम्नतर आत्मा उसके

---

१. ६-१

२. ६-४

वश में होती है, वह उस परा शान्ति को पहुँचा हुआ होता है जहाँ उसकी परम आत्मा उसके सामने प्रकट रहती है—वह परम आत्मा जो सदा अपनी ही सत्ता में 'समाहित' है, समाधिस्थ है ; केवल अपनी चेतना की अंतर्मुखीन अवस्था में ही नहीं, बल्कि सदा ही, मन की जाग्रत् अवस्था में भी, जब वासना और अशान्ति के कारण मौजूद हों तब भी, शीतोष्ण, सुख-दुःख तथा मानापमानादि द्वन्द्वों के प्रत्यक्ष प्रसंगों में भी, "**शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः**"[1] समाहित रहती है। यह उच्चतर आत्मा कूटस्थ अक्षर पुरुष है जो प्राकृत पुरुष के सब प्रकार के परिवर्तनों और विक्षोभों के ऊपर रहती है ; और योगी उसके साथ योगयुक्त तब कहा जाता है जब वह भी उसके समान कूटस्थ हो, जब वह सब प्रकार के बाह्य दृश्यों और परिवर्तनों के ऊपर उठ जाय, जब वह आत्मज्ञान से परितृप्त हो और जब वह सब पदार्थों, घटनाओं और व्यक्तियों के प्रति समचित्त हो जाय।

परन्तु इस योग को प्राप्त करना सुगम बात नहीं है, जैसा कि अर्जुन वास्तव में आगे चलकर सूचित करता है, क्योंकि यह चंचल मन सदा ही बाह्य पदार्थों के आक्रमणों के कारण इस उच्च अवस्था से खिंच आता और फिर से शोक, आवेश और वैषम्य के जोरदार कब्जे में जा गिरता है। इसीलिए, मालूम होता है कि, गीता में ज्ञान और कर्म की अपनी साधारण पद्धति के साथ-साथ राजयोग की विशिष्ट ध्यान-प्रक्रिया भी बतायी गयी है जो एक शक्तिशाली अभ्यास है, मन और उसकी सब वृत्तियों के पूर्ण निरोध का एक बलवान् साधन है। इस प्रक्रिया में बतलाया गया है कि, योगी आत्मा से युक्त रहने का सतत अभ्यास करे, ताकि अभ्यास करते-करते यह अवस्था उसकी साधारण चेतना बन जाय। उसे काम-क्रोधादि सब विकारों को मन से निकालकर सबसे अलग किसी एकांत स्थान में जाकर बैठ जाना होगा और अपनी समग्र सत्ता और चेतना पर आत्मवशित्व लाना होगा—"वह शुचि देश में अपना स्थिर आसन लगावे, आसन न बहुत ऊँचा हो न बहुत नीचा, वह कुशा का हो, उसपर मृग-चर्म और मृग-चर्म के ऊपर वस्त्र बिछा हो और ऐसे आसन पर बैठकर मन को एकाग्र तथा मन और इन्द्रियों की सब वृत्तियों को वश में कर आत्मविशुद्धि के लिये योगाभ्यास करे।"[2] वह ऐसा आसन जमावे कि उसका शरीर अचल और सीधा तना रहे जैसा कि राजयोग के अभ्यास में बताया गया है ; उसकी दृष्टि एकाग्र हो जाय और भ्रूमध्य में स्थिर रहे, "दिशाओं की ओर दृष्टि न जाय।"[3] मन को स्थिर और निर्भय रखे और

---

१. ६-७ २. ६-११-२

३. ६-१३

ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करे ; इस प्रकार संयत समग्र चित्तवृत्ति को भगवान् में ऐसे लगावे कि चैतन्य की निम्नतर क्रिया उच्चतर शान्ति में निमज्जित हो जाय। क्योंकि इस साधना का लक्ष्य निर्वाण की नीरव निश्चल शान्ति को प्राप्त होना है। "इस प्रकार नियत मानस होकर सतत योग में लगा हुआ योगी निर्वाण की उस परम शान्ति को प्राप्त होता है जिसकी नींव मेरे अन्दर है (**शान्ति निर्वाण-परमां मत्संस्थामधिगच्छति**)।"[1]

निर्वाण की यह परम शान्ति तब प्राप्त होती है जब चित्त पूर्णतया संयत और कामनामुक्त होकर आत्मा में स्थित रहता है, जब वह निर्वात स्थान में स्थित दीपशिखा के समान अचल होकर अपने चंचल कर्म करना बन्द कर देता है, अपनी बहिर्मुख वृत्तियों से अन्दर खिचा हुआ रहता है और जब मन के निश्चल-नीरव हो जाने के कारण अन्तर में आत्मा का दर्शन होने लगता है, मन में आत्मा का विकृत भान नहीं, बल्कि आत्मा में ही आत्मा का साक्षात्कार होता है, मन के द्वारा अयथार्थ या आंशिक रूप में नहीं, अहंकार में से प्रतिभात होनेवाले रूप में नहीं, बल्कि स्वप्रकाश रूप में। तब जीव तृप्त होता और अपने वास्तविक परम सुख को अनुभव करता है, वह अशान्त सुख नहीं जो मन और इन्द्रियों को प्राप्त है, बल्कि वह आंतरिक और प्रशान्त आनन्द जिसमें मन का कोई विक्षोभ नहीं, जिसमें स्थित होने पर पुरुष अपनी सत्ता के आध्यात्मिक सत्य से कभी च्युत नहीं होता। मानसिक दुःख का अति प्रचण्ड आक्रमण भी उसे विचलित नहीं कर सकता—क्योंकि मानसिक दुःख हमारे पास बाहर से आता है, वह बाह्य स्पर्शों की प्रतिक्रियाओं का ही फल होता है—यह उन लोगों का आंतरिक स्वतः-सिद्ध आनन्द है जो बाह्य स्पर्शों की चंचल मानसिक प्रतिक्रियाओं के दासत्व को अब और स्वीकार नहीं करते। यह दुःख के साथ संबंध विच्छेद करना है, मन का उसे तलाक देना है (**दुःखसंयोगवियोगम्**)। इसी अविच्छेद्य आध्यात्मिक आनन्द की सुदृढ़ प्राप्ति का नाम योग, अर्थात् भगवान् से ऐक्य है ; यही लाभों में सबसे बड़ा लाभ है, यह वह धन है जिसके सामने अन्य सब संपत्तियों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। इसलिए पूर्ण निश्चय के साथ, कठिनाई या विफलता जिस उत्साह हीनता को लाते हैं उसके अधीन हुए बिना, इस योग को तबतक किये जाना चाहिए जबतक मुक्ति न मिले, ब्रह्मनिर्वाण का आनन्द सदा के लिए प्राप्त न हो जाय।

यहाँ मुख्यतया भावनामय मन, काममूलक मन और इन्द्रियों के निरोध पर ही जोर है, क्योंकि ये बाह्य स्पर्शों को ग्रहण करते और हमारी अभ्यस्त भावावेगमय

---

१. ६-१५

प्रतिक्रियाओं के द्वारा उनका प्रत्युत्तर देते हैं ; परन्तु इसके साथ ही मानसिक विचार को भी स्वत:सिद्ध आत्मसत्ता की शान्ति में ले जाकर निश्चेष्ट करना होगा। पहले सब कामनाओं को, जो कामनामूलक संकल्प से उठती हैं, एकदम त्याग देना होगा और मन के द्वारा इन्द्रियों को इतना वश में करना होगा कि वे अपनी हमेशा की अव्यवस्थित और चंचल आदत के कारण चारों ओर दौड़ती न फिरें ; परन्तु इसके बाद मन को ही बुद्धि से पकड़कर अंतर्मुख करना होगा। निश्चल बुद्धि के द्वारा मानस कर्म करना धीरे-धीरे बन्द कर देना होगा और मन को आत्मा में स्थित करके किसी बारे में कुछ भी न सोचना होगा। जब-जब चंचल अस्थिर मन निकल भागे तब-तब उसका नियमन करके उसे पकड़कर आत्मा के अधीन लाना होगा। जब मन पूर्ण रूप से शान्त हो जाय तो योगी को ब्रह्मभूत आत्मा का उच्चतम, निष्कलंक, निर्विकार परमानन्द प्राप्त होता है। "इस प्रकार आवेगों और आवेशों के कलंक से छूटकर और सतत योग में लगे रहकर योगी अनायास और सुखपूर्वक ब्रह्मसंस्पर्शरूप आत्यंतिक आनन्द को प्राप्त होता है।"[१]

फिर भी, जबतक यह शरीर है तबतक इस अवस्था का फल निर्वाण नहीं है, क्योंकि निर्वाण संसार में कर्म करने की हरएक संभावना को, संसार के प्राणियों के साथ हरएक संबंध को दूर कर देता है। प्रथम दृष्टि में यही जान पड़ता है कि यह स्थिति निर्वाण ही होनी चाहिए। क्योंकि जब सब वासनाएँ और सब विकार बन्द हो गये, जब मन को विचार करने की इजाजत नहीं रही, जब इसी मौन और ऐकांतिक योग का अभ्यास ही नियम हो गया, तब कर्म करना, बाह्य संस्पर्शोंवाले इस जगत् और अनित्य संसार से किसी प्रकार का संबंध रखना संभव ही कहाँ ? नि:संदेह योगी फिर भी कुछ काल तक इस शरीर में रहेगा, पर अब तो गिरिगुहा, जंगल या पर्वत-शिखर पर ही उसके रहने की जगह होगी और सतत बाह्य चेतनाशून्य समाधि ही उसकी एकमात्र सुखस्थिति और जीवनचर्या होगी। परन्तु पहली बात तो यह है कि गीता यह नहीं कहती कि इस ऐकांतिक योग का अभ्यास करते हुए अन्य सब कर्मों का त्याग कर देना होगा। गीता कहती है कि यह योग उस मनुष्य के लिए नहीं है जो आहार, विहार, निद्रा और कर्म छोड़ दे, न उसके लिए है जो इन सब चीजों में बेहद रमा करे ; बल्कि निद्रा, जागरण, आहार, विहार और कर्म-प्रयास सब 'युक्त' होना चाहिये। प्राय: इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि यह सब परिमित, नियमित और उपयुक्त मात्रा में होना चाहिए, इसका यह आशय हो भी सकता है। परन्तु जो भी हो,

१. ६-२८

जब योग प्राप्त हो चुका हो तब इन सबको एक दूसरे ही अर्थ में 'युक्त' होना चाहिए, उस अर्थ में जो इस शब्द का साधारण अर्थ है और जिस अर्थ में यह शब्द गीता के अन्य सब स्थानों में व्यवहृत हुआ है। खाते-पीते, सोते-जागते और कर्म करते, अर्थात् सब अवस्थाओं में योगी तब भगवान् के साथ 'युक्त' रहेगा और वह जो कुछ करेगा, भगवान् को ही अपनी आत्मा और 'सर्वमिदं' तथा अपने जीवन और कर्म का आश्रय तथा आधार जानकर करेगा। वासना-कामना, अहंकार, व्यक्तिगत संकल्प और मन के विचार केवल निम्न प्रकृति में ही कर्म के प्रेरक होते हैं; परन्तु जब अहंकार नष्ट हो जाता है और योगी ब्रह्म हो जाता है, जब वह परात्पर चैतन्य और विश्व-चैतन्य में ही रहता और स्वयं वही बन जाता है, तब कर्म उसी में से स्वतः निकलता है, उसी में से वह ज्योतिर्मय ज्ञान निकलता है, जो मन के विचार से ऊपर की चीज है, उसी में से वह शक्ति निकलती है, जो व्यक्तिगत संकल्प से विलक्षण और बहुत अधिक बलवती है और जो उसके लिये कर्म करती और उसके फल को लाती है; फिर व्यक्तिगत कर्म नहीं रह जाता, सब कर्म ब्रह्म में ले लिया जाता और भगवान् के द्वारा धारण किया जाता है (**मयि संन्यस्य कर्माणि**)।

कारण इस आत्म-साक्षात्कार और पृथक्कारी अहंभावापन्न मन और उसके विचार, अनुभव और कर्म के प्रेरक भाव का ब्राह्मी चेतना में निर्वाण करने से योग का जो फल[1] प्राप्त होता है, उसका जो वर्णन गीता ने किया है उसमें विश्व-चैतन्य का समावेश है, यद्यपि यहाँ उसे एक नवीन ज्ञानालोक में उठा लिया गया है। "जिस पुरुष की आत्मा योगयुक्त है वह आत्मा को सब भूतों में देखता और सब भूतों को आत्मा में देखता है, वह सर्वत्र समदर्शी होता है।"[2] वह जो कुछ देखता है वह उसके लिये आत्मा है, सब कुछ उसकी आत्मा है, सब भगवान् है। परन्तु यदि वह क्षर की क्षरता में रहे तो क्या यह खतरा नहीं है कि वह इस कठिन योग के समस्त फलों को खो दे, आत्मा को खो दे और फिर से मन के अन्दर जा गिरे, भगवान् उसको खो दें और वह जगत् का हो जाय, वह भगवान् को खो दे और उनकी जगह फिर से अहंकार को तथा निम्न प्रकृति को पावे? गीता उत्तर देती है कि नहीं, "जो मुझे सर्वत्र देखता है और सब कुछ मेरे अन्दर देखता है वह मेरे लिये नहीं खोता और न मैं उसके लिए खो जाता हूँ।"[3] क्योंकि निर्वाण की यह परम शान्ति यद्यपि अक्षर से प्राप्त होती है, पर है पुरुषोत्तम की सत्ता

१. योगक्षेमं वहाम्यहम्।

२. ६-२९

३. ६-३०

पर ही प्रतिष्ठित (**मत्संस्थानि**) और यह सत्ता व्यापक है ; भगवान्, ब्रह्म, प्राणियों के इस जगत् में भी परिव्याप्त हैं और यद्यपि वे इस जगत् के अतीत हैं, किन्तु वे अपनी अतीतावस्था से बँधे नहीं हैं। मनुष्य को सब कुछ भगवद्रूप देखना होगा और इसी साक्षात्कार में निवास करना होगा और इसी भाव के साथ कर्म करना होगा ; यही योग का परम फल है।

पर कर्म क्यों करें ? क्या यह अधिक निरापद नहीं है कि हम स्वयं एकान्त में बैठकर इच्छा हो तो जगत् की ओर एक निगाह देख लें, उसे ब्रह्म में, भगवान् में देखें पर उसमें कोई भाग न लें, उसमें चलें-फिरें नहीं, उसमें रहें नहीं, उसमें कर्म न करें और साधारणतया अपनी आंतरिक समाधि में ही रहें ? इस उच्चतम आध्यात्मिक अवस्था का क्या यही धर्म, यही विधान, यही नियम नहीं होना चाहिए ? गीता फिर कहती है कि नहीं, मुक्त योगी के लिए एकमात्र धर्म, एकमात्र विधान, एकमात्र नियम तो बस यही है कि वह भगवान् में रहे, भगवान् से प्रेम करे और सब प्राणियों के साथ एक हो जाय ; उसका जो स्वातंत्र्य है वह निरपेक्ष है, किसी दूसरे पर आश्रित नहीं, वह स्वतःसिद्ध है, किसी आचार, धर्म या मर्यादा से बँधा नहीं। योग की किसी साधना से अब उसका प्रयोजन नहीं, क्योंकि अब वह सतत योग में प्रतिष्ठित है। भगवान् कहते हैं, "जो योगी एकत्व में स्थित है और सब भूतों में मुझको भजता है, वह चाहे जैसे और सब प्रकार से रहता और कर्म करता हुआ भी मुझमें ही रहता और कर्म करता है।"[१] संसार-प्रेम तब आध्यात्मिक प्रेम में परिवर्तित होकर इन्द्रियानुभव से आत्मानुभव हो जाता है और वह ईश्वर-प्रेम की नींव पर प्रतिष्ठित रहता है और तब उस प्रेम में कोई भय, कोई दोष नहीं होता। निम्न प्रकृति से पीछे हटने के लिए संसार से भय और जुगुप्सा प्रायः आवश्यक हो सकते हैं, क्योंकि वास्तव में यह हमारा अपने अहंकार से भीत और जुगुप्सित होना है और अपनेको जगत् में प्रतिबिंबित करना है। परन्तु ईश्वर को जगत् में देखना निर्भय होना है, यह सब कुछ का ईश्वर की सत्ता में आलिंगन करना है ; सब कुछ भगवद्रूप में देखने का अर्थ है किसी पदार्थ को नापसन्द न करना या किसी से भी घृणा न करना, बल्कि जगत् में भगवान् से और भगवान् में जगत् से प्रेम करना।

परन्तु कम-से-कम निम्न प्रकृति के उन विषयों का तो परिहार करना और उनसे डरना ही होगा जिनसे ऊपर उठने के लिए योगी ने इतनी कड़ी साधना की थी ? नहीं, यह भी नहीं ; आत्मदर्शन की समता में सब कुछ का आलिंगन किया जाता है। भगवान् कहते हैं, "हे अर्जुन, जो कोई सब कुछ को आत्मा की

---

१. ६-३१

तरह समभाव से देखता है चाहे वह दुःख हो या सुख, उसे मैं परम योगी मानता हूँ।"[1] और, इससे यह अभिप्रेत नहीं है कि स्वयं योगी, दूसरों के दुःख में ही क्यों न हो, अपने दुःखरहित आत्मानन्द से गिर जायगा और फिर से सांसारिक दुःख अनुभव करेगा, बल्कि यह कि दूसरों में उन द्वन्द्वों के खेल को देखकर, जिन्हें छोड़कर वह स्वयं ऊपर उठ चुका है, वह सब कुछ आत्मवत् और सबमें अपनी आत्मा को, सबमें ईश्वर को देखेगा और इन चीजों के बाह्य रूपों में क्षुब्ध या मुग्ध न होकर केवल करुणा से उनकी मदद करने, उनका दुःख दूर करने, सब प्राणियों के कल्याण में अपने-आपको लगाने में, लोगों को आध्यात्मिक आनन्द की ओर ले जाने में, जगत् को भगवान् की ओर अग्रसर करने के काम में प्रवृत्त होकर जितने दिन उसे इस जगत् में रहना है उतने दिन अपने जीवन को दिव्य जीवन बनाकर रहेगा। जो भगवत्प्रेमी ऐसा कर सकता है, इस प्रकार सब कुछ का भगवान् के अन्दर आलिंगन कर सकता है, निम्न प्रकृति और त्रिगुणात्मिका माया के सब कर्मों की ओर स्थिर होकर देख सकता और बिना क्षुब्ध हुए तथा आध्यात्मिक ऐक्य की ऊँचाई से मुग्ध या च्युत हुए बिना, भगवान् की अपनी दृष्टि की विशालता में स्वतंत्र भाव से रहते हुए, भागवत प्रकृति की शक्ति से मधुर, महान् और प्रकाशमय होकर उन कर्मों के अन्दर और उन कर्मों पर क्रिया कर सकता है, उसको निःसंकोच परम योगी कहा जा सकता है। यथार्थ में उसीने सृष्टि को जीता है (**जितः सर्गः**)।

गीता ने जैसे सर्वत्र वैसे ही यहाँ भी भक्ति को योग की पराकाष्ठा कहा है, "**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।**"[2] गीता की शिक्षा का यही संपूर्ण सार-सर्वस्व कहा जा सकता है—जो सबमें स्थित भगवान् से प्रेम करता है और जिसकी आत्मा भगवदैक्यभाव में प्रतिष्ठित है, वह चाहे कैसे भी रहता और कर्म करता हो, भगवान् में ही रहता और कर्म करता है। और, जब अर्जुन ने प्रश्न किया कि ऐसा कठिन काम, योग, मनुष्य के चंचल मन के लिए कैसे संभव हो सकता है तब भगवान् गुरु उसी बात पर विशेष जोर देने के लिए उसीका प्रसंग फिर से चलाते हैं और अंत में यही कहते हैं, "योगी तपस्वी से श्रेष्ठ है, ज्ञानी से श्रेष्ठ है, कर्मी से श्रेष्ठ है; इसलिए हे अर्जुन, तू योगी बन।"[3] योगी वह है जो कर्म से, ज्ञान से, तप से अथवा चाहे जिस तरह से हो केवल आत्मज्ञान के लिए आत्मज्ञान, केवल शक्ति के लिये शक्ति या केवल किसी चीज के लिए कोई चीज नहीं चाहता, बल्कि केवल भगवान् के साथ ऐक्य ही ढूँढ़ता और पाता है; उसी

---

१. ६-३२
२. ६-३१
३. ६-४६

ऐक्य में सब कुछ आ जाता है तथा सब कुछ अपने रूप से ऊपर उठकर परम भागवत अर्थ को प्राप्त हो जाता है। परन्तु योगियों में भी भक्त ही सबसे श्रेष्ठ होता है। "सब योगियों में वह योगी जो अपनी अंतरात्मा को मुझे सौंप देता और श्रद्धा तथा प्रीति से मेरा भजन करता है, उसे मैं अपने साथ योग में सबसे अधिक युक्त समझता हूँ।"[१] गीता के प्रथम षट्क का यही अंतिम वचन है और इसीमें बाकी जो कुछ अभी नहीं कहा गया है और जो कहीं भी पूर्णतया नहीं कहा गया है उसका बीज मौजूद है। वह सदा कुछ-कुछ रहस्यमय और गुह्य ही रहता है—परम आध्यात्मिक रहस्य, भागवत रहस्य।

१. ६-४७

कर्मयोग का सारतत्व

गीता के प्रथम छः अध्याय एक प्रकार से गीता की शिक्षा का प्रारम्भिक खण्ड है। बाकी बारह अध्यायों में इस प्रथम षटक् में जो संकेत रूप से, अधूरे तौर पर कहा गया है उसीको विशद् किया गया है, ये संकेत अपने-आपमें इतने अधिक महत्त्वपूर्ण हैं कि इनका खुलासा बाकी के दो षटकों में करना पड़ा है। गीता यदि एक ऐसा लिखित शास्त्र होती जिसे संपूर्ण करना आवश्यक होता, यदि यह ग्रंथ वास्तव में किसी शिष्य को दिया हुआ किसी ऐहिक गुरु का उपदेश होता, जिस उपदेश को, शिष्य जब आगे के सत्य को ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाय तब, यथासमय फिर से आरंभ किया जा सकता, तो यह धारणा बाँधी जा सकती थी कि इस छठे अध्याय के अंत में गुरु रुक जाते और शिष्य से कहते, "पहले इसे अपने आचरण में ले आ, यहाँतक जो कुछ कहा गया है उसे अनुभव करने के लिए तुझे अभी बहुत कुछ करना है और तुझे इसके लिए अत्यंत विशाल आधार-क्षेत्र दे दिया गया है, आगे जैसे-जैसे कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी वे आप ही हल होती जायेंगी या मैं उन्हें तेरे लिए हल कर दूँगा। अभी-अभी तो मैंने जो कुछ कहा है इसीको अपने जीवन में ले आ; इसी भाव में स्थित होकर कर्म कर।" वास्तव में इसमें बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिन्हें आगे चलकर डाले गए प्रकाश की सहायता के बिना ठीक तरह नहीं समझा जा सकता। प्रथम षटक् में ही उपस्थित होनेवाली कुछ शंकाओं का समाधान करने के लिए तथा सम्भावित भ्रमों को दूर करने के लिए, स्वयं मुझे भी बहुत-सी बातें पहले ही कह देनी पड़ी हैं, उदाहरणार्थ, पुरुषोत्तम-तत्व की भावना को पहले ही बार-बार कहना पड़ा है, क्योंकि इसके बिना आत्मा और कर्म और कर्म के अधीश्वर भगवान् के बारे में जो कुछ अस्पष्टता है वह दूर नहीं हो सकती। गीता ने इन बातों को जान-बूझकर ही प्रथम षटक् में विशद् इसलिए नहीं किया है कि जो बातें मानव-शिष्य की वर्तमान बुद्धि के लिए बहुत बड़ी हैं उन्हें उसकी अपरिपक्व दशा में पहले ही कह देना उसकी प्राथमिक साधना की दृढ़ता को विचलित कर सकता है।

गुरु यदि अपना उपदेश यहीं समाप्त कर देते तो स्वयं अर्जुन यह आपत्ति

कर सकता था कि "आपने कामना और आसक्ति का नाश, समत्व, इन्द्रियों का दमन और मन का शमन, निष्काम निरहंकार कर्म, कर्मों का यज्ञ-रूप से उत्सर्ग, बाह्य संन्यास से आंतर संन्यास का श्रेष्ठत्व, इन सबके बारे में बहुत कुछ कहा, मैं इन सब बातों को विचार से तो समझता हूँ, चाहे इन्हें आचरण में लाना कितना ही कठिन मालूम होता हो ; परन्तु आपने कर्म करते हुए गुणों से ऊपर उठने की बात भी कही है, और यह नहीं बताया कि गुण कैसे कार्य करते हैं, और जबतक मैं यह न जान लूँ, तबतक गुणों का पता लगाना और उनसे ऊपर उठना मेरे लिए कठिन होगा। इसके अतिरिक्त आपने यह भी कहा है कि योग का सबसे प्रधान अंग भक्ति है, फिर भी आपने कर्म और ज्ञान के बारे में तो बहुत कुछ कहा है, पर भक्ति के बारे में प्रायः कुछ भी नहीं कहा। और, फिर यह भक्ति, जो सबसे बड़ी चीज है, किसे अर्पण की जायगी ? अवश्य ही शान्त निर्गुण ब्रह्म को नहीं, बल्कि आपको, ईश्वर को। इसलिए अब आप मुझे यह बताइए कि आप क्या हैं, कौन हैं, क्योंकि जैसे भक्ति आत्मज्ञान से भी बड़ी चीज है वैसे ही आप उस अक्षर ब्रह्म से बड़े हैं जो क्षर प्रकृति और कर्ममय संसार से उसी तरह बड़ा है जैसे ज्ञान कर्म से बड़ा है। इन तीनों वस्तुओं में परस्पर क्या संबंध है ? 'कर्म, ज्ञान और भगवद्भक्ति में परस्पर क्या संबंध है ? प्रकृतिस्थ पुरुष, अक्षर पुरुष और वह जो सबका अव्यय आत्मा होने के साथ-साथ समस्त ज्ञान, भक्ति और कर्म का प्रभु, परमेश्वर है, जो यहाँ इस महायुद्ध और भीषण रक्तपात में मेरे साथ है, इस घोर भयानक कर्म के रथ में मेरा सारथी है इन तीनों में परस्पर क्या संबंध है?" इन्हीं प्रश्नोंका उत्तर देने के लिए गीता के शेष अध्याय लिखे गए हैं और विचार द्वारा पूर्ण मीमांसा प्रस्तुत करते समय इनका विचार और समाधान तुरत करना जरूरी है। वास्तविक साधन क्षेत्र में क्रमशः आगे बढ़ना होता है और बहुत-सी बातों को, यहाँतक कि बड़ी-से-बड़ी बातों को भी समय आने पर अपने-आप उठने और आध्यात्मिक अनुभव से आप ही सुलझने के लिए छोड़ रखना पड़ता है। एक हद तक गीता ने अनुभव की इस वर्तुल गति का अनुसरण किया है और पहले कर्म और ज्ञान की एक विशाल प्राथमिक भित्ति का निर्माण कर उसमें एक ऐसी चीज रख दी है जो भक्ति तक और महत्तर ज्ञान की ओर ले जाती है, पर अभी वहाँतक पहुँची नहीं है। प्रथम छः अध्याय हमें इसी भित्ति पर ला छोड़ते हैं।

अब हम जरा रुककर इस बात पर विचार करें कि जिस मूल प्रश्न को लेकर गीता का उपक्रम हुआ, उसका समाधान इन अध्यायों में कहाँतक हुआ है। यहाँ फिर यह कह देना अच्छा रहेगा कि स्वयं उस प्रश्न में कोई ऐसी बात नहीं थी जिसके लिए संपूर्ण विश्व के स्वरूप का और सामान्य जीवन के स्थान पर आध्यात्मिक

जीवन की प्रतिष्ठा का विचार आवश्यक होता। उपस्थित प्रश्न का विचार व्यावहारिक या नैतिक रूप से या बौद्धिक दृष्टि से अथवा आदर्शवाद की दृष्टि से या इन सब दृष्टियों से एक साथ ही किया जा सकता था ; और यह वस्तुतः कठिनाई को हल करने की आधुनिक पद्धति होती। यहाँ यह अपने-आपमें सबसे पहले यही सवाल उपस्थित करता है कि अर्जुन किस विधान के द्वारा अपने कर्तव्याकर्तव्य का निर्द्धारण करे? क्या वह इस नैतिक भावना के अनुसार चले और समझे कि जन-संहार तो पाप है अथवा सार्वजनिक और सामाजिक कर्तव्य की वैसी ही नैतिक भावना के अनुसार चले और न्याय की रक्षा करे जैसा कि सभी महान् स्वभाववाले मनुष्यों से उनकी विवेक-बुद्धि आशा रखती है, अर्थात् अन्याय और अत्याचार का पक्ष लेनेवाली सशस्त्र शक्तियों का विरोध करे? यही प्रश्न इस समय, इस घड़ी हमारे सामने भी उठा है और इसका समाधान हम अनेकानेक प्रकार से कर सकते हैं, और कर ही रहे हैं, किन्तु ये सब समाधान हमारे साधारण जीवन और हमारे साधारण मानव मन के दृष्टि-बिन्दु से ही होंगे। समाधान करते समय प्रश्न का यह रूप हो सकता है कि क्या यह विवेक-बुद्धि और समाज तथा राज्य के प्रति अपने कर्तव्य के बीच, किसी आदर्श तथा व्यावहारिक नीति के बीच चुनाव का प्रश्न है ; क्या हम आत्मबल पर विश्वास करें या इस कड़वी बात को मानें कि जीवन अभी संपूर्ण आत्मरूप नहीं हुआ है और न्याय का पक्ष लेकर भौतिक संघर्ष में अस्त्र धारण करना कभी-कभी अनिवार्य हो जाता है? जो भी हो, ये सब समाधान अपनी-अपनी बुद्धि, स्वभाव और हृदय के अनुरूप होंगे। ये हमारे वैयक्तिक दृष्टिकोण पर निर्भर होंगे और इनका अधिक-से-अधिक यही लाभ होगा कि हम अपने ही तरीके से अपने सामने आयी हुई कठिनाई का मुकाबला करें, अपने ही तरीके से इसलिए कि ये हमारे स्वभाव के तथा हमारे नैतिक और बौद्धिक विकास की अवस्था के, हमें जो प्रकाश अभी प्राप्त है उससे हम अच्छे-से-अच्छे रूप में जो कुछ देख सकते और कर सकते हैं उसके अनुरूप होंगे ; पर इससे अन्तिम समाधान नहीं होगा। इसका कारण यह है कि यह सब हमारे साधारण मन का ही समाधान होगा, उस मन का जो हमारी सत्ता की विविध वृत्तियों का गोरखधंधा है और जो इन विविध वृत्तियों में से किसी-किसी को चुन लेता या उन सबको मिला-जुलाकर अपना काम चला भर लेता है ; यह हमारी युक्ति, हमारी नैतिक सत्ता, हमारी सक्रिय प्रकृति की आवश्यकताओं, हमारी सहज प्राणवृत्तियों, हमारी भावावेगमय सत्ता और उन विरली वृत्तियों में भी, जिन्हें हम अंतरात्मा की सहज-स्फुरणा या हृत्पुरुष की अभिरुचि कह सकते हैं, कामचलाऊ मेल बैठा सकता है। गीता की यह मान्यता है कि इस तरह से

कोई परम निरपेक्ष समाधान नहीं, बल्कि तात्कालिक, व्यावहारिक समाधान ही हो सकता है। अर्जुन के सामने उस काल के उच्चतम आदर्श के अनुसार ऐसा ही एक व्यावहारिक समाधान पेश किया गया, पर उसकी चित्त-वृत्ति उसे स्वीकार करने के अनुकूल नहीं थी और वास्तव में भगवान् भी नहीं चाहते थे कि वह उसे स्वीकार कर ले। अतः गीता इस प्रश्न का समाधान बिलकुल दूसरे ही दृष्टिकोण से करती है और इसका बिलकुल दूसरा ही हल निकालती है।

गीता का समाधान यही है कि अपनी प्राकृत सत्ता और साधारण मनोभाव से ऊपर, अपने बौद्धिक और नैतिक भ्रमजालों के ऊपर उस चिद्भाव में उठो जहाँ का जीवन-विधान कुछ और ही है और इसलिए वहाँ कर्म का विचार भी एक और ही दृष्टि से किया जाता है ; वहाँ कर्म के चालक वैयक्तिक कामना और भावावेग नहीं होते ; द्वन्द्व दूर हो जाते हैं ; कर्म हमारे अपने नहीं रह जाते ; और इसलिए हम वैयक्तिक पाप और पुण्य को अतिक्रम कर जाते हैं। वहाँ विराट् नैर्व्यक्तिक भागवत सत्ता हमारे द्वारा जगत् में अपने हेतु को क्रियान्वित करती है ; हम स्वयं एक दिव्य नवजन्म के द्वारा उसी सत् के सत्, उसी चित् के चित्, उसी आनन्द के आनन्द हो जाते हैं और तब हम अपनी इस निम्न प्रकृति में नहीं रहते, हमारे लिए कोई अपना कर्म नहीं रहता, कोई अपना वैयक्तिक हेतु नहीं रह जाता और यदि हम कर्म करते ही हैं—और यही तो एकमात्र वास्तविक समस्या और कठिनाई रह जाती है—तो वह केवल भागवत कर्म होता है जिसमें बाह्य प्रकृति कर्म का कारण या प्रेरक नहीं, केवल एक अबाध शान्त उपकरण मात्र होती है, क्योंकि प्रेरक-शक्ति तो हमारे कर्मों के अधीश्वर की इच्छा में हमारे ऊपर रहती है। गीता ने इसीको सच्चे समाधान के रूप में सामने रखा है, क्योंकि यह हमें सत्ता के वास्तविक सत्य में ले जाता है और अपनी सत्ता के वास्तविक सत्य के अनुसार जीना ही स्पष्टतया जीवन के प्रश्नों का संपूर्णतः सर्वोत्कृष्ट और एकमात्र सत्य समाधान है। हमारा मनोमय और प्राणमय व्यक्तित्व हमारे प्राकृत जीवन का सत्य है, पर यह सत्य अज्ञानगत सत्य है और जो कुछ उससे संबद्ध है वह उसी कोटि का सत्य है जो अज्ञानगत कर्मों के लिए व्यवहारतः मान्य है, पर जब हम अपनी सत्ता के यथार्थ सत्य में लौट आते हैं तब यह सत्य मान्य नहीं रहता। परन्तु हमें इस बात का पूर्ण निश्चय कैसे हो कि यही सत्य है ? पूर्ण निश्चय तबतक नहीं हो सकता जबतक हम अपने मन के सामान्य अनुभवों से ही संतुष्ट हैं ; कारण हमारे सामान्य मानस अनुभव सर्वथा निम्न प्रकृति के हैं जो अज्ञान से भरी पड़ी है। हम उस महत् सत्य को उसमें निवास करके अर्थात् योग के द्वारा मन-बुद्धि को पार करके आध्यात्मिक अनुभव में पहुँचने पर ही जान

सकते हैं। कारण, आध्यात्मिक अनुभूति के बाह्य में तबतक निवास करना जबतक कि हम मानसभाव से छूटकर आत्मभाव में प्रतिष्ठित न हो जायँ, जबतक अपनी वर्तमान प्रकृति के दोषों से मुक्त होकर अपनी यथार्थ और भागवत सत्ता में पूर्ण रूप से रहने न लग जायँ, वह अंतिम भाव है जिसे हम योग कहते हैं।

हमारी सत्ता के केन्द्र का इस तरह ऊर्ध्व में उठना और परिणामतः संपूर्ण जीवन तथा चेतना का रूपान्तरित होना और फल-स्वरूप कर्म के बाह्य रूपोंके बहुधा वैसे ही बने रहने पर भी उसके सारे आंतरिक भाव और हेतु का परिवर्तित हो जाना ही गीता के कर्मयोग का सारतत्व है। अपनी सत्ता को रूपान्तरित करो, आत्मस्वरूप में नया जन्म लो और उस नवीन जन्म से उस कर्म में लगो जिसके लिए तुम्हारी अंतःस्थित आत्मा ने तुम्हें नियुक्त किया है, यही गीता के संदेश का मर्म कहा जा सकता है। अथवा दूसरी तरह से, अधिक गंभीर और अधिक आध्यात्मिक आशय के साथ यों कहें कि, जो कर्म तुम्हें यहाँ करना पड़ता है उसे अपने आन्तर आध्यात्मिक नवजन्म का साधन बना लो, अपने दिव्य जन्म का साधन बना लो, और फिर दिव्य होकर, भगवान् के उपकरण बनकर लोकसंग्रह के लिए दिव्य कर्म करो। यहाँ दो बातें हैं जिन्हें स्पष्ट रूप से सामने रखना और समझना होगा, एक है इस परिवर्तन का मार्ग, अपनी सत्ता के केन्द्र को ऊर्ध्व में उठा ले जाने का मार्ग, यह दिव्य जन्म-ग्रहण, और दूसरी बात है कर्म के बाह्य रूप का कोई महत्व नहीं और उसे बदलना जरूरी नहीं, यद्यपि उसके हेतु और परिधि बिलकुल बदल जायेंगे। परन्तु ये दोनों बातें कार्यतः एक ही हैं, क्योंकि एक को समझने से दूसरी समझ में आ ही जाती है। हमारे कर्म के भाव का उदय हमारी सत्ता के स्वभाव तथा उसकी आंतरिक प्रतिष्ठा से होता है; परन्तु स्वयं यह स्वभाव भी हमारे कर्म की धारा और उसके आध्यात्मिक प्रभाव से प्रभावित होता है; कर्म के भाव में बहुत बड़ा परिवर्तन हमारी सत्ता के स्वभाव में और उसकी आंतरिक प्रतिष्ठा में परिवर्तन लाता है; यह सचेतन शक्ति के उस केन्द्र को बदल देता है जिससे हम कर्म करते हैं। यदि जीवन और कर्म केवल मिथ्या-माया होते, जैसा कि कुछ लोग कहा करते हैं, यदि आत्मा का कर्म या जीवन के साथ कोई सरोकार न होता तो यह बात न होती; पर हमारे अन्दर जो देही जीव है वह जीवन और कर्मों से अपने-आपको विकसित किया करता है और स्वयं कर्म तो उतना नहीं, पर जीव की कर्म करने की अंतःशक्ति की क्रिया का रूप ही उसकी आत्मसत्ता के साथ उसका संबंध निर्द्धारित किया करता है। यही आत्मज्ञान के व्यावहारिक साधन-स्वरूप कर्मयोग की सार्थकता है।

हम इस आधार को मानकर चलते हैं कि मनुष्य का वर्तमान आंतर जीवन जो

लगभग पूरी तरह उसकी प्राण-प्रकृति और शरीर-प्रकृति पर निर्भर है और मानसी शक्ति की मर्यादित क्रीड़ा के सहारे कुछ ही ऊपर उठा रहता है, उसका संपूर्ण संभाव्य जीवन नहीं है, न यह उसके वर्तमान वास्तविक जीवन का ही सब कुछ है। उसके अन्दर एक आत्मा छिपी हुई है और उसकी वर्तमान प्रकृति या तो उस आत्मा का केवल बाह्य रूप है या उसकी कर्म-शक्ति का एक आंशिक फल। गीता में सर्वत्र इस कर्म-शक्ति की वास्तविकता की बात स्वीकृत है, कहीं भी ऐसा नहीं मालूम होता कि उसने चरमपंथी वेदांतियों का यह कठोर मत स्वीकार किया हो कि यह सत्ता केवल प्रातिभासिक है, यह मत तो सारे कर्म और क्रिया-शक्ति की जड़ पर ही कुठाराघात करता है। गीता ने अपनी दार्शनिक विवेचना में इस पहलू को जिस रूप में सामने रखा है (यह दूसरे रूप में भी रखा जा सकता था) वह यही है कि उसने सांख्यों का प्रकृति-पुरुषभेद मान लिया है—पुरुष अर्थात् वह ज्ञान-शक्ति जो जानती, धारण करती और पदार्थ मात्र को अनुप्राणित करती है और प्रकृति अर्थात् वह क्रिया-शक्ति जो कर्म करती और नानाविध उपकरणों, माध्यमों और प्रक्रियाओं को जुटाती रहती है। फर्क इतना ही है कि गीता ने सांख्यों के मुक्त अक्षर पुरुष को ग्रहण तो किया है, किन्तु उसे वेदान्त की भाषा में 'एक' अक्षर सर्वव्यापक आत्मा या ब्रह्म कहा है, और दूसरे प्रकृतिबद्ध पुरुष से उसका पार्थक्य दिखाया है। यह प्रकृतिबद्ध पुरुष ही हमारा क्षर कर्मशील पुरुष है, यही बहुपुरुष है जो समस्त वस्तुओं में है और जो विभिन्नता और व्यक्तित्व का आधार है। परन्तु तब प्रकृति का कर्म क्या है?

यह प्रक्रिया-शक्ति है, इसीका नाम प्रकृति है और यह तीनों गुणों की एक-दूसरेपर क्रिया-रूप क्रीड़ा है। और, माध्यम क्या है? यह प्रकृति के उपकरणों के क्रम-विकास से सृष्ट जीवन की जटिल प्रणाली है और जैसे-जैसे ये उपकरण प्रकृति की क्रिया में जीव की अनुभूति के अन्दर प्रतिभासित होते हैं वैसे-वैसे हम इन्हें यथाक्रम बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ और पंचमहाभूत कह सकते हैं, और ये पंचमहाभूत ही प्रकृति के रूपों के आधार हैं। ये सब यांत्रिक हैं, ये प्रकृति का एक ऐसा यंत्र हैं जिसके अनेकों कल-पुर्जे हैं और आधुनिक दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि ये सब-के-सब जड़ प्राकृतिक शक्ति में समाए हुए हैं और प्रकृतिस्थ जीव जैसे-जैसे प्रत्येक यंत्र के ऊर्ध्वगामी विकास के द्वारा अपने-आपको जानता है वैसे-वैसे ये प्रकृति में प्रकट होते हैं, किन्तु जिस क्रम से हम इन्हें ऊपर गिना आये हैं, उससे इनके प्रकटीकरण का क्रम उलटा होता है, अर्थात् पहले जड़ सृष्टि प्रकट होती है, तब इन्द्रिय-समूह, उसके बाद क्रम से मन और बुद्धि और अंत में आत्म-चैतन्य। बुद्धि जो पहले प्रकृति के कार्यों में ही लगी रहती है, पीछे इन कार्यों के

यथार्थ स्वरूप को जान सकती है, यह देख सकती है कि यह केवल त्रिगुण का खेल है जिसमें जीव फँसा हुआ है, वह जीव को तथा त्रिगुण के इन कार्यों को अलग-अलग देख सकती है ; और ऐसा होने पर जीव को यह मौका मिलता है कि वह इस बंधन से अपने-आपको छुड़ा ले और अपने मूल मुक्त स्वरूप और अक्षर सत्ता में लौट आये। तब वेदान्त की परिभाषा में जीव आत्मा को, सत्ता को देखता है ; प्रकृति के उपकरणों और कार्यों से, उसके भूतभाव से अपना तादात्म्य बन्द कर देता है ; अपनी सदात्मा के साथ, अपने सत्स्वरूप के साथ तदात्म होता और अपनी स्वत: सिद्ध अक्षर आत्मसत्ता को फिर से पा लेता है। गीता के अनुसार इसी आत्मस्थिति से वह मुक्त भाव से तथा अपनी सत्ता के ईश्वररूप से अपने भूतभाव के कर्म का आश्रय बन सकता है।

केवल उन मनोवैज्ञानिक तत्वों को देखते हुए, जिनपर ये दार्शनिक प्रभेद प्रतिष्ठित हैं—और दर्शनशास्त्र उस शास्त्र को कहते हैं जो जीवन के मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक तथ्यों के तथा परम सद्वस्तु के साथ इनका क्या संबंध है इसके सारमर्म को हमें बौद्धिक रूप में दिखा देता है—हम यह कह सकते हैं कि हम दो तरह के जीवन बिता सकते हैं, एक है अपनी सक्रिय प्रकृति के कार्यों में लीन जीव का जीवन, जिसमें जीव अपने आंतरिक और बाह्य उपकरणों के साथ तदाकार, उनसे परिच्छिन्न, अपने व्यक्तित्व से बँधा, प्रकृति के अधीन होता है ; और दूसरा है आत्मा का जीवन जो इन सब चीजों से श्रेष्ठ, विशाल, नैर्व्यक्तिक, विश्व-व्यापी, मुक्त, अपरिच्छिन्न, अतिवर्ती है और अपने असीम समत्व से अपनी प्राकृत सत्ता और कर्म को धारण करता पर अपनी मुक्त स्थिति और अनन्त सत्ता से इनके परे रहता है। हम चाहें तो अपनी वर्तमान प्राकृत सत्ता में या अपनी महत्तर आत्मसत्ता में रह सकते हैं। यही वह पहला महान् प्रभेद है जिसपर गीता का कर्मयोग प्रतिष्ठित है।

इसलिए अब सारा प्रश्न और उपाय यही है कि अंतरात्मा को अपनी वर्तमान प्राकृत सत्ता की परिच्छिन्नताओं से मुक्त किया जाय। हमारे प्राकृत जीवन में सर्वप्रधान बात है हमारा जड़ प्रकृति के रूपों में, पदार्थों के बाह्य स्पर्शों के अधीन होना। ये रूप, ये स्पर्श इन्द्रियों के द्वारा हमारे प्राण के सामने आते हैं और प्राण तुरत इन्द्रियों के द्वारा इन्हें पकड़ने के लिए दौड़ पड़ता और इनसे संबंध जोड़ता है, इनकी कामना करता, इनसे आसक्त होता और फलकी इच्छा करता है। मनमें होनेवाली सब सुखदु:ख-वेदनाएँ, उसकी सब प्रतिक्रियाएँ और तरंगें, उसके ग्रहण, चिंतन और अनुभव के अभ्यस्त तरीके सभी इन्द्रियों के कर्म का ही अनुगमन करते हैं ; बुद्धि भी मन के प्रवाह में आकर अपने-आपको इन्द्रियों के इस जीवन

को सौंप देती है, जिस जीवन में आंतर सत्ता वस्तुओं के बाह्य रूपों में ही फंसी रहती है और एक क्षणके लिए भी उनसे ऊपर नहीं उठ सकती, वह हमारे ऊपर होनेवाले अपने कर्म के घेरे से अथवा हमारे अन्दर होनेवाले उसके मानस-परिणामों और प्रतिक्रियाओं के चक्कर से बाहर नहीं निकल सकती। इसका कारण है अहंकार, प्रकृति का वह तत्त्व जिससे बुद्धि हमारे मन, इच्छा, इन्द्रियसमूह और शरीर पर होनेवाले प्रकृति के संपूर्ण कार्य को अन्यान्य मनों, इच्छाओं और शरीरों पर होनेवाले कार्यों से पृथक् बोध करती है; और हमारे लिए हमारा जीवन उतना-सा ही रह जाता है जितना हमारे अहंकार पर प्रकृति का असर पड़ता और हमारा अहंकार उसके स्पर्शों का प्रत्युत्तर देता है, इसके सिवाय हम और कुछ नहीं जानते, हमें लगता है कि हम और कुछ हैं ही नहीं। और ऐसा लगता है मानों आत्मा भी मन, इच्छा, भावावेगमय और स्नायवीय प्रतिग्रह और प्रतिक्रिया का ही कोई पृथक् स्तूप है। हम अपने अहंकार को विशाल बना सकते हैं, अपने-आपको कुल, जाति, वर्ग, देश, राष्ट्र, मनुष्यजाति तक के साथ एक कर सकते हैं; परन्तु फिर भी इन सब छद्मरूपों में अहंकार ही हमारे सब कर्मों की जड़ बना रहता है, केवल बाह्य पदार्थों के साथ अपने इन उदार व्यवहारों से उसे अपनी पृथक् सत्ता का एक विशेष संतोष प्राप्त होता है।

इस अवस्था में भी हमारे अन्दर प्राकृत सत्ता की इच्छा ही काम करती है जो अपने व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों को तृप्त करने के लिए ही बाह्य जगत् के स्पर्शों को ग्रहण करती है, और इस प्रकार विषयों को ग्रहण करनेवाला संकल्प सदा ही कर्म और कर्मफल के प्रति कामना, आवेश और आसक्तिमय होता है; यह हमारी प्रकृति की ही इच्छा होती है; इसे हम अपनी इच्छा कहते हैं, पर हमारा अहंभावापन्न व्यक्तित्व तो प्रकृति की ही एक रचना है, यह हमारी मुक्त आत्मा, हमारी स्वाधीन सत्ता नहीं है और न हो सकता है। यह सारा प्रकृति के गुणों का कर्म है। यह कर्म तामसिक हो सकता है और तब हमारा व्यक्तित्व जड़वत्, वस्तुओं की यांत्रिक धारा के वशवर्त्ती और उसीसे संतुष्ट, किसी अधिक स्वाधीन कर्म और प्रभुत्व का कोई प्रबल प्रयास करने में सर्वथा असमर्थ होता है। अथवा यह कर्म राजसिक हो सकता है और तब हमारा व्यक्तित्व अशांत और कर्मप्रवण होता है, जो अपने-आपको प्रकृति पर लादना और उससे अपनी आवश्यकताएँ और इच्छाएँ पूरी कराना चाहता है, पर यह नहीं देख पाता कि उसका यह प्रभुत्वाभास भी एक दासत्व ही है, क्योंकि उसकी आवश्यकताएँ और इच्छाएँ वे ही हैं जो प्रकृति की आवश्यकताएँ और इच्छाएँ हैं, और जबतक हम उनके वशमें हैं तबतक हमें मुक्ति नहीं मिल सकती। अथवा यह कर्म सात्विक हो सकता है

और तब हमारा व्यक्तित्व प्रबुद्ध होता है, जो बुद्धि के द्वारा अपना जीवन बिताने और किसी शुभ, सत्य या सुन्दर के ईप्सित आदर्श को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है ; पर अब भी यह बुद्धि प्रकृति के रूपों के ही वश में होती है और ये आदर्श हमारे अपने ही व्यष्टिस्वरूप के परिवर्तनशील भाव होते हैं जिनमें अंततोगत्वा कोई ध्रुव नियम नहीं मिलता न सदा के लिए संतोष ही मिलता है। यहाँ भी हम परिवर्तन के चक्कर पर ही घूमते रहते हैं और उस शक्ति के अधीन रहते हैं जो हमारे अन्दर और इस सबके अन्दर है और जो अहंकार के द्वारा इस तरह चक्कर लगवाती है, पर हम स्वयं वह शक्ति नहीं होते न उसके साथ हमारा योग या मेल ही होता है। यहाँ भी कोई मुक्तावस्था या यथार्थ प्रभुत्व नहीं होता।

फिर भी मुक्तावस्था संभव है। उसके लिए पहले हमें अपनी इन्द्रियों पर होनेवाली बाह्य संसार की क्रियाओं से अलग हटकर अपने-आपमें आना होगा ; अर्थात् हमें अंतर्मुख होकर रहना होगा और इन्द्रियाँ जो अपने बाह्य विषयों की ओर स्वभावतः दौड़ पड़ती हैं, उन्हें रोक रखने में समर्थ होना होगा। इन्द्रियों को अपने वशमें रखना और इन्द्रियाँ जिन चीजों के लिए तरसा करती हैं उनके बिना सुखपूर्वक रहने में समर्थ होना, सच्चे आध्यात्मिक जीवन की पहली शर्त है ; जब यह हो जाता है केवल तभी हम यह अनुभव करने लगते हैं कि हमारे अन्दर कोई आत्मा है जो बाह्य स्पर्शों से उत्पन्न होनेवाले मन के विकारों से सर्वथा भिन्न वस्तु है, वह आत्मा जो अपनी गभीरतर सत्ता में स्वयंभू, अक्षर, शांत, आत्मवान्, भव्य, स्थिर, गंभीर और महान् है, स्वयं ही अपना प्रभु है और बाह्य प्रकृति की व्यग्रताभरी दौड़-धूपसे सर्वथा अलिप्त है। परन्तु यह तबतक नहीं हो सकता जबतक हम काम के वश में हैं। क्योंकि कामना हमारे सारे बाह्य जीवन का मूलतत्त्व है, इसे इन्द्रियगत जीवन से तृप्ति मिलती है और यह षड्रिपुओं के खेल में ही मस्त रहता है। इसलिए हमें इस कामना से छुटकारा पाना होगा और प्राकृत सत्ता की इस प्रवृत्ति के नष्ट होने पर हमारे मनोविकार, जो काम की तरंगों के परिणाम होते हैं, आप ही शान्त हो जायंगे ; क्योंकि लाभ और हानि से, सफलता और विफलता से, प्रिय और अप्रिय के स्पर्शों से जो सुखदुःख हुआ करते हैं, जो इन मनोविकारों का स्वागत और सत्कार करते हैं, हमारी आत्माओं के अन्दर से निकल जायंगे। तब प्रशान्त समता प्राप्त होगी। और चूँकि हमें इस जगत् में रहना और कर्म करना है और हमारा स्वभाव कर्म के फलकी आकांक्षा करनेवाला है, अतः हमारा यह कर्तव्य है कि हम इस स्वभाव को बदलें और फलासक्ति को छोड़कर कर्म करें, यदि ऐसा न करेंगे तो कामना और उसके सारे परिणाम बने रहेंगे। परन्तु हममें कर्म के कर्ता का जो स्व-भाव है उसे कैसे बदल सकते

है ? बदल सकते हैं अहंकार और व्यक्तित्व से अपने कर्मों को अलग करके, विवेक-बुद्धि से यह देखकर कि यह सब कुछ केवल प्रकृति के गुणों का ही खेल है, और अपनी आत्मा को इस खेलसे अलग करके, सबसे पहले अपनी आत्मा को प्रकृति के कर्मों का साक्षी बनाके तथा उन कार्यों को उस शक्ति के हवाले करके जो वास्तव में उनके पीछे है ; यह शक्ति प्रकृति के अन्दर रहनेवाली वह वस्तु है जो हमसे बड़ी है, यह हमारा व्यक्तित्व नहीं बल्कि वह शक्ति है जो विश्व की स्वामिनी है। परन्तु मन यह सब न होने देगा ; क्योंकि उसका स्वभाव इन्द्रियों के पीछे भागना और बुद्धि और इच्छाशक्ति को अपने साथ घसीट ले जाना है। इसलिए हमें मन को स्थिर करना सीखना होगा। हमें वह निरपेक्ष शान्ति और स्थिरता प्राप्त करनी होगी जिसमें पहुँचकर हम उस अंत:स्थित स्थिर, अचल, आनन्द-मय आत्मा को जान सकें जो सदा बाह्य पदार्थों के स्पर्शों से अक्षत, अक्षुब्ध रहती है, जो अपने-आपमें पूर्ण रहती और चिरंतन तृप्ति लाभ करती है।

यह आत्मा ही हमारा स्वत:सिद्ध स्वरूप है। यह हमारे वैयक्तिक जीवन से बद्ध नहीं है। यह सब भूतों में एक, सबमें व्यापक, सबमें सम, अपनी अनन्त सत्ता से अखिल विश्वकर्म को धारण करनेवाली है, यह देशकाल की परिच्छिन्नता से परिच्छिन्न होनेवाली नहीं है। प्रकृति और व्यष्टि के परिवर्तनों से परिवर्तित होनेवाली नहीं है। जब हमें अपने अन्दर इस आत्मा के दर्शन होते हैं, जब हमें इसकी शान्ति और नीरवता का अनुभव होता है, तब हम इसमें संवर्द्धित हो सकते ह ; हमारा अंत:पुरुष जो अभी प्रकृति में निमज्जित होकर निम्नतर अवस्था में है उसे आत्मा में पुन: प्रतिष्ठित कर सकते हैं। हम यह उन वस्तुओं की शक्ति से कर सकते हैं जो हमें प्राप्त हुई हैं—स्थिरता, समता, निर्विकार नैर्व्यक्तिकता। क्योंकि ज्यों-ज्यों हम इन चीजों में विकसित होते हैं, उन्हें अपनी पूर्णता तक पहुँचाते हैं और अपनी सारी प्रकृति को इनके अधीन कर देते हैं, त्यों-त्यों हम इस स्थिर, सम, निर्विकार, नैर्व्यक्तिक, सर्वव्यापक आत्मा के स्वरूप में विकसित होते जाते हैं। हमारी इन्द्रियाँ उसी नीरवता में जा पहुँचती हैं और जगत् के स्पर्शों को महती शान्ति के साथ ग्रहण करती हैं ; हमारा मन उसी नीरवता को प्राप्त होकर शान्त, विराट् साक्षी बन जाता है ; और हमारा अहंकार इसी नैर्व्यक्तिक सत्ता में विलीन हो जाता है। तब हम सभी चीजें उसी आत्मा में देखते हैं जो हम स्वयं बन चुके हैं ; और हम इस आत्मा को सबके अन्दर देखते हैं ; हम सब भूतों के साथ उनकी आत्मसत्ता में एकीभूत हो जाते हैं। इस अहंभावशून्य शान्ति और नैर्व्यक्तिकता में रहते हुए हम जो कर्म करते हैं वे हमारे कर्म नहीं रह जाते, वे अब अपनी प्रतिक्रियाओं से हमें किसी भी प्रकार से न तो बाँध सकते

हैं न कोई पीड़ा ही पहुँचा सकते हैं। प्रकृति और उसके गुण अब भी अपने कर्म का जाल बुना करते हैं, पर उनसे हमारी दुःखरहित स्वतःसिद्ध शान्ति भंग नहीं होती। सब कुछ उसी एक सम विराट् ब्रह्म में समर्पित होता है।

परन्तु यहाँ दो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। एक यह कि इस शान्त अक्षर आत्मा और प्रकृति के कर्म में एक विरोध प्रतीत होता है। जब हम इस अक्षर आत्मसत्ता में एक बार प्रवेश कर चुके तब फिर कर्म का अस्तित्व ही कैसे रह सकता है और वह जारी कैसे रह सकता है? उसमें कर्म करने की वह इच्छा ही कहाँ है जिससे हमारी प्रकृति का कर्म संभव हो सके? यदि हम सांख्य मतके अनुसार यह कहें कि इच्छा प्रकृति में होती है, पुरुषमें नहीं, तब भी प्रकृति में कर्म के पीछे कोई-न-कोई प्रेरकभाव तो होना ही चाहिए और उसमें वह शक्ति भी होनी चाहिए जिससे वह आत्मा को रस, अहंकार और आसक्ति के द्वारा अपने कर्मों में खींच सके, और जब इन चीजों का आत्मचैतन्य में प्रतिबिंबित होना ही बन्द हो गया तो प्रकृति की वह शक्ति भी जाती रही, और उसके साथ-साथ कर्म करने का प्रेरकभाव भी जाता रहा। परन्तु गीता इस मत को स्वीकार नहीं करती, जो एक विराट् पुरुष के बजाय अनेक पुरुषों का होना आवश्यक ठहराता है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो यह बात समझ में न आ सकेगी कि किसी पुरुष की पृथक् आत्मानुभूति और मोक्ष कैसे संभव है जब कि अन्य लाखों-करोड़ों पुरुष बद्ध ही पड़े हैं। प्रकृति कोई पृथक् तत्त्व नहीं बल्कि परमेश्वर की ही शक्ति है जो विश्वरचना में प्रवृत्त होती है। परन्तु परमेश्वर यदि केवल यही अक्षर पुरुष हैं और व्यष्टि-पुरुष केवल कोई ऐसी चीज है जो उसमें से निकलकर उस शक्ति के साथ इस सृष्टि में आया है, तो जिस क्षण व्यष्टि-पुरुष लौटकर आत्मा में स्थित होगा उसी क्षण सारी सृष्टिक्रिया बन्द हो जायगी और रह जायगी केवल परम एकता और परम निस्तब्धता। दूसरी बात यह है कि यदि अब भी किसी अचिंत्य रूपसे कर्म जारी रहे तो भी आत्मा जब सब पदार्थों के लिए सम है तब कर्म हों या न हों और हों तो चाहे जैसे हों, इसका कोई महत्व नहीं। ऐसी अवस्था में यह भयंकर सत्यानासी कर्म क्यों, यह रथ, यह युद्ध, यह योद्धा, यह भगवान् सारथी किसलिए?

गीता इसका उत्तर यह बतलाकर देती है कि परमेश्वर अक्षर पुरुष से भी महान् हैं, अधिक व्यापक हैं, वे साथ-साथ यह आत्मा भी हैं और प्रकृति में होनेवाले कर्म के अधीश्वर भी। परन्तु वे अक्षर ब्रह्म की सनातनी अचलता, समता, कर्म और व्यष्टिभाव से अतीत श्रेष्ठता में स्थित रहते हुए प्रकृति के कर्मों का संचालन करते हैं। हम कह सकते हैं कि यही उनकी सत्ता की वह स्थिति है,

जिसमें से वे कर्मसंचालन करते हैं, और जैसे-जैसे हम इस स्थिति में संवर्द्धित होते हैं वैसे-वैसे हम उन्हीं की सत्ता और दिव्य कर्मों की स्थिति को प्राप्त होते हैं। इसी स्थिति से वे अपनी सत्ता की प्रकृतिगत इच्छा और शक्ति के रूप में निकल आते हैं, अपने-आपको सब भूतों में प्रकट करते हैं, जगत् में मनुष्यरूप से जन्म लेते हैं, सब मनुष्यों के हृदयों में निवास करते हैं, अवताररूप से अपने-आपको अभिव्यक्त करते हैं (यही मनुष्य के अन्दर उनका दिव्य जन्म है); और मनुष्य ज्यों-ज्यों उनकी सत्ता में संवर्द्धित होता है, त्यों-त्यों वह भी इस दिव्य जन्म को प्राप्त होता है। इन्हीं प्रभुके लिये जो हमारे कर्मों के अधीश्वर हैं, यज्ञके तौर पर कर्म करने होंगे और अपने-आपको आत्मस्वरूप में उन्नत करते हुए हमें अपनी सत्तामें उनके साथ एकत्व लाभ करना होगा और अपने व्यष्टि-भाव को इस तरह देखना होगा कि यह उन्हीं का प्रकृति में आंशिक प्राकट्य है। सत्ता में उनके साथ ऐक्य लाभ करने से हम जगत् के सब प्राणियों के साथ एक हो जाते हैं और दिव्य कर्म करने लगते हैं, अपने कर्म के तौर पर नहीं बल्कि लोक-संरक्षण और लोकसंग्रह के लिये हमारे द्वारा होनेवाली उन्हीं की क्रिया के तौर पर।

असल में यही अत्यन्त आवश्यक बात है और इसे करते ही अर्जुन के आगे आनेवाली सब कठिनाइयाँ लुप्त हो जायँगी। प्रश्न तब हमारे वैयक्तिक कर्म का नहीं रह जाता, क्योंकि हमारा व्यक्तित्व जिससे बनता है वह तो केवल इस लौकिक जीवन से संबंध रखनेवाली और इसलिए गौण चीज रह जाती है फिर जगत् में हमारे द्वारा भगवदिच्छा के कार्यान्वित होने का प्रश्न ही रह जाता है। उसे समझने के लिए हमें यह जानना होगा कि ये परमेश्वर स्वयं क्या हैं और प्रकृति के अन्दर इनका क्या स्वरूप है, प्रकृति की कर्मपरंपरा क्या है और उसका लक्ष्य क्या है और प्रकृतिस्थ पुरुष और इन परमेश्वर के बीच आंतरिक संबंध कैसा है, इसे समझने के लिए ज्ञानयुक्त भक्ति ही आधार है। इन्हीं बातों का स्पष्टीकरण गीता के शेष अध्यायों का विषय है।

भाग २

खंड १

कर्म, भक्ति और ज्ञान का समन्वय

दो प्रकृतियाँ[1]

गीता के प्रथम छः अध्यायों पर उसकी शिक्षाओं के एक कांड के रूप में विवेचना की गयी है, यह कांड गीता की साधना और ज्ञान का प्राथमिक आधार है ; शेष बारह अध्याय भी इसी प्रकार आपस में सम्बन्धित दो कांडों के तौर पर समझे जा सकते हैं, इनमें उस पहले आधार के ऊपर ही गीता की शेष शिक्षा का विस्तार किया गया है। सातवें से बारहवें तक के अध्यायों में भगवान् के स्वरूप का व्यापक तात्विक निरूपण है और इसके आधार पर ज्ञान और भक्ति में संबंध स्थापित कर दोनों का समन्वय साधा गया है जैसा कि प्रथम छः अध्यायों में कर्म और ज्ञान में किया गया था। ग्यारहवें अध्याय का विश्वपुरुष-दर्शन इस समन्वय को एक शक्तिशाली रूप प्रदान करता है और इसे कर्म और जीवन के साथ स्पष्ट रूप से जोड़ देता है। इस प्रकार सब चीजें फिर से एक अधिक प्रभाव के साथ अर्जुन के मूल प्रश्न पर आती हैं जिसके चारों ओर, और जिसे सुलझाने के लिए यह सब रचना है। इसके बाद गीता प्रकृति और पुरुष का भेद दिखाकर त्रिगुण के कर्म और निस्त्रैगुण्य की अवस्था के बारे में तथा निष्काम कर्मों की उस ज्ञान में परिसमाप्ति, जहाँ वह भक्ति के साथ एक हो जाता है, के बारे में अपने सिद्धान्त स्पष्ट करती है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म और भक्ति में एकता साधित कर गीता उस परम वचन की ओर मुड़ती है जो सर्वभूत महेश्वर के प्रति आत्मसमर्पण के संबंध में उसका गुह्यतम वचन है।

गीता के इस द्वितीय कांड की निरूपण-शैली अबतक की शैली की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त और सरल है। प्रथम छः अध्यायों में ऐसे स्पष्ट लक्षण नहीं दिये गये हैं जिनसे आधारभूत सत्य की पहचान हो ; जहाँ जो कठिनाइयाँ पेश आयी हैं वहाँ उनका चलते-चलाते समाधान कर दिया गया है ; विवेचन का क्रम कुछ कठिन है और कितनी ही उलझनों और पुनरावृत्तियों में से होकर चलता रहा है ; ऐसा बहुत कुछ है जो कथन में समाया तो है पर जिसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो पाया है। अब यहाँसे क्षेत्र कुछ अधिक साफ है, विवेचन अधिक

१. अ० ७, श्लोक १-१४

संक्षिप्त और अपने अभिप्राय के प्रति स्पष्ट है। परन्तु इस संक्षेप के कारण ही हमें बराबर सावधानी के साथ आगे बढ़ना होगा जिससे कहीं कोई भूल न हो जाय, कहीं वास्तविक अभिप्राय छूट न जाय। कारण, यहाँ हम आंतरिक और आध्यात्मिक अनुभूति की सुरक्षित भूमि पर स्थिर होकर नहीं चल रहे हैं, बल्कि यहाँ हमें आध्यात्मिक और प्रायः विश्वातीत सत्य के बौद्धिक प्रतिपादन को देखना-समझना है। दार्शनिक विषय के प्रतिपादन में यह कठिनाई और अनिश्चितता सदा रहती है कि बात तो कहनी होती है निःसीम की, पर उसे बुद्धि की पकड़ में आने के लिए सीमित करके कहना होता है; यह एक ऐसा प्रयास है जो करना तो पड़ता है पर जो कभी पूर्ण रूप से संतोष-जनक नहीं होता, वह एकदम आखिरी या पूर्ण नहीं हो सकता। परम आध्यात्मिक सत्य को जीवन में उतारा जा सकता है, उसका साक्षात्कार पाया जा सकता है, पर उसका वर्णन केवल अंशतः ही हो सकता है। उपनिषदों की पद्धति और भाषा इससे अधिक गभीर है, उसमें प्रतीक और रूपक का खुलकर उपयोग किया गया है, जो कुछ कहा गया है वह अंतर्ज्ञान का ही स्वच्छंद प्रवाह है जिसमें बौद्धिक वाणी की कठोर निश्चितता का बंधन टूट गया है और शब्दों के गर्भित अर्थों में से संकेत का एक अपार तरंग-प्रवाह निकल आया है। अध्यात्म के इस क्षेत्र में यही पद्धति और भाषा ठीक होती है। परन्तु गीता इसका अवलंबन नहीं कर सकती, क्योंकि इसे बौद्धिक समस्या का समाधान करना है, ऐसे मन को समझाना है जिसमें तर्क-बुद्धि—जिसके सामने हम अपनी सब प्रेरणाओं और भाव-तरंगों के विरोध रखकर उनपर उसका फैसला चाहते हैं वह तर्क-बुद्धि—आप ही अपने विरुद्ध हो रही है और किसी प्रकार का निश्चय करने में असमर्थ है। तर्क-बुद्धि को एक ऐसे सत्य की ओर ले जाना है जो उसके परे है, पर उसे वहाँ उसीके अपने साधन और अपनी पद्धति से ले जाना है। तर्क-बुद्धि के सामने आत्मानुभव का यदि कोई ऐसा समाधान रखा जाय जिसके तथ्यों के विषय में उसे स्वयं कुछ भी अनुभव न हो तो उसकी सत्यता पर उसे तबतक विश्वास नहीं होगा जबतक उस समाधान के मूल में विद्यमान आत्मिक सत्यों का बौद्धिक निरूपण करके उसे सन्तुष्ट न कर दिया जाय।

अबतक प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि में जो सत्य उसके सामने रखे गये हैं वे पहले से ही उसके जाने हुए हैं और विषय की शुरुआत के लिए ठीक हैं। सबसे पहले अक्षर पुरुष और प्रकृतिस्थ पुरुष, इन दोनों में भेद किया गया है। यह भेद यह दिखलाने के लिए किया गया है कि प्रकृतिस्थ पुरुष जबतक अहंकार से होनेवाले कर्म के अन्दर बँधा रहता है, वह अनिवार्यतः त्रिगुण का क्रियाओं के अधीन रहता है और

उसकी देहस्थित बुद्धि, मन, प्राण और इन्द्रियों का सारा कर्म और सारी कर्म-पद्धति त्रिगुण के अस्थिर खेल के सिवा और कुछ नहीं होती। और, इस चक्कर के अन्दर इसका कोई समाधान नहीं है। अतः त्रिगुणमयी प्रकृति के इस चक्कर से परे उस एक अक्षर पुरुष और शान्त ब्रह्म की ओर ऊपर उठकर समाधान ढूंढ़ना होगा, क्योंकि तभी कोई अहंकार और इच्छा-चालित कर्म से जो कि कठिनाई की सारी जड़ है, ऊपर उठ सकता है। परन्तु केवल इतनेसे तो अकर्म की ही प्राप्ति होती है, क्योंकि प्रकृति के परे कर्म का कोई करण नहीं, न कर्म का कोई कारण या निर्द्धारण ही है—अक्षर पुरुष तो अकर्मशील है, सब पदार्थों, कार्यों और घटनाओं में तटस्थ और सम है। इसलिए यहाँ योगशास्त्र में प्रतिपादित ईश्वर का यह भाव लाया गया है कि ईश्वर कर्मों और यज्ञों के भोक्ता प्रभु हैं, और यहाँ इसका संकेत मात्र किया गया है, यह स्पष्ट नहीं कहा गया कि ये ईश्वर अक्षर ब्रह्म के भी परे हैं और इन्हीं में विश्व-लीला का गभीर रहस्य निहित है। इसलिए अक्षर पुरुष से होकर इनकी ओर ऊपर बढ़ने से हम अपने कर्मों से आध्यात्मिक मुक्ति भी पा सकते हैं और साथ ही प्रकृति के कर्मों में भी भाग लेते रह सकते हैं। पर अभी यह नहीं बताया गया कि ये परम पुरुष जो यहाँ भगवान् गुरु और कर्म-रथ के सारथि-रूप में अवतरित हैं, कौन हैं और अक्षर पुरुष तथा प्रकृतिस्थ व्यष्टि-पुरुष के साथ इनके क्या संबंध हैं। न यह बात ही अभी स्पष्ट हुई है कि किस प्रकार भगवान् से आनेवाली कर्म-प्रेरणा या संकल्प त्रिगुणात्मिका प्रकृति की ही इच्छा नहीं हो सकती। यदि वह वही इच्छा हो तो इसका अनुसरण करने-वाला जीव, अपने आत्म-भाव में न सही, पर अपने कर्म में तो त्रिगुण के बंधन से नहीं बच सकता; और, यदि यही बात है तो यह प्रतिज्ञात मुक्ति मायामय या अधूरी ही रही। ऐसा मालूम होता है कि यह संकल्प सत्ता के कार्यवाहक अंश का एक पहलू है, प्रकृति की मूल शक्ति और कार्यकारिणी वृत्ति है; इसे शक्ति, प्रकृति कहते हैं। तो क्या ऐसी भी कोई प्रकृति है जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परे है? क्या कोई ऐसी भी सृष्टि-शक्ति, कोई ऐसी संकल्प-शक्ति एवं कर्म-शक्ति है जो अहंकार, काम, मन, इन्द्रिय-समूह, बुद्धि और प्राणावेग से भिन्न है?

इसलिए ऐसी संदिग्ध अवस्था में अब जो कुछ करना है वह यही है कि वह ज्ञान, जिसकी बुनियाद पर भागवत कर्म किया जायगा, और अधिक पूर्णता के साथ बता दिया जाय। और, वह ज्ञान उन भगवान् के स्वरूप का ही समग्र और अखण्ड ज्ञान हो सकता है जो भगवान् कि संपूर्ण कर्म के मूल कारण हैं और जिनकी सत्ता के अन्दर कर्मयोगी ज्ञान के द्वारा मुक्त हो जाता है, क्योंकि तब

वह उस मुक्त आत्मा को जान लेता है जिसमें से यह अखिल कर्म-प्रवाह निकलता है और उसके मुक्त स्वरूप का भागी होता है। इसके अतिरिक्त, उस ज्ञान से वह प्रकाश मिलेगा जिससे गीता के प्रथम भाग के उपसंहार में जो बात कही गयी है उसकी यथार्थता सिद्ध होगी। उसे आध्यात्मिक चैतन्य और कर्म के सब हेतुओं और शक्तियों के ऊपर, भक्ति की श्रेष्ठता स्थापित करनी होगी; वह ज्ञान सब प्राणियों के उन परमेश्वर का ज्ञान होगा जिनके प्रति जीव उस पूर्ण आत्म-समर्पण के साथ अपने-आपको उत्सर्ग कर सकता है जो प्रेम और भक्ति की पराकाष्ठा है। सातवें अध्याय के प्रारंभ के श्लोकों में भगवान् इसीका आरंभ करते हैं। ग्रंथ के शेष अध्यायों में फिर इसीकी परिणति हुई है। भगवान् कहते हैं, "मुझमें अपने मन को आसक्त करके और मुझे अपना आश्रय (जीव की चेतन सत्ता और कर्म का संपूर्ण आधार, निवास और शरणस्थान) बनाकर योग-साधन करने से किस प्रकार तुम मुझे निःसंशय, **"समग्रं माम्"**, समग्र रूप से जानोगे वह सुनो। मैं **"अशेषतः"**, बिना कोई बात छोड़े (क्योंकि छोड़ने से फिर संशय के लिए अवकास रहेगा), तुमसे वह ज्ञान विज्ञान-सहित कहूँगा जिसे जान लेने पर जानने की और कोई बात बाकी नहीं रह जायगी।"[१] कहने का अभिप्राय यह है कि **"वासुदेवः सर्वमिति"** अर्थात् सब कुछ भगवान् हैं और इसलिए यदि उन्हें उनकी सब शक्तियों और तत्वों के साथ समग्र रूप से जान लिया जाय तो सब कुछ जान लिया जाता है, केवल विशुद्ध आत्मा ही नहीं, बल्कि जगत्, कर्म और प्रकृति भी। तब जानने की और कोई चीज नहीं रह जाती, क्योंकि सब कुछ भगवान् की ही सत्ता है। हमारी दृष्टि इस तरह समग्र न होने के कारण तथा विभाजक मन-बुद्धि और अहंकारगत पृथक्-भाव के आधार-रूप होने के कारण, हमारी बुद्धि में जगत् के विषयों की जो प्रतीति होती है वह अज्ञान है। हमें इस मन-बुद्धि और अहंभाववाली दृष्टि से निकलकर वास्तविक एकत्व-साधक ज्ञान में प्रवेश करना होगा। उस ज्ञान के दो पहलू हैं, एक स्वरूप-ज्ञान जिसे केवल ज्ञान कहते हैं, और दूसरा सर्वग्राही ज्ञान जिसे विज्ञान कहते हैं। एक परमात्म-स्वरूप का अपरोक्ष अनुभव है और दूसरा उसकी सत्ता के विभिन्न तत्वों, अर्थात् प्रकृति, पुरुष तथा अन्य सब तत्वों का यथावत् स्वानुभूत ज्ञान है जिसके द्वारा भूतमात्र अपने मूल भागवत स्वरूप में तथा अपनी प्रकृति के परम सत्य में जाने जा सकते हैं। वह समग्र ज्ञान, गीता कहती है कि, बड़ी दुर्लभ और कठिन वस्तु है, "सहस्रों मनुष्यों में कोई एकाध ही सिद्धि पाने का प्रयत्न करता है और ऐसा प्रयत्न करके सिद्धि

१. ७-२

पानेवालों में विरला ही कोई मुझे मेरे स्वरूप के सब तत्वों के साथ 'तत्वतः' जानता है।"[1]

अब उपक्रम के तौर पर तथा इस समग्र ज्ञान को सुप्रतिष्ठित करने योग्य मनोभूमि का निर्माण करने के लिए भगवान् वह गभीर और महत् भेद करते हैं जो गीता के संपूर्ण योग का व्यावहारिक आधार है, यह भेद है दो प्रकृतियों का, एक प्रकृति है प्राकृत और दूसरी आध्यात्मिक। "भौतिक सृष्टि के मूलभूत पंचतत्व और मन, बुद्धि, अहंकार—यह मेरी अष्टधा विभक्त प्रकृति है। पर इससे भिन्न मेरी जो दूसरी, परा प्रकृति है उसे जान लो जो जीव बना करती है और जो इस जगत् को धारण करती है।"[2] यहाँ गीता का वह प्रथम नवीन दार्शनिक सिद्धान्त आया जिससे, सांख्य-शास्त्र के मन्तव्यों से आरंभ करके, वह उनके आगे बढ़ती है और सांख्यों के शब्दों को रखती हुई और उन्हें विस्तृत करती हुई उनमें वेदान्त का अर्थ भर देती है। प्रकृति को अष्टधा कहा गया है जिसमें पाँच महाभूत—भौतिक सृष्टि के मूलभूत पंचतत्व जिनके स्थूल नाम पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश हैं,—अपनी पंच ज्ञानेन्द्रियों और पंच कर्मेन्द्रियों सहित मन-बुद्धि और अहंकार, ये आठ अंग हैं, यही सांख्यों का प्रकृति वर्णन है। सांख्य-शास्त्र यहीं रुक जाता है और इसी रुकाव के कारण उसे प्रकृति और पुरुष के बीच एक ऐसा भेद करना पड़ता है जो दोनोंको मिलने नहीं देता और इस कारण दोनोंको एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न दो मूल सत्ताएँ ही मान लेना पड़ता है। गीता को भी, यदि वह यहीं रुक जाती तो, पुरुष और विश्व-प्रकृति के बीच यही अपरिहार्य विच्छेद स्थापित करना पड़ता और तब यह विश्व-प्रकृति त्रिगुणात्मिका माया मात्र और यह सारा विश्व-प्रपंच उस माया का ही परिणाम सा रह जाता; इसके सिवाय प्रकृति और उसके इस विश्व-प्रपंच का और कुछ भी अर्थ न होता। पर बात इतनी ही नहीं है, और कुछ है, एक पराप्रकृति भी है, एक आत्मा की प्रकृति भी है, **"पराप्रकृतिमें"**। भगवान् की एक परा-प्रकृति है जो इस विश्व के अस्तित्व का यथार्थ मूल, इसकी मूलभूत सृष्टि-शक्ति और कर्म-शक्ति है; और दूसरी नीचे की अज्ञानमयी प्रकृति इसीसे उत्पन्न हुई है और इसीकी अंधकारपूर्ण छाया है। इस पराप्रकृति के अन्दर पुरुष और प्रकृति एक हैं। प्रकृति वहाँ पुरुष की संकल्प-शक्ति और कर्तृ-शक्ति है, पुरुष की स्वयं अभिव्यक्त होने की क्रिया है,—कोई पृथक् वस्तु नहीं, प्रत्युत स्वयं सशक्तिक पुरुष है।

---

१. ७-३

२. ७, ४-५

यह पराप्रकृति केवल विश्व के कर्मों में अंत:स्थित भागवत शक्ति की उपस्थिति ही नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह उस सर्वव्यापक आत्मा की ही निष्क्रिय उपस्थिति होती जो आत्मा सब पदार्थों में है या जिसके अन्दर सब पदार्थ हैं और जिसकी सत्ता से विश्वकर्म होता है पर जो स्वयं कर्ता नहीं है। यह पराप्रकृति फिर सांख्यों का वह 'अव्यक्त' भी नहीं है जो व्यक्त सक्रिय अष्टविध प्रकृति की आदि अव्यक्त बीज-स्थिति है जिसे उत्पादक मूल प्रकृति कहते हैं और जिसमें से उसके सब करण और कर्म-शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। और, न वेदान्त-शास्त्र के अनुसार अव्यक्त का अर्थ करके यह कहा जा सकता है कि यह पराप्रकृति अव्यक्त ब्रह्म या आत्मा के अन्दर अव्यक्त रूप से रहनेवाली वह शक्ति है जिसमें से विश्व उत्पन्न होता है और जिसमें इसका लय होता है। पराप्रकृति यह है, पर यही नहीं, इससे भी अधिक बहुत कुछ है ; यह तो उसकी केवल एक आत्म-स्थिति है। पराप्रकृति परम पुरुष की समग्र चिच्छक्ति है जो जीव और जगत् के पीछे है। यह अक्षर पुरुष के अन्दर आत्मा में निमज्जित रहती है ; यह वहाँ भी है, पर निवृत्ति में, कर्म से पीछे हटी हुई ; यही क्षर पुरुष और विश्व में बहिर्भूत होकर कर्म में प्रवृत्त होती है, प्रवृत्ति में आती है। यह प्रवृत्ति में अपनी सशक्तिक सत्ता के द्वारा ब्रह्म में सर्वभूतों को उत्पन्न करती और उन भूतों में उनके उस मूल आध्यात्मिक प्रकृति-रूप से प्रकट होती है जो उनकी बाह्यांतर प्राकृत क्रीड़ा का आधारभूत चिरंतन सत्य है। यही वह मूलभूत भाव और शक्ति है जिसे 'स्वभाव' कहते हैं जो सबके स्वयं होने—प्राकृत रूप में आने का स्वगत तत्व है, सब की प्राकृत सत्ता का स्वांत:स्थित तत्व और ईश्वरी शक्ति है। त्रिगुण की साम्यावस्था इस पराप्रकृति-तत्व से उत्पन्न होनेवाली एक परिमेय एवं सर्वथा गौण क्रीड़ामात्र है। अपरा प्रकृति का यह सारा नामरूपात्मक कर्म, यह अखिल मनोमय, इन्द्रियगत और बौद्धिक व्यापार केवल एक बाह्य प्राकृत दृश्य है जो उसी आध्यात्मिक शक्ति और 'स्वभाव' के कारण संभव होता है, उसीसे इसकी उत्पत्ति है और उसीमें इसका निवास है, उसीसे यह है। यदि हम केवल इस बाह्य प्रकृति में ही रहें और हमारे ऊपर इसके जो संस्कार होते हैं उन्हींसे हम जगत् को समझना चाहें तो हम कदापि अपने कर्ममय अस्तित्व के मूल वास्तविक तत्व को नहीं पा सकते। वास्तविक तत्व यही आध्यात्मिक शक्ति, यही भागवत स्वभाव, यही मूलगत आत्मभाव है जो सब पदार्थों के अन्दर है या यह कहिए कि जिसके अन्दर सब पदार्थ हैं और जिससे सब पदार्थ अपनी शक्तियाँ और कर्मों के बीज ग्रहण करते हैं। उस सत्तत्व, शक्ति और भाव को प्राप्त होने से ही हम अपने भूतभाव का असली धर्म और अपने जीवन का भागवत तत्व पा सकेंगे,

केवल अज्ञान में उसकी प्रक्रियामात्र ही नहीं, बल्कि ज्ञान के अन्दर उसका मूल और विधान भी पा सकेंगे।

यहाँ गीता का अभिप्राय ऐसी भाषा में व्यक्त किया गया है जो आजकल की विचार-पद्धति के अनुसार है; जब हम परा प्रकृति का वर्णन करनेवाले उसी के शब्दों को देखें तो यह दिखायी देगा कि वास्तव में उसका यही अभिप्राय है। क्योंकि, पहले भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह दूसरी उच्चतर प्रकृति मेरी परा प्रकृति है, **"प्रकृतिं मे पराम्।"** और यहाँ जो "मैं" है वह पुरुषोत्तम अर्थात् परमपुरुष, परमात्मा, विश्वातीत और विश्वव्यापी आत्मा का वाचक है। परमात्मा की मूल सनातन प्रकृति और उनकी परात्परा मूल कारण-शक्ति ही परा प्रकृति से अभिप्रेत है। अपनी प्रकृति की क्रियाशील शक्ति की दृष्टि से जगदुत्पत्ति की बात कहते हुए भगवान् का यह स्पष्ट वचन है कि, "यह सब प्राणियों की योनि है—**एतद्योनीनि भूतानि।**" इसी श्लोक के दूसरे चरण में उसी बात को आरंभिक आत्मा की दृष्टि से कहते हैं, "मैं ही संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय हूँ; मेरे परे और कुछ भी नहीं है।"[1] यहाँ इस तरह परम पुरुष पुरुषोत्तम और परा प्रकृति एकीभूत हैं; वे यहाँ एक ही सत्तत्व की ओर देखने के दो भिन्न प्रकारों के रूप में रखे गये हैं। क्योंकि जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस जगत् की उत्पत्ति और प्रलय मैं हूँ तब यह स्पष्ट है कि इसका मतलब परा प्रकृति अर्थात् उनके स्वभाव से है जो उत्पत्ति और प्रलय दोनों है। यह आत्मा ही अपनी अनन्त चेतना में परम पुरुष है और परा प्रकृति उनकी स्वभावगत अनन्त शक्ति या संकल्प है—यह अपने अन्दर निहित भागवत शक्ति और परम भागवत कर्म के साथ अनन्त चेतना ही है। परमात्मा में से इसी चिच्छक्ति का आविर्भूत होना उत्पत्ति है, **"परा प्रकृतिर्जीवभूता"**, क्षर जगत् में उसकी यह प्रवृत्ति है और परमात्मा की अक्षर सत्ता और स्वात्मलीन शक्ति के अन्दर इस चिच्छक्ति का अन्तर्वलय होने से कर्म की निवृत्ति ही प्रलय है। परा प्रकृति से यही मूल अभिप्राय है।

इस प्रकार परा प्रकृति स्वयंभू परम पुरुष की अनन्त कालातीत सचेतन शक्ति है जिसमें से विश्व के सब प्राणी आविर्भूत होते और कालातीत सत्ता से काल के अन्दर आते हैं। पर विश्व में इस विविध संभूति को आत्मसत्ता का आधार दिलाने के लिए स्वयं परा प्रकृति जीवरूप धारण करती है। इसी बात को दूसरी तरह से यों कह सकते हैं कि पुरुषोत्तम का बहुविध सनातन आत्मस्वरूप ही विश्व के इन सब रूपों में व्यष्टि-पुरुष होकर प्रकट होता है। सभी प्राणी

१. ७, ६-७

उसी एक अविभेद्य परमात्मा की सत्ता से व्याप्त हैं ; सबकी व्यष्टि-सत्ता, सबके कर्म और रूप उसी एक पुरुष की सनातन अनेकता के आधार पर खड़े हैं। हम समझने में कहीं यह भूल न कर बैठें कि यह परा प्रकृति काल में अभिव्यक्त जीव-मात्र है और कुछ नहीं अथवा यह कि यह केवल संभूति की ही प्रकृति है और आत्म-सत्ता की नहीं : परम पुरुष की परा प्रकृति का इतना ही स्वरूप नहीं हो सकता। काल में भी यह परा प्रकृति इससे कुछ अधिक है ; यदि ऐसा न हो तो विश्व-रूप से इसका यही सत्य हुआ कि जगत् में अनेकता की ही प्रकृति है और यहाँ एकत्व-धर्मवाली प्रकृति है ही नहीं। परन्तु गीता का यह अभिप्राय नहीं है—गीता यह नहीं कहती कि परा प्रकृति स्वयं ही जीव है, **"जीवात्मकाम्"**, बल्कि यह कहती है कि वह जीव बन गयी है, **"जीवभूताम्"**; इस जीवभूता शब्द में ही यह ध्वनि है कि अपने इस बाह्यतः प्रकट जीवरूप के पीछे यह परा प्रकृति इससे भिन्न और कोई बड़ी चीज है, यह एकमेवाद्वितीय परम पुरुष की निज प्रकृति है। गीता ने आगे चलकर बतलाया है कि यह जीव ईश्वर है, पर ईश्वर है उनकी आंशिक अभिव्यक्ति के रूप में, **"ममैवांशः"** ; ब्रह्माण्ड अथवा अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के सब जीव मिलकर भी अपने अभिव्यक्ति-रूप में समग्र भगवान् नहीं हो सकते, सब मिलकर उस अनन्त एकमेवाद्वितीय के अंश का आविर्भाव ही हैं। उनके अन्दर 'एक' और अविभक्त ब्रह्म मानों विभक्त की तरह रहता है, **"अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।"**[1] यह एकत्व महत्तर सत्य है, अनेकत्व उससे लघुतर सत्य है ; यद्यपि हैं दोनों सत्य ही, उनमें से कोई भी मिथ्या-माया नहीं है।

इस अध्यात्म-प्रकृति का एकत्व ही इस जगत् को धारण किये रहता है, **"ययेदं धार्यते जगत्"** ; सब भूतभावों के साथ इस जगत् की उत्पत्ति उसीसे होती है, **"एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणि"**, और उसीमें, प्रलयकाल में सारे जगत् और उनके प्राणियों का लय होता है, **"अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।"**[2] परन्तु इस दृश्य जगत्में, जो आत्मा से प्रकट होता, उसी के सहारे कर्म करता और प्रलयकाल में कर्म से निवृत्त होता है, वह जीव ही नानात्व का आधार है ; उसे, जिसको हम यहाँ अनुभव करते हैं, हम चाहें तो बहु पुरुष कह सकते हैं अथवा नानात्व का अंतरात्मा भी कह सकते हैं। वह अपने स्वरूप से भग-वान् के साथ एक है, भिन्न है केवल अपने स्वरूप की शक्ति से—इस अर्थ में भिन्न नहीं कि वह एकदम वही शक्ति नहीं है, बल्कि इस अर्थ में कि वह केवल उसी एक शक्ति के लिए आंशिक बहुविध व्यष्टिभूत कर्म में आधार का काम

---

१. १३, १६
२. ७, ६

करता है। इसलिए सभी पदार्थ आदि में, अंत में और अपने स्थितिकाल में तत्वत: आत्मा या ब्रह्म ही हैं। सबका मूल स्वभाव आत्मभाव ही है, केवल नानात्व के निम्न भाव में वे कुछ दूसरी चीज अर्थात् शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रिय-रूप प्रकृति देख पड़ते हैं। पर ये बाह्य गौण व्युत्पन्न रूप हैं, हमारे स्वभाव और स्वसत्ता के विशुद्ध मूल स्वरूप नहीं।

इस तरह हमें परमात्मा की परा प्रकृति से अपनी विश्वातीत सत्ता का मूलभूत सत्य और शक्ति तथा विश्वलीला का आध्यात्मिक आधार दोनों ही मिलते हैं। परन्तु उस परा प्रकृति और इस अपरा प्रकृति को जोड़नेवाली बीच की कड़ी कहाँ है? मेरे अन्दर, श्रीकृष्ण कहते हैं कि, यह सब, यहां जो कुछ है सब, **"सर्वमिदं"** अर्थात् क्षर जगत् की ये सब वस्तुएँ जिन्हें उपनिषदों में प्राय: **"सर्वमिदं"** पद से कहा गया है—सूत्र में मणियों के सदृश पिरोयी हुई हैं। परन्तु यह केवल एक उपमा है जो एक हदतक ही काम दे सकती है, उसके आगे नहीं; क्योंकि यह सूत्र मणियों का केवल परस्पर-संबंध ही जोड़े रहता है, इसके साथ मणियों का, सिवा इसके कि वह उनका परस्पर-संबंध-सूत्र है, उनकी एकता इसपर आश्रित रहती है, और कोई नाता नहीं। इसलिए हम उस उपमेय की ओर ही चलें जिसकी यह उपमा है। वास्तव में परमात्मा की परा प्रकृति अर्थात् परमात्मा की अनन्त चेतना-शक्ति ही, जो आत्मविद्, सर्वविद् और सर्वज्ञ है, इन सब गोचर पदार्थों को परस्पर संबद्ध रखती, उनके अन्दर व्याप्त होती, उनमें निवास करती, उन्हें धारण करती और उन सबको अपनी अभिव्यक्ति की व्यवस्था के अन्दर बुन लेती है। यही एक परा शक्ति केवल सबके अन्दर रहनेवाली एक आत्मा के रूप में ही नहीं बल्कि प्रत्येक प्राणी और पदार्थ के अन्दर जीव-रूप से, व्यष्टि-पुरुष-सत्ता के रूप से भी प्रकट होती है; यही प्रकृति के संपूर्ण त्रैगुण्य के बीज-तत्व-रूप से भी प्रकट होती है। अतएव प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ के पीछे ये ही छिपी हुई अध्यात्म-शक्तियाँ हैं। त्रैगुण्य का यह परम बीजतत्व त्रिगुण का कर्म नहीं है, त्रिगुण-कर्म तो गुणों का ही व्यापार है, उनका आध्यात्मिक तत्व नहीं। वह बीज-तत्व अंत:स्थित आत्मतत्व है जो एक है, पर फिर भी इन बाह्य नाना नाम-रूपों की वैचित्र्यमयी अंत:शक्ति भी है। यह संभूति का, भगवान् के क्षर भाव का मूलभूत सत्तत्व है और यही सत्तत्व अपने इन सब नाम-रूपों को धारण करता है और इसी के अन्दर अहंकार, प्राण और शरीर के केवल बाह्य अस्थिर भाव हैं—**"सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च।"** परन्तु यह बीजभूत तत्व स्वभाव है—भूतभावकी आदि सनातन अंत:शक्ति है। प्रत्येक जीव के भूतभाव का मूल विधान करनेवाला यही स्वभाव है। यही अंत:शक्ति

है ; प्रकृति के संपूर्ण कर्म का यही बीज और यही उसके विकास का कारण है। प्रत्येक प्राणी के अन्दर यह तत्व छिपा हुआ है, यह परात्पर भगवान् के ही आत्माविर्भाव से, **"मद्भाव"** से निकलता और उससे सम्बद्ध रहता है। भगवान् के इस **"मद्भाव"** का स्वभाव के साथ और स्वभाव का बाह्य भूतभावों के साथ अर्थात् भगवान् की परा प्रकृति का व्यष्टिपुरुष की आत्मप्रकृति के साथ और इस विशुद्ध मूल आत्मप्रकृति का त्रिगुणात्मिका प्रकृति की मिश्रित और द्वन्द्वमय क्रीड़ा के साथ जो सम्बन्ध है उसी में उस परा शक्ति और इस अपरा प्रकृति के बीच की लड़ी मिलती है। अपरा प्रकृति की विकृत शक्तियाँ और उसकी संपदाएँ उसे परा प्रकृति की परम शक्तियों और सम्पदाओं से ही प्राप्त हैं और इसलिए अपरा प्रकृति की शक्तियों और संपदाओं को अपना मूल और वास्तविक स्वरूप तथा अपने सब कर्मों का स्वभावजनित मूल धर्म जानने के लिए परा शक्ति की शक्तियों और संपदाओं के समीप लौट जाना होगा। इसी प्रकार यह जीव, जो यहाँ इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति की सीमित, दीन और निम्नतर क्रीड़ा के अन्दर निमग्न है, यदि इससे निकलकर अपने पूर्ण भागवत स्वरूप को प्राप्त होना चाहे तो, उसे अपने स्वभाव के मूलभूत गुण के विशुद्ध कर्म का आश्रय लेकर अपने स्वरूप के उस परम धर्म में लौट आना होगा जिसमें वह अपनी दिव्य भागवत प्रकृति के संकल्प, शक्ति, सक्रिय तत्व और परम कर्मभाव का पता पा सकता है।

यह बात इसके बाद वाले श्लोकों से ही स्पष्ट हो जाती है जिसमें कई उदाहरण देकर यह बतलाया गया है कि किस प्रकार भगवान् अपनी परा प्रकृति की शक्ति के साथ इस विश्व के चेतन तथा अचेतन कहे जानेवाले प्राणियों में प्रकट होते और कर्म करते हैं। इन उदाहरणों को काव्य की भाषा में छंद के कारण जिस अस्तव्यस्त से रूप में रखा गया है उससे इन्हें हम छांटकर अलग निकाल सकते हैं और उनके ठीक दार्शनिक क्रम में ला सकते हैं। प्रथमतः, भागवत शक्ति और सत्ता पंचमहाभूतों में से होकर कर्म करती है—"मैं जल में रस हूँ, आकाश में शब्द, पृथ्वी में गंध और अग्नि में तेज हूँ,"[1] और इसी की पूर्णता के लिए यह कहा जा सकता है कि वायु में "मैं स्पर्श हूँ"। अर्थात् भगवान् ही अपनी परा प्रकृति के रूप से इन सब विभिन्न इन्द्रिय-विषयों के मूल में स्थित शक्ति हैं और प्राचीन सांख्य सिद्धान्त के अनुसार पंचमहाभूत—आकाशीय, तैजस, वैद्युतिक तथा वायवीय, जलीय और अन्य मूलभूत जड़रूप—इन्हीं इन्द्रिय-विषयों के भौतिक उपकरण हैं। ये पंचमहाभूत अपरा प्रकृति के मात्रात्मक या भौतिक अंग हैं और ये ही सब भौतिक रूपों के उपादान हैं। पंचतन्मात्राएँ—रस,

१. ७-८

स्पर्श, गंधादि—अपरा प्रकृति के गुणात्मक अंग हैं। ये पंचतन्मात्राएँ सूक्ष्म शक्तियाँ हैं जिनकी क्रिया के द्वारा ही इन्द्रिगत चैतन्य का स्थूल भौतिक रूपों के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है—भौतिक सृष्टि के संपूर्ण ज्ञान के मूल में ये ही शक्तियाँ हैं। भौतिक दृष्टि से जड़ ही सत् पदार्थ है और इन्द्रिय-विषय उसी में से निकलते हैं ; परन्तु अध्यात्म-दृष्टि से बात इससे उलटी है। जड़ सृष्टि और जड़ उपकरण स्वयं ही किसी अन्य सत्ता से निकली हुई शक्तियाँ हैं और मूलत: केवल ऐसी स्थूल पद्धतियाँ या अवस्थाएँ हैं जिनमें जगत् के भीतर प्रकृति के त्रिगुण के कर्म जीव के इन्द्रिय-चैतन्य के सामने प्रकट होते हैं। एकमात्र मूल सनातन सत्पदार्थ प्रकृति अर्थात् स्वभाव की ऊर्जा और उसकी गुणवत्ता ही है जो इन्द्रियों के द्वारा जीव के सम्मुख इस प्रकार प्रकट होती है। और इन्द्रियों के अन्दर जो कुछ सार-तत्व है, परम आध्यात्मिक और अत्यंत सूक्ष्म है, वह तत्वत: वही वस्तु है जो वह सनातनी गुणवत्ता और शक्ति है। पर प्रकृति के अन्दर जो ऊर्जा या शक्ति है वह अपनी प्रकृति के रूप में स्वयं भगवान् ही हैं ; इसलिए प्रत्येक इन्द्रिय अपने विशुद्ध स्वरूप में वही प्रकृति है, प्रत्येक इन्द्रिय सक्रिय चेतना-शक्ति में स्थित भगवान् ही है।

इसी सिलसिले में जो पद आये हैं उनसे यह बात और अच्छी तरह से प्रकट होती है। "मैं शशि और सूर्य की प्रभा, मनुष्य में पौरुष, बुद्धिमानों में बुद्धि, तेजस्वियों में तेज, बलवानों में बल, तपस्वियों में तप हूँ।"[1] "सब भूतों में मैं जीवन हूँ।" प्रत्येक उदाहरण में उस असली गुण की ही ऊर्जा का संकेत किया गया है—ये सब भूतभाव जो कुछ बने हैं उसके लिए वे इसी शक्ति पर निर्भर हैं। वह मूलभूत गुण ही वह विशिष्ट लक्षण है जो समस्त भूतभाव की प्रकृति में भागवती शक्ति की सत्ता को लक्षित कराता है। भगवान् फिर कहते हैं, "सब वेदों में मैं प्रणव हूँ" अर्थात् वह मूल ध्वनि हूँ जो श्रुत शब्द की समस्त सृष्टिशक्तिशाली ध्वनियों का मूल है। ॐ ही स्वर और शब्द की शक्ति का वह एकमात्र विराट् रूप है जिसमें वाक् और शब्द की समस्त आध्यात्मिक शक्ति और विकास-संभावना अन्तर्भूत और एकत्र है। इसी में ये सब शक्तियाँ समन्वित रहती और इसीमें से बाहर निकलती हैं। इसी में से वे अन्य ध्वनियाँ निकलती और इसीका विकास मानी जाती हैं जिनमें से भाषाओं के शब्द निकलते और बुने जाते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। इन्द्रिय, प्राण, ज्योति, बुद्धि, तेज, बल, पौरुष, तप आदि के बाह्य प्राकृत विकास परा प्रकृति की चीज नहीं हैं, बल्कि परा प्रकृति वह मूलभूत गुण है जो अपनी आत्मस्वरूप शक्ति में ही

१. ७. ८-११

स्थित है और वही स्वभाव है। आत्मा की जो शक्ति इस प्रकार व्यक्त हुई है, आत्मचैतन्य की जो ज्योति तथा व्यक्त वस्तुओं में उसके तेज की जो शक्ति है वही अपने विशुद्ध मूल स्वरूप में आत्म-स्वभाव है। वह शक्ति, ज्योति ही वह सनातन बीज है जिसमें से अन्य सब चीजें विकसित और उत्पन्न हुई हैं। अन्य सब चीज इसीकी परिवर्तनशील और नमनीय अवस्थाएँ हैं। इसीलिए इस सिलसिले के बीच में गीता एक सर्वसामान्य सिद्धान्त के तौर पर यह बात कह जाती है कि, "हे पार्थ, मुझे सब भूतों का सनातन बीज जानो।"[1] यह सनातन बीज आत्मा की शक्ति, आत्मा की सचेतन इच्छा है, वह बीज है जिसे, गीता ने जैसा कि अन्यत्र बतलाया है कि, भगवान् महत् ब्रह्म में, विज्ञान-स्वरूप महद् में आधान, स्थापित करते हैं और उसीसे सब भूतों की उत्पत्ति होती है। यही वह आत्मशक्ति है जो सब भूतों में मूलभूत गुण-रूप से प्रकट होती और उनका स्वभाव बनती है।

इस मूलभूत गुणरूप शक्ति और अपरा प्रकृति का इन्द्रिय-मनोगोचर प्राकृत विकार अर्थात् विशुद्ध वस्तुतत्व और इसका अपर रूप, इन दोनों में जो यथार्थ भेद है, वह इस सिलसिले के अन्त में स्पष्ट रूप से दरसा दिया गया है। "बलवानों का मैं बल हूँ कामरागविवर्जित" अर्थात् विषयों के प्राकृत भोग-सुख से सर्वथा अनासक्त। "प्राणियों में मैं काम हूँ धर्म के अविरुद्ध।" अब जो प्रकृति के इसके बाद उत्पन्न होनेवाले आंतरिक भाव हैं (मन के भाव, कामना से उत्पन्न होनेवाले भाव, कामक्रोधादिकों के वेग, इन्द्रियों की प्रतिक्रियाएँ, बुद्धि के बद्ध और द्वन्द्वात्मक खेल, मनोभाव और नैतिक भाव में होनेवाले उलट-फेर), जो सात्विक, राजस और तामस हुआ करते हैं तथा प्रकृति के जो त्रिगुण-कर्म हैं वे, गीता कहती है कि, स्वयं परा प्रकृति के विशुद्ध भाव और कर्म नहीं हैं बल्कि उससे निकले हुए हैं;' 'हैं वे मुझसे ही—**मत्त एव**" अर्थात् वे और कहींसे नहीं उत्पन्न हुए हैं, "पर मैं उनके अन्दर नहीं हूँ, वे मेरे अन्दर हैं।"[2] यह सचमुच ही एक बहुत बड़ा पर सूक्ष्म भेद है। भगवान् कहते हैं, "मैं मूलभूत ज्योति, बल, कामना, शक्ति, बुद्धि हूँ पर उनसे उत्पन्न होनेवाले ये विकार मैं निज स्वरूप से नहीं हूँ न उनमें मैं रहता हूँ, परन्तु फिर भी ये सब हैं मुझसे ही और मेरी ही सत्ता के अन्दर।" इसलिए इन्हीं वचनों के आधार पर हमें सब पदार्थों का पराप्रकृति से अपरा प्रकृति में आना और अपरा से पुनः परा को प्राप्त होना देखना होगा।

पहले वचन को समझने में कोई कठिनाई नहीं है। बलवान् पुरुष के अन्दर

---

१. ७-१०

२. ७-१२

बल तत्वगत भागवती प्रकृति तो है पर फिर भी बलवान् पुरुष कामना और आसक्ति के वश में हो जाता, पाप में गिर जाता और पुण्य की ओर जाने के लिए प्राणापण चेष्टा करता है। इसका कारण यही है कि वह अपने समस्त जीवन के कर्म करते समय नीचे उतरकर त्रिगुण की पकड़ में आ जाता है, अपने कर्म को ऊपर से, अपनी असली भागवती प्रकृति के द्वारा नियंत्रित नहीं करता। उसके बल का दिव्य स्वरूप इन निम्न क्रियाओं से किसी प्रकार विकृत नहीं होता, समस्त अज्ञान, मोह और स्खलन के होते हुए भी वह मूलतः ठीक एक-सा ही बना रहता है। उसकी उस भागवती प्रकृति में भगवान् मौजूद रहते और उसी भागवती प्रकृति की शक्ति के द्वारा इस अपरा प्रकृति की अधःस्थिति की गड़बड़ी में से होकर उसे धारण करते हैं जबतक कि वह फिर से उस बीजभूत ज्योति को नहीं पा लेता और अपने स्वरूप के सच्चे सूर्य की ज्योति से अपने जीवन को पूर्ण रूप से प्रकाशित तथा अपनी पराप्रकृतिस्थ भागवती इच्छा की विशुद्ध शक्ति से अपने संकल्प और कर्म का नियमन नहीं करने लगता। यह तो हुआ, पर भगवान् 'कामना' कैसे हो सकते हैं, जब कि इसी कामना को महाशत्रु कहकर उसे मार डालने को कहा गया है? पर वह कामना त्रिगुणात्मिका निम्नगा प्रकृति का काम है जिसकी उत्पत्ति रजोगुण से होती है, **"रजोगुणसमुद्भवः"**; और इसी अर्थ में हम लोग प्रायः काम शब्द का प्रयोग किया करते हैं। पर यह काम, जो एक आध्यात्मिक तत्व है, एक ऐसा संकल्प है जो धर्म के अविरुद्ध है।

क्या इस आध्यात्मिक काम का अभिप्राय पुण्य काम, नैतिक, सात्विक काम है—कारण, पुण्य की उत्पत्ति और प्रवृत्ति सदा सात्विक ही हुआ करती है? परन्तु ऐसा मानने से स्पष्ट ही परस्पर-विरोध, 'वदतो व्याघात' का दोष आता है, क्योंकि इसके बाद के चरण में ही यह बात कही गयी है कि सब सात्विक भाव भी भगवद्रूप नहीं बल्कि निम्नजात विकार हैं। भगवान् के सान्निध्य में पहुँचने के लिए पाप का तो परित्याग करना ही पड़ता है, पर यदि भगवत्-स्वरूप में प्रवेश करना है तो उसी प्रकार पुण्य को भी पार कर जाना पड़ता है। पहले सात्विक तो बनना ही होगा, पर पीछे उसे भी पीछे छोड़कर आगे बढ़ना होगा। नैतिक सदाचार केवल चित्तशुद्धि का साधन है। इससे भागवत प्रकृति की ओर हम ऊँचे उठ सकते हैं, पर वह प्रकृति स्वयं ही द्वन्द्वातीत होती है,—और वास्तव में यदि ऐसा न होता तो विशुद्ध भागवत सत्ता या भागवत शक्ति किसी ऐसे बलवान् मनुष्य में कभी न रह सकती जो राजस कामक्रोध के अधीन होता है। आध्यात्मिक अर्थ में धर्म नीतिमत्ता या सदाचार ही नहीं है। गीता

ने अन्यत्र कहा है कि धर्म वह कर्म है जो स्वभाव के द्वारा अर्थात् अपनी प्रकृति के मूलभूत विधान के द्वारा नियत होता है। और यह स्वभाव मूलतः आत्मा की ही अंतःस्थित चिन्मय इच्छा और विशिष्ट कर्मशक्ति का ही विशुद्ध गुण है। अतः काम का अभिप्राय यहाँ हमारे अन्दर रही हुई उस सहेतुक भगवदिच्छा से है जो निम्न प्रकृति के आमोद की नहीं बल्कि अपनी ही क्रीड़ा और आत्मपूर्णता के आनन्द की खोज करती और उसे ढूंढ निकालती है ; यह जीवनलीला के उस दिव्य आनन्द की कामना है जो स्वभाव के विधान के अनुसार अपनी सज्ञान कर्म-शक्ति को प्रकट कर रहा है।

पर फिर इस कथन का क्या अभिप्राय है कि भगवान् भूतों में, अपरा प्रकृति के रूपों और भावों में, सात्विक भावों तक में नहीं हैं, यद्यपि वे सब हैं उन्हीं की सत्ता के अन्दर ? एक अर्थ से तो भगवान् का उनके अन्दर होना स्पष्ट ही अनिवार्य है, क्योंकि इसके बिना उन सब पदार्थों का रहना ही संभव नहीं हो सकता। अभिप्राय तब यही हो सकता है कि भगवान् की जो वास्तविक परा आत्मप्रकृति है उस रूप में भगवान् उनके अन्दर कैद नहीं हैं ; बल्कि ये सब विकार उन्हीं की सत्ता में अहंकार और अज्ञान के कर्म द्वारा उत्पन्न होते हैं। अज्ञान में सभी चीजें उलटी दिखायी देती हैं और एक प्रकार की मिथ्या की ही अनुभूति होती है। हम लोग समझते हैं कि जीव इस शरीर के अन्दर है, शरीर का ही एक परिणाम और विकार है ; ऐसा ही हम उसे अनुभव भी करते हैं ; पर सच तो यह है कि जीव के अन्दर शरीर है और वही जीव का परिणाम और विकार है। हम अपनी आत्मा को अपने इस महान् अन्नमय और मनोमय व्यापार का एक अंश-सा जानते हैं—अंगुष्ठ मात्र से अधिक बड़ा पुरुष को नहीं मानते ; पर यथार्थ में यह सारा जगद्व्यापार चाहे जितना भी बड़ा क्यों न मालूम हो, यह आत्मा की अनन्त सत्ता के अन्दर एक बहुत छोटी-सी चीज है। यहाँ भी वही बात है ; उसी अर्थ में ये सब भूतभाव भगवान् के अन्दर हैं, भगवान् उनके अन्दर नहीं हैं। यह त्रिगुणात्मिका निम्न प्रकृति जो पदार्थों को मिथ्या रूप में दिखाती है और उन्हें निम्नतर रूप दे देती है, माया है। माया से यह मतलब नहीं कि वह कुछ है ही नहीं या उसका सारा व्यापार जगत् में असत् ही के साथ है बल्कि यह कि यह हमारे बोध को चकरा देती है, असली चीज को नकली रूप में सामने रखती है और हमारे ऊपर अहंकार, मन, इन्द्रिय, देह और सीमित बुद्धि का आवरण डाल देती है और हमसे हमारी सत्ता का परम सत्य छिपाये रहती है। भरमानेवाली यह माया हमसे उस भगवत्स्वरूप को छिपाती है जो हम हैं, जो हमारा अनन्त अक्षर आत्मस्वरूप है। इन विविध गुणमय भावों से यह सारा

जगत् मोहित है और इससे इनके परे जो परम और अव्यय मैं हूँ उसे नहीं जानता।[1] यदि हम यह देख सकें कि वही भगवत्स्वरूप हमारी सत्ता का वास्तविक सद्रूप है तो और सब कुछ भी हमारी दृष्टि में बदल जायगा, अपने असली रूप में आ जायगा और हमारा जीवन तथा कर्म भागवत अर्थ को प्राप्त होकर भागवती प्रकृति के विधान के अनुरूप प्रवृत्त होगा।

पर जब भगवान् ही इन सब चीजों में हैं और भागवती प्रकृति ही इन सब भरमानेवाले विकारों के मूल में मौजूद है और जब हम सब जीव हैं और जीव वही भागवती प्रकृति है तब क्या कारण है कि इस माया को पार करना इतना कठिन है, इतनी यह "माया दुरत्यया" है? कारण यही है कि यह माया भी तो भगवान् की माया है, "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया"[2] (यह गुणमयी दैवी माया मेरी है)। यह स्वयं दैवी है और भगवान् की ही प्रकृति का—अवश्य ही देवताओं के रूप में भगवान् की प्रकृति का—विकार है; यह दैवी है अर्थात् देवताओं की है या यह कहिये कि देवाधिदेव की है, परन्तु देवाधिदेव के अपने विभक्त आत्म-निष्ठ तथा निम्न वैश्व भाव अर्थात् सात्विक, राजस, तामस भाव की चीज है। यह एक वैश्व आवरण है जो देवाधिदेव ने हमारी बुद्धि के चारों ओर बुन रखा है; ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रने इसके ताने-बाने बुने हैं; परा-प्रकृतिरूपिणी शक्ति इस बुनावट के मूल में है और इसके एक-एक धागे में छिपी हुई है। हमें इस बुनावट का काम अपने अन्दर पूरा कर लेना है और इसमें से होकर, इसका उपयोग करके, इसे पीछे छोड़ आगे बढ़ना है, देवताओं से फिर-कर उन परम मूल स्वरूप देवाधिदेव को प्राप्त होना है जिनमें पहुँचने से ही हम देवताओं और उनके कर्मों का परम अभिप्राय तथा खास अपनी ही अक्षर आत्म-सत्ता के परम गुह्य आध्यात्मिक सत्यों को एक साथ जानेंगे। "जो मेरी ओर फिरते और आते हैं वे ही इस माया को पार करते हैं—**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।**"[3]

---

१. ७-१३ २. ७-१४
३. ७-१४

भक्ति-ज्ञान-समन्वय[1]

गीता कोई दार्शनिक तत्वालोचन का ग्रंथ नहीं है, यद्यपि प्रसंग से इसमें बहुत-से दार्शनिक सिद्धान्त आ गये हैं ; कारण इसमें किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त का उल्लेख स्वयं उसी के प्रतिपादन के लिए नहीं किया गया है। इसका प्रयोजन है परम सत्यको परम व्यावहारिक उपयोग के लिए ढूँढना, तर्कबुद्धि या आध्यात्मिक ज्ञान-पिपासा की तुष्टि के लिए नहीं, बल्कि एक ऐसे सत्य के रूप में ढूँढना जो हमारी रक्षा कर सके और हमारी वर्त्तमान मर्त्य जीवन की अपूर्णता से अमर पूर्णता की ओर ले जानेवाला मार्ग हमारे लिये खुल जाय। इसलिए इस अध्याय के पहले चौदह श्लोकों में एक ऐसे मुख्य दार्शनिक सत्य का निरूपण किया गया है जिसका जानना यहाँ हमारे लिए आवश्यक है और फिर तुरत ही बाद के सोलह श्लोकों में उसका व्यावहारिक उपयोग बताया गया है। यही कर्म, ज्ञान और भक्ति के समन्वय-साधन का आरंभ है—कर्म और ज्ञान का समन्वय तो इससे पहले हो ही चुका है।

हमारे सम्मुख तीन शक्तियाँ हैं—परमसत्यस्वरूप श्रीपुरुषोत्तम, जिनकी ओर हमें विकसित होना है, आत्मा और जीव, अथवा इसी बात को हम यों कह सकते हैं कि एक परम पुरुष है, दूसरी ब्रह्म और तीसरी वह बहुरूप जीवात्मा जो हमारे आध्यात्मिक व्यक्तित्व का कालातीत मूल है, सत्य और सनातन व्यष्टि-पुरुष **"ममैवांशः सनातनः"** है। ये तीनों ही भगवदीय हैं, तीनों ही भगवान् हैं। पराप्रकृति, जो सीमित करनेवाले अज्ञान से मुक्त है, पुरुषोत्तम की प्रकृति है। वही पराप्रकृति ब्रह्म के अन्दर भी है पर वहाँ वह सनातनी शान्ति, साम्य और निवृत्ति की अवस्था में है। यही प्रकृति प्रवृत्ति के लिए बहुरूप व्यष्टि-पुरुष या जीव बनती है। परन्तु इस पराप्रकृति का आन्तरिक कर्म सदा भागवत कर्म ही होता है। इस परा भागवती प्रकृति की शक्ति ही अर्थात् परम पुरुष की सत्ताकी चिन्मयी संकल्पशक्ति ही जीवके विशेष स्वरूप-गुणकी विविध बीजभूत और आध्यात्मिक शक्ति के रूपमें अपने-आपको प्रकट करती है ; यही बीजभूत शक्ति

---

१. गीता अ० ७, श्लोक १५-२८

जीवका स्वभाव है। इस आध्यात्मिक शक्ति से ही सीधे जो कर्म और जन्म होता है वह दिव्य जन्म और विशुद्ध आध्यात्मिक कर्म होता है। अतः इससे यह निष्कर्ष निकला कि कर्म करते हुए जीवका यही प्रयास होना चाहिये कि वह अपने मूल आध्यात्मिक व्यष्टि-स्वरूपको प्राप्त हो और अपने कर्मों को उसी की परमा शक्तिके ओज से प्रवाहित करे, कर्मको अपनी अंतरात्मा और अंतरतम स्वरूप-शक्ति से विकसित करे, न कि मन-बुद्धि की कल्पना और प्राणों की इच्छासे, और इस तरह अपने सब कर्मोंको परम पुरुष के संकल्प का ही विशुद्ध प्रवाह बना दे, अपने सारे जीवन को भगवत्-स्वभाव का गतिशील प्रतीक बना दे।

परन्तु इसके साथ ही यह त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति भी है जो अज्ञान-विशिष्ट है और उसका कर्म अज्ञान-विशिष्ट, अशुद्ध, उलझा हुआ और विकृत होता है; यह निम्नतर व्यक्तित्व का, अहंकारका, प्राकृत पुरुष का कर्म होता है, आध्यात्मिक व्यष्टि-पुरुष का नहीं। उस मिथ्या व्यक्तित्व से विरत होनेके लिए हमें निर्गुण निराकार आत्मा की शरण लेकर उसके साथ एक हो जाना पड़ता है। तब, इस प्रकार अहंकारमय व्यष्टि-भावसे मुक्त होकर, हमारे वास्तविक व्यष्टि-स्वरूप का श्री पुरुषोत्तम के साथ जो संबंध है उसे हम जान सकते हैं। यह व्यष्टि-पुरुष सत्तामें उनसे अभिन्न है; यद्यपि व्यष्टि होने से प्रकृति के कर्म और कालाधीन विकास में, अनिवार्यतः, पुरुषोत्तम का अंश और विशेष रूपमात्र है। निम्न प्रकृति से मुक्त होने पर ही हम उस परा, भागवत, आध्यात्मिक प्रकृति को जान सकते हैं। इसलिए आत्मा से कर्म करने का अभिप्राय वासनाबद्ध जीवन के अधिष्ठान में कर्म करना नहीं है; कारण वह परम आंतरिक स्वरूप नहीं बल्कि निम्न प्राकृत और बाह्य आभास मात्र है। आन्तरिक आत्मप्रकृति या स्वभाव से कर्म करने का अर्थ यह नहीं है कि अहंकार के, काम-क्रोधादि के वश होकर या अपनी प्राकृत प्रेरणा और त्रिगुण के चंचल खेल के अनुसार उदासीनता के साथ अथवा वासना के साथ पाप और पुण्यका आचरण किया जाय। काम-क्रोध के वश होना, पाप में स्वेच्छा से या जड़तावश लिप्त होना न तो उच्चतम निराकार ब्रह्म की आध्यात्मिक शान्त निष्क्रिय स्थिति पानेका ही कोई रास्ता है न उस भागवत व्यष्टि-पुरुष के आध्यात्मिक कर्म का ही साधन है जो परम पुरुष के संकल्प की सिद्धि का एक पात्र बनने को है, पुरुषोत्तम की अपनी शक्ति और प्रत्यक्ष विग्रह होने को है।

गीता ने आरंभ से ही यह कह रखा है कि दिव्य जन्म अर्थात् परा स्थितिकी सबसे पहली शर्त ही यह है कि राजस काम और उसकी संतति का वध हो और इसका मतबल है पाप का सर्वथा निराकरण। पाप है ही निम्न प्रकृति की वह

क्रिया जो आत्मा के द्वारा प्रकृति को आत्म-नियत और आत्मवश करने के विरुद्ध अपनी ही मूढ़, जड़ या आसुरी राजस और तामस प्रवृत्तियों की भद्दी तुष्टिके लिये हुआ करती है। निम्न प्रकृति के इस निकृष्ट गुणकर्म के द्वारा आत्मसत्ता पर होनेवाले इस भद्दे बलात्कार से छूटने के लिए हमें प्रकृति के उत्कृष्ट गुण अर्थात् सत्वका आश्रय लेना पड़ता है, क्योंकि सत्वगुण ही सतत समाधानसाधक ज्ञान, ज्योति और कर्म की प्रमादरहित विशुद्ध विधि का अनुसंधान करता रहता है। हमारे अन्दर जो पुरुष है, जो प्रकृति में रहता हुआ विविध गुणवृत्तियों का अनुमोदन करता है, उसे हमारी उस सात्विक प्रेरणा, संकल्प और स्वभाव को अनुमति देनी पड़ती है जो इस विधिका अनुसंधान करता है। हमारी प्रकृति में जो सात्विक इच्छा है उसे ही हमारा नियमन करना होगा, राजस-तामस इच्छा को नहीं। यही कर्माकर्म का संपूर्ण विवेक है और यही समस्त सच्ची धार्मिक नैतिक संस्कृति का अभिप्राय है; यही हमारे अन्दर प्रकृति का वह विधान है जो प्रकृति के अधोमुख और अस्तव्यस्त कर्म के स्तर से उसके ऊर्ध्वमुख और सुव्यवस्थित कर्म के स्तर में विकसित होने का प्रयास करता है, काम-क्रोध-लोभ और अज्ञान में नहीं जिसका फल दुःख और अशान्ति है, बल्कि ज्ञान और प्रकाश में कार्य करने का प्रयास करता है जिसका फल आन्तरिक सुख, समत्व और शान्ति है। जबतक हम सबसे उत्तम गुण सत्व के विधान को अपने अन्दर पहले विकसित और प्रतिष्ठित नहीं कर लेते, तबतक हम त्रिगुण के पार नहीं पहुँच सकते।

"कुकर्मी मुझे नहीं पा सकते जो मूढ़ हैं, नराधम हैं, क्योंकि", भगवान् कहते हैं कि, "मायासे उनका ज्ञान खो गया है और वे आसुर भाव को प्राप्त हुए हैं।" यह मूढ़ता प्रकृतिस्थ जीवको मायिक अहंकार का अपने जाल में फंसाना है। कुकर्मी को जो परम पुरुष की प्राप्ति नहीं हो सकती इसका कारण ही यह है कि यह सदा ही मानव-प्रकृति के निम्नतम स्तर पर रहनेवाले अपने इस इष्ट देवता अहंकार को ही पूजा करता है; अहंकार ही उसका यथार्थ परमेश्वर बन बैठता है। उसके मन और संकल्प को त्रिगुणात्मिका माया अपने व्यापार में घसीट ले जाती है और ये उसकी आत्मा का करण नहीं रह जाते बल्कि उसकी वासनाओं के, स्वेच्छा से या अपने-आपको धोखा देकर, गुलाम बन जाते हैं। वह तब अपनी निम्न प्रकृति को ही देखता है, उस परम आत्मा और परम पुरुष या परमेश्वर को नहीं जो उसके और जगत् के अन्दर हैं; वह सारे जगत् को अपने मन में अहंकार और काम की भाषा में समझा करता और अहंकार और कामना की ही सेवा किया करता है। अहंकार और कामना को पूजना और ऊर्ध्वमुखी प्रकृति और उच्चतर धर्म की कोई अभीप्सा न रखना असुर के मन और स्वभाव को प्राप्त करना है।

ऊपर उठने के लिए प्रथम आवश्यक सोपान ऊर्ध्वमुखी प्रकृति और उच्चतर धर्म की अभीप्सा करना, कामेच्छा की अपेक्षा किसी महत्तर विधान का पालन करना, और अहंकार से बड़े और श्रेष्ठ देवता को जानना और पूजना, सद्विचार से युक्त होना और सत्कर्म का कर्मी बनना ही है। पर इतना ही बस नहीं है ; क्योंकि सात्विक मनुष्य भी गुणों के चक्कर में बंधा रहता है, क्योंकि अब भी वह राग-द्वेषके द्वारा ही नियंत्रित होता है। वह प्रकृति के नाना रूपों के चक्र में घूमता रहता है, उसे उच्चतम, परम और समग्र ज्ञान प्राप्त नहीं होता। तथापि सदाचार-संबंधी अपने लक्ष्यकी ओर अपनी निरंतर ऊर्ध्वमुखीन अभीप्सा के बल से वह अन्त में पाप के मोहसे—जो पाप रजोगुण से उत्पन्न काम-क्रोध से ही पैदा होता है, उससे—मुक्त होता और अपनी प्रकृति को ऐसी विशुद्ध बना लेता है कि वह उसे त्रिगुणात्मिका माया के विधान से छुड़ा देती है। पुण्य से ही कोई परम को नहीं पा सकता, पर पुण्य से[1] वह उसे पाने का 'अधिकारी' होता है। अधकचरे राजस या कुन्द तामस अहंकार को हटा देना और उससे ऊपर उठना बड़ा कठिन होता है ; सात्विक अहंकार को हटाना या उससे ऊपर उठना उतना कठिन नहीं होता और अभ्यास से जब अंत में वह यथेष्ट रूप से सूक्ष्म और प्रकाशयुक्त हो जाता है तब उसे पार कर जाना, उसे रूपान्तरित करना या मिटा देना भी आसान हो जाता है।

इसलिए मनुष्य को सर्वप्रथम सुकृती, सदाचारी होना चाहिए और तब आचारधर्म में ही अटके न रहकर ऊपर की ओर अध्यात्मप्रकृति के उस प्रकाश, विशालता और शक्ति की ओर आगे बढ़ना चाहिये जहाँ वह द्वन्द्वों की पकड़ और उसके मोह के परे पहुँच जाता है। तब वह अपने वैयक्तिक हित या सुख की खोज नहीं करता न अपने वैयक्तिक दुःख या पीड़ासे मुंह मोड़ता है ; क्योंकि वहाँ इन चीजों का उसपर कोई असर ही नहीं पड़ता न उसके मुखसे कोई ऐसी बात ही निकलती है कि "मैं पुण्यात्मा हूँ", या "मैं पापात्मा हूँ।" प्रत्युत वह जो कुछ करता है, अपने ही आध्यात्मिक स्वभाव में स्थित होकर भगवदिच्छा से जगत्कल्याण के लिए करता है। हम देख चुके हैं कि इसके लिए पहले आत्म-ज्ञान, समत्व, निर्व्यक्तिक ब्रह्मभाव का होना आवश्यक है और यह भी देख चुके हैं कि यही ज्ञान और कर्म के बीच, आध्यात्मिकता और सांसारिक कार्य के बीच, कालातीत आत्मा की अचल निष्क्रियता और प्रकृति की क्रियाशील शक्ति की लीला के बीच सामंजस्यसाधन का मार्ग है। पर अब गीता उस कर्मयोगी के लिए जिसने अपने कर्मको ज्ञानयोग के साथ एक कर लिया है, एक और, इससे भी

१. स्पष्ट ही, सच्चे आन्तरिक पुण्य से विचार, भाव, चित्तवृत्ति, हेतु और आचार की सात्विक विशुद्धि से, केवल रूढ़ि या सामाजिक रीति-रिवाज से नहीं।

बड़ी चीजकी आवश्यकता बतलाती है। अब उससे केवल ज्ञान और कर्म की ही मांग नहीं की जाती बल्कि भक्ति की भी—भगवान् की ओर सच्ची लगन, उनकी पूजा, उनसे मिलने की अंतरात्मा की उत्कण्ठा भी चाही जाती है। यह मांग अभी तक उतने स्पष्ट शब्दों में तो नहीं प्रकट की गयी थी, पर जब गुरुने उसके योग को इस आवश्यक साधन की ओर फेरा था कि सब कर्मों को अपनी सत्ताके स्वामी श्रीभगवान् के लिए यज्ञरूप से करना होगा और इसकी परिणति इस बात में की थी कि सब कर्मों को केवल ब्रह्मार्पण ही नहीं बल्कि ब्रह्मभाव से परे जाकर उन सत्ताधीश्वर को समर्पित करना होगा जो हमारे सब संकल्पों और शक्तियों के मूल कारण हैं, तभी शिष्य का मन भक्ति की इस मांग के लिए तैयार किया जा चुका था। वहाँ जो बात गुप्त रूप से अभिप्रेत थी वही अब सामने आ गयी है और इससे हम गीता के उद्देश्य को भी और अधिक पूर्णता के साथ समझ सकते हैं।

अब परस्पर-आश्रित तीन वृत्तियाँ हमारे सामने हैं जो हमें हमारे प्राकृत भावसे छुड़ाकर भागवत और ब्रह्मभाव में आगे बढ़ा सकती हैं। गीता कहती है, "द्वन्द्वों के मोह से, जो रागद्वेष से उत्पन्न हुआ करता है, इस सृष्टि के सब प्राणी संमोह को प्राप्त होते हैं।"[1] यही वह अज्ञान, वह अहंभाव है जो सर्वत्र भगवान् को देखने और पकड़ने में असमर्थ रहता है, क्योंकि वह प्रकृति के द्वन्द्वों को ही देखा करता और सदा अपनी पृथक् वैयक्तिक सत्ता और उसी की अनुकूल और प्रतिकूल वृत्तियों में उलझा रहता है। इस चक्कर से छूटने के लिए हमारे कर्म में सबसे पहली जरूरी बात यह है कि हम प्राणमय अहंकार के पाप से, काम-क्रोध की आग से, रजोगुणी इच्छा के कोलाहल से बाहर निकल आयें; यह अपने नैतिक पुरुष की सात्विक प्रेरणा और संयम को दृढ़ करने से ही हो सकता है। जब यह काम हो चुकता है **"येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्"**[2], अथवा यह कहिये कि जब यह काम होता रहता है तभी—क्योंकि सात्विक वृत्ति के एक हद तक बढ़ने के बाद ही विलक्षण शान्ति, समता और त्रिगुणातिक्रमण की योग्यता उत्तरोत्तर बढ़ने लगती है—यह जरूरी होता है कि द्वन्द्वों के ऊपर उठकर निर्व्यक्तिक, सम, अक्षर ब्रह्मके साथ एक, सब भूतोंके साथ एकीभूत आत्मा होनेका अभ्यास किया जाय। आत्मस्वरूप को प्राप्त होने के इस अभ्यासक्रम से शुद्धि की पूर्णता होती है। पर जिस समय यह किया जा रहा हो, जब जीव इस प्रकार आत्मज्ञान की विशालता को अधिकाधिक प्राप्त हो रहा हो, उसी समय उसके लिए अपना भक्ति-भाव भी बढ़ाना आवश्यक होता है। क्योंकि उसे केवल समता की विशालता में स्थित होकर ही कर्म नहीं करना है, बल्कि भगवान् के लिये यज्ञकर्म भी करना

१. ७, २७ २. ७, २८

है, उन सर्वभूतस्थित भगवान् के लिए जिन्हें वह अभी पूर्ण रूप से नहीं जानता, पर पीछे जानेगा, समग्र रूप से, **'समग्रं माम्'** जानेगा जब उसे सर्वत्र और सब भूतों में उसी एक आत्मा के सतत दर्शन होंगे। समत्व की स्थिति और सर्वत्र एक आत्मा को देखने की दृष्टि जहाँ एक बार पूर्णरूप से प्राप्त हो गयी, जहाँ इस प्रकार **'द्वन्द्वमोहविनिर्मुक्ताः'** हो गये, वहाँ परा भक्ति, भगवान् के प्रति सर्वभावेन प्रेम-भक्ति ही जीव का संपूर्ण और एकमात्र धर्म बन जाती है। **"सर्वधर्मान्परित्यज्य"**—अन्य सभी धर्म उस एक शरणागति में मिल जाते हैं। तब जीव इस भक्ति में तथा अपनी संपूर्ण सत्ता, ज्ञान और कर्म के आत्मोत्सर्ग के व्रतमें दृढ़ हो जाता है; क्योंकि अब उसे सबके जन्म के मूल कारण भगवान् का सिद्ध, समग्र और एकीभाव उत्पन्न करनेवाला ज्ञान अपनी सत्ता और कर्म के सुदृढ़ आधार और स्वतः सिद्ध नींव के रूप से प्राप्त होता है, **"ते भजन्ते मां दृढ़व्रताः।"**

सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञान और निर्व्यक्तिक भाव प्राप्त हो चुकने के पश्चात् जीव का भक्ति की ओर लौट आना या चित्त की वृत्तियों का बना रहना जीव-दशा में ही लौट आना मालूम हो सकता है। क्योंकि भक्ति का प्रवर्त्तक भाव परम पुरुष और विश्वात्मा के प्रति व्यष्टि-जीव का प्रेम और पूज्यभाव ही हुआ करता है, अतः भक्ति में व्यक्तित्व का भाव, यहाँतक कि वह उसका आधार हुआ करता है। परन्तु यह आपत्ति गीता की दृष्टि में जरा भी नहीं आ सकती, क्योंकि गीता का लक्ष्य नैष्कर्म्य को प्राप्त होना और सनातन निर्व्यक्तिक सत्ता में लीन हो जाना नहीं, प्रत्युत सर्वात्मभाव से पुरुषोत्तम के साथ एक होना है। इस योग में जीव निश्चय ही अपनी निर्व्यक्तिक अक्षर आत्मसत्ता को प्राप्त कर अपने निम्न व्यक्तित्व से मुक्त हो जाता है; फिर भी वह कर्म करता है और सारा कर्म क्षर प्रकृति में स्थित समष्टि-जीव का होता है। अत्यधिक नैष्कर्म्य की कल्पना के शोधन के लिए यदि हम परम पुरुष के प्रति यज्ञ के भाव को न ले आवें तो कर्म को कोई विजातीय पदार्थ मानना होगा, यह समझना होगा कि यह गुणों के खेल का अवशेष है—इसके पीछे कोई दिव्य सत्य नहीं, समझना होगा कि अहंकार या अहंभाव का ही यह रहा-सहा नाशोन्मुख अंतिम रूप है, निम्न प्रकृति की गति का ही पहलेसे चला आया हुआ वेग मात्र है जिसके लिए हम जिम्मेदार नहीं, क्योंकि हमारा ज्ञान इसे अस्वीकार करता और इससे निकलकर विशुद्ध नैष्कर्म्य को प्राप्त होना चाहता है। परन्तु एकमेव आत्मा की प्रशान्त ब्राह्मी स्थिति को परमेश्वर के प्रीत्यर्थ किए जानेवाले प्रकृति के कर्मों के साथ एक करके, इस दोहरी कुंजी की सहायता से हम निम्नतर अहंभावमय व्यक्तित्व से मुक्त होकर अपने सच्चे आध्यात्मिक व्यक्तित्व के शुद्ध स्वरूप में

वर्द्धित होते हैं। तब हम निम्नतर प्रकृति में रहनेवाला बद्ध और अज्ञ अहं नहीं रह जाते, बल्कि पराप्रकृति में रहनेवाला मुक्त जीव बन जाते हैं। तब हम इस ज्ञान में नहीं रहते कि अक्षर निर्व्यक्तिक ब्रह्म और यह क्षर बहुविध प्रकृति दो परस्पर-विरोधी सत्ताएँ हैं, बल्कि हम उन पुरुषोत्तम के साक्षात् समालिंगन को प्राप्त हो जाते हैं जो हमारे स्वरूप की इन दोनों ही शक्तियों द्वारा एक साथ उपलब्ध होते हैं। ये तीनों ही आत्मा हैं और जो दो देखने में परस्पर-विरुद्ध से लगते हैं उस तीसरे के आमने-सामने के पार्श्वमात्र हैं जो इन दोनों से उत्तम है। भगवान् आगे चलकर स्वयं ही कहते हैं, "क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं, पर एक अन्य पुरुष भी है जो उत्तम है, जिसे परमात्मा कहते हैं, जो अव्यय ईश्वर है और तीनों लोकों में प्रवेश कर उनका पालन करता है। मैं ही क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम वह पुरुषोत्तम हूँ। जो मुझे पुरुषोत्तम जानता है, वही संपूर्ण ज्ञान और संपूर्ण भाव के साथ मेरी भक्ति करता है।"[1] अब गीता में संपूर्ण ज्ञान और संपूर्ण आत्मसमर्पणवाली इस भक्ति का ही आगे विस्तार होगा।

यह बात ध्यान में रहे कि गीता शिष्य से जिस भक्ति की अपेक्षा करती है वह ज्ञानयुक्त भक्ति है और भक्ति के जो अन्य प्रकार हैं उन्हें अच्छा समझते हुए भी ज्ञानयुक्त भक्ति की अपेक्षा नीचा ही मानती है; भक्ति के उन अन्य प्रकारों से लाभ हो सकता है, पर जीव के परमोत्कर्ष में वे गीता के अनन्य लक्ष्य नहीं हैं। जिन लोगों ने राजस अहंकार के पाप को अपनी प्रकृति से हटा दिया है और जो भगवान् की ओर बढ़ रहे हैं उनमें से गीता ने चार प्रकार के भक्त गिनाए हैं। कोई तो संसार के दु:ख-शोक से बचने के लिए उनका आश्रय ढूंढ़ते हैं, वे "आर्त्त" हैं। कोई उनका आश्रय सांसारिक कल्याण के लिए ढूंढ़ते हैं, वे "अर्थार्थी" हैं। कोई ज्ञान की इच्छा से उनके समीप जाते हैं, वे "जिज्ञासु" हैं। और, कोई ऐसे भी हैं जो उन्हें जानकर उन्हें पूजते हैं, वे "ज्ञानी" हैं। ये सभी भक्त गीता को स्वीकार हैं, पर उसकी पूर्ण सम्मति की छाप तो अंतिम प्रकार के भक्त पर ही लगी है। भक्ति के ये सभी प्रकार निश्चय ही उत्तम हैं, **"उदारा: सर्व एवैते"**, परन्तु ज्ञानयुक्त भक्ति ही इन सब में विशेष है, **"विशिष्यते।"** हम कह सकते हैं कि भक्ति के ये चार प्रकार क्रमश: ये हैं : प्रथम, प्राणगत भावमय प्रकृति की भक्ति है,[2] द्वितीय, व्यावहारिक गतिशील, कर्म-प्रधान प्रकृति की,

१. १५, १६-१९

२. उत्तरकालीन भावविभोर प्रेम की भक्ति मूलत: चैत्य प्रकृति की ही वस्तु है। केवल इसके निचले रूप और कोई-कोई बाह्य भाव ही प्राणगत भावुकता के द्योतक हैं।

तृतीय, तर्क-प्रधान बौद्धिक प्रकृति की और चतुर्थ, उस परम अंतर्ज्ञानमय सत्ता की भक्ति जो शेष सारी प्रकृति को भगवान् के साथ एकत्व में समेट लेती है। भक्ति के अंतिम प्रकार को छोड़ अन्य जितने प्रकार हैं वे वस्तुतः प्रारंभिक प्रयास ही माने जा सकते हैं। क्योंकि गीता स्वयं ही कहती है कि अनेकों जन्म बिताने के बाद कोई समग्र ज्ञान को पाकर तथा जन्म-जन्म उसे अपने जीवन में उतारने का साधन करके अन्त में परम को प्राप्त होता है। क्योंकि, यह जो कुछ है सब भगवान् है यह ज्ञान पाना बड़ा कठिन है और वह महात्मा पृथ्वी पर कोई विरला ही होता है जो **'सर्ववित्'** हो—सब कुछ के अन्दर भगवान् को देख सकता हो और इस सर्वसंग्राहक ज्ञान की वैसी ही व्यापक शक्ति से अपनी संपूर्ण सत्ता और अपनी प्रकृति की सब वृत्तियों के साथ, **'सर्वभावेन'**, उनमें प्रवेश कर सकता हो।

अब यह शंका उठ सकती है कि जो भक्ति केवल सांसारिक वरदान पाने के लिए भगवान् को ढूंढ़ती है अथवा जो दुःख-शोक के लिए उनका आश्रय लेती है और भगवान् के लिए ही भगवान् को नहीं चाहती वह उदार कैसे कहला सकती है? क्या ऐसी भक्ति में अहंकारिता, दुर्बलता और वासना-कामना ही प्रधान नहीं रहती, इसलिए क्या इसे भी निम्न प्रकृति की ही चीज नहीं समझना चाहिए? फिर, जहाँ ज्ञान नहीं वहाँ भक्त **"वासुदेवः सर्वमिति"** इस समग्र सर्वव्यापी सत्य को जानकर भगवान् की ओर नहीं जाता, बल्कि भगवान् के ऐसे अधूरे नाम और रूप गढ़ता है जो उसकी अपनी ही आवश्यकता, मनोदशा और प्रकृति के प्रतीक मात्र होते हैं और इन्हें वह इसलिए पूजता है कि ये उसकी प्राकृत लालसाओं में सहायक हों या उन लालसाओं को पूर्ण करें। वह इस भगवान् के इन्द्र, अग्नि, विष्णु, शिव, देवभूत ईसा या बुद्ध आदि नाम-रूप गढ़ा करता है अथवा यह कल्पना किया करता है कि भगवान् प्राकृत गुणों का कोई समुच्चय अथवा कोई दयामय और प्रेममय ईश्वर या कोई सत्यपरायण और न्यायकारी अति कठोर देवता या क्रुद्ध, भयानक और दण्डधर कालानल-स्वरूप महादेव या इनमें से कुछ गुणों के समुच्चय-स्वरूप कोई परमेश्वर हैं और वह बाहर में और मन तथा प्राण में उसीकी वेदी तैयार करता और उसे ही साष्टांग प्रणाम करता और उससे सांसारिक सुख और भोग देने के लिए या घावों को भरने के लिए या अपने भूलभरे कट्टर, बौद्धिक, असहिष्णु ज्ञान के सांप्रदायिक समर्थन जैसी चीजों की माँग करता है। यह सब एक हद तक सही है। ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है जो यह जानता हो कि सर्वव्यापी वासुदेव ही यह सब कुछ हैं, **"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।"**[1] मनुष्य नाना प्रकार की बाहरी इच्छाओं के वशीभूत होते हैं और ये इच्छाएँ उनके

१. ७-१९

अंतर्ज्ञान की क्रिया हर लेती है, "**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः।**" वे अज्ञानवश अन्य देवताओं की, अपनी इच्छा के अनुकूल भगवान् के अपूर्ण रूपों की शरण लेते हैं, "**प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।**" वे अपनी संकीर्णतावश एक-न-एक विधि-नियम और आचार-विचार स्थापित कर लेते हैं जो उनकी प्रकृति की आवश्यकताओं को पूरा करता है, "**तं तं नियममास्थाय।**" और, इस सब में उनका अपना अदम्य वैयक्तिक निर्णय ही उन्हें चलाता है, वे अपनी प्रकृति की इस तंग आवश्यकता के पीछे ही चलते हैं और उसीको परम सत्य मान लेते हैं, क्योंकि अभी तक उनमें अनन्त की व्यापकता को ग्रहण करने की क्षमता नहीं होती। यदि उनका विश्वास पूर्ण हो तो, इन रूपों में भगवान् उन्हें उनके इष्ट भोग अवश्य प्रदान करते हैं, परन्तु ये भोग क्षणिक होते हैं और केवल क्षुद्र बुद्धि और अविवेकवश ही लोग इन भोगों का पीछा करना अपने धर्म और जीवन का सिद्धान्त बना लेते हैं। और, इस तरह से जो कुछ भी आध्यात्मिक लाभ होता है वह देवताओं की ओर ले जानेवाला होता है; वे केवल क्षर प्रकृति के नाना-विध रूपों में स्थित भगवान् को ही अनुभव कर पाते हैं जो कर्म-फल देनेवाले होते हैं। पर जो प्रकृति से अतीत समग्र भगवान् को पूजते हैं वे यह सब भी ग्रहण करते और इसे दिव्य बना लेते हैं, देवताओं को उनके परम स्वरूप तक, प्रकृति को उसके शिखर तक चढ़ा ले जाते हैं और उनके परे परमेश्वर तक जा पहुँचते हैं, परम पुरुष भगवान् का साक्षात्कार करते और उन्हें प्राप्त होते हैं, "**देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।**"[1]

तथापि उन भक्तों की दृष्टि अपूर्ण होने के कारण भगवान् उनका कभी परित्याग नहीं करते। क्योंकि भगवान् अपने परात्पर परम स्वरूप में अज, अव्यय और इन सब अंशभूत रूपों से श्रेष्ठ होने के कारण अनायास किसी प्राणी की समझ में नहीं आ सकते। वे माया के इस घने पटल से, अपनी उस योगमाया से अपने-आपको ढँके हुए हैं जिसके द्वारा वे जगत् के साथ एक, और फिर भी उसके परे हैं, अंतर्यामी हैं, पर छिपे हुए, सबके हृदयों में अवस्थित हैं, पर हर किसीपर प्रकट नहीं। प्रकृति में स्थित मनुष्य समझता है कि प्रकृति में दृश्यमान ये सब पदार्थ भगवान् ही हैं जब कि यथार्थ में ये सब केवल उनके कार्य, शक्तियाँ और आवरण मात्र हैं। भगवान् भूत, वर्तमान और भविष्य की सभी वस्तुओं को जानते हैं पर उन्हें कोई नहीं जानता। इस कारण यदि प्रकृति में अपनी क्रिया के द्वारा सब प्राणियों को इस प्रकार भरमाकर वे इन सब पदार्थों के अन्दर उन्हें दर्शन न दें तो माया में बद्ध किसी मनुष्य या जीव के लिए कोई दिव्य आशा न

---

१. ७, २३

रह जायगी। इसीलिए इन भक्तों की प्रकृति के अनुसार, जैसे भी ये भगवान् की ओर चलते हैं वैसे ही, भगवान् इनकी भक्ति को ग्रहण करते हैं और भागवत प्रेम और करुणा बरसाकर उनकी पुकार का उत्तर देते हैं। ये रूप हैं भी तो आखिर उन्हीं का एक ऐसा आविर्भाव जिसमें से होकर अपूर्ण मानवी बुद्धि उनका स्पर्श पा सकती है, ये कामनाएँ ही वह प्रथम साधन बन जाती हैं जिससे हमारे हृदय उनकी ओर फिरते हैं। और, फिर किसी प्रकार की भक्ति, चाहे वह कितनी ही संकुचित और मर्यादित क्यों न हो, बेकार नहीं होती। इसकी एकमात्र महती आवश्यकता है श्रद्धा-विश्वास। भगवान् कहते हैं, "श्रद्धा के साथ जो कोई भक्त मेरे जिस किसी रूप को पूजना चाहता है, मैं उसकी वह श्रद्धा उसीमें अचल बना देता हूँ।"[1] वह अपने मतवाद और उपासना की उस श्रद्धा के बल पर अपनी इच्छा पूर्ण करा लेता और उस आध्यात्मिक अनुभूति को लाभ करता है जिसका वह उस समय अधिकारी होता है। भगवान् से अपना सर्वविध कल्याण माँगते-माँगते वह अंत में भगवान् को ही अपना सर्वविध कल्याण जानने लगता है। अपने सब सुखों के लिए भगवान् पर निर्भर होकर वह अपने सब सुखों को भगवान् पर ही केन्द्रीभूत करना सीख लेता है। भगवान् को उनके रूपों और गुणों से जानकर वह उन्हें उस समग्र और परम रूप में जानने लगता है जो सबका मूल है।[2]

इस प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ भक्ति ज्ञान के साथ एक हो जाती है। जीव भगवान् में आनन्द लाभ करता है, उन्हें अखिल सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप जानता है, सब पदार्थों, प्राणियों और घटनाओं में उन्हींको अनुभव करता है, प्रकृति में, पुरुष में, उन्हींको देखता और प्रकृति और पुरुष के परे उन्हीं को जानता है। वह **"नित्ययुक्त"** है, सतत भगवान् के साथ युक्त है; उसका संपूर्ण जीवन और उसकी सत्ता उन परम के साथ सनातन योग से युक्त है जिनके परे, जिनसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है, उन विश्वात्मा के साथ युक्त है जिनके अतिरिक्त और कोई नहीं, कुछ भी नहीं। वह **"एकभक्तिः"** है, उसकी सारी भक्ति उन्हीं एक पर केन्द्रित है, किसी आंशिक देवता, विधि-विधान या संप्रदाय पर नहीं। उसके जीवन का संपूर्ण और एकमात्र नियम

१. ७, २१

२. परम की प्राप्ति के पश्चात् भी आर्त्त आदि त्रिविध कनिष्ठ भक्तिभावों के लिये अवकाश रहता है, अवश्य ही तब ये भाव संकीर्ण और वैयक्तिक नहीं होते, बल्कि दिव्यता में परिणत हो जाते हैं; क्योंकि परम की प्राप्ति के बाद भी यह प्रबल इच्छा बनी रह सकती है कि इस प्राकृत जगत् से दुःख, दुष्कर्म और अज्ञान दूर हों और परम कल्याण, शक्ति, आनन्द और ज्ञान का इसमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकास और पूर्ण प्राकट्य हो।

अनन्य भक्ति है, वह सब धार्मिक मत-मतांतरों, आचारों और जीवन के वैयक्तिक उद्देश्यों को पार कर चुका है। उसे कोई दुःख नहीं है जो दूर करने हों, क्योंकि वह सर्वानन्दमय परमात्मा को पा चुका है। उसकी कोई इच्छाएँ नहीं हैं जिनके पीछे वह भटकता फिरे, क्योंकि वह उसे पा चुका है जो सबसे ऊँची चीज है, जो सब कुछ है, और सदा उस सर्व-शक्ति के समीप है जो संपूर्णता की देनेवाली है। उसमें कोई शंका या चकरानेवाली खोज नहीं बची, क्योंकि उसपर सारा ज्ञान उस ज्योति से प्रवाहित हुआ करता है जिसमें वह निवास करता है। वह पूरी तरह भगवान् से प्रेम करता और भगवान् का प्यारा होता है ; क्योंकि जैसे उसे भगवान् से आनन्द मिलता है वैसे ही भगवान् भी उससे आनन्द लाभ करते हैं। यही वह भगवत्प्रेमी है जो ज्ञान से युक्त है, ज्ञानी भक्त है। और, यह "ज्ञानी-भक्त" गीतामें भगवान् कहते हैं कि, "मेरी आत्मा है" अन्य भक्त भगवान् के केवल प्रकृति-गत भाव और स्वरूप ग्रहण करते हैं और वह उन पुरुषोत्तम के निज स्वरूप और समग्र स्वरूप को ही ग्रहण करता है जिनके साथ वह एक हो जाता है। उसीका पराप्रकृति में दिव्य जन्म होता है—स्वरूप से समग्र, संकल्प में पूर्ण, प्रेम में अनन्य, ज्ञान में सिद्ध। उसीमें जीव का वैश्व जीवन चरितार्थ होता है, कारण वह अपने-आपको ही पार कर जाता और इस तरह अपने ही संपूर्ण और परम सत्य-स्वरूप को प्राप्त होता है।

परम ईश्वर[1]

सातवें अध्याय में जो कुछ कहा जा चुका है उससे हमारी नवीन पूर्णतर भूमिका की तैयारी होती है और इसकी असंदिग्धता भी यथेष्ट रूप से स्थापित हो जाती है। तात्पर्यरूप से बात यह आती है कि हमें अंतर्मुख होकर एक महान् चैतन्य और एक परम भाव की ओर, विश्व-प्रकृति का सर्वथा त्याग करके नहीं बल्कि हम इस समय वास्तविक रूप से जो कुछ हैं उसकी उच्च स्तर की अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णता साधित करके, चलना है। हमें मर्त्य जीवन की अपूर्णता को परिवर्तित करके अपने स्वरूप की दिव्य पूर्णता सिद्ध करनी है। इस पूर्णता की सम्भावना जिस भावना के आधार पर की जाती है वह प्रथम भावना यही है कि मनुष्य के अन्दर व्यष्टि-जीव अपने सनातन स्वरूप और मूल शक्ति के हिसाब से परमात्मा परमेश्वर की ही एक किरण है और उसीका यहाँ छिपा हुआ आविर्भाव है, उसीकी सत्ता का एक सत्स्वरूप, उसीकी चेतनाकी एक चेतना और उसी के स्वभाव का एक स्वभाव है, पर वह इस मनोमय और अन्नमय जगत् के अंधकार में, अपने उद्गम और अपने सत्स्वरूप और अपने सत्स्वभाव को भूला हुआ है। दूसरी भावना है तन-मन-प्राणरूप से आविर्भूत जीव की द्विविध प्रकृति की—एक है मूल प्रकृति जिसमें यह जीव अपने वास्तविक आत्मस्वरूप के साथ एक है, और दूसरी है निम्न प्रकृति जिसमें यह अहंकार और अज्ञान की भ्रामक-परंपरा के अधीन है। इस दूसरी को त्यागकर अंतर्मुख होकर असली अध्यात्म-प्रकृति को प्राप्त करना, उसको पूर्ण करना, उसे सशक्तिक और कर्मशील बनाना होता है। एक आंतरिक आत्म-पूर्णता, एक नवीन स्वरूप-स्थिति प्राप्त कर, एक नयी शक्तिमें जन्म लेकर हम अध्यात्म-प्रकृति में लौट आते और फिर से उन परमेश्वर का एक अंश बनते हैं जिनसे हम इस मर्त्य शरीर में आये हैं।

यहाँ उस समय के प्रचलित भारतीय विचार के साथ एक अंतर है, यह उतना निषेधात्मक नहीं बल्कि अधिक स्वीकारात्मक है। यहाँ प्रकृति के आत्मविलोपन के अभिभूत करनेवाले विचार की जगह एक अधिक विस्तृत और श्रेष्ठ

१. गीता अ० ७, २९-३०; अ० ८

समाधान मिलता है, वह है प्रकृति में आत्म-परिपूर्णता का सिद्धान्त। इसमें, गीता के बहुत पीछे भक्ति-संप्रदायों की जो वृद्धि हुई उसका, कम-से-कम, पूर्वाभास भी मिलता है। हमें अपनी इस प्राकृत अवस्था के परे, जिस अहंभावापन्न सत्ता में हम रहते हैं उसके पीछे छिपी हुई, जिस सत्ता की प्रथम अनुभूति होती है वह सत्ता गीता के मत में भी वही महान् निरहं अक्षर अचल ब्रह्म-सत्ता है जिसकी समता और एकता के अन्दर हमारा क्षुद्र अहंकारगत व्यष्टिभाव लीन हो जाता है और उसकी प्रशान्त पवित्रता के अन्दर हमारी सब क्षुद्र कामना-वासनाएँ छूट जाती हैं। परन्तु इसके बाद जो पूर्णतर अनुभूति होती है उसमें हमारे सामने वे अनन्त भगवान् सशक्त रूप से प्रकट होते हैं जिनकी सत्ता अपरिमेय है, हम—पुरुष, प्रकृति, जगत् और ब्रह्म सभी—जो कुछ भी हैं उन्हीं से निकले हैं और उन्हीं के हैं। जब हम आत्मा में उनके साथ एक होते हैं तो अपने-आपको खो नहीं देते, बल्कि अनन्त की महामहिम परम सत्ता में स्थित अपने वास्तविक स्वरूप में आ जाते हैं। यह काम एक साथ तीन क्रियाओं के द्वारा होता है—(१) भगवान् की तथा अपनी पराप्रकृति के आधार पर अपने सब कर्मों को करना और उनके द्वारा अपने पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार करना, (२) जिन भगवान् में यह सब कुछ है और जो स्वयं सब कुछ हैं उन्हें जानकर अपने स्वरूप को पूर्ण रूप से प्राप्त होना, और (३) इन सबसे अधिक अमोघ और परम समर्थ क्रिया—अपने कर्मों के अधीश्वर, अपने हृदय-निवासी, अपने समग्र जाग्रत् जीवन के आधार उन समग्र और परम की ओर आकर्षित होकर सर्वभाव से प्रेम और भक्ति के द्वारा अपने-आपको उन्हें समर्पित कर देना। हम उन्हें जो हमारे सब कुछ के मूल हैं, हम वह सब कुछ समर्पित कर देते हैं जो कि हम हैं। हमारे सतत समर्पण-कर्म से हम जो कुछ जानते हैं वह सब उन्हीं का ज्ञान और हमारा संपूर्ण कर्म उन्हीं की शक्ति की ज्योति हो जाता है। हमारे आत्मसमर्पण में जो वेगवान् प्रेमप्रवाह होता है वह हमें उन्हीं के पास ले जाता और उनके स्वरूप का गभीरतम मर्म हमारे सामने खोलकर रख देता है। प्रेम यज्ञ के त्रिसूत्र को पूर्ण करता और **"उत्तमं रहस्यम्"** को खोलने की त्रिविध कुंजी को पूर्ण रूप से गढ़ लेता है।

हमारे आत्मसमर्पण में समग्र ज्ञान का होना उसकी कार्यक्षम शक्ति की पहली शर्त है। और इसलिए हमें सबसे पहले इस पुरुष को **"तत्वतः"** अर्थात् इसकी भागवत सत्ता की सब शक्तियों और तत्वों के रूप में, इसके संपूर्ण सामंजस्य के रूप में, इसके सनातन विशुद्ध स्वरूप तथा जीवनलीला के रूप में जानना होगा। परन्तु प्राचीन मनीषियों की दृष्टि में इस तत्वज्ञान का सारा मूल्य बस इस मर्त्य जगत् से मुक्त होकर एक परम जीवन के अमृतत्व को प्राप्त करने की साधना में ही

निहित था। इसलिए गीता अब यह बतलाती है कि यह मुक्ति भी, इस मुक्ति की परमावस्था भी किस प्रकार गीता की अपनी आध्यात्मिक आत्मपरिपूर्णता की साधना का एक परम फल है। यहाँ गीता के कथन का यही आशय है कि पुरुषोत्तम का ज्ञान ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान है। जो मुझे अपनी दिव्य ज्योति, अपना उद्धारकर्ता, अपनी अन्तरात्माओं को ग्रहण और धारण करनेवाला मानकर मेरी शरण लेते हैं **'माम् आश्रित्य'**—भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि, जो जरामरण से, मर्त्य जीवन और उसकी सीमाओं से मुक्त होने के लिए मेरा आश्रय लेकर साधन करते हैं वे उस ब्रह्म को, संपूर्ण अध्यात्म-प्रकृति और अखिल कर्म को जान लेते हैं। और चूँकि वे मुझे जानते हैं और साथ ही जीव की अपरा और परा प्रकृति तथा यज्ञस्वरूप इस जगत्कर्म के स्वामी की सत्यता को जानते हैं, अतः वे इस भौतिक जीवन से प्रयाण करने के नाजुक समय भी मेरा ज्ञान रखते हैं और उस क्षण में उनकी सम्पूर्ण चेतना मेरे साथ एक हो जाती है। अतः वे मुझे प्राप्त होते हैं। मृत्यु-संसार-सागर से निकलकर वे उस परब्रह्मपद को उतनी ही सफलता के साथ पाते हैं जितनी सफलता से वे लोग जो अपने पृथक् व्यष्टिभाव को निरहं अक्षर ब्रह्म में घुला-मिला देते हैं। इस प्रकार गीता का यह महत्वपूर्ण और निश्चयात्मक सप्तम अध्याय समाप्त होता है।

यहाँ कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द आये हैं जो संक्षेप से जगद्रूप में भागवत आविर्भाव के प्रधान मौलिक सत्यों का परिचय कराते हैं। वहाँ इसके सभी कारण और कार्य रूप मौजूद हैं, वह सारी चीज मौजूद है जिसका जीव को सम्पूर्ण आत्मज्ञान की ओर लौटने में काम पड़ता है। सबसे पहले है **'तद्ब्रह्म'**; दूसरा है अध्यात्म अर्थात् प्रकृति में स्थित आत्मतत्व; इसके बाद हैं 'अधिभूत' और 'अधिदैव' अर्थात् आत्मसत्ता के 'इदं' और 'अहं' पदार्थ; अंत में है अधियज्ञ अर्थात् विश्वकर्म और यज्ञ का गूढ़ तत्व। यहाँ श्रीकृष्ण के कहने का आशय यह है कि इन सबके ऊपर जो 'मैं' हूँ 'पुरुषोत्तम', उस मुझको इन सबमें होकर और इन सबके परस्पर-सम्बन्धों के द्वारा ढूंढना और जानना होगा **(मां विदुः)**—यही उस मानवचैतन्य के लिए एकमात्र सर्वांगपूर्ण पथ है जो मेरे पास लौट आना चाहता है। परन्तु शुरू में इन पारिभाषिक शब्दों से यह बात सर्वथा स्पष्ट नहीं होती, इनसे भिन्न-भिन्न अर्थ निकल सकते हैं; इसलिए इस प्रसंग में इनके वास्तविक अभिप्राय को स्पष्ट करा लेने के लिए शिष्य अर्जुन ने जो प्रश्न किया उसका उत्तर भगवान् अति संक्षेप से देते हैं—गीता ने कहीं भी केवल दार्शनिक दृष्टि से किसी बात की व्याख्या बहुत विस्तार से नहीं की है, वह उतनी ही बात बतलाती है और इस ढंग से बतलाती है कि जीव उस तत्व को ग्रहण मात्र कर ले और स्वानुभव की ओर आगे बढ़े।

'तद्ब्रह्म' पद उपनिषदों में भूतभाव के विपरीत स्वत:सिद्ध सद्वस्तु के लिए बारंबार प्रयुक्त हुआ है, गीता में यहाँ इस पद से **'अक्षरं परमम्'** अर्थात् उस अक्षर ब्रह्मसत्ता का अभिप्राय मालूम होता है जो भगवान् का परम आत्मप्रकाश है और जिसकी अपरिवर्तनीय सनातनी सत्ता के ऊपर यह चल और विकसनशील जगत् ठहरा हुआ है। अध्यात्म से अभिप्राय है 'स्वभाव' अर्थात् वह चीज जो परा प्रकृति में जीव का आत्मगत भाव और विधान है। गीता कहती है कि 'कर्म' 'विसर्ग' का नाम है अर्थात् उस सृष्टि-प्रेरणा और शक्ति का जो इस आदि मूलगत स्वभाव से सब चीजों को बाहर छोड़ती है और उस स्वभाव के ही प्रभाव से प्रकृति में सब भूतों की उत्पत्ति, सृष्टि और पूर्णता साधित करती है। 'अधिभूत' से अभिप्राय है 'क्षर भाव' अर्थात् परिवर्तन की सतत क्रिया के परिणाम। 'अधिदैव' से वह पुरुष, वह प्रकृतिस्थ अंतरात्मा अर्थात् वह अहंपदवाच्य जीव अभिप्रेत है जो अपनी मूलसत्ता के समूचे क्षरभाव को, जो प्रकृति में कर्म के द्वारा साधित हुआ करता है, अपनी चेतना के विषय-रूप से देखता और भोग करता है। 'अधियज्ञ' से, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि, 'मैं' स्वयं अभिप्रेत हूँ—'मैं' अर्थात् अखिल कर्म और यज्ञ के प्रभु, भगवान् परमेश्वर, पुरुषोत्तम जो यहाँ इन सब देहधारियों के शरीर में गुप्त रूप से विराजमान हैं। अत: जो कुछ है सब इसी एक सूत्र में आ जाता है।

इस संक्षिप्त विवरण के पश्चात् गीता तुरत ही ज्ञान से परम मोक्ष प्राप्त होने की भावना का विवेचन करने की ओर अग्रसर होती है जिसका निर्देश पूर्वाध्याय के अन्तिम श्लोक में किया गया है। गीता इस विषय में अपने विचार की ओर बाद में आयेगी और वह परतर प्रकाश देगी जो कर्म और आन्तरिक अनुभूति के लिए आवश्यक है, उपर्युक्त पारिभाषिक शब्दों द्वारा जो चीज सूचित होती है उसके पूर्णतर ज्ञान के लिए हम तबतक प्रतीक्षा कर सकते हैं। पर आगे बढ़ने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम इन वस्तुतत्वों के बीच जो परस्पर-सम्बन्ध है उसे उतने स्पष्ट रूप से देख लें जितना इस श्लोक से तथा इसके पूर्व जो कुछ कहा गया है उससे समझ सकते हैं। क्योंकि, यहाँ विसर्गका जो क्रम है उसके सम्बन्ध में ही गीता ने अपना अभिप्राय सूचित किया है। इस क्रम में सर्वप्रथम ब्रह्म अर्थात् परम, अक्षर, स्वत:सिद्ध आत्मभाव है; देशकाल-निमित्त में होनेवाले विश्वप्रकृति के खेल के पीछे सर्वभूत यही ब्रह्म है। उस आत्मसत्ता से ही देश, काल और निमित्त की सत्ता है और उस परिवर्तनीय सर्वस्थित परन्तु फिर भी अविभाज्य आश्रय के बिना देश, काल, निमित्त अपने विभाग, परिणाम और मान निर्माण करने में प्रवृत्त नहीं हो सकते। परन्तु अक्षर ब्रह्म स्वत: कुछ नहीं करता, किसी कार्य का कारण नहीं होता, किसी बात का विधान नहीं करता; वह निष्पक्ष, सम और सर्वाश्रय

है ; वह चुनता या आरम्भ नहीं करता। तब यह संकल्प करनेवाला, विधि-विधान करनेवाला कौन है, परम की वह दिव्य प्रेरणा देनेवाला कौन है ? कर्म का नियामक कौन है और कौन है जो सनातन सद्वस्तु से काल के अन्दर इस विश्व-लीला को प्रकट करता है ? यह 'स्वभाव' रूप से प्रकृति है। परम, परमेश्वर, पुरुषोत्तम अपनी सत्ता से उपस्थित हैं और वे ही अपनी सनातन अक्षर सत्ता के आधार पर अपनी परा आत्मशक्ति के कार्य को धारण करते हैं। वे अपनी भागवती सत्ता, चैतन्य, संकल्प या शक्ति को प्रकट करते हैं—**"ययेदं धार्यते जगत्"**, वही परा प्रकृति है। इस परा प्रकृति में आत्मा का स्वबोध आत्मज्ञान के प्रकाश में गतिशील भाव को, वह जिस चीज को अपनी सत्ता में अलग करता और अपने स्वभाव में अभिव्यक्त करता है, उसके प्रकृत सत्य को, जीव के आध्यात्मिक स्वभाव को देखता है। प्रत्येक जीव का स्वगत सत्य और आत्मतत्व जो स्वयं अपनी क्रिया के द्वारा बाह्य रूप में व्यक्त होता है, जो सबके अन्दर मूलभूत भागवत प्रकृति है जो सब प्रकार के परिवर्तनों, विपर्ययों और पुनर्भवों के पीछे सदा बनी रहती है, वही स्व-भाव है। स्वभाव में जो कुछ है वह उसमें से विश्व-प्रकृति के रूप में छोड़ा जाता है ताकि विश्वप्रकृति पुरुषोत्तम की भीतरी आँख की देख-रेख में उससे जो कर सकती हो करे। इस सतत स्वभाव में से अर्थात् प्रत्येक संभूति की मूल प्रकृति और उसके मूल आत्मतत्व में से नानात्व का निर्माण करके यह विश्वप्रकृति उसके द्वारा उस स्वभाव को अभिव्यक्त करने का प्रयास करती है। वह अपने ये सब परिवर्तन नाम और रूप, काल और देश तथा दिक्-काल के अन्दर एक अवस्था से दूसरी अवस्था के उत्पन्न होने का जो क्रम है जिसे हम लोग 'निमित्त' कहते हैं, उस निमित्त के रूप में खोलकर प्रकट किया करती है।

एक स्थिति से दूसरी स्थिति उत्पन्न करने का उत्पत्तिक्रम और निरंतर परिवर्तन ही कर्म है, प्रकृतिकर्म, उस प्रकृति की ऊर्जा है जो कर्मकर्त्री और सब क्रियाओं की ईश्वरी है। प्रथमतः यह स्वभाव का अपने सृष्टिकर्म के रूप में निकल पड़ना है, इसीको विसर्ग कहते हैं। यह सृष्टिकर्म भूतों को उत्पन्न करनेवाला है—**"भूतकरः"** है और फिर ये भूत जो कुछ आंतर रूप से अथवा अन्य प्रकार से होते हैं उसका भी कारण है—**"भावकरः"** है। यह सब मिलकर काल के अन्दर पदार्थों का सतत जनन या 'उद्भव' है जिसका मूल तत्व कर्म की सर्जनात्मक ऊर्जा है। यह सारा क्षरभाव अर्थात् 'अधिभूत' प्रकृति की शक्तियों के सम्मिलन से निकल पड़ता है, यह अधिभूत ही जगत् है और जीव की चेतना का विषय है। इस सबमें जीव ही प्रकृतिस्थ भोक्ता और साक्षिभूत देवता है ; बुद्धि, मन और इन्द्रियों की जो दिव्य शक्तियाँ हैं, जीव की चेतन सत्ता की जो शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा

यह प्रकृति की क्रिया को प्रतिबिंबित करता है, इसके 'अधिदैव' अर्थात् अधिष्ठातृ-देवता हैं। यह प्रकृतिस्थ जीव ही इस तरह क्षर पुरुष है, भगवान् का नित्य कर्म-स्वरूप ; यही जीव प्रकृति से लौटकर जब ब्रह्म में आ जाता है तब अक्षर पुरुष होता है, भगवान् का नित्य नैष्कर्म्य-स्वरूप। पर क्षर पुरुष के रूप और शरीर में परम पुरुष भगवान् ही निवास करते हैं। अक्षरभाव की अचल शान्ति और क्षरभाव के कर्म का आनन्द दोनों ही भाव एक साथ अपने अन्दर रखते हुए भगवान् पुरुषोत्तम मनुष्य के अन्दर निवास करते हैं। वे हमसे दूर किसी परतर, परात्पर पद पर ही प्रतिष्ठित नहीं हैं, बल्कि यहाँ प्रत्येक प्राणी के शरीर में, मनुष्य के हृदय में और प्रकृति में भी मौजूद हैं। वहाँ वे प्रकृति के कर्मों को यज्ञरूप से ग्रहण करते और मानव जीव के सचेत होकर आत्मार्पण करने की प्रतीक्षा करते हैं ; परन्तु हर हालत में, मनुष्य की अज्ञानावस्था और अहंकारिता में भी वे ही उसके स्वभाव के अधीश्वर और उसके सब कर्मों के प्रभु होते हैं, प्रकृति और कर्म का सारा विधान उन्हींकी अध्यक्षता में होता है। उन्हींसे निकलकर जीव प्रकृति की इस क्षर-क्रीड़ा में आया है और अक्षर आत्मसत्ता से होता हुआ उन्हींके परम धाम को प्राप्त होता है।

मनुष्य संसार में जन्म लेकर प्रकृति और कर्म के चक्कर में लोक-परलोक के चक्कर काटता रहता है। प्रकृति में स्थित पुरुष—यही उसका सूत्र होता है। उसकी आत्मा जो कुछ सोचती, मनन करती और कर्म करती है, वह वही हो जाता है। वह जो कुछ रहा है उसीसे उसका वर्तमान जन्म बना ; और जो कुछ वह है, जो कुछ वह सोचता और इस जीवन में अपनी मृत्यु के क्षण तक करता रहता है उसीसे, वह मृत्यु के बाद परलोकों में और अपने भावी जीवनों में जो कुछ बननेवाला है, वह निश्चित होगा। जन्म यदि 'होना' है तो मृत्यु भी एक 'होना' ही है, किसी प्रकार समाप्ति नहीं। शरीर छूट जाता है, पर जीव, **"त्यक्त्वा कलेवरम्"** शरीर को छोड़कर अपने रास्ते पर आगे बढ़ता है। इस लोक से प्रयाण करने के संधिक्षण में वह जो कुछ हो उसी पर बहुत कुछ निर्भर है। क्योंकि मृत्यु के समय जिस संभूति के रूप पर उसकी चेतना स्थिर होती है और मृत्यु के पूर्व जिससे उसकी मन-बुद्धि सदा तन्मय रहती आयी है उसी रूप को वह प्राप्त होता है ; क्योंकि प्रकृति कर्म के द्वारा जीव के सब विचारों और वृत्तियों को ही कार्यान्वित किया करती है और यही असल में प्रकृति का सारा काम है। इसलिए मानव-आधार में स्थित जीव यदि पुरुषोत्तम-पद लाभ करना चाहता है तो उसके लिए दो बातें जरूरी हैं, दो शर्तों का पूरा होना जरूरी है। एक यह कि इस पार्थिव लोक में रहते हुए उसका संपूर्ण आंतरिक जीवन

उसी आदर्श के अनुकूल गढ़ जाय ; और दूसरी यह कि प्रयाण-काल में उसकी अभीप्सा और संकल्प वैसा ही बना रहे। भगवान् कहते हैं, "जो कोई अंतकाल में इस शरीर को छोड़कर मेरा स्मरण करता हुआ प्रयाण करता है, वह मेरे भाव को प्राप्त होता है।" अर्थात् पुरुषोत्तम-भाव को, **"मद्भाव"** को प्राप्त होता है।[1] वह भगवान् के मूल स्वरूप के साथ एक होता है और यही जीव का **"परो भावः"** है, कर्म के अपने असली रूप में आकर अपने मूल की ओर जाने का परम फल है। जीव जब विश्वप्रकृति (अपरा प्रकृति) की क्रीड़ा के पीछे-पीछे चलता है तब यह प्रकृति उसके पराप्रकृतिस्वरूप असली स्वभाव को ढाँक देती है, इस तरह जीव का जो चित्स्वरूप है वह नानाविध भूतभाव को धारण करता, तत्तद्भाव **(तं तं भावम्)** को प्राप्त होता है। इन सब भावों को पार कर जब वह अपने मूल स्वरूप में लौट आता है और इस लौट आने की वृत्ति अर्थात् निवृत्ति से होकर अपने सत्स्वरूप और सदात्मा को पा लेता है तो वह उस मूल आत्मपद को प्राप्त करता है जो निवृत्ति की दृष्टि से परम भाव को, 'मद्भाव' को प्राप्त होना है। एक अर्थ में हम कह सकते हैं कि इस तरह वह ईश्वर हो जाता है, क्योंकि अपने प्राकृत स्वरूप और सत्ता के इस परम रूपान्तर के द्वारा वह भगवान् के ही स्वरूप के साथ एक हो जाता है।

गीता इस प्रसंग में मृत्युकालीन मनःस्थिति और विचार का बड़ा महत्व बतलाती है। इस महत्व को समझना हमारे लिए बहुत कठिन हो सकता है यदि हम उस चीज को न जानते हों जिसे चेतना की स्वतःसिद्ध आत्मसर्जनात्मक शक्ति कहा जा सकता है। हमारा विचार, हमारी आंतरिक दृष्टि, हमारी श्रद्धा जिस किसी बात पर पूर्ण सुस्थिर होकर गड़ जाती है, उसीमें हमारी आंतरिक सत्ता परिवर्तित होने लगती है। यह प्रवृत्ति उस समय एक निर्णायक शक्ति बन जाती है जब हम उन उच्चतर आध्यात्मिक और स्वयं-विकसित अनुभवों को प्राप्त होते हैं जो बाह्य पदार्थों पर उतने अवलंबित नहीं होते जितनी कि बाह्य प्रकृति से बँधे होने के कारण हमारी सामान्य मनोगति हुआ करती है। वहाँ हम स्पष्ट देख सकते हैं कि हम जिस किसी वस्तु पर अपने मन को स्थिर कर लेते हैं और जिसकी निरंतर अभीप्सा करते हैं वही होते जाते हैं। इसलिए वहाँ अपने विचार का थोड़ी देर के लिए भी छूट जाना, स्मरण में जरा से भी व्यभिचार का आ जाना इस परिवर्तन-क्रम से पीछे हटना है या इस उन्नति-क्रम से नीचे गिरकर उसी जगह आ जाना है जहाँ हम पहले थे—यह बात कम-से-कम तबतक ऐसे ही चलती है जबतक हम अपने नवीन भाव—नवीन आधार-निर्माण को वास्तविक

१. ८, ५

रूप और अपरिवर्तनीय ढंग से स्थापित न कर चुके हों। जब यह हो जाता है, जब हम उस चीज को अपने सतत सामान्य अनुभव की-सी चीज बना लेते हैं तब उसकी स्मृति स्वत:सिद्ध रूप से रहा करती है, क्योंकि वह हमारी चेतना का ही स्वाभाविक रूप होती है। इससे, मर्त्य जगत् से प्रयाण करने के संघिक्षण में, तबतक हमारी चेतना जो कुछ बन चुकी है उसका महत्व स्पष्ट हो जाता है। पर यह मरण-शय्या पर किसी तरह भगवान् का वैसा नाम ले लेना नहीं है जिसका हमारी संपूर्ण जीवनधारा और हमारी पूर्वतन मन:स्थिति से कोई मेल न हो या जिसकी इनके द्वारा पहले से पूरी तैयारी न हुई हो। ऐसा नाम लेने में वह उद्धारक शक्ति नहीं हो सकती। यहाँ गीता जो बात बतला रही है वह वह चीज नहीं है जिसे सामान्य लौकिक धर्म मुक्ति का सहज मार्ग समझकर करते हैं; सारा जीवन अपवित्रता में बीता हो और फिर भी पादरी के द्वारा अंत में सर्वप्रायश्चित करा लेने से ही ईसाई का मरण-काल में पावन हो जाना अथवा पवित्र काशीधाम में मरने या पतितपावनी गंगा के तट पर मर जाने से ही मुक्ति का मिल जाना इत्यादि जो बेसिर-पैर की बातें हैं उनसे गीता की इस बात का कोई मेल नहीं है। जिस दिव्य भाव पर मन को प्रयाणकाल में अचल रूप से स्थिर करना, **'यं स्मरन् भावं त्यजति अन्ते कलेवरम्'**[1] होता है, वह तो वही भाव हो सकता है जिसकी ओर जीव अपने सांसारिक जीवन में प्रतिक्षण आगे बढ़ता रहा हो, **"सदा तद्भावभावित:"** रहा हो। "इसीलिए" भगवान् कहते हैं कि, "सदा ही मेरा स्मरण करते रहो और युद्ध करो; यदि तुम्हारे मन और बुद्धि सदा ही मुझपर स्थिर और अर्पित, **'मयि अर्पितमनोबुद्धि:'**, रहेंगे तो तुम निश्चय ही मेरे पास चले आओगे। क्योंकि सतत अविचल योगाभ्यास के द्वारा अनन्यचित्त होकर निरंतर परम पुरुष भगवान् का चिंतन करने से जीव उन्हींको प्राप्त होता है।"[2]

यहीं उन परम पुरुष भगवान् का सर्वप्रथम वर्णन आता है जो अक्षर ब्रह्म से भी उत्तम और महान् हैं और जिन्हें गीता आगे चलकर पुरुषोत्तम नाम प्रदान करती है। ये भगवान् भी अपनी कालातीत सनातन सत्ता में अक्षर हैं और यहाँ जो कुछ व्यक्त है उसके अतीत हैं और इस काल के अन्दर उन "अव्यक्त अक्षर" की केवल कुछ झाँकियाँ उनके विविध प्रतीकों और प्रच्छन्न वेशों द्वारा प्राप्त हुआ करती हैं। फिर भी वे केवल **"अलक्षणम् अनिर्देश्यम्"** नहीं हैं; या यह कहिये कि वे अनिर्देश्य केवल इसलिए हैं कि मनुष्य की बुद्धि जिसे अत्यंत सूक्ष्म अणु-परमाणु जानती है वे उससे भी अधिक सूक्ष्म हैं और इसलिए भी कि उनका रूप हमारे चिंतन के परे है, इसलिए गीता उन्हें **"अणोरणीयांसम्"**,

१. ८-६ २. ८. ७-८

"अचिन्त्यरूपम्" कहती है। ये परम पुरुष परमात्मा "कवि" अर्थात् द्रष्टा हैं, 'पुराण' हैं—किसी भी काल से पुरातन हैं और अपनी सनातन आत्मदृष्टि और ज्ञान में ही स्थित रहते हुए सब भूतों के 'अनुशासिता' तथा अपनी सत्ता में सबको यथास्थान रखनेवाले "धाता", **"कविं पुराणम् अनुशासितारं सर्वस्य धातारम्"** हैं।[1] ये परम पुरुष वही अक्षर ब्रह्म हैं जिसकी बात वेदविद् कहा करते हैं, ये ही 'वह' हैं जिनमें तपस्वी लोग वीतराग होकर प्रवेश करते और जिनके लिए ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं।[2] वही सनातन सत्ता परम (सर्वोच्च) पद है; इसलिए वही जीव की कालावच्छिन्न गति का परम लक्ष्य है, किन्तु, यह स्वयं गतिरूप नहीं, यह एक आदि, सनातन, परम अवस्था या स्थान, **'परमं स्थानम् आद्यम्'** है।

गीता योगी की उस अंतिम मनोवस्था का वर्णन करती है जिसमें वह मृत्यु के द्वारा जीवन से निकलकर उस परम भागवत सत्ता को प्राप्त होता है। उसका मन अचल होता है, वह योगबल से बलवान् और भक्ति से भगवान् के साथ युक्त होता है—यहाँ ज्ञान के द्वारा निर्गुण निराकार के साथ एकत्व ने भक्ति के द्वारा भगवान् से युक्त होने की बात को पीछे नहीं छोड़ दिया है, बल्कि यह भक्तियोग अंत तक परम योगशक्ति का एक अंग बना रहता है—उसका प्राण सर्वथा ऊपर चढ़ा हुआ भ्रूमध्य में आत्म-दर्शन के आसन पर सम्यक् रूप से स्थित रहता है। इन्द्रियों के सब द्वार बन्द रहते हैं, मन हृदय में निरुद्ध हो जाता है, प्राण अपनी विविध गतियों से हटकर मस्तक में आ जाता है, बुद्धि प्रणव के उच्चारण में तथा उसकी सारी भावना परम पुरुष परमेश्वर के चिंतन में एकाग्र होती है—**माम् अनुस्मरन्**। यही प्रयाण की परंपरागत योग-पद्धति है, सनातन ब्रह्म परम पुरुष परमेश्वर के प्रति योगी की संपूर्ण सत्ता का यह सर्वात्मसमर्पण है। फिर भी यह केवल एक पद्धति है, मुख्य बात जीवन में, कर्म और युद्ध तक में—**मामनुस्मर युद्धय च**—भगवान् का निरंतर अचल मन से स्मरण करना और संपूर्ण जीवन को "नित्ययोग" बना देना है। जो कोई ऐसा करता है, भगवान् कहते हैं कि, वह मुझे अनायास पा लेता है, वही महात्मा है, वही परम सिद्धि लाभ करता है।

इस प्रकार ऐहिक जीवन से प्रयाण करके जीव जिस स्थिति में पहुँचता है वह विश्वातीत स्थिति है। इस सृष्ट लोकपरंपरा के अन्दर जो उत्तमोत्तम स्वर्गलोक हैं उन सबको पाकर भी जीव पुनर्जन्म का भागी होता है; पर जो जीव पुरुषोत्तम को प्राप्त होता है वह पुनर्जन्म लेने के लिए बाध्य नहीं होता। अतः अनिर्देश्य ब्रह्म को प्राप्त करने की ज्ञानाभीप्सा से जो कुछ फल प्राप्त हो सकता

---

१. ८-९

२. ये शब्द उपनिषदों से ज्यों के त्यों लिए गए हैं।

है वह इन स्वत:सिद्ध परम पुरुष परमेश्वर को, जो सब कर्मों के अधीश्वर तथा सब मनुष्यों और प्राणियों के सुहृद् हैं, ज्ञान, कर्म और भक्ति के द्वारा प्राप्त होने की अभीप्सा के इस दूसरे और व्यापक मार्ग से भी प्राप्त होता है। उन भगवान् को इस प्रकार जानना और इस प्रकार उनका अनुसंधान करना जन्म-बंधन या कर्म-बंधन का कारण नहीं होता ; जीव इस मर्त्य जीवन की क्षणभंगुर और क्लेशदायिनी स्थिति से सदा के लिए मुक्त होने की इच्छा को पूर्ण कर सकता है। और, गीता इस जन्मचक्र तथा इससे छूटने की बात को और भी सुनिश्चित रूप से सामने रखने के लिए यहाँ विश्व की सृष्टि और लय के संबंध में जो प्राचीन मान्यता है उसे स्वीकार कर लेती है। सृष्टि और लय के संबंध में यह सिद्धान्त विश्व-प्रपंचविषयक भारतीय तत्वज्ञान का एक सुनिश्चित भाग है, जिसके अनुसार यह मानी हुई बात है कि इस भव-चक्र में विश्व की सृष्टि और फिर लय, विश्व के व्यक्त होने और फिर अव्यक्त हो जानेके काल बारी-बारी से आया करते हैं। विश्व के व्यक्त होकर रहने का काल सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का एक दिन और उसके अव्यक्त होकर रहने का काल एक रात कहाता है, ये दिन और रात क्रमश: होते रहते हैं। सहस्र युग का यह एक दिन ब्रह्मा का कर्मकाल है और विश्रांतिमय सहस्र युग की ही एक रात वह समय है जब ब्रह्मा सोते हैं। दिन के निकलने पर सब भूत व्यक्त होते और रात होने पर फिर अव्यक्त में मिल जाते हैं। इस प्रकार ये सब भूत विकल्प-क्रम से सृष्टि और लय के चक्र के साथ अवश होकर घूमा करते हैं; बार-बार उत्पन्न होते, **'भूत्वा भूत्वा'** और बार-बार अव्यक्त में जा मिलते हैं। पर यह अव्यक्त भाव भगवान् का आदि दिव्य भाव नहीं है ; वह एक दूसरी ही स्थिति, **"भावोऽन्य:"** है, इस विश्वगत अव्यक्त के परे एक विश्वातीत अव्यक्त है जो सदा अपने-आपमें स्थित है, वह व्यक्त होनेवाले इस विश्वपद के विपरीत नहीं है, बल्कि इसके बहुत ऊपर और इससे भिन्न है, अव्यय है, सनातन है जो इन भूतों के नाश होने के साथ नष्ट नहीं होता। "उसे अव्यक्त अक्षर कहते हैं, उसीको परम पुरुष और परमागति कहते हैं, उसे जो लोग प्राप्त होते हैं वे लौटकर नहीं आते, वही मेरा **'परमं धाम'** है।"[1] उसे जो कोई प्राप्त करता है वह इस व्यक्त और अव्यक्त भव-चक्र से निकल आता है।

हम विश्व की उत्पत्ति-प्रलय की इस धारणा को चाहे ग्रहण करें या अपने मन से हटा दें—क्योंकि यह इसपर निर्भर है कि हम **"अहोरात्रविद:"**—दिन और रात के जाननेवालों के ज्ञान को कितना महत्व देते हैं—पर मुख्य बात तो यह है कि यहाँ गीता इस विषय को कैसा मोड़ देती है। अनायास कोई समझ

१. ८-२१

सकता है कि यह सनातन अव्यक्त आत्मवस्तु, जिसका इस व्यक्ताव्यक्त जगत्के साथ कुछ भी संबंध नहीं प्रतीत होता, वही अलक्षित अनिर्वचनीय निरपेक्ष ब्रह्मसत्ता हो सकती है, और उसे पाने का रास्ता भी यही हो सकता है कि हम अभिव्यक्ति में संभूतिरूप से जो कुछ बने हैं उससे छुटकारा पा लें, यह नहीं कि अपनी बुद्धि की ज्ञान-वृत्ति, हृदय की भक्ति, मन के योगसंकल्प और प्राण की प्राणशक्ति—को एक साथ एकाग्र करके संपूर्ण अंतश्चेतना को उसकी ओर ले जायँ। विशेषत: भक्ति तो उस निरपेक्ष ब्रह्म के संबंध में अनुपयुक्त ही प्रतीत होती है, क्योंकि वह सब संबंधों से परे है, 'अव्यवहार्य' है। "परन्तु" गीता आग्रहपूर्वक कहती है कि यद्यपि यह स्थिति विश्वातीत और यह सत्ता सदा अव्यक्त है, तथापि "उन परम पुरुष को जिनमें सब भूत रहते हैं और जिनके द्वारा यह सारा जगत् विस्तृत हुआ है, अनन्य भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है।"[1] अर्थात् वह परम पुरुष सर्वथा संबंधरहित, निरपेक्ष, मायिक प्रपंचों से अलग नहीं हैं, बल्कि सर्व जगतों के द्रष्टा-स्रष्टा और शासक हैं और उन्हींको 'एक' और 'सर्व'—**वासुदेवः सर्वमिति**—जानकर और उन्हींकी भक्ति करके हमें अपने संपूर्ण चित्त से सब पदार्थों, सब शक्तियों, सब कर्मों में उनके साथ योग के द्वारा अपने जीवन की परम चरितार्थता, पूर्ण सिद्धि, परमामुक्ति प्राप्त करने में यत्नवान् होना चाहिए।

यहाँ अब और एक विलक्षण बात आती है जिसे गीता ने प्राचीन वेदान्त के रहस्यवादियों से ग्रहण किया है। यहाँ उन दो विभिन्न कालों का निर्देश किया गया है जिनमेंसे कोई एक काल का योगी पुनर्जन्म लेने या न लेने के लिए इच्छानुसार चुनाव कर सकता है। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण—यह एक काल है और धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन उसके विरुद्ध दूसरा काल है। पहले मार्ग से ब्रह्म के जाननेवाले ब्रह्म को प्राप्त होते हैं; पर दूसरे मार्ग से योगी लोग **"चान्द्रमसं ज्योतिः"** को प्राप्त होकर फिर से मनुष्यलोक में जन्म लेते हैं। ये शुक्ल और कृष्ण मार्ग हैं, उपनिषदों में इन्हें देवयान (देवताओं का मार्ग) और पितृयान (पितरों का मार्ग) कहा गया है; जो योगी इन मार्गों को जानता है वह भ्रम में नहीं पड़ता। शुक्ल-कृष्ण गति की धारणा[2] के पीछे

१. ४-२

२. योगानुभूति से यह मालूम होता है कि इस धारणा के पीछे वास्तव में एक मनोभौतिक सत्य है, अवश्य ही यह हर जगह हर हालत में अनिवार्य नहीं है; प्रकाश और अंधकार की शक्तियों के बीच जो आंतरिक युद्ध होता है उसमें प्रकाश की शक्तियों का दिन या वर्ष के प्रकाशमय समयों में विशेष प्रभाव होता है और अंधकार की शक्तियों का अंधकारमय समयों में, और यह हिसाब तबतक ऐसा ही चलता रह सकता है जबतक कि अंतिम विजय प्राप्त न हो जाय।

चाहे जो मानस-भौतिक सत्य हो या यह सत्य को लक्षित करानेवाला संकेतमात्र हो—इसमें संदेह नहीं कि यह धारणा उन रहस्यविदों के युग से चली आयी है जो प्रत्येक भौतिक पदार्थ को किसी-न-किसी मनोमय वस्तु के प्रतीक के रूप में देखा करते थे और जो हर जगह बाह्य और आभ्यंतर, प्रकाश और ज्ञान, अग्नि-तत्व और आध्यात्मिक ऊर्जा के बीच परस्पर व्यवहार तथा एक प्रकार के अभेद की ही खोज किया करते थे—यह जो कुछ हो—हमें तो उसी मोड़ को देखना है जिससे गीता इन श्लोकों का उपसंहार करती है। वह है, "अतएव, सब समय योगयुक्त रहो—**तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भव।**"[1]

क्योंकि वही असली बात है, संपूर्ण सत्ता से भगवान् के साथ युक्त होना, इतनी पूर्णता के साथ और इस तरह समस्त भावों से युक्त हो जाना कि यह योग स्वाभाविक और अनवच्छिन्न हो जाय और संपूर्ण जीवन, केवल विचार और ध्यान नहीं, बल्कि कर्म, श्रम, युद्ध सब कुछ भगवान् का ही स्मरण बन जाय। "**मामनुस्मर युद्धय च**—मेरा स्मरण करते चलो और युद्ध करो", इसका अर्थ ही यह है कि इस सांसारिक संघर्ष में जिसमें सामान्यतः हमारे मन डूबे रहते हैं, एक क्षण के लिए भी भगवान् का स्मरण न छूटे ; और यह एक ऐसी बात है जो बहुत ही कठिन, प्रायः असंभव ही प्रतीत होती है। यह सर्वथा संभव तभी होती है जब इसके साथ अन्य शर्तें भी पूरी हों। यदि हम अपनी चेतना में सबके साथ एक आत्मा बन चुके हैं—वह एक आत्मा जो सदा हमारी बुद्धि में स्वयं भगवान् हैं, और हमारे नेत्र तथा अन्य इन्द्रियाँ इन्हीं भगवान् को सर्वत्र इस प्रकार देखती और अनुभव करती हैं कि किसी भी समय किसी भी पदार्थ को हम वैसा नहीं अनुभव करते या समझते जैसा कि असंस्कृत बुद्धि और इन्द्रियाँ अनुभव करती हैं, बल्कि उसे उस रूप में छिपे हुए तथा साथ-ही-साथ उस रूप में प्रकट होनेवाले भगवान् ही जानते हैं, और यदि हमारी इच्छा भगवदिच्छा के साथ चेतना में एक हो चुकी और हमें अपनी इच्छा, अपनी मन-बुद्धि और शरीर का प्रत्येक कर्म उसी भगवदिच्छा से निःसृत, उसीका एक प्रवाह, उसीसे भरा हुआ या उसके साथ एकीभूत प्रतीत होता है तो गीता का जो कुछ कहना है वह पूर्ण रूप से किया जा सकता है। अब भगवत्स्मरण मन की रुक-रुककर होनेवाली कोई विशेष क्रिया नहीं, बल्कि अपने जीवन की सहज अवस्था और अपनी चेतना का सारतत्व बनकर होता रहेगा। अब जीव पुरुषोत्तम के साथ अपना यथार्थ, स्वाभाविक एवं आध्यात्मिक संबंध प्राप्त कर चुका है और हमारा संपूर्ण जीवन एक योग बन गया है, वह योग जो सिद्ध होने पर भी अनन्त काल तक और समृद्धतर रूप से साधित-संवर्धित होता रहेगा।

---

१. ८-२७

राजगुह्य

यहाँतक जो सत्य क्रम से अधिकाधिक स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हुआ और जिसके प्रतिपादन-क्रम के प्रत्येक सोपान के साथ संपूर्ण ज्ञान का एक-एक नवीन पहलू बराबर सामने आता गया और उसकी बुनियाद पर आध्यात्मिक अवस्था और कर्म की कोई-न-कोई विशेष बात प्रस्थापित हुई, उसी सत्य को अब एक ऐसे विषय की ओर फेरना है जो अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसलिए भगवान् आगे जो कुछ कहनेवाले हैं उसके निर्णायक स्वरूप की ओर, पहले ही, ध्यान दिला देते हैं जिसमें अर्जुन का मन सावधान हो और वह ध्यानपूर्वक सुने। क्योंकि भगवान् अब अर्जुन के अंतःकरण को 'समग्र' भगवान् के ज्ञान और दर्शन के सामने लाकर उसे ग्यारहवें अध्याय के उस विराट् दर्शन के लिए प्रस्तुत करना चाहते हैं जिस दर्शन से ही कुरुक्षेत्र का यह योद्धा अपनी सत्ता, कर्म और उद्दिष्ट कार्य के उन प्रवर्त्तक और धारक को, मनुष्य और जगत् में निवास करनेवाले उन भगवान् को जान ले जो मनुष्य और जगत् में निवास करते हुए भी इनकी किसी चीज से सीमित या बद्ध नहीं हैं, क्योंकि सब कुछ उन्हींसे निकलता है, उन्हींकी अनन्त सत्ता में उसकी विस्तारित गतिविधि है, उन्हींके संकल्प के सहारे यह जारी है और स्थित है, यह जो कुछ है इसकी सार्थकता उन्हींके दिव्य आत्मज्ञान में है, वे ही सदा इसके मूल, इसके सार-तत्व और इसके पर्यवसान हैं। अर्जुन को यह जानना है कि वह उन्हीं एक भगवान् में रहता और उनकी जो शक्ति उसके अन्दर है उसीसे सब कुछ करता है, उसका सारा क्रियाकलाप भागवत कर्म का एक निमित्तमात्र है, उसकी अहमात्मक चेतना केवल एक आवरण है और उसके अज्ञान के निकट वह अंतःस्थित आत्मा का, परम पुरुष परमेश्वर के अमर स्फुलिंग और सनातन अंश का मिथ्या प्रतिभास मात्र है।

इस दर्शन का उद्देश्य यह है कि जो कुछ भी संशय उसके मन में बच रहा हो वह दूर हो जाय ; वह उस कर्म के लिए सशक्त बन जाय जिससे वह हट गया है पर जिसे करने का उसे ऐसा आदेश प्राप्त हुआ है जिसे न वह बदल सकता है न उससे हट ही सकता है—हटना उस अंतःस्थित भगवत्संकल्प और भगवदादेश

को ही अमान्य और अस्वीकार कर देना होगा जो उसकी वैयक्तिक चेतना में तो प्रकट हो ही चुका है पर अब शीघ्र ही महत्तर और वैश्व आदेश का रूप ग्रहण करनेवाला है। क्योंकि अब वह विश्वरूप उसे भगवान् का वह शरीर भासता है जिसके अन्दर कालात्मा निवास करते हैं और अपनी महान् और भयावनी वाणी से उसे संग्राम करने का भीषण कर्म सौंपते हैं। उससे कहा जाता है कि इसके द्वारा वह अपनी आत्मा को मुक्त कर ले और विश्व के इस रहस्याभिनय में अपना कर्तव्य पूरा करे—मुक्ति और कर्म दोनों एक ही व्यापार बन जायँ। जैसे-जैसे आत्मज्ञान तथा ईश्वर और प्रकृति के ज्ञान का प्रकाश उसके सामने लाया जा रहा है वैसे-वैसे उसकी बौद्धिक शंकाएँ दूर होती जा रही हैं। पर बौद्धिक समाधान ही पर्याप्त नहीं है; उसे अंतर्दृष्टि से देखना होगा और अपनी बाह्य अंध मानव-दृष्टि को प्रकाशित करना होगा, ताकि अपने संपूर्ण आधार की अनुकूलता के साथ, अपने सर्वांग की पूर्ण श्रद्धा के साथ, तथा अपनी आत्मा की आत्मा, और सारी सत्ता के स्वामी, जो जगत् की आत्मा और जगत् के सब भूतों के स्वामी हैं उनकी पूर्ण भक्ति के साथ वह कर्म कर सके।

अबतक जो कुछ कहा गया उससे ज्ञान की नींव डाली गयी या यूं कहें कि उसकी प्रथमावश्यक सामग्री या पाड़ उपस्थित की गयी, पर अब इमारत का पूरा ढाँचा, नक्शा उसकी खुली हुई दृष्टि के सामने रखा जानेवाला है। इसके आगे जो विवरण आयेगा उसका अपना बड़ा महत्व होगा, क्योंकि इससे ढाँचे के सब हिस्से अलग-अलग दिखाये जायँगे और यह बतलाया जायगा कि कौन-सी चीज क्या है; पर सारतः जो भगवान् उससे बात कर रहे हैं उन्हींका समग्र ज्ञान उसके नेत्रों के सामने खोल दिया जायगा, ताकि उसके लिए साक्षात्कार करने के सिवा और कोई चारा ही न रहे। अबतक जो प्रतिपादन हुआ उससे उसे यह पता चला कि वह अपने उस अज्ञान और अहंभावप्रयुक्त कर्म के द्वारा अनिवार्य रूप से बँधा नहीं है, जिससे वह तबतक संतुष्ट था जबतक उससे प्राप्त होनेवाला आंशिक समाधान उसकी उस बुद्धि को संतुष्ट करने में अपर्याप्त न सिद्ध हुआ, जो जगत्कर्म के अंग-स्वरूप परस्पर-विरोधी दृश्यों के संघर्ष से घबरायी हुई थी, तथा उस हृदय को जो कर्मों की जटिलता से परेशान होकर यह अनुभव कर रहा था कि इससे बचने का उपाय तो केवल जीवन और कर्म का संन्यास ही है। उसे यह समझा दिया गया है कि कर्म और जीवनपद्धति के दो परस्परविरोधी मार्ग हैं, एक अहंभाव-युक्त अज्ञान-दशा का और दूसरा दिव्य पुरुष के निर्मल आत्मज्ञान का। वह चाहे तो वासना-कामना, काम-क्रोध के वश में होकर, निम्न प्रकृति के गुणों के द्वारा चालित 'अहं' रूप से, पाप-पुण्य और सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के अधीन होकर, हार-

जीत और सुफल-कुफल-रूप कर्मफलों का ही चिंतन करते हुए, संसार-चक्र में बँधे रहकर, मनुष्य के मन, चित्त, अहंकार और बुद्धि को अपने सतत परिवर्तन-शील और परस्परविरोधी रूपों और दृश्यों से चकरानेवाले कर्माकर्म और विकर्म के बड़े भारी जंजाल में पड़कर अपने कर्म कर सकता है। परन्तु अज्ञान के इन कर्मों से वह सर्वथा बँधा नहीं है ; वह चाहे तो ज्ञानयुक्त कर्म कर सकता है। चाहे तो मनीषी, ज्ञानी और योगी होकर तथा पहले मोक्ष का साधक बनकर और पीछे मुक्त होकर कर्म कर सकता है। इस महती संभावना को समझ लेना और अपनी मन-बुद्धि को ज्ञान और आत्म-दर्शन में स्थित करना ही—जिससे कि वह संभावना कार्यतः सिद्ध हो—दुःख और घबराहट से तथा मानव-जीवन के गोरखधंधे से निकलने का रास्ता है।

हमारे अन्दर एक आत्मा है जो शान्त, कर्म से श्रेष्ठ और सम है। वह इस बाहरी गोरखधंधे से बँधी नहीं है, बल्कि इसको अध्यक्षरूप से धारण करनेवाली, इसका मूल और अंतःस्थित साक्षी है, पर है इससे अलिप्त। वह अनन्त है, सब कुछ उसके अन्दर है, सबकी एक अंतरात्मा है, प्रकृति के सारे कर्मको वह तटस्थ होकर देखती है और उसे प्रकृति के रूप में ही देखती है, अपने कर्म के रूप में नहीं। वह देखती है कि अहंकार, मन, बुद्धि, सब प्रकृति के यंत्र हैं और इन सबके कार्य प्रकृति की त्रिगुण-वृत्तियों के बझे-उलझे हुए व्यापार से निर्धारित हुआ करते हैं। अज अविनाशी आत्मा इन सबसे मुक्त है। वह इनसे मुक्त है, क्योंकि वह जानती है कि प्रकृति और अहंकार तथा प्राणिमात्र का वैयक्तिक अस्तित्व ही संपूर्ण सत्ता नहीं है। कारण सत्ता केवल भूतभाव की निरंतर क्षरणशीलता का ही कोई शानदार या निःसार आश्चर्यमय या शोकमय दृश्य नहीं है। और कोई वस्तु है जो सनातन है, अक्षर है, अविनाशी है, वह कालातीत सत्ता है जो प्रकृतिके विकारों से विकृत नहीं होती। वह इन सबका तटस्थ साक्षी है जो न विकार पैदा करता न विकृत होता है, जो न कर्म करता न कर्मका विषय बनता है, जो न पुण्यात्मा है न पापात्मा, प्रत्युत जो नित्य शुद्ध, पूर्ण, महान् और अक्षत है। अहंभावापन्न जीव को जो कुछ दुःख देता या मोहित करता है उससे इसे न कोई दुःख होता है न हर्ष, यह किसीका मित्र नहीं, किसीका शत्रु नहीं, प्रत्युत सबकी एक सम आत्मा है। मनुष्य को अभी इस आत्मा का बोध नहीं है क्योंकि वह अपने बहिर्मुख मनमें लिपटा है और अंतर्मुख होकर रहना नहीं सीखना चाहता या नहीं सीख पाया है ; वह अपने-आपको अपने कर्म से अलिप्त नहीं रखता, उससे हटकर उसे प्रकृति का कर्म जानकर उसका साक्षी नहीं बनता। अहंकार ही बाधक है, भ्रांतिके चक्रका यही अवैध बंध-विधान है ; इस अहंकार का जीव की आत्मा में लय हो जाना ही

मुक्ति का आद्य साधन है। बुद्धि और अहंकार मात्र ही बने रहना छोड़कर आत्मा हो जाना ही मुक्ति के इस संदेशका आद्य वचन है।

इसलिए अर्जुनको यह आदेश हुआ कि वह पहले अपने कर्मों की सारी फलेच्छा त्याग दे और जो कुछ कर्तव्य कर्म है उसे ही निष्काम और निरपेक्ष भाव से करे—फल इस विश्व के सारे कर्मकलाप के स्वामी के लिए छोड़ दे। वह स्वयं तो स्वामी ही नहीं, उसके वैयक्तिक अहंकार की तृप्ति के लिए प्रकृति का यह विविध संचालन नहीं हो रहा है, न उसकी इच्छाओं और पसंदों को पूरा करने के लिए ही विश्वजीवन चल रहा है, न बौद्धिक मत, निर्णय और मानोंका समर्थन करने के लिए ही यह विश्वमानस कर्म कर रहा है और न उसकी जरासी बुद्धिके इजलास में विश्वमानस को अपने विश्वब्रह्माण्डव्यापी उद्देश्यों या अपनी जागतिक कर्मपद्धतियों और हेतुओं को पेश करना है। ऐसे दावे तो उन अज्ञानी जीवों के ही हो सकते हैं जो अपने व्यष्टिभाव में रहते हैं और उसीके अकिंचित् और अत्यंत संकुचित मान से ही सबबातें देखा करते हैं। सबसे पहले उसे जगत् पर उसकी जो अहंकारमय मांग है उससे पीछे हटना होगा और यह मानकर कि करोड़ों प्राणियों में से यह एक मैं भी हूँ, कर्म करके उस फल के लिए अपने प्रयत्न और श्रम का हिस्सा अदा करना होगा जो उसके द्वारा नहीं बल्कि विश्वव्यापी कर्म और हेतु से निर्धारित हुआ। फिर इसके बाद उसे अपने कर्तापन का भी ख्याल छोड़ देना होगा और व्यष्टिभाव से सर्वथा मुक्त होकर यह देखना होगा कि विश्वबुद्धि, विश्वसंकल्प, विश्वमानस, विश्वजीवन ही उसके अन्दर और सबके अन्दर कर्म कर रहा है। प्रकृति ही वैश्व कर्त्री है, उसके कर्म प्रकृति के कर्म हैं ठीक वैसे ही जैसे कि उसके अन्दर प्रकृति के कर्मफल उस महान् फल के अंशमात्र हैं जिसकी ओर वह शक्ति, जो उससे (व्यष्टिपुरुषसे) महान् है, विश्वकर्म को ले जाती है। यदि वह इन दो बातों को अध्यात्मतः साध ले तो उसके कर्मों का बंधन उससे बहुत दूर छूट जायगा, क्योंकि इस बंधन की ग्रंथि तो उसकी अहंकारमय वासना और उस वासना के कर्म में है। तब काम-क्रोध, पाप और वैयक्तिक सुख-दुःख उसकी अंतरात्मा से झड़ जायेंगे और वह आत्मा शुद्ध, महान्, प्रशान्त और सब प्राणियों और पदार्थों के लिए सम होकर अन्दर रहेगी। अन्तःकरण में कर्म की कोई प्रतिक्रिया न होगी और उसका कोई दाग या निशान उसकी आत्मा की विशुद्धता और शान्ति पर न रहेगा। उसे अंतःसुख, विश्रांति, स्वच्छंदता और मुक्त अलिप्त आत्मसत्ताका अखण्ड आनन्द प्राप्त होगा। फिर उसके अन्दर या बाहर कहीं वह पुराना क्षुद्र व्यष्टिभाव नहीं रह जायगा, क्योंकि वह अपने-आपको सचेतन रूप से सबके साथ एकात्म अनुभव करेगा और उसकी बाह्य प्रकृति भी उसकी अनुभूति में विश्वगत बुद्धि, विश्वगत जीवन और

विश्वगत इच्छाका एक अभिन्न अंश हो जायगी। उसकी पृथग्भूत अहंभावापन्न वैयक्तिक सत्ता निर्व्यक्तिक ब्रह्मसत्ता में मिलकर लीन हो जायगी; उसकी पृथग्भूत अहंभावापन्न प्रकृति विश्वप्रकृति के अखिल कर्म के साथ एक हो जायगी।

परन्तु इस प्रकार की मुक्ति साथ-साथ रहनेवाली, पर अभी तक यहाँ जिनकी संगति साधित नहीं हुई ऐसी, दो अनुभूतियों पर निर्भर है—विशद आत्मदर्शन और विशद प्रकृति-दर्शन। यह वह वैज्ञानिक और बौद्धिक उपरामता नहीं है जो उस जड़वादी दार्शनिक के लिए भी सर्वथा संभव है जिसके सामने किसी-न-किसी प्रकार से केवल प्रकृति का स्वरूप भासित हो गया है तथा जिसे अपनी आत्मा और आत्मसत्ता की कोई प्रतीति नहीं हुई, न यह उस बाह्य शून्यवादी साधु की ही बौद्धिक तटस्थता है जो अपनी बुद्धि के प्रकाशपूर्ण उपयोग के द्वारा अपने अहंकार के उन रूपों से छुटकारा पा जाता है जो अधिक सीमित करनेवाले और उपाधि करनेवाले होते हैं। यह उससे महान्, उससे अधिक जीवंत, अधिक पूर्ण आध्यात्मिक तटस्थता है जो उस परम वस्तु के दर्शन से प्राप्त होती है जो प्रकृति से बृहत्तर और मन-बुद्धि से महत्तर है। परन्तु यह उपरति भी मुक्ति और आत्मसाक्षात्कार की एक प्रारंभिक गुह्यावस्था है, भागवत रहस्य का पूरा सूत्र नहीं। क्योंकि, इतने से ही प्रकृति का सारा रहस्य नहीं खुल जाता और सत्ता का कर्म करनेवाला प्रकृतिरूप अंश आत्मस्वरूप और तटस्थ आत्मसत्ता से अलग रह जाता है। भागवत तटस्थता तो वह चीज होनी चाहिए जो प्रकृति में भागवत कर्म की नींव हो, जो अहंभाव से कर्म करने की पहले की अवस्था का स्थान ले ले; भागवत शान्ति भी वह शान्ति होनी चाहिए जो भागवत कर्म और शक्तिप्रवाह का आश्रय बने। यह महत् सत्य गीता के वक्ता भगवान् श्रीगुरु बराबर ही अपने सामने रखे हुए थे और इसीलिए वे परमेश्वर के प्रीत्यर्थ यज्ञरूप कर्म करने और परमेश्वर को अपने सब कर्मों का स्वामी मानने की बात पर तथा अवतार-तत्व और दिव्य जन्म के सिद्धान्त पर इतना जोर दे रहे थे, पर अभी तक इसे जिस पराशान्तिरूपा मुक्ति का होना सबसे पहले आवश्यक है उसके एक गौण भाग के तौर पर ही कहते आये हैं। केवल उन्हीं सत्यों का यहाँ तक पूर्ण प्रतिपादन किया गया और उनका पूर्ण प्रभाव और आशय प्रकट किया गया जो ब्राह्मी शान्ति, उदासीनता, समता और एकता अर्थात् अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने और उसकी अभिव्यक्ति में साधक हैं। दूसरे महान् और आवश्यक ज्ञेय और उसी सत्य के पूरक भाग पर अभी तक पूरा प्रकाश नहीं डाला गया है, समय-समय पर उसका संकेतमात्र किया गया है, पर पूर्ण प्रतिपादन नहीं। अब आगे के अध्यायों में उसीको बड़ी शीघ्रता के साथ प्रकट किया जा रहा है।

भगवदवतार जगद्गुरु श्रीकृष्ण, जो इस जगत्कर्म में मानव जीव के सारथी हैं, अपने रहस्य को, प्रकृति के गूढ़तम रहस्य को खोलने की भूमिका ही यहाँतक बाँधते चले आये हैं। इस भूमिका में उन्होंने एक तार बराबर बजता हुआ रखा है जिसका स्वर उनके समग्र स्वरूप के महान् चरम समन्वय की सूचना और पूर्वाभास बराबर देता रहा है। वह स्वर इस बात की झंकार है कि एक परम पुरुष परमेश्वर हैं जो मनुष्य और प्रकृति के अन्दर निवास करते हैं पर प्रकृति और मनुष्य से महान् हैं, आत्मा के निर्व्यक्तिक भाव की साधना से ही उनकी उपलब्धि होती है पर वह निर्व्यक्तिक भाव ही उनकी संपूर्ण सत्ता नहीं है। बार-बार बड़े आग्रह के साथ आनेवाली उस बात का आशय अब यहाँ आकर खुलता है। ये ही विश्वात्मा और मनुष्य और प्रकृति में निवास करनेवाले वह एकमेव परमेश्वर हैं जो रथ पर आरूढ़ जगद्गुरु की वाणी के द्वारा यह बताने की भूमिका बाँध रहे थे कि मैं ही सबका जागरित द्रष्टा और सब कर्मों का कर्ता हूँ। वे यही बतला रहे थे कि, "मैं जो तेरे अन्दर हूँ, जो मानवशरीर में यहाँ हूँ, जिसके लिए यह सब कुछ है और जिसके लिए यह सारा कर्म और प्रयास हो रहा है, वही मैं एक ही साथ स्वयंभू आत्मा और इस अखिल विश्वकर्म का अंतःस्थित गूढ़ तत्व हूँ। यह "अहम्" (मैं) वह महान् अहम् है जिसका विशालतम मानव व्यक्तित्व केवल एक अंश और खण्डमात्र आविर्भाव है, स्वयं प्रकृति उसकी एक कनिष्ठ कर्म-प्रणाली है। जीव का स्वामी, अखिल विश्वकर्म का प्रभु मैं ही एकमात्र ज्योति, एकमात्र शक्ति और एकमात्र सत्ता हूँ। तेरे अन्दर निवास करनेवाला यह परमेश्वर जगद्गुरु है, ज्ञान की उस निर्मल ज्योति को प्रकट करनेवाला सूर्य है जिस ज्योति के प्रकाश में तू अपनी अक्षर आत्मा और क्षर प्रकृति के बीच का भेद स्वानुभव से जान लेता है। पर इस प्रकाश के भी परे उसके मूल की ओर देख ; तब तू उस परम पुरुष को जान लेगा जिसे प्राप्त होकर अपने व्यष्टिभाव और प्रकृति का सारा आध्यात्मिक रहस्य तेरे सामने खुल जायगा। तब सब भूतों में उसी एक आत्मा को देख, ताकि सबके अन्दर तू मुझे देख सके ; सब भूतों को एक ही आत्मा एवं आत्मसत्ता के अन्दर देख ; क्योंकि सबको मेरे अन्दर देखने का यही एक रास्ता है ; सबके अन्दर एक ब्रह्म को जान जिसमें तू उस ईश्वर को देख सके जो परब्रह्म है। अपने-आपको—अपनी आत्मा को जान ले, अपनी आत्मा बन जा ताकि तू मेरे साथ युक्त हो सके और देख सके कि यह कालातीत आत्मा मेरी निर्मल ज्योति या पारदर्शक परदा है। मैं परमेश्वर ही आत्मा और ब्रह्म का आधारस्वरूप परम सत्य हूँ।"

अर्जुन को यह देखना है कि वे ही एक परमेश्वर केवल आत्मा और ब्रह्म का ही नहीं, बल्कि प्रकृति और उसके अपने व्यष्टिगत जीव-भाव का मूलभूत परतर

सत्य हैं, व्यष्टि-समष्टि दोनों का एक साथ ही गूढ़ रहस्य हैं। वही भागवत संकल्प-शक्ति प्रकृति में सर्वत्र व्यापक है और प्रकृति के जो कर्म जीव के द्वारा होते हैं उनसे वह महान् है, मनुष्य और प्रकृति के कर्म और उनके फल उसीके अधीन हैं। इसलिए अर्जुन को यज्ञ के लिए कर्म करना चाहिए, क्योंकि उसके कर्मों का तथा सभी कर्मों का वही आधारभूत सत्य है। प्रकृति कर्मकर्त्री है, अहंकार नहीं ; पर प्रकृति उन पुरुष की केवल एक शक्ति है जो उसके सब कर्मों, शक्तियों और विश्व-यज्ञ के सब कालों के अधिपति हैं। इस प्रकार अर्जुन के सब कर्म उन परम पुरुष के हैं, इसलिए उसे चाहिए कि वह अपने सब कर्म अपने और जगत् के अंत:स्थित भगवान् को समर्पित करे जिनके द्वारा ये सब कर्म भागवत रहस्यमय प्रकृति के अन्दर हुआ करते हैं। जीव के दिव्य जन्म की, अहंकार और शरीर की मर्त्यता से निकल सनातनी ब्राह्मी स्थिति में आ जाने की यह द्विविध अवस्था है—पहले अपने कालातीत अक्षर आत्मस्वरूप के ज्ञान की प्राप्ति है और फिर उस ज्ञान के द्वारा कालातीत परमेश्वर से योगयुक्त होना है, साथ ही उन परमेश्वर को जानना है जो इस विश्व की पहेली के पीछे छिपे हैं, जो सब भूतों और उनकी क्रियाओं में स्थित हैं। केवल इसी रूप से हम अपनी समस्त प्रकृति और सत्ता समर्पित कर उन एक परमेश्वर के साथ, जो दिक्काल के अन्दर यह सब कुछ बने हैं, जीते-जागते योग से युक्त होने की अभीप्सा कर सकते हैं। संपूर्ण मोक्ष प्रदान करनेवाले योग की पद्धति में यहीं भक्ति का स्थान आता है। यह उस वस्तु की उपासना और उसकी ओर अपना हृदय लगाना है जो अक्षर ब्रह्म या क्षर प्रकृति से महान् है। संपूर्ण ज्ञान यहाँ पूजा-अर्चा बन जाता है और सारे कर्म भी पूजा-अर्चा ही बन जाते हैं। इस पूजामें प्रकृतिके कर्म और आत्मा की मुक्त स्थिति एक होकर परमेश्वर की ओर उठने की शक्ति बन जाते हैं। परामुक्ति अर्थात् इस निम्न प्रकृति से निकलकर उस परब्रह्म-भाव को प्राप्त होना जीव का निर्वाण (जीवज्योति का बुझ जाना) नहीं है—केवल उसके अहंकार का बुझ जाना है—बल्कि हमारे ज्ञान-कर्म-भक्तियुत संपूर्ण जीव-भाव का इस विश्व के अन्दर बँधकर नहीं, किन्तु इस बंधन से निकलकर अपनी विश्वातीत सत्ता में स्थित होना है, जीव की यह परिपूर्णता है, नाश नहीं।

अर्जुन की बुद्धि को यह ज्ञान अच्छी तरह स्पष्ट कर देने के लिए भगवान् सर्वप्रथम दो अवशिष्ट शंकाओं का समाधान कर देते हैं—एक शंका है निर्व्यक्तिक ब्रह्म और मानव जीव के बीच की असंगति के संबंध में और दूसरी पुरुष और प्रकृति के बीच की असंगति के संबंध में। ये दो असंगतियाँ जबतक बनी हैं तबतक प्रकृति और मनुष्य में स्थित परमेश्वर की सत्ता छिपी ही रह जाती है और बुद्धि विसंगत और अविश्वसनीय प्रतीत होती है। प्रकृति को त्रिगुण का अचेतन

बंधनमात्र कहा गया है और जीव को उस बंधन में बँधा हुआ एक अहंभावापन्न प्राणी। परन्तु प्रकृति और पुरुष की यही सारी मीमांसा हो तो वे दोनों न तो दिव्य हैं न हो सकते हैं। उस हालत में प्रकृति, जो अज्ञ और जड़ है, ईश्वर की कोई शक्ति नहीं हो सकती ; क्योंकि जो ईश्वरीय शक्ति अपनी क्रिया में स्वच्छन्द होगी, उसका मूल आध्यात्मिक होगा और उसकी महत्ता भी आध्यात्मिक ही होगी। इसी प्रकार, जीव भी जो प्रकृति में बँधा, अहंकारयुक्त और केवल मनोमय, प्राणमय और अन्नमय है, भगवान् का अंश नहीं हो सकता न स्वयं कोई अप्राकृत पुरुष ही ; क्योंकि ऐसा ईश्वर-अंशभूत जीवात्मा होना उसका तभी बन सकता है जब वह स्वयं भगवत्स्वभाववाला हो, मुक्त, आत्म-स्वरूप, स्वतःप्रवृत्त और प्रवर्धमान, स्वतःसिद्ध, मन-प्राण-शरीर से ऊर्ध्व में स्थित हो। इन असंगतियों से उत्पन्न होनेवाली दोनों कठिनाइयों और आवरणों को सत्य की एक प्रकाशमय किरण ने हटा दिया है। जड़ प्रकृति केवल एक अपर सत्य है, अपरा प्रकृति के कार्य की एक पद्धतिमात्र है। इससे श्रेष्ठ एक और प्रकृति है और वह आध्यात्मिक है और वही हमारे वैयक्तिक आत्मस्वरूप का स्वभाव है, हमारा वास्तविक व्यक्तित्व है। भगवान् एक ही साथ अव्यक्त ब्रह्म और व्यक्त होनेवाले पुरुष हैं। उनका अव्यक्त स्वरूप हमारी बौद्धिक अनुभूति में एक कालातीत सत्ता, चेतना और आनन्दभाव है ; उनका व्यक्त रूप सत्ता की सचेतन शक्ति ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का एक चिन्मय केन्द्र और आत्माविर्भाव के नानात्व के आनन्द का एक प्रतीक है। हम अपनी सत्ता के स्थितिशील वास्तविक स्वरूप में वही एक अव्यक्त ब्रह्म हैं, हममें से हर कोई अपने वैयक्तिक आत्मभाव से उसी एक मूल शक्ति का नानात्व है। फिर भी जो भेद और तारतम्य सर्वत्र देख पड़ता है वह केवल आत्मा के आविर्भाव के लिए है ; इस अव्यक्त रूप के पीछे जाकर कोई देखे तो यही रूप अनन्त ब्रह्मस्वरूप, परम पुरुष, परमात्मा भी है। यही वह महान् अहम्—**'सोऽहम्'** (मैं वह हूँ) है जिसमें से सारे व्यष्टि-जीवभाव और स्वभाव निकलते और एक निर्व्यक्तिक समष्टि-जगत् के रूप में अपनेको नाना भाव से प्रकट करते हैं। **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** यही उपनिषदें कहती हैं ; क्योंकि ब्रह्म एकमेव आत्मा है जो अपने-आपको क्रम से चैतन्य के चार पदों पर प्रतिष्ठित देखता है। सनातन पुरुष वासुदेव ही सब कुछ हैं, यही गीता का कथन है। वे ही ब्रह्म हैं और वे ही सचेतन रूप से अपनी परा आत्म-प्रकृति से सबके आश्रय बनते और सबको उत्पन्न करते हैं, स्वयं ही सचेतन रूप से बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रिय और इस सारे बाह्य स्थूल जगत्वाली प्रकृति की सब चीजें बनते हैं। सनातन पुरुष की उस परा आत्मप्रकृति में, अपने सनातन नानात्व में, सचेतन शक्ति के

विविध केन्द्रों से अपने आत्मदर्शन में वे ही जीव हैं। ईश्वर, प्रकृति और जीव एक सद्वस्तु के तीन नाम हैं, और ये तीनों एक ही सत्ता हैं।

यह सत्ता, यह सदात्मा किस प्रकार विश्वरूप में आविर्भूत होती है? पहले, अक्षर कालातीत उस आत्मा या ब्रह्म के रूप से जो सर्वत्र अवस्थित है और सबको आश्रय देती है, जो अपनी सनातनी सत्ता से सत्तावान् है, संभूति नहीं। इसके उपरांत, इसी सत्ता पर आश्रित, स्वयं सृष्ट होने की एक ऐसी मूलगत शक्ति या अध्यात्म तत्व है जिसे स्वभाव कहते हैं, जिसके द्वारा यह सदात्मा आत्मदृष्टि से अपने अन्दर देखकर यह सब जो उसकी अपनी सत्ता के अन्दर छिपा या समाविष्ट रहता है उसे अपने संकल्प में ले आता और प्रकट करता है, उसे उस सुप्तावस्था से निकालकर उत्पन्न करता है। वह अध्यात्म-तत्व या स्वभाव-शक्ति आत्मा के अन्दर इस प्रकार जो कुछ संकल्पित होता है उसे अखिल विश्व-कर्म के रूप में बाहर छोड़ती है। सारी सृष्टि यही क्रिया है, स्वभाव की यही प्रवृत्ति है, यही तो कर्म है। परन्तु वह यहाँ बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रिय और स्थूल प्राकृत विषयों की क्षर प्रकृति के रूप में विकसित हुई है जो निरपेक्ष प्रकाश से विच्छिन्न होकर अज्ञान से सीमित है। वहाँ अपने मूल रूप में इसकी सारी क्रियाएँ प्रकृति में स्थित जीवात्मा की, प्रकृति में गुप्त रूप से स्थित परमात्मा के लिए यज्ञस्वरूप होती हैं। इस तरह परमेश्वर सब प्राणियों के अन्दर उनके यज्ञ के भोक्ता स्वामी के रूप में निवास करते हैं, उन्हींकी सत्ता और शक्ति से उसका नियमन और उन्हींके आत्मज्ञान और आत्मानन्द से उसका ग्रहण होता है। इसको जानना ही जगत् को वास्तविक रूप से जानना, जगद्व्यापक जगदीश्वर के दर्शन करना और अज्ञान से निकलने का द्वार ढूंढ़ लेना है। क्योंकि यह ज्ञान, अपने सब कर्म और अपनी सारी चेतना सर्वभूतों में स्थित भगवान् को समर्पित कर देने से, मनुष्य के लिये अमोघ होकर उसे अपनी आत्मसत्ता में फिर से लौट आने और उस आत्मसत्ता के द्वारा इस क्षर प्रकृति के ऊर्ध्व में स्थित जो विश्व से परे ज्योतिर्मय सनातन सत्तत्व है उसे प्राप्त होने में समर्थ बना देता है।

यही आत्मसत्ता का रहस्य है और अब गीता इसे प्रचुर फलवत्ता के साथ हमारे आंतरिक जीवन और बाह्य कर्म के लिए प्रयुक्त करना चाहती है। गीता अब जो बात कहनेवाली है वह गुह्यतम रहस्य है।[1] यह समग्र भगवान्, **"समग्रं माम्"** का वह ज्ञान है जिसे अर्जुन को प्रदान करने की प्रतिज्ञा उसके प्रभु ने की है, वह मूल स्वरूप ज्ञान अपने सब तत्वों में अपने पूर्ण ज्ञान के साथ है जिसे जान लेने पर जानने के लिये और कुछ नहीं रह जाता। अज्ञान की वह ग्रंथि जिसने

१. गीता अ० ९, श्लोक १-३

अबतक उसकी मानव-बुद्धि को मोहित कर रखा था और जिससे उसका मन अपने भगवन्नियत कर्म से फिर गया था, अब ज्ञान-विज्ञान से छिन्न-भिन्न हो जायगी। यह सब ज्ञानों का ज्ञान, सब गुह्यों का गुह्य, राजविद्या, राजगुह्य है। यह वह पवित्र परम प्रकाश है जो प्रत्यक्ष आत्मानुभव से जाना जा सकता है और कोई भी इस सत्य को अपने अन्दर देख सकता है : यही यथार्थ और वास्तविक ज्ञान है, सच्ची आत्मविद्या है। इसका साधन, इसे ग्रहण करने, देख लेने और सच्चाई से पालन करने का प्रयास करने से, सहज ही बनता है।

पर इसके लिए श्रद्धा की आवश्यकता है ; यदि श्रद्धा न हो, यदि उस तार्किक बुद्धि का ही भरोसा हो जो बाह्य विषयों के भरोसे चलती है और ईर्ष्या के साथ अन्तर्दृष्ट ज्ञान पर इस कारण संदेह करती है कि वह बाह्य प्रकृति के भेदों और अपूर्णताओं के साथ मेल नहीं खाता और बुद्धि के परे की चीज मालूम होता तथा कोई ऐसी बात बतलाता जान पड़ता है जो हमें हमारी वर्तमान अवस्था की मूलभूत खास बातों का ही जैसे दुःख, क्लेश, पाप, दोष, प्रमाद और स्खलन अर्थात् संपूर्ण अशुभ का ही हमसे अतिक्रम कराती है—यदि वैसी बुद्धि का ही भरोसा है—तो उस महत्तर ज्ञान से युक्त जीवन की कोई संभावना नहीं है। यदि उस महत्तर सत्य और विधान पर जीव की श्रद्धा न जमे तो उसे मृत्यु, प्रमाद और अशुभ के अधीन रहकर सामान्य मर्त्य जीवन जीने के लिए लौट आना पड़ेगा ; उन परमेश्वर के स्वरूप में वह विकसित नहीं हो सकता जिनकी सत्ता को ही वह अमान्य करता है। क्योंकि यह एक ऐसा सत्य है जो जीवन में लाना पड़ता है, जो जीव के बढ़ते हुए आत्मप्रकाश में जीकर जानना पड़ता है, मन-बुद्धि के अंधकार में तर्क से टटोलकर नहीं जाना जाता। उसीके रूप में विकसित होना होता है, वही हो जाना होता है—उसकी सत्यता परखने का एकमात्र यही मार्ग है। निम्नगतिक जीवभाव को पार करके ही कोई वास्तविक भगवदीय दिव्यात्मा बनकर वास्तविक आत्मसत्ता को सत्य आचरण में ला सकता है। जितने भी सत्याभास इस एक सत्य के विरोध में खड़े किये जा सकते हैं वे सब निम्न प्रकृति के रूप हैं। निम्न प्रकृति के इस अशुभ से मुक्त होना उस परतर ज्ञान को ग्रहण करने से ही बन सकता है जिसमें यह सत्याभास, यह अशुभ अपने स्वरूप का अंततः मिथ्या होना जान लेता है, यह स्पष्ट देख पड़ता है कि यह हमारे अंधकार की सृष्टि थी। पर इस प्रकार दिव्य परा आत्मप्रकृति के मुक्त भाव की ओर विकसित होने के लिए यह आवश्यक है कि हमें यह विश्वास हो जाय कि हमारी इस वर्तमान सीमित प्रकृति में भगवान् गुप्त रूप से निवास करते हैं और भगवान् को हम वरण कर लें। जिस कारण से यह योग संभावित और सुखसाध्य होता

है वह कारण यही है कि इसका साधन करने में हम अपनी संपूर्ण प्रकृति का व्यापार उन्हीं अंतस्थ भगवान् के हाथों में सौंप देते हैं। भगवान् हमारी सत्ता अपनी सत्ता में मिलाकर और अपने ज्ञान और शक्ति को, **'ज्ञानदीपेन भास्वता'** उसमें भरकर सहज, अचूक रीति से हमारे अन्दर क्रम से हमारा दिव्य जन्म कराते हैं ; हमारी तमसाच्छन्न अज्ञानमयी प्रकृति को अपने हाथों में ले लेते और अपने प्रकाश और व्यापक भाव में रूपान्तरित कर देते हैं। हम जो कुछ पूर्ण विश्वास के साथ और अहंकार-रहित होकर मान लेते और उनके द्वारा प्रेरित होकर होना चाहते हैं, उसे अंतस्थ भगवान् निश्चय ही सिद्ध कर देते हैं। परन्तु पहले अहंभावापन्न मन-बुद्धि और प्राण को अर्थात् इस समय हम जो कुछ हैं या भासित होते हैं उसे इस दिव्यता-लाभ के लिए हमारे अन्दर जो अंतस्तम गुप्त भगवत्स्वरूप है, उसकी शरण लेनी होगी।

भगवदीय सत्य और मार्ग

गीता अब परम और समग्र रहस्य को, उस एकमात्र ध्येय और सत्य को जिसमें पूर्णता-सिद्धि तथा मुक्ति के साधक को रहना सीखना होगा, तथा उसके सब आध्यात्मिक अंगों और उनके समस्त व्यापारों की पूर्णता-सिद्धि के एकमात्र विधान को खोलकर प्रकट करना चाहती है। यह परम रहस्य है उन परात्पर परमेश्वर का स्वरूपरहस्य जो समग्र हैं और सर्वत्र हैं, पर जगत् तथा उसके नाना नामरूपों से इतने महत्तर और इतर हैं कि यहाँ की किसी वस्तु में वे नहीं समा सकते, कोई वस्तु उन्हें वास्तविक रूप में प्रकट नहीं कर सकती और न कोई भाषा ही, जो दिशा और काल से परिमित पदार्थों के रूपों और उनके परस्पर सम्बन्धों से ही निर्मित हुआ करती है, उनके अचिन्तनीय स्वरूप को किसी प्रकार लक्षित करा सकती है। फलतः हमारी पूर्णता-सिद्धि का विधान है अपनी संपूर्ण प्रकृति के द्वारा उनका यजन-पूजन जो उसके मूल और उसके स्वामी हैं और उन्हीं को इसका आत्मसमर्पण। हमारा एकमात्र परम मार्ग यही है कि इस जगत् में हमारी जो कुछ सत्ता है, केवल उसका कोई यह या वह अंश नहीं, बल्कि सब प्रकारसे वह उन सनातन पुरुष की ओर ले जानेवाला मात्र एक कर्म बना दी जाय। ऐश्वर योग की शक्ति और रहस्यमयी कृति के द्वारा हम लोग उनकी अनिर्वचनीय गुह्यातिगुह्य स्थिति से निकल कर प्राकृत पदार्थों की इस बद्ध दशा में आ गये हैं। अब उसी ऐश्वर योग की उल्टी गति से हमें इस बाह्य प्रकृति की सीमाओं को पार करना होगा और उस महत्तर चैतन्य को फिर से प्राप्त होना होगा जिसके प्राप्त होने से हम परमेश्वर और परम सनातन तत्व में रह सकते हैं।

परमेश्वर की परा सत्ता अभिव्यक्ति के परे है; उनकी यथार्थ सनातनी मूर्ति जड़ शरीर में प्रकट नहीं होती, न प्राण उन्हें ग्रहण कर सकता है न मन से उनका चिन्तन ही हो सकता है, क्योंकि वह "अचिन्त्यरूप, अव्यक्तमूर्ति" हैं। हम जो कुछ देखते हैं वह केवल एक स्वरचित रूप है, भगवान् का सनातन स्वरूप नहीं। जगत् से भिन्न कोई और या कुछ और भी है, जो अकथ, अचिंत्य, अनन्त भगवत्तत्व है जो अनन्तविषयक हमारी व्यापक-से-व्यापक या सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-

नाओं से प्राप्त हो सकनेवाले किसी भी आभास के सर्वथा परे है। यह नानाविध पदार्थों का बाना जिसे हम जगत् नाम से पुकारते हैं, अनेकविध गतियों का एक महान् जोड़ है जिसकी हम कोई हद नहीं बाँध सकते और जिसके नाना रूपों और गतियों के अन्दर हम कोई स्थायी वस्तु, कोई ध्रुव पद, कोई समतल आधारभूमि और विश्व के नाभि-केन्द्र के ढूँढने का व्यर्थ ही प्रयास किया करते हैं। उसे इसी महतो महीयान् अनन्तने अपनी अनिर्वचनीय विश्वातीत रहस्यमयी शक्ति से बुन रखा है, रूप दिया है और फैलाया है। इसकी मूल भित्ति है एक ऐसी आत्मनिरूपण-क्रिया जो स्वयं अव्यक्त और अचिंत्य है। यह संभूतिका समूह जो प्रतिक्षण बदलता और चलता रहता है, ये सब जीव, ये सारे चराचर प्राणी, पदार्थ, सांस लेने और जीनेवाले रूप अपने अन्दर व्यष्टि रूप से या समष्टि रूप से भी उन भगवान् को नहीं समा सकते। अर्थात् वे उनमें नहीं हैं; उनके अन्दर या उनके द्वारा नहीं जीते, चलते या बने रहते—भगवान् भूतभाव नहीं हैं। बल्कि भूत ही उनके अन्दर हैं, भूत ही उनके अन्दर जीते, चलते और उन्हीं से अपने स्वरूप का सत्य ग्रहण करते हैं; भूत उनकी संभूति हैं और वे उनकी आत्मसत्ता हैं।[1] अपनी दिक्कालातीत (दिशा और काल से परे) अचिंत्य अनन्त सत्ता के अन्दर उन्होंने एक असीम देशकाल में एक असीम संसार का यह छोटा-सा दृश्य विस्तृत किया है।

और यह कहना भी कि सब कुछ उनके अन्दर है, इस विषय का सम्पूर्ण सार-तत्व नहीं है, न यह पूर्ण रूप से वास्तविक सम्बन्ध का ही द्योतक है; कारण उनके विषय में यह कहना देश की कल्पना करके कहना है, पर भगवान् तो देशातीत और कालातीत हैं। देश और काल, अंतर्यामित्व और व्यापकत्व और परत्व ये सभी उनकी चेतना के, चिद्भावके पद और प्रतीक हैं। ईश्वरी शक्ति का एक योग है—'ऐश्वर योग', **'मे योग ऐश्वरः'** जिससे भगवान् अपना रूप अपनी ही विस्तृत अनन्तता के चैतन्यगत स्वरूपसाधन के रूप से निर्मित करते हैं, जड़ रूप से नहीं, जड़ तो उस अनन्त वितान का एक प्रतीकमात्र है। भगवान् उसके साथ अपने-आपको एकीभूत देखते हैं, उसके साथ तथा उसके अन्दर जो कुछ है उसके साथ तद्रूप होते हैं। सर्वेश्वरवादी जगत् और ब्रह्म का जो अभेद दर्शन करते हैं वह उस अनन्त आत्मदर्शन के सामने एक परिमित दर्शन ही है। जिस अनन्तदर्शन में, जो फिर भी उनका सम्पूर्ण देखना नहीं है, वे (भगवान्) यह सब जो कुछ है इसके साथ एक होते हुए भी इसके परे हैं। परन्तु वे इस ब्रह्म से या ब्रह्मसत्ता की इस विस्तृत अनन्तता से भी—जिसके अन्दर यह सारा विश्व है और जो विश्वातीत है उससे भी—इतर हैं। सब कुछ यहाँ उन्हीं के विश्वचेतन अनन्त स्वरूप में स्थित है,

१. मृ मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। ९. ४

पर वह स्वरूप भी भगवान् के उस विश्वातीत स्वरूप के द्वारा अपनी आत्म-कल्पना के रूप में धृत है जो स्वरूप हमारी जागतिक स्थिति, सत्ता और चेतना की वाणी के सर्वथा परे है। उनकी सत्ता का यह रहस्य है कि वे विश्वातीत हैं पर किसी प्रकार विश्व से अलग नहीं हैं। क्योंकि विश्वात्मा के रूप से वे इस सबके अन्दर व्याप्त हैं; भगवान् की एक ज्योतिर्मय अलिप्त आत्मसत्ता है जिसे गीता में भगवान् **"मम आत्मा"** कहकर लक्षित कराते हैं, जो सब भूतों के साथ सतत संबद्ध है और केवल अपनी सत्तामात्र से अपने सब भूतभावों को प्रकट कराती है।[1] इसी भेद को स्पष्ट करने के लिए आत्मा और 'भूतानि', ये दो पद हैं—एक से वह आत्मा लक्षित होती है जो स्व-स्वरूप में अपनी ही सत्ता से स्थित है और दूसरे से अर्थात् 'भूतानि' पद से वह भूत सत्ता लक्षित होती है जो आश्रित है। ये ही क्षर और अक्षर पुरुष हैं। परन्तु इन दो परस्पर-सापेक्ष सत्ताओं का आधारभूत परम सत्य वही सत्ता हो सकती है तथा इनके परस्पर-विरोध का निराकरण भी उसी सत्ता से हो सकता है जो इसके परे हो; वह सत्ता है उन परम पुरुष भगवान् की जो अपनी योगमाया अर्थात् अपने आत्मचैतन्य की शक्ति द्वारा इस आधार आत्मा और आधेय जगत् दोनों को प्रकट करते हैं। और उन भगवान् के साथ अपने आत्म-चैतन्य से युक्त होकर ही हम उनके स्वरूप के साथ अपना वास्तविक सम्बन्ध जोड़ सकते हैं।

दार्शनिक भाषा में गीता के इन श्लोकों का यही अभिप्राय है : परन्तु इनका आधार कोई बौद्धिक अनुमान नहीं बल्कि आत्मानुभूति है; इनसे इन परस्पर-विरोधी सत्यों का जो समन्वय होता है उसका कारण भी यही है कि आत्मचैतन्य के कुछ प्रत्यक्ष अनुभूत सत्यों से ही ये उद्‌गार वर्तुलाकार निकल पड़े हैं। जगत् में छिपे या प्रकट जो कोई परमात्मा या विश्वात्मा हों उनसे जब हम अपनी विविध चेतना के साथ योग करने का यत्न करते हैं तब हमें किसी न किसी प्रकार का कोई विशिष्ट अनुभव होता है और ऐसे जो अनुभव प्राप्त होते हैं उन्हें विभिन्न बुद्धिवादी विचारक सद्वस्तु के सम्बन्ध में अपना-अपना मूल भाव बना लेते हैं। सर्वप्रथम हमें एक ऐसी भगवत्सत्ता का कुछ अधूरा-सा अनुभव होता है जो हम लोगों से सर्वथा भिन्न और महान् है, जिस जगत् में हम लोग रहते हैं उससे भी सर्वथा भिन्न और महान् है; और यह बात ऐसी ही है—इससे अधिक और कुछ भी नहीं जबतक कि हम अपने प्राकृत स्वरूप में ही रहते और अपने चारों ओर जगत् के प्राकृत रूप को ही देखते हैं। क्योंकि भगवान् का परम स्वरूप जगदातीत है और जो कुछ प्राकृत है वह स्वयंबुद्ध आत्मा की अनन्तता से इतर मालूम होता है, मिथ्या नहीं तो कम-से-कम एक अपर सत्य का केवल प्रतीक-सा प्रतीत होता है। जब हम

१. भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ९-५;

केवल इस प्रकार की भेदस्थिति में रहते हैं तब भगवान् को मानो विश्व से पृथक और इतर मानते हैं। इस प्रकार वे केवल इसी अर्थ में पृथक् और इतर हैं कि वे विश्व के परे होने के कारण विश्वप्रकृति और उसकी सृष्टियों के अन्दर नहीं हैं, इस अर्थ में नहीं कि ये सब सृष्टियाँ उनकी सत्ता के बाहर हैं; क्योंकि सर्वत्र एकमात्र सनातन और सद्रूप सत्ता ही है, उसके बाहर कुछ भी नहीं है। भगवत्सत्ता के सम्बन्ध में इस प्रथम सत्य को हम तब आत्मबोध के द्वारा अनुभव करते हैं जब हमें यह अनुभव होता है कि हम उन्हीं के अन्दर रहते और चलते-फिरते हैं, उन्हींके अन्दर हमारी सारी सत्ता और सारा जीवन है, चाहे हम उनसे कितने भी भिन्न हों हमारा अस्तित्व उन्हीं पर निर्भर है और यह सारा विश्व उन्हीं परमात्मा के अन्दर घटित होनेवाली एक दृश्य सत्ता और व्यापार है।

परन्तु फिर इसके आगे, इससे परतर यह अनुभव होता है कि हमारी आत्म-सत्ता उनकी आत्मसत्ता के साथ एक है। वहाँ हम सर्वभूतों के एकमेव आत्मा को अनुभव करते हैं, हमें उसकी चेतना का अनुभव होता है और उसके प्रत्यक्ष दर्शन भी। तब हम यह नहीं कह सकते न ऐसा सोच सकते हैं कि हम उससे सर्वथा भिन्न हैं; परन्तु आत्मवस्तु और इस स्वतःसिद्ध आत्मवस्तु का जगद्रूप आभास, ये दोनों पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं—आत्मा में सब कुछ एक अनुभूत होता है और जगद्रूप सब कुछ भिन्न-भिन्न दीखता है। आत्मा के साथ अभेद की ऐकान्तिक पराकाष्ठा में यह जगत् स्वप्नवत् और मिथ्या तक अनुभूत हो सकता है। परन्तु द्विविध भाव की द्विविध पराकाष्ठा में यह द्विविध अनुभव भी होता है कि भगवान् के साथ हमारा परम स्वतःसिद्ध एकत्व है और साथ ही हम उनके साथ भिन्न रूपसे तथा विविध सम्बन्धों से युक्त हुए एक ऐसे चिरंतन रूप में रहते हैं जो उन्हीं से निकला हुआ रूप है। यह जगत् और इस जगत् में हमारा रहना हमारे लिए तब भगवान् की आत्मविद् सत्ता का ही एक सतत और वास्तविक रूप बन जाता है। सत्य की इस अपूर्ण अनुभूति में हमारे और भगवान् के बीच तथा सनातन की इन सब चराचर शक्तियों और जगत्प्रकृतिस्थ विश्वात्मा के साथ के हमारे व्यवहारों में परस्पर नानाविध भेदसम्बन्ध हुआ करते हैं। ये भेद-सम्बन्ध विश्वातीत सत्यसे इतर हैं, आत्मचैतन्य के शक्तिविशेष की ये विकृत सृष्टियाँ हैं; और चूंकि ये इतर हैं और हैं विकार ही, वे लोग जो विश्वातीत निरपेक्ष ब्रह्म के अनन्य उपासक हैं, इन्हें अपेक्षाकृत अथवा सर्वथा मिथ्या करार देते हैं। फिर भी ये हैं भगवान् से ही उत्पन्न, उन्हीं की सत्ता से निकले हुए सत्तावान् रूप, न-कुछ से निकली हुई कोई मायिक चीज नहीं। क्योंकि आत्मा जहाँ भी जो कुछ देखती है वह सब वह सदा स्वयं ही है, उसीका प्रतीक है और वह उससे सर्वथा भिन्न कोई और वस्तु

नहीं है। हम यह भी नहीं कह सकते कि विश्वातीत परमात्मसत्ता में कोई ऐसी वस्तु ही नहीं है जो इन सब सम्बन्धों से किसी प्रकार का मेल खाती हो। हम यह तो नहीं कह सकते कि ये सब विकार हैं तो उसी मूल से उत्पन्न चेतना के पर उस मूल में कोई ऐसी चीज नहीं है जो किसी प्रकार इन्हें आश्रय देती हो या जो इनके अस्तित्व को युक्ति-युक्त सिद्ध करती हो, कोई ऐसी चीज नहीं जो इन सब रूपों का सनातन सद्रूप और परात्पर मूलतत्व हो।

फिर यदि हम एक दूसरे ढंग से आत्मा और आत्मा के इन सब रूपों के भेद को देखें तो ऐसा समझ सकते हैं कि यह आत्मा सबकी धारणकर्तृ है और सबके अन्दर व्याप्त है, इस तरह हम सर्वत्र अवस्थित आत्मवस्तु का होना मान सकते हैं, फिर भी आत्मा के ये रूप, उसकी सत्ता के ये सब पात्र हमें न केवल आत्मा से भिन्न, न केवल अनित्य पदार्थ ही, बल्कि मिथ्याभास प्रतीत हो सकते हैं। इस प्रकार की अनुभूति में हमें आत्मानुभव तो हुआ, उस अक्षर ब्रह्म का अनुभव हुआ जिसकी साक्षि-दृष्टि में जगत् की सारी क्षरताएँ सतत विद्यमान हैं; यहाँ अपने अन्दर और सब प्राणियों के अन्दर अंतर्यामी भगवान् की पृथक्, एक साथ या एकीभूत अनुभूति हुई। और फिर भी जगत् हमारे लिये उनकी और हमारी चेतना का केवल एक प्रातिभासिक रूप हो सकता है, अथवा सत्ता का केवल एक ऐसा प्रतीक या संकेत हो सकता है जिससे हम उनके साथ अपने विशिष्ट सम्बन्ध जोड़ते चलें और क्रमशः उन्हें जानते जायँ। पर इसके विपरीत, हमें एक ऐसा प्रत्यक्ष आत्मानुभव हो सकता है जिसमें हम सब पदार्थों को भगवान् ही देखें, केवल उस ब्रह्म ही को नहीं जो इस जगत् और इसके असंख्य प्राणियों में अक्षर-रूप में विराजते हैं, बल्कि यह सब जो कुछ अन्दर-बाहर समस्त भूतभाव है उसे भी भगवद्रूप में ही देखें। तब यही प्रत्यक्ष होता है कि यह सब जो कुछ है भगवत्सत्ता है और इस रूप में हमारे अन्दर और अखिल ब्रह्माण्ड के अन्दर भगवान् ही प्रकट हो रहे हैं। यदि यह अनुभूति एकदेशीय हुई तो 'सर्वेश्वरवादी' साक्षात्कार होता है उन सर्वमय हरि का जो सर्व हैं : पर यह सर्वेश्वरवादी दर्शन केवल आंशिक दर्शन ही है। यह सारा संसार-विस्तार ही वह सर्व नहीं है जो कि आत्मतत्व या ब्रह्म है, कोई सनातन वस्तुतत्व है जो संसार से बड़ा है और उसीसे संसार की सत्ता बनती है। विश्व-ब्रह्माण्ड ही तत्वतः सम्पूर्ण भगवत्तत्व नहीं, बल्कि यह उसका केवल एक आत्म-विर्भाव है, आत्मसत्ता की एक सच्ची पर गौण क्रिया है। ये सारे आध्यात्मिक अनुभव पहली दृष्टि में चाहे कितने ही परस्पर भिन्न या विरुद्ध हों, फिर भी इनका सामंजस्य हो सकता है यदि हम एकदेशीय बुद्धि से किसी एक पर ही जोर न दें, बल्कि इस सीधे-सादे सरल सत्य को समझ लें कि भगवत्तत्व विश्वब्रह्माण्ड की

सत्ता से कोई महान् वस्तु है, परन्तु फिर भी सारा विश्व और विश्व के सारे भिन्न-भिन्न पदार्थ भगवद्रूप ही हैं, और कुछ नहीं—हम कह सकते हैं कि वे भगवान् के ही द्योतक हैं। अवश्य ही भगवान इन रूपों के किसी अंश में या इनके समुच्चय में पूर्णतया प्रकट नहीं हैं तथापि ये रूप हैं उनके ही सूचक। यदि ये भगवत्सत्ता की ही कोई चीज न होते, बल्कि उससे भिन्न कोई दूसरी ही चीज होते तो ये भगवान् के सूचक न हो सकते। सत्यस्वरूप या सत्तत्व भगवान् ही हैं; और ये रूप तो उन्हीं के अभिव्यंजक सत्तत्व हैं।[1] "वासुदेवः सर्वमिति" का यही अभिप्राय है, यह सारा जगत् जो कुछ है भगवान् हैं, इस जगत् में जो कुछ है और इस जगत् से जो कुछ अधिक है वह भी भगवान् हैं। गीता प्रथमतः भगवान् की विश्वातीत सत्ता की ओर विशेष ध्यान दिलाती है। क्योंकि, यदि ऐसा न किया जाय तो मन-बुद्धि अपने परमध्येय को न जानेगी और विश्वगत सत्ता की ओर मुड़ी रहेगी अथवा जगत् में स्थित भगवान् की किसी आंशिक अनुभूति में ही आसक्त हुई अटकी रहेगी। इसके अनन्तर गीता भगवान् की उस विश्वसत्ता पर जोर देती है जिसमें सब पदार्थ और प्राणी जीते और कर्म करते हैं। कारण जागतिक प्रयास का यही औचित्य है और वही वह विराट् आध्यात्मिक आत्मसंवित् है जिसमें भगवान् अपने आपको काल-पुरुष के रूप में देखते हुए अपना जगत्कर्म करते हैं। इसके बाद गीता ने भगवान् को मानव-शरीरनिवासी के रूप में ग्रहण करने की बात विशेष गम्भीर आग्रह के साथ कही है। क्योंकि, भगवान् सब भूतों में अंतर्यामी रूप से निवास करते ही हैं, और यदि अंतःस्थित भगवान् को न माना जाय तो न केवल वैयक्तिक जीवन का गुप्त भागवत अभिप्राय समझ में न आयगा, अपनी परम आध्यात्मिक भवितव्यता की ओर हमारी जो प्रवृत्ति है उसकी एक सबसे बड़ी शक्ति ही नष्ट न होगी, बल्कि मानव आत्माओं के परस्पर-सम्बन्ध भी क्षुद्र, अतिसीमित और अहंभावापन्न ही होंगे। अन्त में, गीता ने विस्तार के साथ यह बतलाया है कि संसार के सब पदार्थों में

---

१. निरपेक्ष सत्य के सामने चाहे ये हमें अपेक्षाकृत असत् से ही प्रतीत होते हों, शंकराचार्य के मायावाद को उसके तार्किक आधार से अलग करके आध्यात्मिक अनुभूति की दृष्टि से देखा जाय तो वह इसी सापेक्ष असत् का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मात्र प्रतीत होता है। मन-बुद्धि के परे इस तरह की कोई उलझन नहीं रहती क्योंकि वहाँ ऐसी कोई उलझन कभी थी ही नहीं। वहाँ, विभिन्न धार्मिक संप्रदायों और दर्शनों या योगशास्त्रों की आधारभूत पृथक्-पृथक् अनुभूतियों का कुछ दूसरा ही रूप हो सकता है, उनसे निकलने-वाले विभिन्न बौद्धिक सिद्धान्त छूट जाते हैं और उनका समन्वय हो जाता है और जब ये अपनी उच्चतम समान प्रगाढ़ता को प्राप्त होते हैं तो अतिमानसिक अनन्त में इनका एकीकरण होता है।

भगवान् का ही प्राकटय हो रहा है और इन सब पदार्थों का मूल उन्हीं एक भगवान् की ही प्रकृति, शक्ति और ज्योति है, क्योंकि सब पदार्थों को इस रूप में देखना भी भगवान् का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्यंत आवश्यक है ; इसी पर प्रतिष्ठित है समस्त भाव और समस्त प्रकृति का भगवान् की ओर पूर्ण रूप से मुड़ना, जगत् में भागवत शक्ति के कर्मों का मनुष्य के द्वारा स्वीकार किया जाना और उसके मन और बुद्धि का उस भगवत्कर्म के साँचे में ढल सकना जिसका आरम्भ परम से होता, हेतु जागतिक होता और जो जीव से होकर जगत् को प्राप्त होता है।

तात्पर्य, परम पुरुष परमेश्वर, विश्वचेतनातीत अक्षर आत्मा, मानव आधार में स्थित व्यष्टि-ईश्वर और विश्व-प्रकृति तथा उसके सब कर्मों और प्राणियों में गुप्त रूप से चैतन्यस्वरूप अथवा अंशत: आविर्भूत ईश्वर सब एक ही भगवान् हैं। परन्तु इस एक ही भगवत्सत्ता के ये जो विभिन्न भाव हैं इनमें से किसी भी एक भाव का जो यथार्थ वर्णन हम पूर्ण विश्वास के साथ कर सकते हैं उसे जब भगवत्सत्ता के अन्य भावों पर घटाने का प्रयत्न करते हैं तब वह वर्णन उलट जाता या उसका अभिप्राय बदल जाता है। जैसे भगवान् ईश्वर हैं, पर इसलिए उनके इस ईश्वरत्व और प्रभुत्व को हम भगवत्सत्ता के इन चारों ही क्षेत्रों पर एक-सा, बिना किसी परिवर्तन के, यों ही नहीं घटा सकते। विश्वप्रकृति में प्रकट भगवान् के नाते वे प्रकृति के साथ तदाकार होकर कर्म करते हैं। वहां वे स्वयं प्रकृति हैं ऐसा कह सकते हैं, पर प्रकृति की सारी क्रियाओं के अन्दर उन्हीं की वह आत्मशक्ति होती है जो पहले से देखती और पहले से संकल्प करती है, समझती और प्रवृत्त करती है, प्रकृति को विवश कर उससे कर्म कराती है और फिर फल का विधान करती है। सबकी एकमेव निष्क्रिय शान्त आत्मा के नाते वे अकर्ता हैं, केवल प्रकृति ही कर्त्री है। इन सारे कर्मों को जीवों के स्वभाव के अनुसार करना वे प्रकृति पर छोड़ देते हैं, **"स्वभावस्तु प्रवर्तते"**, फिर भी वे प्रभु हैं, विभु हैं, क्योंकि वे हमारे कार्यों को देखते और धारण करते हैं तथा अपनी मौन अनुमति से प्रकृति को कर्म करने में समर्थ बनाते हैं। वे अपनी अक्षरता से परमेश्वर की शक्ति को अपनी व्यापक अचल सत्ता में से प्रकृति तक पहुँचाते हैं और अपने साक्षिस्वरूप की सर्वत्र सम दृष्टि से उसके कार्यों को आश्रय देते हैं। विश्वातीत परम पुरुष परमेश्वर के नाते वे सबके आरम्भ करनेवाले हैं ; सबके ऊपर हैं, सबको प्रकट होने के लिए विवश करते हैं, पर जो कुछ रचते हैं उसमें अपने-आपको खो नहीं देते और न अपनी प्रकृति के कर्मों में आसक्त ही होते हैं। उन्हीं का सर्वोपरि सर्वसंचालक संकल्प प्राकृत कर्ममात्र के सब कारणों में मूल कारण है। व्यष्टि पुरुष में अज्ञान की अवस्था में वे वही अंत:स्थित निगूढ़ ईश्वर हैं जो हम सब लोगों

को प्रकृति के यंत्र पर घुमाया करते हैं। इस यंत्र के साथ यंत्र के एक पुरजे के तौर पर हमारा अहंकार घूमा करता है, यह अहंकार प्रकृति के इस चक्र में बाधक और साधक दोनों ही एक साथ हुआ करता है। पर प्रत्येक जीव में रहनेवाले ये भगवान् समग्र भगवान् ही होते हैं, इसलिए हम अज्ञान की दशा को पार करके इस सम्बन्ध के ऊपर उठ सकते हैं। कारण हम अपने-आपको सर्वभूतस्थित एकमेव अद्वितीय आत्मा के साथ तद्रूप कर साक्षी और अकर्ता बन सकते हैं। अथवा हम अपने व्यष्टि-पुरुष को अपने अंत:स्थ परम पुरुष परमेश्वर के साथ मानव-आत्मा का जो सम्बन्ध है उस सम्बन्ध से युक्त कर सकते हैं और उसे उसकी प्रकृति के सब अंशों में उन परमेश्वर के कार्य का निमित्त (निमित्त कारण और करण) तथा उसकी परा आत्मसत्ता और पुरुष-सत्ता में उसे उन आन्तरिक विधान के परम, स्वतंत्र और अनासक्त प्रभुत्व का एक महान् भागी बना सकते हैं। हमें इस बात को गीता में स्पष्टतया देखना होगा ; एक ही सत्य के ये जो विभिन्न भाव सम्बन्ध-भेद और तज्जन्य प्रयोग-भेद से हुआ करते हैं, इनके लिए अपने विचार में अवकाश रखना होगा। अन्यथा हमें परस्पर-विरोध और विसंगति ही देख पड़ेगी जहाँ कोई परस्पर-विरोध या विसंगति नहीं है अथवा अर्जुन की तरह हमें भी ये सब वचन एक पहेली से मालूम होंगे और हमारी बुद्धि चकरा जायगी।

अब गीता कहती है कि परम पुरुष के अन्दर सारे पदार्थ हैं पर वे पुरुष किसी में नहीं हैं, **"मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:"** (सब मेरे अन्दर स्थित हैं, पर मैं उनके अन्दर नहीं), पर इसके बाद ही फिर गीता ने कहा, **"न च मत्स्थानि भूतानि.....भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन:** (मेरे अन्दर सब भूत नहीं हैं .....मेरी आत्मा सब भूतों का धारण करनेवाली है, भूतों में रहनेवाली नहीं)।"[1] और फिर इसके बाद परस्पर-विरोधाभास के साथ गीता ने यह बात कही कि मनुष्यशरीर में भगवान् ने अपना वासस्थान, अपना घर कर लिया है, **"मानुषीं तनुमाश्रितम्"**, और इस सत्य को जान लेना कर्म, भक्ति और ज्ञान के समग्र मार्ग के द्वारा जीव के मुक्त होने के लिए आवश्यक है। ये सब वचन केवल देखने में ही परस्पर-विसंगत हैं। परम पुरुष परमेश्वर के नाते भगवान् भूतों में नहीं हैं, और न भूत उनमें हैं, क्योंकि आत्मभाव और भूतभाव में हम लोग जो भेद करते हैं वह केवल पांचभौतिक जगत् के आविर्भाव के सम्बन्ध में ही है। विश्वातीत सत्ता में तो सभी सनातन आत्मा हैं और सब, यदि वहाँ भी अनेकत्व है तो, सनातन आत्मा ही हैं। वहाँ के लिए रहने का स्थानसम्बन्धी प्रश्न भी उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि विश्वातीत निरपेक्ष आत्मा देश और काल के प्रत्ययों से

१. ९, ४-५

सीमित नहीं होती, देश और काल तो भगवान् की योगमाया से यहाँ सिरजे जाते हैं। वहाँ सबका अधिवास आत्मा में है, देश या काल में नहीं ; वहाँ की भित्ति आत्मिक स्वरूपता और सहस्थिति ही हो सकती है। परन्तु इसके विपरीत विश्व के प्राकट्य में परम अव्यक्त विश्वातीत पुरुष के द्वारा देश और काल के अन्दर विश्व का विस्तार है, और उस विस्तार में वे प्रथम उस आत्मा के रूप में प्रकट होते हैं जो 'भूतभृत्' है अर्थात् सब भूतों को धारण करनेवाली है, वही अपनी सर्वव्यापक आत्मसत्ता में सबको धारे रहती है। और इस सर्वत्रावस्थित आत्मा के द्वारा भी वे परम पुरुष परमात्मा इस जगत् को धारण किये हुए हैं ऐसा कहा जा सकता है ; वे ही उसकी अदृश्य आत्मप्रतिष्ठा और सब भूतों के आरम्भ का गुप्त आत्मिक कारण हैं। वे इस जगत् को उसी प्रकार धारण किये हुए हैं जिस प्रकार हमारी अंतःस्थ गुप्त आत्मा हमारे विचारों, कर्मों और व्यापारों को धारण करती है। वे मन, प्राण, शरीर में व्यापक हैं और इन्हें अपने अन्दर रखे हुए, अपनी सत्ता से इन्हें धारण किये हुए से प्रतीत होते हैं। परन्तु यह व्यापकता स्वयं ही चैतन्य की एक क्रिया है, जड़ की नहीं ; स्वयं शरीर आत्मा के चैतन्य की ही एक सतत क्रिया है।

सब भूत इन परमात्मा के अन्दर हैं ; सब उनमें अवस्थित हैं, वस्तुतः जड़ रूप से नहीं, बल्कि आत्मसत्ता के ही उस विस्तृत आध्यात्मिक आधान के रूप में जिसके सम्बन्ध में हमारी यह कल्पना कि वह यही पार्थिव और आकाशीय अवकाश है, बहुत संकुचित और वैसी ही है जैसी कि भौतिक मन-बुद्धि और इन्द्रियाँ उसकी कल्पना कर सकती हैं। वास्तव में यहाँ जो कुछ है, सब आध्यात्मिक सहस्थिति, सरूपत्व और सहघटन है ; पर यह वह मौलिक सत्य है जिसे हम तबतक व्यवहार में नहीं ला सकते जबतक कि हम उस परम चैतन्य को पुनः प्राप्त न हो जायँ। तबतक यह भावना केवल एक ऐसा बौद्धिक प्रत्यय ही रहेगी जिसका कोई सजातीय अनुभव हमें अपने व्यावहारिक जगत् में प्राप्त न होगा। अतः देशकाल से संबद्ध इन पदों का प्रयोग करते हुए हमें यों कहना चाहिए कि यह जगत् और इसके सब प्राणी स्वतःस्थित भगवान् में वैसे ही रहते हैं जैसे अन्य सब कुछ आकाश के मूल अवकाश में रहता है, जैसा कि भगवान् स्वयं ही अर्जुन से कहते हैं कि, **"यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्"** तथा **"सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय"** (जिस प्रकार सर्वत्र संचार करनेवाला वायुतत्व आकाश में रहता है, उसी प्रकार तुम समझो कि सब प्राणी मेरे अन्दर रहते हैं।)[1] विश्वसत्ता सर्वव्यापक और अनन्त है और स्वतःसिद्ध भगवान् भी सर्वव्यापक और अनन्त हैं ;

---

१. ९, ६;

पर स्वत:स्थित आनन्त्य स्थिर, अचल, अक्षर है और विश्व का आनन्त्य **"सर्वत्रग:"** सर्वव्यापक गतिरूप है। आत्मा एक है, अनेक नहीं, पर विश्वात्मा 'सर्वभूतानि' के रूप में प्रकट होती है और ऐसा मालूम होता है मानो यह सब भूतों का जोड़ है। एक आत्मा है ; दूसरी आत्मा की शक्ति है जो मूल, आधारस्वरूप, अक्षर आत्मा की सत्ता में गतिमान् है, सिरजती है और कर्म करती है। आत्मा इन सब भूतों में या इनमें से किसी में वास नहीं करती, यह कहने का अभिप्राय यह है कि वह किसी पदार्थ के अंतर्भूत नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे आकाश किसी रूप में अंत:र्भूत नहीं है यद्यपि सब रूप मूलत: आकाश से ही उत्पन्न होते हैं। सब भूत मिलकर भी उन्हें अपने अंतर्भूत नहीं कर सकते न उनके घटक ही बन सकते हैं, ठीक वैसे ही जैसे आकाश वायुतत्व के गतिमान् विस्तार के अन्दर अंतर्भूत नहीं होता न वायु के सब रूप या शक्तियाँ आकाश को घटित ही कर सकती हैं। परन्तु फिर भी गति में हैं भगवान् ही ; एक होने पर भी वे अनेकों में प्रत्येक के ईश्वर होकर निवास करते हैं। ये दोनों ही सम्बन्ध उनके विषय में एक साथ सत्य हैं। एक आत्म-सत्ता का जागतिक गति के साथ सम्बन्ध है ; और दूसरा अर्थात् प्रत्येक रूप में जो उनका अधिवास है वह उन्हीं की जागतिक सत्ता का अपने ही विभिन्न रूपों के साथ सम्बन्ध है। एक अपने अन्दर सबका अंतर्भाव करनेवाला अक्षरत्व, स्वत:-सिद्ध आत्मतत्व है, और दूसरा उसी आत्मा का शक्तितत्व है जो अपने ही आवरण और प्राकट्य की विभिन्न शक्तियों के संचालन और निरूपण के रूप में प्रकट है।

परम पुरुष जगत् के ऊर्ध्वमूल से अपनी प्रकृति पर झुकते हैं या उसे दबाते हैं, ताकि प्रकृति के अन्दर जो कुछ है, जो कुछ एक बार व्यक्त हो चुका था और फिर अव्यक्त में लीन हो गया उसका सनातन चक्र फिर से प्रवर्तित हो। विश्व के सब प्राणी इसी अंत:प्रेरणा के तथा व्यक्त-सत्तासंबन्धी उन विधानों के वशीभूत होकर ही कर्म करते हैं जिनके द्वारा विश्वगत सामंजस्यों के रूप में भगवान् की सर्वरूप सत्ता अभिव्यक्त होती है। इसी भागवत प्रकृति के, **"प्रकृतिं मामिकाम्, स्वां प्रकृतिम्"** के कर्म के अन्दर ही जीव अपने भवचक्र का अनुवर्तन करता है। जीव का इस या उस व्यष्टिभाव को प्राप्त होना उसी प्रकृति के प्रगतिक्रम में होनेवाले स्थित्यंतरों से होता है ; जीव उस भागवत प्रकृति को ही प्रकट करता है और उसे प्रकट करने में अपने विशिष्ट स्वधर्म का ही पालन करता है, चाहे प्रकृति की वह गति उच्चतर और प्रत्यक्ष हो अथवा निम्नतर और विकृत हो, ज्ञान के क्षेत्र में हो या अज्ञान के ; चक्र की गति पूरी होने पर प्रकृति अपनी प्रवृत्ति से निवृत्त होकर अचला और निष्क्रिय अवस्था को लौट जाती है। अज्ञान की दशा में जीव प्रकृति के प्रवाह के अधीन होता है, अपना मालिक आप नहीं बल्कि प्रकृति के

वश में होता है—"**अवशः प्रकृतेर्वशात्**" ; अपनी प्रभुता और मुक्त स्थिति को वह फिर से तभी प्राप्त हो सकता है जब वह लौटकर भागवत चैतन्य को पुनः प्राप्त हो। भगवान् भी प्रकृति के इस चक्र का अनुगमन करते हैं, पर उसके वश में रहकर नहीं बल्कि अन्तर से ही उसका निर्माण तथा मार्ग-दर्शन करनेवाली आत्मा के रूप में ; उनकी सारी सत्ता इस स्थिति में निवर्तित नहीं होती, बल्कि उनकी आत्मशक्ति प्रकृति का साथ देती और उसे आकार देती है। वे अपने ही प्रकृति-कर्म के अध्यक्ष होते हैं, वह जीव नहीं जो प्रकृति में जन्मे हों बल्कि वह सिरजनहार आत्मा जो प्रकृति से जगद्रूप में व्यक्त होनेवाला यह सारा विस्तार कराते हैं। वे प्रकृति के साथ रहते और उसकी सारी क्रियाएँ उससे कराते हैं, पर साथ ही वे उसके परे भी रहते हैं, जैसे प्रकृति के सारे विश्वकर्म के ऊपर कोई अपने विश्वातीत प्रभुत्व में विराज रहा हो। प्रकृति के साथ उन्हें उलझानेवाली और प्रकृति का प्रभुत्व उनके ऊपर स्थापित करनेवाली किसी वासना-कामना के कारण वे किसी प्रकार प्रकृति में लिप्त या आसक्त नहीं हैं और इसलिए प्रकृति के कर्मों से बद्ध भी नहीं हैं, क्योंकि वे इन सब कर्मों के अनन्त परे और आगे हैं, कालचक्र के भूत, भविष्य और वर्तमान सभी आवर्तनों में एकरस हैं। कालकृत क्षरभाव उनकी अक्षर सत्ता में विकार नहीं उत्पन्न करते। सारे विश्व को व्यापने और धारण करनेवाली मौन आत्मा विश्व में होनेवाले परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होती ; क्योंकि विश्व के इन परिवर्तनों को धारण करते हुए भी वह इनमें भाग नहीं लेती। यह परात्पर परम विश्वातीत आत्मा इसलिए भी इनसे प्रभावित नहीं होती कि यह इनके आगे बढ़ती और सदा ही परे रहती है।

पर यह कर्म भी है "**स्वां प्रकृतिम्**", अपनी ही भागवत प्रकृति का कर्म और भागवत प्रकृति भगवान् से कभी पृथक् नहीं हो सकती, इसलिए जो कुछ भी प्रकृति निर्मित करती है उसके अन्दर भगवान् रहते ही हैं। यह सम्बन्ध ही भगवान् की सारी सत्ता का संपूर्ण सत्तत्व नहीं है, पर यह जितना है उसकी किसी प्रकार उपेक्षा नहीं की जा सकती। भगवान् मानवशरीर में वास करते हैं। जो उनकी इस सत्ता की अपेक्षा करते हैं, जो इस मानवरूप के आवरण के कारण उनकी अवमानना करते हैं वे प्रकृति के दिखावों से भरमते और विमूढ़ होते हैं और इस कारण वे यह अनुभव नहीं कर सकते कि हमारे अन्दर गुप्त रूप से भगवान् निवास करते हैं चाहे उनका यह निवास करना मानुष-तन में रहते हुए भी स्वरूप में जागते हुए निवास करना हो जैसा कि अवतार में होता है या माया से छिपा हुआ हो। जो महात्मा हैं, अपने अहंभाव के अन्दर कैद नहीं, जो अंतःस्थित भगवान् की ओर अपने-आपको सम्मुख किये हुए हैं, वे यह जानते हैं कि मनुष्य के अन्दर जो गुप्त आत्मा है, जो

यहाँ सीमित मानव-प्रकृति से बद्ध प्रतीत होती है वह वही अनिर्वचनीय तेज है जिसे हम बाहर परम पुरुष परमेश्वर कहकर पूजते हैं। वे भगवान् के उस परम पद को जानते हैं जहाँ भगवान् सब भूतों के स्वामी और प्रभु हैं और फिर भी प्रत्येक भूत में वे देखते हैं कि वे ही भगवान् प्रत्येक के परम इष्टदेव और अंतःस्थित परमात्मा हैं। बाकी जो कुछ है वह विश्व में प्रकृति के नानात्व के प्राकट्य के लिए अपने-आपको सीमित करता है। वे यह भी देखते हैं कि यह उन्हीं भगवान् की प्रकृति है जो विश्व में सब कुछ बनी हुई है, इसलिए यहाँ जो कुछ है, अन्दर की असलियत में वही एक भगवान् है, सब कुछ वासुदेव है। और इस तरह वे भगवान् को केवल विश्व के परे रहनेवाले परमेश्वर के रूप में ही नहीं बल्कि इस जगत् में, एकमेव अद्वितीय रूप में तथा प्रत्येक जीव के रूप में पूजते हैं। वे इस तत्व को देखते, इसीमें रहते और कर्म करते हैं। वे उन्हीं को सब पदार्थों के परे स्थित परम तत्व के तथा जगत् में स्थित ईश्वर के रूप में, और जो कुछ है उसके अधीश्वर के रूप में पूजते हैं, उन्हीं में रहते और उन्हीं की सेवा करते हैं। वे यज्ञकर्मों के द्वारा सेवा करते हैं, ज्ञान के द्वारा ढूंढते हैं और सर्वत्र उन्हीं को देखते हैं, उनके सिवा और किसी चीज को नहीं और अपने जीवभाव तथा अपनी बाह्यांतर प्रकृति दोनों ही प्रकार से अपनी सम्पूर्ण सत्ता को उन्हीं की ओर उन्नत करते हैं। इसीको वे विशाल, प्रशस्त और सिद्ध मार्ग जानते हैं; क्योंकि यही एकमेव परमतत्व-स्वरूप तथा विश्वस्थित और व्यष्टिस्थित परमेश्वर के सम्बन्ध में सम्पूर्ण सत्य का मार्ग है।[1]

---

१. अ० ९, श्लोक ४-११, १३-१५, ३४;

कर्म, भक्ति और ज्ञान

अतएव, यही संपूर्ण सत्य, परमोच्च और विशालतम ज्ञान है। भगवान् विश्वातीत सनातन परब्रह्म हैं, वे अपनी देशकालातीत सत्ता से, अपनी सत्ता और प्रकृति के इस सारे विश्वरूप आविर्भाव को देश और काल के अन्दर धारण करते हैं। वे परमात्मा हैं जो जगत् के रूपों और गतियों के अंतरीय आत्मा हैं। वे पुरुषोत्तम हैं जिनका सब जीवात्मा और प्रकृति, सारा आत्मभाव और इस जगत् का या किसी भी जगत् का सारा भूतभाव आत्माधान और आत्म-शक्ति-चालन है। वे सब भूतों के अनिर्वचनीय परमेश्वर हैं, वे प्रकृति में व्यक्तीभूत अपनी ही शक्ति को अपने आत्मभाव के वश में रखे हुए जगत् के चक्र और उन चक्रों में प्राणियों का प्राकृत विकास उद्घाटित करते रहते हैं। जीव, व्यष्टि पुरुष, प्रकृतिस्थ आत्मा, जो उन्हींकी सत्ता से सत् है, जो उन्हींकी चेतना के प्रकाश से सचेतन है, उन्हींके संकल्प और शक्ति से जिसमें ज्ञान-शक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति है, उन्हींके दिव्य विश्वभोग से जो जीवन में आनन्द अनुभव करता है, उन्हींसे इन भवचक्रों में आया है।

मनुष्य की अंतरात्मा यहाँ भगवान् का ही आंशिक आत्मप्राकट्य है, जगत् में भगवान् की प्रकृति के कर्मों के लिये स्वतः सीमित हुई है, भगवान् की प्रकृति जीव बनी है, **"प्रकृतिः जीवभूता।"** आत्मतत्व से व्यष्टि पुरुष का भगवान् के साथ अभेद है। भागवत प्रकृति के कर्मों में वह भगवान् से अभिन्न है, तथापि व्यावहारिक भेद है और प्रकृतिस्थ भगवान् और विश्व-प्रकृति के परे स्थित भगवान् के साथ उसके बहुत से गहरे संबंध हैं। प्रकृति के निम्न दृश्य प्रपंचों में यह व्यष्टि जीव एक प्रकार के अज्ञान और अहंभाव-प्रयुक्त पार्थक्य के कारण एकमेव भगवान् से सर्वथा अलग देख पड़ता है और ऐसा मालूम होता है कि वह इस पृथकात्मिका चेतना के अन्दर रहता हुआ अपने आहंकारिक सुख और जगत् में अपने व्यष्टिगत जीवन की तथा जगत् में रहनेवाले अन्य प्राणियों के मन-बुद्धि-प्राणों के साथ अपने बाह्य संबंधों की ही बातें सोचता, चाहता, करता और भोगता है। परन्तु वास्तव में उसकी सारी सत्ता, उसका सारा चिंतन, उसका चाहना, करना और भोगना

भगवान् के विचार, संकल्प, कर्म और प्रकृतिभोग का ही एक प्रतिबिम्ब मात्र होता है—यह प्रतिबिम्ब अवश्य ही जबतक वह अज्ञान में है, अहंभावप्रयुक्त और उलटा होता है। व्यष्टि पुरुष के मूल में जो सत्तत्व है उसे पीछे फिरकर पुनः प्राप्त कर लेना ही उसकी मुक्ति का सीधा उपाय है, उसके लिए अज्ञान की दासता से निकलने का यही सबसे चौड़ा और सबसे नजदीक दरवाजा है। है तो वह आत्मा ही, वह जीव जो बुद्धि और विचारशक्ति से युक्त है, जिसमें संकल्प और कर्म करने की शक्ति है, जिसमें भावना, वेदना और जीवन का आनन्द पाने की कामना है, ये सब शक्तियाँ उसमें हैं और इसलिए इन्हीं सब शक्तियों को भगवान् की ओर फेर देने से मनुष्य का अपने परम सत्य को पुनः प्राप्त होना पूर्णतया संभव हो सकता है। उसे परमात्मा और ब्रह्म को ज्ञान से जानना होगा ; उसे अपनी भक्ति-पूजा परम पुरुष को चढ़ानी होगी ; उसे अपने संकल्प और कर्म अखिल ब्रह्माण्ड के परम अधीश्वर के अधीन करने होंगे। इससे वह निम्न प्रकृति से भागवत प्रकृति में जाता है ; वह अज्ञान के विचार, संकल्प और कर्म अपनी प्रकृति से निकाल फेंकता है और अपने भागवत स्वरूप के बोध से, उस परमात्मा के अंश के नाते, उसकी एक शक्ति और ज्योति के नाते सोचता, संकल्प और कर्म करता है ; वह केवल इन बाह्य स्पर्शों, आवरणों और दिखावों को ही नहीं बल्कि भगवान् की समग्र आंतरिक अनन्तता को भोगता है। इस प्रकार भागवत भाव से रहता हुआ, इस प्रकार अपने संपूर्ण आत्मभाव और प्रकृति को भगवान् की ओर लगाता हुआ वह परम ब्रह्म के सत्यतम सत्य के अन्दर उठा लिया जाता है।

वासुदेव को सब कुछ जानना और उसी ज्ञान में रहना ही असली रहस्य की चीज है। मानव जीव उन्हें आत्मा जानता है, वह आत्मा जो अक्षर है, जिसके अन्दर सब कुछ है और जो सब का अंतर्यामी है। वह निम्न प्रकृति के उलझे और अस्तव्यस्त जंजाल से निकल आता और स्वतःसिद्ध आत्मा की सुस्थिर और अचला शान्ति और प्रकाश में निवास करता है। वहाँ वह भगवान् की इस आत्मा के साथ सतत एकत्व को अनुभव करता है जो सब भूतों में स्थित है और समस्त चराचर जगत् की सारी प्रवृत्ति और कर्म तथा दृश्य को धारण करती है। विकारी जगत् के इस सनातन अविकारी आधारभूत आत्मा में स्थित होकर वहाँ से वह उससे भी महान् सनातन, विश्वातीत, परम सत् की ओर देखता है। वह उन्हें सब पदार्थों में निवास करनेवाले आत्मदेव, मानव-हृदय के स्वामी, निगूढ़ ईश्वर जानता है और उस परदे को हटा देता है जो उसके प्राकृत जीवभाव और उसकी सत्ता के इन अंतर्यामी आत्मस्वरूप स्वामी के बीच में है। वह अपने संकल्प, विचार और आचार को ज्ञानपूर्वक ईश्वर के संकल्प, विचार और आचार के साथ

एक कर देता है, उसका चित्त अन्तःस्थित भगवान् के साथ—सदा अपने अन्दर होने की भावना के साथ एक प्रकार की सतत अनुभूति के द्वारा—सुसंगत बना रहता है और वह सबके अन्दर उन्हींको देखता और उन्हींकी पूजा करता है और समूचे मानव-कर्म को भागवत प्रकृति के परम अभिप्राय में परिणत कर देता है। वह जानता है कि उसके चारों ओर सारे जगत् में जो कुछ है उसके मूल और सार-स्वरूप वे ही हैं। जितने भी पदार्थ हैं उनके बाह्य रूपों को वह ऐसे देखता है मानों वे आवरण हों, इसके साथ ही वह उनके भीतरी अभिप्राय को भी देखता है, देखता है कि ये सब पदार्थ उसी एक अचिंत्य सत्तत्व के स्वतः प्रकट होने के साधन और लक्षण हैं, इसी तरह बाह्य रूप और आंतर अभिप्राय, दोनों को ही एक साथ देखता हुआ वह सर्वत्र उसी एकत्व, उसी ब्रह्म, पुरुष, आत्मा, वासुदेव, उसी वस्तुतत्व को ढूँढ़ता है जो ये सब प्राणी और पदार्थ बना है। इसलिए भी उसका सारा आंतरिक जीवन उस अनन्त के साथ समस्वर और सुसंगत हो जाता है जो अब, यह जो कुछ जीवन-रूप से है या इसके अन्दर और चारों ओर है, इस सबके रूप में स्वतः प्रादुर्भूत है और इस तरह उसका समस्त बाह्य जीवन अखिल ब्रह्माण्ड के जीवनोद्देश्य का एक समुचित साधक यंत्र बन जाता है। अपनी आत्मा के द्वारा वह उस परब्रह्म की ओर ताकता है जो परब्रह्म ही यहाँ, वहाँ, सर्वत्र एकमेवाद्वितीय सत् है। अपने अंतःस्थ ईश्वर के द्वारा वह उन परम पुरुष की ओर देखता है जो अपने परम रूप में सब वासस्थानों के परे हैं। विश्व में व्यक्त हुए प्रभु के द्वारा वह उन परम की ओर देखता है जो अपने सब व्यक्त भावों के परे रहकर उनका नियमन करते हैं। इस प्रकार वह ज्ञान के असीम उद्घाटन और ऊर्ध्वदर्शन और अभीप्सा के द्वारा आरोहण कर उस वस्तु को प्राप्त होता है जिसकी ओर उसने अपने-आपको अनन्य और सर्वभाव से फेर लिया है।

जीव का भगवान् की ओर सर्वभाव से यह फिरना ही मुख्यतया गीता के ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वय का आधार है। इस प्रकार से भगवान् को सर्वभावेन जानना यह जानना है कि वे ही एक भगवान् आत्मा में हैं, व्यक्तीभूत सारे चराचर जगत् में हैं और समस्त व्यक्त के परे हैं—और यह सब एकीभाव से और एक साथ हैं। परन्तु उन्हें इस प्रकार जानना भी पर्याप्त नहीं होता जबतक कि उसके साथ हृदय और अंतःकरण भगवान् की ओर प्रगाढ़ता के साथ ऊपर न उठें, जब-तक कि मनुष्य के अन्दर वह ज्ञान एकमुखी और साथ ही सर्वग्राही प्रेम, भक्ति और अभीप्सा को प्रज्वलित न कर दे। निश्चय ही वह ज्ञान जिसके संग अभीप्सा नहीं होती, जो उन्नयन से उद्दीप्त नहीं होता कोई सच्चा ज्ञान नहीं है, क्योंकि ऐसा ज्ञान केवल बौद्धिक रूप से देखने की क्रिया और नीरस ज्ञान-प्रयास मात्र हो

सकता है। भगवान् की झांकी पा लेने के बाद तो भगवान् की भक्ति और उन्हें ढूंढ़ने की सच्ची लगन प्राप्त हो ही जाती है—वह लगन हो जाती है जो केवल उन भगवान् को ही नहीं जो अपने कैवल्य रूप में हैं, बल्कि उन भगवान् को भी जो हम लोगों के अन्दर हैं और उन भगवान् को भी जो यह सब जो कुछ है उसके अन्दर हैं, ढूंढ़ती फिरती है। बुद्धि से जानना केवल समझना है और आरंभ के लिये यह एक प्रभावशाली साधन हो सकता है—और यदि उस ज्ञान में कोई दिली सच्चाई न हो तो नहीं भी हो सकता और न होगा ही। यदि चित्त में आंतरिक अनुभूति की कोई प्रवृत्ति न हो, जीव पर छायी हुई कोई शक्ति न हो, आत्मा के अन्दर कोई पुकार न हो, तो उसका अर्थ इतना ही होगा कि मस्तिष्क ने बहिर्भाव से समझा है, पर अन्दर जीव ने कुछ देखा नहीं है। सच्चा ज्ञान अंतःस्थ जीवभाव से जानना है, और जब अंतःस्थ जीव को उस प्रकाश का स्पर्श होता है तब जिस चीज को उसने देखा है उसे गले लगाने के लिए वह उठ खड़ा होता है, उसे आयत्त करने के लिए वह लालायित होता है, उसे अपने अन्दर और अपने-आपको उसके अन्दर रूपान्वित करने के लिए साधन-संग्राम में उतरता है, उसने जो दर्शन किया है उसके तेज के साथ वह एक होने का प्रयास करता है। इस अर्थ में ज्ञान अभेद-भाव को प्राप्त होने के लिये जाग उठता है, और चूंकि अंतःस्थ जीव चैतन्य और आनन्द के द्वारा, प्रेम के द्वारा, आत्मभाव का जो कुछ आभास उसने पा लिया है उसकी प्राप्ति और उसके साथ एकत्व के द्वारा आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त होता है, ज्ञान का अन्दर जाग उठना अपने-आप ही इस सच्चे और एकमात्र पूर्ण साक्षात्कार की एक ऐसी लगन पैदा कर देता है जो सब विघ्न-बाधाओं को कुचलकर आगे बढ़ती है। इस तरह जो कुछ जाना जाता है, वह कोई बहिर्भूत विषय नहीं होता, बल्कि वह भागवत पुरुष, हम जो कुछ भी हैं उसकी आत्मा और प्रभु का स्वानुभूत ज्ञान होता है। इसके अटल परिणाम-स्वरूप भगवान् के प्रति एक सर्वजित् आनन्दमयी वृत्ति प्रवाहित होने लगती है और एक प्रगाढ़ और भावमय प्रेम और भक्ति की धाराएँ बहने लगती हैं और यही ज्ञान की आत्मा है। और यह भक्ति हृदय की कोई एकांगी वृत्ति नहीं, बल्कि जीवन का सर्वांग समर्पण है। इसलिए यह यज्ञ भी है, क्योंकि इसमें सब कर्म ईश्वरार्पण करने की क्रिया होती है, अपनी सारी क्रियाशील अंतर्बाह्य प्रकृति अपनी प्रत्येक मानसिक और प्रत्येक विषयगत क्रिया में अपने भजनीय भगवान् को समर्पित की जाती है। हमारी सारी मानसिक क्रियाएँ उन्हींके अन्दर होती हैं और वे ढूंढ़ती हैं अपनी सारी शक्ति और प्रयास के मूल और गंतव्य स्थल के तौर पर उन्हींको, उन्हीं आत्मा और प्रभु को। हमारी सब बाह्य क्रियाएँ जगत् में उन्हींकी ओर गतिमान् होतीं और उन्हींको अपना

लक्ष्य बनाती हैं, भगवत्सेवाकार्य का नवारंभ कराती हैं उस जगत् में जिसकी नियामक शक्ति हमारे वे अंतःस्थ भगवान् हैं जिनके अन्दर ही हम सब विश्व और उसके समस्त जीवों के साथ सर्वभूतस्थित एकात्मा हैं। क्योंकि, जगत् और आत्मा, प्रकृति और प्रकृतिस्थ पुरुष दोनों उसी एक के चैतन्य से प्रकाशमान हैं और दोनों ही उन्हीं एक परम पुरुष पुरुषोत्तम के ही आन्तर और बाह्य विग्रह हैं। इस प्रकार आत्मा के अन्दर बुद्धि, हृदय और संकल्पक मन का समन्वय होता है और उसके साथ इस पूर्ण मिलन में, इस सर्वांगीण भगवत्साक्षात्कार में, इस भागवत योग में ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय होता है।

परन्तु किसी भी रूप से इस स्थिति को प्राप्त होना अहंबद्ध प्रकृति के लिये कठिन है। और इस स्थिति की विजयशालिनी और सर्वांगीण और सुसंगत पूर्णता को प्राप्त करना तो, तब भी सुगम नहीं होता जब हम अन्ततः एकमेव निश्चय के साथ तथा सदा के लिये इस मार्ग पर पैर रखते हैं। मर्त्य मानस अज्ञानवश आवरणों और बाहरी दिखावों का जो भरोसा किया करता है उससे मूढ़ बन जाता है; वह केवल बाह्य मानव शरीर, मानव अंतःकरण, मानव जीवन-पद्धति ही देखता है और उन भगवान् की, जो प्रत्येक प्राणी में निवास करते हैं, कोई ऐसी झलक नहीं पाता जिससे वह इस अज्ञान और मोह से मुक्त हो सके। उसके अपने अन्दर जो भगवत्तत्व है उसीकी वह उपेक्षा, अवज्ञा करता है और दूसरों के अन्दर उसे नहीं देख पाता, और मनुष्य में अवतार और विभूति के रूप से भगवान् के आविर्भूत होते हुए भी वह अंध ही बना रहता और छिपे हुए भगवान् की अवहेलना या तिरस्कार करता है—**"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।"** और, जब वह जीवित प्राणी के अन्दर भगवान् की ऐसी उपेक्षा करता है तब उस बाह्य जगत् में तो वह उन्हें क्या देखेगा जिसे वह अपने पृथक्कर अहंकार की कैद के कारण परिसीमित मन-बुद्धि के बन्द झरोखों से देखा करता है। वह ईश्वर को जगत् में नहीं देखता; उन परमेश्वर को वह कुछ भी नहीं जानता जो इन सब विविध प्राणियों और पदार्थों से परिपूर्ण नानाविध लोकों के स्वामी हैं और इन सब लोकों के सब भूतों में निवास करते हैं; उसकी अंधी आँखें उस प्रकाश को नहीं देख पातीं जिससे संसार में जो कुछ है सब भगवद्भाव की ओर उन्नत होता है और पुरुष स्वयं अपनी अंतःस्थ भगवत्ता में जाग उठता और भगवदीय तथा भगवत्सदृश होता है। जिस चीज को वह जैसे ही देखता, उसी पर लपक कर उसमें आसक्त होता है, वही चीज है अहंभाव का जीवन—सांत वस्तुओंका पीछा, उन्हीं विषयोंकी प्राप्ति के लिये और मन-बुद्धि, शरीर तथा इन्द्रियों की पार्थिव लालसामय तृप्ति के लिए। जो लोग मन के इस बहिर्मुखी प्रवाह में अपने-आपको बेतरह

झोंक देते हैं वे निम्न प्रकृति के हाथों में जा गिरते, उसीसे चिपके रहते और उसीको अपनी आधारभूमि बना लेते हैं। मनुष्य के अन्दर जो राक्षसी प्रकृति है वे उसके शिकार होते हैं। इस प्रकृति के वश में रहनेवाला मनुष्य हर चीजको अपने पृथक् प्राणमय अहंकार की अत्युग्र और अदम्य भोग-लालसा पर न्योछावर कर देता है और उस राक्षस को ही अपने मन, बुद्धि, कर्म और भोग का तमोमय ईश्वर बना लेता है। अथवा वे आसुरी प्रकृति की अहंमन्य स्वेच्छा, स्वतःसंतुष्ट विचार, स्वार्थांध कर्म स्वतः-संतुष्ट पर फिर भी सदा असंतुष्ट रहनेवाली बौद्धिकभावापन्न भोग-तृष्णा के द्वारा व्यर्थ के चक्कर में झोंक दिये जाते हैं। परन्तु इस पृथक्कर अहं-चेतना में सतत बने रहना और इसी को अपने सारे कर्मों का केन्द्र बना लेना अपने सत्स्वरूप ज्ञान से सर्वथा वंचित होना है। इससे आत्मा के पंथभ्रष्ट करणों पर मोह का जो परदा पड़ता है वह एक ऐसा जादू है जो जीवन को एक निरर्थक चक्कर से बांध देता है। जब भगवदीय और सनातन नाप से नापा जाता है, तो उसकी सारी आशा, कर्म, ज्ञान व्यर्थ देख पड़ते हैं, क्योंकि इससे महद् आशा का द्वार बन्द होता, मुक्तिदायक कर्म छूट जाता, प्रकाश देनेवाला ज्ञान हवा हो जाता है। यह वह मिथ्याज्ञान है जो दृश्य जगत् को देखता है पर उस दृश्य जगत् के सत्तत्व को नहीं देख पाता, यह वही अंधी आशा है जो क्षणभंगुर पदार्थों का पीछा करती पर सनातन को नहीं देख पाती, यह वह निष्फल कर्म है जिसके प्रत्येक लाभ को उससे होनेवाली हानि लुप्त कर देती है।[1] सिसिफस की भांति अनन्त कालतक केवल परिश्रम ही हाथ लगता है।[2]

जो लोग महात्मा हैं, जो अपने आपको उस दैवी प्रकृति के प्रकाश और उदारता की ओर खोल देते हैं जिसे प्राप्त होना मनुष्य की सामर्थ्य के अन्दर है, वे ही उस मार्ग पर हैं जो आरंभ में बहुत ही संकरा पर अंतमें अत्यंत विशाल होता हुआ मुक्ति और पूर्णता की ओर ले जाता है। मनुष्य के अन्दर जो देवत्व है उसकी वृद्धि करना मनुष्य का समुचित कर्म है; उसके अन्दर की निम्न आसुरी और राक्षसी प्रकृति को निरंतर दृढ़तापूर्वक दैवी प्रकृति में परिणत करना ही मानव जीवन का दक्षतापूर्वकनिहित मर्म है। जैसे-जैसे यह वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे आवरण हटता जाता है और जीव कर्मके उत्तरोत्तर महान् अभिप्राय को तथा जीवन के वास्तविक तथ्य को समझने लगता है। आंख खुल

---

१. अ० ९, ११-१२

२. सिसिफस को यह शाप था कि उसे हमेशा एक चट्टान की चोटी पर बहुत बड़ा पत्थर चढ़ाते रहना पड़ेगा। जब-जब पत्थर चोटी के पास पहुंचता तो लुढ़क जाता था, और फिर से वही क्रम शुरू से करना पड़ता था। —अनु०

जाती है उन भगवान्‌की ओर जो मनुष्य के अन्दर हैं, उन भगवान् की ओर जो जगत् के अन्दर हैं; वह अन्तर्मुखी होकर उस अनन्त आत्माको, उस अविनाशी को देखता है जिससे सारे भूत उत्पन्न होते हैं और जो सब भूतों के अन्दर रहता है और जिसके द्वारा और जिसके अन्दर यह सब कुछ बना रहता है, और उसी को बाहर की ओर जानने लगता है। अतःजब यह प्रत्यक्ष आभास और यह ज्ञान जीव को अधिकृत कर लेता है तब उसकी सारी जीवनाकांक्षा भगवान् और अनन्त के प्रति परम प्रेम और अथाह भक्ति बन जाती है। मन तब केवल एक सनातन, परमात्मीय, चिर-जीवी, विश्वव्यापक, सत्तत्व में ही युक्त होकर रहता है, उसके लिये किसी भी चीजका मूल्य उसी के नाते होता है और उसे केवल उस एक सर्वानन्दमय पुरुष में ही आनन्द आता है। उसकी वाणीका सारा प्रयास और उसकी मन-बुद्धिका सारा चिंतन एक अखण्ड कीर्तन होता है उस विश्वव्यापक महत्ता, प्रकाश, सौन्दर्य, शक्ति और सत्य का जो अपने तेज-प्रताप के साथ उस मानव-आत्मा के हृदय पर प्रकट हुआ है और यही उसकी उन एकमेव परम आत्मा और अनन्त पुरुष की उपासना होती है। अंतरात्मा के अन्दर व्यक्त होने की जो एक छटपटाहट दीर्घकाल से चली आयी है वह अब अपने-आपमें भगवान् को प्राप्त करने और प्रकृति में उन्हें अनुभव करने की एक आध्यात्मिक चेष्टा और अभीप्सा का रूप धारण करती है। सारा जीवन उन भगवान् और इस मानव-आत्मा का निरंतर योग और एकीभाव बन जाता है। यही परिपूर्ण भक्ति की रीति है; हमारे समस्त आधार और प्रकृति को यह सनातन पुरुषोत्तम में लगे हुए हृदय से होनेवाले यज्ञ के द्वारा एक साथ ऊपर उठा ले जाती है।[1]

जो लोग ज्ञान पर ही अधिक जोर देकर चलते हैं, वे भी अंतरात्मा और प्रकृति पर होनेवाले भगवान् के दर्शन की निरंतर बढ़नेवाली, अपने अन्दर लीन करनेवाली और अपने रास्ते पर चलानेवाली शक्ति के सहारे उसी जगह पहुँचते हैं। उनका यज्ञ है ज्ञान-यज्ञ और ज्ञान के ही एक अनिर्वचनीय परम भाव और आनन्द से वे पुरुषोत्तम की भक्ति करने लगते हैं, **"ज्ञानयज्ञेन यजन्तो मामुपासते।"** यह वह ज्ञान है जो भक्ति से भरा हुआ है, क्योंकि यह अपने करणों में पूर्ण है, अपने लक्ष्य में पूर्ण है। यह परम तत्व को केवल एक तात्विक एकत्व अथवा अबुद्धिग्राह्य निरपेक्ष सत्य के तौर पर मान कर उसका पीछा करना नहीं है। यह परम को और विश्वरूप परमात्मा को हृदय की अनुभूति के साथ ढूंढ़ना और अधिकृत करना है; यह अनन्त का पीछा करना है उनकी अनन्तता में, और अनन्त को ही ढूंढ़ना है उन सब पदार्थों में जो सांत हैं; यह उन एक को उनके एकत्व में और

१. अ० ९, १३-१४;

उन्हीं एक को उनके अनेकविध तत्त्वों में, उनकी असंख्य छवियों, शक्तियों और रूपों में, यहाँ, वहाँ, सर्वत्र, कालातीतता में और काल में, गुणन में, विभाजन में, उनके एक ईश्वरभाव के अनन्त पहलुओं में, असंख्य जीवों में, उनके उन करोड़ों विश्वरूपों में जो जगत् और उसके प्राणियों के रूप में हमारे सामने हैं—"**एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्**"[1], देखना और आलिंगन करना है। यह ज्ञान अनायास ही एक भजन-पूजन, एक विशाल भाव-भक्ति, एक महान् आत्मदान, एक पूर्ण आत्मोत्सर्ग हो जाता है ; कारण यह उस आत्मा का ज्ञान है, उस आत्म-स्वरूप का संस्पर्श है, उस परम और विश्वरूपविराट् पुरुष का आलिंगन है जो हमें, हम जो कुछ भी हैं, अपना बना लेता है और जब हम उसके समीप पहुँचते हैं तो हमारे ऊपर अपने सत्स्वरूप के अनन्त आनन्द की निधियाँ बरसाता है।

कर्म का मार्ग भी आत्मनिवेदनरूपी उपासना और भक्ति में परिणत हो जाता है ; क्योंकि यह हमारे चित्त और उसकी सारी वृत्तियों और व्यापारों का उस एक श्री पुरुषोत्तम के चरणों में पूर्ण समर्पण होता है। बाह्य वैदिक यज्ञविधि एक शक्तिशाली रूपक है, उससे जो लाभ होता है वह अल्प है पर है स्वर्गमुखी ; वास्तविक यज्ञ तो वह आंतरिक होम है जिसमें समग्र भगवान् स्वयं ही यज्ञ-क्रिया, यज्ञ और यज्ञ की प्रत्येक वस्तु और घटना बनते हैं। इस आंतर यज्ञविधि की सारी क्रियाएँ और सामग्रियाँ हमारे अन्दर रहनेवाली उन्हीं की शक्ति की अपनी विधि और अपनी ही अभिव्यक्ति होती हैं। यह शक्ति हमारी अभीप्सा से अपनी प्रवृत्तियों के मूल की ओर ऊपर चढ़ती जाती है। अंतःस्थ भगवान् ही यज्ञ की अग्नि और हवि बनते हैं, कारण यह अग्नि वही भगवन्मुखी इच्छा है और यह इच्छा ही हमारे अन्दर भगवान् की अपनी सत्ता है। और, हवि भी हमारी प्रकृति तथा पुरुष दोनों ही भावों के स्वान्तःस्थ भगवान् का ही रूप और शक्ति है ; जो कुछ उनसे प्राप्त हुआ है वह उन्हीं के सत्तत्व, उन्हींके परम सत्य और मूल स्वरूप की सेवा और पूजा में भेंट चढ़ाया जाता है। भगवत्स्वरूप मनीषी स्वयं ही पावन मंत्र बनता है ; यह उन्हींकी सत्ता की ज्योति है जो भगवन्मुखी विचार के रूप में व्यक्त होती है और उस विचार के निगूढ़ आशय को मंडित किये रहनेवाले तेज के स्वानुभूत ज्ञान का उदय करनेवाले मंत्र में तथा उसके उस छन्द में जो सनातन पुरुष के छन्दों की झनकार मनुष्य को सुनाता है, यह ज्योति ही काम करती है। ज्योतिर्मय भगवान् स्वयं ही वेद हैं और वेदों के प्रतिपाद्य भी। वे ही ज्ञान हैं और ज्ञेय भी। ऋक्, यजुः, साम अर्थात् वे ज्योतिर्मय मंत्र जो बुद्धि को ज्ञान की किरणों से प्रकाशमय करते हैं, वे शक्तिमय मंत्र जो कर्म का सही

१. अ० ९, १५;

विधान करते हैं, वे शान्तिमय और सामंजस्यमय मंत्र जो आत्मा की भगवदीय इच्छा का उद्‌गान करते हैं, स्वयं ही ब्रह्म हैं, अधीश्वर हैं। भागवत चेतना का मंत्र ज्ञानोदय करानेवाला अपना प्रकाश ले आता है, भागवत शक्ति का मंत्र कार्य-सिद्धि करानेवाला संकल्प और भागवत आनन्द का मंत्र आत्मसत्ता के आत्मानन्द की समत्व-सिद्ध पूर्णता ले आता है। सब मंत्र—शब्द और अर्थ—महामंत्र अक्षर ब्रह्म ॐ का ही पुष्पित रूप हैं। जो ॐ इन्द्रियग्राह्य विषयों के रूपों में व्यक्त है, जो जगदुत्पादक आत्म-गर्भाधान की उस चिन्मयी लीला के रूप में व्यक्त है जिसके रूप और विषय प्रतीक हैं, जो अनन्त की आत्मनिहित परम चिन्मयी शक्ति में व्यक्त है, वह ॐ-पद और अर्थ, रूप और नाम का परम मूल, बीज और गर्भाशय है—वह स्वयं ही, अपने पूर्ण रूप में, इन्द्रियातीत परम भाव है, मूलभूत एकत्व है, वह कालातीत रहस्य है जो परम पुरुष में संपूर्ण व्यक्त के ऊर्ध्व में स्थित और स्वतःसिद्ध है।[1] अतः यह यज्ञ एक साथ ही कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों है।[2]

जो जीव इस प्रकार जानता, भक्ति करता और अपने सारे कर्म अपनी सारी सत्ता की महती शरणागति के भाव से सनातन पुरुष को अर्पण करता है उसके लिये ईश्वर सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर है। वह ईश्वर को इस जगत् का वह पिता जानता है जो अपने बच्चों को पालता, पोसता और उनपर अपनी दृष्टि रखता है। वह ईश्वर को वह भगवती माता जानता है जो हमें अपनी गोद में उठाये रहती है, हम लोगों पर अपने प्रेम के माधुर्य की वर्षा करती और इस विश्व को अपने सौन्दर्य के रूपों से परिपूर्ण कर देती है। वह ईश्वर को वह आदि स्रष्टा जानता है जो उस सबका उत्पादक है, जिससे देश, काल और संबंध के अन्दर उत्पत्ति और सृष्टि होती है। वह ईश्वर को समष्टि जगत् और व्यष्टि मात्र के भाग्य का स्वामी और विधाता जानता है। जिस मनुष्य ने अपने-आपको भगवान् को समर्पित कर दिया है उसे जगत्, दैव और अनिश्चित् घटना-चक्र डरा नहीं सकता और न इसका दुःख और दुराचार उसे व्याकुल ही कर सकता है। आत्मा की दृष्टि में ईश्वर ही मार्ग हैं और ईश्वर ही उसकी यात्रा का गंतव्य स्थान है, यह वह मार्ग है जिसमें कोई अपने कोनहीं खोता और यह वह गंतव्य स्थान है जिसके समीप वह प्रतिक्षण ईश्वर के ही दिखाये रास्ते से निश्चय ही जा रहा है। वह ईश्वर को अपनी और सारी सत्ता का स्वामी, अपनी प्रकृति का धारणकर्ता,

---

१. अ उ म्—अ स्थूल और बाह्य जगत् का आत्मा 'विराट्' है, उ सूक्ष्म और आन्तर जगत् का आत्मा 'तैजस' है, म् गुप्त परमचैतन्य सर्वशक्तिमत्ता का आत्मा 'प्राज्ञ' है, ॐ निरपेक्ष, तुरीय है—माण्डूक्य उपनिषद।

२. अ० ९, १६-१७

प्रकृतिस्थ आत्मा का पति, उसका प्रेमी और पोषक, अपने सब विचारों और कर्मों का अंतस्साक्षी जानता है। ईश्वर ही उसका घर और देश है, उसकी सब वासना-कामनाओं का आश्रय-स्थान है, सब प्राणियों का अतिघनिष्ट तथा मंगलकारी ज्ञानी सुहृद् है। दृश्य जगत् के सारे रूपों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय उसकी दृष्टि और अनुभूति में वही एकमेव ईश्वर है जो अपने कालगत आत्माविर्भाव को उसकी सतत पुनरावर्तन-पद्धति से बाहर ले आता, बना रखता और फिर अपने अन्दर खींच लेता है। जो कुछ भी संसार में उत्पन्न होता और नष्ट होता दीखता है उसका अविनश्वर बीज और मूल वही है और वही उस सबके अव्यक्त भाव का चिरंतन विश्रांति-स्थान है। वही है जो सूर्य और अग्नि की उष्णता में दाहक सत्ता है ; वही है अत्यधिक वर्षा और वर्षा का अभाव भी, वही यह सारी भौतिक प्रकृति और उसका समस्त व्यापार है। मृत्यु उसका मुखौटा (नकाब) है और अमरत्व उसका आत्मप्रकाश। वह सब जिसे हम लोग "है" कहते हैं, वही है और वह सब जिसे अभी लोग "नहीं है" कहते हैं, वह भी अनन्त के अन्दर छिपा हुआ है और उस अकथ की रहस्यमयी सत्ता का एक भाग है।[1]

एकमात्र परम ज्ञान और भक्ति के कोई भी चीज, बिना समग्र आत्म-निवेदन और समर्पण के कोई भी मार्ग हमें उन परम तक नहीं ले जायगा, जो कि सब कुछ हैं। अन्य धर्म, अन्य भजन-पूजन, अन्य ज्ञान, और साधन भी अवश्य ही अपने-अपने फल देनेवाले हैं, पर वे फल अल्पकालीन होते हैं और केवल दैवी संकेतों और रूपों के भोग देकर ही समाप्त हो जाते हैं। हमारे लिए, हमारी मनोभूमि की समतोल के अनुसार, बाह्य और आन्तर ज्ञान और साधन खुले रहते हैं। बाह्य धर्म बाह्य देवता का पूजन है और बाह्य सुख का साधन है : इसके साधक अपने पाप धोकर शुद्ध होते और शास्त्रों के बाह्य विधान का पूर्ण पालन करने के लिए प्रवृत्ति-प्रधान नैतिक सदाचारिता को प्राप्त होते हैं; वे बाह्य योग के विधिबद्ध प्रयोग करते हैं। परन्तु उनका लक्ष्य इस पार्थिव जीवन के नश्वर सुख-दुःख के पश्चात् स्वर्ग के भोग प्राप्त करना होता है, वे वह महान् सुख चाहते हैं जो इहलोक में नहीं मिलते, पर वह सुख इस संकुचित और दुःख-प्रधान जगत् से विशालतर लोक का सुख होते हुए भी है वैयक्तिक और लौकिक ही। और, जो कुछ वे प्राप्त करना चाहते हैं, उसे श्रद्धा और विधिपूर्वक प्रयत्न से प्राप्त करते हैं। जड़ जीवन और पार्थिव कर्म ही हमारे वैयक्तिक जीवन का सारा क्षेत्र नहीं है, न ही यह ब्रह्माण्ड का एकमात्र जीवन-प्रकार है। अन्य लोक भी हैं 'स्वर्गलोकं विशालम्' और उनमें यहाँ की अपेक्षा अधिक आनन्द है। इसलिए प्राचीन समय के श्रौती वेदत्रयी का

१. अ० ६, १७-१९

बाह्यार्थ सीखते, पापों को धोकर पवित्र होते, देवताओं के दर्शन-स्पर्शन की सुधा का पान करते और यज्ञ-यागादि तथा पुण्य कर्मों द्वारा स्वर्ग के भोग पाने का प्रयत्न करते थे। जगत् के परे कोई परम वस्तु है इसमें यह जो दृढ़ विश्वास है और, इससे भी अधिक, दिव्य लोक को प्राप्त होने का यह जो प्रयास है इससे जीव को अपने मार्गक्रमण में वह बल प्राप्त होता है जिससे स्वर्ग के उन सुखों को वह प्राप्त कर ले जिनपर उसकी श्रद्धा और प्रयास केन्द्रीभूत हुए हों। परन्तु वहाँ से जीव को फिर से मर्त्यलोक में आना पड़ता है, क्योंकि उस लोक के जीवन के वास्तविक उद्देश्य का उसे कोई पता नहीं चला, उसकी कोई उपलब्धि नहीं हुई। इसी लोक में, अन्यत्र कहीं नहीं, परम पुरुष परमेश्वर को जानना होता है, जीव की सदोष भौतिक मानव-प्रकृति में से उसकी दैवी प्रकृति का विकास कराना होता है और ईश्वर, मनुष्य और जगत् के साथ एकत्व के द्वारा जीवन का समग्र विशाल सत्य ढूँढ़ निकालना, उस सत्य में जीना और उससे जीवन को प्रत्यक्ष रूप से विलक्षण और अद्भुत बनाना होता है। उसीसे जनन-मरण का लंबा चक्कर पूरा होकर परम फल पाने का अधिकार प्राप्त होता है। मानव जन्म से जीव को मिलनेवाला यही शुभ अवसर है और जबतक इसका प्रयोजन पूर्ण नहीं होता तबतक जन्म-मरण का चक्कर बन्द नहीं होता। ईश्वर-भक्त इस विश्वब्रह्माण्ड में मानव-जन्म के इस परम प्रयोजन की ओर अनन्य प्रेम और भक्ति के द्वारा सतत आगे बढ़ता रहता है, इस प्रेम और भक्ति से वह परम पुरुष परमेश्वर और जगदात्मा जगदीश्वर को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है—अपनी अहंता की ऐहिक या पारलौकिक भोगों की तृप्ति को नहीं। उसके सारे चिंतन और दर्शन का भी वही एक उद्देश्य हो जाता है। एकमात्र भगवान् को ही देखना, प्रतिक्षण उन्हींके साथ एकत्व में रहना, सब प्राणियों में उन्हींसे प्रेम करना और सब पदार्थों में उन्हींका आनन्द लेना—यही उसके आध्यात्मिक जीवन की संपूर्ण स्थिति होती है। उसका भगवद्दर्शन उसे जीवन से अलग नहीं करता, न जीवन की पूर्णता का कोई भाग उससे छूटता है; क्योंकि भगवान् स्वयं ही उसका सर्वविध कल्याण करते और उसका अंतर्बाह्य सारा योग और क्षेम वहन करते हैं **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'**। स्वर्ग-सुख और ऐहिक सुख उसकी सम्पदा की केवल एक अल्प-सी छाया है; क्योंकि ज्यों-ज्यों वह भगवान् में विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों भगवान् भी अपनी अनन्त सत्ता की सारी ज्योति, शक्ति और आनन्द के साथ उसके ऊपर प्रवाहित होने लगते हैं।[1]

साधारण लोक-धर्म समग्र भगवान् से इतर अंशदेवताओं का यजन है।

१. अ० ९, २०-२२

गीता प्राचीन वैदिक धर्म के ही तत्कालीन विकसित बहिरंग से प्रत्यक्ष उदाहरण लेती है ; इस बाह्य पूजन को गीता ने अन्य देवताओं का या वसु-रुद्रादित्यरूप पितरों का अथवा भौतिक शक्तियों और भूत-प्रेतों का पूजन कहकर बखाना है। मनुष्य साधारणत: अपना जीवन और कर्म भागवती सत्ता की अपनी समझ या दृष्टि में जँचनेवाली अंश-शक्तियों और अंशस्वरूपों को, विशेषत: ऐसी शक्तियों और स्वरूपों को अर्पित करते हैं जो उनके निकट प्रकृति और मनुष्य के अन्दर की मुख्य-मुख्य चीजों के प्रतिरूपक होते हैं अथवा जो उनके सामने उनकी अपनी मानवता को ही अतिदैव-रूप में प्रतिभासित करते हैं। यदि मनुष्य इस प्रकार का भजन-पूजन श्रद्धा के साथ करते हैं तो उनकी श्रद्धा अन्यथा नहीं होती ; क्योंकि भक्त भगवान् के जिस किसी प्रतीक, रूप या भाव में उन्हें भजता है, **"यां यां तनुं श्रद्धया अर्चति"** जैसा कि अन्यत्र कहा है, भगवान् उसे स्वीकार करते हैं और जैसी उसकी श्रद्धा होती है वैसे ही बनकर उससे मिलते हैं। सब सच्चे धार्मिक विश्वास और साधन यथार्थ में एकमेव परमेश्वर और जगदीश्वर की खोज हैं ; क्योंकि भगवान् ही मनुष्य के सारे यज्ञों और तपों के एकमात्र स्वामी हैं और उसके सारे यत्न और अभीप्सा के अनन्त भोक्ता हैं। पूजा-अर्चा का प्रकार चाहे कितना ही छोटा या नीचा हो, परमेश्वर की कल्पना चाहे कितनी ही सीमित हो, आत्मोत्सर्ग का भाव, श्रद्धा-विश्वास, अपने ही अहंकार की पूजा के और जड़ प्रकृति की परिच्छिन्नता के परे पहुँचने का प्रयास चाहे कितना ही संकुचित हो, फिर भी मनुष्य की आत्मा और सर्वात्मा के बीच संबंध का कोई-न-कोई धागा बन ही जाता है और प्रत्युत्तर मिलता ही है। तथापि यह मिलना, पूजा से मिलनेवाला यह फल ज्ञान, श्रद्धा और कर्म के अनुसार ही होता है, इनकी मर्यादाओं का वह अतिक्रम नहीं कर सकता, और इसलिए उस महत्तर ईश्वर-ज्ञान की दृष्टि से, जिसके द्वारा ही आत्म-सत्ता और भूतभाव के असली स्वरूप का पता चलता है, यह निम्न कोटि का आत्मोत्सर्ग आत्मोत्सर्ग के सच्चे और परम विधान के अनुसार नहीं होता। ऐसी पूजा परम पुरुष परमेश्वर के समग्र स्वरूप और उनके आत्म-विभाव के तत्वों के ज्ञान पर प्रतिष्ठित नहीं होती, बल्कि बाह्य और आंशिक रूपों में ही इसकी आसक्ति होती है, **'न माम् अभिजानन्ति तत्वेन'**। अत: इसके द्वारा होनेवाला आत्मदान भी अपने लक्ष्य में मर्यादित, हेतु में अहंभावयुक्त, कर्म और दान-क्रिया में आंशिक और अयथार्थ होता है। **'यजन्ति अविधिपूर्वकम्'**। भगवान् को समग्र रूप में देखने से समग्र चैतन्ययुक्त आत्मसमर्पण बनता है ; बाकी जो कुछ है वह उन चीजों को प्राप्त होता है जो चीजें अपूर्ण और आंशिक हैं और उसे फिर उन चीजों से हटकर महत्तर आत्मानुसंधान और विशालतर

परमात्मानुभव से अपने-आपको अधिक विशाल बनाने के लिए लौट आना पड़ता है। परन्तु परम पुरुष और विश्वात्मपुरुष को ही केवल और सर्वथा प्राप्त करने का यत्न करना उस समग्र ज्ञान और सुफल को प्राप्त होना है जिसे अन्य मार्ग प्राप्त कराते हैं जब कि साधक किसी एक पहलू से ही सीमित हुआ नहीं रहता यद्यपि सब पहलुओं में उन्हीं एक भगवान् की ही सत्ता को अनुभव करता है। इस प्रकार का यत्न पुरुषोत्तम की ओर आगे बढ़ता हुआ सभी भगवदीय रूपों का समालिंगन करता है।[1]

यह पूर्ण आत्मसमर्पण, यह अनन्य शरणागति ही वह भक्ति है जिसे गीता ने अपने समन्वय का मुकुट बनाया है। सारा कर्म और साधन-प्रयास इस भक्ति के द्वारा उस परमपुरुष विश्वात्मा जगदीश्वर के प्रति समर्पण में परिणत होता है। भगवान् कहते हैं, "जो कुछ तुम करते हो, जो कुछ सुख भोगते हो, जो कुछ होमते हो, जो कुछ दान करते हो, जो कुछ मनसा कर्मणा तप करते हो, उसे मुझे अर्पण करो।"[2] यहाँ छोटी-से-छोटी चीज, जीवन की सामान्य-से-सामान्य घटना, हम जो कुछ हैं या हमारे पास जो कुछ है उसमें से किंचित् भी जो दान किया हो वह दान, छोटे-से-छोटा काम भगवदीय सम्बन्ध धारण करता और भगवान् के ग्रहण करने योग्य समर्पण होता है और भगवान् उसे अपने भक्त की जीवसत्ता और जीवन को अधिकृत करने का साधन बना लेते हैं। तब कामकृत और अहंकारकृत के भेद मिट जाते हैं। अपने कर्म का फल अच्छा ही हो इस तरह की कोई विकलता मन को नहीं होती, असुखद परिणाम का कोई तिरस्कार नहीं होता, बल्कि सारा कर्म और फल उन परमेश्वर को अर्पित कर दिया जाता है जिनके कि जगत् के सारे कर्म और फल सदा से हैं ही। इस तरह कर्म करनेवाले भक्त को कर्म का कोई बन्धन नहीं होता। क्योंकि अनन्य भाव से आत्मसमर्पण करने से सारी अहंभाव-प्रयुक्त कामना हृदय से निकल जाती है और भगवान् और व्यष्टिजीव के बीच, जीव के पृथक् जीवन के आन्तरिक संन्यास के द्वारा पूर्ण एकत्व सिद्ध होता है। सम्पूर्ण चित्त, सम्पूर्ण कर्म, सम्पूर्ण फल भगवान् के अपने होते हैं, इनका सारा व्यापार दिव्य रूप से विशुद्ध और प्रबुद्ध प्रकृति से होता है, ये सीमित परिच्छिन्न व्यष्टिभूत अहंकार की कोई चीज नहीं रह जाते। परिच्छिन्न प्रकृति इस प्रकार से समर्पित होने पर अनन्त का एक मुक्त द्वार बन जाती है; जीव अपनी आध्यात्मिक सत्ता में, अज्ञान और बन्धन से ऊपर निकलकर सनातन पुरुष के साथ अपने एकत्व में लौट आता है। सनातन पुरुष भगवान् का सब भूतों में अधिवास है; सबमें वे सम हैं और सब प्राणियों के समभाव से मित्र, पिता, माता,

१. अ० ९, २३-२५. २अ. ९, २९.

विधाता, प्रेमी और भर्ता हैं। वे किसी के शत्रु नहीं, किसी के पक्षपाती प्रेमी नहीं ; किसी को उन्होंने निकाल बाहर नहीं किया है, किसी को सदा के लिए नीच करार नहीं दिया है, किसी को उन्होंने अपनी स्वेच्छाचारिता से भाग्यवान नहीं बनाया है, सब अज्ञान में अपने-अपने चक्कर काटकर अन्त में उन्हीं के पास आते हैं। पर भगवान् का यह निवास मनुष्य में और मनुष्य का भगवान् में इस अनन्य भक्ति द्वारा ही स्वानुभूत होता और यह एकत्व सर्वांग में तथा पूर्ण रूप से सिद्ध होता है। परम का प्रेम और पूर्ण आत्मसमर्पण, ये ही दो चीजें हैं इस भगवदीय एकत्व का सीधा और तेज मार्ग।[1]

हम सबके अन्दर समरूप से जो भागवती सत्ता है वह कोई अन्य प्राथमिक माँग नहीं करती यदि एक बार इस प्रकार से श्रद्धा और हृदय की सच्चाई के साथ तथा मूलतः पूर्णता के साथ सम्पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया जाय। सब इस द्वार-तक पहुँच सकते हैं, सब इस मंदिर के अन्दर प्रवेश कर सकते हैं, सर्वप्रेमी के इस प्रासाद में हमारे सारे सांसारिक भेद हवा हो जाते हैं। यहाँ पुण्यात्मा का न कोई खास आदर है, न पापात्मा का तिरस्कार ; पवित्रात्मा और शास्त्रविधि का ठीक-ठीक पालन करनेवाला सदाचारी ब्राह्मण और पाप और दुःख के गर्भ से उत्पन्न तथा मनुष्यों द्वारा तिरस्कृत-बहिष्कृत चाण्डाल दोनों ही एक साथ इस रास्ते पर चल सकते हैं और समान रूप से परा मुक्ति और सनातन के अन्दर परम निवास का मुक्त द्वार पा सकते हैं। पुरुष और स्त्री दोनों का ही भगवान् के सामने समान अधिकार है ; क्योंकि भागवत आत्मा मनुष्यों को देख-देखकर या उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा या मर्यादा को सोच-सोचकर उसके अनुसार आदर नहीं देती ; सब बिना किसी मध्यवर्ती या बाधक शर्त के सीधे उसके पास जा सकते हैं। भगवान् कहते हैं कि, "यदि कोई महान् दुराचारी भी हो और वह अनन्य और सम्पूर्ण प्रेम के साथ मेरी ओर देखे तो उसे साधु ही समझना चाहिए, उसकी प्रवृत्तिशील संकल्पशक्ति स्थिरभाव से और पूर्ण रूप से ठीक रास्ते पर आ गयी है। वह जल्द धर्मात्मा बन जाता और शाश्वती शान्ति लाभ करता है।"[2] अर्थात् पूर्ण आत्मसमर्पण करनेवाला मन आत्मा के सब द्वार पूरे खोल देता है और आत्मसमर्पण के जवाब में मनुष्य के अन्दर भगवान् का अवतरण और आत्मदान ले आता है और इससे निम्न प्रकृति के परा आत्म-प्रकृति में अति शीघ्र रूपान्तर-साधन के द्वारा हमारे अन्दर जो कुछ है वह भागवती सत्ता के विधान के अनुरूप और तद्रूप हो जाता है। आत्मसमर्पण का संकल्प अपनी शक्ति से ईश्वर और मनुष्य के बीच के परदे को हटा देता है ; प्रत्येक भूल को मिटा देता और

१. अ० ९, २६-२९. २. ९, ३०-३१.

प्रत्येक विघ्न को नष्ट कर डालता है। जो लोग अपनी मानवी शक्ति के भरोसे ज्ञान-साधन या पुण्यकर्म अथवा कठोर तप के द्वारा उस महत्पद को लाभ करने की इच्छा करते हैं वे बड़े कष्ट से अपने रास्ते पर आगे बढ़ पाते हैं; परन्तु जीव जब अपने अहंकार और कर्मों को भगवान् को समर्पित कर देता है तब भगवान् स्वयं चले आते हैं और हमारा बोझ उठा लेते हैं। अज्ञानी को वे दिव्य ज्ञान का आलोक, दुर्बल को दिव्य संकल्प का बल, पापात्मा को दिव्यपवित्रता की मुक्ति-दायिनी स्थिति, दुःखी को अनन्त आत्मसुख और आनन्द ला देते हैं। जीव की दुर्बलता और उसके मानवी बल का लड़खड़ाना उनकी इस कृपा में कोई फर्क नहीं लाता। "यही मेरी प्रतिज्ञा है", अर्जुन से भगवान् स्वयं कहते हैं कि, "जो कोई मेरी भक्ति करता है उसका नाश नहीं होता।"[1] पहले का प्रयास और तैयारी, जैसे ब्राह्मण की शुचिता और पवित्रता, कर्म और ज्ञान में श्रेष्ठ राजर्षि का प्रबुद्ध बल इत्यादि का इसलिए महत्व है कि इनसे प्राकृत मानवजीव के लिए यह विशाल दर्शन पाना और आत्मसमर्पण करना सरल होता है; परन्तु इस प्रकार की तैयारी के बिना भी जो कोई इन मनुष्य-प्रेमी भगवान् की शरण लेते हैं वे चाहे वैश्य हों जो किसी समय धनोपार्जन तथा उत्पादन-श्रम के तंग दायरे के अन्दर फंसे रहा करते थे या शूद्र हों जो सहस्रों कठोर प्रतिबन्धों में आबद्ध रहते थे या स्त्री-जाति हों जिसके आत्मविस्तार के चारों ओर समाज ने एक संकुचित घेरा खींच रखा है और इस कारण जिसकी उन्नति का मार्ग बराबर रुद्ध और प्रतिहत रहा है, ये ही क्यों बल्कि वे पापयोनि भी जिनके ऊपर पूर्व-कर्म ने खराब-से-खराब जन्म लाद दिया है, जो जातिबहिष्कृत हैं, परिया-चाण्डाल हैं वे भी अपने सामने भगवान् के पट खुले हुए पाते हैं। आध्यात्मिक जीवन में वे सब बाह्य भेद जिन्हें मनुष्य इतना अधिक मानते हैं, क्योंकि वे बहिर्मुख मन को बरबस अपनी ओर खींचते हैं, भागवत ज्योति की समता और पक्षपातरहित शक्ति की सर्वशक्तिमत्ता के सामने बिलकुल हवा हो जाते हैं।[2]

यह पार्थिव जगत् जो द्वन्द्वमय है और जो पल-प्रतिपल के सद्यःजात क्षणिक सम्बन्धों से बंधा हुआ है, मनुष्य के लिए तबतक संग्राम, दुःख और शोक का ही स्थान है जबतक कि वह इन सब चीजों में अटका हुआ रहता है और इन्हीं के द्वारा लादे जानेवाले विधान को अपने जीवन का विधान मानता है। इससे मुक्त होने का मार्ग बाह्य से हटकर अन्दर की ओर मुड़ना है, मन को अपने बोझ के नीचे दबानेवाले और प्राण और शरीर की क्यारियों में उसे कैद करनेवाले भौतिक जीवन में बाहरी दिखावे से हटकर उस भागवत सत्य की ओर चलना है जो भागवत सत्तत्व

१. ९, ३१. २. अ० ९, ३०-३२.

आत्मा की मुक्त स्थिति में से होकर अपने-आपको व्यक्त करने की प्रतीक्षा कर रहा है। संसार का प्रेम, यह आवरण भगवान् के प्रेम में, जो कि एकमात्र सत्य है, अवश्य रूपान्तरित होना चाहिए। जब इस गुप्त और अंतःस्थित ईश्वर का पता लगता और उसका समालिंगन किया जाता है तब हमारी सारी आत्मसत्ता और सारा जीवन ऊपर उठ जाता और एक विलक्षण रूपान्तर साधित होता है। जो निम्न प्रकृति अपने बाह्य कर्मों और दृश्यों में निमग्न रहती है उसकी अज्ञानमयता में फँसे रहने के स्थान में वह आँख खुल जायेगी जो सर्वत्र ईश्वर को देखने लगेगी, सर्वत्र आत्मा की एकता और सार्वत्रिकता को अनुभव करने लगेगी। संसार का दुःख-दर्द सर्वानन्द के आनन्द में अपने-आपको खो देगा ; हमारा दौर्बल्य, प्रमाद और पाप सर्वग्राही और सर्व-रूपान्तरकारी शक्ति में, सनातन की सत्यता और शुचिता में परिवर्तित हो जायगा। भागवत चैतन्य के साथ अपने अंतःकरण को एक करना, अपनी सम्पूर्ण भागवत प्रकृति को सर्वत्र स्थित भगवान् के प्रति प्रेमरूप बना देना, अपने सब कर्मों को त्रिभुवननाथ के प्रीत्यर्थ यज्ञ बना देना और अपनी सारी उपासना और अभीप्सा को उनकी भक्ति तथा आत्मसमर्पण बना देना, सम्पूर्ण आत्मभाव को सम्पूर्ण अभेदभाव के साथ भगवान् की ओर लगा देना—यही एक रास्ता है जिससे मनुष्य इस सांसारिक जीवन से ऊपर उठकर भागवत जीवन को प्राप्त हो सकता है। भागवत प्रेम और भक्ति के सम्बन्ध में गीता की यही शिक्षा है, इस प्रेम और भक्ति में ज्ञान, कर्म और हृदय की चाह सब एक परम एकत्व में एक हो जाते हैं, उनकी सारी विभिन्नताएँ घुलमिल जाती हैं, सब तंतु एक पट के ताने-बाने बन जाते हैं, एक महान् एकीकरण होता है, एक विशाल अभेदभाव विस्तृत होता है।[1]

---

१. अ० ९, ३३-३४.

गीता का महावाक्य

अब हम गीता के योग के उस अंतरतम सारतत्व में आ गये हैं जो गीतोपदेश के समस्त जीवन और प्राण का श्वास-प्रश्वास केन्द्र है। अब हम बिलकुल स्पष्ट रूप से यह देख सकते हैं कि सीमित मानव जीव जब अहंकार और निम्न प्रकृति से हटकर स्थिर, शान्त और अविकार्य अक्षर आत्मा में आ जाता है तब उसका आरोहण केवल एक प्रथम सोपान, एक प्राथमिक परिवर्तनमात्र होता है। और अब हम यह भी देख सकते हैं कि गीता में आरम्भ से ही ईश्वर का, मानवरूप में परमेश्वर का क्यों इतना आग्रह किया गया है—उन परमेश्वर का जो "अहं, माम्" आदि पदों से अपने-आपको सूचित करते हैं और ऐसा मालूम होता है कि ये शब्द किसी महान् निगूढ़ और सर्वव्यापक उन परमात्मा का संकेत करते हैं जो सब लोकों के महेश्वर और मानवजीव के नाथ हैं और जो उस अक्षर आत्मसत्ता से भी महान हैं जो सदा शान्त और अचल रहती और प्राकृत विश्व के अंतर्वाह्य दृश्यों से निरन्तर अलिप्त बनी रहती है।

सारा योग भगवान् की खोज है, सनातन पुरुष के साथ मिलन की ओर प्रस्थान है। भगवान् और सनातन के सम्बन्ध में हमारी भावना जिस अंशतक पूर्ण होगी उसी अंशतक हमारी खोज का मार्ग तथा हमारा मिलन प्रगाढ़ और पूर्ण होगा और हमारा साक्षात्कार समग्र होगा। मनुष्य जो मानस-जीव है, अपने सीमित मन के रास्ते से असीम अनन्त की ओर चलता है और इसलिए उसे अनन्त की ओर इसी सीमित के समीप का कोई द्वार खोलना पड़ता है। वह कोई ऐसी भावना ढूंढता है जिसे बुद्धि पकड़ सके, अपनी प्रकृति की किसी ऐसी शक्ति को चुन लेता है जो अपने ही निर्बाध उन्नतिसाधक बल से उस अनन्त सत्यतक पहुँच जाय और उसे छू ले जो स्वयं उसकी बुद्धि की ग्रहणशक्ति के परे है। उस अनन्त सत्य के तो असंख्य रूप, असंख्य वाचक शब्द और असंख्य आत्मसंकेत हैं। वह इन्हीं में से किसी एक रूप को देखने का प्रयास करता है जिसमें उसी की भक्ति करके प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारा उस अप्रमेय सत्य को पा ले जिसका यह एक प्रतीक है। यह द्वार चाहे कितना ही तंग क्यों न हो, यदि यह उसे आकर्षित करनेवाली

विशालता को प्राप्त होने की कुछ भी आशा दिलाता है, यदि उसकी आत्मा को पुकारनेवाले 'तत्' की अथाह गभीरता और अगम्य उच्चता के रास्ते पर उसे ला खड़ा करता है तो इतने से उसे संतोष हो जाता है। और वह जिस तरह उसकी ओर आगे बढ़ता है, उसी तरह वह उसे ग्रहण कर लेता है **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'**।

दार्शनिक बुद्धि अपकर्षक निरपेक्ष तात्विक ज्ञान के द्वारा सनातन को प्राप्त होने का प्रयास करती है। ज्ञान का कर्म है बुद्धि के द्वारा ग्रहण करना और सीमित बुद्धि के लिए इसका अर्थ होता है लक्षण करना और निर्धारित करना। परन्तु अनिर्धार्य को निर्धारित करने का एकमात्र मार्ग किसी-न-किसी प्रकार का सार्वत्रिक निषेध अर्थात् "नेति नेति" ही होता है। इसलिए बुद्धि सनातन-सम्बन्धी जो कोई कल्पना करती है उसमें से उन सब चीजों को हटाती चलती है जो इन्द्रियों और हृदय तथा बुद्धि द्वारा सीमित होनेवाली प्रतीत होती हैं। आत्मा और अनात्मा, नित्य अक्षर अलक्ष्य आत्मसत्ता और अन्य सब प्रकार के जीवन, इन दोनों के बीच—ब्रह्म और माया के बीच, अनिर्वचनीय सद्वस्तु और अनिर्वचनीय का निर्वचन करने का यत्न करनेवाले पर निर्वचन न कर सकनेवाले सब पदार्थों के बीच—कर्म और निर्वाण के बीच, विश्वप्रकृति की कल्पना, उसकी निरंतर क्रियाशीलता के साथ ही उसकी चिरंतन क्षणभंगुरता और उसकी कल्पना और कर्म का एक ऐसा निरपेक्ष अनिर्वचनीय परम निषेध जो प्राण, मन और कर्म से सर्वथा रिक्त है, इन दोनों के बीच पूर्ण विरोध खड़ा किया जाता है। नित्य को पाने के लिए ज्ञान की बलवती प्रवृत्ति अनित्य पदार्थ मात्र से हटा ले जाती है। जीवन के मूल की ओर लौट चलने के लिए जीवन का निषेध करती है, हम जो कुछ समझते हैं कि हम उससे निकलकर जीवन के अनाम अपौरुषेय सत्तत्व को पाने के लिए 'अभी जो कुछ हैं'—से मालूम होते हैं उसीका निषेध कर देती है। हृदय की कामनाएँ, मन के कर्म और बुद्धि की कल्पनाएँ हटा दी जाती हैं; अंत में ज्ञान तक का निषेध किया जाता और अभेद और अज्ञेय में उसका अन्त किया जाता है। उत्तरोत्तर बढ़नेवाली निष्क्रिय शान्ति का यह मार्ग जिसका अंत निरपेक्ष नैष्कर्म्य में होता है, इस मायाकृत जीव को अथवा यह कहिए कि जिन सब संस्कारों की इस गठरी को हम अपना-आप कहते हैं, इसकी, आपेकी कल्पना को खत्म कर देता, जीवन-रूपी झूठ का अन्त करता है और स्वयं निर्वाण में समाप्त हो जाता है।

परन्तु स्व-निषेध का यह कठिन अपकर्षक निरपेक्ष मार्ग, कुछ लोकोत्तर प्रकृतिवाले व्यक्तियों को भले ही अपनी ओर आकर्षित करे, सर्वसामान्य देहधारी मनुष्यों के लिए सुखावह नहीं हो सकता, क्योंकि यह मार्ग मनुष्य की विविध प्रकार की प्रकृति की सब वृत्तियों को सनातन परम की ओर प्रवाहित होने का कोई रास्ता नहीं

देता। मनुष्य की केवल निरपेक्ष विचारशीलबुद्धि ही नहीं बल्कि उसका लालसामय हृदय, कर्मप्रवण मन, किसी ऐसे सत्य का अनुसन्धान करनेवाली उसकी ग्रहण-शील बुद्धि जिसमें उसका जीवन और सारे जगत् का जीवन एक बहुविध कुंजी का काम करते हैं, इन सबकी ही नित्य और अनन्त की ओर अपनी एक विशेष प्रवृत्ति है और ये सभी उसमें अपना भगवदीय मूल और अपने जीवन तथा अपनी प्रकृति की चरितार्थता ढूंढने का यत्न करते हैं। इसी प्रयोजन से भक्ति और कर्म के पोषक धर्म उत्पन्न होते हैं, इनकी यह सामर्थ्य है कि ये हमारे मानव-भाव को अत्यंत कर्मशील और विकसित शक्तियों को संतुष्ट करते और भगवान् की ओर ले जाते हैं, क्योंकि, इन्हीं से प्रारम्भ करने से ज्ञान सार्थक होता है। बौद्ध धर्म जो इतना तपःप्रधान है और केवल जगन्मिथ्यात्व को ही नहीं बल्कि अहं-मिथ्यात्व को भी इतनी कट्टरता के साथ माननेवाला है उसे भी अपनी मूल भित्ति लोकोत्तर कर्मानुष्ठान पर ही रखनी पड़ी और भक्ति के स्थान में जागतिक प्रेम और करुणा की एक विशेष आध्यात्मिक भावुकता को ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि ऐसा करने से ही बौद्ध धर्म मानवजाति के लिए एक सार्थक मार्ग, एक सच्चा मुक्तिप्रद धर्म बन सकता था। जगत् को भ्रम माननेवाले मायावाद तक को, कर्म और मन की उपाधियों के सम्बन्ध में उसकी इतनी आत्यंतिक तर्कनिष्ठुर असहिष्णुता के होते हुए भी, मनुष्य और जगत् में स्थित ईश्वर की तात्कालिक और व्यावहारिक सत्ता इसीलिए मान लेनी पड़ी कि यह साधन का प्रथम सोपान और प्रस्थान का सुविधाजनक प्रारम्भ-स्थान बन सकता है ; जो बात मायावाद के सिद्धान्तों में नहीं आती वही बात, मनुष्य की बद्धावस्था और मुक्ति के लिए उसके प्रयास को किसी प्रकार वास्तविक करार देने के लिए, मान लेनी पड़ी।

परन्तु कर्मप्रधान और भक्तिप्रधान धर्मों में यह दुर्बलता है कि वे किसी भागवत व्यक्तित्व तथा सीमित भगवत्ता में बहुत अधिक आसक्त रहते हैं। और जब वे असीम अनन्त भगवान् की भावना करते भी हैं, तब भी उससे ज्ञान की पूर्ण तृप्ति नहीं होती क्योंकि वे उसकी चरम और परम स्थिति तक जाने का कोई प्रयास नहीं करते। ये धर्म सनातन में पूर्ण लय और तादात्म्य के द्वारा उसके साथ पूर्ण मिलन के बहुत ही इधर रह जाते हैं—यद्यपि उस तादात्म्य तक किसी अन्य मार्ग से (भले ही निरपेक्ष दृष्टि को लेकर न सही, क्योंकि वहाँ सब प्रकार के एकी-भाव का आधार है) मनुष्य में स्थित आत्मा को किसी-न-किसी दिन पहुँचना ही होगा। इसके विपरीत बुद्धिप्रधान निष्क्रिय अध्यात्मवृत्ति में यह दुर्बलता है कि वह अति तात्विक निष्ठा के द्वारा इस परिणाम पर पहुँचती है और अंत में उस मानव जीव को ही न-कुछ अथवा एक अयथार्थ कल्पना मात्र बना डालती है जिसकी सारी

अभीप्सा का लक्ष्य अपने साधनकाल में सतत रूप से इसी तादात्म्यरूप मिलन को प्राप्त होना रहा है ; क्योंकि जीव और उसकी अभीप्सा के बिना मुक्ति और मिलन का कुछ अर्थ नहीं हो सकता। यह विचारमार्ग जीवसत्ता की अन्य शक्तियोंको जो कुछ थोड़ी-सी मान्यता देता भी है उसे भी एक ऐसे कनिष्ठ प्रारम्भिक कर्म की कोटि में डाल देता है जो सनातन और अनन्त का किसी प्रकार पूर्ण या संतोषजनक रूप से साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं। पर ये चीजें भी जिन्हें यह विचारमार्ग अनुचित रूप से रोके रखता है अर्थात् कार्यक्षम संकल्प, प्रेम की प्रबल उत्कंठा, प्रत्यक्ष प्रकाश और सचेतन मनोमय पुरुष का सबको समाविष्ट करनेवाला अंतर्ज्ञान—ये सब चीजें—भगवान् से ही आती हैं, उन्हीं की स्वरूपगत शक्तियों को निरूपित करती हैं और इसलिए उन्हीं में—जो इनके मूल हैं—इनके होने का कोई-न-कोई औचित्य, और उन्हीं में इनकी स्वपरिपूर्णता की प्राप्ति का कोई-न-कोई शक्तिशाली मार्ग भी होना चाहिए। जो भगवत्संबंधी ज्ञान इनके निर्बाध अधिकार को अप्राप्त ही छोड़ देता है वह पूर्ण, सिद्ध और सर्वतः संतोषकारक नहीं हो सकता, न कोई ऐसा ज्ञान सर्वथा ज्ञानयुक्त हो सकता है जो आत्मानुसंधान की अपनी असहिष्णु संन्यासवृत्ति से भगवान् के इन विभिन्न मार्गों के पीछे रहे हुए आध्यात्मिक सत्तत्व का निषेध करता अथवा केवल ज्ञान के अभिमान से इन्हें तुच्छ समझता है।

गीता के जिस केन्द्रस्थ विचार में उसके सब धागे एकत्र और एकीभूत होते हैं उसकी सारी महत्ता एक ऐसी भावना की समन्वय-साधकता में है जिस भावना में जगत् के अन्दर मानव जीव की समूची प्रकृति को मान्यता मिलती और एक विशाल और ज्ञानयुक्त एकीकरण द्वारा उसकी उस परम सत्य, शक्ति, प्रेम, सत्स्वरूप-संबंधिनी बहुविध आवश्यकता का औचित्य सिद्ध होता है जिसकी ओर हमारा मानव भाव संसिद्धि और अमृतत्व तथा उत्कृष्ट आनन्द, शक्ति और शान्ति की खोज में मुड़ा करता है। ईश्वर, मनुष्य और जागतिक जीवन को एक अति-व्यापक दृष्टि से देखने का यह एक प्रबल और विशाल प्रयास है। अवश्य ही यह बात नहीं है कि गीता के इन अठारह अध्यायों में सब कुछ आ गया हो और एक भी बात छूटी न हो, कोई आध्यात्मिक समस्या अब भी ऐसी न बची हो जिसे हल करना बाकी हो ; परन्तु फिर भी इस ग्रंथ में ज्ञान की इतनी विस्तृत भूमिका बाँधी जा चुकी है कि हम लोगों के लिए इतना ही काम बाकी है कि जो जगह इसमें खाली हो उसे भर दें, जो बीजरूप में हो उसे विकसित करें, संशोधित करें, जहाँ अधिक जोर देना हो वहाँ अधिक जोर दें, इसमें से जो विचारणीय बातें निकल सकती हों उन्हें निकालें, जो बात संकेतमात्र से कही गयी हो उसका विस्तार

करें और जो अस्पष्ट हो उसे विशद करें ताकि हमारी बुद्धि का और जो कुछ तकाजा हो, हमारे आत्मभाव के लिए और जो कुछ आवश्यक हो उसका कुछ पता चले। स्वयं गीता अपने प्रश्नों के अन्दर से ही उनका कोई सर्वथा नया समाधान निकालकर सामने नहीं रखती। जो व्यापकता उसका लक्ष्य है उसतक पहुँचने के लिए गीता को महान् दार्शनिक संप्रदायों के पीछे रहे हुए मूल औपनिषद वेदान्त के समीप जाना पड़ता है; क्योंकि उपनिषदों में ही हमें आत्मा, मानव जीव तथा समष्टि-जगत् का अत्यंत व्यापक, गभीर, जीवंत और समन्वित दर्शन होता है। परन्तु उपनिषदों में जो कुछ अंतर्ज्ञानदृष्टि से प्राप्त ज्योतिर्मय मंत्ररूप और सांकेतिक भाषा से समाच्छन्न होने के कारण बुद्धि के सामने खुलकर नहीं आता उसे गीता तत्पश्चात्कालीन विचारणा और सुनिश्चित स्वानुभूति के प्रकाश से खोलकर सामने रखती है।

गीता अपने समन्वय के ढाँचे के अन्दर उस तत्वानुसन्धान को स्थान देती है जो "अनिर्देश्य अव्यक्त अक्षर" के ढूंढनेवाले उपासक किया करते हैं। इस अनुसन्धान में लगनेवाले भी **'माम्'** (मुझे) पुरुषोत्तम को—परमात्मा और परमेश्वर को—प्राप्त करते हैं। कारण उनका परम स्वतःसिद्ध स्वरूप अचिंत्य है, वे **"अचिन्त्यरूपम्"** हैं, वह रूप देशकालाद्यपरिच्छिन्न सर्ववस्तुस्वरूपों का कैवल्यस्वरूप है, बुद्धि के लिए सर्वथा अचिंतनीय। निषेधस्वरूप निष्क्रियता, मौन वृत्ति, जीवन और कर्म के संन्यास का मार्ग जिससे लोग अनिर्देश्य परम स्वरूप के अनुसन्धान में लगते हैं, गीता की दर्शनप्रणाली में स्वीकृत और समर्थित है, पर केवल एक गौण अनुज्ञा के रूप से। यह निषेधात्मक ज्ञानमार्ग सनातन ब्रह्म की ओर सत्य के एक पहलू को लिए चलता है और यह वह पहलू है जहाँ, **"दुःखं देहवद्भिरवाप्यते"**, प्रकृतिस्थ देहधारी जीवों के लिए पहुँचना अत्यंत कठिन है; यह मार्ग नियमादिकों से बहुत ही कसा हुआ और अनावश्यक रूप से दुर्गम बना हुआ है, इसपर चलना **"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया"** पर चलना है। सब सम्बन्धों को त्यागकर नहीं बल्कि सब सम्बन्धों द्वारा वे 'अनन्त' भगवान् मनुष्य के लिए स्वाभाविक रूप से प्राप्य हैं और बहुत सुगमता के साथ, अत्यंत व्यापक और अत्यंत आत्मीय रूप में मनुष्य उन्हें पा सकता है। यह देखना कि परम तत्व "अव्यवहार्य" है अर्थात् जगत् में स्थित मनुष्य के मनोमय, प्राणमय और अन्नमय जीवन से वह कोई ताल्लुक नहीं रखता, व्यापकतम या परम सत्य नहीं है, न जिसे "व्यवहार" या जगत्प्रपंच कहते हैं वह परमार्थ के सर्वथा विपरीत ही है। प्रत्युत सहस्रों ऐसे सम्बन्ध हैं जिनके द्वारा सनातन परम पुरुष का हमारे मानवजीवन के साथ गुप्त संपर्क और एकीभाव है और हमारी प्रकृति तथा जगत् की प्रकृति के जितने

भी मूलभाव हैं उन सबके द्वारा, 'सर्वभावेन', वह सम्पर्क इन्द्रियगम्य हो सकता है और वह एकीभाव हमारे जीवचैतन्य, हृदय, मन, बुद्धि और आत्मचैतन्य को प्रत्यक्ष अनुभूत हो सकता है। इसलिए यह दूसरा मार्ग मनुष्य के लिए स्वाभाविक और सुलभ—'सुखमाप्तुम्' है। भगवान् अपने-आपको हमारे लिए किसी प्रकार दुर्लभ नहीं बना रखते ; केवल एक चीज की जरूरत है, एक ही मांग है जो पूरी करनी होगी, वह चीज यही है कि जीव को अपने अज्ञान का आवरण भेदने की अनन्य अदम्य लालसा हो और उसका मन, हृदय और प्राणों के द्वारा होनेवाला सारा अनुसन्धान निरन्तर उसीके लिए हो जो सतत उसके समीप है, उसी के अन्दर है, उसीके जीवन का जीवनतत्व, उसका आत्मतत्व, उसके वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक भाव का गुप्त तत्व, उसकी आत्मा और उसकी प्रकृति दोनों है। हमारी सारी कठिनाई इतनी ही है, बाकी हमारी सत्ता के स्वामी स्वयं देख लेंगे और उसे पूरा करेंगे—**"अहं त्वां मोक्षयिष्यामि मा शुचः।"**

गीतोपदेश के जिस भाग में गीता के समन्वय का रुख विशुद्ध ज्ञानपक्ष की ओर बहुत ही अधिक है उसी भाग में हम यह देख चुके हैं कि गीता अपने श्रोता को इस पूर्णतर सत्य और अधिक अर्थपूर्ण अनुभव के लिए बराबर तैयार कर रही है। स्वतःसिद्ध अक्षर ब्रह्म के साक्षात्कार का जैसा निरूपण गीता ने किया है उसीमें यह भाव निहित है। गीतानिरूपित वह अक्षर सर्वभूतांतरात्मा अवश्य ही प्रकृति के कर्मों में प्रत्यक्ष रूप से कोई दखल देता नजर नहीं आता ; पर प्रकृति के साथ उसका कोई सम्बन्ध न हो और प्रकृति से वह सर्वथा दूर हो ऐसी भी बात नहीं है। क्योंकि वह हमारा द्रष्टा और भर्ता है ; वह मौन और निर्वैयक्तिक अनुमति देता है ; निष्क्रिय भोग तक वह भोगता है। आत्मा की उस स्थिर शान्त ब्राह्मी स्थिति में समवस्थित रहते हुए भी प्रकृति का बहुविध कर्म हो सकता है ; कारण द्रष्टा आत्मा अक्षर पुरुष है और पुरुष का प्रकृति के साथ किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध सदा रहता ही है। पर अब निष्कर्म और सकर्म के इस द्विविध स्वरूप का कारण उसके पूर्ण आशय के साथ खोलकर बतला दिया गया,—क्योंकि निष्क्रिय सर्वव्यापक ब्रह्म भगवान् के सत्स्वरूप का केवल एक अंग है। वही एक अविकार्य आत्मा जो जगत् में व्याप्त और प्रकृति के सब विकारों का आश्रय है, वही, सम-रूप से मनुष्य में स्थित ईश्वर, प्रत्येक प्राणी के हृदय में रहनेवाला प्रभु, हमारे सम्पूर्ण अंतःकरण तथा बाहर से अन्दर लेने और अन्दर से बाहर भेजने की उसकी सारी बाह्य क्रिया का सज्ञान कारण और स्वामी है। योगियों का ईश्वर और ज्ञानमार्गियों का ब्रह्म एक ही है, वही परमात्मा और जगदात्मा है, वही परमेश्वर और जगदीश्वर है।

यह ईश्वर वैसा सीमित व्यष्टिभूत ईश्वर नहीं है जैसा कुछ लौकिक सम्प्रदाय माना करते हैं ; ईश्वर के वैसे व्यष्टिभूत रूप तो ईश्वर की समग्र सत्ता के इस अन्य पहलू के—जो सर्जन करता और संचालन करता है तथा जो व्यष्टिकरण का पहलू है, उसके केवल आंशिक और बाह्य विग्रहमात्र हैं। यह ईश्वर एकमेव परम पुरुष, परमात्मा, परमेश्वर है, सब देवता जिसके विभिन्न रूप हैं, सारी पृथक्व्यष्टिभूत सत्ता इस विश्व-प्रकृति में जिसके आविर्भाव की एक परिमित मात्रा है। यह ईश्वर भगवान् का कोई विशिष्ट नाम और रूप नहीं, वह इष्टदेवता नहीं जिसे उपासक की बुद्धि ने कल्पित किया हो अथवा उसकी कोई विशिष्ट अभीप्सा जिसमें मूर्त हुई हो। ऐसे सब नाम और रूप उन एक देव की केवल शक्तियाँ और मूर्तियाँ हैं जो सब उपासकों और सम्प्रदायों के जगदीश्वर हैं ; ये देव-देव हैं। ये ईश्वर अपौरुषेय अलक्षणीय ब्रह्म का भ्रमात्मक माया के अन्दर प्रतिबिम्ब नहीं हैं ; क्योंकि सारे विश्व के परे से तथा विश्व के अन्दर से भी वे सब लोकों और उनमें रहनेवाले जीवों का शासन करते हैं तथा उनके प्रभु हैं। वे वैसे परब्रह्म हैं जो परमेश्वर हैं क्योंकि वे ही परम पुरुष और परम आत्मा हैं, वे ही अपने परतम मूल स्वरूप से विश्व को उत्पन्न करते और उसका शासन करते हैं, माया के वश होकर नहीं बल्कि अपनी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता से। जगत् में उनकी भागवत प्रकृति का जो कार्य होता है वह भी उनकी या हमारी चेतना का कोई भ्रम नहीं है। भ्रम में डालनेवाली माया तो केवल निम्न प्रकृति के अज्ञान की हुआ करती है। यह निम्न प्रकृति एकमेव निरपेक्ष ब्रह्म की अगोचर सत्ता के आधार पर असत् पदार्थों की निर्माणकर्त्री नहीं है, बल्कि इसकी अंध भाराक्रांत परिच्छिन्न कार्यप्रणाली अहंकार का रूपक बाँधकर तथा मन, प्राण और जड़ शरीर के अधूरे रूपकों द्वारा जीवन के महत्तर अभिप्राय को, जीवन के गभीरतर सत्वरूप को मानवी बुद्धि के सामने कुछ-का-कुछ और ही भासित करती है। एक परा, भागवती प्रकृति है जो विश्वसृष्टि की वास्तविक कर्त्री है। सब प्राणी और सब पदार्थ एक ही भागवत पुरुष के भूतभाव हैं ; सारी प्राणशक्ति एक ही प्रभु की शक्ति का व्यापार है ; सारी प्रकृति एक ही अनन्त का आविर्भाव है। वे ही मनुष्यों में स्थित ईश्वर हैं ; जीव उन्हीं के आत्मस्वरूप का अंशरूप आत्मस्वरूप है। वे ही विश्व में स्थित विश्वेश्वर हैं; दिशा और काल में अवस्थित यह सारा विश्व उन्हीं का प्राकृत आत्म-विस्तार है।

जीवन और परम जीवन के इस व्यापक दर्शन की उद्घाटन-परम्परा में ही गीतोक्त योग का एकीभूत अर्थगांभीर्य और अनुपम श्रीसंवर्धन है। ये परम पुरुष परमेश्वर एक ही सर्व-भूताधिवासी अविकार्य अक्षर पुरुष हैं ; इसलिए

इस अविकार्य अक्षर पुरुष के आत्मस्वरूप की ओर मनुष्य को जाग्रत् होकर उसके साथ अपने अंत:स्थ अवैयक्तिक स्वरूप को एक करना होता है। मनुष्य में वे ही परमेश्वर हैं जो उसकी सब क्रियाओं के उत्पादक और चालक हैं; इसलिए मनुष्य को इन स्वांत:स्थ ईश्वर की ओर जागना, उसके अपने अन्दर घर बनाकर रहनेवाले भगवत्तत्व को जानना, उसे ढाँकने और छिपानेवाले सब आवरणादिकों से ऊपर उठ आना और आत्मा के इन अन्तरतम आत्मा के साथ, अपने चैतन्य के इस वृहत्तर चैतन्य के साथ, अपने सारे मन-वचन-कर्म के इन गुप्त स्वामी के साथ, अपने अन्दर के इस स्वरूप के साथ जो उसके सारे विभिन्न भूतभावों का मूल उद्गम और परम गंतव्य स्थान है, एकीभूत होना होता है। ये ही वे परमेश्वर हैं जिनकी वह भागवती प्रकृति, हम जो कुछ हैं उसका उद्गम है, पर निम्न प्रकृति के विकारों से ढंकी है; इसलिए मनुष्य को अपनी निम्न बाह्य प्रकृति से, जो त्रुटिपूर्ण और मर्त्य है, पीछे हटकर अपनी मूल अमृतस्वरूपा शुद्ध बुद्ध भागवती प्रकृति को प्राप्त होना होता है। ये परमेश्वर सब पदार्थों के अन्दर एक हैं, वह आत्मा हैं जो सबके अन्दर रहती है और जिसके अन्दर सब रहते और चलते-फिरते हैं; इसलिए मनुष्य को सब प्राणियों के साथ अपना आत्मैक्य ढूंढ निकालना, सबको उस एक आत्मा के अन्दर देखना और उस आत्मा को सबके अन्दर देखना, सब पदार्थों और प्राणियों को, **'आत्मौपम्येन सर्वत्र'**, सर्वत्र आत्मवत् देखना और तदनुसार अपने मन, बुद्धि और प्राण के सब कर्मों में सोचना, अनुभव करना और कर्म करना होता है। ये ईश्वर यहाँ अथवा और कहीं जहाँ जो कुछ है उसके मूल हैं और वे अपनी ही प्रकृति के द्वारा ये असंख्य पदार्थ और प्राणी बने हैं, **'अभूत् सर्व-भूतानि'**; इसलिए मनुष्य को सब जड़ और चेतन पदार्थों में उन्हीं को देखना और पूजना होता है; सूर्य में, नक्षत्र में, फूल में, मनुष्य और प्रत्येक जीव में, प्रकृति के सब रूपों और वृत्तियों तथा गुणों और शक्तियों में **'वासुदेव: सर्वमिति'** जानकर उन्हीं के आविर्भाव का पूजन करना होता है। भागवत सत्ता के अंतर्दर्शन और भागवत सहानुभूति के द्वारा और अन्त में सुदृढ़ आंतरिक अभेद-स्थिति के द्वारा उसे विश्व के साथ एकीभूत होकर विश्वमय बनना पड़ता है। अक्रिय निरपेक्ष अभेद-भाव में प्रेम और कर्म के लिए कोई स्थान नहीं रहता। पर यह अधिक विशाल और समृद्ध अभेदभाव कर्मों के द्वारा तथा विशुद्ध प्रेमभाव के द्वारा अपने-आपको परिपूर्ण करता है; हमारे सब कर्मों और भावों का मूल उद्गम-स्थान, आश्रय, सार, प्रेरक भाव और अलौकिक प्रयोजन बनता है। **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'**—किस देवता को हम लोग अपना जीवन और अपने कर्म नैवेद्य के तौर पर भेंट करें? ये ही वे भगवान् हैं, वे प्रभु हैं, जो हमारे यजन के

अधिकारी हैं। अक्रिय निरपेक्ष अभेद-भाव में पूजा और भक्तिभाव का कोई आनन्द नहीं रहता ; पर भक्ति तो इस अधिक समृद्ध, अधिक पूर्ण और अधिक घनिष्ठ मिलन की साक्षात् आत्मा और हृदय और शिखर है। इन्हीं भगवान् में पिता, माता, प्रेमी, सखा, सर्वभूतों के अंतरात्मा के आश्रय—ये सभी सम्बन्ध अपनी पूर्ण परितृप्ति लाभ करते हैं। ये ही एकमेव परम और विश्वव्यापक देव, आत्मा, पुरुष, ब्रह्म, औपनिषद ईश्वर हैं। इन्होंने ही अपने अन्दर इन सब विभिन्न रूपों में अपने ऐश्वर योग के द्वारा जगत् को प्रकट किया है ; इसके अनेकानेक विविध भूतभाव इनके अन्दर एक हैं और ये उन सबके अन्दर विविध रूपों में एक हैं। एक साथ इन सब रूपों में उन्हें देखने के लिए मनुष्य का जाग उठना उसी ऐश्वर योग का मानवी पहलू है।

भगवान् के उपदेश का यही परम और पूर्ण अर्थ है, यही वह समग्र ज्ञान है, जिसे प्रकट करने का भगवान् ने वचन दिया था, इस बात को पूर्णतया और असंदिग्ध रूप से स्पष्ट करने के लिए भागवत अवतार अबतक जो कुछ कहते रहे हैं उसीके निष्कर्ष को सारांश रूप से फिरसे कहकर यह बतलाते हैं कि, यही, कोई अन्य नहीं, मेरा **'परमं वचः'**, परम वचन है। **"भूय एव शृणु मे परमं वचः**[1]—मेरे परम वचन को फिर से सुनो।" हम देखते हैं कि गीता का यह परम वचन, प्रथमतः यही स्पष्ट और असंदिग्ध घोषणा है कि भगवान् की परमा भक्ति और परम ज्ञान उन्हें इस रूप में जानना और पूजना है कि वे, जो कुछ है उसके परम और दिव्य मूल हैं और इस जगत् तथा इसके प्राणियों के सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं और जितने भी पदार्थ हैं सब उन्हीं की सत्ता के भूतभाव हैं। इस परम वचन में दूसरी बात फिर यह है कि एकीभूत ज्ञान और भक्ति को परम योग कहा गया है ; यही सनातन पुरुष परमेश्वर के साथ मिलन लाभ करने का मनुष्य के लिए सुनिश्चित और स्वाभाविक मार्ग है। और मार्ग के इस निर्देश को और भी अर्थपूर्ण रूप से प्रकट करने के लिए, यह भक्ति जो ज्ञान पर प्रतिष्ठित और ज्ञान की ओर उन्मुख तथा भगवन्नियत कर्मों की भित्ति और चालक शक्ति है इसके अत्यधिक महत्व को हृदय में प्रकाशित करने के लिए यह बतलाया जाता है कि शिष्य अपने सर्वांतःकरण और हृदय से इस मार्ग को पहले ग्रहण कर ले, तभी वह आगे बढ़ सकता है और मानव यंत्र अर्जुन की तरह अंत में भगवन्मुख से कर्म का वह अंतिम आदेश सुनने का अधिकारी हो सकता है। भगवान् श्रीमुख से कहते हैं, "मैं अपनी इच्छा से तेरे हित के लिए वह परम वचन तुझसे कहूँगा, क्योंकि अब तेरा हृदय मेरे अन्दर आनन्द ले रहा है", **'ते प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।'**

---

१. १०-१.

क्योंकि भगवान् में हृदय की यह प्रीति होना ही सच्ची भक्ति का सम्पूर्ण घटक और सारतत्व है। कहा है, **'भजन्ति प्रीतिपूर्वकम्'**। ज्योंही परम वचन सुनाया जाता है अर्जुन तुरत उसे ग्रहण करता और यह पूछता है कि प्रकृति के इन सब पदार्थों में मैं भगवान् को कैसे देखूँ, और उसी प्रश्न से तुरत और स्वाभाविक रूप से विश्व के आत्मारूप भगवान् के दर्शन होते हैं और तब जगत्कर्म का वह भीषण आदेश आता है।[1]

भगवान् के विषय में गीता का यह आग्रह है कि भगवान् इस सारे जगत् और जागतिक जीवन के सम्पूर्ण रहस्य के निगूढ़ मूल हैं, यह ज्ञान मोक्षदायक होने के साथ-साथ वह ज्ञान है जो काल के अन्दर होनेवाले इस सारे विश्वकर्मप्रवाह और कालातीत सनातन सत्स्वरूप के बीच देख पड़नेवाली खाई को पाट देता है। पर ऐसा करते हुए यह ज्ञान इन दोनों में से किसी को भी असत् नहीं ठहराता, न किसी के भी सत्स्वरुप से कोई चीज निकाल लेता है ; प्रत्युत यह सारा विश्व ही ईश्वर है अथवा इस विश्व का कोई विश्वातीत ईश्वर है या जो कोई परम तत्व हमारे आध्यात्मिक ध्यान में या आत्मानुभूति में आते हैं, उन सबका इस ज्ञान में सामंजस्य हो जाता है। भागवान् अज अविनाशी अनन्त आत्मा हैं जिनका कोई आदि नहीं ; कोई ऐसी चीज न है न हो सकती है जिसमें से वे निकले हों, क्योंकि वे एक हैं, कालातीत हैं, निरपेक्ष हैं। "मेरा जन्म न देवता जानते हैं न महर्षि ही . . . . जो मुझे अज अनादि जानता है"[2] इत्यादि इस परम वचन के उपोद्घात हैं, और यह परम वचन यह आश्वासन देता है कि यह ज्ञान सीमित करनेवाला अथवा बौद्धिक ज्ञान नहीं है, क्योंकि उस परम पुरुष का रूप और स्वभाव, उसका स्वरूप, — यदि उसके लिए इन शब्दों का प्रयोग किया जा सकता हो, — मन के द्वारा चिंत्य नहीं हैं, **'अचिन्त्यरूपम्'** ; बल्कि यह विशुद्ध आत्मानुभूत ज्ञान है और यह मर्त्य मनुष्य को अज्ञान के सारे असमंजस से तथा सब पाप, दुःख और बुराई के सारे बन्धनों से मुक्त करता है—**"यो वेत्ति असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।"**[3] जो मानव जीव इस परम आत्मज्ञान के प्रकाश में रह सकता है वह जगत् के काल्पनिक या इन्द्रियगोचर अर्थों के परे पहुँचता है। वह उस अद्वैत की अनिर्वचनीय शक्ति को प्राप्त होता है जो सबके अतीत होने पर भी सबका पूरण करनेवाला है, जो सबके परे भी और यहाँ भी एकरस है। सर्वातीत अनन्त-विषयक यह आत्मानुभूति विश्व के ही सब पदार्थों को ईश्वर या देव माननेवाले सर्वेश्वरवाद की सब सीमाओं को तोड़ डालती है। विश्व-रूप-एकेश्वरवाद में विश्व और ईश्वर एक ही हैं, उसमें अनन्त की जो कल्पना है

---

१. अ० १० श्लोक १-१८.

२. १०, २३. ३. १०, ३.

वह ईश्वर को उसके जगद्रूप आविर्भाव में कैद रखने का प्रयास करती और ईश्वर को जानने का एकमात्र उपाय इस विश्व को ही बतलाती है ; परन्तु यह आत्मानुभूत ज्ञान हमें मुक्त कर दिक्कालातीत सनातन स्वरूप में ला छोड़ता है। "तेरे आविर्भाव को न देवता जानते हैं न असुर ही"[1] यही अपने जवाब में अर्जुन कह उठता है। यह सारा जगत् अथवा ऐसे असंख्य जगत् भी उन्हें प्रकट नहीं कर सकते न उनके वर्णनातीत विलक्षणआलोक और असीम माहात्म्य को धारण कर सकते हैं। ईश्वर सम्बन्धी इससे कनिष्ठ कोटि के ज्ञान इन्हीं परम पुरुष परमेश्वर के चिराव्यक्त अनिर्वचनीय सत्स्वरूप पर आश्रित होने के कारण ही सत्य हैं।

परन्तु फिर भी यह परम पद विश्व का निषेधस्वरूप नहीं है, न कोई ऐसा निरपेक्ष स्वरूप है जिसका विश्व के साथ कोई सम्बन्ध न हो। यह परम वस्तुतत्व है, सब निरपेक्षों का निरपेक्ष है। विश्वगत सारे सम्बन्ध इन्हीं परम से निकलते हैं ; विश्व के सब पदार्थ और प्राणी इन्हीं को लौट जाते हैं और केवल इन्हीं में अपना वास्तविक और अपरिमेय जीवन लाभ करते हैं। "सर्वशः मैं ही सब देवताओं और महर्षियों का आदि हूँ।"[2] देवता वे अमर शक्तियाँ और अमर व्यक्तित्व हैं जो विश्व की अंतर्बाह्य शक्तियों को सचेतन रूप से भीतर ही भीतर गढ़ते हैं तथा उनके बनानेवाले, अध्यक्ष रूप से उन्हें चलानेवाले हैं। देवता सनातन और मूल देवाधिदेव के आध्यात्मिक रूप हैं और उन देवाधिदेव से निकलकर जगत् की नाना शक्तियों में उतर आते हैं। देवता अनेकविध हैं, सार्वत्रिक हैं, वे आत्मसत्ता के मूलतत्वों, उसकी सहस्रों गुत्थियों से उस एक ही का यह विविधतापूर्ण जगत्-जाल निर्मित करते हैं। उनकी अपनी सारी सत्ता, प्रकृति, शक्ति, कर्मपद्धति हर तरह से, अपने एक-एक तत्व और अपनी बनावट के एक-एक धागे में परम पुरुष परमेश्वर की सत्ता से ही निकलती हैं। यहाँ का कोई भी पदार्थ ये दैवी कार्यकर्ता स्वतः निर्मित नहीं करते, अपनेसे ही कोई कार्य नहीं करते ; हर चीज का मूल कारण, उसके सत्-भाव और भूत-भाव का मूल आध्यात्मिक कारण स्वतःसिद्ध परम पुरुष परमेश्वर में ही होता है—**'अहम् आदिः सर्वशः।'** जगत् की किसी चीज का मूल कारण जगत् में नहीं है ; सब कुछ परम सत् से प्रवृत्त होता है।

महर्षि जो वेदों की तरह यहाँ भी **'महर्षयः सप्त पूर्वे'** जगत् के सप्त पुरातन कहे गये हैं, उस भागवत ज्ञान की धी-शक्तियाँ हैं जिसने अपनी ही स्वात्म-सचेतन अनन्तता से, **'प्रज्ञा पुराणी'** से सब पदार्थों का विकास कराया है—अपने ही सत्तत्व के सात तत्वों की श्रेणियों को विकसित किया है। ये ऋषि वेदों की सर्वधारक,

१. १०, १४. २. १०-२.

सर्वबोधक, सर्वप्रकाशक **'सप्त धियः'** के रूप हैं—उपनिषदें सब पदार्थों को **'सप्त सप्त'** अर्थात् सात-सात की पंक्ति में व्यवस्थित बतलाती हैं। इनके साथ ही चार शाश्वत मनु अर्थात् मनुष्य के मूलपुरुष हैं—क्योंकि परमेश्वर की कर्मप्रकृति चतुर्विध है और मानवजाति इस प्रकृति को अपने चतुर्विध चारित्र्य से प्रकट करती है। ये भी, जैसा कि उनके नाम से प्रकट है, मनोमय पुरुष हैं। इस समूचे जीवन के जिसकी क्रिया व्यक्त या अव्यक्त मानस पर निर्भर करती है, ये स्रष्टा हैं, उन्हीं से जगत् के ये सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं; सब उन्हीं की प्रजा और संतति हैं—**'येषां लोक इमाः प्रजाः।'** और ये महर्षि तथा ये मनु स्वयं भी परम पुरुष के चिरंतन मानस पुत्र हैं[1] जो उनके आध्यात्मिक परम भाव से विश्व-प्रकृति के अन्दर उत्पन्न हुए हैं। ये मूल पुरुष हैं और जगत् में जो-जो उत्पादक हैं उन सबके मूल भगवान् हैं। सब आत्माओं की आत्मा, सब जीवों के जीव, अखिल मानस के मानस, अखिल जीवन के जीवन, सब रूपों के सारतत्वस्वरूप ये स्वतः-सिद्ध परम तत्व हैं, हम जो कुछ हैं उससे सर्वथा उल्टे नहीं, बल्कि इसके विपरीत हमारे और जगत् के सम्पूर्ण सद्रूप और प्राकृत रूप के सारे तत्वों और शक्तियों के स्वतःसिद्ध उत्पादक और प्रकाशक हैं।

हमारे जीवन के ये परम मूल हमसे किसी ऐसी खाई द्वारा पृथक् नहीं हैं जिसे पाटा न जा सके और न वे इन प्राणियों को, जो उन्हीं से निकले हैं, अपनी सन्तान मानने से इन्कार करते हैं न इन सबको वे भ्रम की सृष्टि ही बतलाते हैं। वे ही सदात्मा हैं और सब उन्हीं के भूतभाव हैं। वे शून्य में से, किसी अभाव में से या स्वप्न-रूप मिथ्यात्व में से कोई पदार्थ नहीं निर्मित करते। अपने-आपमें से निर्मित करते हैं, अपने अन्दर ही वे उत्पन्न होते हैं; सब उन्हीं के सद्रूप में हैं, सब कुछ उन्हीं के सद्रूप से है। जगत् के पदार्थों की ओर देखने की जो विश्वदेववाद की दृष्टि है उसका अंतर्भाव इस सिद्धान्त में हो जाता है और फिर यह सिद्धान्त उसके आगे बढ़ता है। **'वासुदेवः सर्वम्'**, वासुदेव ही सब हैं, क्योंकि जगत् में जो प्रकट है वह सब वासुदेव ही है, और वासुदेव वह सब भी हैं जो जगत् में प्रकट नहीं है तथा वह सब भी जो कभी व्यक्त नहीं होता। उनका सत्स्वरूप किसी प्रकार भी उसके भूतभाव से सीमित नहीं है; इस सापेक्ष जगत् से वे किसी अंश में भी बंधे नहीं हैं। सर्वभूत होने में भी वे हैं सर्वातीत ही; सांत रूपों को धारण करते हुए भी वे हैं सदा वही अनन्त ही। प्रकृति अपने असली रूप में उन्हीं की आत्मशक्ति है; यह आत्मशक्ति भूतभाव के अनन्त मौलिक गुणों को पदार्थों के आन्तरिक रूपों में उत्पन्न करती और उन्हें बाह्य रूपों और कार्यों में परिणत करती

---

१. मद्भावा मानसा जाताः।

है। इस आत्मशक्ति का जो असली, गूढ़ और भगवदीय व्यवस्था-क्रम है उसमें सबका और हर किसी का आध्यात्मिक मूल और आत्मस्वरूप ही सर्वप्रथम आता है, यह उसकी गभीर अभेद-स्थिति की एक चीज है ; इसके बाद सबका गुण-और-प्रकृतिगत मानस सत्य अपने सम्पूर्ण सत्यांश के लिए इस आत्मस्वरूपगत आध्यात्मिक सत्य पर निर्भर है ; क्योंकि उसके अन्दर जो कुछ असली चीज है वह आत्मा से ही आयी है ; न्यूनतम आवश्यक तथा सबसे अंत में उत्पन्न यह रूप और कार्य का विषयभूत सत्य प्रकृति के अंतर्गुण से आता और यहाँ इस बहिर्जगत् में जो विविध रूप देख पड़ते हैं उनके लिए उसी पर निर्भर है। या दूसरे शब्दों में, यह सारा विषयभूत जगत् जीवों के विभिन्न भावों के जोड़ का केवल एक व्यक्त रूप है और जीवों के जो विभिन्न भाव हैं वे सदा अपनी अभिव्यक्ति के मूल आध्यात्मिक कारण पर आश्रित रहते हैं।

यह सान्त बाह्य भूतभाव भागवत अनन्त को व्यक्त करनेवाला एक प्राकृत भाव है। प्रकृति गौणतः निम्न प्रकृति है, यह अनन्त की जो असंख्य सम्भावित स्थितियाँ हैं उनमें से कुछ चुने हुए संघातों का एक गौण विकारशील विकासक्रम है। आत्मभाव और भूतभाव का जो असली और मानस गुण है जिसे 'स्वभाव' कहते हैं उससे रूप और तेज, कर्म और गति के ये संघात उत्पन्न होते हैं और विश्व-गत एकत्व के एक बहुत ही मर्यादित सम्बन्ध और पारस्परिक अनुभूति के लिए ही इनकी स्थिति होती है। और इस निम्न, बहिर्भूत और प्रतीयमान व्यवस्था-क्रम में प्रकृति, जो भगवान् के व्यक्त होने की एक शक्ति है, उसका यह रूप तमो-वृत वैश्व अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले विकारों से विकृत हो जाता है और उसका जो कुछ भागवत माहात्म्य या महत्व है वह हमारी मानस और प्राणिक अनुभूति या प्रतीति की पार्थिव, पृथग्भूत और अहंभावापन्न यांत्रिक जड़ स्थिति में लुप्त हो जाता है। पर यहाँ इस हालत में भी जो कुछ है, चाहे जन्म या संभूति या प्रवृत्ति हो, सब परम पुरुष परमेश्वर से ही है, एक विकासक्रम है जो परम से निकली हुई प्रकृति के कर्म द्वारा होता रहता है। भगवान् कहते हैं, **"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।"**[1] अर्थात् "प्रत्येक पदार्थ का प्रभव (उत्पत्ति, जन्म) मैं हूँ और मुझसे ही सब कुछ कर्म और गतिरूप विकास में प्रवृत्त होता है।" यह बात केवल उतने ही के लिए सही नहीं है जो भला है या जिसकी हम लोग प्रशंसा करते हैं अथवा जिसे हम दिव्य कहते हैं, जो प्रकाशमय है, सात्विक है, धर्मयुक्त है, शान्तिप्रद है, आत्मा को आनन्द देनेवाला है, जो **"बुद्धिः, ज्ञानम्, असंमोहः, क्षमा, सत्यम्, दमः, शमः, अहिंसा, समता, तुष्टिः, तपः, दानम्"**[2] इन

१. १०, ८. २. २०, ४-५.

शब्दों से सूचित होता है। बल्कि इनके विपरीत जो-जो भाव हैं जिनसे मनुष्य का मर्त्य मन मोहित होता और अज्ञान और घबराहट में जा गिरता है, जैसे "**सुखम्, दुःखम्, भवः, अभावः** (जन्म और मृत्यु), **भयम्, अभयम्, यशः, अयशः**", तथा प्रकाश और अंधकार की और जितनी भी परस्पर-क्रीड़ाएँ और उनके जो असंख्य एक-दूसरेमें बिंधे हुए ताने-बाने हैं जो इतनी यंत्रणा के साथ कांपते रहते और फिर भी प्राणगत मन और अज्ञानमय आंतरिक क्रियाओं के गोरखधंधे के द्वारा सतत उत्तेजित करते रहते हैं उन सबके विषय में भी यही एक बात सत्य है कि, "मैं ही सब का प्रभव हूँ और सब कुछ मुझसे ही प्रवृत्त होता है।" यहाँके सब पदार्थ अपने पृथक्-पृथक् विभिन्न भावों और रूपों में एक ही महान् प्रभव में अपनी विभिन्न सत्ताओं के आन्तरिक (अहंपदवाच्य) भूतभाव हैं और उनका जन्म और जीवन उन्हीं परम से होता है जो उनके परे हैं। परम पुरुष इन पदार्थों को जानते और उत्पन्न करते हैं पर नानात्व के इस भेदज्ञान में जाल में मकड़ी की तरह अपने-आपको फंसा नहीं लेते, अपनी सृष्टि से आप ही पराभूत नहीं होते। यहाँ 'भू' धातु से (जिसका अर्थ 'होना' है) निकले हुए **भवन्ति, भावाः, भूतानि** इन तीन शब्दों का एक साथ एक विशेष आग्रह के साथ आना ध्यान देने योग्य है। **भूतानि** अर्थात् सब भूत—सब प्राणी और पदार्थ—भगवान् का ही उस रूप में होना है। **भावाः** अर्थात् अंतःकरण की सारी अवस्थाएँ और वृत्तियाँ उन्हीं की हैं, उन्हीं के सारे मानस-भाव हैं। ये भी अर्थात् हमारे अंतःकरण की निम्न अवस्थाएँ तथा उनके प्रकट दीखनेवाले परिणाम, '**भवन्ति मत्त एव**', मुझसे ही उत्पन्न होते हैं, ऊँची से ऊँची आध्यात्मिक अवस्थाएँ जिस प्रकार परम पुरुष से[1] उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार ये भी, उससे किसी परिमाण में कम नहीं। जो कुछ स्वतःसिद्ध है (अर्थात् आत्मा) और जो कुछ हुआ है (अर्थात् भूत) इन दोनों में जो भेद है वह गीता मानती है और उसकी ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाती है पर इन दोनों में परस्पर-विरोध नहीं खड़ा करती। क्योंकि ऐसा करना विश्व के एकत्व को मिटा देना होगा। भगवान् अपनी परा स्थिति में एक हैं, पदार्थ मात्र को धारण करनेवाले आत्मारूप से एक हैं, अपनी विश्वप्रकृति के एकत्व में एक हैं। ये तीनों एक ही भगवान् हैं; सब कुछ उन्हीं से निकला है, सब कुछ उन्हीं की सत्ता से उत्पन्न होता है, सब कुछ उन्हीं का नित्य अंश और अनित्य प्राकट्य है। भगवान् की उस परा स्थिति में, उस एकमेवाद्वितीय सत्ता में हमें, यदि हमें गीता के पीछे-

---

१. उपनिषद् कहती है, "आत्मा एव अभूत् सर्वभूतानि" अर्थात् आत्मा ही सब भूत (प्राणी और पदार्थ) हुआ है; शब्दयोजनामें एक खूबी, एक विशेष अर्थगौरव है—आत्मा अर्थात् जो स्वतःसिद्ध है वही हुआ है यह सब कुछ जो हुआ है, 'भूतानि'।

पीछे चलना है तो, सब पदार्थों का परम निषेध या बाध नहीं बल्कि वह चीज ढूंढ़नी होगी जिससे उनके अस्तित्व का रहस्य खुल जाय, उनकी सत्ता का वह रहस्य मालूम हो जाय जिससे सबकी संगति बैठे।

परन्तु अनन्त सत्ता का एक और स्वरूप ऐसा है जिसे जाने और माने बिना मुक्तिप्रद ज्ञान के साधन की पूर्णता नहीं होती। वह स्वरूप है जगत् के भागवत शासन का—भगवान् अपनी परा स्थिति से अध्यक्षरूप से जगत् की ओर देखते हैं और साथ ही सबके अन्दर निवास कर अंतर्यामी रूप से सबको चलाते भी हैं। परम पुरुष भगवान् स्वयं सारी सृष्टि बनते हैं और फिर भी उसके अनन्त परे रहते हैं; वे जगत् के आदि कारण हैं, ऐसे कारण नहीं जो अपनी सृष्टि के विषय में संकल्परहित और उससे अलग हों। वे ऐसे संकल्परहित स्रष्टा नहीं हैं जो अपनी जागतिक शक्ति के इन परिणामों की कोई जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेते हों या जो उन्हें किसी अंध प्रकृति के यांत्रिक विधान पर अथवा किसी निम्न कोटि के ईश्वर पर अथवा दैव और आसुर तत्वों के संघर्ष पर छोड़े बैठे हों। वे कोई ऐसे सबसे अलग और लापरवाह साक्षी नहीं हैं जो इन सबके मिट जाने या अपने अचल मूल तत्व को लौट आने की ही केवल प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप बैठे हों। वे सब भुवनों और उनके अधिवासियों के महाशक्तिशाली परमेश्वर, 'लोकमहेश्वर' हैं और वे ही केवल अन्दर से नहीं बल्कि ऊपर से, अपने परम पद से सबका शासन करते हैं। विश्व का शासन कोई ऐसी शक्ति नहीं कर सकती जो विश्व के परे न हो। ईश्वरी शासन के होने का अर्थ ही यह है कि कोई ऐसा सर्वशक्तिमान् शासक है जिसका स्वामित्व अबाध है, वह शासन (बिना चलानेवाले के) कोई अपने-आप चलनेवाली शक्ति नहीं न विश्व के बाह्यतः दीखनेवाली प्रकृतिद्वारा सीमित सृष्टि का कोई यांत्रिक विधान है। ईश्वरसत्तावादी जगत् में ईश्वर की ही सत्ता देखते हैं, जगत् के द्वन्द्वों से यह ईश्वरवाद भयविकंपित या सशंक नहीं होता बल्कि यह देखता है कि भगवान् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हैं, वे ही सबके एकमात्र मूल प्रभव हैं, वे ही यह जो कुछ है, अच्छा बुरा, सुख-दुख, प्रकाश-अन्धकार यह सब अपनी सत्ता के ही अंश के रूप में अपने अन्दर व्यक्त करते और जो कुछ व्यक्त करते हैं उसका स्वयं ही शासन-नियमन करते हैं। द्वन्द्वों से अनभिभूत, अपनी सृष्टि से अबद्ध, प्रकृति से अतीत और फिर भी उसके साथ आंतरिक रूप से संबद्ध और उसके प्राणियों के साथ आत्यंतिक रूप से अभिन्न, वे, उनके आत्मा, अंतरात्मा, परमात्मा, परमेश्वर, प्रेमी, सुहृत्, आश्रय उन्हें उनके अन्दर से और ऊपर से अज्ञान और दुःख, पाप और प्रमाद के इन मर्त्य दृश्यों के भीतर से ले जा रहे हैं, हरएक को अपनी-अपनी प्रकृति के और सभी को विश्व-

प्रकृति के द्वारा ले जा रहे हैं किसी परा ज्योति, परम आनन्द, परम अमृतत्व और परम पद की ओर। यही मुक्तिप्रद ज्ञान की पूर्णता है। यह ज्ञान है उन भगवान् का जो हमारे अन्दर हैं और जगत् के अन्दर हैं और साथ ही परम अनन्त-स्वरूप हैं। वे ही एकमात्र निरपेक्ष सत् हैं जो अपनी भागवती प्रकृति, आत्म-माया से यह सब कुछ हुए हैं और अपनी परा स्थिति में रहते हुए इस सबका शासन-नियमन करते हैं। वे प्रत्येक प्राणी के अन्दर अंतरात्मरूप से अवस्थित हैं और समस्त विश्व-घटनाओं के कारण, नियंता और चालक हैं और फिर भी इतने महान् शक्तिमान् और अनन्त हैं कि अपनी सृष्टि से किसी प्रकार सीमित नहीं होते।

ज्ञान का यह स्वरूप भगवान् की प्रतिज्ञा के तीन पृथक्-पृथक् श्लोकों द्वारा विशद हुआ है। भगवान् कहते हैं, "जो कोई मुझे अज अनादि और सब लोकों और प्रजाओं का महान् ईश्वर जानता है वह इन मर्त्य लोकों में रहता हुआ अविमोहित रहता और सब पापों से मुक्त हो जाता है। जो कोई मेरी इस विभूति को (सर्वव्यापक ईश्वरत्व को) और मेरे इस योग को (इस ऐश्वर योग को जिसके द्वारा परम पुरुष परमेश्वर सब भूतों से अधिक होने पर भी सबके साथ एक हैं और सबमें निवास करते हुए सबको अपनी ही प्रकृति के प्रादुर्भाव के रूप में अपने अन्दर रखते हैं) तत्वतः (उसके तत्वों के साथ) जानता है वह अविचलित योग के द्वारा मेरे साथ एकीभूत होता है।....बुधजन मुझे सबका प्रभव जानते और यह जानते हैं कि हर किसी की वृत्ति, प्रवृत्ति और गति मुझसे ही है और इस प्रकार मानते हुए मुझे भजते हैं.....और मैं उन्हें वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मेरे पास आते हैं और मैं उनके लिए उस तम का नाश करता हूँ जो अज्ञान से उत्पन्न होता है।" ये परिणाम निकलते ही हैं उस ज्ञान के स्वभाव से और उस योग के स्वभाव से जो उस ज्ञान को आध्यात्मिक संवर्द्धन और आध्यात्मिक अनुभवों में परिणत करता है। क्योंकि मनुष्य की बुद्धि और कर्म की सारी परेशानी, उसकी बुद्धि की सारी लुढक-पुढ़क, सशंकता और क्लेश, उसके मन की इच्छाशक्ति, उसके हृदय का न्यायनीतिधर्म की ओर फिरना, उसके मन, इन्द्रियों और प्राण के तकाजे, इन सबका मूल उसके सम्मोह में अर्थात् उसके इन्द्रियाच्छादित देह-बद्ध अंतःकरण की स्वभावसुलभ टटोलने की क्रिया और तमसाच्छादित विषय-वेदना और वासनावृत्ति में मिल सकता है। पर जब वह सब पदार्थों के भागवत मूल को देखता है, जब वह स्थिर होकर विश्वदृश्यसे उसके परे जो सत्स्वरूप है उसे देखता है और उस सत्स्वरूप से इस दृश्य को देखता है तब वह बुद्धि, मन, हृदय और इन्द्रियों के इस सम्मोह से मुक्त होता है, 'असंमूढ़ः स मर्त्येषु'—

इस मृत्युलोक के मर्त्य जीवों के बीच वह शुद्ध बुद्ध मुक्त होकर विचरता है। हर चीज का मूल्य वह अब केवल उसके वर्तमान और प्रतीयमान रूप से नहीं बल्कि उसके परम और वास्तविक रूप से आंकता है और इस तरह वह यहाँसे वहाँतक की शृंखला की छिपी हुई कड़ियाँ और परस्पर-सम्बन्ध ढूंढ़ निकालता है ; वह सारे जीवन और कर्म को बोधपूर्वक उनके उच्चतम और असली उद्देश्य के साधन में लगाता और स्वांतःस्थ ईश्वर से प्राप्त होनेवाले प्रकाश और शक्ति के द्वारा उनका नियमन करता है। इस प्रकार वह मिथ्या बौद्धिक ज्ञान, मिथ्या मानसिक और ऐच्छिक प्रतिक्रिया, मिथ्या इन्द्रियगत ग्राहकता और उत्तेजना से अर्थात् उन सब चीजों से जिनसे पाप, प्रमाद और दुःख उत्पन्न होते हैं, मुक्त हो जाता है, **'सर्व-पापैः प्रमुच्यते।'** क्योंकि इस प्रकार विश्वातीत परम पद और विश्वगत विश्वेश-पद में स्थित होकर वह अपने तथा दूसरे हर व्यष्टिरूप को असली महत्तर रूप में देखता और अपने पार्थक्यजनक और अहंभावापन्न मन के मिथ्यात्व और अज्ञान से मुक्त होता है। आध्यात्मिक मुक्ति का सदा यही सारभूत अभिप्राय होता है।

इस तरह, गीतोक्त मुक्त पुरुष का ज्ञान निरपेक्ष और सम्बन्धरहित निर्व्यक्तिक अव्यक्त, क्रियाहीन मौनस्वरूप ब्रह्मज्ञान नहीं है। क्योंकि मुक्त पुरुष की बुद्धि, मन और हृदय सतत ही इस भाव में स्थित रहते और यही अनुभव करते हैं कि जगत् के स्वामी सर्वत्र अवस्थित हैं और सबको कर्म में प्रवृत्त और परिचालित कर रहे हैं, भगवान् की इस विभूति को (सर्वव्यापक भगवत्ता को) वह जानता है—**'एतां विभूतिं मम यो वेत्ति।'** वह यह जानता है कि उसकी आत्मा इस अखिल विश्वप्रपंच के परे है, पर वह यह भी जानता है कि ऐश्वर योग से, **'योगं च मम'**, वह उसके साथ एक है। और वह इन विश्वातीत, विश्वगत और व्यष्टिगत सत्ताओं के हर पहलू को परम सत्य के साथ उसके यथावत् सम्बन्ध से देखता और सबको ऐश्वर योग के एकत्व में उनके अपने स्थान में रखता है। वह हर चीज को उसके पृथक् भाव और रूप में नहीं देखता—वह उस पार्थक्यदृष्टि से नहीं देखता जिससे सबके परस्पर-सम्बन्ध का कुछ भी पता नहीं चलता अथवा अनुभव करनेवाली चेतना को उनके एक ही पहलू का ज्ञान होता है। न वह सब चीजों को एक साथ गड्डु-मगड्डु ही देखता है—इस तरह देखना तो मिथ्या प्रकाश और अव्यवस्थित कर्म को आमंत्रण देना है। वह परम पद में सुरक्षित रहता और विश्वप्रकृति के क्रियाक्लेशों से और काल और परिस्थिति की गड़बड़ी से प्रभावित नहीं होता। इन सब पदार्थों की सृष्टि और संहार के बीच में उसकी आत्मा सर्वथा अनुद्विग्न रहती और जगत् में जो कुछ नित्य और आत्मस्वरूप है उसके साथ अडिग, अकंप और अचल योग में लगी रहती है। इसके द्वारा वह योगेश्वर के दिव्य अध्यवसाय

को देखता रहता और प्रशांत विश्वव्यापक भाव तथा सब पदार्थों और प्राणियों के साथ अपने एकत्वभाव से कर्म करता है। और सब पदार्थों के साथ इस प्रकार अतिघनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने से किसी प्रकार उसके आत्मा और मन भेदोत्पादक निम्न प्रकृति में नहीं फँसते, क्योंकि आत्मानुभूति की उसकी आधारभूमि कोई निकृष्ट प्राकृत रूप और गति नहीं होती बल्कि अंतःस्थ समग्र और परम आत्मभाव होती है। वह भगवान् के स्वभाव और धर्म को प्राप्त होता है, **'मम साधर्म्य-मागताः'**, विश्वभाव से युक्त होनेपर भी विश्वातीत और मन-प्राण-शरीर के विशेष व्यष्टिरूप में रहकर भी विश्वभावयुक्त होता है। यह योग जब एक बार सिद्ध हो जाता है तब ऐसे अव्यभिचारी सुस्थिर योग के द्वारा, **'अविकम्पेन योगेन युज्यते'**, वह प्रकृति के किसी भी भाव में तन्निष्ठ हो सकता है, किसी भी मानव अवस्था को धारण कर सकता है, चाहे जो जगत्कर्म कर सकता है, और यह सब करते हुए वह भगवदीय आत्मस्वरूप के साथ अपने एकत्वभाव से च्युत नहीं होता, **सर्व-सत्ताधारी परमेश्वर के साथ निरन्तर मिलन से** किंचित् भी वियुक्त नहीं होता।[1]

यह ज्ञान जब हृदय, मन और शरीर की सारी प्रकृति पर अपना पूरा प्रभाव डालकर भाव में परिणत होता है तब यही स्थिरा भक्ति और प्रगाढ़ प्रेम बन जाता है उन आदिकारण परम पुरुष के प्रति जो हमारे ऊपर हैं, यहाँ सर्वत्र सदा सब पदार्थों के नियंता प्रभु के रूप से अवस्थित हैं, मनुष्य में हैं, प्रकृति में हैं। यह ज्ञान प्रथमतः बुद्धि का ज्ञान होता है; पर पीछे हृदय में भी इसका 'भाव' उदित होता है।[2] हृदय और बुद्धि का यह परिवर्तन समस्त प्रकृति के सम्पूर्ण परिवर्तन का आरम्भ है। एक नया अंतर्जन्म और एक नयी स्मृति हमें अपने भक्ति-प्रेम के परमाराध्य के साथ एकत्वलाभ के लिए, **'मद्भावाय'**, तैयार करती है। इस भागवत पुरुष की, जो अब संसार में सर्वत्र और संसार के ऊपर देख पड़ता है, महत्ता, सौन्दर्य तथा पूर्णता में वह प्रीति को, प्रेम के प्रगाढ़ आनन्द को प्राप्त होता है। वह प्रगाढ़ आनन्द मन के इधर-उधर छितरे हुए बहिर्भूत जीवन-सुख का स्थान स्वयं ग्रहण कर लेता है; बल्कि यह कहिए कि वह परमानन्द और सब सुखों को अपने अन्दर खींच लेता और एक विलक्षण रसक्रिया के द्वारा मन-बुद्धि और हृदय के सब भावों और इन्द्रियों के सब व्यापारों को रूपांतरित कर डालता है। सारी चेतना ईश्वरमय हो जाती और ईश्वर की प्रति-चेतना से भर जाती है; सारा जीवन-प्रवाह आनन्दानुभव के समुद्रों में जा मिलता है। ऐसे भक्तों के सब भाषण और चिंतन भगवान् के ही सम्बन्ध में परस्पर कथन और

---

१. सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते। ६, ३१

२. बुधा भाव समन्विताः।

बोधन होते हैं। उस एक आनन्द में पुरुष का सारा संतोष और प्रकृति की सारी क्रीड़ा और सुख केन्द्रीभूत हैं। चिंतन और स्मरण में वही मिलन क्षण-प्रतिक्षण सतत होता रहता है, आत्मा के अन्दर अपने आत्मैक्य की अनुभूति निरंतर बनी रहती है। और जिस क्षण से इस आंतरिक स्थिति का आरम्भ होता है उसी क्षण से, अपूर्णता की उस अवस्था में भी, भगवान् पूर्ण बुद्धियोग के द्वारा उसे दृढ़ करते हैं। हमारे अन्दर में जो प्रज्वलित ज्ञानदीप है उसे उठाकर वे दिखाते हैं और पृथग्भूत मन और बुद्धि का अज्ञान नष्टकर मानव आत्मा के अन्दर स्वयं प्रकट होते हैं। इस प्रकार कर्म और ज्ञान के ज्ञानदीप्त मिलन पर आश्रित बुद्धि-योग के द्वारा जीव अध:स्थित त्रस्त मन की परंपरा से निकलकर कर्मकर्त्री प्रकृति के ऊपर साक्षी चैतन्य अक्षर शान्ति को प्राप्त हो चुका। पर अब इस महत्तर बुद्धि-योग के द्वारा जिसका आधार भक्ति-प्रेम और समग्र ज्ञान-विज्ञान का ज्ञानदीप्त मिलन है, जीव एक बृहत् महाभाव में डूबकर उन परम पुरुष परमेश्वर को प्राप्त होता है जो एकमेवाद्वितीय हैं, सर्व हैं और सर्व के स्वयं प्रभव हैं। इस प्रकार सनातन पुरुष व्यष्टिपुरुष और व्यष्टिप्रकृति में भर जाते हैं; व्यष्टिपुरुष काल के अन्दर आवागमन से निकलकर सनातन के अनन्त भावों को प्राप्त होता है।

गया है। मन, बुद्धि, हृदय और समस्त अंत:करण को प्रकृति के प्रभु परमेश्वर की सेवा में समर्पित करने के लिए योगशास्त्र का ग्रहण किया गया है। इसकी पूर्णता जगत् और जीवन के उन परम प्रभु को, जिनका यह प्रकृतिस्थ जीव सनातन अंश है, आदि कर्त्ता बनाकर साधित की गयी है। और, पूर्ण आत्मैक्य के प्रकाश में जीव का यह देख पाना कि सब पदार्थ भगवद्रूप हैं, इससे योगशास्त्र की संभावित परिच्छिन्नताओं और सीमाओं को पार किया गया है।

फलत: उन परम सत्स्वरूप भगवान् के, एक साथ ही, परम सद्रूप में, विश्व के विश्वातीत मूल के रूप में, सब पदार्थों के निर्व्यष्टिक आत्मा के रूप में, विश्व के अचल धारक के रूप में, और सब प्राणियों, सब व्यष्टियों, सब पदार्थों, शक्तियों और गुणों के अंत:स्थित ईश्वर के रूप में, उस अंतर्यामी के रूप में जो आत्मा तथा कार्यकर्त्री प्रकृति हैं और सब भूतों के अंतर्भव और बहिर्भव हैं,—एक साथ ही इन सब रूपों में—पूर्ण दर्शन होते हैं। उस एक के इस संपूर्ण दर्शन और ज्ञान में ज्ञानयोग की पूर्णतया सिद्धि हो गयी। सब कर्मों का उनके भोक्ता स्वामी के प्रति समर्पण होने से कर्मयोग की पराकाष्ठा हो गयी—क्योंकि अब स्वभावनियुक्त मनुष्य भगवदिच्छा का केवल एक यंत्र रह जाता है। प्रेम और भक्ति का योग पूर्ण विस्तृत रूप में बता दिया गया। ज्ञान, कर्म और प्रेम की आत्यंतिक पूर्णता व्यक्ति को उस पद पर पहुँचाती है जहाँ जीव और जीवेश्वर अपनी उच्चात्युच्च अतिशयता में परम अभेद को प्राप्त होते हैं। उस अभेद में स्वरूप ज्ञान का प्रकाश हृदय को तथा बुद्धि को भी यथावत् प्रत्यक्ष या अपरोक्ष होता है। उस अभेद में निमित्त मात्र होकर किया जानेवाला कर्मरूप कठिन आत्मोत्सर्ग जीते-जागते एकत्व की आयासरहित स्वच्छंद और आनंदमयी अभिव्यक्ति होता है। इस प्रकार आत्मिक मोक्ष का संपूर्ण साधन बता दिया गया ; दिव्य कर्म की पूरी नींव डाल दी गयी।

भगवत्स्वरूप श्रीगुरु से प्राप्त इस संपूर्ण ज्ञान को अर्जुन ग्रहण करता है। उसका मन सब संशयों से ऊपर उठ चुका है ; उसका हृदय जगत् के बाह्य रूप और उसके मोहक-भ्रामक दृश्य से हटकर अपने परम अर्थ और मूल स्वरूप तथा उसकी अंत:स्थ वास्तविकताओं को प्राप्त हो चुका है, शोक-संताप से छूटकर भगवदीय दर्शन के अनिर्वचनीय आनंद के सम्पर्क में आ चुका है। इस ज्ञान को ग्रहण करते हुए वह जिन शब्दों का प्रयोग करता है उनसे फिर एक बार विशेष बल और आग्रह के साथ यह बात सामने आती है कि यह ज्ञान वह ज्ञान है जो संपूर्ण है, सब कुछ इसमें आ गया है, कोई बात बाकी नहीं रही। अर्जुन सर्वप्रथम उन्हें, जो उसे यह ज्ञान दान कर रहे हैं, अवतार मानता है अर्थात् उन्हें मनुष्य-तन में

परब्रह्म परमेश्वर-रूप से ग्रहण करता है, उन्हें वह **'परं ब्रह्म', 'परं धाम'** मानता है जिसके अंदर जीव, इस बाह्य जगत् और इस अंशरूप भूतभाव से निकलकर अपने मूल स्वरूप को प्राप्त होने पर, रह सकता है। अर्जुन उन्हें वह **'परमं पवित्रम्'** जानता है जो मुक्त स्थिति की परमा पवित्रता है—वह परम पावन स्थिति जीव को तब प्राप्त होती है जब वह अपने अहंकार को मिटाकर अपने आत्मस्वरूप की स्थिर अचल अक्षर निर्व्यष्टिक ब्राह्मी स्थिति में पहुँचता है। अर्जुन फिर उन्हें **'पुरुषं शाश्वतं दिव्यम्'** एकमेव सत् सनातन दिव्य पुरुष जान कर ग्रहण करता है। वह उन्हें **'आदि देव'** कहकर उनकी स्तुति करता है और सर्वव्यापक सर्वांतर्यामी अविनाशी परमात्मा **'आदिदेवमजं विभुम्'** रूप से उनकी पूजा करता है। अतएव, वह उन्हें केवल वह **'अद्भुत'** ही नहीं मानता जो किसी भी प्रकार के वर्णन से परे है, क्योंकि कोई भी वस्तु उन्हें व्यक्त करने के लिये पर्याप्त नहीं है,—"हे भगवन्, आपकी अभिव्यक्ति को न तो देवता जानते हैं न ही दानव", **'न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः'**—बल्कि वह उन्हें सर्वभूतों का स्वामी, उनकी समस्त संभूति का एकमात्र दिव्य निमित्त कारण, देवों का देव जिससे सब देवता उद्भूत हुए हैं, तथा जगत् का पति भी मानता है जो ऊपर से अपनी परमोच्च तथा विश्वव्यापी प्रकृति की शक्ति के द्वारा उसे अभिव्यक्त तथा परिचालित करता है, **'भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते'**। अंत में वह उन्हें हमारे अंदर तथा चारों ओर अवस्थित उन वासुदेव के रूप में ग्रहण करता है जो यहाँ सभी कुछ हैं अपनी संभूति की विश्वव्यापी, घट-घटवासी, सर्व-निर्मायक विभु-शक्तियों के बल पर, **'विभूतयः'** "संभूति की सर्वोच्च शक्तियाँ जिनके द्वारा आप इन लोकों को व्याप्त किये हुए हैं", **'याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि'**।[1]

उसने अपने हृदय की भक्ति,इच्छा-शक्ति-संकल्पके समर्पण तथा बुद्धि की समझ के साथ इस सत्य को ग्रहण कर लिया है। वह इस ज्ञान में रहते हुए तथा इस आत्म-समर्पण के साथ दिव्य यंत्र के रूप में कार्य करने के लिए तैयार हो चुका है। पर अब एक गभीरतर अविच्छिन्न आध्यात्मिक उपलब्धि की इच्छा उसके हृदय तथा उसकी संकल्पशक्ति में जाग उठी है। यह एक ऐसा सत्य है जो केवल परम आत्मा को ही अपने आत्म-ज्ञान में प्रत्यक्ष होता है,—क्योंकि अर्जुन कहता है, "हे पुरुषोत्तम, केवल आप ही अपने-आपको अपने-आपसे जानते हैं, **'आत्मानमात्मना वेत्थ'**। यह एक ऐसा ज्ञान है जो आध्यात्मिक तादात्म्य द्वारा प्राप्त होता है और प्राकृत मनुष्य का हृदय, संकल्प-शक्ति तथा बुद्धि बिना सहायता के,

---

१. गीता १०, १२-१५

अपनी ही चेष्टा के द्वारा इसतक नहीं पहुँच सकते। ये तो केवल उन अपूर्ण मानसिक प्रतिबिंबों को ही प्राप्त कर सकते हैं जो इसे प्रकाशित करने से कहीं अधिक छिपाते तथा विकृत करते हैं। यह एक गुप्त ज्ञान है जो मनुष्य को उन ऋषियों से सुनना होगा जिन्होंने इस सत्य का साक्षात्कार किया है, इसकी वाणी को श्रवण किया है और अंतरात्मा तथा आत्मा में इसके साथ एकात्मता प्राप्त की है। "सभी ऋषि और नारद, असित, देवल, व्यास आदि देवर्षि आपके विषय में यही कहते हैं।"[1] अथवा मनुष्य को इसे अपने अंदर से दिव्य दर्शन एवं अंतःस्फुरणा के द्वारा उन अंतर्यामी देव से प्राप्त करना होगा जो हमारे अंदर ज्ञान के उज्ज्वल दीप को ऊपर उठाते हैं। "और आप स्वयं भी मुझे यही बताते हैं" **'स्वयञ्चैव ब्रवीषि मे'**। जब एक बार यह सत्य प्रकट हो जाय तब इसे मन की स्वीकृति, संकल्प-शक्ति की सहमति तथा हृदय के आनंद और पूर्ण समर्पण युक्त मानसिक श्रद्धा के इन तीनों तत्त्वों के द्वारा स्वीकार करना होता है। अर्जुन ने इसे इसी प्रकार अंगीकार किया है; "इस सब को, जो आपने कहा है, मेरा मन सत्य मानता है।"[2] परंतु फिर भी हमारी सत्ता की वास्तविक आत्मा में तथा उसके अत्यंत अंतरंग चैत्य केन्द्र से बाहर उस गभीरतर अधिकृति की आवश्यकता, उस नित्य अवर्णनीय आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए हमारी अंतरात्मा की माँग तो बनी ही रहेगी, मानसिक उपलब्धि जिसका एक प्रारंभ या छायामात्र है और जिसके बिना सनातन के साथ पूर्ण मिलन नहीं प्राप्त हो सकता।

सुतरां, उस उपलब्धि तक पहुँचने का मार्ग अर्जुन को अब बता दिया गया है। और, जहाँतक महान् स्वतःप्रत्यक्ष दिव्य तत्त्वों का संबंध है, वे व्यक्ति के मन को चक्कर में नहीं डालते। वह परम देवाधिदेव-संबंधी विचार, अक्षर आत्मा के अनुभव, अंतर्यामी ईश्वर के प्रत्यक्ष बोध तथा चेतन विश्व-पुरुष के संस्पर्श की ओर खुल सकता है। देवाधिदेव-विषयक विचार से एक बार मन के आलोकित होते ही, मनुष्य शीघ्रता के साथ मार्ग का अनुसरण कर सकता है और सामान्य मानसिक बोधों को अतिक्रांत करने के लिए चाहे कोई भी प्रारंभिक कठिन प्रयत्न क्यों न करना पड़े, फिर भी अंत में वह इन मूल सत्यों का, जो हमारी सत्ता तथा समस्त सत्ता के पीछे अवस्थित हैं,स्वानुभव प्राप्त कर सकता है, **'आत्मना आत्मानम्'**। वह इसे इस शीघ्रता के साथ प्राप्त कर सकता है, क्योंकि ये, एक बार विचार में आ जाने पर, प्रत्यक्ष ही दिव्य सत्य होते हैं; हमारे मानसिक संस्कारों में ऐसी कोई चीज नहीं जो ईश्वर को इन उच्च रूपों में स्वीकार करने से

---

१. १०-१३
२. १०-१४

हमें रोकती हो। पर कठिनाई तो जीवन के प्रतीयमान सत्यों में उसे देखने, प्रकृति के इस तथ्य में तथा जगद्-अभिव्यक्ति के इस प्रच्छन्नकारी दृश्य प्रपंच में उसे ढूँढ़ निकालने में पैदा होती है ; क्योंकि यहाँ सब कुछ इस एकीकारक विचार की उच्चता के विपरीत है। भगवान् को मनुष्य, जीव-जन्तु तथा जड़ पदार्थ के रूप में, उच्च और नीच, सौम्य और रौद्र तथा शुभ और अशुभ में देखने के लिए हम कैसे सहमत हो सकते हैं? जगत् के पदार्थों में व्याप्त ईश्वर से संबंध रखने-वाले किसी विचार को स्वीकार करके यदि हम ज्ञान की आदर्श ज्योति, शक्ति की महानता, सौंदर्य की मोहक छटा, प्रेम की उदारता तथा आत्मा की विपुल विशालता में उसे देख भी लें, तो भी इनके उन विरोधी गुणों के द्वारा, जो सचमुच ही इन उच्च वस्तुओं के साथ चिपके रहते हैं तथा इन्हें आच्छन्न और धूमिल कर देते हैं, एकता के भंग होने की बात से हम कैसे बचेंगे? और, यदि मानव-मन तथा प्रकृति की सीमाओं के होते हुए भी हम देव-मानव में ईश्वर को देख सकें, तो भी हम उन लोगों में उन्हें कैसे देखेंगे जो उनका विरोध करते हैं तथा कर्म और प्रकृति में उन सब चीजों को ही प्रकट करते हैं जिन्हें हम अदिव्य समझते हैं? यदि नारायण ज्ञानी और संत में बिना कठिनाई के दीख जाते हैं तो पापी, अपराधी, वेश्या तथा चांडाल में वे हमें सुगमता से कैसे दिखाई देंगे? सर्वत्र परम पवित्रता तथा एकता की खोज करता हुआ ज्ञानी विश्व-सत्ता के सभी विभेदों के प्रति "यह नहीं, यह नहीं", **'नेति-नेति'**, की कठोर पुकार उठाता है। यद्यपि हम इस संसार में बहुत-सी वस्तुओं को इच्छा या अनिच्छापूर्वक स्वीकृति देते हैं तथा जगत् में भगवान् को स्वीकार करते हैं तथापि क्या अधिकतर वस्तुओं के सामने मन को "यह नहीं, यह नहीं" की उस पुकार में ही नहीं डटे रहना होगा? यहाँ निरंतर ही बुद्धि की स्वीकृति, संकल्पशक्ति की सहमति और हृदय की श्रद्धा दृग्विषय और बाह्य रूप पर ही सदा लंगर डाले हुए मानव-मन के लिए कठिन हो जाती हैं। एकत्व की प्राप्ति के कठिन प्रयास के लिए कम-से-कम कुछ प्रबल संकेतों, कुछ शृंखलाओं और सेतुओं, कुछ अवलंबों की आवश्यकता पड़ती ही है।

यद्यपि अर्जुन 'सर्व' के रूप में वासुदेव के प्राकट्य को स्वीकार करता है और यद्यपि उसका हृदय इसके आनंद से परिपूर्ण है,— क्योंकि वह पहले से ही अनुभव कर रहा है कि यह उसे विरोधमय जगत् की चकरानेवाली समस्याओं के बीच किसी सूत्र किंवा मार्ग-दर्शक सत्य के लिए पुकार करनेवाले उसके मन की व्याकुलता और स्खलनकारी विभेदों से मुक्त कर रहा है, और यह उसके कानों के लिए अमृत-रस, **'अमृतम्'** है,—फिर भी वह ऐसे अवलंबों और संकेतों को प्राप्त करने की आवश्यकता अनुभव करता है। वह अनुभव करता है कि पूर्ण तथा दृढ़ उपलब्धि

की कठिनाई को दूर करने के लिए ये अनिवार्य हैं ; नहीं तो, भला और किस प्रकार से इस ज्ञान को हृदय तथा जीवन की वस्तु बनाया जा सकता है ? वह मार्गदर्शक संकेत चाहता है, यहाँतक कि वह श्रीकृष्ण से अपनी संभूति की सर्वोच्च शक्तियों को पूर्ण रूप से तथा विस्तार के साथ गिनाने के लिये प्रार्थना करता है और चाहता है कि उसकी दृष्टि से कुछ भी छूटने न पाये, उसे चकरानेवाली कोई भी चीज शेष न रहे। वह कहता है, "संभूति की अपनी सर्वोच्च शक्ति में अपनी सब दिव्य आत्मविभूतियाँ, **'दिव्या आत्मविभूतयः'**, आप मुझे बिना अपवाद के, **'अशेषेण'**, निःशेष रूप से—बताइये, अपनी वे विभूतियाँ जिनके द्वारा आप इन लोकों और प्रजाओं को व्याप्त किये हुए हैं। हे योगिन्, हर क्षण और हर जगह आपका चिंतन करते हुए मैं आपको कैसे जानूँ और किन-किन प्रमुख संभूतियों में मैं आपका चिंतन करूँ ?"[1] वह पुकारकर कहता है कि इस योग के विषय में जिसके द्वारा आप सबके साथ एक हैं और सबके अंदर अवस्थित 'एक' हैं और सब आपकी सत्ता के भूतभाव हैं, सब आपकी प्रकृति की व्यापक या प्रमुख या प्रच्छन्न शक्तियाँ हैं, आप मुझे पूरे ब्योरे और विस्तार के साथ बताइये और सदा अधिकाधिक बताइये ; यह मेरे लिए अमृत-रस है, और जितना ही अधिक मैं इसके बारे में सुनता हूँ, मेरी तृप्ति नहीं होती। यहाँ हम गीता में एक ऐसी चीज का संकेत पाते हैं जिसे स्वयं गीता भी स्पष्ट रूप में प्रकट नहीं करती, परंतु जो उपनिषदों में बार-बार आती है और जिसे आगे चलकर वैष्णव तथा शाक्त धर्मों ने, दिव्य दर्शन की महत्तर तीव्रता में विकसित किया था, और वह है जगत् में रहनेवाले भगवान् में मनुष्य को आनंद प्राप्त होने की संभावना, सार्वभौम आनंद, जगज्जननी की क्रीड़ा एवं ईश्वर की लीला का माधुर्य और सौंदर्य।[2]

भगवान गुरु शिष्य की प्रार्थना को स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु शुरू में ही स्मरण करा देते हैं कि पूर्ण उत्तर देना संभव नहीं। क्योंकि ईश्वर अनंत हैं और उनकी अभिव्यक्ति भी अनंत है। उनकी अभिव्यक्ति के रूप भी असंख्य हैं। प्रत्येक रूप अपने अंदर छिपी हुई किसी दिव्य शक्ति, **'विभूति'** का प्रतीक है और देख सकनेवाली आँख के लिए प्रत्येक 'सांत' अपने-अपने ढंग से अनंत को प्रकट कर रहा है। वे कहते हैं, 'हाँ, मैं तुम्हें अपनी दिव्य विभूतियों के बारे में बतलाऊँगा ; पर केवल अपनी कुछ मुख्य-मुख्य उत्कृष्टताओं के विषय में तथा निर्देश के रूप में और उन वस्तुओं के उदाहरण के द्वारा जिनमें तुम देवाधिदेव की शक्ति को अनायास ही देख सकते हो, **प्राधान्यतः, उद्देशतः।**' क्योंकि, जगत् में ईश्वर के आत्म-

१. १०, १६-१८
२. १०, १६-१८

विस्तार के असंख्य व्योरों का कोई अंत ही नहीं है, 'नास्ति अन्तो विस्तरस्य में'। इस बात को स्मरण कराकर ही गुरु यह प्रकरण आरंभ करते हैं और इसपर और भी अधिक तथा असंदिग्ध बल देने के लिए अंत में इसे पुनः दुहराया गया है। और फिर शेष सारे अध्याय में[1] हम जगत् के पदार्थों तथा प्राणियों में विद्यमान दिव्य शक्ति के इन मुख्य निर्देशों, इन उत्कृष्ट संकेतों का संक्षिप्त वर्णन पाते हैं। ऐसा मालूम होता है मानो ये बिना किसी क्रम के ही अस्त-व्यस्त रूप में दे दिये गये हों, परंतु फिर भी इनके परिगणन में एक विशेष नियम-क्रम है जो, यदि एक बार हमारे सामने प्रकट हो जाय तो, हमें एक सहायक पथ-प्रदर्शन के द्वारा इस विचार तथा इसके परिणामों के आंतरिक आशय की ओर ले जा सकता है। इस अध्याय को 'विभूति-योग' का नाम दिया गया है, जो एक परमावश्यक योग है। कारण, जहाँ हमें विश्वव्यापी दिव्य 'संभूति' के साथ उसके संपूर्ण विस्तार में, उसके शुभ और अशुभ, पूर्णता और अपूर्णता, प्रकाश और अंधकार में समभाव से अपने-आपको एकाकार करना होगा, वहाँ हमें साथ-ही-साथ यह भी अनुभव करना होगा कि इसके अंदर एक आरोहणशील विकासात्मक शक्ति है, वस्तुओं में होनेवाले इसके प्राकट्य का एक बढ़ता हुआ उत्कर्ष है, कोई क्रम-परंपरात्मक रहस्यमय वस्तु है जो हमें प्रारंभिक आवरणकारी प्रतीतियों से, उत्तरोत्तर उच्चतर रूपों में से गुजारती हुई, विश्वव्यापी देवाधिदेव की व्यापक आदर्श प्रकृति की ओर ऊपर उठा ले जाती है।

यह संक्षिप्त परिगणन उस मूल सिद्धांत के प्रतिपादन से आरंभ होता है जो विश्व में होनेवाली इस अभिव्यक्ति की समस्त शक्ति के मूल में निहित है। वह यह है कि प्रत्येक जीव और पदार्थ में ईश्वर गुप्त रूप से निवास करते हैं और वे उसके अंदर खोजे जासकते हैं, प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणी के मन और हृदय में वे ऐसे बसे हुए हैं जैसे एक गुहा-गृह में, उसकी आंतर और बाह्य व्यक्त सत्ता के अंतस्तल में वे अंतःस्थ आत्मा हैं, जो कुछ भी है, हो चुका है या होगा उस सब के वे आदि, मध्य और अंत हैं। यह अंतर्यामी दिव्य आत्मा ही, जो जिस मन और हृदय में बसी है उससे छिपी हुई है, यह प्रकाशमान अंतर्वासी ही जो उस प्रकृतिगत अंतरात्मा की दृष्टि से ओझल है जिसे अपने प्रतिनिधि के रूप में प्रकृति के अंदर प्रकट किया है, हमारे कालगत व्यक्तित्व तथा हमारी देशगत संवेदनात्मक सत्ता के क्षरभावों को सब समय विकसित कर रहा है,—देश और काल हमारे अंतःस्थ ईश्वर की चितनगत गति और विस्तार हैं। सब कुछ यह अपने-आपको देखनेवाली आत्मा तथा अपने-आपको प्रकट करनेवाली अध्यात्मसत्ता ही है। सदा ही सब जीवों

---

१. १०, १९-४२

के अंदर से, सब चेतन और अचेतन भूतों के अंदर से ये सर्व-चेतन अपनी व्यक्त आत्मा को गुण और शक्ति में विकसित करते हैं, पदार्थों के रूपों में, हमारी आंतर सत्ता के करणों में, ज्ञान, शब्द और चिंतन में, मन की वृत्तियों तथा कर्त्ता के रागावेश और कार्य-कलाप में, काल के मान में, वैश्व शक्तियों एवं देवताओं में तथा प्रकृति की शक्तियों में, उद्भिज-जीवन में, पशु-जीवन में, मानव और अतिमानव जीवों में ये उसे विकसित करते हैं।

यदि हम गुण और मात्रा के विभेदों से या मूल्यों के भेद तथा प्रकृति के विरोधों से अंध न होनेवाली इस अंतर्दर्शन की आँख से वस्तुओं पर दृष्टिपात करें तो हम देखेंगे कि सभी वस्तुएँ वास्तव में इस अभिव्यक्ति की शक्तियाँ हैं, इस विश्वव्यापी आत्मा तथा अध्यात्म-सत्ता की विभूतियाँ हैं, इस महान् योगी का योग, इस अद्भुत आत्मस्रष्टा की आत्म-सृष्टि हैं और इसके सिवा वे और कुछ हो ही नहीं सकतीं। वे इस विश्व में अपने अगणित भूतभावों के अज तथा सर्वव्यापक स्वामी **'अजो विभुः'** हैं, सभी पदार्थ उनकी आत्म-प्रकृति में उनकी शक्तियाँ तथा उनके संसिद्ध रूप, **'विभूतियाँ'** हैं। वे जो कुछ हैं उस सबका वे उद्गम हैं, उनका आदि हैं ; उनकी नित्य-परिवर्तनशील अवस्था में वे उनका आधार, उनका मध्य हैं ; वे ही उनका अंत भी हैं, प्रत्येक सृष्ट वस्तु की समाप्ति या विलय की अवस्था में वे ही उसका पर्यवसान या विघटन हैं। वे उन्हें अपनी चेतना में से बाहर निकालते हैं और उनमें गुप्त रूप से अवस्थित रहते हैं और वे ही उन्हें अपनी चेतना में वापिस खींच लेते हैं जो फिर उनके अंदर कुछ समय या सदा के लिये अंतर्लीन रहते हैं। जो कुछ भी हमें दिखायी देता है वह एकमेव की विभूति मात्र है : जो कुछ हमारे इन्द्रिय-बोध और हमारी दृष्टि से अगोचर होजाता है वह एकमेव की उस विभूति के परिणामस्वरूप ही अगोचर होता है। सभी श्रेणियाँ, जातियाँ, उपजातियाँ तथा व्यष्टि ऐसी ही विभूतियाँ हैं। परन्तु अपनी संभूति में विद्यमान शक्ति के द्वारा ही दृष्टिगोचर होने के कारण वे हमें उस चीज में विशेष रूप से दिखायी देते हैं जो उत्कृष्ट मूल्य-महत्त्व रखती है या जो प्रबल तथा श्रेष्ठ शक्ति के साथ कार्य करती प्रतीत होती है। अतएव, प्रत्येक प्रकार की सत्ता में हम उन्हें उन्हींके अंदर अधिक-से-अधिक देख सकते हैं जिनमें उस प्रकार की प्रकृति की शक्ति सर्वोच्च, प्रमुख तथा अत्यंत प्रभावशाली रूप में आत्म-प्राकट्य करनेवाली निज अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है। वे एक विशेष अर्थ में विभूतियाँ होती हैं। परन्तु, उच्चतम शक्ति और अभिव्यक्ति भी अनंत का केवल एक अत्यंत आंशिक प्रकाश होती है ; यहाँतक कि यह संपूर्ण विश्व भी उनकी महिमा के केवल एक ही अंश से अनुप्राणित हो रहा है, उनकी ज्योति की एक ही रश्मि से प्रकाशमान

है, उनके आनंद और सौंदर्य की एक हलकी-सी झलक से ही महिमान्वित हो रहा है। यही, संक्षेप में, इस परिगणन का सार तथा इससे निकलनेवाला परिणाम है और यही इसके अर्थ का मर्म है।

ईश्वर अक्षय, अनादि अनंत काल हैं; यह उनकी संभूति की अत्यंत प्रत्यक्ष शक्ति है और संपूर्ण वैश्व गति का मूलतत्त्व है। **'अहमेव अक्षयः कालः'**। काल और संभूति की उस गति में ईश्वर स्वविषयक हमारे विचार या अनुभव के प्रति, अपने कार्यों की साक्षी के द्वारा एक ऐसी दिव्य शक्ति प्रतीत होते हैं जो सब वस्तुओं को व्यवस्थित करती तथा गति के अंदर अपने-अपने स्थान पर स्थापित करती है। वही अपने देशात्मक रूप में सब ओर हमारे सामने उपस्थित होते हैं, लाखों शरीरों-वाले, असंख्य मनोंवाले, प्रत्येक सत्ता में प्रकट; सब तरफ हम उन्हीं के चेहरों को देखते हैं, **'धाताहं विश्वतोमुखः'**। क्योंकि, उनके आत्मा, विचार एवं शक्ति का, सर्जन की दिव्य प्रतिभा, रचना की अद्‌भुत कला और संबंधों, संभावनाओं तथा अनिवार्य परिणामों की निर्भ्रांत व्यवस्था का रहस्य एक साथ इन सब लाखों प्राणियों और पदार्थों में, **'सर्वभूतेषु'**, कार्य करता है। इस संसार में वे हमें संहार करनेवाली विश्वव्यापी आत्मा भी दिखायी देते हैं, जो अपनी रचनाओं को अंत में नष्ट करने के लिए ही बनाते प्रतीत होते हैं:—"मैं सर्वसंहारक मृत्यु हूँ", **'अहं मृत्युः सर्वहरः'**। फिर भी उनकी संभूति की शक्ति अपना व्यापार बंद नहीं करती, क्योंकि पुनर्जन्म एवं नवसर्जन की शक्ति सदा ही मृत्यु और संहार की शक्ति के साथ कदम मिलाकर चलती है,—"और, जो कुछ उत्पन्न होगा उस सबका उद्भव भी मैं ही हूँ।"[1] वस्तुओं में विद्यमान दिव्य आत्मा वर्तमान का धारण करने-वाला, भूत का प्रतिहरण करनेवाला तथा भविष्यत् का सर्जन करनेवाला आत्मा है।

फिर, इन सब जीवित प्राणियों, वैश्व देवताओं, अतिमानव, मानव और अवमानव प्राणियों में, तथा इन सब गुणों, शक्तियों और पदार्थों में जो प्रत्येक श्रेणी के गुण में प्रधान, उच्च और सबसे महान् है वह देवाधिदेव की एक विशेष विभूति है। भगवान् कहते हैं कि 'मैं आदित्यों में विष्णु, रुद्रों में शिव, देवताओं में इन्द्र और असुरों में प्रह्लाद हूँ, संसार के महान् पुरोहितों का प्रमुख वृहस्पति, सेनानियों का सेनानी युद्ध-देवता स्कंद हूँ, मरुतों में मरीचि, यक्षों और राक्षसों में कुबेर, नागों में अनंतनाग, वसुओं में अग्नि, गंधर्वों में चित्ररथ, संतानोत्पादकों में प्रेम-देवता कंदर्प, समुद्र अधिवासियों में वरुण, पितरों में अर्यमा, देवर्षियों में नारद, नियमविधान की रक्षा करनेवालों में नियम के अधिपति यम, आँधी-तूफान की शक्तियों में पवन-देवता हूँ। इस शृंखला के दूसरे छोर पर मैं प्रभाओं और

---

१. १०-३४

ज्योतियों में जाज्वल्यमान सूर्य, रात्रि के नक्षत्रों में चन्द्रमा, सरों में सागर, संसार के शिखरों में मेरु, पर्वत-शृंखलाओं में हिमालय, नदियों में गंगा, आयुधों में दिव्य आयुध 'वज्र' हूँ। सब पेड़-पौधों में मैं अश्वत्थ हूँ, अश्वों में इन्द्र का अश्व उच्चैःश्रवा, हाथियों में ऐरावत, पक्षियों में गरुड़, सर्पों में सर्प-देवता वासुकि, धेनुओं में कामधेनु, मत्स्यों में मगरमच्छ, वन्य पशुओं में सिंह हूँ, मासों में मैं प्रथम मास मार्गशीर्ष हूँ ; ऋतुओं में सर्वसुन्दर वसन्त ऋतु हूँ।'

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'जीवों में मैं चेतना हूँ जिसके द्वारा वे अपने-आपको तथा अपने परिपार्श्व को जानते हैं। इन्द्रियों में मैं मन हूँ, मन के द्वारा ही वे पदार्थों के प्रभावों को ग्रहण करती हैं तथा उनपर प्रतिक्रिया करती हैं। मैं उनके मन, चरित्र, शरीर और कर्म के गुण हूँ, मैं कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा हूँ, तेजस्वियों का तेज और बलवानोंका बल हूँ। मैं कृतसंकल्प हूं, अध्यवसाय और जय हूँ, सज्जनों का सत्त्वगुण हूँ, छलियों का द्यूत हूँ ; जो शासन, दमन और पराभव करते हैं उन सबकी प्रभुता और दंड-शक्ति मैं हूँ और जो सफलता तथा विजय लाभ करते हैं उन सबकी नीति भी मैं हूँ ; मैं गुह्यों का मौन हूँ, ज्ञानियों का ज्ञान तथा विवादकर्त्ताओं का तर्क हूँ। मैं अक्षरों में अकार, समासों में द्वंद्व, शब्दों में पवित्र पद ओंकार, छंदों में गायत्री, वेदों में सामवेद, मंत्रों में बृहत् साम हूँ। जो गणना और आकलन करते हैं उनके लिये मैं समस्त गणना का अग्रणी काल हूँ, नाना दर्शनों, कलाओं और विद्याओं में मैं अध्यात्मविद्या हूँ। मैं मनुष्य की समस्त शक्ति-सामर्थ्य हूँ और विश्व तथा उसके प्राणियों की समस्त शक्तियाँ हूँ।'

'जिन लोगों में मेरी शक्तियाँ मानव-उपलब्धि के उच्चतम शिखरों को पहुँच जाती हैं वे सदा स्वयं मेरा ही रूप, मेरी विशेष विभूतियाँ होते हैं। मैं मनुष्यों में राजा, नेता, शक्तिशाली पुरुष किंवा वीर हूँ। मैं योद्धाओं में राम, वृष्णियों में कृष्ण, पांडवों में अर्जुन हूँ। ज्ञानी ऋषि मेरी ही विभूति होता है ; महर्षियों में मैं भृगु हूँ। जो महान् ऋषि या अंतःप्रेरित कवि सत्य को देखता है तथा विचार की ज्योति और शब्द की ध्वनि के द्वारा उसे व्यक्त करता है वह मर्त्य-देह में प्रकाशमान स्वयं मैं ही होता हूँ ; द्रष्टा कवियों में मैं उशना हूँ। महान् मुनि, विचारक या दार्शनिक मनुष्यों में मेरी ही शक्ति, मेरी ही विशाल प्रज्ञा होती है ; मैं मुनियों में व्यास हूँ। अभिव्यक्ति में मात्रा का भेद चाहे कितना ही क्यों न हो, सब भूत अपने निजी ढंग से और अपनी निजी प्रकृति में ईश्वर की ही शक्तियाँ हैं ; इस संसार में कोई भी चर-अचर या जड़-चेतन मुझसे रहित नहीं हो सकता। मैं सभी भूतों का दिव्य बीज हूँ, और वे उस बीज की शाखाएँ और पुष्प हैं ; जो कुछ आत्मा-रूपी बीज में है उसीको वे प्रकृति में विकसित कर सकते हैं। मेरी

दिव्य विभूतियों की कोई गणना या सीमा नहीं है ; जो कुछ मैंने कहा है वह एक संक्षिप्त निरूपण से अधिक कुछ नहीं और मैंने केवल कुछ प्रमुख संकेतों पर ही प्रकाश डाला है और अनंत सत्यताओं की ओर एक दृढ़ मार्ग खोल दिया है। संसार में जो कोई भी सुन्दर और विभूतिशाली प्राणी तुम देखते हो, मनुष्यों में तथा मनुष्य से ऊपर और उससे नीचे जो कोई भी शक्तिशाली और ऊर्जस्वी सत्ता है उसे तुम मेरा ही तेज, ज्योति और शक्ति समझो, मेरी ही सत्ता के तेजस्वी अंश और प्रखर शक्ति से उत्पन्न जानो। परंतु इस ज्ञान के लिये अनेक ब्योरों की आवश्यकता ही क्या है ? इसे यों समझो कि मैं यहाँ इस संसार में हूँ और सब जगह हूँ, मैं सब में हूँ, और सब कुछ हूँ ; मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है, मेरे बिना किसी भी चीज का अस्तित्व नहीं है। इस संपूर्ण ब्रह्माण्ड को मैं अपनी असीम शक्ति की एक ही कला तथा अपने अगाध आत्मा के एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश से ही धारण करता हूँ ; ये सब भुवन उस नित्य अपरिमेय 'मैं हूँ', 'अहमस्मि' के स्फुलिंग, संकेत और रश्मियाँ मात्र हैं।'

विभूति का सिद्धांत

गीता का दशम अध्याय प्रथम दृष्टि में जैसा प्रतीत होता है उसकी अपेक्षा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जो मतवाद इह-जीवन से चरम मुक्ति चाहता है और मानव आत्माको जगत् से विमुख कर, इसको सब संबंधों से विरक्तकर सुदूर, कूटस्थ, निरपेक्ष सत्ता की ओर ले जाना चाहता है, उस मतवाद को ढूंढ़ निकालने के लिए पक्षपातयुक्त दृष्टि से ही गीताके श्लोकोंको पढ़ने पर इस अध्याय का यथार्थ महत्त्व समझ में नहीं आ सकता। गीता का संदेश यह है कि भगवान् मनुष्य के अंदर निवास करते हैं और वे बढ़ते हुए मिलन की शक्ति के द्वारा अपने-आपको निम्नतर प्रकृति के पर्दे से बाहर प्रकट करते हैं, मानव आत्मा के सम्मुख अपनी विश्वव्यापी आत्मा को प्रकाशित करते हैं, अपनी निरपेक्ष परात्परताओं को प्रकट करते हैं, अपने-आपको मनुष्य में तथा सर्व भूतों में प्रकाशित करते हैं। यह जो मिलन एवं दिव्य योग है, यह जो मनुष्य का ईश्वर की ओर विकसित होना और ईश्वर का मानव आत्मा के अंदर तथा मानवीय अंतर्दृष्टि के सम्मुख प्रकट होना है, इसके फलस्वरूप ही हम यहाँ सीमित अहंसे मुक्त होकर दिव्य मानवता की उच्चतर प्रकृति की ओर ऊपर उठ सकते हैं। क्योंकि तीन गुणोंके मर्त्य ताने-बाने या उनकी उलझी हुई जटिलता में नहीं बल्कि इस महत्तर आध्यात्मिक प्रकृति में निवास करते हुए मनुष्य ज्ञान, प्रेम और संकल्प, तथा भगवान् के प्रति अपनी संपूर्ण सत्ताके आत्म-दान के द्वारा उनके साथ एक होकर, निःसंदेह, निरपेक्ष परात्परता की ओर उठने में और साथ ही जगत् पर कार्य करने में भी समर्थ होता है, पहले की तरह अज्ञान में नहीं वरन् परम देव के साथ व्यक्ति के यथार्थ संबंध से, आत्मा के सत्यमें, अमरत्व में कृतार्थ होकर, अब और अहंके लिए नहीं बल्कि विश्वगत ईश्वर के लिए कार्य करने के योग्य बन जाता है। अर्जुन का इस कार्यके लिए आह्वान करना, जो सत्ता और शक्ति वह है उससे तथा जिस परम सत्ता और शक्ति का संकल्प उसके द्वारा कार्य करता है उससे उसे सचेतन करना ही देहधारी भगवान् का प्रयोजन है। इस उद्देश्य के लिए ही भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथि हैं, इस उद्देश्य के लिए ही उसे महान् विषाद ने तथा अपने कार्यके हीनतर मानवीय प्रेरक-भावोंके प्रति

गहरे असंतोष ने आ घेरा था ; उनके स्थान पर विशालतर आध्यात्मिक प्रेरक-भावको प्रतिष्ठित करनेके लिए उसे अपने लिए नियत कर्म की महान् घड़ी में यह सत्यदर्शन प्रदान किया गया है। विश्वपुरुष का दर्शन तथा कर्मके लिये दिव्य आदेश ही वह सर्वोच्च शिखर है जिसकी ओर उसे ले जाया जा रहा था। अब वह शिखर निकट आ पहुँचा है ; परंतु अभी उसे विभूतियोग के द्वारा जो ज्ञान दिया गया है उसके बिना वह शिखर अपने पूर्ण अर्थ से रिक्त ही रहता।

जगत्-सत्ता का रहस्य कुछ अंश में गीता ने प्रकट कर दिया है। कुछ अंश में ही, क्योंकि उसकी अनंत गहराइयों का संपूर्ण निरूपण भला कौन करेगा अथवा कौन मतवाद या दर्शन यह कहेगा कि जगत्-रूपी चमत्कार का समस्त मर्म उसने थोड़े से स्थान में प्रकाशित कर दिया है या एक संक्षिप्त शास्त्र में आबद्ध कर दिया है? परंतु जहाँतक गीता के प्रयोजन के लिए आवश्यक है वहाँतक वह हमारे सामने प्रकट कर दिया गया है। भगवान् से जगत् के उत्पन्न होने का प्रकार, उसके अंदर भगवान् का अंतर्यामी-रूपसे रहना और उसका भगवान् के अंदर रहना, समस्त सत्ता का मूल एकत्व, प्रकृति के अंदर तमसाच्छन्न मानव आत्मा का परमेश्वर से संबंध, आत्मज्ञान के प्रति उसका जागरण, महत्तर चेतना में उसका जन्म, अपनी आध्यात्मिक ऊँचाइयों की ओर उसका आरोहण—यह सब हमें बता दिया गया है। परंतु जब मूल अविद्या के स्थान पर यह नयी आत्म-सृष्टि और चेतना प्राप्त हो गयी, तब भला मुक्त पुरुष की अपने चारों ओर के जगत् के विषय में क्या दृष्टि होगी, जिस जगत्-अभिव्यक्ति का प्रधान रहस्य अब उसे ज्ञात हो गया है उसके प्रति उसकी कैसी वृत्ति होगी? सर्वप्रथम, उसे सत्ता की एकता का ज्ञान तथा उस ज्ञान की ऐक्य-दृष्टि प्राप्त होगी। वह अपने चारों ओर रहनेवाले सब भूतों को एक ही दिव्य सत्ता की आत्मा में, आकृतियों और शक्तियों के रूप में देखेगा। उसके बाद से वह दृष्टि उसकी चेतना के सभी बाह्यांतर व्यापारों का आरंभ-बिंदु होगी ; वही उसकी मूल दृष्टि होगी, उसके समस्त कार्यों का आध्यात्मिक आधार होगी। वह सब वस्तुओं तथा सभी प्राणियों को एकमेव में निवास करते, चलते-फिरते तथा काम-काज करते और दिव्य एवं नित्य सत् में ही अवस्थित देखेगा। परंतु वह उस एकमेव को भी सबका अंतर्वासी, उनकी आत्मा, उनकी अंतःस्थ मूल अध्यात्मसत्ता अनुभव करेगा ; वह देखेगा कि अपनी सचेतन प्रकृति के अंदर उस एकमेव की गुप्त उपस्थिति के बिना वे न तो जी सकते थे और न किसी प्रकार की गति-चेष्टा या कार्य-व्यापार ही कर सकते थे और उसके संकल्प, शक्ति, अनुमति या मौन स्वीकृति के बिना किसी भी क्षण उनकी एक भी चेष्टा संभव न होती। स्वयं उन्हें भी, उनकी आत्मा, मन, प्राण और भौतिक ढाँचे को भी, वह इस एक

आत्मा और अध्यात्म-सत्ता की शक्ति, संकल्प सामर्थ्य का परिणाम-मात्र देखेगा। उसके लिये सब कुछ इस एक विश्वव्यापी सत् का ही भूतभाव होगा। उनकी चेतना को वह पूर्णतया उसकी चेतना से निकली हुई, उनके बल और संकल्प को उसकी शक्ति और संकल्प से आहरण किये हुए तथा उसीपर निर्भर और उनके आंशिक प्रकृति-प्रपंच को उसकी महत्तर दिव्य प्रकृति का परिणाम अनुभव करेगा, भले ही तात्कालिक वस्तुस्थिति में वह मन को परमेश्वर की अभिव्यक्ति मालूम पड़े या उसका छद्मरूप, उसका एक आकार प्रतीत हो या विकार। वस्तुओं का कोई भी प्रतिकूल या भ्रांति-जनक बाह्य रूप इस दृष्टि की पूर्णता को न तो जरा भी कम करेगा और न उसका विरोध ही करेगा। यह उस महत्तर चेतना का, जिसमें वह ऊपर उठा है, मुख्य आधार है, यह परमावश्यक ज्योति है, जो उसके चारों ओर खुल गयी है, तथा देखने का वह एकमात्र पूर्ण ढंग है, वह एकमात्र सत्य है जो अन्य सबको संभव कर देता है।

परंतु यह संसार परमेश्वर का केवल एक आंशिक प्राकट्य है, यह केवल अपने-आप ही वह भगवान् नहीं है। भगवान् उससे अनंतगुना महान् हैं जितनी कि कोई प्रकृतिगत अभिव्यक्ति हो सकती है। अपनी अनंतता के ही कारण, उस अनंतता की पूर्ण स्वतंत्रता के कारण वे लोकों की किसी भी योजना या विश्वप्रकृति के किसी भी विस्तार में परिपूर्ण रूप से रूपायित हो जाने की समस्त संभावना से परे हैं, भले ही यह या प्रत्येक भुवन हमें कैसा भी विशाल, जटिल, अनंततः विविध क्यों न मालूम पड़े **'नास्ति अन्तो विस्तरस्य मे'** भले ही हमारी सांत दृष्टिको वह कितना ही अनंत क्यों न दीख पड़े। अतएव विश्व से परे मुक्त आत्मा के चक्षु इन परम भगवान् को देखेंगे। इस विश्व को वह आकारातीत भगवान् से लिये गये एक आकार, निरपेक्ष सत्ता के अंदर एक शाश्वत गौण अवस्था के रूपमें देखेगा। प्रत्येक सापेक्ष और सांत सत्ता को वह दिव्य 'निरपेक्ष' और 'अनंत' के एक आकार के रूप में देखेगा, तथा सब सांतों से परे जाकर और प्रत्येक सांत के भीतर से होकर वह उस अनंत पर ही पहुँचेगा, प्रत्येक दृग्विषय, प्रकृतिगत जीव तथा सापेक्ष कर्म और प्रत्येक गुण तथा प्रत्येक घटना के परे सदा उसी को देखेगा; इनमें से प्रत्येक चीज को तथा उससे परे देखता हुआ वह भगवान् में ही उसका आध्यात्मिक अर्थ प्राप्त करेगा।

ये चीजें उसके मन के लिये बौद्धिक प्रत्यय नहीं होंगी, न जगत् के प्रति यह भाव केवल विचारने का एक ढंग या एक व्यावहारिक सिद्धांत ही होगा। क्योंकि, यदि उसका ज्ञान केवल प्रत्ययात्मक हो तो वह एक दार्शनिक सिद्धांत एवं बौद्धिक रचना होगी, आध्यात्मिक ज्ञान एवं दृष्टि नहीं, चेतना की आध्यात्मिक स्थिति नहीं।

ईश्वर और जगत्-विषयक आध्यात्मिक दृष्टि केवल विचारात्मक ही नहीं होती, न वह प्रधानतः या प्रथमतः ही विचारात्मक होती है। वह तो एक प्रत्यक्ष अनुभूति होती है और उतनी ही सत्य, जीवंत, निकट, अविच्छिन्न, कार्यकर तथा घनिष्ठ होती है जितना कि मन के लिये आकारों, पदार्थों और व्यक्तियों का इंद्रियों द्वारा देखना और अनुभव करना। केवल स्थूल मन ही ईश्वर और आत्मा के विषय में यों सोचता है कि वे एक भावात्मक विचार हैं जिसे वह दृष्टि का विषय नहीं बना सकता और न शब्दों, नामों, प्रतीकात्मक रूपों तथा कल्पनाओं के बिना अपने सम्मुख निरूपित ही कर सकता है। आत्मा आत्मा को देखती है, दिव्यीकृत चेतना ईश्वर को वैसे ही प्रत्यक्ष रूप में तथा उससे भी अधिक प्रत्यक्ष रूप में, वैसे ही घनिष्ठ रूपमें तथा उससे भी अधिक घनिष्ठ रूप में देखती है जिस रूपमें कि शारीरिक चेतना जड़ पदार्थ को देखती है। वह भगवान् को देखती तथा अनुभव करती है, उनके विषय में सोचती तथा इंन्द्रियों के द्वारा जानती है। कारण, आध्यात्मिक चेतना को समस्त व्यक्त सत्ता आत्मा का जगत् प्रतीत होती है, जड़तत्त्व का जगत् नहीं, प्राण का जगत् नहीं, यहाँतक कि मन का जगत् भी नहीं ; ये अन्य वस्तुएँ उसकी दृष्टि में केवल ईश्वर-विचार, ईश्वर-शक्ति, ईश्वर-रूप ही होती हैं। वासुदेव में ही निवास करने और कर्म करने, **'मयि वर्तते'** से गीता का यही तात्पर्य है। आध्यात्मिक चेतना परमेश्वर से उस घनिष्ठ तादात्म्य-ज्ञानके द्वारा सचेतन है जो चित्य वस्तु के किसी भी मानसिक बोध या गोचर पदार्थ के किसी भी ऐंद्रिय अनुभव से बहुत ही अधिक वास्तविक है। उस निरपेक्ष सत् से भी, जो समस्त जगत्-सत्ता के पीछे और परे विद्यमान है और जो उसका मूल है तथा उससे अतीत है और उसके उतार-चढ़ावों से सदा के लिये पृथक् है, यह उसी प्रकार सचेतन है। इन परमेश्वर के उस अक्षर आत्मा से भी, जो जगत् के परिवर्तनों में व्याप्त है तथा जिन्हें अपनी अपरिवर्तनशील नित्यता के द्वारा धारण करता है, यह चेतना उसी प्रकार तादात्म्य के द्वारा, अर्थात् हमारी अपनी कालातीत अपरिवर्तनशील अमर आत्मा के साथ इस आत्मा के एकत्व के द्वारा, सचेतन है। और फिर यह उस दिव्य पुरुष से भी उसी प्रकार सचेतन है जो इन सब पदार्थों और व्यक्तियों में अपने-आपको जानता है और अपनी चेतना में सभी पदार्थों और व्यक्तियों का रूप धारण करता है और अपने अंतर्निहित संकल्प के द्वारा उनके विचारों और रूपों को गढ़ता है तथा उनके कार्यों का परिचालन करता है। निरपेक्ष ईश्वर से, आत्मा, अध्यात्मसत्ता, अंतरात्मा और प्रकृति के रूप में विद्यमान ईश्वर से यह घनिष्ठ रूप में सचेतन है। यहाँतक कि इस बाह्य प्रकृति को भी यह तादात्म्य तथा आत्म-अनुभव के ही द्वारा जानती

है, पर उस तादात्म्य के द्वारा जो सत्ता की एकमात्र शक्ति के विभेदों तथा संबंधों को और उसके महत्तर तथा हीनतर कोटिके कार्यों को स्वतंत्रतापूर्वक स्वीकार करता है। क्योंकि, प्रकृति ईश्वर की नानाविध आत्म-विभूति की शक्ति है।

परन्तु जगत्-सत्ता-विषयक यह अध्यात्म-चेतना इस संसार में प्रकृति को उस प्रकार नहीं देखेगी जिस प्रकार मनुष्य का सामान्य मन उसे अज्ञान में देखता है, न यह उसे केवल उस रूप में ही देखेगी जैसी कि यह अज्ञान केपरिणामों के बीच में है। इस प्रकृति की जो चीज अज्ञानात्मक है, जो चीज अपूर्ण या दुःखदायक या विकृत और घृणाजनक है, वह परमेश्वर की प्रकृति के सर्वथा विपरीत वस्तु नहीं है, वरन् उसका मूल उसके पीछे वर्तमान किसी वस्तु में है, आत्मा की किसी रक्षक शक्ति में है, जिसमें वह अपनी सच्ची सत्ता तथा सार्थकता प्राप्त कर सकती है। एक आद्या सर्वजननी परा प्रकृति है जिसमें भागवत शक्ति एवं आत्म-प्रकाश का संकल्प अपने निजी निरपेक्ष स्वरूप और शुद्ध प्राकट्य का उपभोग करता है। वहाँ, संसारमें हम जितनी भी शक्तियां देखते हैं उन सबसे उच्च एवं पूर्ण शक्ति पायी जाती है। वही हमारे सामने परमात्मा की आदर्श प्रकृति, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति एवं संकल्प, पूर्ण प्रेम और आनंद की प्रकृति के रूप में उपस्थित होती है। उसके गुण और शक्तिके सब अनंत प्रभेद, **'अनन्त-गुण, अगणन-शक्ति,'** वहाँ इस परिपूर्ण प्रज्ञा, संकल्प, शक्ति, आनंद और प्रेम के ऐसे स्वतंत्र आत्म-रूपायन हैं जो अद्भुत रूप से विविध हैं तथा स्तुत्य और सहज-स्वाभाविक रूप से सुसंगत हैं। वहाँ सब कुछ अनंतताओं की एक बहुमुखी अबाधित एकता है। आदर्शभूत दिव्य प्रकृति में प्रत्येक शक्ति एवं प्रत्येक गुण अपने कार्य में शुद्ध, पूर्ण, आत्म अधिकृत तथा समस्वर है; वहाँ कोई भी चीज अपनी पृथक् सीमित स्वचरितार्थता के लिए चेष्टा नहीं करती, सब एक अवर्णनीय एकत्वमें कार्य करते हैं। वहाँ सब धर्म, सत्ता के सब विधान—धर्म, सत्ताका विधान, दिव्य शक्ति और गुणका, **'गुण-कर्म'** का, केवल एक विशेष व्यापार है,—एक ही स्वतंत्र और नमनशील धर्म है। सत्ता की वह एकमात्र दिव्य शक्ति[1] अपरिमेय स्वतंत्रता के साथ कार्य करती है और, किसी एक ही ऐकांतिक नियम से न बंधी रहकर, किसी बांधनेवाली प्रणाली से सीमित न रहते हुए, अनंतता की अपनी निजी क्रीड़ामें आनंद लेती है और आत्म-अभिव्यक्ति के अपने सदा-पूर्ण सत्य से कभी नहीं डगमगाती।

परंतु जिस संसार में हम रहते हैं उसमें चुनाव और विभेदन का पृथक्कारी तत्त्व विद्यमान है। यहाँ हम यह देखते हैं कि प्रत्येक शक्ति एवं प्रत्येक गुण,

---

१. तपस्, चित्-शक्ति।

जो अभिव्यक्ति के लिये सामने जा आता है, मानो अपने ही अधिकार के लिये चेष्टा कर रहा है, जिस भी तरह से हो सके, यथासंभव अधिक-से-अधिक स्व-अभिव्यक्ति प्राप्त करने का यत्न कर रहा है और उस यत्न को अन्य शक्तियों तथा गुणों के अपनी पृथक् स्व-अभिव्यक्ति के लिए किये गये सहचारी या प्रतिस्पर्धी प्रयत्न के साथ जैसे-तैसे, यथासंभव अच्छे-से-अच्छे या बुरे-से-बुरे ढंग से अनुकूल बना रहा है। परम आत्मा, भगवान् इस संघर्षरत विश्व-प्रकृति में निवास करते हैं तथा आभ्यंतरिक गुप्त एकत्व के उस अविच्छेद्य नियम के द्वारा, जिसपर इन सब शक्तियों का कार्य आधारित है, इसमें एक विशेष प्रकार की समस्वरता स्थापित करते हैं। परंतु वह एक सापेक्ष समस्वरता है जो मूल विभाजन का परिणाम प्रतीत होती है और मूल एकत्व से नहीं, बल्कि विभाजनों के आघात से प्रकट होती तथा उसीके सहारे स्थित रहती हुई दिखायी देती है। अथवा, कम-से-कम ऐसा प्रतीत होता है कि एकत्व दबा और सोया हुआ है, तथा अपने-आपको प्राप्त नहीं करता, अपने चकरानेवाले छद्मवेशों को कभी भी उतार नहीं फेंकता। और, सचमुच ही वह अपने-आपको तबतक नहीं ढूँढ़ पाता जबतक इस जगत्-प्रकृति में विद्यमान व्यक्ति अपने अंदर उस उच्चतर दिव्य प्रकृति को नहीं खोज लेता जिससे कि यह हीनतर गति उत्पन्न हुई है। तो भी, इस संसार में कार्यरत गुण और शक्तियाँ, जो मनुष्य, पशु, पौधे तथा जड़ पदार्थ में नाना प्रकार से क्रिया कर रही हैं, सदा ही दिव्य गुण और शक्तियाँ हैं, भले ही वे कोई भी रूप क्यों न धारण करें। सभी शक्तियाँ और गुण परमेश्वर की ही शक्तियाँ हैं। प्रत्येक उनकी दिव्य प्रकृति से उद्भूत होती है, यहाँ निम्नतर प्रकृति में अपनी स्व-अभिव्यक्ति के लिए कार्य करती है, इन बाधक अवस्थाओं में अपने स्थापन तथा संसिद्ध मूल्यों की सामर्थ्य बढ़ाती है और, जैसे ही यह अपनी स्व-शक्ति के शिखरों पर पहुँचती है, यह भगवान् के प्रत्यक्ष प्रकटीकरण के निकट आ जाती है और अपने-आपको परमोच्च, आदर्श दिव्य प्रकृति में निहित अपने निरपेक्ष रूप की ओर उत्प्रेरित करती है। क्योंकि, प्रत्येक शक्ति परमेश्वर की ही अंशसत्ता और शक्ति है, इसलिए शक्ति का विस्तार तथा स्व-प्राकट्य सदा परमेश्वर का ही विस्तार एवं प्राकट्य होता है।

कोई यहाँतक कह सकता है कि अपनी तीव्रता के एक विशेष स्थल पर हमारे अंदर की प्रत्येक शक्ति, ज्ञान की शक्ति, संकल्प की शक्ति, प्रेम की शक्ति, आनंद की शक्ति एक ऐसा विस्फोट उत्पन्न कर सकती है जो निम्नतर रूप-रचना के आवरण को छिन्न-भिन्न कर डालता है और उस शक्ति को उसकी पृथक्कारी क्रिया से हटाकर दिव्य पुरुष की अनंत स्वतंत्रता और शक्ति के साथ उसके एकत्व

में मुक्त कर देता है। एक सर्वोच्च भगवन्मुख प्रयास मन को ज्ञान की एक परिपूर्ण दृष्टि के द्वारा मुक्त कर देता है, हृदय को परिपूर्ण प्रेम और आनंद के द्वारा मुक्त कर देता है, संपूर्ण सत्ता को एक महत्तर सत्ता की ओर जाने के संकल्प की पूर्ण एकाग्रता के द्वारा मुक्त कर देता है। परंतु यह आघात तथा मुक्तिदायक प्रेरणा तो हमारी वर्तमान प्रकृति पर भगवान् के उस स्पर्श के द्वारा ही प्राप्त होते हैं जो शक्ति को उसकी सामान्य सीमित भेदमूलक क्रिया तथा उद्देश्यों से विमुख कर सनातन, विराट् और विश्वातीत की ओर अभिप्रेरित करता है, अनंत तथा परिपूर्ण ब्रह्म की ओर फेर देता है। सत्ता की दिव्य शक्ति की सक्रिय सर्वव्यापकता का यह सत्य ही विभूति के सिद्धांत का मूल स्तंभ है।

अनंत दैवी शक्ति सर्वत्र विद्यमान है और इस नीचे के जगत् को गुप्त रूप से धारण करती है, **'परा प्रकृतिर्मे यया धार्यते जगत्'** [1], परंतु वह अपने-आपको तबतक पीछे की ओर, प्रत्येक प्राकृतिक सत्ता के हृदय में, **'सर्वभूतानां हृद्देशे'**, छिपाये रखती है जबतक कि ज्ञान की ज्योति के द्वारा योगमाया का पर्दा नहीं फट जाता। जीव, अर्थात् मनुष्य की आध्यात्मिक सत्ता दिव्य प्रकृति से युक्त है। वह दिव्य-प्रकृति-युक्त ईश्वर की अभिव्यक्ति है, **'परा प्रकृतिर्जीवभूता'**, और उसके अंदर सभी दिव्य शक्तियाँ और गुण, परमात्मा की ज्योति, शक्ति और तपस् प्रसुप्त रूप में निहित हैं। परंतु इस अपरा प्रकृति में, जिसमें हम रहते हैं, जीव चुनाव और सांत निर्धारण के सिद्धांत का अनुसरण करता है, और यहाँ जन्म में जो शक्ति-धारा, जो गुण या आध्यात्मिक तत्त्व वह अपने साथ लाता है या अपने आत्म-प्राकट्य के बीज के रूप में प्रस्तुत करता है वह उसके स्वभाव का क्रियाशील अंश, उसकी आत्म-संभूति का नियम बन जाता है और उसके स्वधर्म अर्थात् कर्म के नियम का निर्धारण करता है। और, यदि यही सब कुछ होता तो कोई कठिनाई या परेशानी न होती ; मनुष्य का जीवन भगवान् का ज्योतिर्मय विकास होता। परंतु हमारे जगत् की यह निम्नतर शक्ति अज्ञान, अहंभाव और तीन गुणों की प्रकृति है। क्योंकि यह अहंभाव की प्रकृति है, जीव अपनेको पृथक्कारी अहं समझता है ; वह अहंभावमय ढंग से, दूसरों की पृथक्कारी अस्तित्व-इच्छा के साथ संघर्ष तथा संसर्ग में आनेवाली एक पृथक्कारी अस्तित्व-इच्छा के रूप में, अपनी आत्म-अभिव्यक्ति साधित करता है। वह जगत् को संघर्ष के द्वारा अधिकृत करने का यत्न करता है, एकता और समस्वरता के द्वारा नहीं ; वह अहं-केन्द्रिक विरोध-वैषम्य पर बल देता है। क्योंकि यह अज्ञान, अंध अवलोकन तथा अपूर्ण या आंशिक आत्म-अभिव्यक्ति की प्रकृति है, वह अपने-आपको नहीं

---

१. ७-५

जानता, अपनी सत्ता का नियम नहीं जानता, बल्कि अंधप्रेरणावश उसका अनुसरण करता है, जगत्-शक्ति की ठीक तरह से न समझी हुई प्रेरणा के अनुसार, संघर्ष-पूर्वक, अत्यधिक अंतर्विरोध के साथ, च्युत होने की बहुत ही बड़ी संभावना के साथ उसका अनुसरण करता है। क्योंकि यह तीन गुणों की प्रकृति है, यह अस्तव्यस्त और आयासशील स्वाभिव्यक्ति अक्षमता, विच्युति या आंशिक आत्म-उपलब्धि के नानाविध रूप ग्रहण करती है। तमोगुण अर्थात् अंधकार और जड़ता के गुण के वशीभूत होकर सत्ता की शक्ति दुर्बलतापूर्ण अस्तव्यस्तता, प्रबल अक्षमता, अज्ञान की शक्तियों की अंध यांत्रिकता के प्रति अभीप्सा-रहित अधीनता के साथ कार्य करती है। रजोगुण अर्थात् कर्म, कामना और अधिकार के गुण की प्रबलता होने पर संघर्ष तथा प्रयास देखने में आता है, शक्ति-सामर्थ्य का विकास होता है, परंतु वह (विकास) स्खलनशील, दु:खदायी तथा उग्र होता है ; अशुद्ध धारणाओं, पद्धतियों तथा आदर्शों के कारण पथभ्रांत हो जाता है ; ठीक धारणाओं, पद्धतियों या आदर्शों का दुरुपयोग करने, उन्हें बिगाड़ने तथा उलटा कर देने की ओर प्रेरित होता है, और विशेषकर, अहंभाव के बहुत अधिक और प्राय: ही विराट् अतिरंजन की ओर प्रवृत्त होता है। सत्त्वगुण अर्थात् प्रकाश, संतुलन और शांति के गुण की प्रबलता होने पर अधिक सामंजस्यपूर्ण कार्य और प्रकृति के साथ यथोचित व्यवहार होता है, पर वह व्यवहार वैयक्तिक ज्योति की तथा इस निम्नतर मानसिक संकल्प और ज्ञान के अधिक अच्छे रूपों का अतिक्रमण करने में असमर्थ शक्ति की सीमाओं के भीतर ही उचित होता है। इस उलझन से छुटकारा पाना, अज्ञान, अहंता और त्रिगुण से परे उठ जाना दिव्य पूर्णता की ओर पहला यथार्थ कदम है। ऐसे अतिक्रमण से ही जीव अपनी दिव्य प्रकृति तथा सच्ची सत्ता प्राप्त करता है।

आध्यात्मिक चेतना में विद्यमान मुक्त ज्ञान-चक्षु जगत् पर दृष्टिपात करते हुए केवल इस संघर्षशील निम्नतर प्रकृति को ही नहीं देखते हैं। यदि हम अपनी तथा दूसरों की प्रकृति के दृश्यमान बाह्य-तथ्य को ही देखते हैं तो अज्ञान की आँख से देखते हैं और सबमें, सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक प्राणी में, देव और दानव में, संत और पापी में, ज्ञानी और अज्ञानी में, बड़े और छोटे में, मनुष्य, पशु, वनस्पति तथा जड़ सत्ता में समान रूप से ईश्वर को नहीं जान सकते। मुक्त दृष्टि तो प्राकृतिक सत्ता के संपूर्ण गुह्य सत्य के रूप में एकसाथ तीन वस्तुओं को देखती है। प्रथमत: और प्रधानत: वह दृष्टि सबमें दिव्य प्रकृति को गुप्त, उपस्थित तथा विकास के लिए प्रतीक्षा करते हुए देखती है ; वह उसे सब वस्तुओं में विद्यमान वास्तविक शक्ति के रूप में देखती है, एक ऐसी शक्ति के रूप में जो विभिन्न गुण

और शक्ति के इस समस्त प्रतीयमान व्यापार को उसका मूल्य प्रदान करती है, और गुण एवं शक्ति-रूपी इन दृग्विषयों के अर्थ का अनुशीलन वह इनकी अपनी अहंता और अज्ञान की भाषा में नहीं बल्कि दिव्य प्रकृति के प्रकाश में करती है। इसलिए, दूसरे नंबर पर, वह देव और राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी और सरीसृप, सज्जन और दुर्जन, मूर्ख और विद्वान् में प्रतीयमान कार्य के भेदों को भी देखती है, पर इन अवस्थाओं में, इन आवरणों की ओट में होते हुए दिव्य गुण और शक्ति के व्यापार के रूप में ही। वह आवरण से भ्रांत नहीं हो जाती, बल्कि प्रत्येक आवरण के पीछे परमेश्वर को पहचान सकती है! वह विकृति या अपूर्णता को देखती है, पर उसे भेद कर उसके पीछे विद्यमान आत्मा के सत्य तक जा पहुँचती है, इतना ही नहीं, बल्कि वह उसे उस विकृति एवं अपूर्णता में भी ढूंढ़ निकालती है जो अपने-आपसे अंधी बनी हुई है, अपने स्वरूप को पाने के लिए संघर्ष कर रही है, स्व-अभिव्यक्ति और अनुभूति के अनेक रूपों के द्वारा अपनी आत्मा के पूर्ण ज्ञान, अपने अनंत और चरम रूप पर पहुँचने के लिए अंधवत् टटोल रही है। मुक्त दृष्टि विकृति और अपूर्णता पर अनुचित बल नहीं देती, बल्कि सबको, हृदय में पूर्ण प्रेम और उदारता, बुद्धि में पूर्ण समझ तथा आत्मा में पूर्ण समता रखते हुए, देखने में समर्थ होती है। अंत में, वह संभूति-संकल्प की प्रयासकारी शक्तियों के ईश्वर की ओर ऊर्ध्वमुख-संवेग को देखती है; शक्ति और गुण की सभी उच्च अभिव्यक्तियों को, देवत्व की जाज्वल्यमान जिह्वाओं को, निम्नतर प्रकृति के स्तरों से समुज्ज्वल प्रज्ञा और ज्ञान, महान् शक्ति, सामर्थ्य, क्षमता, साहस, वीरता, प्रेम और आत्म-दान के सदय माधुर्य, उत्साह और गौरव, उत्कृष्ट सद्गुण, श्रेष्ठ कर्म, मोहक सुषमा तथा समस्वरता, सुन्दर तथा दिव्य सृजन के शिखरों की ओर ऊपर उठी हुई अपनी प्रखरताओं से युक्त आत्मा, मन और प्राण की आरोही महानताओं को वह सम्मानित, अभिनंदित और प्रोत्साहित करती है। आत्मिक चक्षु महान् विभूति के अंदर मनुष्य के उदीयमान देवत्व को देखता और उसे पहचान लेता है।

उसका वह पहचानना परमेश्वर को शक्ति के रूप में पहचानना होता है, पर शक्ति यहाँ अपने व्यापकतम अर्थ में अभिप्रेत है, अर्थात् केवल बल-सामर्थ्य ही नहीं, बल्कि ज्ञान, संकल्प, प्रेम, कर्म, पवित्रता, मधुरता तथा सुन्दरता की शक्ति के अर्थ में भी। भगवान् सत्ता, चेतना और आनंद हैं, और इस जगत् में सब वस्तुएँ अपने-आपको व्यक्त करती हैं और फिर सत्ता की शक्ति तथा चेतना एवं आनंद की शक्ति के द्वारा अपना स्वरूप पुनः प्राप्त कर लेती हैं; यह दिव्य शक्ति के कार्यों का जगत् है। वह शक्ति यहाँ अपने-आपको असंख्य प्रकार के

भूतों में रूपान्वित करती है और उनमें से प्रत्येक के अंदर उसकी शक्ति की निजी विशिष्ट शक्तियाँ हैं। प्रत्येक शक्ति उस रूप के अंदर विद्यमान स्वयं भगवान् ही हैं, जैसे हरिणी में वैसे ही सिंह में, जैसे देव में वैसे ही दानव में, जैसे भूतल पर रहनेवाले विचारशील मनुष्य में वैसे ही आकाश में जगमगानेवाले अचेतन सूर्य में वे ही विद्यमान हैं। त्रिगुण के द्वारा उत्पन्न विकार वास्तव में मुख्य नहीं, बल्कि गौण रूप है ; मुख्य वस्तु तो वह दिव्य शक्ति है जो आत्म-अभिव्यक्ति को प्राप्त कर रही है। भगवान् ही अपने-आपको महान् मनीषी, वीर, जननायक, महान् गुरु, ज्ञानी, पैगम्बर, धर्म-संस्थापक, संत, मानवप्रेमी, महाकवि, महान् कलाकार, महान् वैज्ञानिक, तप-परायण आत्म-वशी, वस्तुओं, घटनाओं तथा शक्तियों को वश में करनेवाले मनुष्य में प्रकट करते हैं। स्वयं वह कृति भी, वह उच्च काव्य, सौन्दर्य का पूर्ण रूप, गभीर प्रेम, उदात्त कर्म, दिव्य उपलब्धि ईश्वर की ही गति होती है ; वह अभिव्यक्तिगत भगवान् ही होती है।

यह एक ऐसा सत्य है जिसे सब प्राचीन संस्कृतियाँ स्वीकृत और समादृत करती थीं, परंतु आधुनिक मन के एक पार्श्व को इस विचार के प्रति अपूर्व घृणा है, वह इसमें निरे शक्ति-सामर्थ्य की पूजा, अज्ञानपूर्ण या आत्म-पतनकारी वीर-पूजा या आसुरी अतिमानव के सिद्धांत को ही देखता है। निःसंदेह, जैसे सभी सत्यों को ग्रहण करने का एक अज्ञानमय तरीका है वैसे ही इस सत्य को ग्रहण करने का भी एक अज्ञानमय तरीका है ; परंतु प्रकृति की दिव्य नियम-व्यवस्था में इसका अपना एक विशेष स्थान है, एक अनिवार्य कार्य है। गीता इसे उस समुचित स्थान में तथा उस दृष्टि-बिन्दु से हमारे सामने रखती है। इसे सब मनुष्यों तथा सब प्राणियों में विद्यमान दिव्य आत्मा के प्रत्यभिज्ञान पर आधारित होना होगा ; बड़ी और छोटी, प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध सब अभिव्यक्तियों के साथ इसे हार्दिक समभावपूर्वक सुसंगति रखनी होगी। अज्ञानी, दीन, दुर्बल, पापी तथा पतित—सभी में ईश्वर को देखना और प्रेम करना होगा। स्वयं विभूति में भी जिस सत्ता को इस प्रकार स्वीकृत तथा सम्मानित करना होगा वह बाह्य व्यक्ति नहीं, बल्कि वे एकमात्र देवाधिदेव हैं जो अपने-आपको उस शक्ति में प्रकट करते हैं, हाँ, प्रतीक-रूप में व्यक्ति की स्वीकृति और सम्मान एक अलग बात है। परंतु यह बात इस तथ्य को रद्द नहीं कर देती कि अभिव्यक्ति में एक चढ़ती हुई शृंखला है और प्रकृति अपनी आत्म-अभिव्यक्ति के क्रमों में अपने अंधान्वेषी, अंधकारमय या अप्रकाशित प्रतीकों से परमेश्वर की प्रथम गोचर अभिव्यक्तियों की ओर ऊपर आरोहण करती है। प्रत्येक महान् सत्ता, प्रत्येक महान् प्राप्ति उसकी स्व-अतिक्रमण की शक्ति का चिह्न है और साथ ही चरम-

परम अतिक्रमण का आश्वासन है। स्वयं मनुष्य भी पशु तथा उदरसर्पी जीवों की अपेक्षा प्राकृतिक अभिव्यक्ति का एक उच्चतर सोपान है, यद्यपि दोनों में वही एक 'समं ब्रह्म' विद्यमान है। परंतु मनुष्य अभी अपने स्व-अतिक्रमण के उच्चतम शिखरों पर नहीं पहुँचा है और इस बीच उसके अंदर निहित अस्तित्व-संकल्प की महान् शक्ति के प्रत्येक इंगित को आश्वासन और संकेत मानना होगा। जब हम उन महान् मार्गदर्शकों के पद-चिह्नों की ओर दृष्टिपात करते हैं, जो उसे उपलब्धि के चाहे किसी भी सोपान से अतिमानवता की ओर ले जाते हैं या संकेत करते हैं, तो मनुष्य में, सभी मनुष्यों में अवस्थित देवत्व के लिये हमारा सम्मान कम नहीं होता, बल्कि बढ़ता ही है और साथ ही उसे एक अधिक समृद्ध अर्थ भी प्राप्त होता है।

स्वयं अर्जुन भी एक विभूति है ; वह आध्यात्मिक विकास में एक उच्चता-प्राप्त मनुष्य है, अपने सम-सामयिकों के समुदाय में एक विख्यात व्यक्ति, मानव-जाति में विराजमान ईश्वर, भगवन्नारायण का चुना हुआ यंत्र है। एक स्थान पर भगवान् गुरु सबके परम तथा सम आत्मा के रूप में बोलते हुए घोषित करते हैं कि न कोई मेरा प्रिय है न द्वेष्य, पर अन्य स्थानों पर वे कहते हैं कि अर्जुन उनका प्रिय और भक्त है और इसलिए वह उनके द्वारा परिचालित तथा उनके हाथों में सुरक्षित है, दिव्य दर्शन तथा ज्ञान के लिए चुना हुआ है। यहाँ असंगति केवल ऊपरी है। विश्व के आत्मा के रूप में वह शक्ति सबके प्रति सम है, अतएव प्रत्येक मनुष्य को वे उसकी प्रकृति के व्यापारों के लिए तदनुसार प्रदान करते हैं ; किन्तु पुरुषोत्तम का मनुष्य के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध भी है जिसमें वे उस व्यक्ति के लिए विशेष रूप से निकट हैं जो उनके पास पहुँच गया है। ये सब शूरवीर और महारथी जो कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध में सम्मिलित हुए हैं भगवत्संकल्प के वाहन हैं और प्रत्येक के द्वारा वे उसकी प्रकृति के अनुसार कार्य करते हैं पर उसके अहं के पर्दे की ओट में ही। अर्जुन उस स्थल पर पहुँच गया है जहाँ आवरण को विदीर्ण किया जा सकता है तथा देहधारी भगवान् अपनी विभूति के सम्मुख अपनी कार्यशैली का रहस्य प्रकाशित कर सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि सत्य का दर्शन कराना आवश्यक भी है। वह एक महान् कर्म का यंत्र है, ऐसे कर्म का जो देखने में तो भीषण है पर मानवजाति की यात्रा में आगे की ओर एक लंबा कदम उठाने के लिए तथा **धर्मराज्य, ऋत** और **सत्य** के राज्य के संस्थापनार्थ किये जानेवाले उसके संघर्ष में एक निर्णायक गतिविधि के लिए आवश्यक है। मानव के युग-चक्रों का इतिहास मानवता के अंतरात्मा और जीवन में परमेश्वर को निरावृत करने के लिए होनेवाला एक क्रम-विकास है ; उसकी प्रत्येक महान्

घटना और अवस्था एक दिव्य अभिव्यक्ति है। गुप्त इच्छाशक्ति के प्रधान यंत्र, महान् नायक अर्जुन को वह महान् कर्म सचेतन रूप से, भगवान् के कार्य के रूपमें करनेके योग्य दिव्य मानव बनना होगा। इस प्रकार करने से ही वह कर्म आन्तरात्मिक रूप से सजीव बन सकता है तथा अपना आध्यात्मिक महत्त्व और अपने गुप्त अर्थ की ज्योति एवं शक्ति प्राप्त कर सकता है। उसे आत्म-ज्ञान के लिए आह्वान प्राप्त हुआ है ; उसे ईश्वर को विश्व के स्वामी तथा जगत् के प्राणियों और घटनाओं के मूल के रूप में तथा सबको प्रकृति के अन्दर परमेश्वर की आत्म-अभिव्यक्ति के रूप में देखना होगा, सबके अन्दर ईश्वर को देखना होगा, अपने अन्दर मानव तथा विभूति के रूप में ईश्वर को ही अनुभव करना होगा, सत्ता की निचाइयों में तथा उसकी ऊँचाइयों पर, उच्च-से-उच्च शिखरों पर ईश्वर को ही देखना होगा, उसे मनुष्य को भी ऊँचाइयों पर विभूति के रूप में, तथा परम मोक्ष और मिलन में अंतिम शिखरों की ओर आरोहण करते हुए देखना होगा। अपने उत्पत्ति और संहार के कर्ममें अपने पग रखते हुए काल को भी उसे परमेश्वर की मूर्त्ति के रूप में देखना होगा,—ऐसे पग जो सृष्टि के उन विकास-चक्रों को पूरा करते हैं जिनकी गति के आवर्तों पर मानव-देह में अवस्थित दिव्य आत्मा जगत् में ईश्वर की विभूति के रूप में उनका कार्य करता हुआ परमोच्च परात्परताओं की ओर उन्नीत हो जाता है। यह ज्ञान प्रदान कर दिया गया है ; भगवान् का काल-रूप अब प्रकट किया जाना है और उस रूप के कोटि-कोटि मुखों से मुक्त-विभूति के सम्मुख नियत कर्म के लिए आदेश निःसृत होनेवाला है।

विश्वपुरुष-दर्शन[1]

दोहरा रूप

जब कि इस दर्शन के विकराल रूप का प्रभाव अभी उसपर छाया हुआ था तब भी भगवान् का कथन समाप्त होने के बाद अर्जुन ने जो प्रथम उद्‌गार प्रकट किये वे मृत्यु की इस मुखाकृति तथा इस संहार के पीछे विद्यमान एक महत्तर उद्धारक तथा आश्वासक सद्वस्तु की एक ओजस्वी व्याख्या करते हैं। वह कहता है, "हे हृषीकेश, संसार आपके नाम से जो हर्षित होता है और उसमें आनंद लेता है वह समुचित तथा उपयुक्त ही है। राक्षस आपसे त्रस्त होकर दिशा-विदिशाओं में भाग रहे हैं और सिद्धसंघ भक्तिपूर्वक आपको नमस्कार करते हैं। हे महात्मन्, वे आपकी क्यों न पूजा करें? क्योंकि, आप तो आदि स्रष्टा तथा कर्मों के आदि कर्त्ता हैं और जगदुत्पादक ब्रह्मा से भी अधिक महान् हैं। हे अनंत, हे देवेश, हे जगन्निवास, आप अक्षर हैं, सत् तथा असत् जो कुछ भी है वह आप ही हैं और जो परतम हैं वह भी आप हैं। आप पुराण पुरुष, आदि तथा मूल देव हैं और इस विश्व के परम विश्राम-स्थल हैं; आप ही ज्ञाता और ज्ञेय हैं, परमधाम हैं; हे अनंतरूप, यह विश्व आपने ही विस्तारित किया है। आप यम, वायु, अग्नि, सोम, वरुण, प्रजापति, प्राणिमात्र के पिता हैं और आप ही प्रपितामह भी हैं। आपको सहस्र वार नमस्कार हो, पुनः नमस्कार, पुनः पुनः नमस्कार, आगे और पीछे से तथा सब ओर से नमस्कार हो, क्योंकि आप ही प्रत्येक वस्तु हैं तथा जो कुछ भी है वह सब आप ही हैं। अनंत वीर्य और अमित कर्मशक्तिवाले आप 'सब' के अन्दर व्याप्त हैं और आप ही 'सब' हैं।[2]

परंतु ये परमोच्च विश्व-पुरुष यहाँ उसके सामने मानव आकार में, मर्त्य शरीर में, भागवत मनुष्य, देहधारी भगवान् एवं अवतार के रूपमें निवास करते आये हैं और अबतक वह उन्हें नहीं जान पाया है। उसने केवल उनकी मानवता

---

१. गीता, ११. ३५-५५

२. ११, ३६-४०

विग्रह को भी देखना चाहता है। वह उनके गुणों का श्रवण कर चुका है तथा उनके आत्म-प्रकटीकरण के सोपानों तथा तरीकों को समझ चुका है; परन्तु अब वह इन योगेश्वर से कहता है कि मेरे योग-चक्षु के सम्मुख अपनी उस वास्तविक अव्यय आत्मा को प्रकाशित कीजिये। स्पष्ट ही उसका अभिप्राय उनके निष्कर्म अक्षरभाव की निराकार नीरवता से नहीं है, बल्कि उन पुरुषोत्तम से है जिनसे समस्त शक्ति एवं कर्म उद्भूत होता है, सभी रूप जिनके आवरण हैं, जो विभूति में अपनी शक्ति प्रकाशित करते हैं, जो कर्मों के स्वामी, ज्ञान और भक्ति के स्वामी, प्रकृति और उसके समस्त प्राणियों के परमेश्वर हैं। इस महान् से महान् सर्वग्राही दिव्यदर्शन के प्रीत्यर्थ प्रार्थना करने के लिए उसे प्रेरित किया गया है क्योंकि इस प्रकार ही उसे, जगत्कर्म में अपना भाग ग्रहण करने के लिए विश्व में अभिव्यक्त परमात्मा से आदेश प्राप्त करना होगा।

अवतार उत्तर देते हैं कि जो कुछ तुझे देखना है उसे मानवीय चक्षु नहीं ग्रहण कर सकता,—क्योंकि मानवीय चक्षु वस्तुओं के केवल बाह्य रूप ही देख सकता है अथवा उनके द्वारा कुछ पृथक् प्रतीकात्मक रूप निर्मित कर सकता है, जिन रूपों में से हरएक शाश्वत रहस्य के कुछ-एक पक्षों का ही सूचक होता है। परन्तु एक दिव्य चक्षु, अंतरतम दृष्टि भी है जिसके द्वारा पुरुषोत्तम भगवान् को उनके अपने ऐश्वर योग में देखा जा सकता है और वह चक्षु अब मैं तुझे देता हूँ। वे कहते हैं कि तू मेरे नाना प्रकार के, नाना वर्णों और आकारोंवाले सैकड़ों और सहस्रों दिव्य रूप देखेगा; तू आदित्यों, रुद्रों, मरुतों और 'अश्विनौ' को देखेगा; तू ऐसे बहुत-से आश्चर्य देखेगा जिन्हें किसी ने नहीं देखा है; तू आज सम्पूर्ण जगत् को मेरी देह के अन्दर परस्पर-सम्बद्ध तथा एकत्र स्थित देखेगा तथा और जो कुछ भी तू देखना चाहता है वह सब भी देखेगा। इस प्रकार इस विश्वरूपदर्शन का मूल स्वर तथा प्रधान मर्म यही है। यह बहु में एक तथा एक में बहु का दर्शन है,—सब वस्तुएँ वह 'एक' ही हैं। यही दर्शन उस सबको जो है और था और होगा, दिव्य योग के चक्षु के सामने उन्मुक्त कर देता है और उसका समर्थन तथा व्याख्या करता है। एक बार इसके प्राप्त हो जाने तथा इसे धारण कर लेने पर यह भागवत ज्योति के खड्ग से सब संशयों तथा व्यामोहों की जड़ काट डालता है और सब निषेधों तथा विरोधों का उन्मूलन कर देता है। यही वह दर्शन है जो वस्तुओं में समन्वय और एकत्व स्थापित करता है। यदि जीव इस दर्शन में परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त कर सके,—अर्जुन अभी तक इसे नहीं प्राप्त कर सका है, इसलिए हम देखते हैं कि दर्शन करने पर वह भयभीत होता है—तो, इस संसार में जो कुछ भी भीषण है वह सब भी उसके लिए त्रासकारी नहीं रह

जायगा। तब हम देखेंगे कि वह भी परमेश्वर का ही एक रूप है और एक बार जब हम, उसे केवल अपने-आपमें ही न देखते हुए, उसके अन्दर उनके प्रयोजन को ढूंढ लेंगे, तब हम सम्पूर्ण जगत् को सर्वांलिंगी हर्ष तथा प्रबल उत्साह के साथ अंगीकार कर सकेंगे, अपने नियत कर्म की ओर सुनिश्चित पगों से अग्रसर हो सकेंगे और उससे परे परमोच्च परिणति को अपनी दृष्टि में ला सकेंगे। जिस जीव को उस दिव्य ज्ञान में प्रवेश प्राप्त हुआ है जो सभी वस्तुओं को विभक्त, खंडित और अतएव व्यामूढ दृष्टि से नहीं बल्कि एक ही अखंड दृष्टि से देखता है, वह जीव जगत् के तथा और जो कुछ भी वह देखना चाहता है, **'यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि'** उस सबके बारे में नयी खोज कर सकता है ; सबको संबद्ध तथा एकीभूत करनेवाले इस दर्शन के आधार पर वह एक सत्यदृष्टि से अधिकाधिक पूर्ण सत्यदृष्टि की ओर बढ़ सकता है।

वह परम 'रूप' तब उसे दिखाया जाता है। वह उन अनंत परमेश्वर का रूप है जो विश्वतोमुख तथा सर्वाश्चर्यमय हैं, जो अपनी सत्ता के अनेक अद्भुत दर्शनों को अनंत रूप से बहुगुणित करते हैं, जो असंख्य नेत्रों तथा असंख्य वक्त्रोंवाले, अगणित दिव्य आयुधों से युद्ध के लिए सुसज्जित, सुन्दर दिव्य आभरणों से शोभायमान, दिव्यांबरधारी, दिव्यपुष्पों की मालाओं से सुशोभित, दिव्यगंधों के अनुलेपन से सुवासित विश्वव्यापी देव हैं। ईश्वर के इस विग्रह की प्रभा ऐसी है मानों सहस्रों सूर्य आकाश में एक साथ उदित हो उठे हों। बहुधा विभक्त और फिर भी एकीभूत सारे का सारा जगत् उस देवदेव की देह में दृष्टिगोचर हो रहा है। अर्जुन उन देवाधिदेव के, उन ऐश्वर्यमय, शोभन तथा भीषण परमेश्वर के, जीवों के प्रभु उन परमात्मा के दर्शन करता है जिन्होंने अपनी आत्मसत्ता की गरिमा-महिमा के अन्दर इस उग्र एवं भयावह और व्यवस्थित, अद्भुत एवं मधुर तथा भीषण जगत् को व्यक्त किया है, और हर्ष, भय तथा विस्मय से आविष्ट होकर वह उस विकराल विश्वरूप के आगे शीश नवाता है तथा हाथ जोड़कर संभ्रमपूर्ण वचनों के साथ उसकी पूजा करता है। वह कहता है, "हे देव, आपकी देह में मैं सब देवों, विभिन्न भूतसंघों, कमलासनस्थ स्रष्टा देव ब्रह्मा, तथा ऋषियों की और दिव्य सर्पों की जाति को देखता हूँ। हे विश्वेश्वर, हे विश्वरूप, मैं असंख्य भुजाएँ, उदर, नेत्र और मुख देखता हूँ, मैं सब ओर आपके अनंत रूप देखता हूँ, पर न तो मैं आपका अंत देखता हूँ और न ही मध्य और न आदि, मैं आपको मुकुटमाली, गदाचक्रधारी, तथा दुर्निरीक्ष्य देखता हूँ क्योंकि आप मेरे चारों ओर दीप्तिमान् तेज की राशि हैं, सब ओर व्याप्त प्रभा हैं, जाज्वलल्यमान सूर्य तथा दीप्त

अनल के समान द्युतिमान् अप्रमेय हैं। आप जानने योग्य परम अक्षर हैं, आप इस विश्व के परम आधार और निलय हैं, आप शाश्वत धर्मों के अविनाशी रक्षक हैं, आप जगत् के सनातन आत्मा, सनातन पुरुष हैं।"[१]

पर इस दर्शन की महानता में संहारकर्त्ता का भीषण रूप भी सम्मिलित है। ये आदि, मध्य या अंत से रहित अप्रमेय हैं जिनसे सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, जिनके अन्दर वे स्थित रहती हैं तथा अन्त में लीन हो जाती हैं। ये परमेश्वर अपनी अनन्त बाहुओं से लोकों का आलिंगन किये हुए हैं और अपने लाखों हाथों से संहार करते हैं, शशि और सूर्य इनके नेत्र हैं, इनका मुख दीप्त अनल के समान है और ये सदैव अपने तेज से सम्पूर्ण विश्व को तपा रहे हैं। इनका रूप उग्र तथा अद्‌भुत है, ये अकेले ही सभी दिशाओं तथा द्यावापृथिवी के सम्पूर्ण अंतराल में व्याप्त हैं। देवसंघ भयभीत होकर स्तुति-गान करते हुए इनके विश्वरूप के अन्दर प्रविष्ट हो रहे हैं; ऋषि और सिद्ध "सुख और शांति हो" ऐसा कहते हुए पुष्कल स्तुतियों से इनकी स्तुति कर रहे हैं; देव, गंधर्व, यक्ष, असुर विस्मित होकर निर्निमेष नेत्रों से इन्हें देख रहे हैं; इनके नेत्र दीप्त और विशाल हैं; इनके मुख निगल जाने के लिए खुले हुए हैं तथा अनेक संहारकारी दंष्ट्राओं के कारण विकराल हैं; इनके मुखों की आकृति मृत्यु और काल की अग्नियों के समान है। जगत्-संग्राम के दोनों पक्षों के राजा, वीर तथा सेनानायक इनके दंष्ट्राकराल भयानक मुखों में तीव्र वेग से प्रविष्ट हो रहे हैं और कई तो चूर्णित तथा रक्तरंजित सिरोंवाले इनके शक्तिरूपी दाँतों के बीच फँसे हुए दिखाई दे रहे हैं। राष्ट्र-के-राष्ट्र, अदम्य वेग के साथ, इनके ज्वालामय मुखों के अन्दर उसी प्रकार संहार की ओर भागे चले जा रहे हैं, जैसे अनेकानेक नदियों की वेगवती धाराएँ समुद्र की ओर दौड़ी चली जाती हैं या जैसे पतंग प्रदीप्त अग्नि-शिखा पर टूट-टूटकर पड़ते हैं। उन प्रज्वलित मुखों से वह उग्ररूप दशों दिशाओं को ग्रसे जा रहा है; सम्पूर्ण जगत् उनकी संदीप्त तेजराशि से परिपूर्ण है तथा उनकी उग्र प्रभाओं में प्रतप्त हो रहा है। जगत् और उसके राष्ट्र संहार के भय से कंपित तथा व्यथित हो रहे हैं और अपने चारों ओर फैले हुए दुःख-कष्ट और महाभय के बीच अर्जुन भी दुःखित और भय-भीत हो रहा है; उसकी अंतरात्मा दुःखित और व्यथित हो रही है और वह शांति या प्रसन्नता नहीं अनुभव कर रहा है। वह उन रौद्र परमेश्वर से कहता है, "कृपा करके बताइये कि आप कौन हैं, आप जो कि इस उग्र रूप को धारण करते हैं। हे देववर, आपको प्रणाम हो, आप प्रसन्न होइये। मैं जानना चाहता हूँ कि

---

१. अ. ११ श्लोक १५, १६, १७, १८

आप, जो कि आदि काल से चले आ रहे हैं, वे आप कौन हैं, क्योंकि मैं आपकी कार्य-प्रवृत्ति के संकल्प को नहीं जानता।"[1]

अर्जुन की यह अंतिम पुकार इस बात को सूचित करती है कि इस विश्वरूप-दर्शन का दोहरा उद्देश्य है। यह उन परात्पर तथा विराट् पुरुष का रूप है जो सनातन पुराण पुरुष हैं, **'सनातनं पुरुषं पुराणम्'**, ये वे हैं जो सदा ही सृष्टि करते हैं, क्योंकि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा इनके शरीर के अन्दर देखे हुए देवों में से एक हैं, साथ ही ये वे हैं जो सदा ही इस लोक के अस्तित्व को बनाये रखते हैं, क्योंकि वे शाश्वत धर्मों के रक्षक हैं, पर ये वे भी हैं जो सदैव संहार कर रहे हैं जिससे कि वे नई सृष्टि कर सकें, जो काल तथा मृत्यु हैं, सौम्य तथा रौद्र नृत्य करनेवाले रुद्र हैं, संग्राम में नग्न नृत्य करती हुई रौंदती चली जानेवाली और निहत असुरों के रक्त से सनी हुई मुण्डमालाधारिणी काली हैं, आंधी-बवंडर, आग, भूचाल, व्यथा, दुर्भिक्ष, विप्लव, विनाश तथा प्रलयंकर समुद्र हैं। अपने इस अंतिम रूप को ही वे उस समय सामने लाते हैं। यह वह रूप है जिससे मनुष्य का मन जान-बूझकर परे भागता है और जिससे वह शुतुरमुर्ग की तरह अपना सिर छुपा लेता है ताकि शायद स्वयं न देखने पर वह उस 'रौद्र' की भी नजर में न आये। दुर्बल मानव हृदय केवल सुन्दर तथा सुखद सत्यों को ही चाहता है अथवा उनके अभाव में मनोहर गाथाओं को ही पसंद करता है; वह सत्य को उसकी समग्रता में नहीं प्राप्त करना चाहता, क्योंकि सत्य में ऐसा बहुत कुछ है जो स्पष्ट, मनोहर तथा सुखद नहीं है, इतना ही नहीं, बल्कि जिसे समझना कठिन है तथा सहन करना और भी कठिन। कच्चा धर्मवादी, उथला आशावादी विचारक, भावुक आदर्श-वादी, अपने भावों तथा संवेदनों का दास मनुष्य विश्व-सत्ता के कठोरतर परि-णामों तथा कर्कशतर और उग्रतर रूपों को ऐंचतान कर उनसे बचने में एकमत हैं। छिपने-बचने के इस सर्वसाधारण खेल में भाग न लेने के कारण भारतीय धर्म की अज्ञानपूर्वक निन्दा की गयी है, क्योंकि, इसके विपरीत, उसने परमेश्वर के रौद्र भयानक तथा मधुर और सुन्दर प्रतीकों को साथ-साथ निर्मित किया और अपने सामने रखा है। क्योंकि यह उसके सुदीर्घ चिंतन तथा आध्यात्मिक अनुभव की गंभीरता तथा विशालता ही है जो उसे इन निस्सार जुगुप्साओं को अनुभव करने या इनका समर्थन करने से रोकती है।

भारतीय आध्यात्मिकता को मालूम है कि ईश्वर प्रेम, शान्ति तथा अचल नित्यता हैं,—गीता, जो इन उग्र रूपों को हमारे सामने रखती है, उन परमेश्वर की बात कहती है जो सर्वभूतों के सखा और प्रेमी के रूप में इनके अन्दर अपनेको

---

१. अ. ११ श्लोक ३१

मूर्तिमंत करते हैं। परन्तु उनके द्वारा किये जानेवाले जगत् के दिव्य शासन का एक अधिक कठोर रूप भी है, जो आरम्भ से ही हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, वह है संहार का रूप। उसकी उपेक्षा करना भागवत प्रेम, शान्ति, स्थिरता और नित्यता के पूर्ण सत्य से वंचित होना है और यहांतक कि इसे आंशिकता तथा भ्रम का रूप देना है, क्योंकि जिस सुखप्रद ऐकांतिक रूप में इसे उपस्थित किया जाता है, वह जिस जगत् में हम रहते हैं उसकी प्रकृति के द्वारा प्रमाणित नहीं होता। हमारा यह संघर्षात्मक तथा प्रयासमय जगत् उग्र, भयावह विनाशकारी तथा भक्षक जगत् है जिसमें जीवन का अस्तित्व संशयग्रस्त है, तथा मनुष्य की आत्मा और देह भारी संकटों के बीच विचरण करते हैं, यह एक ऐसा जगत् है जिसमें आगे उठाये जानेवाले प्रत्येक कदम के द्वारा, हम चाहें या न चाहें, कोई चीज पद-दलित या छिन्न-भिन्न हो जाती है, जिसमें जीवन का प्रत्येक श्वास मृत्यु का भी प्रश्वास है। जो कुछ भी हमें अशुभ या भीषण प्रतीत होता है उस सब की जिम्मेवारी एक अर्द्ध-सर्वशक्तिमान शैतान के कंधों पर डाल देना या उसे प्रकृति का अंग कहकर एक ओर रख देना और इस प्रकार जगत्-प्रकृति तथा ईश्वर-प्रकृति में अलंघ्य विरोध खड़ा कर देना, मानों प्रकृति ईश्वर से स्वतंत्र हो, अथवा उस सबकी जिम्मेवारी मनुष्य तथा उसके पापों पर लाद देना मानों इस जगत् की रचना में उसकी आवाज का बड़ा भारी महत्त्व हो या वह ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध कोई एक भी चीज रच सकता हो,—ये सब ऐसी युक्तियाँ हैं जो भद्दे ढंग से सांत्वना देनेवाली हैं तथा भारत की धार्मिक विचारधारा ने जिनकी शरण कभी नहीं ली। हमें सत्य पर, आमने-सामने, साहस के साथ दृष्टिपात करना होगा और देखना होगा कि परमेश्वर ने ही, और किसी ने नहीं, अपनी सत्ता के अन्दर इस जगत् का निर्माण किया है और उन्होंने इसे इस प्रकार का ही बनाया है। हमें देखना होगा कि अपनी संतानों को निगलनेवाली प्रकृति, प्राणियों के जीवनों को हड़प जानेवाला काल, अटल तथा सार्वभौम मृत्यु, तथा मनुष्य और प्रकृति में निहित हिंसक रुद्र शक्तियाँ भी, अपने एक अन्यतम वैश्व रूप में, वह परमोच्च ईश्वर ही हैं। हमें देखना होगा कि वे उदार तथा मुक्तहस्त स्रष्टा तथा सर्वसहायक, शक्तिमान् और दयालु जगत्पालक ईश्वर ही भक्षक तथा संहारक ईश्वर भी हैं। दुःख-ताप और अशिव की शय्या पर शिकंजों से कसे हुए हम जो यंत्रणा भोग रहे हैं वह भी उतना ही उनका स्पर्श है जितना कि सुख-आनन्द और माधुर्य। जब हम पूर्ण एकत्व की आँख से देखते तथा अपनी सत्ता की गहराइयों में इस सत्य को अनुभव करते हैं केवल तभी हम उस छद्मरूप के पीछे भी आनंदमय परमेश्वर की शांत और सुन्दर मुखछवि पूर्ण रूप से निहार

सकते हैं और हमारी त्रुटियों की परीक्षा करनेवाले इस स्पर्श में भी मनुष्य की आत्मा के सखा और निर्माता का स्पर्श पूर्णतया अनुभव कर सकते हैं। लोक और जगत में जो असामंजस्य हैं वे ईश्वरके ही असामंजस्य हैं और उन्हें स्वीकार करके तथा उनमें से होकर आगे बढ़ते हुए ही हम उनके परम सामंजस्य की महत्तर सुर-संगतियों तक तथा उनके विश्वातीत और विश्वगत आनंद की ऊँचाइयों और हर्ष-स्पंदित विशालताओं तक पहुँच सकते हैं।

गीता ने जो समस्या उठायी है तथा जो समाधान दिया है वे विश्व-पुरुष के दर्शन के इसी स्वरूप की माँग करते हैं। वह उस महान् युद्ध, विनाश और जन-संहार की समस्या है जिसे सर्व-परिचालक संकल्प ने जन्म दिया है और जिसमें सनातन अवतार स्वयमेव रणनायक के सारथी बनकर उतरे हैं। विश्वरूप के दर्शन करनेवाला ही स्वयं नायक है, वही मनुष्य की संघर्षशील आत्मा का प्रतिनिधि है जिसे अपने विकास में बाधा पहुँचानेवाली क्रूर तथा अत्याचारी शक्तियों का विध्वंस करना है और इस प्रकार सत्ता के उच्चतर सद्धर्म तथा श्रेष्ठतर विधान के राज्य की प्रतिष्ठा और उपभोग करना है। उसके सामने एक ऐसा महासंकट है जिसमें भाई-भाई एक-दूसरेपर प्रहार करेंगे, जिसमें संपूर्ण राष्ट्र विध्वस्त हो जायेंगे और ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्दैववश स्वयं समाज भी संकट तथा अराजकता के गर्त में जा गिरेगा। उस संकट के घोर रूप से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर वह पीछे हट आया है, अपने दैवनिर्दिष्ट कार्य से इन्कार कर दिया है, और अपने दिव्य सखा तथा गुरु से प्रश्न किया है कि क्यों वे उसे ऐसे घोर कर्म में नियुक्त कर रहे हैं, **'किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि।'**[1] तब उसे यह बताया गया है कि जो कोई भी कर्म वह करे उसके दृश्यमान स्वरूप से उसे व्यक्तिगत रूप में कैसे ऊपर उठना होगा, तथा कैसे यह देखना होगा कि कर्त्री शक्ति प्रकृति ही कार्य की करनेवाली है, उसकी अपनी प्राकृतिक सत्ता एक यंत्र है और ईश्वर प्रकृति तथा कर्मों के स्वामी हैं जिनके प्रति उसे अपने कर्मों को बिना किसी कामना या स्वार्थपरता के यज्ञ-रूप में अर्पित करना होगा। उसे यह भी बताया जा चुका है कि भगवान् इन सब चीजों से ऊपर तथा अलिप्त होते हुए भी मनुष्य और प्रकृति तथा उनके कार्यों के अन्दर अपने-आपको व्यक्त करते हैं और यह सब कुछ इस दिव्य अभिव्यक्ति के लय-ताल के अन्दर ही एक गति है। परन्तु अब, जब कि उसे इस सत्य के मूर्त्तिमंत रूप का साक्षात्कार कराया जाता है, उसके अन्दर वह त्रास तथा संहार के इस रूप को भागवत माहात्म्य की प्रतिमूर्ति के कारण परिवर्द्धित देखता है और भयभीत हो उठता है तथा उसे सह नहीं सकता। कारण, सर्वात्मा

१. अ. ३. श्लोक १

को अपने-आपको प्रकृति के अन्दर प्रकट करना ही क्यों चाहिए ? यह मर्त्य सत्ता जो कि एक सृष्टिकारी तथा सर्वग्रासी ज्वाला है—इसका अभिप्राय क्या है, इस विश्वव्यापी संघर्ष तथा इन सतत विपत्संकुल सृष्टिचक्रों का और प्राणियों के इस प्रयास, व्यथा, वेदना तथा विनाश का क्या अभिप्राय है ? वह पुरातन प्रश्न पूछता है तथा सनातन प्रार्थना को उच्छ्वसित करता है, "कृपा करके मुझे बताइये कि आप कौन हैं जो इस उग्र रूप में हमारे सामने आते हैं। मैं जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं—आप जो आदि काल से चले आ रहे हैं, क्योंकि मैं आपके कार्यों का मूल संकल्प नहीं जानता। प्रसन्न होइये।"[१]

भगवान् उत्तर देते हैं कि 'संहार ही मेरे कार्यों का मूल संकल्प है जिसे लेकर मैं यहाँ कुरुक्षेत्र के इस मैदान में, धर्म को कार्यान्वित करने के इस क्षेत्र में, मानव कर्म के इस क्षेत्र में खड़ा हूँ,'—**'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे'** इस वर्णनात्मक पदावलिका प्रतीकात्मक अनुवाद हम 'मानव के कर्मक्षेत्र में' ऐसा कर सकते हैं ; यह एक विश्वव्यापी संहार है जो कालपुरुष की प्रक्रिया में आ उपस्थित हुआ है। 'मेरा एक भविष्यदर्शी प्रयोजन है जो अमोघ रूप से चरितार्थ होता है और किसी मनुष्य का उसमें भाग लेना या न लेना उसे रोक नहीं सकता, बदल या पलट नहीं सकता ; कोई भी कार्य मनुष्य के द्वारा इस भूतलपर किये जा सकने से पहले मेरे द्वारा अपने संकल्प की सनातन दृष्टि में संपन्न किया जाता है। काल के रूप में मुझे पुरानी रचनाओं को नष्ट करना तथा नये, महान् और श्रेष्ठ राज्य का निर्माण करना है। तुझे दिव्य शक्ति तथा प्रज्ञा के मानवीय यंत्र के रूप में इस युद्ध में, जिसे तू रोक नहीं सकता, सत्य के लिए लड़ना तथा इसके विरोधियों का वध करना और उन्हें जीतना है। तुझे, प्रकृति के अन्दर विद्यमान मानव आत्मा को भी, प्रकृति में मेरे दिये हुए फल का, सत्य और न्याय के साम्राज्य का उपभोग करना होगा। तेरे लिए इतना ही पर्याप्त होना चाहिए,—अपनी आत्मा में ईश्वर के साथ एक होना, उनका आदेश प्राप्त करना, उनकी इच्छा के अनुसार कार्य करना, शांत भाव से एक परम प्रयोजन को जगत् में पूर्ण हुए देखना।' "मैं लोकों का क्षय करनेवाला उत्थित और प्रवृद्ध काल हूँ जिसकी कार्यप्रवृत्ति यहाँ राष्ट्रों का संहार करना है। तेरे बिना भी ये सब योद्धा, जो विरोधी सेनाओं में खड़े हैं, जीवित नहीं रहेंगे। इसलिए उठ, यश लाभ कर, अपने शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य का उपभोग कर। मेरे द्वारा, और किसी के द्वारा नहीं, ये पहले से ही मारे जा चुके हैं, हे सव्यसाची ! तू निमित्तमात्र बन। द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य वीर योद्धाओं का, जिनका मेरे द्वारा वध किया जा चुका है, वध

---

१. ११, ३१

कर ; दुःखी और व्यथित मत हो। युद्ध कर, तू युद्ध में शत्रुओं पर विजय लाभ करेगा।"[1] उस महान् तथा घोर कर्म के सम्बन्ध में प्रतिज्ञा और भविष्य-वाणी कर दी गयी है, पर व्यक्ति के द्वारा आकांक्षित फल के रूप में नहीं,—क्योंकि उसके प्रति कोई आसक्ति नहीं होनी चाहिए,—बल्कि भगवदिच्छा के परिणाम के रूप में, संपन्न किये जाने योग्य कार्य के यश और सफलता के रूप में, भगवान् के द्वारा अपनी विभूति के अन्दर अपने-आपको ही प्रदान किये जानेवाले यश के रूप में। इस प्रकार जगत्-संग्राम के नायक को कर्म के लिए अंतिम तथा अलंघ्य आदेश दे दिया गया है।

ये काल तथा विश्व-पुरुष के रूप में व्यक्त कालातीत ही हैं जिनसे कर्म का आदेश प्रादुर्भूत हुआ है। कारण, निश्चय ही जब भगवान् यह कहते हैं कि "मैं भूतों का क्षय करनेवाला काल हूँ", तब उनका अभिप्राय यह नहीं है कि वे केवल काल-पुरुष हैं या काल-पुरुष का सम्पूर्ण सारतत्व संहार ही है, वरन् यह कि उनके कार्यों की वर्तमान प्रवृत्ति यही है। संहार सदा ही सृष्टि के साथ कदम मिलाकर चलनेवाला या पर्याय से आनेवाला तत्त्व है और संहार करके तथा नये सिरे से रचना करके ही जीवन के स्वामी जगत् के प्रतिपालन का अपना सुदीर्घ कार्य सम्पन्न करते हैं। और फिर, संहार प्रगति की पहली शर्त है। आंतरिक दृष्टि से, जो आदमी अपनी निम्नतर स्व-रचनाओं को नहीं मिटाता वह महत्तर जीवन की ओर नहीं उठ सकता। बाहरी दृष्टि से भी, जो राष्ट्र, समाज या जाति अपने जीवन के अतीत रूपों को नष्ट और परिवर्तित करने से चिरकाल तक कतराती रहती है वह स्वयं ही नष्ट हो जाती है, गल-सड़कर ध्वस्त हो जाती है और उसके ध्वंसावशेष में से अन्य राष्ट्र, समाज और जातियाँ निर्मित होती हैं। पुराने महाकाय जीवों का संहार करके ही मनुष्य ने भूतल पर अपने लिए स्थान बनाया। असुरों के विनाश के द्वारा ही देवता संसार में दिव्य नियम के चक्र की अविच्छिन्नता के साथ रक्षा करते हैं। जो कोई भी युद्ध और संहार के इस नियम से छुटकारा पाने के लिए समय से पूर्व यत्न करता है वह विश्व-पुरुष के महत्तर संकल्प के विरुद्ध एक व्यर्थ की चेष्टा करता है। जो कोई अपने निम्नतर अंगों की दुर्बलता के कारण उससे पीठ फेरता है, जैसा कि अर्जुन ने आरम्भ में किया, वह सच्ची वीरता को नहीं बल्कि प्रकृति, कर्म तथा जीवन के कठोरतर सत्यों का सामना करने के लिए आध्यात्मिक साहस के अभाव को ही दिखला रहा है। अतएव हम देखते हैं कि अर्जुन की पराङ्मुखता की यह कहकर निंदा की गयी कि यह हृदय की क्षुद्र और मिथ्या 'कृपा' है, अकीर्तिकर, अनार्य तथा अस्वर्ग्य दुर्बलता है तथा

१. ११, ३२-३४

आत्मा की क्लीवता है, **'क्लैब्यं क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यम्।'** युद्ध के नियम का अतिक्रमण तो मनुष्य अपनी अमरता के महत्तर नियम को उपलब्ध करके ही कर सकता है। इस संसार में ऐसे लोग हैं जो इसे वहाँ खोजते हैं जहाँ यह सदैव विद्यमान है और जहाँ इसे प्रथमतः प्राप्त करना होता है, अर्थात् शुद्ध आत्मा के उच्चतर स्तरों में, और अतएव वे इसे उपलब्ध करने के लिए मृत्यु के नियमद्वारा शासित जगत् से किनारा खींच लेते हैं। यह एक वैयक्तिक समाधान है जिससे मनुष्यजाति तथा संसार के लिए कोई अंतर नहीं पड़ता या सच पूछो तो केवल इतना ही अंतर पड़ता है कि वे उस अपरिमित आध्यात्मिक शक्ति से वंचित हो जाते हैं जो उन्हें उनके विकास की कष्टप्रद यात्रा में आगे बढ़ने के लिए सहायता पहुँचा सकती थी।

तो फिर वह नरश्रेष्ठ, दिव्य कर्मी, अर्जुन जो वैश्व संकल्प की प्रणालि का उन्मुक्त वाहक है, क्या करे, जब वह विश्व-पुरुष को किसी बड़े भारी विप्लव की ओर मुड़े हुए, राष्ट्रों के विनाश के लिए उत्थित तथा प्रवृद्ध संहारक काल के रूप में अपनी आंखों के सामने मूर्तिमंत देखता है और जब वह अपने-आपको भौतिक शस्त्रास्त्रों के द्वारा युद्ध करने या मनुष्यों का नेतृत्व एवं मार्गदर्शन या प्रेरणा करनेवाले के रूप में अग्रपंक्ति में खड़े हुए पाता है, जैसा कि वह अपने स्वभाव की वास्तविक प्रवृत्ति एवं अपनी अंतःस्थ शक्ति के कारण किये बिना नहीं रह सकता, **'स्वभावजेन स्वेन कर्मणा,'** तब भला उसे क्या करना होगा? क्या उसे युद्ध से विरत होना, चुपचाप बैठ जाना तथा तटस्थता के द्वारा विरोध करना होगा? परन्तु विरति से कुछ नहीं बनेगा, संहार-कारी संकल्प की परिपूर्ति में कोई बाधा नहीं पड़ेगी, बल्कि इससे जो छिद्र पैदा होंगे उनके कारण विशृंखलता और भी बढ़ेगी। भगवान् कहते हैं कि तेरे बिना भी, **'ऋतेऽपि त्वाम्,'** संहार का मेरा संकल्प पूरा होकर रहेगा। यदि अर्जुन युद्ध का त्याग कर देता अथवा यदि कुरुक्षेत्र का युद्ध न भी लड़ा जाता, तो वह त्याग भावी अनिवार्य संकट, गोलमाल तथा विनाश को केवल टाल देता तथा उसे और भी बुरा बना देता। क्योंकि, ये चीजें कोई आकस्मिक घटना नहीं होतीं, बल्कि एक ऐसा अपरिहार्य बीज होती हैं जो बोया जा चुका है तथा एक ऐसी फसल है जिसे काटना ही होगा। जिन्होंने आँधी के बीज बोये हैं उन्हें बवंडर की फसल काटनी ही होगी। असल में उसकी अपनी प्रकृति भी युद्ध का कोई वास्तविक परित्याग नहीं करने देगी, **'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।'** अन्त में भग-वान् गुरु अर्जुन से कहते हैं कि "अपने अहंकार का आश्रय लेकर तू जो यूँ सोचता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तेरा यह निश्चय मिथ्या है : प्रकृति तुझे तेरे कार्य में नियुक्त करेगी। जो कार्य तू मोहवश नहीं करना चाहता वही तू अपने स्वभावजनित

कर्म से बँधा हुआ, विवश होकर करेगा।"[1] तो फिर क्या उसे युद्ध को कोई और ही मोड़ देना होगा, स्थूल शस्त्रास्त्रों की जगह किसी प्रकार के आत्म-बल, आध्यात्मिक पद्धति एवं शक्ति का प्रयोग करना होगा ? पर वह तो उसी कार्य का केवल एक अन्य रूप है ; संहार तो तब भी होगा, और उसे दिया गया मोड़ भी वह नहीं होगा जिसे व्यक्तिगत अहंभाव चाहता है, बल्कि वह होगा जिसे विश्व-पुरुष चाहते हैं। यहाँतक कि, संहार की शक्ति इस नयी शक्ति के सहारे पुष्ट हो सकती है, अधिक भीषण वेग प्राप्त कर सकती है तथा **काली** प्रादुर्भूत होकर अपने अट्टहास्य के घोरतर निनाद से जगत् को भर दे सकती है। जबतक मनुष्य का हृदय शांति का अधिकारी नहीं बनता तबतक सच्ची शांति नहीं स्थापित हो सकती ; जबतक रुद्र का ऋण नहीं चुकाया जाता, विष्णु का विधान प्रभुत्व नहीं प्राप्त कर सकता। तब क्या उसे युद्ध से किनारा कसकर अबतक अविकसित मानवजाति को प्रेम तथा एकता के नियम का उपदेश देना होगा ? इस संसार में प्रेम और एकत्व के नियम के शिक्षकों का तो होना आवश्यक है, क्योंकि अंतिम उद्धार इस ढंग से ही होगा। परंतु जबतक मनुष्य के अंदर अवस्थित काल-पुरुष तैयार नहीं हो जाता तबतक आंतरिक एवं चरम सत्य बाह्य एवं तात्कालिक सत्य पर प्रभुत्व नहीं प्राप्त कर सकता। ईसा और बुद्ध आये और चले गये, परंतु अबतक भी संसार रुद्र की ही हथेली में है। इस बीच अहंभावपूर्ण शक्ति से अत्यधिक लाभ उठानेवाली शक्तियों तथा उनके दासों के द्वारा व्यथित तथा उत्पीड़ित मानवजाति का आगे बढ़ने के लिए उग्रप्रयास संघर्ष के वीरनायक की तलवार तथा इसके पैगंबर की वाणी के लिए ही अलख जगा रहा है।

अर्जुन के लिए नियत सर्वोच्च पथ यह है कि वह निरहंकार होकर, जिस कार्य को वह भगवान् के द्वारा आदिष्ट अनुभव करता है उसका मानवीय निमित्त तथा यंत्र बनकर, **'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्,'**[2] अपने तथा मनुष्य के अंदर अवस्थित ईश्वर का सतत अनुस्मरण करते हुए, **'मामनुस्मरन्,'** तथा अपनी प्रकृति के प्रभु के द्वारा अपने लिए नियत किये हुए किन्हीं भी तरीकों से ईश्वर की इच्छा को कार्य-रूप में परिणत करे। उसे अपने अंदर वैयक्तिक द्वेष, क्रोध, घृणा और अहंमय कामना एवं लालसा को नहीं पोसना होगा, उग्र असुर की भाँति कलह के लिए उतावला नहीं होना होगा, न हिंसा और संहार के लिए तरसना ही होगा, बल्कि उसे अपना लोकसंग्रह का कार्य करना होगा, **'लोकसंग्रहाय।'** कर्म से परे उसे उसकी ओर दृष्टि रखनी होगी जिसकी ओर वह ले जाता है तथा जिसके लिए

---

१. १८, ४९-६०

२. ११-३३

वह युद्ध कर रहा है। क्योंकि, काल-पुरुष जगदीश्वर संहार के लिये संहार नहीं करते, बल्कि विकास की चक्रात्मक प्रक्रिया में एक उत्कृष्टतर राज्य तथा वृद्धिशील अभिव्यक्ति, **'राज्यं समृद्धम्,'** के हित रास्ता साफ करने के लिए ही करते हैं। उसे संघर्ष की महानता तथा विजय के गौरव को,—यदि आवश्यक हो तो, पराजय का छद्मरूप धारण करके आनेवाली विजय के गौरव को,—उस गंभीरतर अर्थ में ग्रहण करना होगा जिसे स्थूल मन नहीं देख पाता, और फिर, अपने समृद्ध राज्य का उपभोग करते हुए, मनुष्य मात्र का भी नेतृत्व करना होगा। संहारकर्ता की आकृति से भयभीत न होकर उसे उसके अंदर उस सनातन आत्मा को देखना होगा जो इन सब नाशवान् शरीरों में अविनाशी है, और साथ ही उस आकृति के पीछे मनुष्य के सारथि एवं नेता, सर्वभूतसुहृत् **'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** के मुखमंडल को देखना होगा। इस विकराल विश्व-रूप को जब वह एक बार देख लेता तथा अंगीकार कर लेता है तो शेष सारा अध्याय इसी आश्वासनदायी सत्य के निरूपण की ओर मोड़ दिया जाता है; अंत में यह सनातन की एक सुपरिचित मुखछवि तथा विग्रह को प्रकाशित करता है।

विश्वरूपदर्शन

संहारक काल

विश्व-पुरुष का दर्शन गीता के उन सुप्रसिद्ध प्रकरणों में से है जो अत्यंत ओजस्वी रूप में काव्यमय हैं, परन्तु गीता की विचारधारा में इसका स्थान पूर्ण रूप से प्रकट नहीं है। स्पष्ट ही यह एक काव्यात्मक तथा सत्योद्भासक प्रतीक के रूप में अभिप्रेत है और इसके आशय को ग्रहण कर सकने के पूर्व हमें देखना होगा कि इसका सूत्रपात कैसे तथा किस प्रयोजन से किया गया है, साथ ही यह भी जानना होगा कि अपने अर्थगर्भित रूपों में यह किस बात की ओर संकेत करता है। अगोचर भगवान् की जीवंत प्रतिमा तथा प्रत्यक्ष महिमा को, जगत् का संचालन करने-वाले परम आत्मा और शक्ति के साक्षात् विग्रह को देखने की इच्छा से अर्जुन ने ही इसके लिए प्रार्थना की है। उसने सत्ता के इस सर्वोच्च आध्यात्मिक रहस्य को श्रवण कर लिया है कि सब कुछ भगवान् से उत्पन्न हुआ है तथा सब कुछ भग-वान् है और सभी चीजों में भगवान् निवास करते तथा गुप्त रूप से विद्यमान हैं और प्रत्येक सान्त दृश्यवस्तु में उन्हें प्रकट किया जा सकता है। वह भ्रम जो मनुष्य के मन तथा इन्द्रियों को इतनी दृढ़ता से अपने अधिकार में रखता है, अर्थात् यह धारणा कि वस्तुएँ ईश्वर से पृथक् अपने-आपमें या अपने लिए अस्तित्व रखती हैं, अथवा प्रकृति के अधीन रहनेवाली कोई भी वस्तु स्वयमेव प्रेरित तथा परि-चालित हो सकती है, उससे दूर हो गयी है,—यही उसके संदेह एवं व्यामोह का तथा कर्म से इन्कार करने का कारण था। अब उसे पता लग गया है कि भूतों के जन्म और मरण का क्या अभिप्राय है। उसे मालूम हो गया है कि दिव्य चिन्मय आत्मा का अक्षय माहात्म्य ही इस सब दृश्य-प्रपंच का रहस्य है। यह सब कुछ वस्तुओं में विद्यमान इन महान् सनातन परमात्मा का योग है और सभी घटनाएँ उस योग का परिणाम तथा प्राकट्य हैं; समस्त प्रकृति निगूढ़ भगवान् से परिपूर्ण है और अपने अन्दर उसी को प्रकाशित करने का कठिन प्रयास कर रही है। परन्तु यदि सम्भव हो तो, वह इन परमेश्वर के साक्षात् रूप तथा

को ही देखा है और भगवान् के साथ केवल मानव प्राणी की तरह ही व्यवहार किया है। वह पार्थिव आवरण को भेदकर उन परमेश्वर तक नहीं पहुँचा है जिनका मानवता आधार और प्रतीक थी, और अब वह उन परमात्मा से प्रार्थना करता है कि मेरे दृष्टिशून्य प्रमाद तथा उपेक्षापूर्ण अज्ञान के लिए मुझे क्षमा कीजिये। "आपको अपना केवल मानवीय सखा तथा साथी समझकर, 'हे कृष्ण, ये यादव, हे सखा' इस प्रकार संबोधित करते हुए, आपकी इस महिमा को न जानते हुए मैंने जोश में आकर, बिना सोचे-विचारे, उपेक्षापूर्ण प्रमाद या प्रणयके कारण जो कुछ कहा है उस सबके लिए, तथा शयन, आसन या भोजन के समय, अकेले या आपकी उपस्थिति में मैंने हँसी-मजाक में आपका जो निरादर किया है उसके लिए, हे अप्रमेय, मैं आपसे क्षमा-याचना करता हूँ। आप इस संपूर्ण चराचर जगत् के पिता हैं; आप पूज्य हैं तथा सत्कार के परम पावन पात्र हैं। हे अप्रतिम प्रभावशाली देव! तीनों लोकों में आपके तुल्य कोई नहीं है, फिर आपसे महान् तो भला कोई हो ही कैसे सकता है? अतएव हे स्तुत्य प्रभो, मैं आपके आगे शीश नवाता हूँ, साष्टांग प्रणाम करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि कृपा करके प्रसन्न होइये। हे देव, आपको मेरी बातें उसी प्रकार सहन कर लेनी चाहियें जिस प्रकार पिता अपने पुत्र की, मित्र अपने मित्र तथा सहचर की और प्रेमी अपने प्रिय की बातें सहता है। मैंने वह रूप देखा है जिसे पहले कभी किसीने नहीं देखा और इससे मैं आनंदित हो रहा हूँ, परन्तु मेरा मन भय से व्यथित हो रहा है। हे देव, मुझे वह अपना वही रूप दिखाइये। मैं आपको पहले की ही भांति मुकुटमंडित तथा गदाचक्रधारी देखना चाहता हूँ। हे सहस्रबाहो, हे विश्वमूर्ते, अपना चतुर्भुज रूप धारण कीजिये।"[1]

इन प्रथम उद्गारों से यह सुझाव सामने आता है कि इन भयावह रूपों के पीछे का गुप्त सत्य एक पुनः आश्वासन देनेवाला प्रोत्साहन और आनंद देनेवाला सत्य है। उसमें कोई ऐसी चीज है जिसके कारण जगत्का हृदय भगवान् के नाम तथा सामीप्य में हर्ष तथा आह्लाद अनुभव करता है। उस वस्तु की गभीर अनुभूति ही हमें काली की घोर आकृति में माँ की मुखछवि के दर्शन कराती है और यहाँतक कि संहार के बीच में भी सर्वभूतसुहृत् की रक्षक बाहुओं, अनिष्ट के बीच भी एक शुद्ध निर्विकार दयालुता की उपस्थिति तथा मृत्यु के मध्य भी अमृतत्व के स्वामी का अनुभव कराती है। दिव्य कर्म के अधीश्वर के भय से राक्षस, अंधकार की भीषण दानवीय शक्तियाँ, ध्वस्त, पराजित एवं पराभूत होकर भाग खड़ी होती हैं। परंतु सिद्ध, अर्थात् पूर्णत्व और सिद्धिको प्राप्त किये हुए लोग जो अविनाशी परमे-

१. ११, ४१-४६

श्वर के नामों को जानते तथा गाते हैं तथा उनकी सत्ता के सत्य में निवास करते हैं, उनके प्रत्येक रूप के सम्मुख शीश झुकाते हैं और जानते हैं कि प्रत्येक रूप किसकी प्रतिमा और प्रतीक है। जो नष्ट करने योग्य हैं, अशुभ, अज्ञान, निशाचर तथा राक्षसी शक्तियाँ, उन्हें छोड़कर और किसी भी चीज को वास्तव में डरने की आवश्यकता नहीं। उग्रदेव रुद्र की समस्त गतिविधि और कार्य-प्रवृत्ति का लक्ष्य संसिद्धि, दिव्य ज्योति और पूर्णता ही होता है।

कारण, ये परमात्मा, ये भगवान् केवल बाह्य रूप में ही संहारक हैं, अर्थात् इन सब सांत रूपों को नष्ट करनेवाले काल हैं : पर अपने-आपमें वे अनंत हैं, वैश्व देवताओं के ईश हैं, जिनके अंदर जगत् तथा उसके समस्त कर्म सुरक्षित रूप से अधिष्ठित हैं, वे आदि तथा सदा उत्पत्ति करनेवाले स्रष्टा हैं, सृष्टिकारिणी शक्ति के उस रूप से अधिक महान् हैं जिसे ब्रह्मा कहते हैं और जिसे वे वस्तुओं के आकार के अंदर अपने व्रत, अर्थात् स्थिति और संहार के संतुलन द्वारा रंग-बिरंगी सृष्टि के एक पक्ष के रूप में हमारे सामने प्रकाशित करते हैं। वास्तविक दिव्य सृष्टि तो नित्य है ; यह वे 'अनंत' ही हैं जो सांत वस्तुओं में नित्य रूप से अभिव्यक्त हैं, वे परमात्मा ही हैं जो अपने-आपको आत्माओं की अगणित अनंतता में, उनके कार्यों की चमत्कृति तथा उनके आकारों की सुषमा में सदा ही छिपाते तथा प्रकट करते रहते हैं। वे सनातन अक्षर हैं ; सत् और असत् तथा व्यक्त और अव्यक्त का, उन वस्तुओं का जो थीं और अब नहीं प्रतीत होतीं, जो हैं और जिनका नष्ट होना दैव-निर्दिष्ट प्रतीत होता है, जो होंगी और फिर नष्ट हो जायंगी उन सबका द्वंद्वात्मक रूप वे ही हैं। परंतु इन सबसे परे वे जो कुछ हैं वह 'तत्' या 'परम' हैं जो सब परिवर्तनशील वस्तुओं को उस काल की, जिसके लिए सब कुछ सदैव वर्तमान है, अखंड नित्यता में धारण करते हैं। वे अपने अक्षर आत्मा को उस कालतीत नित्यता में धारण करते हैं जिनके काल और सृष्टि नित्य-विस्तारशील रूप है।

यह है उनका वह सत्य जिसमें सब कुछ समन्वित हो जाता है ; सभी एक-कालीन तथा अन्योन्याश्रित सत्य सुसमंजस रूपमें इस एक वास्तविक सत्य से उद्भूत होते हैं और सब मिलकर इस एकके ही बराबर होते हैं। यह उस परम आत्मा का सत्य है जिसकी परा प्रकृति से यह जगत् निर्गत हुआ है जो कि उस अनंत का ही एक हीनतर रूप है; यह उन पुराण पुरुष का सत्य है जो कालके सुदीर्घ विवर्तनों की सदा ही अध्यक्षता करते हैं, उन आद्य देवाधिदेव का सत्य है जिनकी देवता, मनुष्य और सब सजीव प्राणी संतानें, शक्तियाँ तथा आत्माएँ हैं जिनका अस्तित्व उनकी सत्ता की वास्तविकता के कारण आध्यात्मिक रूप में उचित ठहरता है ; यह उन ज्ञाता का सत्य है जो मनुष्य के अन्दर अपना, जगत् तथा ईश्वर का ज्ञान विकसित

करते हैं'; 'यह समस्त ज्ञान के उन एकमात्र विषय' का सत्य है जो मनुष्य के हृदय, मन और आत्मा के सम्मुख अपने-आपको प्रकाशित करते हैं, जिससे हमारे ज्ञानका प्रत्येक नया प्रकट होनेवाला रूप उन्हींका आंशिक प्राकट्य होता है और वह उनके उस सर्वोच्च प्राकट्य तक ले जाता है जिसके द्वारा उनका अंतरंग, गभीर तथा सर्वांगीण दर्शन एवं उपलब्धि होती है। यह उन उच्च तथा परम अक्षर पुरुष का सत्य है जो इस विश्व में विद्यमान सभी सत्ताओं को उत्पन्न तथा धारण करते हैं और पुनः अपने अंदर समा लेते हैं। उन्हींने अपनी सत्ताके अंदर अपनी सर्वसमर्थ शक्ति के द्वारा, अपनी अंतहीन सर्जन की अद्‌भुत आत्म-परिकल्पना, शक्ति एवं आनंद के द्वारा इस विश्व को विस्तारित किया है। सब कुछ उनके स्थूल-भौतिक तथा आध्यात्मिक रूपों की अनंतता ही है। लघुतम से लेकर महत्तम तक सब-के-सब देवता वे स्वयं ही हैं, वे प्राणिमात्र के पिता हैं तथा सब उनकी संतति एवं प्रजा हैं। वे उन ब्रह्माके भी मूल हैं जो जीवों की इन विभिन्न जातियों के दिव्य स्रष्टाओं के प्रथम पिता, प्रजापति के पिता हैं। इस सत्य पर बारंबार आग्रह किया गया है। पुनः यह दुहराया गया है कि वे सर्व हैं, प्रत्येक वस्तु हैं, 'सर्वः'। वे अनंत 'विराट' सत् हैं और यहाँ विद्यमान प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक वस्तु हैं, वे एकमात्र शक्ति तथा सत्ता हैं जो हममें से प्रत्येक के अंदर निहित है, वे अनंत चित्-तपस् हैं जो इन अनेकानेक सत्ताओं में अपने-आपको प्रकट करते हैं, गति और क्रिया के वे अपरिमेय संकल्प एवं महान् शक्ति हैं जो अपने-आपमें से ही काल के समस्त प्रवाहों तथा प्रकृतिगत आत्मा की सभी घटनाओं को निर्मित करते हैं।

और फिर, इस सत्य पर किये गये इस आग्रह से, स्वभावतः ही, गीता की विचारधारा मनुष्य के अंदर विद्यमान इस एक महान् देव की उपस्थिति के विषय की ओर मुड़ जाती है। यहाँ विश्वरूप-दर्शन करनेवाले की आत्मा तीन क्रमिक सुझावों से प्रभावित होती है। सर्वप्रथम, उसके चित्त में यह विश्वास जम जाता है कि 'मनु' के इस पुत्र की देह में जो भूतल पर एक नश्वर प्राणी की तरह उसके समीप विचरण करता था, उसके पास बैठता, एक ही पलंग पर उसके साथ लेटता, उसके साथ प्रीतिभोज करता था, हंसी-ठट्ठे तथा असावधानतापूर्ण संभाषण का जो पात्र था और युद्ध, मंत्रणा तथा साधारण कार्यों का अभिनेता था, मरणधर्मा मनुष्य की इस तनु में बराबर ही कोई ऐसी चीज थी जो महान्, निगूढ़ तथा अत्यंत मार्मिक थी, उसके अंदर थे परमेश्वर, अवतार, विराट् शक्ति, एकमेव सद्वस्तु, परमोच्च परात्पर पुरुष। इस गुह्य देवत्व के प्रति, जिसमें मनुष्य तथा उसकी जाति के सुदीर्घ विकास का समस्त मर्म लिपटा पड़ा है और जिससे संपूर्ण जगत्-सत्ता अपना अकथनीय महिमा से युक्त आभ्यंतरिक अर्थ प्राप्त करती है, वह अंध

ही रहा था। केवल अब ही वह वैयक्तिक ढांचे में विद्यमान विश्वात्मा को, मानवता के रूप में मूर्तिमंत भगवान् को तथा प्रकृति के इस प्रतीक में परात्पर अंतर्वासी को देखता है। केवल अब ही उसने इन सब प्रतीयमान पदार्थों की इस अतिगुरु, अनंत, अपरिमेय वास्तव सत्ता के, इस असीम विश्वरूप के दर्शन किये हैं जो प्रत्येक व्यष्टिगत रूप से इतना परे हैं और फिर भी प्रत्येक व्यष्टिभूत पदार्थ जिनका निवास-धाम है। क्योंकि, वह महान् वास्तव सत्ता सम तथा अनंत है और व्यष्टि तथा विश्व दोनों में वह वही एक है। पहले-पहल उसे अपनी अंधता, इन भगवान् को केवल बाह्य मनुष्य समझते हुए उसी रूप में इनके साथ व्यवहार करना, इनके साथ होनेवाले केवल मानसिक तथा भौतिक संबंध को ही देखना वहाँ उपस्थित महामहिम देव के प्रति एक पाप प्रतीत होता है। कारण, वह पुरुष जिसे वह कृष्ण, यादव, सखा कहकर पुकारता था ये अपरिमेय-महिमामय, ये अप्रतिम-प्रभावशाली, सबमें अवस्थित एकमेव परमात्मा ही थे जिनकी ये सब प्रजाएँ हैं। इन्हींको, आवरणकारी बाह्य मानवता को नहीं, **'अवजानन्ति मानुषीं तनुमाश्रितम्'** उसे संभ्रम, समर्पण तथा सम्मान के साथ देखना चाहिये था।

परंतु उसके मनमें दूसरा सुझाव यह आता है कि मानवीय अभिव्यक्ति तथा मानवीय संबंध के रूप में जो कुछ मूर्त्तिमंत था वह भी एक सत्य वस्तु है जो विराट्-पुरुषदर्शन के अति महान् स्वरूप के संग रहती है तथा उसे हमारे मनके लिए कुछ खर्व कर देती है। विश्वातीत तथा वैश्व रूपोंका भी साक्षात्कार करना होगा, क्योंकि ऐसे साक्षात्कार के बिना मानवता की सीमाओं को पार नहीं किया जा सकता। उस एकीकारक एकत्व में सब कुछको समाविष्ट करना होगा। परंतु केवल अपने-आपमें वह एकत्व विश्वातीत आत्मा और अपरा प्रकृति के अंदर बंधी और घिरी हुई इस अंतरात्मा के बीच बड़ी भारी खाई खोद देगा। अपनी अन्यून प्रभा से युक्त अनंत उपस्थिति सीमित, व्यष्टिरूप तथा प्रकृतिगत मनुष्य की पृथक्त्वमूलक क्षुद्रता के लिए अतीव अभिभूतकारी होगी। एक जोड़नेवाली कड़ी की जरूरत है जिसके द्वारा वह इन विराट् परमेश्वर को अपनी वैयक्तिक एवं प्राकृतिक सत्ता में, अपने समीप स्थित देख सके, केवल इस रूप में नहीं कि उसकी संपूर्ण सत्ता को अपनी विश्वव्यापी अपरिमेय शक्ति के द्वारा नियंत्रित करने के लिए वे सर्वशक्तिमान् रूप में उपस्थित हैं, बल्कि घनिष्ठ वैयक्तिक संबंध के द्वारा उसे आश्रय देने तथा एकत्व की ओर उठा ले जाने के लिए मानव-रूप में भी मूर्तिमंत हैं। जिस उपासना के द्वारा सांत प्राणी अनंत के सामने नमन करता है वह उस समय अपना समस्त माधुर्य प्राप्त कर लेती है तथा सख्य और एकत्व के घनिष्ठतम सत्य के निकट पहुँच जाती है जब वह गभीर होकर उस अधिक

घनिष्ठ उपासना का रूप धारण कर लेती है जो ईश्वर के पितृभाव एवं सख्य-भावमें तथा परमात्मा और हमारी मानव आत्मा एवं प्रकृति के बीच होनेवाले आकर्षक प्रेम के भाव में निवास करती है। क्योंकि, भगवान् मानव-आत्मा और देह में वास करते हैं; वे मानव-मन तथा आकार को अपने चारों ओर विरचित करते तथा वस्त्र की न्याईं धारण करते हैं। वे उन मानवीय संबंधों को ग्रहण करते हैं जिन्हें आत्मा मर्त्य शरीर में स्थापित करती है और वे संबंध ईश्वर में अपना निजी पूर्णतम अर्थ एवं महत्तम अनुभूति और चरितार्थता प्राप्त करते हैं। यह वैष्णव भक्ति है जिसका बीज यहाँ गीता के शब्दों में निहित है पर जिसने आगे चलकर अधिक गभीर, उल्लासमय और अर्थपूर्ण विस्तार प्राप्त कर लिया है।

इस दूसरे सुझाव से तुरंत ही एक तीसरा सुझाव उत्पन्न होता है। विश्वातीत और विश्वव्यापी पुरुष का रूप मुक्त आत्मा की सामर्थ्य के लिए एक महान्, उत्साहप्रद तथा शक्तिदायक रूप है, शक्ति का स्रोत है, सम तथा उदात्त करनेवाला और सबका औचित्य सिद्ध करनेवाला दिव्य दर्शन है; परंतु सामान्य मनुष्य के लिए यह अभिभूतकारी, त्रासदायक तथा ग्रहण्यातीत है। और फिर आश्वासन देनेवाला सत्य, ज्ञात हो जाने पर भी, सर्वसंहारक कालके भीषण तथा शक्तिशाली रूप के और अगम्य संकल्प तथा विशाल अप्रमेय गहन क्रिया के पीछे, कठिनाई से ही समझ में आता है। किन्तु दिव्य नारायण का एक मध्यस्थता करनेवाला कृपालु रूप भी है, उन नारायण का जो मनुष्य के इतने निकट तथा उसके अंदर विद्यमान ईश्वर हैं, युद्ध और यात्रा के सारथि हैं, सहायक-शक्ति-स्वरूप चार भुजाओं से युक्त हैं, परमेश्वर के मानव-भावापन्न प्रतीक हैं, सहस्रबाहु विराट् पुरुष नहीं। इस मध्यस्थताकारी रूप को ही हमें नित्य-निरंतर अपने अवलंब के रूप में अपने सम्मुख रखना होगा। क्योंकि, भगवान् का यह नारायण-रूप आश्वासनदायी सत्य का प्रतीक है। यह उस बृहत् आध्यात्मिक हर्ष को घनिष्ठ, प्रत्यक्ष, जीवंत और गोचर बना देता है जिसमें मनुष्य की आभ्यंतरिक आत्मा और उसके जीवन के लिए वैश्व व्यापार, अपनी समस्त विशाल चक्राकार गति, ह्रास तथा विकास के पीछे, सर्वोच्च रूपसे, पर्यवसित होते हैं और जो उनकी अत्यद्भुत मंगलमय परिणति है। इस मानवभावापन्न देहधारी आत्मा के लिए उनकी परिणति यहाँ मिलन, घनिष्ठता, मनुष्य और ईश्वर के सतत सख्य का रूप धारण कर लेती है, अर्थात् मनुष्य जगत् में ईश्वर के लिए जीवन यापन करता है और ईश्वर उसके भीतर निवास करते हैं तथा इस दुर्बोध्य जगत्-प्रक्रिया को उसके अंतर्निहित अपने निजी दिव्य उद्देश्यों के लिए

उपयोग में लाते हैं। इस परिणति से परे सनातनके किये हुए चरम रूपांतरों के साथ एक और भी आश्चर्यमय एकत्व तथा उनमें अंतर्निवास है।

अर्जुन की प्रार्थना के उत्तर में परमेश्वर अपना सामान्य नारायण-रूप, **'स्वकं रूपम्'** प्रसाद, प्रेम, माधुर्य और सौंदर्य से संपन्न अभीष्ट रूप पुनः धारण करते हैं, परंतु, उससे पहले वे उस दूसरे शक्तिशाली रूप की, जिसे वे छिपानेवाले ही हैं, अमित महिमा उद्घोषित करते हैं। वे उसे बताते हैं कि "यह रूप जो तू अब देख रहा है मेरा परम रूप है, तेजोमय, आद्य विश्वरूप है जिसे मनुष्यों में तेरे सिवा और किसी ने अभीतक नहीं देखा। अपने आत्म-योग से मैंने तुझे यह दिखाया है। क्योंकि, यह मेरी वास्तविक आत्मा एवं अध्यात्मसत्ता का रूप है, यह जागतिक सत्ता के रूप में मूर्त्तिमंत साक्षात् पुरुषोत्तम ही हैं। मेरे साथ पूर्ण रूप से योगयुक्त आत्मा इसे स्नायविक अंगों के किसी प्रकारके कंपन या मनके किसी भी भ्रम एवं व्यामोह के बिना देखती है, क्योंकि वह इसकी बाह्य आकृति में विद्यमान भीषण तथा अभिभूतकारी तत्त्व को ही नहीं बल्कि इसके उच्च तथा आवश्यक अर्थ को भी देखती है। और तुझे भी इसे उसी प्रकार बिना भय के, बिना मन के मूढ़भाव तथा इंद्रिय आदि अवयवों के अवसाद के देखना चाहिए, पर, क्योंकि तेरी निम्नतर प्रकृति इसे उस उच्च साहस तथा शांति के साथ देखने के लिए अभी तैयार नहीं है, मैं तेरे लिए अपना वह नारायण-रूप पुनः धारण करूँगा जिसमें मानव मन सुहृद्भूत परमेश्वर की शांति, साहाय्य और आनंद को अमिश्रित तथा अपनी मानवता के अनुकूल मृदुल रूप में देखता है। यह महत्तर रूप"—और ये शब्द इस रूप के अंतर्धान होने के बाद पुनः दुहराये गये हैं—"केवल विरली उच्चतम आत्माओं के लिए ही है। स्वयं देवता भी नित्यप्रति इस रूप के दर्शन की आकांक्षा किया करते हैं। इसे मनुष्य वेद, तप, दान या यज्ञ के बल पर नहीं देख सकता, बल्कि इसे वह सब वस्तुओं में केवल मुझे ही देखने, पूजने और प्रेम करनेवाली भक्ति के द्वारा देख एवं जान सकता है तथा इसके भीतर प्रवेश पा सकता है।"[1]

तब भला इस रूप की वह अनुपम विशेषता क्या है जिसके कारण यह ज्ञान का विषय बनने से इतना ऊपर उठा हुआ है कि मानव-ज्ञान का संपूर्ण सामान्य प्रयास और यहाँतक कि उसके आध्यात्मिक पुरुषार्थ का अंतरतम तप भी, बिना सहायता के, इसके दर्शन उपलब्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं? वह यह है कि अन्य साधनों से मनुष्य एकमेव सत् के इस या उस ऐकांतिक रूप को ही, उस **'एकं सत्'** के व्यक्तिगत, विश्वगत या विश्व-व्यावर्तक रूपों को ही जान सकता है, पर भगवान् के समस्त रूपों के इस महत्तम समन्वयकारी एकत्व को नहीं

१. ११, ४७-५५

जान सकता जिसमें एक ही साथ और एक ही दर्शन में सब कुछ अभिव्यक्त, अतिक्रांत और संसिद्ध रहता है। क्योंकि यहाँ विश्वातीत, विश्वव्यापी और व्यक्तिगत ईश्वर, आत्मा और प्रकृति, अनंत और सांत, देश, काल और कालातीतता, सत्ता और संभूति, जो कुछ भी हम परमेश्वर के बारे में सोचने का यत्न कर सकते हैं तथा जो कुछ उनके बारे में जानते हैं वह सब, फिर चाहे वह निरपेक्ष सत्ता के विषय में हो या व्यक्त सत्ता के, एक अनिर्वचनीय एकत्व में अद्‌भुत ढंग से प्रकाशित हो जाता है। ये दर्शन केवल अनन्य भक्ति एवं प्रेम तथा उस घनिष्ठ एकता के द्वारा प्राप्त हो सकते हैं जो कर्म और ज्ञान की पूर्णता का सर्वोच्च शिखर होती है। उस समय पुरुषोत्तम के इस परमोच्च रूप को जानना तथा देखना और इसमें प्रवेश करना तथा इसके साथ एकमय होना संभव होता है, और गीता अपने योग का यही लक्ष्य हमारे सामने प्रस्तुत करती है। एक परम चैतन्य है जिसके द्वारा परात्पर की महिमा में प्रवेश करना तथा उनके अंदर अक्षर आत्मा और समस्त क्षर भावको धारण करना संभव है,—सबके साथ एकीभूत और फिर भी सबसे ऊपर होना, जगत् को अतिक्रांत कर जाना और फिर भी विश्वगत ईश्वर तथा विश्वातीत ईश्वर दोनों की संपूर्ण प्रकृति का एक साथ आलिंगन करना संभव है। निश्चय ही अपने मन और शरीर की कारा में बद्ध सीमित मनुष्य के लिए ऐसा करना कठिन है : किंतु, भगवान् कहते हैं, "मेरे कर्मोंको करनेवाला बन, मुझे परम पुरुष तथा परम विषय स्वीकार कर, मेरा भक्त बन, आसक्ति से मुक्त और सर्वभूतों के प्रति निर्वैर हो जा ; क्योंकि ऐसा मनुष्य ही मुझे प्राप्त करता है।"[१] दूसरे शब्दों में, निम्न प्रकृति से ऊपर उठना, प्राणिमात्र से एकता, विश्वव्यापी ईश्वर तथा परात्पर भाव के साथ एकत्व, कर्मों में हमारी इच्छा का भगवान् की इच्छा के साथ एकत्व, एकमेव के लिए तथा सर्वगत ईश्वर के लिए परम प्रेम,—यही उस चरम-परम आध्यात्मिक स्व-अतिक्रमण तथा उस अकल्पनीय रूपांतर का मार्ग है।

---

१. ११-५५

मार्ग और भक्त

गीता के ग्यारहवें अध्याय में उसकी शिक्षा का मूल उद्देश्य सफल हो चका है और कुछ हद तक तो वह पूर्ण भी हो गया है। जगत् के लिए तथा उन परमात्मा के साथ एक होकर, जो इसमें और इसके सब प्राणियों में निवास करते हैं तथा जिनके अंदर इसका समस्त कार्य-व्यवहार चलता है, दिव्य कर्म करने का आदेश दिया जा चुका है और विभूति ने उसे स्वीकार भी कर लिया है। शिष्य को उसके सामान्य मानवोचित पुरातन भाव से, उसके अज्ञान के मापदंडों, प्रेरक-भावों, दृष्टिबिंदु तथा अहमात्मक चेतना से तथा उस सबसे दूर हटा लिया गया है जिसने उसके आध्यात्मिक संकट के समय अंतिम रूप से उसका साथ छोड़ दिया था। ठीक वही कार्य जिसे उस आधार पर उसने त्याग दिया था, वही घोर कर्म, वही भयानक संघर्ष अब एक नये आंतरिक आधार पर उसे स्वीकार तथा ग्रहण करा दिया गया है। एक समन्वय साधक महत्तर ज्ञान, एक दिव्यतर चेतना, एक उच्च निर्वैयक्तिक प्रेरक-भाव, आध्यात्मिक प्रकृति की मूल ज्योति से तथा उसकी प्रेरक शक्ति के द्वारा जगत् पर कार्य करती हुई भगवदिच्छा के साथ होनेवाले एकत्व का आध्यात्मिक मानदंड,—यही कर्मों का नया आंतरिक सिद्धांत है जिसे पुराने अज्ञान-युक्त कर्म का रूपांतर करना है। एक ऐसा ज्ञान जो भगवान् के साथ हमारे एकत्व को अपने अंदर समाविष्ट करता है और भगवान् की अनुभूति के द्वारा सब पदार्थों तथा जीवों के साथ सचेतन एकत्व प्राप्त करता है, एक ऐसी इच्छाशक्ति जो अहंकार से रहित हो तथा कर्मों के गुप्त स्वामी के आदेश के द्वारा तथा उनके यंत्र के रूप में ही कार्य करे, एक ऐसा दिव्य प्रेम जिसकी एकमात्र अभीप्सा भूत मात्र के परम आत्मा के साथ घनिष्ठ सान्निध्य प्राप्त करने की ही हो, परात्पर एवं विश्वगत आत्मा और प्रकृति के साथ तथा समस्त प्राणियों के साथ एक ऐसी आभ्यंतरिक और समग्र-बोधात्मक एकता जो इन तीन पूर्णता प्राप्त शक्तियों की एकता के द्वारा संसिद्ध और उपलब्ध हुई हो—यही है वह आधार जो मुक्त आत्मा को उसके कर्मों के लिए प्रदान किया गया है। क्योंकि, इसी आधार पर से उसकी अंतःस्थ आत्मा करणात्मक प्रकृति

को सुरक्षापूर्वक कार्य करने दे सकती है ; वह पतन के समस्त कारण से ऊपर उठ जाता है, अहंभाव और उसकी सीमाओं से मुक्त हो जाता है, पाप, अशुभ और उसके फल के समस्त भय से बच जाता है, बाह्य प्रकृति तथा सीमित कर्म के उस बंधन से, जो कि अज्ञान की ग्रंथि है, ऊँचा उठ जाता है। वह अब और अस्पष्ट आलोक या अंधकार में कार्य न करके ज्योति की शक्ति में कार्य कर सकता है, तथा एक दिव्य अनुमति उसके आचार-व्यवहार के प्रत्येक पग को सहारा देती है। आत्मा की स्वतंत्रता तथा प्रकृतिगत जीव की बद्धावस्था के बीच विरोध होने के कारण जो समस्या उठायी गयी थी वह आत्मा तथा प्रकृति के ज्योतिर्मय समन्वय के द्वारा हल कर दी गयी है। असल में उस विरोध का अस्तित्व अज्ञान-युक्त मन के लिए ही है ; ज्ञानयुक्त आत्मा के लिए उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता।

परंतु इस महान् आध्यात्मिक परिवर्तन के संपूर्ण अर्थ को प्रकाशित करने के लिए अभी कुछ और कहना बाकी है। बारहवाँ अध्याय इस शेष ज्ञान की ओर ले जाता है और उसके बाद के अंतिम छः अध्याय इसे विकसित कर एक महान् और चरम सिद्धांत तक ले जाते हैं। यह बात जिसे कहना अभी बाकी है आध्यात्मिक मोक्ष के संबंध में प्रचलित वैदांतिक विचार तथा उस विशालतर सर्वग्राही स्वतंत्रता के पारस्परिक भेद पर अवलंबित है जिसे गीता की शिक्षा आत्मा के सम्मुख खोल देती है। अब गीता सीधे उस भेद की ओर मुड़ती है। प्रचलित वैदांतिक मार्ग साधक को कठोर और एकांगी ज्ञान के द्वार से ले चलता था। योग, अर्थात् वह एकत्व जिसे वह आध्यात्मिक मुक्ति का साधन तथा तन्मयकारी सारतत्त्व मानता था, शुद्ध ज्ञान का योग था और वह एक परम अक्षर, एक कूटस्थ अनिर्देश्य सत्ता के साथ निस्तब्ध एकत्व था—वह सत्ता है अव्यक्त ब्रह्म, अनंत, शांत, अगोचर एवं दूरस्थ, इस समस्त संबंधमय विश्व से बहुत ही ऊपर अवस्थित। गीतोक्त मार्ग में ज्ञान एक अनिवार्य आधार है सही, पर केवल सर्वांगीण ज्ञान ही। निर्वैयक्तिक सर्वांगीण कर्म सर्वप्रथम अनिवार्य साधन हैं ; परंतु गभीर और विशाल प्रेम तथा आराधना, जिनके प्रति संबंधातीत अव्यक्त, विविक्त और अचल ब्रह्म कोई प्रत्युत्तर नहीं दे सकता,—क्योंकि ये चीजें संबंध तथा घनिष्ठ वैयक्तिक सामीप्य की माँग करती हैं,—मोक्ष, आध्यात्मिक पूर्णत्व एवं अमर आनंद के लिए प्रबलतम और उच्चतम शक्ति हैं। जिन परमेश्वर के साथ मानव की आत्मा को यह घनिष्ठ एकत्व प्राप्त करना है वे अपनी सर्वोच्च भूमिका में निश्चय ही एक अचिंत्य परात्पर हैं, परब्रह्मन् हैं, अर्थात् इतने महान् हैं कि उनकी कोई भी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती ; पर साथ ही वे सब

वस्तुओं के जीवंत परम आत्मा भी हैं। वे महेश्वर हैं, कर्मों के तथा विश्व-प्रकृति के प्रभु हैं। वे प्राणिमात्र के मन, देह और आत्मा से परे भी हैं और साथ ही उनकी आत्मा के रूप में उनके अंदर बसे हुए भी हैं। वे पुरुषोत्तम, परमेश्वर और परमात्मा हैं और इन सब समान रूपों में एक ही अभिन्न और सनातन देवाधिदेव हैं। इस सर्वांगीण समन्वयकारी ज्ञान के प्रति जागरण ही आत्मा की पूर्ण मुक्ति तथा प्रकृति की कल्पनातीत पूर्णता का विशाल द्वार है। अपने सभी रूपों की एकता से समन्वित इन परमेश्वर की ओर ही हमें अपने सब कर्म-कलाप, उपासना और ज्ञान को एक अखंड अंतर्यज्ञ के रूप में मोड़ना होगा। इन परम आत्मा, पुरुषोत्तम में ही, जो विश्व से अतीत हैं पर साथ ही इसकी धारक आत्मा, अंतर्वासी और स्वामी भी हैं, जैसा कि कुरुक्षेत्र के विराट्-रूप-दर्शन में ओजस्वी ढंग से निरूपित किया गया है, मुक्त आत्मा को तब प्रवेश करना होगा जब वह एक बार उनकी सत्ता के सभी तत्त्वों और शक्तियों समेत उनका साक्षात्कार और ज्ञान प्राप्त कर ले तथा उनके बहुविध एकत्व को हृदयंगम करने और उसका रसास्वादन करने में समर्थ हो जाय, **'ज्ञातुं द्रष्टुं तत्त्वेन प्रवेष्टुं च।'**

गीता का मोक्ष एकमेव के भीतर होनेवाले लय में आत्मा की वैयक्तिक सत्ता का आत्म-विस्मृतिपूर्ण विलोप नहीं है, **'सायुज्य मुक्ति'** नहीं है ; वह एक साथ ही सब प्रकार का मिलन है। उसमें परम देवाधिदेव के साथ सत्ता के मूलतत्त्व, चेतना की घनिष्ठता और आनंद की अभिन्नता में पूर्ण एकीभाव किंवा **'सायुज्य'** है,—क्योंकि इस योग का एक लक्ष्य ब्रह्म बनना है, **'ब्रह्मभूत'**। उसमें पुरुषोत्तम की सर्वोच्च सत्ता में नित्य आनंदमय निवास, **'सालोक्य'** है,—क्योंकि यह कहा गया है कि "तू मुझमें निवास करेगा", **'निवसिष्यसि मय्येव'**। उसमें एकीकारक सान्निध्य की स्थिति में शाश्वत प्रेम और भक्ति है, मुक्त आत्मा का उसके दिव्य प्रेमी तथा उसकी असीमताओं को परिव्याप्त करनेवाली आत्मा के द्वारा आलिंगन, **'सामीप्य'** है। उसमें आत्मा की मुक्त प्रकृति का दिव्य प्रकृति के साथ तादात्म्य, अर्थात् **'सादृश्य मुक्ति'** है,—क्योंकि मुक्त आत्मा की पूर्णता है भगवान् के समान ही बन जाना, **'मद्भावमागतः'**, और अपनी सत्ता के विधान एवं अपने कर्म तथा प्रकृति के नियम में उनके साथ एक हो जाना, **'साधर्म्यमागतः'**। पुराणपंथी ज्ञानयोग का लक्ष्य एकमेव अनंत सत् में अगाध लय अर्थात् **'सायुज्य'** है; वह केवल उसीको संपूर्ण मोक्ष समझता है। भक्तियोग नित्य निवास या सामीप्य, **'सालोक्य, सामीप्य'**, को ही महत्तर मोक्ष के रूप में देखता है। कर्मयोग सत्ता तथा प्रकृति की शक्ति में, स्वभाव एवं स्वधर्म में एकत्व, **'सादृश्य'** की ओर ले जाता है : पर गीता अपनी

उदार समग्रता में इन सबको समा लेती है और सभी को एक महत्तम एवं समृद्धतम दिव्य स्वतंत्रता तथा पूर्णता में एकीभूत कर देती है।

इस भेद के विषय में अर्जुन से ही प्रश्न करवाया जाता है। यह स्मरण रखना होगा कि निर्गुण अक्षर पुरुष तथा उन परमात्मा के बीच विभेद जो एक साथ निर्वैयक्तिक सत् भी हैं और दिव्य व्यक्ति भी और इन दोनों से अधिक भी बहुत कुछ हैं,—यह महत्त्वपूर्ण विभेद, जो पीछे के अध्यायों में तथा उस दिव्य "अहम्" में सूचित किया गया है जिसका श्रीकृष्ण 'अहम्', 'माम्' शब्दों द्वारा बारम्बार उल्लेख कर चुके हैं, अभी तक सर्वथा स्पष्ट और सुनिश्चित रूप में नहीं बतलाया गया है। हम इसे सर्वत्र पहलेसे ही देखते आये हैं ताकि हम गीता के संदेश का संपूर्ण मर्म आरम्भ से ही समझते चलें और इस महत्तर सत्य के प्रकाश में नयी दृष्टि से देखी और खोजी हुई उसी जमीन पर हमें फिरसे न चलना पडे, जैसा कि हमें अन्यथा करना ही पड़ता। अर्जुन को सबसे पहले यह आदेश दिया गया है कि वह अपने पृथक् व्यक्तित्व को एकमेव सनातन और अक्षर आत्मा की शांत निर्वैयक्तिकता में निमज्जित कर दे ; यह एक ऐसी शिक्षा थी जो उसकी पहलेकी धारणाओं से भलीभाँति मेल खाती थी और जिससे उसके मन में कोई कठिनाई नहीं पैदा हुई। परन्तु अब उसे इन महत्तम परात्पर एवं विशालतम विराट् परमेश्वर के विश्वरूप का साक्षात्कार कराया गया है और आदेश दिया गया है कि वह ज्ञान, कर्म और भक्ति के द्वारा उनके साथ एकत्व प्राप्त करने का यत्न करे। इसलिए एक संदेह को दूर करने के लिए, जो कि अन्यथा पैदा हो सकता था, वह पूछता है कि इन दोनों में से अच्छा क्या है, "जो भक्त इस प्रकार सतत योगरत रहकर तुझे खोजते हैं, **'त्वाम्'** और फिर जो अव्यक्त अक्षर को खोजते हैं इनमें से कौन अधिक महान योगवित् हैं ?"[1] यह उस भेद की याद दिलाता है जो आरम्भ में "आत्मा में और फिर मुझ में", **'आत्मनि अथो मयि'** आदि वाक्यांशों से किया गया है : अर्जुन उस भेद को **'त्वाम्, अक्षरम् अव्यक्तम्'** इन शब्दों के द्वारा पैने रूप में उपस्थित करता है। वह सार-रूप में कहता है कि आप सर्वभूतों के परम मूल और उद्गम हैं, सब वस्तुओं के भीतर विराजमान उपस्थिति हैं, अपने रूपों के द्वारा विश्व में परिव्याप्त शक्ति हैं, एक ऐसे 'व्यक्ति' हैं जो अपनी विभूतियों में, प्राणियों में, तथा प्रकृति में अभिव्यक्त हैं और अपने महान् विश्व-योग के द्वारा जगत् में तथा हमारे हृदयों में सर्वकर्म-महेश्वर के रूप में विराजमान हैं। इस रूप में मुझे अपनी सारी सत्ता तथा चेतना में, अपने विचारों, भावों और कार्यों में आपको जानना, पूजना तथा आपके साथ योगयुक्त 'सततयुक्त' होना है। पर

१. १२, १

तब इन अक्षर का क्या करना होगा जो कभी व्यक्त नहीं होते, कभी कोई रूप नहीं धारण करते, कर्ममात्र से पीछे हटकर तथा उससे पृथक् होकर अवस्थित हैं, जगत् के साथ अथवा इसकी किसी भी वस्तु के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं स्थापित करते, नित्यमेव शांत, एक, निर्गुण और अचल हैं? सभी प्रचलित विचारों के अनुसार यह नित्य आत्मा महत्तर तत्त्व है और अभिव्यक्तिगत परमेश्वर अवर रूप हैं: 'अव्यक्त' ही नित्य आत्मा है, 'व्यक्त' नहीं। तब भला जो योग अभिव्यक्ति को स्वीकार करता है, अर्थात् एक हीनतर वस्तु को अंगीकार करता है वह वैसा करता हुआ भी एक अधिक महान् योग-ज्ञान कैसे हो सकता है?

इस प्रश्न का श्रीकृष्ण बलपूर्ण तथा निश्चयात्मक शब्दों में उत्तर देते हैं। "जो मुझमें मन लगाकर, नित्ययुक्त होकर परम श्रद्धा के साथ मुझे खोजते हैं उन्हें मैं सर्वाधिक पूर्ण रूप से योगयुक्त मानता हूँ।"[१] परम श्रद्धा वह है जो सबके अन्दर ईश्वर को देखती है और उस श्रद्धा के नेत्र के लिए अभिव्यक्ति तथा अनभिव्यक्ति एक ही परमेश्वर हैं। पूर्ण मिलन या योगयुक्त भाव वह है जो प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक कार्य में तथा संपूर्ण प्रकृति के साथ भगवान् से मिलता है। परन्तु परमेश्वर कहते हैं कि जो एक दुष्कर आरोहण के द्वारा अनिर्देश्य अव्यक्त अक्षर की ही खोज करते हैं वे भी मुझे ही प्राप्त करते हैं। क्योंकि, वे अपने लक्ष्य में भ्रांत नहीं हैं, किन्तु वे एक अधिक कठिन तथा कम पूर्ण और कम सिद्ध मार्ग का अनुसरण करते हैं। उस मार्ग के सरलतम रूप में, उन्हें अव्यक्त कूटस्थ तक पहुँचने के लिए यहाँ विद्यमान व्यक्त अक्षर के द्वारा ही आरोहण करना होता है। यह व्यक्त अक्षर मेरी ही अपनी सर्वव्यापक निर्वैयक्तिकता और नीरवता है; यह बृहत्, अचिंत्य, ध्रुव, अचल, सर्वव्यापक 'अक्षर' पुरुष व्यक्तित्व के व्यापार को धारण करता है पर उसमें भाग नहीं लेता। यह मन की पकड़ में नहीं आता; इसे केवल निश्चल आध्यात्मिक निर्वैयक्तिकता और नीरवता के द्वारा ही उपलब्ध किया जा सकता है और जो लोग केवल इसी का अनुसंधान करते हैं उन्हें मन तथा इंद्रियों के व्यापार को पूर्ण रूप से नियंत्रित करना और यहाँतक कि उसे सर्वात्मना अपने अन्दर समेट लेना होता है। परन्तु फिर भी अपनी बुद्धि की समता के कारण सब पदार्थों में एक ही आत्मा को देखने तथा सर्वभूतों के हित में निरत नीरव चित्त की शांत दयालुता के कारण वे भी सब पदार्थों तथा प्राणियों में मुझसे ही मिलते हैं। जो लोग सर्वभावेन भगवान् के साथ युक्त होते हैं, और जगत् के पदार्थों के अचिंत्य जीवंत स्रोत में, **'दिव्यं पुरुष-**

१. १२, २

अचिन्त्यरूपम्' में व्यापक और पूर्ण रूप से प्रवेश करते हैं, उनके समान ही, इस कठिनतर ऐकांतिक एकत्व के द्वारा संबंधातीत अव्यक्त कूटस्थ की ओर आरोहण करनेवाले ये जिज्ञासु भी अंत में उसी सनातन को प्राप्त करते हैं। परन्तु यह कम सीधा तथा अधिक दुर्गम मार्ग है ; यह अध्यात्मभावित मानव प्रकृति की पूर्ण और स्वाभाविक गति नहीं है।

और यह नहीं समझ लेना चाहिए कि क्योंकि यह अधिक दुर्गम है, इसलिए यह एक उच्चतर एवं अधिक फलप्रद पद्धति है। गीता का सुगमतर मार्ग उसी चरम मोक्ष की ओर अधिक तेजी से, अधिक स्वाभाविक और सर्वसुलभ रूप से ले जाता है। क्योंकि, उसका दिव्य 'पुरुष' को स्वीकार करना देहधारी प्रकृति की मानसिक तथा ऐन्द्रियक सीमाओं के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति को नहीं सूचित करता। इसके विपरीत, वह आवागमन के प्राकृत बंधन से शीघ्र ही और प्रभावशाली रूप में मुक्त कर देता है। ऐकांतिक ज्ञानमार्ग का योगी अपनी प्रकृति की बहुविध माँगों के साथ एक दुःखदायी संघर्ष को अपने ऊपर लाद लेता है ; यहाँतक कि वह उन्हें उनकी उच्चतम तृप्ति प्रदान करने से भी इन्कार करता है और अपनी आत्मा के ऊर्ध्वमुख संवेगों को भी उखाड़ फेंकता है जब कभी वे संबंधों को अपने अंतर्गत रखते हैं अथवा निषेधकारी 'केवल' से कुछ नीचे रह जाते हैं। दूसरी ओर, गीता का जीवंत मार्ग हमारी संपूर्ण सत्ता की अत्यंत बलवती ऊर्ध्वमुख प्रवृत्ति को ढूँढ़ निकालता है और उसे ईश्वर की ओर मोड़कर ज्ञान, संकल्प, भाव और पूर्णत्व की सहज प्रेरणा को आरोही मोक्ष के इतने सारे सशक्त पंखों की न्याईं प्रयुक्त करता है। अपने अनिर्देश्य एकत्व से युक्त अव्यक्त ब्रह्म एक ऐसी सत्ता है जिसतक देहधारी आत्माएँ केवल पहुँच ही सकती हैं, और सो भी बड़ी कठिनाई के साथ और सभी अवदमित अंगों के अनवरत दमन तथा पीड़न और प्रकृति के उग्र कष्ट-क्लेश के द्वारा ही, **'दुःखमवाप्यते, क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्।'** वह अनिर्देश्य एकत्व अपनी ओर आरोहण करनेवाले सभी लोगों को स्वीकार करता है, पर आरोहण करनेवाले को न तो किसी प्रकार की संबंधात्मक सहायता प्रदान करता है और न उसे पैर जमाने की जगह ही देता है। सब कुछ कठोर तपस्या और कठिन तथा असहाय वैयक्तिक पुरुषार्थ के द्वारा ही करना होता है। पर जो गीतोक्त मार्ग के अनुसार पुरुषोत्तम की खोज करते हैं उनका प्रयास कितने भिन्न प्रकार का है! जब वे एक ऐसे योग के द्वारा पुरुषोत्तम का ध्यान करते हैं जो वासुदेव के सिवा और किसी को नहीं देखता, क्योंकि वह सबको उन्हींके रूप में देखता है, तो वे प्रत्येक स्थल पर, प्रत्येक क्षण, सदा-सर्वदा अपने अगणित रूपों तथा आकृतियों के साथ उनसे मिलते हैं,

उनके अंदर के ज्ञानदीप को ऊपर उठाते हैं तथा उसकी दिव्य सुखद ज्योति से संपूर्ण सत्ता को परिप्लावित कर देते हैं। उससे आलोकित होकर वे प्रत्येक रूप तथा आकार में परमात्मा को निहारते हैं, समस्त प्रकृति के द्वारा प्रकृति के प्रभु को प्राप्त करते हैं और इसके साथ ही साथ सब भूतों के द्वारा भूतमात्र की अंतरात्मा को, 'अपने-आप'के द्वारा उस सबकी, जो कुछ कि वे हैं, आत्मा को प्राप्त करते हैं ; तुरंत ही वे सैकड़ों खुलते हुए मार्गों को एक साथ पार करते हुए उसमें प्रवेश करते हैं जिससे प्रत्येक वस्तु का उद्भव होता है। इसके विपरीत, कठिन संबंधशून्य निस्तब्धता की पद्धति कर्ममात्र से परे हटने का यत्न करती है यद्यपि देहधारी प्राणियों के लिए ऐसा करना असंभव है। पर यहाँ सब कार्य कर्म के परम प्रभु के प्रति उत्सर्ग कर दिये जाते हैं और वे प्रभु परम संकल्प-शक्ति के रूप में हमारे यजन-संकल्प से मिलते हैं, उसका भार उससे लेकर हमारी अंत:स्थ दिव्य प्रकृति के कार्यों का दायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य तथा प्राणिमात्र के प्रेमी और सखा का भक्त प्रेम के उदात्त आवेगों में अपनी चेतना के संपूर्ण अंतस्तल और आनंद की समस्त उत्कंठा को उन परमात्मा की ओर लगा देता है तब वे शीघ्र ही रक्षक और उद्धारक के रूप में उसके सम्मुख उपस्थित होते हैं और उसके मन, तन और हृदय का सुखद आलिंगन करके उसे इस मृत्युसमाकुल संसार-सागर की लहरों से उबार लेते हैं और सनातन के सुरक्षित वक्षस्थल में ऊपर उठा ले जाते हैं।

सो, सबसे अधिक द्रुत, विशाल और महान् मार्ग यही है। परमेश्वर मानव-आत्मा से कहते हैं, अपना संपूर्ण मन मुझमें लगा दे, अपनी समस्त बुद्धि मुझमें निवेशित कर दे : मैं उन्हें दिव्य प्रेम, संकल्प और ज्ञान की स्वर्गीय ज्योति से परिप्लुत करके अपनी ही ओर, जहाँसे ये सब चीजें प्रवाहित होती हैं, ऊपर उठा ले जाऊँगा। इस मर्त्य जीवन से ऊपर तू मेरे अंदर ही निवास करेगा, इस विषय में संशय मत कर। सीमा में बाँधनेवाली पार्थिव प्रकृति की शृंखला शाश्वत प्रेम, संकल्प और ज्ञान की स्पृहा, शक्ति और ज्योति के द्वारा ऊपर उठी हुई अक्षर आत्मा को जकड़कर नहीं रख सकती। इसमें संदेह नहीं कि इस मार्ग में भी कठिनाइयाँ हैं ; क्योंकि यहाँ भी अपने प्रचंड या स्थूल अधोमुख आकर्षण से युक्त निम्नतर प्रकृति का अस्तित्व है जो आरोहण की गति का प्रतिरोध करती है, उसके साथ संघर्ष करती है और उन्नयन तथा ऊर्ध्वमुख हर्षोल्लास के पंखों को अवरुद्ध कर देती है। आरंभ में महान् चमत्कारक घड़ियों में या शांत और भव्य अवधियों में दिव्य चेतना के प्राप्त हो जाने पर भी, उसे न तो तुरत पूर्ण रूप से धारण किया जा सकता है और न इच्छानुसार उसका पुनः आह्वान

ही किया जा सकता है ; व्यक्तिगत चेतना को दृढ़तापूर्वक भगवान् पर एकाग्र रख सकना प्रायः ही असाध्य प्रतीत होता है ; ऐसी निशाएँ आती हैं जब कि व्यक्ति दीर्घकाल तक प्रकाश से निर्वासित रहता है, विद्रोह, संदेह या विफलता की घड़ियाँ अथवा अवसर आते हैं। परंतु फिर भी योगाभ्यास से तथा अनुभव की सतत पुनरावृत्ति के द्वारा वह उच्चतम आत्मा हमारी सत्ता पर हावी होती जाती है और हमारी प्रकृति को स्थिर रूप से अपने अधिकार में कर लेती है। क्या यह भी मन की बहिर्मुख प्रवृत्ति के बल और आग्रह के कारण अत्यंत कठिन प्रतीत होता है ? यदि ऐसा हो तो इसका एक सरल उपाय है, सब कार्यों को कर्म के स्वामी के लिए करना, जिससे मन की प्रत्येक बहिर्मुख प्रवृत्ति हमारी सत्ता के आंतर आध्यात्मिक सत्य से संबद्ध हो जाय और यहाँतक कि उसे अपनी क्रियाशीलता के समय भी नित्य सद्वस्तु की ओर पुनः आहूत करके अपने उद्गम के साथ संबद्ध किया जासके। तब, पुरुषोत्तम की उपस्थिति प्रकृतिगत मनुष्य के अंदर संवर्धित होती जायगी जबतक कि वह उससे परिपूरित होकर एक देवता और आत्मा ही नहीं बन जाता ; संपूर्ण जीवन ईश्वर के अनवरत स्मरण का रूप धारण कर लेगा और पूर्णता भी वर्धित होगी और उसके साथ ही मानव आत्मा की संपूर्ण सत्ता का परम सत्ता के साथ एकत्व भी।

परंतु हो सकता है कि ईश्वर का यह अविच्छिन्न स्मरण तथा अपने कार्यों को उनकी ओर ऊपर उठा ले जाना भी सीमित मन की सामर्थ्य से परे की वस्तु प्रतीत हो, क्योंकि मन अपनी आत्म-विस्मृति की अवस्था में कार्य तथा उसके बाह्य उद्देश्य की ओर मुड़ जाता है और तब उसे भीतर देखना तथा हमारी प्रत्येक चेष्टा को आत्मा की दिव्य वेदी पर उत्सर्ग करना स्मरण नहीं रहता। ऐसी दशा में उपाय यह है कि कर्म में निम्नतर 'स्व' को संयमित करके फल की कामना के बिना कर्म किये जायँ। समस्त फल का त्याग करना होगा, उसे कर्म का संचालन करनेवाली शक्ति पर उत्सर्ग कर देना होगा और फिर भी, वह शक्ति हमारी प्रवृत्ति पर जिस कार्य को आरोपित करे उसे करना ही होगा। क्योंकि, इस साधन के द्वारा बाधा निरंतर घटती जाती है और आसानी से दूर हो जाती है, मन को ईश्वर का स्मरण करने तथा भगवच्चेतना के स्वातंत्र्य पर अपनेको एकाग्र करने का अवकाश प्राप्त हो जाता है। यहाँ गीता क्षमताओं की एक चढ़ती हुई शृंखला का प्रतिपादन करती है और निष्काम कर्मों के इस योग को सर्वोच्च महत्त्व प्रदान करती है। अभ्यास, अर्थात् किसी पद्धति का निरंतर अनुसरण करना, बारंबार प्रयत्न करना तथा अनुभव प्राप्त करना एक महान् और शक्तिशाली साधन है ; पर इससे भी श्रेष्ठ है ज्ञान अर्थात् विचार को वस्तुओं के पीछे

निहित सत्य की ओर सफल तथा प्रकाशमय रूप में मोड़ना। इस विचारात्मक ज्ञान से भी बढ़कर है सत्य का शांत ध्यान जिससे कि अंत में जाकर चेतना उसमें निवास करने लगे और उससे सदा एकमय रहे। परंतु उससे भी अधिक प्रभावशाली है अपने कर्मों के फल का त्याग क्योंकि वह विक्षोभ के सभी कारणों को तुरंत नष्ट कर डालता है और स्वभावतः ही एक आंतरिक शांति एवं स्थिरता को लाता तथा सुरक्षित रखता है, और शांति एवं स्थिरता ही वह आधार हैं जिसपर अन्य सब कुछ पूर्णत्व लाभ करता है और शांत आत्मा के द्वारा अधिकृत हो कर सुरक्षित हो जाता है। तब चेतना निवृत्ति लाभ कर सकती है, अपने-आपको आनंदपूर्वक भगवान् में समाहित करके निर्विघ्न रूप से पूर्णता की ओर उठ सकती है। और, तभी ज्ञान, संकल्प और भक्ति अपने शिखरों को ठोस शांति की दृढ़ भूमि से नित्यता के व्योम में उठा ले जा सकते हैं।

तब भला, जिस भक्त ने इस मार्ग का अनुसरण किया है और सनातन की उपासना की ओर मुड़ा है, उसकी दिव्य प्रकृति क्या होगी, उसकी चेतना और सत्ता की महत्तर स्थिति क्या होगी? गीता कई-एक श्लोकों में बदल-बदलकर अनेक प्रकार से अपनी पहली आग्रहपूर्ण माँग को, समता, निष्कामता और आत्मा के स्वातंत्र्य की माँग को गुंजारित करती है। इसे तो आधार के रूप में सदा ही रहना होगा,—और इसीलिए इसपर आरंभ में इतना अधिक बल दिया गया था। और, उस समता में भक्ति, अर्थात् पुरुषोत्तम से प्रेम और उनकी आराधना के द्वारा आत्मा को किसी महत्तम एवं उच्चतम पूर्णता की ओर उठाना होगा जिसका यह स्थिर समता विशाल आधार होगी। इस आधारभूत सम चेतना के कई सूत्र यहाँ बताये गये हैं। सर्वप्रथम, अहंभाव का, अहंता और ममता का अभाव, **'निर्ममो निरहंकारः।'** पुरुषोत्तम का भक्त वह है जिसका ऐसा विशाल मन और हृदय है जिसने अहं की सब तंग दीवारों को तोड़ डाला है। सार्वभौम प्रेम उसके हृदय में निवास करता है, उसके अंतर से एक विश्वव्यापी करुणा का समुद्र चतुर्दिक् उमड़ा पड़ता है। वह सर्वभूतों के प्रति मैत्री और करुणा का भाव धारण करेगा तथा किसी भी प्राणी से घृणा नहीं करेगा; क्योंकि वह धैर्यवान्, चिर-सहिष्णु, तितिक्षु और क्षमा का निर्झर होता है। निष्काम संतोष, सुख-दुःख तथा हर्ष-शोक के प्रति शांत समता, दृढ़ आत्म-संयम, योगी का अचल-अटल संकल्प एवं दृढ़ निश्चय और संपूर्ण मन-बुद्धि को ईश्वर के प्रति, उसकी चेतना और ज्ञान के स्वामी के प्रति अर्पित करनेवाला प्रेम और भक्ति—ये सब उसकी संपदाएँ होती हैं। अथवा, सरल शब्दों में कहें तो, वह एक ऐसा व्यक्ति होगा जो क्षुब्ध एवं उत्तेजित निम्न प्रकृति मे तथा उसकी

हर्ष, भय, चिंता, क्रोध और कामना-रूपी लहरों से मुक्त होगा, एक स्थिर आत्मा होगा जिसके द्वारा जगत् व्यथित या उद्विग्न नहीं होगा और न वह स्वयं ही जगत् के द्वारा व्यथित या उद्विग्न होगा, वह एक शांतिमय आत्मा होगा जिसके साथ सब शांतिमयता को प्राप्त करेंगे।

या फिर वह एक ऐसा व्यक्ति होगा जो समस्त कामना और कर्म को अपनी सत्ता के स्वामी के प्रति उत्सर्ग कर चुका होगा, जो पवित्र और शांत, तथा जो कुछ भी हो जाय उसके प्रति उदासीन होगा, किसी भी परिणाम या घटना से व्यथित या दुःखित न होगा, जो आंतर या बाह्य किसी भी कार्य के समस्त अहंकार-मय, वैयक्तिक और मानसिक उपक्रम और आरंभ को अपनेसे परे फेंक चुका होगा, जो दिव्य संकल्प एवं दिव्य ज्ञान को अपने निजी निश्चयों, पसंदगियों और कामनाओं के द्वारा पथच्युत हुए बिना अपने अंदर से प्रवाहित होने देगा, और फिर भी ठीक इसी कारण अपनी प्रकृति के समस्त कर्म में तीव्र और दक्ष होगा, क्योंकि परम संकल्प के साथ यह अविकल एकत्व, यह शुद्ध यंत्र-भाव महत्तम कर्म-कुशलता की शर्त है। और, फिर, वह एक ऐसा व्यक्ति होगा जो न तो प्रिय वस्तु की आकांक्षा करेगा तथा उसके स्पर्श से पुलकित होगा और न ही अप्रिय वस्तु से घृणा करेगा तथा उसके बोझ से दुःखित होगा। वह शुभ और अशुभ घटनाओं के भेद को मिटा चुका है, क्योंकि उसकी भक्ति सभी वस्तुओं को अपने सनातन प्रेमी और प्रभु के हाथों से प्राप्त अच्छी वस्तुएँ समझती हुई समान भाव से उनका स्वागत करती है। ईश्वर का प्रिय ईश्वर-प्रेमी विशाल समत्व से युक्त आत्मा होता है जो मित्र और शत्रु के प्रति सम दृष्टि रखता है, मान-अपमान, सुख-दुःख, निंदा-स्तुति, हर्ष-शोक एवं शीत-उष्ण तथा उन सब चीजों के प्रति सम होता है जो सामान्य प्रकृति को विरोधी भावों से व्यथित करती हैं। वह किसी भी व्यक्ति या वस्तु, स्थान या घर के प्रति आसक्ति नहीं रखेगा ; चाहे किन्हीं भी परिस्थितियों से, ऐसे किसी भी संबंध से जो कि मनुष्य उसके साथ स्थापित करें, किसी भी स्थिति या भाग्य से वह संतुष्ट और तृप्त रहेगा। उसका मन सभी विषयों में स्थिर भाव धारण करेगा, क्योंकि वह (मन) नित्य-निरंतर उच्चतम आत्मा में अवस्थित तथा सदैव अपने प्रेम और आराधन के एक अनन्य दिव्य पात्र में समाहित रहेगा। समता, निष्कामता, निम्नतर अहंमय प्रकृति तथा उसके दावों से मुक्ति सदा ही वह एकमात्र पूर्ण आधार है जिसकी गीता महान् मोक्ष के लिए माँग करती है। वह अपनी प्रथम आधारभूत शिक्षा तथा मूल स्पृहणीय वस्तु पर, सभी वस्तुओं में एक ही आत्मा को देखनेवाली शांत ज्ञानमय आत्मा पर, ज्ञान के परिणाम-स्वरूप प्राप्त होनेवाली शांत निरहंकार

समता, उस समता में कर्मों के प्रभु के प्रति अर्पित निष्काम कर्म, महत्तर अंतर्वासी आत्मा के हाथों में मनुष्य की संपूर्ण मानसिक प्रकृति के समर्पण पर अंततक बारंबार बल देती है। और, इस समता का मुकुट है वह प्रेम जो ज्ञान पर प्रतिष्ठित होता है, यंत्र-भाव से किये जानेवाले कर्म में परिसमाप्त तथा सब वस्तुओं और प्राणियों के प्रति विस्तारित होता है, अर्थात् जो विश्व के स्रष्टा और महेश्वर दिव्य आत्मा, **'सुहृदं सर्वभूतानां सर्वलोकमहेश्वरम्'**[1] के लिए व्यापक, अनन्य तथा सर्वधारक प्रेम होता है।

यह है वह आधार, अवस्था एवं साधन जिसके द्वारा हमें परमोच्च आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करनी है और भगवान् कहते हैं कि जो लोग किसी भी प्रकार इससे युक्त हैं वे सभी मेरे प्रिय हैं, **'भक्तिमान् मे प्रियः।'** परंतु मेरी अत्यंत प्रिय आत्माएँ, **'अतीव मे प्रियाः'** परमेश्वर की अत्यंत निकटवर्ती वे आत्माएँ हैं जिनका ईश्वर-प्रेम उस और भी विशालतर तथा महत्तम पूर्णता के द्वारा पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ है जिसका पथ एवं पद्धति मैंने तुझे अभी बतायी है। ये ही वे भक्त हैं जो पुरुषोत्तम को अपना एकमात्र परम लक्ष्य बनाते हैं और इस शिक्षा में वर्णित अमरत्वसाधक धर्म का अनुसरण पूर्ण श्रद्धा के साथ तथा यथोक्त रीति के अनुसार करते हैं। गीता की भाषा में 'धर्म' का अर्थ है सत्ता तथा उसके कर्मों का स्वाभाविक विधान तथा आंतरिक प्रकृति से निःसृत और उसके द्वारा निर्द्धारित कर्म, **'स्वभावनियतं कर्म।'** मन, प्राण और शरीर की निम्नतर अज्ञ चेतना में अनेक धर्म, अनेक नियम, अनेक मानदंड तथा विधान हैं, क्योंकि मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक प्रकृति के अनेक विभिन्न निर्धारण तथा प्रकार हैं। अमर धर्म एक ही है; वह सर्वोच्च आध्यात्मिक दिव्य चेतना तथा उसकी शक्तियों का, **'परा प्रकृतिः'** का, धर्म है। वह त्रिगुण से परे है, और उसतक पहुँचने के लिए इन सब निम्नतर धर्मों का परित्याग करना होगा, **'सर्वधर्मान् परित्यज्य।'** उनके स्थान पर सनातन की अखंड, मोक्षप्रद एकीकारक चेतना तथा शक्ति को ही हमें अपने कर्म का अनंत उद्गम, उसका साँचा, निर्धारक तथा आदर्श बनाना होगा। अपने निम्नतर वैयक्तिक अहंभाव से ऊपर उठना, निर्विकार सनातन सर्वव्यापी अक्षर पुरुष की निर्वैयक्तिक और सम-स्थिरता में प्रवेश करना और फिर उस स्थिरता से, अपनी समस्त सत्ता और प्रकृति के पूर्ण आत्मसमर्पण के द्वारा, उस पूर्ण स्थिरता के लिए अभीप्सा करना जो अक्षर से इतर और उच्चतर है—यह इस योग की पहली आवश्यकता है। इस अभीप्सा के बल पर मनुष्य अमर धर्म की ओर उठ सकता है। वहाँ, परमतम 'उत्तम पुरुष' के साथ सत्ता, चेतना

---

१. ५, २९

और दिव्य आनंद में एक होकर, उनकी परमोच्च क्रियाशील प्रकृति-शक्ति, 'स्वां प्रकृतिः', के साथ एक होकर मुक्त आत्मा उच्चतम अमरत्व तथा पूर्ण स्वातंत्र्य की वास्तविक शक्ति के साथ अनंत ज्ञान प्राप्त कर सकती है, असीम प्रेम तथा निर्भ्रांत कार्य कर सकती है। शेष गीता इस अमर धर्म पर अधिक पूर्ण प्रकाश डालने के लिए ही लिखी गयी है।

खंड २

परम रहस्य

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ[1]

अपने अन्तिम छः अध्यायों में गीता वह ज्ञान, जिसे भगवान् गुरु अर्जुन को अबतक प्रदान कर चुके हैं, एक और रूप में पुनः निरूपित करती है ताकि निम्नतर प्रकृति से दिव्य प्रकृति की ओर आत्मा के आरोहण का मार्ग एक विशद और पूर्ण ज्ञान पर प्रतिष्ठित किया जा सके। तत्त्वतः तो यह वही ज्ञान है, पर अब इसके ब्योरों तथा संबंधों को सुस्पष्ट करके उन्हें उनका पूर्ण अर्थ प्रदान किया गया है, जिन विचारों एवं सत्यों का केवल चलते-चलाते संकेत कर दिया गया था या किसी अन्य प्रयोजन के प्रकाश में सामान्यतः ही प्रतिपादन किया गया था उनका पूरा-पूरा मूल्य अभी प्रकट किया गया है। इस प्रकार पहले छः अध्यायों में सारी प्रधानता अक्षर आत्मा तथा प्रकृति-समावृत आत्मा के पारस्परिक भेद के लिए अपेक्षित ज्ञान को ही दी गयी थी। वहाँ परम आत्मा एवं परम-पुरुष-विषयक संकेत संक्षित और सर्वथा अस्पष्ट थे। परम पुरुष की परिकल्पना जगत् में कर्मों का समर्थन करने के लिए की गयी थी और उसे आत्मसत्ता का स्वामी प्रतिपादित किया गया था, परन्तु वैसे उसका स्वरूप बतलानेवाली कोई भी बात वहाँ नहीं कही गयी, शेष सत्ता के साथ उसके संबंधों का संकेत तक नहीं किया गया, उन्हें विस्तृत रूप से निरूपित करना तो दूर रहा। बाकी के अध्याय इस अप्रकाशित ज्ञान को विशेष प्रकाश में लाने तथा उसे उसके महत्-प्राधान्य के साथ प्रकट करने के लिये लिखे गये हैं। ईश्वर, परा और अपरा प्रकृति में भेद, सर्वोत्पादक तथा सर्वमय प्रकृतिस्थ परमेश्वर का साक्षात्कार, सर्वभूतों में अवस्थित एकमेव—इन्हींको अगले छः अध्यायों (७-१२) में प्रधानता दी गयी है ताकि ज्ञान के साथ कर्म और भक्ति का मूल एकत्व संस्थापित किया जा सके। परंतु अब परम पुरुष, अक्षर आत्मा, जीव तथा कर्मशील त्रिगुणात्मिका प्रकृति के यथार्थ सबंधों को अधिक सुनिश्चित रूप में प्रकट करना आवश्यक है। अतएव अर्जुन से एक प्रश्न कराया जाता है जो अभीतक अस्पष्ट से रहे हुए इन विषयों पर अधिक विशद प्रकाश डालने का अवसर उपस्थित करे। वह प्रश्न करता है पुरुष और

---

१. गीता, अध्याय १३

प्रकृति के विषय में और यह जानना चाहता है कि प्रकृति का यह क्षेत्र क्या है, इसका ज्ञाता कौन है, ज्ञान क्या है और उस ज्ञान का ज्ञेय कौन है। इस प्रकरण में आत्मा और जगत् के उस समस्त ज्ञान का सार निहित है जिसकी आत्मा को अब भी आवश्यकता है यदि उसे अपने प्राकृत अज्ञान का उन्मूलन करना है तथा ज्ञान, जीवन और कर्म-कलाप के, एवं इन वस्तुओं में विद्यमान भगवान् के साथ अपने संबंधों के समुचित उपयोग को अपना आधार बनाकर जगत् के सनातन आत्मा के साथ अपनी सत्ता के एकत्व की ओर आरोहण करना है।

इन विषयों पर गीता के जो विचार हैं उनका सार, उसकी विचारधारा के चरम विकास को पहलेसे ध्यान में रखते हुए एक हदतक स्पष्ट किया जा चुका है; परंतु उसीकी शैली का अनुसरण करते हुए, हम उसकी वर्तमान विवेचना के दृष्टिबिन्दु से उसका पुनः निरूपण कर दें। कर्म को स्वीकार कर लेने पर, जगत् में भगवद्-इच्छा के यंत्र के रूप में आत्मज्ञान के साथ किये जानेवाले दिव्य कर्म को ब्राह्मी स्थितिके साथ पूर्णतः संगत और ईश्वरोन्मुख गति का अनिवार्य अंग मान लेने पर, उस कर्म को 'परम' के प्रति भक्तिपूर्ण यज्ञ के रूप में आंतरिक तौर पर ऊँचा उठा ले जाने पर, यह मार्ग आध्यात्मिक जीवन के महान् लक्ष्य अर्थात् निम्नतर प्रकृति से उच्चतर प्रकृति में तथा मर्त्य सत्ता से अमर सत्ता में उठने के महान् लक्ष्य पर क्रियात्मक रूप से कैसा प्रभाव डालता है? समस्त जीवन, समस्त कर्म अंतरात्मा और प्रकृति के बीच चलनेवाला व्यापार है। उस व्यापार का मूल स्वरूप क्या है? अपने आध्यात्मिक शिखर पर उसका स्वरूप क्या हो जाता है? जो जीव अपने बाह्य तथा निम्नतर प्रेरक भावों से मुक्त होकर आंतरिक तौर पर परमात्मा की निज उच्चतम स्थिति में तथा उसकी विश्वगत शक्ति की गभीरतम कर्म-संबंधी प्रेरणा में अभिवर्धित हो जाता है उसे वह किस पूर्णता की ओर ले जाता है? ये अंतर्भूत प्रश्न हैं और इनका उत्तर वेदांत, सांख्य एवं योग के जगद्-विषयक विचारों के विशाल समन्वय से, जो गीता की संपूर्ण चिन्तनधारा का आरंभ-बिंदु है, ग्रहण किये गये समाधान के आशय में दे दिया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रश्न भी हैं जिन्हें गीता नहीं उठाती या जिनका वह उत्तर नहीं देती, क्योंकि वे उस युग के मानव-मन के सम्मुख अत्यावश्यक रूप में उपस्थित नहीं थे।

जो जीवात्मा यहाँ प्रकृति के अंदर देहधारी रूप में प्रकट होता है वह अपनी सत्ता का तीन रूपों में अनुभव करता है। सर्वप्रथम, वह अपनेको एक ऐसी आध्यात्मिक सत्ता अनुभव करता है जो आपाततः अज्ञान के द्वारा प्रकृति के बाह्य व्यापारों के अधीन है और प्रकृति की गतिशीलता के भीतर एक कार्यकारी, विचार-

शील एवं क्षर व्यक्तित्व और प्राकृत जीव तथा अहंके रूप में प्रकटित है। इसके आगे जब वह इस समस्त कर्म और गति के पीछे हटता है तो वह पाता है कि उसका उच्चतर सत्स्वरूप वह सनातन तथा निर्व्यक्तिक आत्मा एवं अक्षर आत्मसत्ता है जो कर्म और गति को अपनी उपस्थिति के द्वारा धारण करने तथा एक अविचल, समत्व-युक्त साक्षी की भांति उसे देखने के सिवा उसमें और कोई भाग नहीं लेती। अंत में, जब वह इन दो परस्पर-विपरीत आत्माओं से परे देखता है तो उसे एक महत्तर अनिर्वचनीय सद्वस्तु की उपलब्धि होती है जिससे ये दोनों निःसृत होते हैं, उसे उन सनातन की उपलब्धि होती है जो आत्मा की आत्मा और समस्त प्रकृति एवं समस्त कर्म के प्रभु हैं, और केवल प्रभु ही नहीं हैं अपितु जगत् में अपनी शक्ति के इन व्यापारों के उद्गम, आध्यात्मिक आश्रय तथा रंगस्थल है, और केवल उद्गम तथा आध्यात्मिक आधार ही नहीं हैं बल्कि सभी शक्तियों, सभी पदार्थों तथा सभी सत्ताओं में विराजमान अंतर्वासी आत्मा हैं, केवल अंतर्वासी ही नहीं हैं अपितु अपनी सत्ता की प्रकृति नामक इस सनातनी शक्ति के विकासात्मक स्वरूपों के द्वारा स्वयमेव ये सब बल और शक्तियाँ, सब पदार्थ और सब सत्ताएँ भी हैं। स्वयं यह प्रकृति भी दो प्रकार की है, एक तो है विकारभूत और अपरा, दूसरी मूलभूत और परा। विश्व-यंत्र के परिचालन से संबद्ध एक निम्न प्रकृति है जिसके संग के कारण प्रकृतिस्थ जीव **'त्रैगुण्यमयी माया'** द्वारा जनित एक प्रकार के अज्ञान में निवास करता है, अपने-आपको देहबद्ध मन और प्राण से निर्मित अहं समझता है, प्रकृति के गुणों की शक्ति के अधीन कार्य करता है, अपने-आपको व्यक्तित्व के द्वारा बद्ध, पीड़ित तथा सीमित, जन्म के बंधन तथा कर्म के चक्र से निगड़ित, कामनाओं का पुतला, नश्वर, मरणधर्मा, अपनी प्रकृति का दास समझता है। सत्ता की इस अपरा शक्ति के ऊपर उसकी अपनी वास्तविक सत्ता की उच्चतर, दिव्य और आध्यात्मिक प्रकृति है जिसमें यह जीव सदा के लिये 'शाश्वत' और भगवान् का चिन्मय अंश है, आनंदमय, मुक्त, अपनी संभूति के आवरण से उत्कृष्टतर, अमर, अविनाशी है, भगवान् की एक विभूति है। इस उच्चतर प्रकृति द्वारा, आध्यात्मिक विश्वात्मभाव पर आधारित दिव्य ज्ञान, प्रेम और कर्मों में से होते हुए सनातन की ओर ऊपर उठना पूर्ण आध्यात्मिक मोक्ष की कुंजी है। इतनी बात तो पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है; और अब हमें अधिक विस्तार के साथ यह देखना है कि सत्ता के इस परिवर्तन में और कौन-सी विचारधाराएँ अन्तर्भूत हैं और विशेषकर इन दो प्रकृतियों में क्या भेद है और हमारे कर्म तथा हमारी आत्मिक स्थिति पर इस मोक्ष का कैसा प्रभाव पड़ता है। इस प्रयोजन के लिए गीता उस उच्चतम ज्ञान के, जिसे उसने अबतक पृष्ठभूमि में रख

छोड़ा था, कुछ ब्योरों का विस्तारपूर्वक वर्णन करती है। विशेषतः, वह सत्ता और भूत-भाव तथा आत्मा और प्रकृति के संबंध, तीन गुणों के कार्य, परम मोक्ष, भागवत आत्मा के प्रति मानव आत्मा के विशालतम एवं पूर्णतम आत्म-दान पर विचार करती है। इन अंतिम छः अध्यायों में वह जो कुछ कहती है उस सबमें ऐसा बहुत-कुछ है जो अतीव महत्त्वपूर्ण है, परन्तु उस सबमें परम आकर्षक तो उसका वह अन्तिम विचार है जिसके साथ वह उपसंहार करती है; क्योंकि उसमें हम उसकी शिक्षा का प्रधान भाव, मानव आत्मा के प्रति उसका परम वचन, उसका परमोच्च संदेश पाते हैं।

सर्वप्रथम, समस्त सत्ता को प्रकृति के बीच आत्मा के निर्माण और कर्म का क्षेत्र समझना होगा। गीता 'क्षेत्र' की यह व्याख्या करती है कि यह शरीर ही आत्मा का क्षेत्र कहलाता है, और इस शरीर में कोई पुरुष है जो इस क्षेत्र को जानता है, जो क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति का ज्ञाता है। किन्तु आगे आनेवाली परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल यह स्थूल शरीर ही क्षेत्र नहीं है, बल्कि वह सब भी क्षेत्र है जिसे हमारा शरीर आश्रय देता है, अर्थात् प्रकृति का व्यापार, मन-बुद्धि, हमारी सत्ता के बाह्यान्तर करणों के सब स्वाभाविक कार्य।[1] यह व्यापक शरीर भी केवल व्यष्टिगत क्षेत्र है; परंतु इस ज्ञाता 'पुरुष' का एक अधिक व्यापक सार्वभौम, विश्व-शरीर, विश्व-क्षेत्र भी है। क्योंकि, प्रत्येक देहधारी प्राणी में यही एक ज्ञाता विद्यमान है : प्रत्येक भूत में यह अपनी प्रकृति की शक्ति के इस एकमात्र बाह्य परिणाम को, जिसे इसने अपने निवास के लिये विरचित किया है, **'ईशावास्यं. . .सर्वं यत्किञ्च'**, मुख्यतया और केंद्ररूप से प्रयोग में लाता है; यह अपनी गतिशील ऊर्जा के प्रत्येक पृथक्, व्यष्टिभूत संहत केंद्र को अपने विकासोन्मुख सामंजस्यों का प्रथम आधार और क्षेत्र बनाता है। प्रकृति के अन्दर यह जगत् को उस रूप में जानता है जिस रूप में यह इस एक सीमित शरीर में चेतना को प्रभावित करता तथा इसके अन्दर प्रतिबिम्बित होता है; इस समय तो जगत् हमारे लिए वैसा ही है जैसा यह हमारे पृथक् मन के अंदर दिखायी देता है,—पर अन्त में यह छोटी-सी दीखनेवाली देहबद्ध चेतना भी अपनेको इतना विस्तृत कर सकती है कि यह अपने अन्दर संपूर्ण विश्व को समा ले, **'आत्मनि विश्वदर्शनम्।'** परंतु, भौतिक रूप में, यह ब्रह्माण्ड में एक पिण्ड मात्र ही है, और ब्रह्माण्ड भी, यह विशाल विश्व भी एक देह एवं क्षेत्र है जिसमें क्षेत्रज्ञ आत्मा निवास करती है।

---

१. उपनिषद् कहती है कि प्रकृति के पाँच प्रकार के शरीर या कोष हैं, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा दिव्य शरीर; इन्हें सम्पूर्ण क्षेत्र, 'क्षेत्रम्', समझा जा सकता है।

यह बात तब स्पष्ट हो जाती है जब गीता हमारी सत्ता की इस गोचर देह के स्वरूप, प्रकृति एवं उद्गम का तथा इसके विकारों एवं शक्तियों का निरूपण करने की ओर अग्रसर होती है। तब हम देखते हैं कि अपरा प्रकृति का सारा ही कार्य-व्यापार 'क्षेत्र' शब्द से अभिप्रेत है। वह संपूर्ण व्यापार यहाँ हमारी अन्तःस्थित देहधारी आत्मा का कर्मक्षेत्र है, एक ऐसा क्षेत्र है जिसका वह बोध प्राप्त करती है। प्रकृति-निर्मित यह समस्त जगत् अपने मूल व्यापार में आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दु से जैसा दिखायी देता है उसका विविध और विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें प्राचीन ऋषियों, वैदिक और औपनिषद ऋषियों के छंदों की ओर संकेत किया गया है जिनमें हम परमात्मा के द्वारा सृष्ट इन भुवनों का अंतःप्रेरित एवं अंतर्ज्ञानमय वर्णन पाते हैं, साथ ही इसके लिए हमें ब्रह्मसूत्रों की ओर भी निर्देश किया गया है जो हमारे सामने तार्किक एवं दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। गीता हमारी सत्ता की निम्नतर प्रकृति का सांख्य विचारकों की परिभाषा में संक्षिप्त और व्यावहारिक निरूपण करके ही संतोष कर लेती है। सबसे पहले आती है निर्विशेष अव्यक्त ऊर्जा; तदनंतर, उसमें से पंच महाभूतों का बाह्य विकास; फिर, इंद्रियों, बुद्धि और अहंकार का आंतर विकास; अंत में, इंद्रियों के पांच विषय, या यों कहें कि जगत् के ऐंद्रिय बोध के पांच विभिन्न प्रकार, वे शक्तियाँ जो विश्व-ऊर्जा ने अपने मूल बाह्य उपादान के द्वारा निर्मित पञ्च महाभूतों से उत्पन्न किये हुए नाना रूप पदार्थों के साथ व्यवहार करने के लिए विकसित की हैं,— वे ऐंद्रियक संबंध जिनके द्वारा बुद्धि और इंद्रियों से संपन्न अहं जगत् की रचनाओं पर अपनी क्रिया करता है : यह है क्षेत्र का स्वरूप। फिर, एक सामान्य चेतना है जो ऊर्जा को उसके कार्यों में पहले तो अनुप्राणित करती और तदनंतर आलोकित भी करती है; उस चेतना की एक क्षमता है जिसके द्वारा ऊर्जा पदार्थों के संबंधों को एकत्र धारण करती है; इसी प्रकार, अपने विषयों के साथ हमारी चेतना के बाह्यांतर संबंधों की अविच्छिन्नता और दृढ़ता भी है। ये क्षेत्र की आवश्यक शक्तियाँ हैं; ये सब एक ही साथ मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृति की सर्वसामान्य और सार्वभौम शक्तियाँ भी हैं। सुख और दुःख, राग और द्वेष क्षेत्रके प्रधान विकार हैं। वैदांतिक दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि सुख और दुःख प्राणिक या संवेदनात्मक विकृत रूप हैं जो आत्मा के सहज आनन्द को निम्नतर शक्ति की क्रियाओं के संपर्क में आने पर इसके द्वारा प्राप्त होते हैं। और इसी दृष्टिबिंदु से हम कह सकते हैं कि राग और द्वेष तदनुरूप मानसिक विकृत रूप हैं; ये रूप निम्न शक्ति के द्वारा आत्मा के उस प्रतिक्रियाकारी संकल्प को प्रदान किये जाते हैं जो इस ऊर्जा के संपर्कों के प्रति अपनी प्रति-

क्रिया निर्धारित करता है। ये सुख-दुःख आदि द्वंद्व भावात्मक और अभावात्मक रूप हैं जिनमें निम्नतर प्रकृति का अहंभावापन्न जीव संसार का उपभोग करता है। अभावात्मक रूप—वेदना, घृणा, दुःख, जुगुप्सा आदि—विकृत या, अधिक-से-अधिक, अज्ञान द्वारा विपर्यस्त प्रतिक्रियाएँ हैं : भावात्मक रूप—राग, सुख, हर्ष, आकर्षण—कुप्रेरित प्रतिक्रियाएँ हैं, अथवा अपने अच्छे-से-अच्छे रूपमें भी, ये अपर्याप्त हैं तथा सच्चे आध्यात्मिक अनुभव की प्रतिक्रियाओं से हीनकोटि की हैं।

ये सब चीजें मिलकर इस प्राकृत जगत् के साथ हमारे प्रथम व्यवहारों का मूलभूत स्वरूप हैं, पर स्पष्ट ही यह हमारी सत्ता का संपूर्ण विवरण नहीं है; यह हमारा वर्तमान स्वरूप है पर हमारी शक्यताओं की सीमा नहीं। इससे परे भी कोई वस्तु जानने को है, **'ज्ञेयम्'**, और जब क्षेत्र का ज्ञाता स्वयं इस क्षेत्र से पीछे हटकर इसके अंदर अवस्थित अपनी आत्मा को तथा इसके बाह्य रूपों के पीछे जो कुछ भी है उस सबको जानने के लिए अंतर्मुख होता है, अपने अंदर की ओर मुड़ता है तभी वास्तविक ज्ञान, **'ज्ञानम्'**, ज्ञाता का तथा क्षेत्र का सच्चा ज्ञान आरंभ होता है। वह अंतर्मुखता ही हमें अज्ञान से मुक्त करती है। कारण, जितना ही अधिक हम अंदर जाते हैं, उतना ही अधिक पदार्थों के महत्तर तथा पूर्णतर सत्यस्वरूप को जानते हैं और ईश्वर एवं जीव तथा जगत् एवं इसके व्यापारों दोनों के पूर्ण सत्य को हृदयंगम करते हैं। अतएव, भगवान् गुरु कहते हैं कि क्षेत्र और उसके ज्ञाता दोनों का एक साथ ज्ञान ही, **'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो र्ज्ञानम्'**, संयुक्त और यहाँतक कि एकीकृत आत्मज्ञान तथा विश्व-ज्ञान ही वास्तविक ज्योति और एकमात्र प्रज्ञा है। क्योंकि, आत्मा और प्रकृति दोनों ही ब्रह्म हैं, किंतु प्राकृत जगत् के वास्तविक सत्य को तो केवल वह मुक्त ज्ञानी ही जान सकता है जिसे आत्मा का सत्य भी ज्ञात हो। एकमेव ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति के अंदर विद्यमान एकमेव सद्वस्तु ही ज्ञानमात्र का विषय है।

इसके बाद गीता हमें बताती है कि आध्यात्मिक ज्ञान क्या है, अथवा यों कहें कि वह हमें यह बताती है कि ज्ञान की शर्तें क्या हैं, तथा उस मनुष्य के लक्षण एवं चिह्न क्या हैं जिसकी आत्मा आंतरिक ज्ञान की ओर मुड़ी होती है। ये लक्षण ज्ञानी के माने हुए तथा परंपरागत गुण हैं, जैसे, बाह्य तथा सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति से उसके हृदय की प्रबल पराङ्मुखता, उसकी अंतर्मुख तथा ध्यानशील आत्मा, उसका स्थिर मन तथा शांत समत्व, परम अंतस्तम सत्यों तथा वास्तविक और सनातन वस्तुओं पर उसके विचार तथा संकल्प की स्थिर एकाग्रता। सबसे पहला लक्षण है एक विशेष प्रकार की नैतिक अवस्था, प्राकृत सत्ता का सात्त्विक

नियंत्रण। सांसारिक मान और दंभ का नितांत अभाव उसके अंदर स्थिर रूप से प्रतिष्ठित होता है और इसके साथ ही होती है ऋजु आत्मा, क्षमाशील, चिर-सहिष्णु और दयालु हृदय, तन और मन की शुद्धता, प्रशांत स्थिरता और दृढ़ता, आत्म-संयम, निम्न प्रकृति पर प्रभुत्वपूर्ण शासन और गुरु के प्रति हार्दिक भक्ति, भले ही वे गुरु अंत:स्थ भगवान् हों या कोई मानव जो दिव्य ज्ञान के मूर्त विग्रह हों—गुरु की जो भक्ति की जाती है उसका यही तात्पर्य है। इसके अनंतर उसमें होता है पूर्ण अनासक्ति और समता का एक अधिक उदात्त और मुक्त भाव, इंद्रियों के विषयों के प्रति होनेवाले प्राकृत सत्ता के आकर्षण से दृढ़ विरक्ति, सामान्य मानव को उत्पीड़ित करनेवाली उस अनवरत अशान्त अहं-बुद्धि, अहंभावना तथा अहं-प्रेरणा-की मांगों से आमूल मुक्ति। परिवार और गृह के प्रति उसके अंदर कोई मोह-ममता और लगाव-फंसाव नहीं रहता। इन प्राणिक एवं पाशविक चेष्टाओं के स्थान पर होते हैं आसक्तिशून्य संकल्प तथा इंद्रियानुभव और बुद्धि, इस बात की तीव्र अनुभूति कि देहप्रधान मनुष्य का सामान्य जीवन अपने स्वरूप से ही दोषमय है, क्योंकि यह बिना किसी उद्देश्य के तथा दु:खद रूप से जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि के अधीन है; सभी इष्ट या अनिष्ट घटनाओं के प्रति सतत सम-चित्तता,—क्योंकि आत्मा तो अंतर में विराजमान है तथा बाह्य घटनाओं के आघातों से अभेद्य है,—जन-समूहों और सभा-समितियों के निरर्थक कोलाहल से दूर एकांत-सेवन की ओर अभिमुख ध्यानपरायण मन। अंत में, जो वस्तुएँ वास्तव में महत्त्वपूर्ण हैं उनकी ओर एक तीव्र अंतर्मुख झुकाव होता है, और इसके साथ ही होता है जगत् के वास्तविक अभिप्राय तथा व्यापक मूलतत्त्वों का दार्शनिक अनुभव, अंत-रीय आध्यात्मिक ज्ञान और ज्योति की शांत अविच्छिन्नता, अविचल भक्तियोग, ईश्वर-प्रेम और विश्वव्यापी एवं सनातन उपस्थिति के प्रति हृदय की प्रगाढ़ और अखण्ड आराधना।

जिस अनन्य ध्येय की ओर अध्यात्मज्ञान-युक्त मन को मुड़े रहना होगा वह है सनातन देव जिनमें एकाग्र होने से हमारी तमसाच्छन्न तथा प्रकृति के कुहासे से परिवेष्टित अंतरात्मा अपनी अमर और परात्पर सहजात मूल चेतना को पुन: प्राप्त करके उसका उपभोग करती है। क्षणभंगुर में चित्त लगाने, दृश्य प्रपंच में परिसीमित रहने का अर्थ मर्त्यता को स्वीकार करना है; नाशवान् वस्तुओं में नित्य सत्य उनके अंदर का वह तत्त्व है जो अंतरीय तथा अपरिवर्तनीय है। जीव जब अपने-आपको प्रकृति के स्थूल रूपों से उत्पीड़ित होने देता है तो वह अपनेको खो बैठता है और अपने शरीरों के जन्म-मरण के चक्कर काटता रहता है। इन शरीरों में व्यक्तित्व के परिवर्तनों तथा उसके हितों का आवेगपूर्वक बेहद पीछा

करता हुआ वह अंतर्मुख होने में समर्थ नहीं होता और अतएव अपनी निर्वैयक्तिक तथा जन्म-मरणरहित आत्मसत्ता की उपलब्धि नहीं कर सकता। ऐसा करने में समर्थ होने का अर्थ है अपने-आपको खोजकर अपनी उस वास्तविक सत्ता को पुनः प्राप्त कर लेना जो ये जन्म धारण करती है पर अपने रूपों के नाश के साथ नष्ट नहीं हो जाती। उस नित्य सत्ता का उपभोग करना आत्मा की सच्ची अमरता और परात्परता है जिसके निकट जन्म और जीवन केवल बाह्य परिस्थितियाँ मात्र हैं। वह नित्य सत्ता या नित्य पुरुष ब्रह्म है। ब्रह्म वह 'तत्' है जो विश्वातीत है और साथ ही विश्व-व्याप्त भी है : ब्रह्म वह मुक्त आत्मा है जो बाहर तो प्रकृति के साथ जीव की क्रीड़ा को आश्रय देती है और भीतर उनके अक्षय एकत्व को सुनिश्चित कर देती है ; वह एक साथ ही क्षर और अक्षर दोनों है, वह 'सर्व' है जो एकमेव है। अपनी सर्वोच्च विश्वातीत स्थिति में ब्रह्म एक अनादि या निर्विकार परात्पर नित्य सत्ता है जो सत्-असत् और नित्य-अनित्य के उन प्राकृत विरोधों से अत्यंत परे है जिनके बीच यह बाह्य जगत् विचरण करता है। परंतु एक बार इस नित्य सत्ता के सत्तत्त्व तथा प्रकाश में देखने पर यह विश्व भी उससे अन्य कुछ हो जाता है जैसा कि यह मन तथा इंन्द्रियों को सामान्यतः दिखायी देता है; क्योंकि तब हमें यह दिखायी देता है कि यह विश्व अब और मन, प्राण तथा जड़तत्त्व का आवर्त्त नहीं है, न ही यह शक्ति तथा सत्तत्त्व के निर्धारणों का संघात है, बल्कि यह केवल नित्य ब्रह्म है, उनसे भिन्न और कुछ नहीं। एक-मेव आत्मा है जो इस समस्त गति को अमित रूप में अपने-आपसे पूरित तथा परि-वेष्टित करती है—क्योंकि निःसंदेह वह गति भी वह स्वयं ही है—और जो सब सांत वस्तुओं पर अपने अनंतता-रूपी परिधान के प्रभाव को प्रसारित करती है, एक देहरहित और सहस्रदेहधारी आत्मा जिसके शक्तिशाली हस्त और वेगवान् चरण हमारे चारों ओर विद्यमान हैं, जिसके सिर, नेत्र और मुख वे असंख्य चेहरे हैं जो हमें, जिधर भी हम मुड़ते हैं, दिखायी देते हैं, जिसका स्रोत सर्वत्र नित्यता की नीरवता तथा जगतों के संगीत का श्रवण कर रहा है,—वही आत्मा वह विराट् पुरुष है जिसके भुजपाश में हम निवास करते हैं।

पुरुष और प्रकृति के सभी संबंध ब्रह्म की नित्यता के ही अंदर होनेवाली घटनाएँ हैं ; उन संबंधों की प्रकाशक और उपादान-भूत इंद्रियाँ और गुण इन्हीं परम पुरुष के साधन हैं, इनकी अपनी ही शक्ति सब वस्तुओं में जिन कार्य-व्यापारों को निरंतर गतिमान् करती रहती है वे सब इन साधनों के द्वारा ही हमारे सम्मुख प्रकट होते हैं। पर स्वयं वे इंद्रियों की सीमा से परे हैं, वे सब वस्तुओं को देखते हैं पर स्थूल आँख से नहीं, सब बातों को सुनते हैं पर स्थूल श्रोत्र से नहीं, सब

वस्तुओं को जानते हैं, किन्तु परिसीमक मन से नहीं—मन तो केवल वस्तु का निरूपण करता है पर वास्तव में वह उसका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। किन्हीं भी गुणों द्वारा निर्धारित न होते हुए, वे अपने सत्तत्त्व में सब गुणों को धारित तथा निर्धारित करते हैं और अपनी ही प्रकृति के इस गुणात्मक व्यापार का उपभोग करते हैं। वे जो कोई भी कार्य करते हैं उनमें से किसी में भी आसक्त एवं बद्ध नहीं हैं, किसी के भी अंदर लिप्त नहीं हैं; शांत-स्थिर होते हुए वे अपनी विश्व-व्यापिनी शक्ति के समस्त कर्म, प्रयास और आवेग को विशाल तथा अमर स्वातन्त्र्य के साथ धारण करते हैं। इस संसार में जो कुछ भी है वह सब स्वयं वे ही बनते हैं; जो कुछ हमारे अंदर है वह वे ही हैं, और अपनेसे बाहर हम जो कुछ अनुभव करते हैं वह सब भी वे ही हैं। आंतर और बाह्य, दूरस्थ और समीपस्थ, चर और अचर—यह सब वे एक साथ ही हैं। सूक्ष्म वस्तु की सूक्ष्मता, जो हमारे ज्ञान से परे है, वह वे ही हैं, जिस प्रकार कि शक्ति और उपादान की घनता, जो हमारे मन के लिए ग्राह्य है, वह भी वही हैं। वे अविभाज्य और एकमेव हैं, पर अपने-आपको रूपों तथा प्राणियों के अंदर विभक्त करते प्रतीत होते हैं और इन सब पृथक्-पृथक् सत्ताओं के रूप में दीख पड़ते हैं। सब वस्तुएँ फिर से उनके अंदर लौट सकती हैं, परमात्मा में अपनी सत्ता की अविभाज्य एकता की ओर प्रत्यावृत्त हो सकती हैं। सब कुछ नित्य उन्हीं से उत्पन्न होता है, उन्हीं की नित्यता में धारित रहता है, नित्य उन्हीं के एकत्व में लौट जाता है। वे सब ज्योतियों की ज्योति हैं तथा हमारे समस्त अज्ञानांधकार से परे प्रकाशमान हैं। वे ज्ञान हैं और वही ज्ञेय हैं। जो आध्यात्मिक अतिमानस ज्ञान प्रदीप्त मन को परिप्लावित तथा रूपांतरित कर देता है वह ये परमात्मा ही हैं; वे उस मायाच्छन्न जीव के सम्मुख ज्योति के रूप में अपनेको अभिव्यक्त करते हैं जिसे उन्होंने प्रकृति की कर्मधारा के अंदर प्रकट किया है। यह सनातन ज्योति प्रत्येक जीव के हृदय में है, वही ज्योतिर्मय देव क्षेत्र के निगूढ़ ज्ञाता, क्षेत्रज्ञ हैं, और वस्तुओं के अंतस्तल में विराजमान ईश्वर के रूप में वे इस लोक पर तथा व्यक्त भूतभाव और कार्य-व्यापार के इन सब राज्यों पर अधिष्ठातृत्व करते हैं। जब मनुष्य अपने अंदर इन सनातन और विश्वव्यापी परमेश्वर को देख लेता है, जब वह सब वस्तुओं में विद्यमान अंतरात्मा से सज्ञान हो जाता है तथा प्रकृति में आत्मा को खोज लेता है, जब वह संपूर्ण विश्व को इस नित्य आत्मसत्ता में उठती हुई एक लहर तथा जो कुछ भी है उस सबको एकमेव सत्ता अनुभव करता है, तब वह परमेश्वर की ज्योति को धारण कर लेता है और प्राकृतिक लोकों के बीच मुक्त होकर रहता है। दिव्य ज्ञान तथा इन भगवान् की ओर भक्तिसहित

पूर्ण अभिमुखता महान् आध्यात्मिक मुक्ति का रहस्य है। स्वातन्त्र्य, प्रेम और आध्यात्मिक ज्ञान हमें मर्त्य प्रकृति से अमृत सत्ता में उठा ले जाते हैं।

पुरुष और प्रकृति सनातन ब्रह्म के दो पार्श्व मात्र हैं, यह एक प्रतीयमान द्वैत है जो उनकी विश्वमय सत्ता के व्यापारों का आधार है। पुरुष अनादि और अनंत है, प्रकृति भी अनादि और अनंत है ; परंतु हमारे सचेतन अनुभव में प्रकृति जिन निम्नतर रूपों को ग्रहण किए हुए प्रतिभासित होती है वे सब रूप और साथ ही प्रकृति के सब गुण इन दो सत्ताओं के पारस्परिक व्यापारों से उत्पन्न होते हैं। वे प्रकृति से उद्भूत होते हैं,—वे सब रूप जो यहाँ नश्वर और विकारी हैं उसीसे उद्भूत होते हैं, उसीके द्वारा वे कार्य और कारण, कर्म और कर्मफल, शक्ति और उसकी क्रिया की बाह्य शृंखला को अपने ऊपर ले लेते हैं। लगातार ही वे बदलते रहते हैं और उनके साथ ही पुरुष और प्रकृति भी बदलते मालूम होते हैं, पर अपने-आपमें ये दो शक्तियाँ सनातन तथा नित्य-अविकारी हैं। प्रकृति सृजन और कर्म करती है, पुरुष उसकी सृष्टि और कर्म का उपभोग करता है ; किन्तु अपने कर्म के इस अवर रूप में वह इस उपभोग को सुख-दुःख के क्षुद्र तमोमय रूपों में बदल डालती है। जीव, व्यष्टि-पुरुष उसके त्रिगुणात्मक व्यापारों से बलात् आकृष्ट हो जाता है और उसके गुणों का यह आकर्षण उसे निरंतर नौना प्रकार की योनियों में खींच लाता है जिनमें वह प्रकृतिगत जन्म के अनेकानेक परिवर्तनों और अवस्थान्तरों का तथा शुभ-अशुभ का उपभोग करता है। परंतु यह जीव का केवल बाह्य अनुभव है ; क्षर प्रकृति के साथ एकाकार होने के फलस्वरूप जीव क्षरभावापन्न हो जाता है। तथापि इस शरीर में आसीन है उसके और हमारे देव, परमात्मा, परम पुरुष, प्रकृति के महेश्वर, जो उसके कार्य के साक्षी (उपद्रष्टा) हैं, उसकी क्रियाओं के अनुमंता तथा उसके सकल कर्मों के भर्ता हैं, जो उसकी अनेकविध सृष्टि पर शासन करते हैं, अपनी ही सत्ता के तद्रचित रूपों की इस क्रीड़ा का अपने सार्वभौम आनंद के सहित उपभोग करते हैं। यह है वह आत्म-ज्ञान जिसके लिए हमें पहले अपने मन को अभ्यस्त बनाना है, तदनंतर ही हम सच्चे अर्थों में अपने-आपको उन सनातन का सनातन अंश जान सकते हैं। एक बार जब यह ज्ञान सुप्रतिष्ठित हो जाय, तब चाहे हमारी अंतरात्मा प्रकृति के साथ अपने संबंधों में बाहरी तौर पर कैसा भी व्यवहार क्यों न करे, वह चाहे कुछ भी क्यों न करती दिखायी दे या चाहे वह व्यक्तित्व, सक्रिय शक्ति तथा देहबद्ध अहंभाव के इस या उस रूप को धारण करती ही क्यों न प्रतीत हो, फिर भी वह अपने-आपमें स्वतंत्र होती है, पहले की तरह जन्मचक्र से नहीं बँधी रहती, क्योंकि वह आत्मा की निर्व्यक्तिकता में सत्ता मात्र की आंतरिक अज

आत्मा के साथ एकमय हो जाती है। वह निर्व्यक्तिकता ही, जगत् में जो कुछ भी है उस सबके परम निरहंकार 'अहं' के साथ हमारा एकत्व है।

यह ज्ञान आंतरिक ध्यान से प्राप्त होता है जिसके द्वारा सनातन आत्मा हमारी अपनी आत्म-सत्ता में हमारे सम्मुख प्रकाशित हो जाती है। अथवा यह सांख्यों के योग, अर्थात् पुरुष और प्रकृति के पार्थक्य के द्वारा प्राप्त होता है। अथवा यह उस कर्मयोग के द्वारा प्राप्त होता है जिसमें अपने मन एवं हृदय तथा अपनी सारी क्रियाशील शक्तियों को उन ईश्वर की ओर खोलकर अपनी वैयक्तिक इच्छा-शक्ति को उन्हींमें विलीन कर दिया जाता है जो फिर प्रकृति के अंदर हमारे समस्त कर्मों का भार अपने ऊपर ले लेते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान हमारी अन्तःस्थ आत्मा की प्रेरणा के द्वारा, इस या उस योग अर्थात् एकत्व-प्राप्ति के इस या उस मार्ग के प्रति आत्मा की पुकार के द्वारा जागरित हो सकता है। अथवा यह हमें दूसरों से सत्य का श्रवण करने तथा जिसे मन श्रद्धा और एकाग्रता के साथ सुनता है उसीके भाव में इसे ढाल देने से प्राप्त हो सकता है। परंतु चाहे जैसे भी प्राप्त हो, यह हमें मृत्यु से परे अमृतत्व की ओर ले जाता है। ज्ञान हमें आत्मा के प्रकृति की मर्त्यता के साथ होनेवाले क्षर व्यवहारों से बहुत ऊपर अवस्थित हमारी परमोच्च आत्मा को इस रूप में दिखला देता है कि वे प्रकृति के कर्मों के महेश्वर हैं जो सब पदार्थों और प्राणियों में एक और सम हैं, न देह के ग्रहण के समय जन्म लेते हैं और न ही इन सब देहों के विनाश के समय मृत्यु के वशीभूत होते हैं। यही है सच्चा देखना, अपने अंदर की उस सत्ता को देखना जो सनातन और अमृत है। जैसे-जैसे हम सब वस्तुओं में इस सम आत्मा को अधिकाधिक अनुभव करते हैं, वैसे-वैसे हम आत्मा की उसी समता में प्रवेश करते जाते हैं; जैसे-जैसे हम इन विश्वमय पुरुष में अधिकाधिक निवास करने लगते हैं, वैसे-वैसे हम स्वयं भी विश्वमय पुरुष बनते जाते हैं; जैसे-जैसे हम इन सनातन से उत्तरोत्तर सज्ञान होते जाते हैं, वैसे-वैसे हम अपनी सनातनता को धारण करते जाते हैं और सनातन ही बन जाते हैं। हम तब अपने मानसिक तथा भौतिक अज्ञान की सीमा और दुर्दशा के साथ तदाकार न रहकर आत्मा की नित्यता के साथ तदाकार हो जाते हैं। तब हम देखते हैं कि हमारे सब कर्म प्रकृति का ही विकास एवं व्यापार हैं और हमारी असली आत्मा कार्यवाहक कर्ता नहीं, बल्कि कार्य का स्वतंत्र साक्षी, महेश्वर तथा अलिप्त भोक्ता है। जगद्व्यापारमय यह सब स्थूल प्रपंच एक ही सनातन के अंदर प्राकृत सत्ताओं का नानाविध भूतभाव है, सब कुछको विश्व-शक्ति ने उस पुरुष की सत्ता के अंदर बद्धमूल अपने 'विचार' (Idea) के बीजों से ही विस्तारित, अभिव्यक्त तथा अनावृत किया है;

परंतु आत्मा हमारी इस देह में उसके व्यापारों का अंगीकार और उपभोग करते हुए भी उसकी मर्त्यता से प्रभावित नहीं होती, क्योंकि वह जन्म-मरण से परे अनाद्यनन्त है, वह उन व्यक्तित्वों से सीमाबद्ध नहीं होती जिन्हें वह प्रकृति के अंदर नाना रूप से ग्रहण करती है, क्योंकि वह इन सब व्यक्तित्वों की एक ही परम आत्मा है, त्रिगुण के विकारों से परिवर्तित नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं गुणों से निर्धारित नहीं होती, कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करती, **'कर्तारम् अपि अकर्तारम्'**, क्योंकि वह प्रकृति के कर्म को धारण तो करती है पर उसके फलों से आध्यात्मिक तौर पर पूर्णतया मुक्त रहती है, वह समस्त कर्मों का मूल तो है, पर अपनी प्रकृति की क्रीड़ा से किसी प्रकार भी परिवर्तित या प्रभावित नहीं होती। जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश जिन अनेक रूपों को ग्रहण करता है उनसे प्रभावित या परिवर्तित नहीं होता, बल्कि सदा एकरस, शुद्ध, सूक्ष्म मूलतत्त्व ही बना रहता है, उसी प्रकार यह आत्मा सब संभव कार्यों को कर चुकने तथा सभी संभवनीय वस्तुएँ बन चुकने पर भी—उन सबमें से होकर भी—वही शुद्ध, निर्विकार, सूक्ष्म, अनंत मूलतत्त्व बनी रहती है। यह आत्मा की परा स्थिति है, **'परा गतिः'** है, यह ईश्वरीय भाव और प्रकृति है, **'मद्भाव'** है ; जो कोई भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करता है वह सनातन के उसी अमृतत्व में उठ जाता है।

ये ब्रह्म, अपने प्राकृत भूतभाव के क्षेत्र के ये सनातन और आध्यात्मिक ज्ञाता, यह प्रकृति, उनकी शाश्वत शक्ति जो अपनेको क्षेत्र के रूप में परिणत करती है, मर्त्य प्रकृति में आत्मा की यह अमरता—ये सब एक साथ मिलकर हमारी सत्ता के संपूर्ण सत्य हैं। जब हम अपनी अंतरस्थ आत्मा की ओर मुड़ते हैं तो वह प्रकृति के संपूर्ण क्षेत्र को रश्मियों की पूर्ण प्रभा से समन्वित अपने निज सत्य से प्रकाशमान कर देती है। उस ज्ञान-सूर्य के प्रकाश में हमारे अंदर ज्ञाननेत्र खुल जाता है और तब हम और इस अज्ञान में नहीं, बल्कि उस सत्य में निवास करने लगते हैं। तब हम देखते हैं कि हमारा अपनी वर्तमान मानसिक और भौतिक प्रकृति की सीमा में बँधे रहना एक अंधकारमय भ्रांति थी, तब हम अपरा प्रकृति के नियम, अर्थात् मन और देह के नियम से मुक्त हो जाते हैं, तब हम आत्मा की पराप्रकृति को प्राप्त कर लेते हैं। वह अति भव्य और उच्च परिवर्तन ही, मर्त्य प्रकृति को उतार फेंकना तथा अमृत सत्ता को अपना लेना ही चरम, दिव्य और अनंत संभूति है।

त्रैगुणातीत्य[1]

गीता के तेरहवें अध्याय के श्लोकों में कुछ एक निश्चयात्मक विशेषणों के द्वारा सरसरी तौर पर पुरुष और प्रकृति के बीच जो भेद किये गये हैं, इनकी पृथक्-पृथक् शक्ति और व्यापार के जो कुछ एक संक्षिप्त पर अर्थगर्भित लक्षण दिये गये हैं वे, और विशेषकर यह भेद कि देहधारी जीवात्मा प्रकृति के गुणों या अवस्थाओं का उपभोग करने के कारण उसके कर्म के अधीन रहता है और परमात्मा गुणों का उपभोग करता हुआ भी उनके वश में नहीं होता, क्योंकि अपने-आप वह उनसे परे है—ये सब ही वे आधार हैं जिनपर गीता का साधर्म्य का यह सारा विचार प्रतिष्ठित है कि मुक्त जीव अपनी सत्ता के सचेतन धर्म में परमात्मा के साथ एकीभूत हो जाता है। उस मुक्ति एवं एकत्व को, उस दिव्य प्रकृति-लाभ किंवा साधर्म्य को वह आध्यात्मिक स्वातंत्र्य का वास्तविक सार तथा अमरत्व का संपूर्ण मर्म बताती है। **'साधर्म्य'** को यह जो सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है यही गीता की शिक्षा की प्रधान बात है।

प्राचीन आध्यात्मिक शिक्षा में यह कभी नहीं माना गया कि अमरता केवल शरीर की मृत्यु के बाद व्यक्ति की सत्ता का बचे रहना ही है : इस अर्थ में तो सभी जीव अमर हैं और केवल उनके रूप ही नष्ट होते हैं। जो जीव मोक्ष नहीं प्राप्त कर पाते वे पुनरावर्ती यग-युगांतरों में जीवन-यापन करते हैं ; सब भूत व्यक्त लोकों के प्रलय के समय ब्रह्म के अंदर निवर्तित या निगूढ़ रूप में अवस्थित रहते हैं और नए युगचक्र के आविर्भाव के समय पुनः उत्पन्न होते हैं। प्रलय, अर्थात् एक युगचक्र का अंत, सत्ता के वैश्व रूप का तथा उस चक्र के आवर्तों में घूमनेवाले सभी व्यष्टि-रूपों का अस्थायी विघटन होता है, परन्तु वह केवल एक अल्पकालीन विराम, एक शांत अंतराल होता है जिसके बाद नव-सर्जन, पुनर्घटन तथा पुनर्निर्माण का प्रवाह उमड़ पड़ता है जिसमें वे रूप पुनः प्रकट होते तथा अपनी प्रगति के लिए पुनः वेग प्राप्त करते हैं। हमारी दैहिक मृत्यु भी एक प्रकार का प्रलय है,—गीता अभी हाल में ही इस शब्द का प्रयोग इस मृत्यु के

१. गीता, अध्याय १४

अर्थ में करेगी, **'प्रलयं याति देहभृत्'**, "देह धारण करनेवाला जीव प्रलय को प्राप्त होता है", अर्थात् वह जड़ प्रकृति के उस रूप के विघटन को प्राप्त होता है जिसके साथ उसने अपने अज्ञान के कारण अपनी सत्ता को तदाकार कर रखा था और जो अब पाँच भौतिक तत्त्वों में विलीन हो जाता है। परन्तु स्वयं जीव स्थिर बना रहता है और कुछ अंतराल के बाद उन तत्त्वों से बने एक नए शरीर में सृष्टि-चक्र के अंदर उसी प्रकार फिर से जन्मों का आवर्त आरंभ करता है जिस प्रकार विराम और विश्राम के काल के पश्चात् विश्व-पुरुष युग-चक्रों का अपना अनंत आवर्त फिर से आरंभ करते हैं। काल के चक्रों के भीतर इस प्रकार की अमरता सब देहधारी आत्माओं का एक सर्वसामान्य धर्म है।

अधिक गंभीर अर्थ में अमर होना मृत्यु के बाद के इस अस्तित्व तथा इस अनवरत पुनरावर्तन से भिन्न कोई और ही वस्तु है। अमरता वह परा-स्थिति है जिसमें आत्मा को यह ज्ञान होता है कि वह जन्म और मृत्यु से परे है, अपनी अभिव्यक्ति की प्रकृति से परिसीमित नहीं है, अनंत एवं अविनाशी है, निर्विकार रूप से सनातन है,—अमर है, क्योंकि जन्म न लेने के कारण वह कभी मरती भी नहीं। पुरुषोत्तम भगवान्, जो परमेश्वर और परब्रह्म हैं, इस अमर सनातनता से नित्य युक्त हैं और कोई देह ग्रहण करने या वैश्व रूपों एवं शक्तियों को सतत धारण करने से प्रभावित नहीं होते, क्योंकि वे सदा इस आत्म-ज्ञान में प्रतिष्ठित रहते हैं। उनकी निज प्रकृति ही है अपनी सनातनता से नित्य सचेतन रहना ; उनकी जो आत्म-संवित् है उसका कोई आदि नहीं, अंत नहीं। वे यहाँ घट-घटवासी हैं, पर प्रत्येक घट में वे अजन्मा के रूप में ही विद्यमान हैं, इस प्राकट्य के द्वारा वे अपनी चेतना में परिच्छिन्न नहीं होते, जिस भौतिक प्रकृति को वे धारण करते हैं उससे तद्रूप नहीं हो जाते ; क्योंकि वह तो उनकी सत्ता के लीलामय जगद्-व्यापार की एक गौण घटना मात्र है। पुरुषोत्तम की इस नित्य-सचेतन सनातन सत्ता में निवास करना ही मुक्ति एवं अमरता है।[1] परन्तु यहाँ इस

१. ध्यान में रहे कि गीता में कहीं भी इस बात का कोई संकेत नहीं है कि व्यष्टिभूत आध्यात्मिक सत्ता का अव्यक्त, अनिर्देश्य, या परब्रह्म में, 'अव्यक्तम् अनिर्देश्यम्' में लय होना ही अमरता का सच्चा अर्थ या उसकी सच्ची स्थिति है या योग का वास्तविक लक्ष्य है। बल्कि आगे चलकर वह कहती है कि अमरता ईश्वर के अंदर उनके परम धाम में निवास करना है, 'मयि निवसिष्यसि, परं धाम', और यहां वह कहती है कि अमरता साधर्म्य या परा सिद्धि है, 'साधर्म्यम्, परा सिद्धिम्', अर्थात् अमरता का अभिप्राय है अपनी सत्ता और प्रकृति के धर्म में पुरुषोत्तम के समान धर्मवाला होना, किंतु फिर भी अस्तित्व में बने रहना तथा विश्व-प्रवाह से सचेतन होते हुए भी उससे ऊपर उठे रहना, जैसे सब मुनि अभी भी रहते हैं, 'मुनयः सर्वे', वे सृष्टिकाल में जन्म के अधीन नहीं होते, युगचक्रों के प्रलय के काल में व्यथित नहीं होते।

महत्तर आध्यात्मिक अमरत्व तक पहुँचने के लिए देहधारी जीव को अपरा प्रकृति के नियम के अनुसार निवास करना छोड़ देना होगा ; उसे भगवान् की परम जीवन-धारा का विधान अपनाना होगा, जो वस्तुत: उसकी अपनी सनातन सारभूत सत्ता का वास्तविक विधान है। अपनी गुप्त मूल सत्ता के समान ही अपने भूतभाव के आध्यात्मिक विकास में भी उसे भगवान् के समान धर्मवाला बनना होगा।

और यह महान् कार्य, मानव-प्रकृति से दैवी प्रकृति में यह आरोहण हम ईश्वरोन्मुख ज्ञान, संकल्प और उपासनारूपी पुरुषार्थ के द्वारा ही संपन्न कर सकते हैं। कारण, परम देव के द्वारा अपने सनातन अंश के रूप में भेजा हुआ जीव विश्व-प्रकृति के व्यापारों में उनका अमर प्रतिनिधि होता हुआ भी उन व्यापारों के स्वरूप के कारण अपनी बाह्य चेतना में अपने-आपको प्रकृति की सीमाकारी अवस्थाओं के साथ तथा उन मन, प्राण और शरीर के साथ तदाकार करने के लिए विवश हो जाता है **'अवशं प्रकृतेर्वशात्'** जो अपने आंतर आध्यात्मिक सत्स्वरूप और अपने अंतर्निहित परमेश्वर को भूले हुए हैं। अपने सत्स्वरूप का ज्ञान तथा जीव और प्रकृति के प्रतीयमान संबंधों से इतर उनके वास्तविक संबंधों का ज्ञान फिर से प्राप्त करना, ईश्वर को, अपने-आप तथा जगत् को अब और भौतिक या बहिर्मुख अनुभव के द्वारा नहीं वरन् आध्यात्मिक अनुभव के द्वारा जानना, इंद्रिय-मानस तथा बहिर्मुखी बुद्धि के भ्रामक एवं प्रातिभासिक बोधों के द्वारा नहीं, वरन् आभ्यंतरिक आत्म-चैतन्य के गभीरतम सत्य के द्वारा जानना इस सिद्धि का अनिवार्य साधन है। आत्म-ज्ञान एवं ईश्वर-ज्ञान के बिना तथा अपनी प्राकृतिक सत्ता के संबंध में आध्यात्मिक भाव धारण किये बिना सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती, और इसी कारण प्राचीन मनीषियों ने ज्ञान के द्वारा मुक्ति के प्राप्त होने पर इतना अधिक बल दिया था,—ज्ञान का मतलब यहाँ वस्तुओं का बौद्धिक बोध नहीं, वरन् मनोमय प्राणी, मनुष्य का महत्तर अध्यात्म-चेतना में विकसित होना है। आत्म-सिद्धि के बिना, अर्थात् आत्मा के दिव्य प्रकृति में विकसित हुए बिना उसको मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती ; न्यायकारी ईश्वर अपने मन की मौज या अपनी कृपा की किसी मनमानी सनक के द्वारा इसे हमारे लिए साधित नहीं कर देंगे। दिव्य कर्म मुक्ति की प्राप्ति कराने में सक्षम हैं, क्योंकि वे हमें हमारी अपनी सत्ता के अंतरस्थ प्रभु के साथ बढ़ते हुए एकत्व के द्वारा इस सिद्धि की ओर तथा आत्मा, प्रकृति और ईश्वर के ज्ञान की ओर ले जाते हैं। दिव्य प्रेम भी सक्षम है, क्योंकि उसके द्वारा हम अपनी भक्ति के एकमात्र परम भाजन के साथ उत्तरोत्तर साधर्म्य लाभ करते हैं और उन 'परम' के प्रत्युत्तरशील

प्रेम का आवाहन करते हैं ताकि वह प्रेम हमें उनके ज्ञान की ज्योति से तथा उनकी सनातन आत्मा की उन्नायक शक्ति एवं पवित्रता से परिप्लावित कर दे। अतएव, गीता कहती है कि यह परम तथा सर्वोत्तम ज्ञान है, क्योंकि यह परा-सिद्धि तथा अध्यात्म-स्थिति की ओर ले जाता है, **'परां सिद्धिम्'**, और जीव को भगवान् के साथ सादृश्य, **'साधर्म्य'**, प्राप्त कराता है। यह वह नित्य ज्ञान है, महान् आध्यात्मिक अनुभव है जिसके द्वारा सब मुनियों ने वह परमोच्च पूर्णता प्राप्त की तथा सत्ता के विधान में पुरुषोत्तम के साथ सारूप्य लाभ किया और जिसके द्वारा वे सदा के लिए उनकी नित्यता में निवास करते हैं, सृष्टि में जन्म नहीं लेते, विश्व-प्रलय की व्यथा से उद्विग्न नहीं होते। इस प्रकार यह सिद्धि, यह **'साधर्म्य'** अमृतत्व का मार्ग है तथा एक अनिवार्य अवस्था है जिसके बिना जीव सचेतन रूप से सनातन में निवास नहीं कर सकता।

यदि मनुष्य की अंतरात्मा अपने गुप्त सारतत्त्व में भगवान् के साथ अविनाशी रूप से एक न होती तथा उनकी दिव्यता का ही अंश न होती तो वह उनके साथ साधर्म्य लाभ न कर सकती : यदि वह केवल मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक प्रकृति का जीव ही होती तो वह न तो अमर होती और न कभी हो ही सकती। भूतमात्र भगवत्सत्ता की ही अभिव्यक्ति है और हमारे अंदर जो सत्ता है वह सनातन आत्मा की ही अंश-आत्मा है। इसमें संदेह नहीं कि हम निम्नतर जड़ प्रकृति में आये हुए हैं और उसके प्रभाव के अधीन हैं, पर यहाँ हम आये हैं उस परम आध्यात्मिक प्रकृति से ही : यह अधस्तन अपूर्ण स्थिति हमारी प्रतीयमान सत्ता है, पर वह है हमारी पारमार्थिक सत्ता। वे सनातन इस समस्त जगद्व्यापार को अपनी ही आत्म-सृष्टि के रूप में प्रकट करते हैं। वे एक साथ इस विश्व के पिता और माता हैं ; अनंत **विज्ञान-तत्व, महत् ब्रह्म** ही वह योनि है जिसमें वे अपने आत्म-सृजन का बीज डालते हैं। अधि-आत्मा (Over-Soul) के रूप में वे बीज डालते हैं, जगज्जननी, प्रकृति-आत्मा (Nature-Soul), अपनी ही चेतना-ज्योति:-परिपूर्ण चित्-शक्ति के रूप में वे अपने असीम पर आत्म-परिसीमक विज्ञान से ओत-प्रोत अपनी इस अनंत उपादान-सत्ता के अंदर उस बीज को ग्रहण करते हैं। इस आत्म-सर्जनकारी **'महत्'** के गर्भ में वे उस दिव्य बीज को ग्रहण करते हैं और फिर वहाँ आदि भावमय सृजन-क्रिया से उत्पन्न हुए सत्ता के मानसिक या भौतिक आकार के रूप में उसे विकसित करते हैं। जो कुछ भी हम यहाँ देखते हैं वह सब उस सर्जन-क्रिया से ही उद्भूत होता है ; पर जो कुछ यहाँ उत्पन्न होता है वह उन अजन्मा तथा अनंत का केवल एक सांत भाव और रूप है। परम आत्मा अनाद्यनंत है और अपनी समस्त अभिव्यक्ति से ऊपर है : प्रकृति,

आत्मा के अंदर अनाद्यनंत होती हुई, अंतहीन सृजन और समाप्तिरहित प्रलय के द्वारा युग-युगांतर के लयताल के साथ-साथ नित्य ही आगे बढ़ती रहती है ; प्रकृति के अंदर इस या उस रूप को धारण करनेवाला जीव भी प्रकृति के समान ही अनादि है, **'अनादी उभावपि'**। प्रकृति के बीच रहता हुआ भी वह कल्प-कल्पांतर के अंतहीन चक्र का अनुसरण करता है, जिन सनातन से वह इन युगचक्रों के अंदर प्रादुर्भूत होता है उनके अंदर वह जन्म-मरण की अवस्थाओं से सदा के लिए ऊपर उठा हुआ है, और यहाँ अपनी बाह्य चेतना में भी वह उस स्वभावसिद्ध तथा शाश्वत परात्परता से सज्ञान हो सकता है।

तो फिर वह कौन-सी चीज है जो भेद उत्पन्न करती है, वह कौन-सी चीज है जो जीव को जन्म, मृत्यु और बंधन की प्रतीति कराती है,—क्योंकि यह तो स्पष्ट है कि यह एक प्रतीति मात्र है। यह चेतना की एक गौण क्रिया या अवस्था है, यह इस प्रकार की निम्नतर प्रेरणा की सीमाबद्ध क्रियाओं में प्रकृति के गुणों के साथ तथा मन-प्राण-शरीर की इस आत्म-परायण अहंबद्ध कर्मग्रंथि के साथ हमारी आत्म-विस्मृतिपूर्ण तदात्मता है। यदि हमें निम्नतर क्रिया की विमोहक शक्ति से परे हटकर अपनी पूर्ण-सचेतन सत्ता में पुनः प्रवेश करना है और आत्मा की मुक्त प्रकृति तथा उसकी नित्य अमरता को धारण करना है तो प्रकृति के गुणों से ऊपर उठना, **'त्रैगुण्यातीत'** होना परमावश्यक है। यही वह साधर्म्य की अवस्था है जिसकी व्याख्या करने की ओर गीता अब अग्रसर होती है। इसकी ओर संकेत तो वह पिछले अध्याय में भी कर चुकी है और कुछ बल के साथ इसका प्रतिपादन भी कर आयी है ; किन्तु अब उसे अधिक सुनिश्चित शब्दों में यह बतलाना है कि ये गुण क्या हैं, जीव को ये किस प्रकार बाँधते तथा आध्यात्मिक स्वातंत्र्य से दूर रखते हैं और प्रकृति के गुणों से ऊपर उठने का क्या अभिप्राय है ?

प्रकृति के सभी गुण अपने सार-रूप में गुणात्मक (Qualitative) हैं और इसी कारण वे उसके गुण कहलाते हैं। जगद्-विषयक किसी भी आध्यात्मिक परिकल्पना में ऐसा होना आवश्यक ही है ; कारण, आत्मा और जड़तत्त्व को जोड़नेवाला माध्यम चैत्य या आत्म-शक्ति को ही होना चाहिए तथा प्रारंभिक क्रिया मानस-चित्तात्मक (Psychological) एवं गुणात्मक होनी चाहिए, न कि भौतिक और परिमाणात्मक ; क्योंकि गुण विश्व-शक्ति के समस्त व्यापार में अभौतिक एवं अधिक आध्यात्मिक तत्त्व हैं, उसकी आद्य गतिशक्ति हैं। भौतिक विज्ञान की प्रधानता ने हमें प्रकृतिसंबंधी एक और ही दृष्टिकोण का अभ्यस्त बना दिया है, क्योंकि वहाँ जो सबसे पहली चीज हमें प्रभावित करती है वह है—उसकी क्रियाओं के परिमाणात्मक रूप का महत्त्व तथा आकारों के निर्माण के

लिए परिमाणात्मक संयोगों एवं विन्यासों पर उसकी निर्भरता। परन्तु वहाँ भी इस खोजने कि 'वास्तव में जड़-तत्त्व ऊर्जा की ही एक सत्ता या क्रिया है न कि ऊर्जा स्वत:स्थित जड़-तत्त्व का कोई प्रेरक-बल अथवा जड़-तत्त्व के अंदर से क्रिया करनेवाली कोई अंतर्निहित शक्ति है' विश्व-प्रकृति-संबंधी प्राचीनतर विचार को किसी-न-किसी रूप में पुनरुज्जीवित कर दिया है। प्राचीन भारतीय मनीषियों के विश्लेषण में प्रकृति की परिमाणात्मक क्रिया, **'मात्रा'** के लिए स्थान अवश्य था ; पर उसमें यह माना जाता था कि यह प्रकृति की स्थूल-नियमानुसार कार्य-निष्पादन करनेवाली एक बाह्यतर क्रिया का विशेष धर्म है जब कि आभ्यंतरिक भाव-रूप (ideative) कार्य-निष्पादन-शक्ति, जो वस्तुओं की व्यवस्था उनकी सत्ता एवं शक्ति के धर्म, अर्थात् **'गुण'** एवं **'स्वभाव'** के अनुसार करती है, प्रथम निर्धारक शक्ति है और समस्त बाह्य परिमाणात्मक व्यवस्थाओं का आधार है। पर स्थूल जगत् के मूल में यह बात दृष्टिगोचर नहीं होती। इसका कारण केवल यही है कि यहाँ आधारभूत भाव-रूप आत्म-सत्ता, **'महत् ब्रह्म,'** जड़तत्त्व तथा जड़प्राकृतिक शक्ति की गति के द्वारा आवृत्त एवं आच्छादित है। यदि कोई ऐसी श्रेष्ठतर शक्ति न हो जो वैविध्यकारक गुण से युक्त हो तथा जिसके ये भौतिक विन्यास केवल सुविधाजनक यांत्रिक साधन ही हों, तो इस स्थूल जगत् में भी जो तत्त्व वैसे एक-दूसरेके समान हैं उनके विभिन्न संयोगों तथा मात्रा-परिमाणों के नानाविध अद्‌भुत परिणामों की कोई भी व्याख्या करना संभव नहीं। अथवा, क्या हम एकदम ही यूँ न कहें कि विश्व-ऊर्जा की एक निगूढ़ भाव-रूप क्षमता है, अर्थात् **'विज्ञान'** है,—भले ही हम स्वयं उस ऊर्जा तथा उसके भावरूप करण, **'बुद्धि,'** को उनकी अपनी प्रकृति में यांत्रिक मानें,—जो इन बाह्य विन्यासों के गाणितिक परिमाणों को स्थिर करती तथा कार्यफलों को निश्चित करती है : आत्मा के अंदर विद्यमान यह सर्वसमर्थ विज्ञान ही इन साधनों का उद्भावन और उपयोग करता है। प्राणिक और मानसिक सत्ता में तो गुण तुरन्त और स्पष्टत: ही एक प्रधान शक्ति के रूप में दिखायी देता है, वहाँ ऊर्जा की मात्रा केवल एक गौण तथ्य है। परन्तु वास्तव में मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक सत्ताएँ—तीनों ही गुण की सीमाओं के अधीन हैं, तीनों ही उसके निर्धारणों के द्वारा नियंत्रित होती हैं, यद्यपि जैसे-जैसे हम सत्ता की शृंखला में नीचे उतरते हैं वैसे-वैसे यह सत्य उत्तरोत्तर धूमिल होता दिखता है। केवल आत्म-सत्ता ही, जो अपनी भावरूप सत्ता एवं भावरूप शक्ति, अर्थात् **'महत्'** और **'विज्ञान'** के सामर्थ्य के द्वारा इन अवस्थाओं को स्थिर करती है, इस प्रकार से निर्धारित नहीं होती, गुण वा मात्रा की किन्हीं भी सीमाओं के वशीभूत नहीं होती, क्योंकि

उसकी अपरिमेय एवं अनिर्घार्य असीमता इन गुणों से श्रेष्ठतर है जिन्हें वह अपनी सृष्टि के लिए विकसित और प्रयुक्त करती है।

परन्तु उधर, प्रकृति का संपूर्ण गुणात्मक व्यापार, जो अपनी सूक्ष्मता तथा विविधता में अनंततः जटिल है, गुण की इन तीन सर्वसाधारण अवस्थाओं, **सत्त्व, रज, तम** के साँचे में ढला हुआ रूप दृष्टिगोचर होता है, ये तीन गुण सर्वत्र उपस्थित हैं, परस्पर-ओतप्रोत तथा प्रायः अविच्छेद्य ही हैं। इनका वर्णन गीता में मनुष्य की चेतना पर होनेवाली इनकी क्रिया के ही द्वारा किया गया है अथवा, प्रसंगवश, आहार आदि चीजों में होनेवाली इनकी मनोवैज्ञानिक क्रिया का भी इस आधार पर प्रतिपादन किया गया है कि ये मनुष्यों के मन या प्राण पर क्या प्रभाव डालते हैं। यदि हम इनकी अधिक व्यापक परिभाषा का अनुसंधान करें, तो संभवतः हमें भारतीय धर्म के उस प्रतीकात्मक विचार में इसकी एक झाँकी मिलेगी जो कहता है कि इनमें से एक-एक गुण यथाक्रम विश्व की देवतात्रयी के एक-एक देव का गुण है, सत्त्व स्थितिकर्ता विष्णु का, रज सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का, तमस् संहारकर्ता रुद्र का। इस त्रिविध गुणारोप की युक्तियुक्त व्याख्या के लिए इस विचार के मूल पर दृष्टिपात करते हुए हम विश्व-ऊर्जा की गति की परिभाषा में इन तीन गुणों या अवस्थाओं का लक्षण इस रूप में कर सकते हैं कि ये प्रकृति की संतुलन, प्रवृत्ति और जड़ता की तीन सहचारी और अविच्छेद्य शक्तियाँ हैं। किन्तु यह तो ऊर्जा के बाह्य व्यापार की परिभाषा में इनका प्रतीयमान रूपमात्र हुआ। पर यदि हम चेतना और शक्ति को 'एक सत्' के ऐसे युग्म रूप मानें जो सत्ता के सत्तत्त्व में सदैव एक साथ रहते हैं तो बात बिलकुल और ही दिखायी देगी, भले ही जड़-प्रकृति के प्रारंभिक बाह्य प्रपंच में चेतना का प्रकाश निर्ज्ञान एवं अनुज्ज्वल ऊर्जा के विराट् व्यापार में तिरोहित होता प्रतीत हो और, उधर, आध्यात्मिक निश्चलता के विपरीत छोर पर शक्ति का व्यापार निरीक्षण करनेवाली या साक्षिभूत चेतना की निस्तब्धता में विलीन होता दीख पड़े। ये दो अवस्थाएँ आपाततः-पृथग्भूत पुरुष और प्रकृति के दो छोर हैं, किन्तु इनमें से प्रत्येक अपने चरम बिंदु पर अपने सनातन सहचर को विनष्ट नहीं करता, बल्कि अधिक-से-अधिक, उसे अपनी सत्ता की विशिष्ट धारा की गहराइयों में छिपा भर देता है। सुतरां, क्योंकि निश्चेतन दीखनेवाली शक्ति में भी चेतना सदा उपस्थित रहती है, हमें इन तीन गुणों की उस अनुरूप चेतनागत ऊर्जा का पता लगाना होगा जो इनके अधिक बाह्य कार्य-व्यापार को अनुप्राणित करती है। अपने चेतनागत रूप की दृष्टि से इन तीन गुणों की परिभाषा यूँ की जा सकती है कि तमस् प्रकृति की निर्ज्ञान की शक्ति है, रजस् उसकी कामना और प्रेरणा से

आलोकित क्रियाशील अन्वेषी अज्ञान की शक्ति है, सत्त्व उसके अधिकृत और समन्वित करनेवाले ज्ञान की शक्ति है।

प्रकृति की गुणात्मक तीन अवस्थाएँ समस्त जागतिक सत्ता में एक-दूसरी-के साथ अविच्छेद्य रूप से गुंथी हुई हैं। तमस्, जड़ता का तत्त्व, निष्क्रिय और जड़ निर्ज्ञान है जो सभी आघातों और संपर्कों को सहन करता जाता है और उनके प्रति विजयशील प्रतिक्रिया करने के लिए कोई यत्न नहीं करता। वह अकेला अपने-आप शक्ति के संपूर्ण व्यापार के विघटन की ओर तथा उपादान के आमूल विलय की ओर ही ले जायगा। परन्तु वह रजस् की प्रवृत्तिमय शक्ति के द्वारा परिचालित होता है और यहाँतक कि जड़प्रकृति के निर्ज्ञान में भी सामंजस्य, संतुलन एवं ज्ञान के अनुपलब्ध पर सहजात रक्षाकारी तत्त्व का संपर्क एवं आलिंगन प्राप्त करता है। जड़प्राकृतिक शक्ति अपनी मूल क्रिया में तामसिक, जड़, निर्ज्ञान एवं यांत्रिक प्रतीत होती है और अपनी गति में विघटनकारी। परन्तु यह मूक राजसिक प्रवृत्ति की उस विराट् शक्ति और प्रवर्तना के द्वारा नियंत्रित होती है जो इसे इसकी विलय एवं विघटन की क्रिया में भी तथा उस क्रिया के द्वारा भी निर्माण और सृजन करने के लिए प्रचालित करती है; साथ ही यह अपनी निश्चेतन प्रतीत होनेवाली शक्ति में उस सात्त्विक बुद्धि-तत्त्व के द्वारा भी नियंत्रित होती है जो इन दो विरोधी प्रवृत्तियों पर सदा ही सामंजस्य एवं रक्षाकारी व्यवस्था आरोपित करता रहता है। रजस्, जो प्रकृति में सर्जनोन्मुख प्रयत्न, गति और प्रेरणा का तत्त्व, **प्रवृत्ति** है—जड़-प्रकृति में यह इस रूप में ही दिखायी देता है—प्राण के प्रधान स्वभाव में स्पष्टतर रूप से प्रयास, कामना और कर्म का सचेतन या अर्द्ध-सचेतन आवेग प्रतीत होता है,—क्योंकि ऐसा आवेग समस्त प्राणिक सत्ता का स्वभाव है। अकेला, अपनी निज प्रकृति में रहता हुआ यह एक ऐसे दृढ़मूल पर सदा-परिवर्तनशील एवं अस्थिर जीवन, कर्म और सर्जन की ओर ले जायगा जिसका कोई निश्चित परिणाम नहीं होगा। परंतु इसका अज्ञ कर्म एक ओर तो मृत्यु, ह्रास और जड़ता से युक्त तमोगुण की विघ-टन-शक्ति के सम्मुख उपस्थित होता है और अपने व्यापार के दूसरी ओर यह उस सत्त्व-गुण के द्वारा व्यवस्थित, सुसमन्वित और धारित रहता है जो जीवन के निम्नतर रूपों में तो अवचेतन है, पर मन का उदय होने पर उत्तरोत्तर चेतन होता जाता है और पूर्ण-विकसित मनुष्य, मनोमय प्राणी के भीतर संकल्प और तर्कणा का रूप धारण करनेवाली समुन्नत बुद्धि के प्रयास में अत्यंत सचेतन होता है। सत्त्व, बोधात्मक ज्ञान तथा सामंजस्यकारी सात्म्य, मर्यादा और संतुलन का तत्त्व, जो अकेले अपने-आपमें स्थिर और ज्योतिर्मय समस्वरताओं के किसी स्थायी

सामंजस्य की ओर ही ले जायगा, इस विश्व की गतियों में शाश्वत कर्म-प्रवृत्ति के चंचल द्वन्द्व और क्रिया का अनुसरण करने के लिए प्रेरित होता है तथा जड़ता और निर्ज्ञान की शक्तियों के द्वारा निरंतर अभिभूत या प्रतिहत होता रहता है। प्रकृति के त्रिगुण की मिश्रित तथा परस्पर-व्याहत क्रीड़ा के द्वारा शासित होनेवाले जगत् का प्रतीयमान रूप यही है।

विश्व-ऊर्जा के इस सामान्य विश्लेषण को गीता मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रकृति पर लागू करती है यह दर्शाने के लिए कि मानव की प्रकृति-बद्धता तथा अध्यात्म-स्वातंत्र्य की उपलब्धि का इससे क्या संबंध है। वह हमें बताती है कि सत्त्वगुण अपनी पवित्रता के कारण प्रकाश और ज्ञान का मूल है और उस पवित्रता के बल पर वह प्रकृति के अंदर कोई व्याधि या विकार या दुःख-कष्ट नहीं पैदा होने देता। जब शरीर में सब द्वारों के भीतर ज्योति की, बोध, अनुभूति और ज्ञान के प्रकाश की बाढ़ आ जाय, मानों एक बंद घर के दरवाजे और खिड़कियाँ धूप की ओर खुल गयी हों,—जब बुद्धि सजग और प्रबुद्ध हो जाय, इंद्रियां तीव्र हो उठें, संपूर्ण मन तृप्त और प्रकाशपूर्ण हो जाय, प्राण-सत्ता शांत और स्थिर होकर प्रकाशयुक्त निर्वृति और प्रसाद से परिपूरित हो उठे, तब मनुष्य को समझना चाहिए कि उसकी प्रकृति के अंदर सत्त्वगुण का उदय और अत्यधिक विकास हो गया है। क्योंकि ज्ञान, सामंजस्य, पूर्ण निवृत्ति, सुख और प्रसाद सत्त्व के विशिष्ट परिणाम हैं। सात्त्विक सुख केवल उस संतोष का ही नाम नहीं है जो परितृप्त संकल्प और बुद्धि के आभ्यंतरिक प्रसाद के द्वारा प्राप्त होता है, बल्कि आत्मा को आत्म-ज्योति के भीतर अपनी उपलब्धि के द्वारा जो आनंद एवं परितृप्ति प्राप्त होती है, अथवा पारिपार्श्विक प्रकृति तथा उसके द्वारा प्रदत्त भोग्य और संवेद्य विषयों के साथ द्रष्टा आत्मा के सामंजस्य या उपयुक्त एवं सत्य सुसंगति के द्वारा जो आनंद एवं परितृप्ति उत्पन्न होती है, वह सब ही सात्त्विक सुख है।

और फिर, गीता हमें बताती है कि रजस् का सारतत्त्व है रुचि और लालसा के द्वारा उत्पन्न आकर्षण। रजस् भोग्य पदार्थों के प्रति जीव की आसक्ति की संतान है; हमारी प्रकृति के अंदर अप्राप्त सुख की जो तृष्णा है उसीसे इसकी उत्पत्ति होती है। इसलिए यह चांचल्य एवं ताप से और काम, क्रोध तथा लोभ से भरा हुआ है, लालसामय प्रेरणाओं की मूर्त्ति है, और जब यह मध्यवर्ती गुण बढ़ता है तो यह सब हमारे अंदर उत्कर्ष को पहुँच जाता है। यह कामनामय शक्ति है जो समस्त साधारण व्यक्तिगत कर्मारंभ को तथा हमारी प्रकृति के अंदर विद्यमान उत्तेजना, उत्कंठा और प्रवर्तना की उस सब गति को प्रचालित करती है जो क्रिया और कर्मका, प्रवृत्ति का आवेग है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि

प्रकृति के गुणों में रजस् एक गतिशील शक्ति है। इसका फल है कर्म की तृष्णा, पर इसके साथ ही दुःख, वेदना और सब प्रकार के कष्ट भी ; क्योंकि इसे अपने भोग्य विषय की यथार्थ रूप में प्राप्ति नहीं होती—वस्तुतः कामना का अर्थ ही है प्राप्ति का अभाव—और यहांतक कि इसका प्राप्त वस्तु का सुख भी विक्षुब्ध एवं अस्थिर होता है क्योंकि इसे स्पष्ट ज्ञान नहीं है और यह प्राप्त करने का तरीका ही नहीं जानता और न यह सामंजस्य तथा यथायथ उपभोगका रहस्य ही जान सकता है। प्राण की समस्त अज्ञानयुक्त और आवेगमय लिप्सा प्रकृति के रजोगुण से संबंध रखती है।

अंत में, तमस् जड़ता और अज्ञान से उत्पन्न होता है और इसका फल भी है जड़ता और अज्ञान। तमोगुण का अंधकार ही ज्ञान को आच्छादित करता और समस्त भ्रम और व्यामोह की सृष्टि करता है। अतएव यह सत्त्व के ठीक विपरीत है, क्योंकि सत्त्व का सार है प्रकाश और तमस् का सार है **अप्रकाश,** निर्ज्ञान। परंतु तमस् जैसे भ्रांति, असावधानता, गलत समझना, या कुछ न समझ पाना—इस प्रकार की अक्षमता और प्रमाद को लाता है वैसे ही यह कर्मसंबंधी अक्षमता और प्रमाद को भी जन्म देता है। आलस्य, शिथिलता और निद्रा इस गुण से संबंध रखते हैं। इसलिए यह रजस् के भी विपरीत है ; क्योंकि रजस् का सार है गति, प्रेरणा और क्रियाशीलता, **प्रवृत्ति,** पर तमस् का सार है जड़ता, **अप्रवृत्ति**। तमस् निर्ज्ञान की जड़ता भी है और अकर्म की भी, यह दोहरा अभाव है।

प्रकृति के ये तीन गुण सभी मनुष्यों में स्पष्ट रूप से विद्यमान और क्रियाशील हैं और किसी को भी इनसे सर्वथा रहित या तीनों में से किसी एक से विमुक्त नहीं कहा जा सकता ; कोई भी व्यक्ति अन्य गुणों के बिना केवल एक ही गुण के सांचे में ढला हुआ नहीं है। सभी लोगों के अंदर कामना और कर्म का राजसिक आवेग किसी-न-किसी मात्रा में विद्यमान है और साथ ही प्रकाश एवं सुखका सात्त्विक वरदान, कुछ संतुलन, अपने-आप, अपनी परिस्थितियों तथा अपने विषयों के प्रति मन का कुछ सामंजस्य भी सबको प्राप्त है, और तामसिक अशक्तता, अज्ञान या निश्चेतना का हिस्सा भी सबको मिला हुआ है। परंतु ये गुण अपनी शक्ति की परिमाणात्मक क्रिया में या अपने तत्त्वों के संयोग में किसी भी मनुष्य के अंदर स्थिर रूप में विद्यमान नहीं हैं ; क्योंकि ये परिवर्तनशील हैं तथा निरंतर ही पारस्परिक संघात, स्थान-परिवर्तन तथा क्रिया-प्रतिक्रिया की अवस्था में रहते हैं। कभी तो एक नेतृत्व करता है और कभी दूसरा प्रबल हो जाता तथा प्रधानता प्राप्त कर लेता है, और प्रत्येक हमें अपनी विशिष्ट क्रिया तथा उसके परिणामों

के अधीन कर देता है। जब इनमें से कोई एक या दूसरा किसी मनुष्य के अंदर व्यापक तथा साधारण रूप से प्रमुखता प्राप्त कर ले केवल तभी यह कहा जा सकता है कि उस मनुष्य की प्रकृति सात्त्विक या राजसिक या तामसिक है; पर यह तो केवल एक सामान्य लक्षण हो सकता है, ऐकांतिक या चरम लक्षण नहीं। ये तीन गुण त्रिविध शक्ति हैं और अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा ये प्राकृत मनुष्य के चरित्र एवं स्वभाव का निर्धारण करते हैं तथा उस स्वभाव के और उसकी विविध चेष्टाओं के द्वारा मनुष्य के कार्यों का भी निर्धारण करते हैं। पर साथ ही यह त्रिविध शक्ति बंधन की त्रिविध रज्जु भी है। गीता कहती है कि "प्रकृति से उत्पन्न ये तीन गुण देह के अंदर निवास करनेवाले अव्यय देही को देह में बांध देते हैं।" एक विशेष अर्थ में तो हम यह तुरंत ही देख सकते हैं कि गुणों की क्रिया का अनुसरण करने से यह बंधन अवश्यमेव उत्पन्न होगा; क्योंकि ये सब अपने स्वरूप और क्रिया की सीमा के द्वारा आबद्ध हैं तथा बंधन की सृष्टि करते हैं। तमस् अपने दोनों पहलुओं में एक प्रकार की अक्षमता है और इसलिए वह अत्यंत स्पष्ट रूप में हमें सीमा के अंदर बांध देता है। राजसिक कामना कर्म की प्रवर्तिका के रूप में एक अधिक भावात्मक शक्ति है, किंतु फिर भी हम यह भलीभाँति देख सकते हैं कि मनुष्य को अपने अधिकार में करके उसे पूर्ण रूप से सीमाबद्ध और आसक्त रखने के कारण यह सदा बंधनरूप ही होती है। परंतु भला सत्त्व जो ज्ञान और सुख की शक्ति है, बंधनकारक कैसे हो जाता है? यह बंधनकारक इस कारण हो जाता है कि यह मानसिक प्रकृति का, सीमाबद्ध और सीमाकारी ज्ञान का तथा एक ऐसे सुख का तत्त्व है जो इस या उस लक्ष्य का ठीक प्रकार से अनुगमन करने या उसे प्राप्त करने पर निर्भर करता है अथवा यह मन की किन्हीं विशेष अवस्थाओं तथा एक ऐसे मानसिक प्रकाश पर अवलंबित रहता है जो केवल एक कम या अधिक धुंधला आलोक ही हो सकता है। इसका सुख केवल क्षणिक तीव्रता या मर्यादित शांति ही हो सकता है। हमारी अध्यात्म-सत्ता का अनंत अध्यात्मज्ञान और निर्बंध स्वयं-स्थित आनंद तो एक और ही वस्तु है।

परंतु तब यह प्रश्न उठता है कि कैसे हमारी असीम एवं अविनाशी आत्मा, प्रकृति के अंदर जकड़ी हुई होने पर भी, इस प्रकार अपने-आपको उसकी निम्नतर क्रिया में आबद्ध कर लेती है तथा इस बंधन के अधीन हो जाती है, और कैसे यह, उस परम आत्मा के समान जिसका कि यह अंश है, अपने क्रियाशील क्रम-विकास के स्वरचित सीमाबंधन का उपभोग करती हुई भी अपनी अनंत सत्ता में स्वतंत्र नहीं है? गीता कहती है कि इसका कारण हैं गुणों तथा उनकी क्रियाओं

के फल-परिणाम के प्रति हमारी आसक्ति। वह कहती है कि सत्त्व सुख में आसक्त करता है, रज कर्म में आसक्त करता है और तम ज्ञान को आवृत करके भूल-भ्रांति एवं अकर्मरूपी प्रमाद में आसक्त कर देता है। अथवा, "सत्त्व ज्ञान तथा सुख के प्रति आसक्ति के द्वारा बांधता है, रज देहधारी आत्मा को कर्मासक्ति के द्वारा बांधता है और तम प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बांधता है।"[1] दूसरे शब्दों में, जीव गुणों तथा उनके परिणामों के उपभोग के प्रति आसक्ति के द्वारा अपनी चेतना को प्रकृति में मन-प्राण-शरीर के निम्नतर एवं बाह्य व्यापार पर केंद्रित करता है, इन वस्तुओं के दृश्य रूप के अंदर अपनेको कैद कर देता है और (अपनी स्थूल सत्ता के) पीछे की ओर आत्मा के अंदर अवस्थित अपनी महत्तर चेतना को भूल जाता है, मोक्षसाधक 'पुरुष' की स्वतंत्र शक्ति एवं क्षेत्र से अनभिज्ञ रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि मुक्ति और पूर्णता लाभ करने के लिए हमें इन चीजों से पीछे हटना होगा, गुणों से विलग होकर उनके ऊपर उठना होगा और प्रकृति के ऊपर अधिष्ठित उस मुक्त अध्यात्म-चेतना की शक्ति को पुनः प्राप्त करना होगा।

परंतु इसका अर्थ तो समस्त कर्म का निरोध करना प्रतीत होगा, क्योंकि समस्त प्राकृत कर्म गुणों के द्वारा संपन्न होता है, अर्थात् प्रकृति ही गुणों के द्वारा समस्त कार्य करती है। जीव अपने-आप कर्म नहीं कर सकता, वह तो प्रकृति तथा उसके गुणों के द्वारा ही कर्म कर सकता है। परंतु गीता, गुणों के बंधन से मुक्ति की मांग करती हुई भी, कर्म की आवश्यकता पर बार-बार बल देती है। यहीं फलत्याग पर उसके आग्रह का महत्व प्रकट होता है; क्योंकि फलों की कामना ही जीव के बंधन का अत्यंत सबल कारण है और इसका त्याग करके जीव कर्म में बंधनमुक्त हो सकता है। तामसिक कर्म का परिणाम होता है अज्ञान, राजसिक कार्यों का परिणाम होता है दुःख,—प्रतिक्रिया, निराशा, असंतुष्टि या नश्वरता का दुःख, और अतएव ऐसे कर्म के फलों के प्रति आसक्ति में कुछ लाभ नहीं क्योंकि इन फलों के साथ ये अनिष्ट सहचारी परिणाम जुड़े ही रहते हैं। उधर, ठीक प्रकार से किये गये कर्मों का फल शुद्ध और सात्त्विक होता है, उनका आंतरिक परिणाम होता है ज्ञान और सुख। परंतु इन सुखमय फलों के प्रति होनेवाली आसक्ति को भी पूर्ण रूप से त्यागना होगा, प्रथम तो इसे इस कारण त्यागना होगा कि मन के अन्दर ये फल सीमाबद्ध तथा सीमाकारी रूप हैं और दूसरे इस कारण कि इनका स्थायित्व सदैव अनिश्चित है क्योंकि सत्त्व निरंतर रज और तम के द्वारा जकड़ा और घिरा रहता है तथा ये उसे किसी भी क्षण अभि-

१. १४, ६-८

भूत कर सकते हैं। परन्तु, यदि कोई फल की सब प्रकार की आसक्ति से मुक्त भी हो, तो स्वयं कर्म के प्रति आसक्ति फिर भी रह सकती है और वह आसक्ति या तो स्वयं कर्मके प्रति—अर्थात् मूल राजसिक बंधन-रूप—हो सकती है, या प्रकृति की प्रेरणा के प्रति हमारी जड़ एवं शिथिल अधीनता के कारण, वह तामसिक हो सकती है, अथवा वह क्रियमाण कर्म के प्रलोभक औचित्य की खातिर भी हो सकती है जो कि पुण्यात्मा या ज्ञानवान् मनुष्य को वश में करनेवाला सात्त्विक आसक्ति-जनक कारण है। और स्पष्ट ही इसका उपाय हमें गीता के उस दूसरे उपदेश में मिलता है जिसमें कहा गया है कि हमें स्वयं कर्म को भी कर्मों के ईश्वर के प्रति उत्सर्ग करके उनके संकल्प का निष्काम और समचित्त उपकरण मात्र बनना होगा। यह देखना कि प्रकृति के गुण ही हमारे कार्यों के एकमात्र कर्त्ता और कारण हैं तथा जो भगवान् गुणातीत परम सत्ता हैं उन्हें जानना और उनकी ओर मुड़ना ही निम्नतर प्रकृति के ऊपर उठने का साधन है। केवल इस उपाय से ही हम भागवत गति और स्थिति, **'मद्भाव'**, उपलब्ध कर सकते हैं। इस मद्भाव के द्वारा मुक्त जीव जन्म और मृत्यु से तथा इनके सहचारी क्षय, वार्द्धक्य और दुःख-तापकी अधीनता से छूटकर अंततः अमृतत्व तथा सभी नित्य वस्तुओं का आस्वादन करेगा।

परंतु अर्जुन पूछता है कि ऐसे मनुष्य के लक्षण क्या होते हैं, उसका आचार-व्यवहार कैसा होता है तथा कैसे वह कर्म में रत भी त्रिगुणातीत कहलाता है? श्रीकृष्ण कहते हैं कि उसका लक्षण होता है वह समत्व जिसकी मैंने बारंबार चर्चा की है; उसका लक्षण यह है कि अपने अंदर में वह सुख और दुःख को एक समान समझता है, सोने, मिट्टी और पत्थर को समान मूल्य की चीजें समझता है और उसके लिए प्रिय-अप्रिय, निंदा-स्तुति, मान-अपमान, मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष—सब एक बराबर होते हैं। वह एक ज्ञानमय, अविचल, निर्विकार, आभ्यंतरिक शांति और स्थिरता में दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित रहता है। वह किसी भी कर्म का आरंभ नहीं करता, बल्कि सब कर्मों को प्रकृति के गुणों के द्वारा किये जाने के लिए छोड़ देता है। सत्त्व, रज या तम उसके बाह्य मन तथा शारीरिक चेष्टाओं में उभर सकता या दब सकता है और उसके परिणामस्वरूप प्रकाश एवं कर्म-प्रवृत्ति पैदा हो सकती है अथवा अकर्मण्यता उत्पन्न हो सकती है और मन तथा प्राण तमसाच्छन्न हो सकते हैं; किंतु जब एक उभरता या दूसरा दबता है तो वह हर्षित नहीं होता; दूसरी ओर, वह इन सब चीजों की प्रवृत्ति या निवृत्ति से कतराता या भागता भी नहीं। वह अपनेको गुणों की प्रकृति से भिन्न किसी अन्य तत्त्व की चिन्मय ज्योति में प्रतिष्ठित कर चुका होता है और वह महत्तर चेतना उसके अंदर इन शक्तियों से ऊपर

तथा इनकी गतियों से अचलायमान अवस्था में स्थिर रूप से अवस्थित रहती है जैसे कि जो मनुष्य अंतरिक्ष में अधिक ऊँचाई पर चला जाता है उसके लिये बादलों के ऊपर सूर्य सदा ही विद्यमान रहता है। उस ऊँचाई से वह देखता है कि गुण ही सब कर्म कर रहे हैं और उनकी जो विक्षुब्धता तथा स्थिरता हैं वे उसका अपना आत्म-स्वरूप नहीं बल्कि प्रकृति की एक गति मात्र हैं; उसकी आत्मा तो ऊर्ध्व में अविचल है और उसकी अध्यात्मसत्ता अस्थिर वस्तुओं की चंचल परिवर्तन-शीलता में भाग नहीं लेती। यह ब्राह्मी स्थिति की निर्व्यक्तिकता है; क्योंकि वह उच्चतर तत्त्व, वह महत्तर विशाल उच्चस्थ चैतन्य अर्थात् वह कूटस्थ ही अक्षर ब्रह्म है।

परंतु फिर भी यहाँ स्पष्ट रूप से एक द्वैत स्थिति है, सत्ता दो विपरीत भागों में अक्षर और क्षर में खंडित है, अक्षर पुरुष या ब्रह्म में मुक्त हुई आत्मा अमुक्त क्षर प्रकृति के व्यापार का निरीक्षण करती है। क्या कोई इससे महान् स्थिति नहीं है, पूर्णतर पूर्णता का कोई तत्त्व नहीं है, अथवा क्या यह विभाजन ही देह में प्राप्य उच्चतम चेतना है, और क्या इस क्षर प्रकृति का तथा प्रकृति के अंदर देह-धारण से उत्पन्न गुणों का त्याग और ब्रह्म की निर्व्यक्तिकता तथा नित्य शांति में लय ही योग का लक्ष्य है? क्या व्यष्टि-पुरुष का यह लय ही परम मोक्ष है? ऐसा प्रतीत होता है कि कोई और वस्तु भी है; क्योंकि गीता उपसंहार के रूप में कहती है—सदा इसी एक अंतिम स्वर को पुनः-पुनः गुँजाती है कि "जो मनुष्य अविचल प्रेम एवं भक्ति के साथ "मेरा" भजन करता है और "मुझे" प्राप्त करने के लिए यत्न करता है वह भी तीन गुणों को पार कर जाता है, वह भी ब्रह्मभाव प्राप्त करने के लिए तैयार है।" "मेरा" और "मुझे" शब्दों द्वारा सूचित यह "मैं" पुरुषोत्तम है जो शांत ब्रह्म, अमृतत्व, अक्षय अध्यात्म-जीवन, शाश्वत धर्म तथा परम आनंद का आधार है। इस प्रकार, एक ऐसी स्थिति भी है जो अक्षर की शांति से अधिक महान् है क्योंकि वह गुणों के परस्पर-विरोध का अविच-लित रूप में निरीक्षण करती है। ब्रह्म की अक्षरता के ऊपर एक उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति और 'प्रतिष्ठा' (सबका आश्रयभूत तत्त्व) है, कर्मविषयक राजसिक प्रेरणा, **'प्रवृत्ति'**, से अधिक महान् एक शाश्वत धर्म है, राजसिक दुःखके स्पर्श से परे तथा सात्त्विक सुख से अतीत एक चरम-परम आनन्द है, और ये चीजें पुरुषोत्तम की सत्ता और शक्ति में निवास करने से ही प्राप्त एवं अधिकृत की जा सकती हैं। पर, क्योंकि इसकी प्राप्ति भक्तिके द्वारा होती है, इसकी स्थिति होगी वह दिव्य आनंद जिसमें निरतिशय प्रेम[1] का मिलन तथा उपलब्धिमय

१. निरतिशयप्रेमास्पदत्वमानन्दतत्त्वम्।

एकत्व अनुभूत होता है और यही भक्ति का सर्वोच्च शिखर है। और उस आनंद में, उस अकथ एकत्व में उठ जाना ही आध्यात्मिक पूर्णता की पराकाष्ठा तथा अमृतत्वदायक नित्य धर्म की परिपूर्ति होगी।

तीन पुरुष[1]

गीता की शिक्षा, शुरू से अंत तक, अपनी सब दिशाओं में तथा अपने अत्यंत नमनीय मोड़ों के द्वारा एक ही केंद्रीय विचार की ओर मुड़ती है, और यह नाना दार्शनिक संप्रदायों के मतभेदों का हर तरह से संतुलन और सामंजस्य साधित करती हुई तथा अध्यात्म-अनुभूति के सत्यों किंवा प्रकाशों का सावधानतापूर्वक समन्वय करती हुई इसी विचार की ओर अग्रसर हो रही है। उन सत्यों एवं प्रकाशों को जब हम पृथक्-पृथक् लेते हैं तथा उनके आलोक की बाह्य रश्मियों एवं कलाओं का एकांगी रूप से अनुसरण करते हैं तो वे प्रायः परस्पर-विरोधी या, कम-से-कम, विभिन्न दिखाई देते हैं, पर यहाँ उन सबको एकत्र कर समन्वयकारी दृष्टि के एक ही केंद्र में ग्रथित कर दिया गया है। यह केंद्रीय विचार तीन प्रकार की चेतनाओं का विचार है जो तीन होती हुई भी एक हैं तथा सत्ता की संपूर्ण शृंखला में विद्यमान हैं।

इस संसार में एक आत्मसत्ता कार्य कर रही है जो इन अनगिनत दृश्यमान वस्तुओं में एक ही है। वह प्रकृति के असंख्य क्षर भावों में जन्म और कर्म की विकासकर्त्री है, जीवन को गति देनेवाली शक्ति है, अंतर्यामी और संयोजक चेतना है; देश और काल में यह जितनी भी गति हो रही है इसकी घटक वस्तु-सत्ता वही है; वह स्वयं ही यह देश, काल और घटना है। वही लोक-लोकांतरों में विद्यमान यह जीव-समूह है, वही सब देवता, मनुष्य, प्राणी, पदार्थ, शक्तियां, गुण, परिमाण, विभूतियां और उपस्थितियाँ है। वही प्रकृति है जो आत्मा की एक शक्ति है; वही सब विषय है जो उसके नाम-रूपात्मक तथा भावरूप दृग्विषय हैं; वही सर्वभूत है जो इस अद्वितीय स्वयं-सत् अध्यात्म-सत्ता के, इस एकमेव तथा सनातन के अंश, जन्म तथा भूतभाव हैं। परंतु जिसे हम अपने सामने प्रत्यक्ष रूप में कार्य करते देखते हैं वह यह सनातन तथा इसकी चिन्मय शक्ति नहीं है, बल्कि वह तो प्रकृति है जो अपनी क्रियाओं के अंध आवेग के वश अपने कार्य के अंदर विद्यमान आत्म-सत्ता से अभिज्ञ नहीं है। उसका कार्य यंत्रवत् क्रिया करनेवाले

---

१. गीता, अध्याय १५

कुछ एक मूल गुणों तथा शक्ति-तत्त्वों की अस्तव्यस्त, अज्ञानमय एवं सीमाबद्ध क्रीड़ा है और उनके स्थिर या परिवर्तनशील परिणामों की शृंखला है। और उसके कार्य-व्यापार में जो कोई भी जीव बाह्य स्तर पर प्रकट होता है वह स्वयं भी अज्ञानमय, पीड़ित, तथा इस निम्नतर प्रकृति की अपूर्ण एवं असंतोषजनक क्रीड़ा से आबद्ध दिखायी देता है। तथापि प्रकृति की अंतर्निहित सहजात शक्ति जैसी इस प्रकार प्रतीत होती है उससे भिन्न है; क्योंकि, अपने सत्य स्वरूप में गुप्त, पर अपने बाह्य रूपों में प्रकटीभूत वह ऊर्जा क्षर पुरुष एवं विश्वात्मा है, जागतिक प्रपंच और भूतभाव की परिवर्तनशीलता में विद्यमान आत्म-सत्ता है जो अक्षर तथा परम पुरुष के साथ एकीभूत है। हमें प्रकट रूपों के पीछे जाना तथा उनके अंदर छिपे हुए सत्य पर पहुँचना है; हमें इन पर्दों के पीछे विद्यमान आत्मसत्ता को ढूंढ़ निकालना है तथा व्यक्ति, विश्व और परात्पर सभी को उस एकमेव के रूप में देखना है, **'वासुदेवः सर्वमिति।'** परंतु जबतक हम अपरा प्रकृति में निमग्न रहते हैं तबतक इसे आंतरिक सत्य की दृष्टि से पूर्ण-रूपेण कार्य में परिणत करना संभव नहीं। क्योंकि, इस हीनतर गति में प्रकृति अविद्या एवं माया है; वह भगवान् को इसके आवर्तों के अंदर आश्रय देती है और उन्हें अपने-आपसे तथा अपने प्राणियों से छिपाती है। परमेश्वर अपने ही सकल-सृष्टिकारी योग की माया के द्वारा छिपे हुए हैं, वे 'नित्य' अनित्य के रूप में मूर्त्तिमन्त हैं, वे सत्स्वरूप अपने ही अभिव्यक्तिकारी दृश्य-प्रपंच के अंदर लीन तथा उसके द्वारा आच्छादित हैं। यदि क्षर पुरुष को अकेले, अपने स्वतंत्र रूप में लिया जाय, अविभक्त, अक्षर तथा परात्पर पुरुष से पृथक् विश्वगत, क्षर पुरुष के रूप में देखा जाय तो इसमें हमारे ज्ञान तथा सत्ता की पूर्णता नहीं है और अतएव इसमें मुक्ति भी कहाँ!

परंतु एक और आत्म-सत्ता भी है जिसका हमें बोध प्राप्त होता है पर जो इन चीजों में से कोई भी नहीं बल्कि आत्मा है और केवल आत्मा ही है। यह आत्मा सनातन है, सदा एकरस है, अभिव्यक्ति के द्वारा कभी परिवर्तित या प्रभावित नहीं होती, एक और स्थिर है, यह स्वयंभू सत्ता है जो विभक्त नहीं है और यहाँ-तक कि प्रकृति के अंदर पदार्थों और शक्तियों के विभाग से आपाततः भी विभाजित नहीं होती, प्रकृति के कर्म में वह निष्क्रिय रहती है तथा उसकी गति में निश्चल। यह सबकी आत्मा है और फिर भी अविचल, तटस्थ और अगोचर, मानों इसपर निर्भर करनेवाली ये सब चीजें अनात्मा हों, इसके अपने ही फल, शक्त्यंश और परिणाम न हों बल्कि एक दृश्य नाटक हों जो कि भाग-न-लेनेवाले अविचल द्रष्टा की आंख के सामने खेला जा रहा है। क्योंकि, इस नाटक में रंगमंच पर प्रकट

होने तथा भाग लेनेवाला मन तो उस आत्मा से भिन्न वस्तु है जो उदासीन भाव से कर्म को अपने अंदर धारण करती है। यह आत्मा कालातीत है, यद्यपि हम इसे काल के अंदर देखते हैं; यह देश में परिव्याप्त नहीं, यद्यपि हम इसे यों देखते हैं मानों यह देश को व्याप्त किये हुए हो। इसका ज्ञान हम उसी हद तक प्राप्त कर सकते हैं जिस हद तक हम बाहर से हटकर अंदर की ओर जाते हैं, अथवा क्रिया और गति के पीछे किसी नित्य और स्थिर वस्तु की ओर दृष्टि डालते हैं, या काल और उसकी सृष्टि से पीछे हटकर असृष्ट की ओर जाते हैं, दृश्य प्रपंच से मूल सत् की ओर, वैयक्तिक से निर्व्यक्तिकता की ओर, भूतभाव से अविकार्य स्वयंभू सत् की ओर जाते हैं। यही है अक्षर, क्षर वस्तुओं में अक्षर, सचल वस्तुओं में निश्चल, नश्वर में अविनाशी। अथवा, क्योंकि परिव्याप्ति तो केवल एक प्रतीयमान सत्य है, अतः असल में यूं कहना चाहिये कि क्षर और नश्वर वस्तुओं की सब गति अक्षर, अचल और अविनश्वर सत्ता के अंदर ही हो रही है।

क्षर आत्मा, जो हमें समस्त प्राकृत सत्ता तथा सर्वभूत के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है, अचल और सनातन अक्षर में व्यापक रूप से गति और क्रिया करती है। आत्मा की यह गतिशील शक्ति आत्मा की उस मूल स्थिरता के अंदर जड़प्रकृति के दूसरे तत्त्व वायु के रूप में, संयोजन और वियोजन तथा आकर्षण और विकर्षण की स्पर्श-गुणरूपी ऊर्जा के साथ कार्य करती है, तैजस (विकिरणशील, वाष्पीय और वैद्युत) तथा अन्य पांचभौतिक तत्त्वों की रचना-शक्ति को आश्रय देती है, आकाश की सूक्ष्म-विशाल स्थिरता में व्यापक रूप से वितत है। यह अक्षर है आत्मा जो कि बुद्धि से उच्चतर है—यह हमारी सत्ता के अंदर प्रकृति के उस उच्चतम आभ्यंतरिक तत्त्व, अर्थात् मोक्षप्रद बुद्धितत्त्व से भी परे है जिसके द्वारा मनुष्य अपने अस्थिर और चिर-चंचल मनोमय पुरुष से परे अपने शांत और नित्य आत्म-तत्त्व की ओर लौटता हुआ आवागमन से तथा सुदीर्घ कर्मशृंखला से अंततः छुटकारा प्राप्त करता है। अपनी उच्चतम अवस्था, **'परं धाम'**, में यह आत्मा आद्या विश्व-प्रकृति के अव्यक्त तत्त्व से भी परतर, **अव्यक्त** है और यदि जीव इस अक्षर तत्त्व की ओर मुड़ जाय तो जगत् और प्रकृति का प्रभुत्व उसपर से हट जाता है और वह जन्म से परे अपरिवर्तनशील नित्य जीवन में जा पहुँचता है। इस प्रकार ये दोनों—क्षर और अक्षर—ही दो पुरुष हैं जिन्हें हम इस जगत् में देखते हैं; एक तो इसके कर्म में सामने की ओर प्रकट होता है, दूसरा पीछे की ओर उस शाश्वत शांति में दृढ़ रूप से अवस्थित रहता है जिससे कर्म निःसृत होता है और जिसमें सब कर्म कालातीत सत्ता के अंदर निरुद्ध और विलीन हो जाते हैं, अर्थात् **निर्वाण** को प्राप्त हो जाते हैं। **'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षरएव च।'**

परंतु जो समस्या हमारी बुद्धि को चक्कर में डाल देती है वह यह है कि ये दोनों ऐसे परस्पर-विरोधी प्रतीत होते हैं कि इनमें किसी प्रकार का मेल नहीं बैठाया जा सकता, इनमें संबंध जोड़नेवाली कोई वास्तविक कड़ी है ही नहीं और इन दो में से एक से दूसरे पर पहुँचने के लिये विच्छेद की ऐकांतिक गति को छोड़कर और कोई साधन ही नहीं है। क्षर अक्षर के अंदर पृथक् रूप से कर्म करता या, कम-से-कम, कर्म का प्रचालन करता है। अक्षर अलग-थलग, आत्म-केंद्रित तथा अपनी निष्क्रियता में क्षर से पृथक् रहता है। प्रथम दृष्टि में प्रायः ऐसा प्रतीत होगा कि यदि हम सांख्यों के साथ एकमत होकर पुरुष और प्रकृति का आदि और सनातन द्वित्व स्वीकार कर लें, तो यह अधिक अच्छा, अधिक युक्ति-संगत तथा अधिक सहजग्राह्य होगा, भले ही हम उनकी तरह जीवों का सनातन बहुत्व न भी मानें। तब हमारा अक्षरसंबंधी अनुभव प्रत्येक 'पुरुष' का केवल अपने अंदर की ओर लौटना होगा, जीवन के संबंधों में उसका प्रकृति से मुंह मोड़ना होगा और फलतः अन्य जीवों के साथ होनेवाले समस्त संबंध से भी पराङ्मुख होना होगा; क्योंकि प्रत्येक ही अपने सारतत्त्व में स्वयं-पर्याप्त, अनंत और पूर्ण है। परंतु आखिरकार, अंतिम अनुभव सब भूतों के एकत्व का होता है जो केवल अनुभव का साम्य नहीं, प्रकृति की एक ही शक्ति के प्रति एकसमान अधीनता नहीं बल्कि आत्मिक एकत्व है, निर्धारण की इस सब अनंत विविधता के परे, सापेक्ष सत्ता की इस समस्त भासमान पृथक्ता के मूल में चिन्मय सत्ता का विराट् एकत्व है। गीता उस सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति को अपना आधार बनाती है। निःसंदेह, वह जीवों के एक ऐसे सनातन बहुत्व को स्वीकार करती प्रतीत होती है जो उनके नित्य एकत्व के अधीन तथा उस एकत्व के द्वारा धारित है, क्योंकि सृष्टि सदा से है और अभिव्यक्ति अंतहीन चक्रों में निरंतर चलती रहती है। गीता में कहीं भी अनंत के अंदर व्यष्टि-जीवन के पूर्ण विलय या विलोप की स्थापना नहीं की गयी और न ही उसमें कहीं ऐसी भाषा का प्रयोग किया गया है जो जीव के लय को सूचित करती हो। परंतु फिर भी वह प्रबल आग्रह के साथ यह कहती है कि अक्षर इन सब अगणित जीवों का एक आत्मा है, और इसलिए यह स्पष्ट है कि ये दो पुरुष एक ही सनातन और सार्वभौम सत् की द्विविध स्थिति हैं। यह एक अत्यंत प्राचीन सिद्धांत है; यह उपनिषदों की विशालतम दृष्टि का संपूर्ण आधार है,—जैसा कि हम उस प्रकरण में देखते हैं जहाँ ईशोपनिषद् हमें बतलाती है कि ब्रह्म गतिशील और स्थितिशील दोनों है, वह एक और बहु है, आत्मा और सर्वभूत है, **'आत्मन्, सर्वभूतानि'**, विद्या और अविद्या है, नित्य अज स्थिति भी है और सब भूतों का जन्म (संभूति) भी है, और यह भी बताती है कि इन चीजों में से किसी एक में ही रत

रहना तथा उसके शाश्वत प्रतिरूप का परित्याग कर देना एकांगी ज्ञान का अंधकार या अज्ञान का अंधकार है। वह भी गीता की तरह बलपूर्वक कहती है कि अमृतत्व का उपभोग करने तथा शाश्वत में निवास करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य दोनों को जाने तथा दोनों को अपनाये और परम देव का उसके सभी रूपों में ज्ञान प्राप्त करे, **'समग्रं माम्'**, जैसा कि गीता में कहा गया है। यहाँतक गीता की शिक्षा उपनिषदों की शिक्षा के उक्त पहलू से अभिन्न है; क्योंकि ये सद्वस्तु के दोनों पक्षों पर दृष्टि डालती और उन्हें अंगीकार करती है और फिर भी दोनों सिद्धांतरूप में तथा सत्ता के सर्वोच्च सत्य के रूप में एकत्व पर पहुँचती हैं।

पर यह महत्तर ज्ञान एवं अनुभव हमारी उच्चतम दृष्टि को प्रभावित करने में कितना ही सच्चा और कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, फिर भी इसे एक अत्यंत वास्तविक एवं गुरुतर समस्या से, एक व्यावहारिक तथा यौक्तिक विरोध से छुटकारा पाना है जो प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यात्म-अनुभव के उच्चतम शिखरों तक डटे रहनेवाला है। सनातन पुरुष इस गतिशील आंतर एवं बाह्य अनुभव से भिन्न है, एक अधिक महान् चैतन्य है, **'न इदं यद् उपासते'**[1] परन्तु इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि यह सब वह 'सनातन' है, आत्मा का शाश्वत आत्म-दर्शन है, **'सर्वं खलु इदं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।'**[2] उस सनातन ने ही सर्व भूतों का रूप धारण किया है, **'आत्मा अभूत् सर्वभूतानि;'**[3] जैसा कि श्वेताश्वतर में कहा गया है, "तू यह कुमार और वह कुमारी है और तू ही वह वृद्ध पुरुष है जो अपनी लाठी के सहारे चलता है",—और जैसा कि गीता में भी भगवान् कहते हैं कि वे कृष्ण, अर्जुन, व्यास और उशनस् हैं, सिंह और अश्वत्थ वृक्ष हैं, सब जीवों की चेतना एवं प्रज्ञा हैं, उनके सब गुण और अंतरात्मा हैं। परन्तु ये दोनों पुरुष भला एक कैसे हैं, जब कि केवल यही नहीं प्रतीत होता कि वे प्रकृति में इतने विपरीत हैं, बल्कि यह भी प्रतीत होता है कि अनुभव में उन्हें एक करना भी अतीव कठिन है? क्योंकि, जब हम भूतभाव की सचलता में निवास करते हैं तब हम कालातीत स्वयंभू सत्ता के अमृतत्व से सज्ञान भले ही हों, पर उसमें निवास कदाचित् ही करते हैं। और जब हम अपनेको कालातीत सत् के अंदर सुप्रतिष्ठित कर लेते हैं तब देश, काल और घटना—सभी हमसे झड़कर दूर हो जाते हैं और अनंत में एक विक्षुब्ध स्वप्न प्रतीत होने लगते हैं। अतएव,

---

१. केन उपनिषत्।

२. माण्डूक्य उपनिषत्: निश्चय ही यहां जो कुछ भी है वह सब ब्रह्म है, और आत्मा ब्रह्म है।

३. ईश उपनिषत्।

प्रथम दृष्टि में, सर्वाधिक हृदयग्राही सिद्धांत यह प्रतीत होगा कि प्रकृति के अंदर आत्मा की सचलता एक भ्रम है, एक ऐसी चीज है जो केवल तभी तक सत्य है जबतक हम इसमें निवास करते हैं, पर जो परमार्थतः सत्य नहीं है, और यही कारण है कि जब हम आत्मा के अंदर लौटते हैं, यह हमारे अविकार्य मूलतत्त्व से झड़कर अलग हो जाती है। इस पहेली का प्रसिद्ध समाधान यही है, **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।'**

गीता इस समाधान का आश्रय नहीं लेती, क्योंकि उक्त भ्रम की व्याख्या करने में असमर्थता के अतिरिक्त इसकी अपनी और भी गुरुतर कठिनाइयाँ हैं,— यह समाधान तो इतना ही कहता है कि यह सब रहस्यमय और अगम माया है, और उसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि यह सब रहस्यमय और अगम युगल सद्वस्तु है, आत्मा अपनेको आत्मा से छिपाये हुई है। गीता भी माया की चर्चा करती है, पर केवल इस रूप में कि वह एक भ्रमोत्पादक खण्ड-चेतना है जो पूर्ण सद्वस्तु को ग्रहण नहीं कर पाती तथा सचल प्रकृति के प्रपंच में निवास करती है और जिस परम आत्मा की यह सक्रिय शक्ति है, **'मे प्रकृतिः'**, उसका इसे कुछ भी आभास नहीं। जब हम इस माया को पार कर जाते हैं तो यह जगत् लुप्त नहीं हो जाता, बल्कि केवल इसके अर्थ का संपूर्ण हार्द बदल जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि में हमें जो कुछ पता चलता है वह यह नहीं कि इस सब जगत् का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, बल्कि इस सबका अस्तित्व तो है, पर इसके वर्तमान भ्रांत अर्थ से भिन्न, इसका एक दूसरा ही आशय है : सब कुछ ही भगवान् है, आत्मा है, उसीकी जीव-सत्ता और उसीकी प्रकृति है, सब ही वासुदेव है। गीता के लिए यह जगत् वास्तविक है, ईश्वर की सृष्टि, सनातन की शक्ति तथा परब्रह्म की अभिव्यक्ति है, और यहाँतक कि त्रिगुणमयी माया की यह निम्नतर प्रकृति भी परा दैवी प्रकृति से उद्भूत हुई है। न ही हम पूर्ण रूप से इस विभेद की शरण ले सकते हैं कि सद्वस्तु द्विविध है, एक तो हीनतर, सक्रिय और अनित्य और दूसरी कर्म से अतीत, उच्चतर, शांत, स्थिर और शाश्वत, और इस आंशिक वस्तु से उस वृहत् वस्तु की ओर, कर्म से निश्चल-नीरवता की ओर चले जाना ही हमारी मुक्ति है। कारण, गीता आग्रहपूर्वक कहती है कि हम अपने जीवन-काल में ही आत्मा तथा उसकी नीरवता में सचेतन रूप से रह सकते हैं और फिर भी प्रकृति के जगत् में शक्तिशाली रूप से कार्य कर सकते हैं एवं हमें इस प्रकार रहना तथा करना भी चाहिए। और, वह स्वयं भगवान् का दृष्टांत देती है जो जन्म की अनिवार्यता से बँधे नहीं हैं, बल्कि स्वतंत्र हैं तथा सृष्टि से उच्चतर हैं और फिर भी नित्य-निरंतर कर्म में रत रहते हैं, **'वर्त एव च कर्मणि।'** अतएव

दैवी प्रकृति के साथ पूर्णरूपेण साधर्म्य लाभ करने से ही इस द्विविध अनुभव की एकता पूर्ण रूप से प्राप्त हो सकती है। परन्तु उस एकता का मूल सूत्र क्या है?

गीता को यह सूत्र पुरुषोत्तम-विषयक अपनी परमोच्च दृष्टि में प्राप्त हुआ है; क्योंकि उसके मत में यही पूर्ण और सर्वोच्च कोटि का अनुभव है, यह पूर्ण ज्ञानी लोगों का, **'कृत्स्नविदः'** का ज्ञान है। अक्षर **पर** हैं, विश्व-प्रकृति की सभी वस्तुओं तथा समस्त कर्म के संबंध से वे परमोच्च सत्ता हैं। वे सबके अक्षर आत्मा हैं, और सबके अक्षर आत्मा हैं पुरुषोत्तम। उनकी अपनी प्रकृतिगत शक्ति के कर्म से अप्रभावित, उनकी अपनी संभूति की प्रेरणा से अक्षत, उनके अपने गुणों की क्रीड़ा से अविचलित उनकी जो स्वयंस्थित सत्ता है उसकी स्वतंत्रता में वे (पुरुषोत्तम) अक्षर हैं। पर यह तो समग्र ज्ञान का केवल एक ही पहलू है, यद्यपि है एक महान् पहलू। इसके साथ ही पुरुषोत्तम अक्षर से भी अधिक महान् हैं, क्योंकि वे इस अक्षर भाव से अधिक कुछ हैं और वे अपनी सत्ता के सर्वोच्च नित्य धाम, **'परं धाम'** के द्वारा भी परिसीमित नहीं हैं। तो भी, हमारे अंदर जो कोई अक्षर एवं नित्य तत्व है उसीके द्वारा हम उस सर्वोच्च धाम को प्राप्त करते हैं जहाँ से पुनः जन्म लेने के लिए नहीं लौटना पड़ता, और यही वह मोक्ष था जिसे पुराकाल के ज्ञानिजन एवं प्राचीन ऋषि-मुनि खोजा करते थे। परन्तु जब केवल अक्षर के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के लिए यत्न किया जाता है तो वह यत्न अनिर्देश्य की खोज का रूप धारण कर लेता है, जो कि हमारी प्रकृति के लिए एक कठिन कार्य है, क्योंकि हम यहाँ जड़प्रकृति में देह धारण किये हुए हैं। वह अनिर्देश्य जिसकी ओर अक्षर, अर्थात् यहाँ हमारे अंदर विराजमान शुद्ध अगोचर आत्मा वैराग्य के आवेग के साथ ऊपर उठती है, कोई परम अव्यक्त सत्ता है, **'परोऽव्यक्तः'**, और वह उच्चतम अव्यक्त अक्षर भी पुरुषोत्तम है। इसलिए गीता ने कहा है कि जो लोग अनिर्देश्य का अनुसरण करते हैं वे भी **मुझे**, सनातन परमेश्वर को प्राप्त करते हैं। किन्तु फिर भी वे उच्चतम अव्यक्त अक्षर से भी अधिक हैं, किसी भी निषेधात्मक निरपेक्ष तत्त्व, **'नेति, नेति'** से अधिक हैं, क्योंकि उन्हें उन उत्तम पुरुष के रूप में भी जानना होगा जो इस संपूर्ण ब्रह्माण्ड को अपनी ही सत्ता के अंदर विस्तारित करते हैं। वे परम रहस्यमय सर्व हैं, यहाँकी सब वस्तुओं के मूलभूत अनिर्वचनीय निरपेक्ष सत् हैं। वे क्षर में विद्यमान ईश्वर हैं, केवल वहीं नहीं, बल्कि यहाँ प्रत्येक प्राणी के हृदय में विराजमान पुरुषोत्तम हैं, ईश्वर हैं। और वहाँ अपने नित्य परम पद, **'परो अव्यक्तः'** में भी वे परमेश्वर हैं, विविक्त और संबंध-रहित अनिर्देश्य नहीं, बल्कि जीव और जगत् के उद्गम, माता-पिता, आदि मूल तथा नित्य आश्रय हैं, सर्वभूतों के स्वामी तथा यज्ञ और

तप के भोक्ता हैं। उन्हें अक्षर और क्षर दोनों रूपों में एक साथ जानकर, उन अजन्मा के रूप में जानकर जो प्राणिमात्र के जन्म में अपनेको अंशतः प्रकट करते हैं और यहाँतक कि स्वयं भी शाश्वत अवतार के रूप में अवतीर्ण होते हैं, उन्हें उनके समग्र रूप में, **'समग्रं माम्'**, जानकर ही जीव निम्नतर प्रकृति के बाह्य रूपों से सुगमतया मुक्त हो सकता है तथा एक वृहत् आकस्मिक विकास एवं विशाल अपरिमेय आरोहण के द्वारा दिव्य सत् और पराप्रकृति में लौट सकता है। क्योंकि क्षर का सत्य भी पुरुषोत्तम का सत्य है। पुरुषोत्तम प्रत्येक प्राणी के हृदय में हैं और अपनी अगणित विभूतियों में प्रकट हुए हैं; पुरुषोत्तम काल के अंदर विश्वात्मा हैं और वही मुक्त मानव आत्मा को दिव्य कर्म का आदेश देते हैं। वे अक्षर और क्षर दोनों हैं, और फिर भी वे इनसे भिन्न हैं, क्योंकि वे इन विपरीत रूपों में से प्रत्येक से अधिक और महत्तर हैं। **'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।'** "परन्तु वे उत्तम पुरुष इन दोनों से भिन्न हैं, वे परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे अव्यय ईश्वर हैं और तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उन्हें धारण करते हैं।"[१] यह श्लोक हमारी सत्ता के इन दो आपात-विरोधी पक्षों के गीताकृत समन्वय की कुंजी है।

पुरुषोत्तमसंबंधी विचार की भूमिका बाँधी जा चुकी है, इसकी ओर संकेत किया जा चुका है, इसका आभास दिया जा चुका है, यहाँतक कि इसे आरंभ से ही मान लिया गया है, पर इसका स्पष्ट वर्णन तो अब जाकर पन्द्रहवें अध्याय में ही किया गया है और अब ही इसे एक नाम देकर पुरुषत्रय के भेद पर प्रकाश डाला गया है। और फिर अगले ही क्षण किस प्रकार इस विषय में प्रवेश करके इसका विकास किया गया है यह देखना बोधदायक होगा। हमें बताया जा चुका है कि दैवी प्रकृति में आरोहण करने के लिए सर्वप्रथम हमें अपने-आपको पूर्ण आध्यात्मिक समता में प्रतिष्ठित करना होगा तथा त्रिगुणात्मिका निम्नतर प्रकृति से ऊपर उठना होगा। इस प्रकार निम्नतर प्रकृति को पार कर हम निर्व्यक्तिकता में सुप्रतिष्ठित हो जाते हैं, कर्ममात्र से ऊपर उठकर अविचल स्थिति लाभ कर लेते हैं, त्रिगुण द्वारा उत्पन्न समस्त सीमा और परिच्छिन्नता से मुक्त हो जाते हैं, यह स्थिति पुरुषोत्तम की व्यक्त प्रकृति का एक पार्श्व है, आत्मा की नित्यता एवं एकता तथा अक्षर-सत्ता के रूप में उनकी अभिव्यक्ति है। परन्तु जीव की अभिव्यक्ति के आदि रहस्य के पीछे पुरुषोत्तम का एक अनिर्वचनीय नित्य बहुत्व, एक परमोच्च सत्यतम सत्य भी है। अनंत भगवान् में एक सनातन शक्ति है, अपनी दिव्य प्रकृति का एक अनाद्यनन्त कर्म-प्रवाह है और उस कर्म-

१. १५, १७

प्रवाह में निर्व्यक्तिक दीखनेवाली शक्तियों की क्रीड़ा से जीव-व्यक्तित्वरूपी आश्चर्य प्रकट होता है, **'प्रकृतिर्जीवभूता।'** इस आश्चर्य के संभव होने का कारण यह है कि व्यक्तित्व भी भगवान् का ही एक रूप है और वह अनंत में अपना सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य एवं सार्थकता प्राप्त करता है। परन्तु अनंत के भीतर स्थित 'व्यक्ति' निम्नतर प्रकृति का अहमात्मक, भेदमूलक, विस्मृतिपूर्ण व्यक्तित्व नहीं है; वह तो एक उदात्त, विश्वमय और विश्वातीत, अमर और दिव्य सत्ता है। उन परम पुरुष का यह रहस्य ही प्रेम और भक्ति का गुप्त मर्म है। हमारा अंतरस्थ आध्यात्मिक पुरुष, नित्य जीवात्मा अपने-आपको तथा उसके पास जो कुछ भी है और वह स्वयं जो कुछ है उस सबको उन शाश्वत भगवान्, परम पुरुष एवं परमेश्वर के प्रति अर्पित कर देता है जिनका कि वह अंश है। इस आत्म-दान में ही, अपने व्यक्तित्व तथा इसके कर्मों के अनिर्वचनीय प्रभु के प्रति प्रेम और भक्ति के द्वारा अपनी वैयक्तिक प्रकृति को इस प्रकार ऊपर उठा ले जाने में ही ज्ञान अपनी पूर्णता लाभ करता है; कर्मों का यज्ञ इसके द्वारा अपनी सिद्धि और पूर्ण अनुमति प्राप्त करता है। सो, इन चीजों के द्वारा ही मनुष्य की आत्मा इस अन्य शक्तिशाली क्रियाशील रहस्य में, दिव्य प्रकृति के इस अन्य महान् एवं अंतरीय अंग में अपनी पूर्णतम चरितार्थता प्राप्त करती है और उस पूर्णता के द्वारा अमृतत्व, परम सुख एवं शाश्वत धर्म का आधार उपलब्ध करती है। और, इस प्रकार गीता ने पहले तो एकमेव आत्मा में समता तथा एकमेव परमेश्वर की आराधना इन दो आवश्यक साधनों का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया है मानों ये ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने के, **'ब्रह्मभूयाय'**, दो भिन्न-भिन्न साधन हों,—एक तो निवृत्तिमार्गी संन्यास का मार्ग हो और दूसरा दिव्य प्रेम एवं दिव्य कर्म का। परन्तु इसका प्रतिपादन करने के बाद अब गीता सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक को पुरुषोत्तम में एकीभूत करने तथा उनके संबंधों का निरूपण करने की ओर अग्रसर होती है। क्योंकि गीता का लक्ष्य एकांगी भावों तथा भेदजनक अति-रंजनाओं से मुक्त होना तथा ज्ञान एवं आध्यात्मिक अनुभव के इन दो पक्षों को घुला-मिलाकर परम सिद्धि के एक ही पूर्ण पथ में परिणत कर देना है।

यहाँ सबसे पहले गीता अश्वत्थ वृक्ष के वैदांतिक रूपक की भाषा में जगत् का वर्णन करती है। जागतिक सत्ता के इस वृक्ष का देश या काल में कोई आदि और अंत नहीं है, **'नान्तो न चादिः'**; क्योंकि यह शाश्वत, अव्यय एवं अविनाशी है। इसका वास्तविक स्वरूप हम नर-देहधारियों के इस जड़ जगत् में नहीं देख सकते, और न ही यहाँ इसका कोई स्थायी मूल दिखायी देता है; यह एक अनंत गति है और इसका आधार ऊपर अनंत के परम धाम में है। इसका

मूल तत्त्व है कर्म करने की पुरातन और अनंत **प्रवृत्ति**, जो समस्त सत्ता के आद्य पुरुष से अनाद्यनंत रूप में सदैव निःसृत होती रहती है, **'आद्यं पुरुषं....यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।'** इसलिए इसका मूल उद्गम ऊपर काल से परे उन अनंत में है, पर इसकी शाखाएँ नीचे की ओर फैली हुई हैं और यह अपनी अन्य जड़ें, आसक्ति और कामना की सुदृढ़ और **दुश्छेद्य** जड़ें, जिनके परिणाम-स्वरूप अधिकाधिक कामना तथा अनंत-विस्तारशील कर्म-प्रपंच उत्पन्न होता है, यहाँ मनुष्यों के जगत् में विस्तारित करता है तथा नीचे की ओर गहरी जमाता है। वेद के छंदों को इसके पत्तों से उपमा दी गयी है और जो मनुष्य सृष्टि के इस वृक्ष को जानता है उसे वेदविद् कहा गया है। और, वेद या कम-से-कम वेदवाद के संबंध में जो किंचित् निंदात्मक विचार हम पहले देख आये हैं उसका आशय हमें यहाँ समझ में आ जाता है। क्योंकि वेद हमें जो ज्ञान प्रदान करता है वह देवताओं तथा सृष्टि के मूल तत्त्वों एवं शक्तियों का ज्ञान है, और इसके फल काम्य, अर्थात् कामनापूर्वक किये जानेवाले यज्ञ के फल हैं, तीन लोकों की, भूलोक, द्युलोक तथा अंतरिक्षलोक की प्रकृति में उपभोग एवं प्रभुत्वरूपी फल हैं। इस संसार-तरु की शाखाएँ नीचे और ऊपर दोनों ओर फैली हुई हैं, नीचे भूलोक में तथा ऊपर अतिभौतिक लोकों में; वे प्रकृति के गुणों के सहारे फलती-फूलती हैं, क्योंकि केवल त्रिगुण ही वेदों का संपूर्ण विषय है, **'त्रैगुण्यविषया वेदाः।'** वेद के छंद, **'छंदांसि,'** पत्ते हैं तथा सब इंद्रियभोग्य विषय, जो यथाविधि यज्ञ करने से सर्वोत्तम रूप में प्राप्त होते हैं, निरंतर प्रस्फुटित होनेवाले पल्लव हैं। अतएव, जबतक मनुष्य गुणों की क्रीड़ा का उपभोग करता है तथा कामनाओं में लिप्त है तबतक वह प्रवृत्ति के चक्रों में, जन्म और कर्म के प्रवाह में फँसा हुआ है, वह निरंतर भूलोक, मध्य के लोकों तथा स्वर्ग-लोकों के बीच चक्कर काटता रहता है तथा अपनी परमोच्च आध्यात्मिक अनंतताओं की ओर लौटने में समर्थ नहीं होता। प्राचीन ऋषियों ने इस बात को अनुभव कर लिया था। अतएव, वे मोक्ष की प्राप्ति के लिए निवृत्ति या कर्म की मूल प्रेरणा के निरोध के मार्ग का अनुसरण करते थे और इस मार्ग की पराकाष्ठा है स्वयं जन्म का ही निरोध तथा सनातन की सर्वोच्च विश्वातीत भूमिका में परात्पर पद की प्राप्ति। परन्तु इसके लिए अनासक्ति के प्रबल खड्ग से कामना की इन सुदृढ़ जड़ों को काटना और फिर उस परम लक्ष्य की खोज करना आवश्यक है जहाँसे, एक बार वहाँ पहुँच जाने के बाद, पुनः मर्त्य जीवन में लौटना नहीं पड़ता। इस निम्नतर माया के व्यामोह से मुक्त होना, अहं से रहित होना, आसक्ति के महान् दोष को जीतना, सब कामनाओं को शांत करना, हर्ष-शोक के द्वंद्व को दूर हटा देना, सदैव शुद्ध अध्यात्म-चेतना में प्रतिष्ठित

रहना—यही उन परम अनंत की ओर जानेवाले पथ के सोपान हैं। वहाँ हमें उस कालातीत सत्ता की उपलब्धि होती है जो सूर्य, चन्द्र या अग्नि के द्वारा प्रकाशमान नहीं होती, बल्कि जो स्वयं ही सनातन पुरुष की उपस्थिति की ज्योति है। वेदांत के एक श्लोक में कहा गया है कि मैं केवल उन आद्य जगदात्मा को ही खोजने तथा महान् पथ पर उन्हें प्राप्त करने के लिए इधर से फिरकर उनकी ओर अभिमुख होता हूँ। वह पुरुषोत्तम का परम पद है, उनकी विश्वातीत सत्ता है।

परन्तु ऐसा प्रतीत होगा कि यह परम पद संन्यासमार्गीय निवृत्ति के द्वारा सम्यक् रूप से, यहाँतक कि सर्वोत्तम रीति से, विशिष्ट और साक्षात् रूप से, प्राप्त किया जा सकता है। इसकी प्राप्ति का नियत पथ अक्षर का मार्ग, अर्थात् कर्म और जीवन के पूर्ण त्याग, संन्यासी के एकांतवास, संन्यासी की निष्क्रियता का मार्ग प्रतीत होगा। यहाँ कर्म के आदेश के लिए अवकाश ही कहाँ है, अथवा कम-से-कम उसके लिए पुकार एवं आवश्यकता ही कहाँ है, और इस सबके साथ लोकसंग्रह, कुरुक्षेत्र का संहार, कालपुरुष की गतिविधि, कोटि-कोटि-देहधारी ईश्वर के दर्शन तथा उनका जलद-गंभीर आदेश,—"उठ, शत्रु का वध कर तथा समृद्ध राज्य का उपभोग कर"[1]— इन सबका संबंध ही क्या है? और फिर यह प्रकृतिगत पुरुष कौन है? यह पुरुष भी, यह क्षर, हमारी परिवर्तनशील सत्ता का यह भोक्ता भी पुरुषोत्तम ही है,; गीता उत्तर देती है कि अपने सनातन बहुत्व में विद्यमान पुरुषोत्तम ही क्षर हैं। "मेरा एक सनातन अंश ही जीवों के जगत् में जीव बनता है।"[2] यह एक ऐसा विशेषण एवं कथन है जो एक अत्यंत गुरुतर अर्थ एवं महत्त्व रखता है। क्योंकि इसका अर्थ है कि प्रत्येक जीव, प्रत्येक व्यष्टि-पुरुष अपने आध्यात्मिक सत्स्वरूप में साक्षात् भगवान् ही है, भले ही प्रकृति के अंदर वह वस्तुतः उन्हें कितने ही आंशिक रूप में क्यों न प्रकट करता हो। और, यदि शब्दों का कुछ अर्थ है तो, इसका यह भी अर्थ है कि प्रकट होनेवाली प्रत्येक आत्मा, बहु में से हरएक, सनातन व्यष्टि है, एक सत् की नित्य अजन्मा अमर शक्ति है। प्रकट होनेवाली इस आत्मा को हम जीव कहते हैं, क्योंकि यहाँ सजीव प्राणियों के जगत् में यह ऐसा प्रतीत होती है जैसे यह एक सजीव प्राणी हो, और मनुष्य में अवस्थित इस आत्मा को हम मानव जीव कहते हैं और इसके विषय में केवल मानवता की परिभाषा में ही सोचते हैं। परन्तु वास्तव में यह अपनी वर्तमान प्रतीति से अधिक महान् कोई वस्तु है तथा अपनी मानवता से आबद्ध नहीं है : अपने अतीत में यह मानव से भी

१. ११, ३३
२. १५, ७

अवर अभिव्यक्ति थी, अपने भविष्य में यह मनोमय मनुष्य से भी अत्यधिक महान् वस्तु बन सकती है। और, जब यह जीव सब अज्ञानमय सीमाओं से ऊपर उठ जायगा तब यह अपनी दिव्य प्रकृति धारण कर लेगा जिसका कि इसकी मानवता केवल एक अस्थायी पर्दा है, आंशिक एवं अपूर्ण अर्थवाली वस्तु है। व्यष्टिगत आत्मा इस लोक के परे सनातन के अंदर विद्यमान है और सदा ही विद्यमान थी, क्योंकि वह स्वयं भी सनातन है। स्पष्टतः, जीव की सनातनता के इस विचार से प्रेरित होकर ही गीता ने ऐसे किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं किया है जो पूर्ण लय की ओर जरा भी संकेत करता हो, बल्कि उसने पुरुषोत्तम के अंदर निवास करने को ही जीव की सर्वोच्च स्थिति बताया है, **'निवसिष्यसि मय्येव।'** यद्यपि 'सबके एक आत्मा' के विषय में कहती हुई वह अद्वैत की भाषा का प्रयोग करती दिखायी देती है, तो भी सनातन व्यष्टि का यह नित्य सत्य, **'ममांशः सनातनः'**, एक और चीज को जोड़ देता है, एक विशेषण लगा देता है और वह विशेषण प्रायः विशिष्टाद्वैत की दृष्टि को ही स्वीकार करता प्रतीत होता है,—यद्यपि इसके आधार पर हमें एकदम यह परिणाम नहीं निकाल लेना चाहिए कि गीता का दर्शन बस यही कुछ है या उसकी शिक्षा रामानुज के परवर्ती सिद्धांत के सर्वथा समान है। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि एकमेव भागवत सत् की आध्यात्मिक सत्ता में बहुत्व का एक शाश्वत, केवल भ्रमात्मक ही नहीं, बल्कि एक वास्तविक तत्त्व विद्यमान है।

यह सनातन व्यष्टि भागवत पुरुष से इतर नहीं है, न यह उससे किसी प्रकार वस्तुतः पृथक् ही है। यह साक्षात् ईश्वर ही है जो अपने एकत्व के सनातन बहुत्व के द्वारा—क्या समस्त सत्ता अनंत के इस सत्य की ही अभिव्यक्ति नहीं है?—हमारे अंदर अविनाशी जीव के रूप में सदा विद्यमान रहते हैं और जिन्होंने यह शरीर धारण किया है तथा जब यह नश्वर ढाँचा प्रकृति के तत्त्वों में विलीन होने के लिए उतार फेंका जाता है तो इससे बाहर निकल जाते हैं। वे मन तथा इंद्रियों के विषयों के उपभोग के लिए प्रकृति की आभ्यन्तरिक शक्तियों, मन और पाँच इंद्रियों को अपने साथ लाते तथा विकसित करते हैं, और अपने बाहर निकलने के समय भी वे उन्हें साथ लेकर जाते हैं जैसे वायु किसी पुष्प-पात्र से सुरभि-गंधों को लेती जाती है। परन्तु ईश्वर तथा क्षर-प्रकृतिस्थ जीव की एकात्मता बाह्य प्रतीति के कारण हमसे छिपी हुई है तथा क्षर प्रकृति की चल छलनाओं की भारी भरमार में खो गयी है। और, जो लोग अपने-आपको प्रकृति के रूपों, मानवता के रूप या किसी अन्य रूप के द्वारा परिचालित होने देते हैं वे इस एकत्व को कभी नहीं देख पायेंगे, बल्कि मानव-तनु में अवस्थित

भगवान् की अवज्ञा और अवहेलना ही करेंगे। उनका अज्ञान भगवान् को उनके प्रविष्ट होने तथा बाहर निकलने या स्थित रहने तथा भोग करने एवं गुणों को धारण करने में अनुभव नहीं कर सकता, बल्कि उनमें वह (अज्ञान) केवल वही चीज देखता है जो मन और इंद्रियों के लिए गोचर होती है, उस महत्तर सत्य को नहीं देखता जिसकी झाँकी केवल ज्ञान-चक्षु के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। ऐसे लोग उनकी झलक पाने का यत्न भले ही करें तो भी वे उसे तबतक कदापि नहीं पा सकते जबतक वे बाह्य चेतना की सीमाओं को दूर करना न जान लें और अपने अंदर अपनी अध्यात्मसत्ता गठित न कर लें, मानों उसके लिए अपनी प्रकृति के अंदर एक रूप ही निर्मित न कर लें। अपने-आपको जानने के लिए मनुष्य को **'कृतात्मा'** बनना होगा, अर्थात् उसे अपने आध्यात्मिक साँचे में गठित एवं पूर्ण तथा अध्यात्म-दृष्टि में उद्दीप्त बनना होगा। ज्ञानदृष्टि से संपन्न योगिजन अपने अनंत सत्स्वरूप में, अपनी आत्मा की शाश्वतता में हमारे वास्तविक स्वरूप भागवत पुरुष के दर्शन करते हैं। ज्ञान से दीप्त होकर वे अपने अंदर प्रभु का साक्षात्कार करते हैं और स्थूल जड़प्राकृतिक सीमा से, मानसिक व्यक्तित्व के रूप तथा नश्वर प्राणिक रचना से मुक्त हो जाते हैं ; वे आत्मा और अध्यात्म-सत्ता के सत्य में अमर होकर निवास करते हैं। परन्तु वे केवल अपने अंदर ही नहीं, बल्कि समस्त सृष्टि में भी उनके दर्शन करते हैं। इस संपूर्ण संसार को उद्भासित करनेवाले सूर्य के तेज में वे हमारे अंदर बसनेवाले भगवान् का ही तेज देखते हैं ; क्योंकि चंद्रमा और अग्नि में जो तेज है वह भगवान् का ही तेज है। वे भगवान् ही पृथ्वी के इस रूप के अंदर अनुप्रविष्ट हैं, वे ही इसकी जड़प्राकृतिक शक्ति की आत्मा हैं और अपने सामर्थ्य के द्वारा इन अनेकानेक भूतों का धारण-भरण करते हैं। भगवान् ही सोम देवता हैं, जो, पृथ्वी-माता के रस के द्वारा, उसे शस्य-श्यामल करनेवाली वृक्ष-वनस्पतियों का पोषण करते हैं। भगवान् ही, अन्य कोई नहीं, वह प्राणाग्नि हैं जो जीवधारी प्राणियों की स्थूल देह को धारण करती है और इसके आहार को उनकी प्राणशक्ति का पोषक रस बना देती है। वे प्रत्येक प्राणधारी सत्ता के हृदय में आसीन हैं ; उन्हींसे स्मृति, ज्ञान तथा तार्किक वाद-विवाद उद्भूत होते हैं। सब वेदों तथा सब प्रकार के ज्ञानों के द्वारा ज्ञेय वे ही हैं ; वे वेदवित् तथा वेदांत के कर्ता हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् एक ही साथ जड़तत्त्व की आत्मा, प्राण की आत्मा, मन की आत्मा हैं तथा उस अति-मानसिक ज्योति की भी आत्मा हैं जो मन और इसकी संकीर्ण तर्कबुद्धि से परे है।

इस प्रकार भगवान् अपनी रहस्यमय युगल आत्मा में, अपनी द्विविध शक्ति में प्रकटीभूत हैं, **'द्वाविमौ पुरुषौ'** ; वे एक साथ ही क्षर वस्तुओं की उस आत्मा

को धारण करते हैं जिससे ये सर्वभूत निर्मित हुए हैं, **'क्षरः सर्वाणि भूतानि'**, तथा उस अक्षर आत्मा को भी धारण करते हैं जो सर्वभूतों के ऊपर उनकी शाश्वत नीरवता और स्थिरता की अक्षुब्ध अचलता में स्थित रहती है। और इनके अंदर विद्यमान भागवत शक्ति के कारण ही मनुष्य के मन, हृदय और संकल्प-शक्ति इन दो आत्माओं के द्वारा विभिन्न दिशाओं में इतनी प्रबलता के साथ खींचे जाते हैं मानों ऐसे दो विरोधी एवं विसंगत आकर्षणों के द्वारा खींचे जा रहे हों जिनमें से प्रत्येक दूसरेको विनष्ट करने पर तुला हुआ है। परन्तु भगवान् न तो पूर्ण रूप से क्षर हैं और न पूर्ण रूप से अक्षर ही हैं। वे अक्षर पुरुष से महान् हैं और परिवर्तनशील वस्तु-समूह की आत्मा से भी अत्यधिक महान् हैं। यदि वे एक साथ दोनों अवस्थाओं में रहने की सामर्थ्य रखते हैं तो इसका कारण यह है कि वे दोनों से अन्य हैं, **'अन्यः'**, समस्त सृष्टि के ऊपर अवस्थित पुरुषोत्तम हैं और फिर भी इस जगत् में फैले हुए हैं और साथ ही, वेद, आत्म-ज्ञान तथा विश्वानुभूति में भी व्यापे हुए हैं। जो कोई भी उन्हें इस प्रकार पुरुषोत्तम के रूप में जानता तथा देखता है, वह फिर जगत् के दृश्य रूप से या इन दो आपात-विरोधी सत्ताओं के पृथक् आकर्षण से विभ्रांत नहीं होता। ये दोनों पहले यहाँ उस ज्ञानी की चेतना के अंदर परस्पर-विरोधी रूप में एक-दूसरी के सामने उपस्थित होती हैं, एक तो जगत्-कर्म की प्रवृत्ति के रूप में तथा दूसरी आत्मा के अंदर उसकी निवृत्ति के रूप में, जब कि आत्मा कर्म में भाग नहीं लेती, क्योंकि कर्म पूर्ण रूप से प्रकृति के अज्ञान के साथ संबंध रखता है या वह उससे संबंध रखनेवाला प्रतीत होता है। या फिर वे सत्ताएँ उसकी चेतना के सम्मुख दो प्रतिद्वंद्वी सत्ताओं के रूप में उपस्थित होती हैं, एक तो शुद्ध, अनिर्धार्य, स्थिर, सनातन, स्वयं-स्थित सत् के रूप में और दूसरी असत् के रूप में, अर्थात् भ्रमजनक निर्धारण और संबंध, विचार और रूप, सतत अस्थिर भूतभाव, कर्म और विकास के तथा जन्म और मृत्यु एवं आविर्भाव और तिरोभाव के सृजनकारी एवं विनाशकारी जाल—इन सबसे युक्त संसार के रूप में। वह उनका आलिंगन करता तथा उन्हें अतिक्रांत कर जाता है, उनके विरोध का परिहार कर **'सर्वविद्'**, संपूर्ण ज्ञानी बन जाता है। वह आत्मा और वस्तु-समूह—दोनों का संपूर्ण आशय जान जाता है; वह भगवान् के समग्र सत्य को पुनः प्राप्त कर लेता है, **'समग्रं माम'**; वह क्षर और अक्षर दोनों को पुरुषोत्तम में एकीभूत कर देता है। वह अपनी सत्ता तथा समस्त सत्ता के परम आत्मा से, अपनी शक्ति तथा सब शक्तियों के एकमात्र प्रभु से, जगत् में तथा इसके परे विद्यमान समीपस्थ और दूरस्थ सनातन से प्रेम करता, उनकी पूजा करता, उनकी शरण लेता तथा उनका भजन करता है। और,

यह सब भी वह अपनी सत्ता के किसी एक ही पार्श्व या अंश के द्वारा, एकमात्र आध्यात्मीकृत मन, हृदय की चौंधियानेवाली प्रखर पर संकीर्ण ज्योति या केवल कर्मगत संकल्प की अभीप्सा के द्वारा नहीं, बल्कि अपनी सत्ता एवं संभूति, अपनी आत्मा एवं प्रकृति के सभी सुप्रदीप्त साधनों के द्वारा, सर्वभाव से करता है। अपनी अविचल स्वप्रतिष्ठ सत्ता की समता में भगवत्स्वरूप होता हुआ तथा उस समता में सब पदार्थों एवं प्राणियों के साथ एकमय होता हुआ वह उस निःसीम समता तथा गभीर एकत्व को अपने मन, हृदय, प्राण और शरीर के अंदर उतार लाता है और उसकी नींव पर दिव्य प्रेम, दिव्य कर्म एवं दिव्य ज्ञान के त्रैत को अविभाज्य एवं समग्र रूप में स्थापित करता है। गीता का मोक्ष-मार्ग यही है।

और आखिर क्या यही वह सच्चा अद्वैत नहीं है जो एकमेव सनातन सत् में लेश मात्र भी भेद नहीं करता? यह चरम-परम, भेदशून्य अद्वैतवाद एक को प्रकृति की बहुताओं में भी एक ही देखता है, यह उसे सब पहलुओं में एक ही देखता है, आत्मा तथा जगत् के सत्स्वरूप में भी वह उसे उतना ही एक देखता है जितना कि विश्वातीत के उस महत्तम सत्स्वरूप में जो आत्मा का मूल तथा जगत् का सत्य है और जो न तो विश्व-संभूति की किसी प्रकार की सत्यता से बँधा है और न उसकी असत्यता से और न ही चरम-परम शून्यता से। कम-से-कम गीता का अद्वैत तो यही है। भगवान् गुरु अर्जुन से कहते हैं कि यह परम गुह्य शास्त्र है; यह परम ज्ञान और विज्ञान है जो हमें सत्ता के उच्चतम रहस्य के अन्तस्तल में ले जाता है। इसे पूर्ण रूप से जानने और ज्ञान, संवेदन, शक्ति एवं अनुभूति में इसे अधिकृत करने का अर्थ है—रूपांतरित बुद्धि में पूर्ण बनना, हृदय में दिव्य तृप्ति लाभ करना तथा समस्त संकल्प एवं कर्म-कलाप के परम प्रयोजन और उद्देश्य में कृतकृत्य होना। अमर होने, दिव्य पराप्रकृति की ओर ऊपर उठने तथा शाश्वत धर्म को धारण करने का यही मार्ग है।

आध्यात्मिक कर्म की परिपूर्णता

गीता की विचारधारा का विकास एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया है जहाँ केवल एक ही प्रश्न समाधान के लिए बाकी रह जाता है,—प्रश्न यह है कि हमारी यह प्रकृति, जो बद्ध और दोषपूर्ण है, केवल सिद्धान्त-रूप में ही नहीं बल्कि अपनी सभी चेष्टाओं में, निम्नतर से उच्चतर सत्ता की ओर तथा अपने वर्तमान कर्म-विधान से शाश्वत धर्म की ओर अपना विकास किस प्रकार साधित कर सकती है। यह एक ऐसी समस्या है जो गीता-प्रतिपादित कुछ एक सिद्धान्तों में अंतर्निहित है, किन्तु इसे उसकी अपेक्षा अधिक प्रधानता के साथ निरूपित करने तथा अधिक स्पष्ट रूप में अपनी बुद्धि के समक्ष रखने की जरूरत है। गीता मानसशास्त्र के उस ज्ञान को आधार बनाकर चली थी जो उस समय के विचारकों के लिए सुपरिचित था, और अपनी विचार-शृंखला में युक्ति के उन क्रमों को संक्षिप्त करना, बहुत-सी बातों को बिना सिद्ध किये मान लेना तथा उन अनेक बातों को बिना व्यक्त किये छोड़ देना उसके लिए भलीभाँति संभव था जिन्हें आज पूरे बल के साथ स्पष्ट करना तथा सुनिश्चित रूप में अपने सामने रखना हमारे लिए आवश्यक है। गीता की शिक्षा आरम्भ से ही हमारे जागतिक कर्म के लिए एक नया स्रोत एवं नया स्तर प्रस्तुत करने की ओर अग्रसर होती है; उसका आरम्भ-बिन्दु यही था और उसके उपसंहार का मूल प्रेरक भी यही है। वास्तव में उसका प्राथमिक उद्देश्य मोक्ष का मार्ग प्रतिपादित करना नहीं बल्कि यह दिखलाना था कि आत्मा के मोक्ष-प्रयत्न के साथ कर्मों की संगति कैसे बैठती है तथा जब एक बार आध्यात्मिक स्वातंत्र्य प्राप्त हो जाता है तो स्वयं उसके साथ अविच्छिन्न जागतिक कर्म, **'मुक्तस्य कर्म'** का मेल कैसे सधता है। प्रसंगवश, आध्यात्मिक मुक्ति और सिद्धि प्राप्त करने के लिए एक समन्वयात्मक योग या मनोवैज्ञानिक पद्धति का विकास किया जा चुका है और कुछ एक दार्शनिक सिद्धान्त तथा हमारी सत्ता एवं प्रकृति के कई एक सत्य-विशेष, जिनपर इस योग की प्रामाणिकता अवलंबित है, प्रतिपादित किये जा चुके हैं। परन्तु मूल लक्ष्य, मूल कठिनाई एवं समस्या शुरू से अब तक बराबर बनी हुई है। वह यह है कि अर्जुन, जो विचारों

और भावों की प्रबल क्रांति के कारण कर्म के प्रचलित, स्वाभाविक एवं बौद्धिक आधारों तथा प्रतिमानों से च्युत हो चुका है, कर्मों का नया एवं संतोषजनक आध्यात्मिक मानदंड कैसे प्राप्त करे, वह मनुष्य की रूढ़िग्रस्त बुद्धि तथा प्रकृति के आंशिक सत्यों के अनुसार अब और कार्य नहीं कर सकता, अतः समस्या यह है कि कैसे वह आत्मा के सत्य में जीवन यापन करे और साथ ही कुरुक्षेत्र की रणभूमि में अपना नियत कर्म भी संपन्न करे। निर्व्यक्तिक तथा विश्वमय आत्मा की नीरवता में आंतरिक तौर पर स्थिर, अनासक्त और प्रशांत रहना और फिर भी क्रियाशील प्रकृति के कार्यों को शक्तिशाली रूप से संपन्न करना, और अधिक व्यापक रूप में, अपने अंतःस्थ सनातन के साथ एकमय होना तथा जगद्व्यापी सनातन की उस समस्त इच्छा को कार्यान्वित करना जो हमारी उन्नीत, मुक्त, विश्वात्मभाव से युक्त, भगवत्प्रकृति से एकीभूत वैयक्तिक प्रकृति की उदात्तीकृत शक्ति तथा दिव्य उच्चता के द्वारा प्रकट हो—यही है गीता का समाधान।

अब हम जरा यह देखें कि अर्जुन की कठिनाई और इन्कार के मूल में जो समस्या है उसके दृष्टिकोण से तथा अत्यंत स्पष्ट और निश्चयात्मक शब्दों में इस समाधान का क्या अभिप्राय है। एक मनुष्य तथा सामाजिक प्राणी के रूप में उसका कर्तव्य क्षत्रिय के उच्च धर्म का पालन करना है जिसके बिना पाप, अत्याचार और अन्याय के अराजकतापूर्ण बलात्कार के विरुद्ध समाज के ढांचे की रक्षा नहीं की जा सकती, जाति के आदर्शों का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता, सत्य और न्याय की सुसमंजस व्यवस्था को धारण नहीं किया जा सकता। और फिर भी कर्तव्य का आह्वान अपने-आपमें युद्ध के नायक को अब पहले की तरह संतुष्ट नहीं कर सकता क्योंकि कुरुक्षेत्र की भीषण यथार्थता के बीच वह आह्वान अति कठोर, विमूढ़कारी और द्विविधापूर्ण रूप में उपस्थित होता है। अपने सामाजिक कर्तव्य का पालन उसके लिए सहसा ही इस अर्थ का द्योतक हो गया है कि वह अपरिमित पाप तथा दुःख-कष्टरूपी परिणाम के लिए अपनी सहमति दे ; सामाजिक व्यवस्था और न्याय की रक्षा का परंपरागत साधन उलटे बड़ी भारी अव्यवस्था और संकट की ओर ले जाता प्रतीत होता है। न्यायसंगत दावे तथा स्वार्थ का नियम भी, जिसे हम न्याय्य अधिकार कहते हैं, यहाँ उसकी कोई सहायता नहीं करेगा ; कारण, यद्यपि यह सही है कि जो राज्य उसे अपने लिए, अपने बंधु-बांधवों तथा युद्ध में अपने पक्ष के लोगों के लिए जीतना है उसपर वास्तव में न्यायपूर्वक उन्हीं का अधिकार है तथा उस अधिकार की बलपूर्वक स्थापना करने का अर्थ आसुरी अत्याचार का उन्मूलन और न्याय का प्रतिष्ठापन करना है, तथापि वह न्याय रक्त-रंजित न्याय होगा और वह राज्य एक ऐसा राज्य होगा जो शोका-

कुल हृदय के साथ अधिकृत होगा तथा एक महापाप से, समाज की भयंकर हानि और जाति के प्रति ज्वलंत अपराध से कलंकित होगा। धर्म अर्थात् नैतिक दावे का विधान भी उसकी द्विविधा का कोई अधिक अच्छा समाधान नहीं करेगा ; क्योंकि यहाँ धर्मों का परस्पर-विरोध उसके सामने उपस्थित है। उसकी समस्या के समाधान के लिए आवश्यकता है एक नये तथा महत्तर पर अद्यावधि कल्पनातीत विधान की, परन्तु वह विधान क्या है ?

क्योंकि एक संभव समाधान, जिसकी कल्पना करना सुगम है तथा जिसे क्रियान्वित करना भी सहज है, यह है कि वह अपने कर्म से मुँह मोड़ ले, साधुओं की-सी अकर्मण्यता की शरण ले ले तथा असंतोषकारक उपायों और उद्देश्यों से युक्त इस अपूर्ण जगत् को आप ही अपनी सुध लेने के लिए अकेले छोड़ दे, पर यह तो जैसे-तैसे समस्या से पिंड छुड़ाना हुआ और भगवान् गुरु ने ऐसा करने की आग्रहपूर्वक मनाही की है। किन्तु इस जगत् के स्वामी, जो मनुष्य के सब कर्मों के स्वामी हैं और जिनका यह जगत् एक कर्मक्षेत्र है, मनुष्य से कर्म की मांग करते हैं, भले ही वह कर्म अहंभाव के द्वारा तथा सीमित मानव बुद्धि के अज्ञान या आंशिक प्रकाश की स्थिति में किया जाय अथवा वह अंतर्दर्शन तथा प्रेरणा के एक अधिक उच्च तथा अधिक विशाल दृष्टिवाले स्तर से प्रेरित हो। और फिर, एक और प्रकार का समाधान यह होगा कि युद्धरूपी इस विशेष कर्म को बुरा मानते हुए इसे त्याग दिया जाय जो कि अदूरदर्शी नैतिकता-प्रधान मन का बना-बनाया उपाय है, पर भगवान् गुरु इस प्रकार की टाल-मटोल के लिए भी अपनी सहमति नहीं देते। यदि अर्जुन कर्म का परित्याग कर दे तो उससे पाप और बुराई में अत्यधिक वृद्धि ही होगी : यदि इसका कुछ परिणाम हुआ भी तो वह होगा अन्याय और अनाचार की विजय तथा भगवत्कर्म के यंत्र के रूप में उसके अपने महाव्रत का परित्याग। जाति की भवितव्यता में जो तीव्र संकट उत्पन्न हो गया है उसका कारण शक्तियों की कोई अंध गति या मानवीय विचारों, स्वार्थों, आवेगों तथा अहंकारों का अस्तव्यस्त संघर्ष मात्र नहीं है बल्कि वह भगवदिच्छा है जो इन बाह्य प्रतीतियों के पीछे कार्य कर रही है। अर्जुन को इस सत्य का साक्षात्कार करा देना आवश्यक है ; उसे अपनी क्षुद्र व्यक्तिगत कामनाओं तथा दुर्बल मानवीय जुगुप्साओं के यंत्र के रूप में नहीं बल्कि एक अधिक विराट् तथा अधिक ज्योतिर्मय शक्ति एवं अधिक महत्तर सर्वज्ञ, दिव्य और वैश्व संकल्प के यंत्र के रूप में, निर्व्यक्तिक तथा अचल-अटल भाव के साथ कर्म करना सीखना होगा। उसे अपनी आत्मा को अपने अन्दर और बाहर विद्यमान ईश्वर के साथ परम-योग-युक्त करके, अपनी परम आत्मा तथा विश्व की अनुप्रेरक आत्मा के साथ एक अवि-

चल योग के द्वारा युक्त होकर निर्वैयक्तिक और विश्वजनीन भाव से कर्म करना होगा।

परन्तु जबतक मनुष्य अहंभाव के द्वारा, यहांतक कि बुद्धि और मानसिक प्रज्ञा के अर्द्ध-आलोकित अप्रबुद्ध सात्त्विक अहं के द्वारा नियंत्रित होता है तबतक इस सत्य को ठीक रूप में नहीं देखा जा सकता और इस प्रकार का कर्म न तो सही रूप में आरम्भ किया जा सकता है और न ही वह सच्चे अर्थों में ऐसा कर्म हो सकता है। क्योंकि यह आत्मा का सत्य है, यह आध्यात्मिक भित्ति पर से किया जाने-वाला कर्म है। बौद्धिक नहीं वरन् आध्यात्मिक ज्ञान ही इस प्रकार के कर्मों के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, वही इसका एकमात्र संभवनीय प्रकाश, माध्यम तथा अभिप्रेरक है। इसलिए सर्वप्रथम भगवान् गुरु यह दिखलाते हैं कि ये सब विचार और भाव जो अर्जुन को व्यथित, व्याकुल और विमूढ़ कर रहे हैं, हर्ष और शोक, कामना और पाप, कर्म के बाह्य परिणामों के द्वारा कर्म को नियंत्रित करने की मन की प्रवृत्ति, इस जगत् के साथ विश्वात्मा के व्यवहारों में जो चीजें भीषण और विकराल प्रतीत होती हैं उनसे मानुषी जुगुप्सा—ये सब प्राकृत अज्ञान के प्रति हमारी चेतना की अधीनता से उत्पन्न वस्तुएँ हैं, ये निम्नतर प्रकृति की कार्य-शैलियाँ हैं जिनमें ग्रस्त होकर जीव अपनेको एक पृथक् अहं के रूप में देखता है जो अपने ऊपर होनेवाली वस्तुओं की क्रिया के प्रति सुख-दुःख, पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, इष्ट-अनिष्ट, सौभाग्य-दुर्भाग्यरूपी द्वंद्वात्मक प्रति-क्रियाएँ करता है। ये प्रतिक्रियाएँ भ्रांति का एक विषम जाल बुनती हैं जिसमें जीव अपने ही अज्ञान के कारण खो जाता तथा विभ्रांत हो जाता है; उसे उन आंशिक एवं अपूर्ण समाधानों के अनुसार अपना परिचालन करना होता है जो सामान्य जीवन में साधारणतः लड़खड़ाते हुए, भूल-चूक और स्खलनों में से गुजरते हुए ही सहायता करते हैं, पर जब वे व्यापकतर दृष्टि तथा गभीरतर अनुभूति की कसौटी पर कसे जाते हैं तो अनुपयोगी सिद्ध होते हैं। कर्म और जीवन का वास्तविक अभिप्राय समझने के लिए मनुष्य को इन सब बाह्य प्रतीतियों से पीछे हटकर आत्मा के सत्य में प्रवेश करना होगा; यथार्थ विश्व-ज्ञान का आधार उपलब्ध कर सकने से पहले उसे आत्म-ज्ञान का आधार स्थापित कर लेना होगा।

सर्वप्रथम आवश्यक साधन है—कामना और आवेश तथा विक्षोभकारी भावावेग के, मानव मनकी इस सब विक्षुब्ध तथा विकृतिकारी परिस्थिति के बोझ को आत्मा के पंखों पर से झाड़ फेंकना और इस प्रकार उसे इस सबसे मुक्त कर निर्विकार समता के आकाश में उड़ान लेना, निर्व्यक्तिक शांति के स्वर्ग में और वस्तु-विषयक अहंशून्य दृष्टि एवं अनुभूति में प्रवेश करना। क्योंकि, उस

विशुद्ध ऊर्ध्वतर वायुमंडल में ही, आंधी-तूफान और बादल-बिजली से सर्वथा रहित स्तरों में ही आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और इस जगत् का विधान तथा प्रकृति का सत्य भी व्यापक दृष्टि के साथ, अविचल, सर्वग्राही तथा सर्व-वेधक प्रकाश में स्थिरतापूर्वक देखा जा सकता है। यह जो क्षुद्र व्यक्तित्व है, यह जो प्रकृति का असहाय यंत्र है, उसकी एक निष्क्रिय या फिर व्यर्थ-प्रतिरोधशील कठपुतली है तथा उसके सृष्टि-चक्र में एक गठित रूप है—इसके पीछे एक निर्व्यक्तिक आत्मा है जो सबमें एक ही है तथा सभी चीजों को देखती और जानती है; एक सम, तटस्थ, विश्वव्यापी उपस्थिति है जो सृष्टि का आश्रय है, एक साक्षी चेतना है जो प्रकृति को वस्तुओं की उनके अपने **स्वभाव** के अनुसार अभिव्यक्ति साधित करने के लिए अनुमति देती है, पर इसके लिए वह जिस क्रिया का सूत्रपात करती है उसमें न तो लिप्त होती है और न अपनेको खो ही देती है। अहंभाव तथा विक्षुब्ध व्यक्तित्व से पीछे हटकर इस स्थिर, सम, नित्य, विराट् तथा निर्व्यक्तिक आत्मा में प्रवेश करना ही दृष्टिसंपन्न यौगिक कर्म करने का प्रथम पग है; ऐसा कर्म उस भागवत सत्ता एवं निर्भ्रांत संकल्प के साथ सचेतन एकत्व की अवस्था में किया जाता है जो इस समय हमारे लिए कितना भी प्रच्छन्न क्यों न हो पर इस विश्व में प्रकट अवश्य होता है।

जब हम निर्व्यक्तिक विशालता के धाम इस आत्मा में शांत भाव से सुस्थित हो जाते हैं, तब, क्योंकि यह बृहत्, स्थिर, शांत एवं निर्वैयक्तिक है, हमारा दूसरा क्षुद्र मिथ्याभूत स्व, हमारा कर्मशील अहं इसकी बृहत्ता में विलीन हो जाता है और हम देखते हैं कि प्रकृति ही कार्य करती है हम नहीं, समस्त कर्म प्रकृति का ही कर्म हैं और इसके सिवा वह कुछ हो भी नहीं सकता। और यह चीज जिसे हम प्रकृति कहते हैं क्रियारत शाश्वत सत्ता की विश्वव्यापी कार्यवाहक शक्ति है; वह सत्ता स्व-सृष्ट प्राणियों की इस या उस श्रेणी में तथा श्रेणी-विशेष के प्रत्येक व्यष्टि में उसकी अपनी प्राकृत सत्ता के निज आदर्श, **'स्वभाव'** के अनुसार तथा उस स्वभाव से फलित होनेवाले उसके अपने निज व्यापार एवं कर्म-विधान, **'स्वधर्म'** के अनुसार विभिन्न आकार और रूप ग्रहण करती है। प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार ही कार्य करता है, उसके सिवा और किसी चीज के द्वारा वह कार्य कर भी नहीं सकता। अहंभाव, वैयक्तिक संकल्प और कामना विश्व-ऊर्जा के स्पष्ट-सचेतन रूपों तथा सीमित प्राकृत व्यापारों से अधिक कुछ नहीं हैं, पर स्वयं वह शक्ति रूपातीत और अनंत है तथा उन रूपों से अतीव परे है; बुद्धि और प्रज्ञा, मन, इंद्रिय, प्राण और शरीर, वे सब चीजें जिनपर हम गर्व करते हैं या जिन्हें हम अपनी मानते हैं, प्रकृति के करणोपकरण हैं तथा उसीकी

रचनाएँ हैं। परन्तु निर्व्यक्तिक आत्मा कर्म नहीं करती और वह प्रकृति का भाग नहीं है : वह पीछे तथा ऊपर से कर्म का निरीक्षण करती है तथा अपना ईश बनी रहती है, मुक्त और निर्विकार ज्ञाता एवं साक्षी बनी रहती है। जो जीव इस निर्व्यक्तिकता में निवास करता है वह हमारी इस प्रकृति को यंत्र बनाकर किए जानेवाले कार्यों से स्पृष्ट नहीं होता ; वह उनके प्रति या उनके परिणामों के प्रति हर्ष-शोक, कामना-जुगुप्सा, राग-द्वेष के द्वारा या हमें आकृष्ट, विचलित तथा उद्वेलित करनेवाले सैकड़ों द्वंद्वों में से किसी के भी द्वारा प्रतिक्रिया नहीं करता। वह सभी मनुष्यों, सभी वस्तुओं तथा सभी घटनाओं को सम दृष्टि से देखता है, प्रकृति के गुणों को गुणों पर क्रिया करते हुए देखता है, यांत्रिक क्रिया के संपूर्ण रहस्य का दर्शन करता है, पर स्वयं इन गुणों और अवस्थाओं से परे है, शुद्ध और निरपेक्ष मूल सत्ता है, निर्विकार, मुक्त और शांत है। प्रकृति अपना कर्म निष्पन्न करती है और निर्व्यक्तिक तथा विश्वगत आत्मा प्रकृति को धारण करती है पर ग्रस्त तथा आसक्त नहीं होती ; लिप्त, विक्षुब्ध तथा विमूढ़ नहीं होती। यदि हम इस सम आत्मा में निवास कर सकें तो हम भी शांति और निर्वृति लाभ कर लेंगे ; जबतक प्रकृति की प्रेरणा हमारे करणों में डेरा डाले रहती है तबतक हमारे कर्म जारी रहते हैं, और फिर भी आध्यात्मिक मुक्ति एवं निस्तब्धता हमें प्राप्त रहती है।

तथापि आत्मा और प्रकृति का यह द्वैत, अर्थात् निःस्पंद पुरुष और सक्रिय प्रकृति ही हमारी सत्ता का संपूर्ण सारसर्वस्व नहीं हैं ; सच पूछो तो, ये इस विषय के दो अंतिम शब्द नहीं हैं। यदि ऐसा हो तो या तो आत्मा सब कर्मों के प्रति सर्वथा उदासीन होगी और इस या उस कर्म का अनुष्ठान अथवा कर्म से विरति सदा-परिवर्तनशील गुणों की किसी अवश प्रवृत्ति के द्वारा निर्धारित होगी,— या तो अर्जुन अपने करणों के किसी राजसिक आवेग के द्वारा युद्ध में प्रवृत्त होगा या वह तामसिक जड़ता या सात्त्विक उदासीनता के द्वारा उससे निवृत्त होगा,— या फिर, यदि ऐसी बात है कि काम तो उसे करना ही होगा तथा करना भी इसी ढंग से होगा तो यह प्रकृति की किसी यांत्रिक नियति के कारण ही होगा। अपि च, क्योंकि जीव कर्म से पीछे हटने पर निर्व्यक्तिक निश्चल आत्मा में निवास करने लगेगा तथा क्रियाशील प्रकृति में निवास करना बिलकुल छोड़ देगा, इसका अंतिम परिणाम होगा निश्चलता, नैष्कर्म्य, निवृत्ति, निष्क्रियता, न कि गीता के द्वारा आदिष्ट कर्म। और, अंत में, यह द्वैत इस प्रश्न का कोई वास्तविक समाधान नहीं प्रस्तुत करता कि भला जीव को प्रकृति तथा उसके कर्मों में मज्जित होने के लिए पुकार आती ही क्यों है ; क्योंकि यह तो नहीं हो सकता कि नित्य-

निर्लिप्त आत्म-सचेतन एकमेव आत्मा स्वयमेव मज्जित हो जाय तथा अपना आत्म-ज्ञान गंवा दे और फिर उसे वह ज्ञान पुनः प्राप्त करना पड़े। इसके विपरीत, यह शुद्ध आत्मा सदा विद्यमान रहती है, सदा एकरस रहती है, सदैव कर्म का एकमेव आत्म-सचेतन, निर्व्यक्तिक, पृथक्-स्थित साक्षी या तटस्थ भर्ता बनी रहती है। यह छिद्र ही, यह असंभव शून्यता ही हमें दो पुरुषों या एक पुरुष की दो अवस्थाओं की कल्पना करने के लिए विवश करती है, एक तो वह जो आत्मा के अंदर गुप्त रूप से विद्यमान है तथा अपनी स्वयंस्थित सत्ता से सब वस्तुओं का निरीक्षण करता है—या शायद किसी भी चीज का निरीक्षण नहीं करता, दूसरा वह जो अपनेको प्रकृति के अन्दर निक्षिप्त करता है तथा उसके कार्य में सहायता पहुँचाता है और उसकी रचनाओं के साथ अपनेको तदाकार कर देता है। परन्तु दो पुरुषों के द्वैत के द्वारा संशोधित किया हुआ आत्मा तथा प्रकृति या माया का यह द्वैत भी गीता का संपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है। यह इनसे परे एक उच्चतम पुरुष, पुरुषोत्तम के सर्व-आलिंगी परम एकत्व तक पहुँचती है।

गीता कहती है कि एक परम रहस्य है, एक उच्चतम सत्य है जो इन दो विभिन्न अभिव्यक्तियों के सत्य को धारण करता तथा समन्वित करता है। एक परात्पर आत्मा, ईश्वर एवं ब्रह्म है जो निर्व्यक्तिक और सव्यक्तिक दोनों है पर इनमें से प्रत्येक से इतर और महत्तर है और इन दोनों के समुच्चय से भी इतर तथा महत्तर है। वे पुरुष एवं आत्मा हैं, हमारी सत्ता की अंतरतम सत्ता हैं, पर साथ ही वे प्रकृति भी हैं ; क्योंकि प्रकृति सर्वात्मा की शक्ति है, कर्म और सर्जन के लिए स्वयं प्रवृत्त होनेवाले सनातन एवं अनंत की शक्ति है। वे परम अनिर्वचनीय और विश्व-पुरुष ही अपनी प्रकृति के द्वारा इन सब प्राणियों का रूप धारण करते हैं। वे परमात्मा और परब्रह्म ही अपनी विद्या की माया तथा अविद्या की माया के द्वारा विश्व-रहस्य के द्विविध सत्य को अभिव्यक्त करते हैं। वे परम ईश ही, अपनी शक्ति के वे स्वामी ही इस संपूर्ण प्रकृति का तथा इन असंख्य सत्ताओं के समस्त व्यक्तित्व, बल-सामर्थ्य एवं कार्यकलाप का सृजन, प्रेरण और नियंत्रण करते हैं। प्रत्येक जीव इन स्वयंभू एकमेव की अंशभूत सत्ता है, इन सर्वात्मा की अंशभूत शाश्वत आत्मा है, इन परम ईश तथा इनकी विश्व-प्रकृति की आंशिक अभिव्यक्ति है। यहाँ सभी कुछ यह भगवान् ही है, यह परमेश्वर एवं वासुदेव ही है ; क्योंकि प्रकृति के द्वारा तथा प्रकृतिगत पुरुष के द्वारा वे ही सर्वभूत बनते हैं और प्रत्येक वस्तु उन्हीं से उद्भूत होती तथा उनके अन्दर या उनके द्वारा स्थित रहती है, यद्यपि वे स्वयं किसी भी विशाल से विशाल

अभिव्यक्ति, गभीर-से-गभीर अध्यात्म-सत्ता से एवं किसी भी विश्वमय रूप से अधिक महान् हैं। यही सत्ता का संपूर्ण सत्य है और यही विश्व-कर्म का समस्त रहस्य है। हम देख चुके हैं कि गीता के पिछले अध्यायों से यही रहस्य अधिकाधिक प्रकट होता आ रहा है।

परन्तु यह महत्तर सत्य आध्यात्मिक कर्म के सिद्धान्त में कैसा परिवर्तन लाता है या यह उसपर कैसा प्रभाव डालता है? सर्वप्रथम, यह उसे एक मूल बात में ही परिवर्त्तित कर देता है, जिससे कि आत्मा, जीव और प्रकृति के सम्बन्ध का सम्पूर्ण अर्थ ही बदल जाता है, यह एक नयी दृष्टि खोल देता है, सत्य ज्ञान में जहाँ-जहाँ छिद्र थे उन्हें भर देता है, एक महत्तर विशालता प्राप्त कर लेता है, एक ऐसा सच्चा अर्थ धारण कर लेता है जो आध्यात्मिक दृष्टि से सुनिश्चित तथा निर्भ्रांत रूप में सर्वांगीण होता है। जगत् के सम्बन्ध में तब और हमारी यह धारणा नहीं रहती कि यह प्रकृति का एक निरा यंत्रवत् चलनेवाला गुणात्मक व्यापार एवं निर्धारण है, जब कि इसकी दूसरी ओर है एक ऐसी निर्व्यक्तिक स्वयं-स्थित सत्ता की निस्पन्दता जिसमें न तो आत्म-निर्धारण का गुण या सामर्थ्य है और न सृजन की क्षमता या प्रेरणा। इस असंतोष-जनक द्वैत के द्वारा खाली छोड़ दी गयी खाई भर जाती है और ज्ञान और कर्म तथा आत्मा और प्रकृति का उन्नायक एकत्व प्रकाशित हो जाता है। प्रशांत निर्व्यक्तिक आत्मा एक सत्य है,—वह भगवान् की स्थिरता एवं सनातन की नीरवता का सत्य है, परमेश्वर की समस्त जन्म, भूतभाव, कर्म और सृष्टि के बंधन से मुक्त अवस्था का, उनकी उस स्वयंभू सत्ता की स्थिर एवं अनंत मुक्तता का सत्य है जो उनकी सृष्टि के द्वारा बद्ध, विक्षुब्ध या प्रभावित नहीं होती और न उनकी प्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा स्पृष्ट ही होती है। तब स्वयं प्रकृति भी हमारे लिए कोई अव्याख्येय माया, कोई पृथक्कृत एवं विपरीत दृग्विषय नहीं रहती, बल्कि सनातन की एक गति प्रतीत होती है, उसकी समस्त क्रिया और चंचलता, उसका समस्त बहुत्व अक्षर पुरुष और आत्मा की अनासक्त तथा साक्षिभूत शांति पर प्रतिष्ठित और सुधृत प्रतीत होता है। प्रकृति के ईश्वर एक ही साथ विश्व के 'एक' और 'बहु' आत्मा हैं तथा अपनी आंशिक अभिव्यक्ति में वे ये सब बल, शक्तियाँ, चेतनाएँ, देवता, जीवजन्तु, पदार्थ और मनुष्य बनते हैं और यह सब होते हुए भी वे वही अक्षर आत्मा बने रहते हैं। गुणात्मिका प्रकृति उनकी शक्ति की निम्नतर स्वतः-सीमित क्रिया है; वह अपूर्ण-चेतन अभिव्यक्ति की प्रकृति है और अतएव वह एक प्रकार की अज्ञानमयी प्रकृति है। उसकी जो स्थूल शक्ति यहाँ बाह्य कर्म में निमग्न है उससे आत्मा का सत्य और भगवान् का सत्य बहुत कुछ उसी प्रकार छिपे रहते

हैं जिस प्रकार मनुष्य की गभीरतर सत्ता उसकी बाह्य चेतना के ज्ञान से छिपी रहती है। जबतक प्रकृति के अन्दर अवस्थित जीव अंतर्मुख होकर इस गुप्त वस्तु को ढूंढने तथा अपने अन्दर पैठने का यत्न नहीं करता और अपने वास्तविक सत्यों, अपनी ऊँचाइयों तथा गहराइयों को नहीं खोज लेता तबतक आत्मा एवं भगवान् का सत्य उससे छिपा ही रहता है। यही कारण है कि उसे आत्म-ज्ञान पाने में समर्थ बनने के लिए अपने क्षुद्र वैयक्तिक एवं अहमात्मक 'स्व' से पीछे हटकर अपने विशाल, निर्व्यक्तिक, अक्षर, विश्वव्यापी आत्मा की ओर लौटना होता है। परन्तु परमेश्वर केवल उस आत्मा में ही नहीं बल्कि प्रकृति में भी विद्यमान हैं। वे प्रत्येक प्राणी के हृद्देश में विराजमान हैं और अपनी उपस्थिति से इस महान् प्रकृति-यंत्र के आवर्तनों का परिचालन कर रहे हैं। वे सबके अन्दर उपस्थित हैं, सब उनके अन्दर रहते हैं, सब कुछ स्वयं वे ही हैं क्योंकि सब कुछ उनकी सत्ता की संभूति है, उनकी सत्ता का अंश या रूप है। परन्तु यहाँ सब कुछ एक निम्नतर आंशिक क्रिया के द्वारा ही चल रहा है जो एक गुप्त, उच्चतर, महत्तर एवं पूर्णतर भागवत प्रकृति से, परमेश्वर की शाश्वत अनंत प्रकृति या पूर्ण आत्म-शक्ति, **'देवात्मशक्ति'**, से उद्भूत हुई है। यदि हम सदा भागवत कर्म तथा अपनी सत्ता के इस वास्तविक सत्य में निवास करें तो मानव के अन्दर छिपी हुई पूर्ण समग्र-चेतन आत्मा,—देवाधिदेव का सनातन अंश, सनातन भागवत पुरुष का अंशभूत आध्यात्मिक पुरुष—हमारे अन्दर उद्घाटित हो सकती है और साथ ही हमें भगवान् की ओर उद्घाटित भी कर सकती है। भगवान् के जिज्ञासु को अपनी अक्षर और शाश्वत निर्व्यक्तिक सत्ता के सत्य में प्रवेश करना होगा और साथ ही उसे सर्वत्र उन भगवान् को देखना होगा जिनसे वह उत्पन्न हुआ है, उन्हें सर्व के रूप में देखना होगा, इस सारी-की-सारी क्षर प्रकृति में तथा इसके हरएक भाग और हरएक परिणाम में तथा इसके सभी कार्यों में देखना होगा, और इन सबमें भी उसे अपने-आपको भगवान् के साथ एक करना होगा, इनमें भी उसे भगवान् के अन्दर रहना होगा, इनमें भी उसे भागवत एकत्व के अन्दर प्रवेश करना होगा। इस तरह उस समग्रता में वह अपनी गभीर तात्त्विक सत्ता की दिव्य स्थिरता एवं स्वतंत्रता को अपनी दिव्यीकृत प्राकृत सत्ता के अन्दर रहनेवाली यंत्रात्मक कर्म की परमोच्च शक्ति के साथ एकीभूत कर देगा।

परन्तु यह किया कैसे जाय? सर्वप्रथम, इसे अपने कर्मसम्बन्धी संकल्प में यथार्थ भावना धारण करके संपन्न किया जा सकता है। जिज्ञासु के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने समस्त कर्म को उन सर्वकर्ममहेश्वर के प्रति यज्ञरूप

समझे जो सनातन और विश्वव्यापी पुरुष हैं, उसकी अपनी उच्चतम आत्मा तथा अन्य सबकी भी आत्मा हैं और जगत् के अन्दर परम सर्वांतर्यामी, सर्वाधार, सर्व-नियंता परमेश्वर हैं। प्रकृति का सम्पूर्ण कर्म ऐसा ही यज्ञ है,—यह वास्तव में पहले उन दिव्य शक्तियों को अर्पित होता है जो प्रकृति को गति देती तथा उसके अन्दर गति करती हैं, परन्तु वे शक्तियाँ एकमेव तथा असीम देव की केवल सीमित नामरूप ही हैं। साधारणतः मनुष्य अपना यज्ञ खुल्लमखुल्ला या छुपे रूप में अपने अहंभाव को ही अर्पित करता है ; उसकी आहुति अपने अहं-संकल्प तथा अज्ञान की एक मिथ्या क्रिया ही होती है। अथवा वह अपना ज्ञान, कर्म, अभीप्सा, तथा बल-पौरुष के कार्य आंशिक, पार्थिव एवं वैयक्तिक उद्देश्यों के लिए नाना देवताओं के प्रति अर्पित करता है। इसके विपरीत, ज्ञानी मनुष्य एवं मुक्त जीव अपने सब कर्मों को फल के प्रति या अपनी निम्नतर वैयक्तिक कामनाओं की पूर्त्ति के प्रति लेश मात्र भी आसक्ति रखे बिना एकमेव सनातन भगवान् को अर्पित करता है। वह ईश्वर के लिए कर्म करता है, अपने लिए नहीं, विश्व-मंगल के लिए एवं विश्वात्मा के लिए कर्म करता है, अपने ही द्वारा गढ़े हुए किसी वैयक्तिक एवं विशिष्ट उद्देश्य के लिए या अपने मानसिक संकल्प द्वारा परिकल्पित किसी धारणा के लिए या अपनी प्राणिक लालसाओं के किसी लक्ष्य के लिए नहीं, भगवान् के एक माध्यम के रूप में कार्य करता है, जगद्-व्यवसाय में एक प्रधान तथा स्वतंत्र व्यवसायी के रूप में नहीं। और यह ध्यान में रहे कि यह एक ऐसा कार्य है जो केवल उसी हद तक किया जा सकता है जिस हद तक हमारा मन समता, विश्वमयता, विशाल निर्व्यक्तिकता एवं आग्रहशील अहं के प्रत्येक छद्मवेश से सुस्पष्ट मुक्ति लाभ कर लेता है, इन चीजों के बिना यह वास्तव में किया ही नहीं जा सकता : क्योंकि इनके बिना इस प्रकार कार्य करने का दम भरना केवल एक भ्रम या धोखा ही है। इस जगत् का समस्त कर्म विश्व के अधीश्वर का कर्म है, स्वयंभू परमेश्वर का कार्य-व्यापार है, स्वयं यह जगत् प्रकृति के अंदर उन्हीं की अविच्छिन्न सृष्टि तथा विकासशील संभूति है, अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति एवं जीवंत प्रतिमूर्त्ति है। फल उन्हीं के हैं, परिणाम भी वही होते हैं जिन्हें वे निर्धारित करते हैं और जहांतक हमारा वैयक्तिक कर्म अहंपूर्ण दावे से प्रेरित होता है वहांतक यह केवल एक तुच्छ योगदान ही होता है। हमारे अंदर के परम पुरुष और परमात्मा सबके अन्दर अवस्थित पुरुष एवं आत्मा हैं और वे हमारे अहंभाव के लिए नहीं बल्कि जागतिक उद्देश्य एवं जगत्कल्याण के लिए वस्तुओं का परि-चालन करते हैं, वे ही हमारे कर्म को नियंत्रित या निराकृत करते हैं। निर्वैय-क्तिक तथा निष्काम भाव से और कर्मफल की आसक्ति के बिना, ईश्वर और जगत्

तथा महत्तर आत्मा के लिए एवं विश्व-संकल्प की परिपूर्त्ति के लिए कर्म करना ही मुक्ति और सिद्धि का पहला सोपान है।

परन्तु इस सोपान के परे एक और महत्तर गति है, अपने अंतः-स्थित भगवान् के प्रति अपने सब कर्मों का आंतरिक समर्पण। क्योंकि, अनंत प्रकृति ही हमारे कर्मों को प्रेरित करती है और उसके अन्दर तथा ऊपर अवस्थित ईश्वरीय संकल्प ही हमसे कर्म की मांग करता है; हमारा अहंभाव कर्म के सम्बन्ध में जो चुनाव करता है या यह उसे जो रूप प्रदान करता है वह हमारे सत्त्व, रज, तम-रूपी गुण का अंशदान है, निम्नतर प्रकृति से जनित विकृति है। इस विकृति के पैदा होने का कारण यह है कि अहं अपने-आपको कर्ता समझता है; कर्म की धारा सीमित वैयक्तिक प्रकृति का रूप धारण कर लेती है और जीव उससे तथा उसके संकीर्ण रूपों से बंध जाता है और कर्म को अपने अंतर की असीम शक्ति से शुद्ध और स्वच्छंद रूप में प्रवाहित नहीं होने देता। अहं कर्म और उसके परिणाम से आबद्ध हो जाता है; जैसे वह कर्म आरम्भ करने का दायित्व लेने तथा उसके लिए वैयक्तिक संकल्प करने का दावा करता है वैसे ही उसे वैयक्तिक परिणाम और प्रतिफल को भी भोगना पड़ता है। मुक्त और पूर्ण कर्म तो तभी किया जा सकता है यदि पहले हम अपना कर्म तथा उसका आरम्भ अपनी सत्ता के दिव्य स्वामी के प्रति निवेदित करें और फिर अंत में उसे पूर्ण रूप से उन्हें समर्पित कर दें; क्योंकि हम अनुभव करते हैं कि हमारे अंदर अवस्थित परम उपस्थिति उसे उत्तरोत्तर अपने हाथ में ले रही है, हमारी अंतरात्मा एक आंतरिक शक्ति तथा देवत्व के साथ प्रगाढ़ सान्निध्य तथा घनिष्ठ एकत्व में लीन होती जा रही है और कर्म सीधे महत्तर आत्मा से, सनातन सत्ता की सर्वज्ञ, अनंत, विश्वगत शक्ति से निःसृत हो रहा है, क्षुद्र व्यक्तिगत अहं के अज्ञान से नहीं। तब भी कर्म का चुनाव तथा गठन तो प्रकृति के अनुसार ही होता है पर वह होता है पूर्ण रूप से हमारी प्रकृति के अन्दर विद्यमान भगवत्संकल्प के द्वारा, और अतएव उसका बाह्य रूप चाहे जो हो पर वह अंदर से मुक्त और पूर्ण ही होता है। वह अनंत की इस आभ्यंतर आध्यात्मिक छाप को लेकर आता है कि यही करणीय कार्य है, **'कर्तव्यं कर्म'**, कर्म और उसका एक-एक पग कर्म के सर्वज्ञ स्वामी की गति-विधियों में नियत हुआ रहता है। मुक्त व्यक्ति जब अपनी करणात्मक व्यक्तिगत सत्ता को तथा अपनी प्रकृति के विशेष संकल्प एवं बल को कर्म का साधन तथा निमित्त बनाकर उसमें योगदान करता है तब भी उसकी आत्मा अपनी निर्व्यक्तिकता में मुक्त रहती है। वह संकल्प एवं बल तब उसका पृथक् तथा अहंमय रूप से अपना निजी नहीं होता, बल्कि वह उन अतिव्यक्तिक (Supraper-

sonal) भगवान् का होता है जो अपनी आत्मा की इस अभिव्यक्ति में, अपने असंख्य व्यक्तित्वों में से अन्यतम इस व्यक्तित्व में इसके अपने स्वभाव के द्वारा (प्राकृत सत्ता के विशिष्ट भाव के द्वारा) कर्म करते हैं। यह मुक्त पुरुष के कर्म का उत्तम 'गुह्य' और रहस्य है, **'उत्तमं रहस्यम्।'** यह भागवत ज्योति के अन्दर मानव आत्मा के विकसित हो जाने का तथा परमोच्च विश्व-प्रकृति के साथ अपनी प्रकृति का ऐक्य साधित कर लेने का फल है।

यह परिवर्तन ज्ञान के बिना साधित नहीं हो सकता। आत्मा, ईश्वर तथा जगत् का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है और साथ ही उस ज्ञान से उपलब्ध महत्तर चेतना में निवास करना तथा विकसित होना भी। यह तो अब हमें पता लग ही चुका है कि वह ज्ञान क्या है। इतना स्मरण रखना पर्याप्त है कि यह मानवीय मानसिक दृष्टि से भिन्न और विशालतर एक और ही दृष्टि पर, एक परिवर्तित दृष्टि एवं उपलब्धि पर आधारित है जिसके द्वारा मनुष्य सर्वप्रथम अहंबुद्धि और उसके समस्त सम्बन्धों की संकीर्णताओं से मुक्त हो जाता है, सबके अन्दर एक ही आत्मा को तथा ईश्वर के अन्दर सबको अनुभव करता और देखता है, सब भूतों को वासुदेव, सबको भगवान् के वाहन तथा अपनी आत्मा को भी उन एक परमेश्वर की अंशभूत अर्थपूर्ण सत्ता तथा आत्म-शक्ति के रूप में अनुभव करता और देखता है। एक आध्यात्मिक एकीकारक चेतना में यह ज्ञान दूसरों के जीवनों की सब घटनाओं को ऐसे समझता है मानों वे मनुष्य के अपने ही जीवन की घटनाएँ हों। यह भेद की दीवार को नहीं खड़ी होने देता और सब भूतों के प्रति सार्वभौम सहानुभूति का भाव रखता है, जब कि जगद्व्यापार के बीच वह **'सर्वभूतहित'** के लिए कर्तव्य कर्म फिर भी करता रहता है, पर करता है भगवान् के द्वारा नियत पद्धति के अनुसार तथा काल के अधीश्वर परमात्मा के आदेश द्वारा निर्धारित सीमा के भीतर। इस प्रकार इस ज्ञान में रहते और कर्म करते हुए मनुष्य की आत्मा सनातन के साथ, उनके वैयक्तिक और निर्व्यक्तिक दोनों रूपों के साथ एकमय हो जाती है, जिस प्रकार स्वयं सनातन प्रभु कर्म करते हैं उसी प्रकार काल में कर्म करती हुई भी वह आत्मा सनातन में निवास करती है और मुक्त, सिद्ध तथा आनंदमय बनी रहती है, भले ही प्रकृति के अन्दर किये गये कर्म का रूप और निर्धारण कैसा भी क्यों न हो।

मुक्त पुरुष पूर्ण ज्ञानी, **'कृत्स्नविद्'**, होता है और मन की बनायी हुई किसी प्रकार की भी नियम-मर्यादा के बिना, अपने अंतःस्थ दिव्य संकल्प की सामर्थ्य, स्वतंत्रता तथा असीम शक्ति के अनुसार सभी कर्म करता है, **'कृत्स्नकृत्।'** और क्योंकि वह सनातन के साथ योग-युक्त होता है, उसे भी अपनी सनातन सत्ता

का शुद्ध, आध्यात्मिक और नि:सीम आनंद प्राप्त रहता है। वह उन परमात्मा की ओर, जिसका वह एक अंश है, तथा अपने कर्मों के स्वामी एवं अपनी आत्मा और प्रकृति के दिव्य प्रेमी की ओर भक्तिभाव के साथ उन्मुख होता है, उनका भजन-पूजन करता है। वह केवल शांत और निर्विकार द्रष्टा ही नहीं होता ; वह केवल अपने ज्ञान एवं संकल्प को ही नहीं बल्कि प्रेम, भक्ति और संवेग से पूर्ण अपने हृदय को भी शाश्वत की ओर ऊपर उठाता है। कारण, हृदय को इस प्रकार उठाये बिना उसकी संपूर्ण प्रकृति ईश्वर से परिपूरित और एकीभूत नहीं हो सकती ; आत्मा की शान्ति की मस्ती को अंतरात्मा के आनंद की मस्ती के द्वारा रूपांतरित करना आवश्यक है। व्यक्तिरूप जीव तथा निर्व्यक्तिक ब्रह्म या आत्मा के परे वह उन विश्वातीत पुरुषोत्तम को प्राप्त करता है जो निर्व्यक्तिकता में अक्षर हैं और व्यक्तित्व में अपने-आपको चरितार्थ करते हैं और इन दो भिन्न प्रकार के आकर्षणों के द्वारा हमें अपनी ओर खींचते हैं। मुक्त साधक भगवान् के प्रति अपनी अंतरात्मा के प्रेम और प्रीति के द्वारा तथा कर्मों के स्वामी के प्रति अपने अंतरस्थ संकल्प की आराधना के द्वारा व्यक्तिगत रूप में उस उच्चतम परम पद की ओर उठ जाता है, इन परात्पर और विश्वमय परमेश्वर की स्वयंस्थित, समग्र, घनिष्ठ और अंतरंग सत्ता में उसे जो आनंद प्राप्त होता है उसके द्वारा उसके निर्व्यक्तिक विश्व-ज्ञान की शान्ति एवं विशालता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। यह आनन्द उसके ज्ञान को महिमामय बना देता है तथा उसे परमात्मा के आत्मगत एवं अभिव्यक्तिगत शाश्वत आनंद से एकीभूत कर देता है ; यह भागवत पुरुष की अति-व्यक्तिकता में उसके व्यक्तित्व को भी सर्वांगसंपन्न बना देता है। और उसकी प्रकृतिगत सत्ता एवं कर्म को शाश्वत सौन्दर्य, नित्य सामंजस्य तथा सनातन प्रेम और आनंद के साथ एकमय कर देता है।

परन्तु इस सब परिवर्तन का अर्थ है निम्न मानव-प्रकृति को छोड़कर, पूर्ण रूप से, उच्चतर दिव्य प्रकृति में चले जाना। यह अपनी संपूर्ण सत्ता को या, कम-से-कम, संकल्प, ज्ञान तथा वेदन करनेवाली अपनी सारी मनोमय सत्ता को, हम जो कुछ हैं उससे ऊपर उठाकर किसी उच्चतम अध्यात्म-चेतना में, सत्ता की किसी तृप्तिकारी पूर्णतम शक्ति में, आत्मा के किसी गभीरतम एवं विशालतम आनंद में ले जाना है। यह परिवर्तन भलीभाँति संपन्न हो सकता है यदि हम अपने वर्तमान प्राकृत जीवन को अतिक्रम कर जायें अथवा पार्थिव जीवन से परे किसी स्वर्गिक अवस्था में या और भी परे किसी विश्वातीत अतिचेतना में पहुँच जायें ; यह परिवर्तन तब भी घटित हो सकता है यदि हम परमात्मा की परम और अनंत शक्ति एवं परम और अनंत पद में संक्रमण कर जायं। परन्तु

जब हम यहाँ देह और प्राण में अवस्थित हैं, कर्म में रत हैं तब, इस परिवर्तन में, निम्नतर प्रकृति की क्या अवस्था होती है? क्योंकि इस समय हमारे सब कर्मों की दिशा एवं रूप का निर्धारण प्रकृति ही करती है, और यह प्रकृति यहाँ त्रिगुणात्मिका प्रकृति है, और समस्त प्राकृत सत्ता में तथा प्रकृतिगत सभी कार्यों में ये तीन गुण विद्यमान रहते हैं,—अज्ञान और जड़ता से युक्त तम, गति और क्रिया से तथा आवेग, दुःख और विकार से युक्त रज, प्रकाश और सुख से युक्त सत्त्व ; और फिर समस्त प्राकृत सत्ताओं और कर्मों में इन चीजों का बंधन भी रहता ही है। मान लिया कि जीव अपनी अंतःसत्ता में त्रिगुण से ऊपर उठ जाता है फिर भी यह प्रश्न उठता है कि अपनी यंत्र-स्वरूप प्रकृति में वह उनके व्यापार, परिणाम तथा बंधन से किस प्रकार मुक्त होता है। कारण, गीता कहती है कि ज्ञानी मनुष्य को भी अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करना ही होगा। बाह्य अभिव्यक्ति में गुणों की प्रतिक्रिया को अनुभव तथा सहन करना, पर पीछे अवस्थित साक्षिस्वरूप चेतन आत्मा में उनसे मुक्त तथा अतीत रहना ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि स्वतंत्रता और अधीनता का द्वैत, जो कुछ हम भीतर हैं और जो कुछ हम बाहर हैं उनमें अर्थात् हमारी आत्मा और शक्ति में विरोध, अपनी सत्ता का जैसा-कुछ स्वरूप हम जानते हैं तथा हम जो संकल्प एवं कर्म करते हैं उनमें विरोध फिर भी बना रहता है। इसमें मुक्ति है ही कहाँ, उच्चतम आध्यात्मिक प्रकृति में पूर्ण आरोहण तथा रूपान्तर है ही कहाँ, शाश्वत धर्म, भागवत सत्ता की अनंत पवित्रता एवं शक्ति का निज धर्म है ही कहाँ? यदि इस देह में रहते हुए यह परिवर्तन साधित नहीं किया जा सकता तब तो यह कहना होगा कि सम्पूर्ण प्रकृति का रूपान्तर करना संभव नहीं और जबतक जीवन का यह मर्त्य ढांचा केंचुली की न्याईं आत्मा से उतरकर अलग नहीं हो जाता तबतक यह द्वंद्व ज्यों-का-त्यों बना रहेगा, कभी सुलझेगा नहीं। पर यदि ऐसा हो तो कर्म का सिद्धान्त यथार्थ नहीं हो सकता या कम-से-कम वह चरम सिद्धान्त तो नहीं ही हो सकता : तब तो पूर्ण निस्तब्धता या, कम-से-कम, एक यथासंभव पूर्ण निस्तब्धता, उत्तरोत्तर वर्धमान संन्यास और कर्मत्याग ही पूर्णत्व-प्राप्ति के लिए एक सच्ची शिक्षा प्रतीत होगा,—वास्तव में मायावादी की भी यही स्थापना है, वह कहता है कि जबतक हम कर्मों के बीच रहते हैं तबतक गीता का मार्ग निःसंदेह समीचीन है, पर फिर भी कर्म मात्र भ्रम है और निस्तब्धता ही सर्वोच्च पथ। इस भावना से कर्म करना उत्तम अवश्य है पर कर्मत्याग, निवृत्ति एवं पूर्ण निस्पन्दता तक पहुँचने के एक सोपान के रूप में ही।

यही वह कठिनाई है जिसका समाधान गीता को अभी करना है ताकि वह

ईश्वरान्वेषक के लिए कर्मों का औचित्य सिद्ध कर सके। अन्यथा उसे अर्जुन को कहना होगा कि "कुछ समय तक इस ढंग से कर्म कर, पर बाद में कर्मत्याग के उच्चतर पथ का अनुसरण कर।" परन्तु, इसके विपरीत, उसने कहा है कि कर्मों का त्याग नहीं वरन् कामना का त्याग ही श्रेयस्कर मार्ग है ; उसने मुक्त पुरुष के कर्म की भी चर्चा की है, **'मुक्तस्य कर्म।'** यहाँतक कि उसने सभी कर्मों के अनुष्ठान का आग्रह किया है, **'सर्वाणि कर्माणि, कृत्स्नकृत् ;'** उसने कहा है कि सिद्ध योगी चाहे जिस भी तरह से रहे, चाहे जिस भी तरीके से कर्म करे, वह सदा ईश्वर में ही रहता और कर्म करता है। यह तभी हो सकता है यदि प्रकृति भी अपनी गतिशक्ति तथा कार्य-व्यापार में दिव्य बन जाय, एक ऐसी शक्ति बन जाय जो अविचल, निर्लेप, निर्विकार एवं विशुद्ध हो तथा अपरा प्रकृति की प्रतिक्रियाओं से विक्षुब्ध न होने पाये। यह अत्यंत कठिन रूपान्तर किस प्रकार तथा किन क्रमों के द्वारा साधित हो सकता है ? जीव के सिद्धि-लाभ का यह अन्तिम रहस्य क्या है ? हमारी मानवीय एवं पार्थिव प्रकृति के इस रूपान्तर का मूलसूत्र वा प्रक्रिया क्या है ?

देव और असुर[1]

तीन गुणों की बद्ध और व्यामूढ़ क्रिया से छुटकारा पाकर गुणातीत मुक्त पुरुष की निःसीम एवं बंधनहीन क्रिया में प्रवेश किस प्रकार साधित किया जा सकता है, इस प्रश्न पर यदि हम अपने अन्दर अधिक सूक्ष्मता के साथ विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि मनुष्य की अज्ञ एवं बंधनग्रस्त सामान्य प्रकृति को दिव्य आध्यात्मिक सत्ता की क्रियाशील मुक्त स्थिति में परिवर्तित करने में क्रियात्मक कठिनाई क्या है। यह परिवर्तन किंवा त्रिगुण का अतिक्रमण परमावश्यक है ; क्योंकि यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि उसे त्रिगुणातीत या निस्त्रैगुण्य होना होगा, अर्थात् तीनों गुणों से ऊपर या फिर उनसे रहित होना होगा। दूसरी ओर, इतने ही स्पष्ट रूप में, इतने ही बलपूर्ण शब्दों में यह भी कहा गया है कि इस भूतल पर प्रत्येक प्राकृत सत्ता में तीनों गुण एक-दूसरेके साथ अविच्छेद्य रूप से युक्त रहकर क्रिया कर रहे हैं और यह भी कहा गया है कि किसी मनुष्य या प्राणी या शक्ति की समस्त क्रिया केवल इन तीन गुणों की एक-दूसरेपर होनेवाली क्रिया ही है, वह एक ऐसी क्रिया है जिसमें कोई एक या दूसरा गुण प्रबल होता है तथा शेष दोनों उसकी क्रिया एवं परिणामों को थोड़ा-बहुत प्रभावित करते हैं, **'गुणा गुणेषु वर्तन्ते।'** तब भला और कोई सक्रिय एवं गतिशील प्रकृति या किसी और प्रकार के कर्म हो ही कैसे सकते हैं? कर्म करने का अर्थ प्रकृति के तीन गुणों के अधीन होना है ; उसकी क्रिया की इन अवस्थाओं के ऊपर उठने का अर्थ आत्मा में नीरव होकर स्थित रहना है। ईश्वर, पुरुषोत्तम, जो प्रकृति के सब कर्मों के स्वामी हैं तथा अपने दिव्य संकल्प के द्वारा उन सबका परिचालन, निर्देशन और निर्धारण करते हैं, निःसंदेह गुणों की इस यांत्रिक क्रिया से परे हैं ; वे प्रकृति के गुणों से प्रभावित या आबद्ध नहीं होते। परन्तु फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि वे सदा इन्हीं के द्वारा कार्य करते हैं, सदा स्वभाव की शक्ति से तथा गुणों के मनोवैज्ञानिक यंत्र के द्वारा ही गठन करते हैं। ये तीन प्रकृति के मूलभूत गुण हैं, यहाँ हमारे अन्दर जो कार्यवाहिका प्रकृति-शक्ति

१. गीता, अध्याय १६

गठित हो रही है उसकी ये आवश्यक क्रियाएँ हैं, और स्वयं जीव भी इस प्रकृति के अन्दर भगवान् का एक अंश मात्र है। अतएव यदि मुक्त व्यक्ति मुक्ति के बाद भी कर्म करता रहता है, कर्म-प्रपंच में विचरण करता है, तो वह प्रकृति के अन्दर रहता हुआ तथा उसके गुणों के द्वारा सीमाबद्ध एवं उनकी प्रतिक्रियाओं के अधीन होकर ही कर्म कर सकता तथा इस प्रकार विचरण कर सकता है, और जबतक उसकी सत्ता का प्राकृत भाग विद्यमान है तबतक वह भगवान् की मुक्तावस्था में कर्म नहीं कर सकता। परन्तु गीता ने इससे ठीक उलटी बात कही है, वह यह कि मुक्त योगी गुणों की प्रतिक्रियाओं से छुटकारा पा लेता है और वह चाहे जो भी कर्म करे, चाहे जिस प्रकार भी रहे, पर वह सदा ईश्वर में ही, उनके स्वातंत्र्य और अमृतत्व की शक्ति में ही, परमोच्च शाश्वत अनंत के विधान में ही रहता-सहता है, उसी में चलता-फिरता तथा सब काम-काज करता है, **'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।'** ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ एक परस्पर-विरोध एवं गहन समस्या विद्यमान है।

परन्तु ऐसा तभी दिखायी देता है जब हम विश्लेषक मन के कठोर तार्किक विरोधों के साथ गठबंधन कर लेते हैं, तब नहीं जब हम आत्मा के स्वरूप, तथा प्रकृति के अन्दर विद्यमान अध्यात्म-सत्ता पर मुक्त एवं सूक्ष्म रूप से दृष्टिपात करते हैं। जो शक्ति जगत् को चला रही है वह वास्तव में प्रकृति के गुण नहीं है,—ये गुण तो हमारी साधारण प्रकृति का केवल निम्न पक्ष हैं, उसका एक यंत्र मात्र हैं। जगत् की वास्तविक चालक-शक्ति एक आध्यात्मिक भगवत्संकल्प है जो इस समय इन निम्न अवस्थाओं का प्रयोग कर रहा है, पर जो स्वयं मानवीय संकल्प की भाँति गुणों के द्वारा सीमाबद्ध एवं नियंत्रित नहीं होता, उनका यंत्र नहीं बन जाता। निःसंदेह, क्योंकि इन गुणों की क्रिया इतनी सार्वभौम है, इनका मूल परमात्मा की शक्ति के भीतर निहित किसी तत्त्व में ही होना चाहिए; दिव्य संकल्प-बल में ऐसी शक्तियाँ अवश्य होनी चाहिएँ जिनसे प्रकृति के ये गुण उद्भूत होते हैं। कारण, निम्नतर सामान्य प्रकृति की प्रत्येक वस्तु पुरुषोत्तम की सत्ता की उच्चतर अध्यात्म-शक्ति से ही निःसृत हुई है, **'मत्तः प्रवर्तते ;'** वह आध्यात्मिक मूल से रहित एक सर्वथा नवीन वस्तु के रूप में उद्भूत नहीं होती। आत्मा की मूल शक्ति में कोई ऐसी चीज अवश्य है जिससे हमारी प्रकृति का सात्त्विक प्रकाश एवं सुख, उसकी राजसिक गति तथा तामसिक जड़ता निःसृत हुई हैं और जिसके ये अपूर्ण या हीन रूप हैं। किन्तु इन स्रोतों के जिस अपूर्ण एवं विकृत रूप के अन्दर हम निवास करते हैं उसके परे जब हम एक बार इनके विशुद्ध रूपतक पहुँचते हैं तो हमें पता चलता है कि, ज्योंही हम आत्मा के अन्दर निवास करने

लगते हैं त्योंही, ये गतियाँ एक सर्वथा भिन्न रूप धारण कर लेती हैं। सत्ता और कर्म तथा इन दोनों की त्रिगुणात्मक अवस्थाएँ अपने वर्तमान सीमित रूप से अत्यंत परतर एवं सर्वथा विभिन्न वस्तुएँ बन जाती हैं।

इस द्वंद्वमय एवं संघर्षमय जगत् की इस विक्षुब्ध गति के पीछे क्या चीज है? वह कौन-सी चीज है जो मन को छूते ही, मानसिक रूप धारण करते ही कामना, चेष्टा, आयास, भ्रांत संकल्प, पाप और दुःख-दर्द की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती है? वह गति में प्रवृत्त आत्मा का संकल्प है, कर्मरत विराट् भगवत्-संकल्प है जिसे ये वस्तुएँ स्पर्श नहीं करतीं; वह मुक्त एवं अनंत चिन्मय परमेश्वर की शक्ति[1] है जिसके अन्दर कोई कामना नहीं, क्योंकि वह विश्व की समस्त संपदा की स्वामिनी है और अपनी गति के सहज-स्फूर्त आनन्द की भोक्त्री है। किसी प्रकार के आयास-प्रयास से श्रान्त न होती हुई वह अपने साधनों तथा उद्देश्यों के निर्बाध प्रभुत्व का उपभोग करती है; किसी भ्रांत संकल्प के कारण पथभ्रष्ट न होती हुई वह आत्मा और वस्तुओं के उस ज्ञान को अपने अन्दर धारण किये हुए है जो उसके प्रभुत्व और आनंद का मूल स्रोत है: दुःख, पाप या वेदना से अभिभूत न होती हुई वह अपनी सत्ता तथा शक्ति दोनों के आनंद और पवित्रता से नित्ययुक्त है। जो जीव ईश्वर में निवास करता है वह इस आध्यात्मिक संकल्प के द्वारा कार्य करता है, न कि बंधनग्रस्त मन के सामान्य संकल्प के द्वारा: उसकी समस्त क्रिया-प्रवृत्ति इस आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा प्रवाहित होती है, प्रकृति के रजोगुण के द्वारा नहीं, इसका कारण ठीक यही है कि वह अब और उस निम्नतर गति में निवास नहीं करता, जिसके साथ यह विकृति सम्बन्ध रखती है, बल्कि दिव्य प्रकृति में गति के विशुद्ध और पूर्ण मर्म पर पहुँच गया है।

और फिर प्रकृति की यह जड़ता, यह तमस् पराकाष्ठा को पहुँचने पर उसकी क्रिया को मशीन के अंध परिचालन-जैसा रूप दे देता है, एक ऐसे यांत्रिक वेग का रूप दे देता है जो उस गरारी के सिवा और किसी चीज से सचेतन नहीं होता जिसमें इसकी गति शुरू करा दी जाती है, और यहाँतक कि जो गति का नियम तक नहीं जानता,—यह तमस् अभ्यस्त क्रिया के विलोप को मृत्यु एवं विघटन में परिणत कर देता है तथा मन के अन्दर निष्क्रियता एवं अज्ञान की शक्ति बन जाता है,—इस प्रकार के इस तमस् के पीछे क्या चीज है? यह तमस् एक प्रकार का अज्ञानान्धकार है जो, यह कहा जा सकता है कि, आत्मा के शांति और विश्रांतिरूपी शाश्वत तत्त्व को विकृत करके उसे शक्ति एवं ज्ञानसम्बन्धी निष्क्रियता में परिणत कर देता है। पर भगवान् की वह विश्रांति एक ऐसी विश्रांति है जिसे वे कभी नहीं

१. तपस्, चित्-शक्ति

खोते, तब भी नहीं जब कि वे कर्म करते हैं, वह एक ऐसी शाश्वत विश्रांति है जो उनके ज्ञान के समग्र व्यापार को तथा उनके सर्जन-संकल्प की शक्ति को वहाँ और यहाँ दोनों जगह धारण करती है, वहाँ उसकी अपनी अनंतताओं में तथा यहाँ उसकी क्रिया और आत्म-संवित् की प्रतीयमान अपूर्णता में। भगवान् की शांति न तो शक्ति का विघटन है और न ही शून्य निष्क्रियता ; चाहे 'शक्ति' यत्र-तत्र-सर्वत्र कुछ समय के लिए सक्रिय रूप से जानना तथा सृजन करना बन्द कर दे तो भी भगवान् की यह शांति उस सबको, जिसे 'अनंत' ने जाना तथा किया है, एक सर्वसमर्थ नीरवता में संगृहीत तथा चिद्घन रूप में सुरक्षित रखेगी। सनातन को सोने या विश्राम करने की आवश्यकता नहीं होती ; वे न तो श्रांत होते हैं और न शिथिल ; उन्हें अपनी क्लांत शक्तियों को फिर से नया और ताजा करने के लिए विराम की जरूरत नहीं ; क्योंकि उनकी शक्ति अक्षय रूप में एक-रस है, कभी श्रांत न होनेवाली तथा असीम है। परमेश्वर अपने कर्म के बीच भी शान्त और सुस्थिर रहते हैं ; और दूसरी ओर उनकी कर्म से विरति उनकी गति की सम्पूर्ण शक्ति तथा समस्त सम्भाव्यताओं को अपने अन्दर सुरक्षित रखती है। मुक्त जीव इस स्थिर शांति में प्रवेश करता है तथा आत्मा की शाश्वत विश्रांति में भाग लेता है। जिस किसी को भी मुक्ति के आनन्द का यत्किंचित् रसास्वाद प्राप्त हुआ है वह इस बात को जानता है कि इसमें शांति की शाश्वत शक्ति विद्यमान है। और वह गभीर शांति कर्म के ठेठ अंतस्तल में भी रह सकती है, शक्तियों की अतीव प्रचंड गति में भी सुरक्षित रह सकती है। विचार, कर्म, संकल्प एवं प्रवृत्ति का अदम्य प्रवाह, प्रेम का उद्दाम आवेग, स्वयंसत् आध्यात्मिक आनंद का तीव्रतम उल्लास उपस्थित हो सकता है और वह जगत् में तथा प्रकृति की गतिविधियों में वस्तुओं और सत्ताओं के तेजोमय एवं शक्ति-पूर्ण आध्यात्मिक उपभोग की हद तक पहुँच सकता है, और फिर भी यह शांति एवं स्थिरता उस आवेग के पीछे तथा उसके अन्दर उपस्थित रहेगी—अपनी गह-राइयों से नित्य-सचेतन, सदा एकरस। मुक्त व्यक्ति की शांति आलस्य, अक्षमता, असंवेदनशीलता एवं जड़ता-रूप नहीं होती ; वह तो होती है अमर शक्ति से परिपूर्ण, समस्त कर्म करने में सक्षम, प्रगाढ़तम हर्ष के साथ समस्वरित, गभीरतम प्रेम एवं करुणा तथा सब प्रकार के तीव्रतम आनंद की ओर अभिमुख।

इसी प्रकार, प्रकृति का यह शुद्धतम गुण अर्थात् सत्त्वगुण या सत्त्वशक्ति जो सात्म्य एवं समरसता, यथार्थ ज्ञान एवं यथार्थ व्यवहार, सुन्दर सामंजस्य, दृढ़ संतुलन, यथार्थ कर्म-विधान तथा यथार्थ प्रभुत्व को अधिगत करने में सहायक होती है और मन को इतनी पूर्ण तृप्ति प्रदान करती है, यह सत्त्वगुण जो अपने-

आपमें, अपनी सीमाओं के भीतर तथा अपने स्थिति-काल में तो अवश्य सराहनीय है पर फिर भी जिसकी स्थिति अनिश्चित है और जो अपनी सीमाओं के द्वारा सुरक्षित है तथा विधि-विधान पर आश्रित है, इस प्रकार के इस सत्त्वगुण के अवर प्रकाश एवं सुख के परे, साधारण प्रकृति की इस उच्चतम वस्तु के परे इसके ऊर्ध्व और सुदूर उद्गम में मुक्त आत्मा की एक मुक्त महत्तर ज्योति एवं आनन्द विद्यमान है। वह ज्योति एवं आनन्द सीमाबद्ध नहीं है, वह नियम-मर्यादा या विधि-विधान पर अवलंबित नहीं है, बल्कि स्वयं-स्थित और अपरिवर्तनीय है, वह हमारी प्रकृति के वैषम्य-विरोधों के बीच इस या उस सामंजस्य का परिणाम नहीं है बल्कि सामंजस्य मात्र का मूल स्रोत है और चाहे जिस किसी भी सामंजस्य की सृष्टि कर सकता है। वह ज्ञान की एक ज्योतिर्मय आध्यात्मिक शक्ति है और अपनी सहज-स्वाभाविक क्रिया में ज्ञान की साक्षात् अतिमानसिक शक्ति है, '**ज्योतिः**' है, वह हमारा विकृत और परोक्ष मानसिक **प्रकाश** नहीं है। वह विशालतम स्वयंस्थित सत्ता की, सहजस्फूर्त आत्मज्ञान, घनिष्ठ विश्वगत तादात्म्य तथा गभीरतम आत्म-विनिमय की ज्योति एवं आनन्द है, न कि अर्जन, आत्मसात्करण, सामंजस्य-साधन तथा कष्टसाध्य साम्य-स्थापन की। वह ज्योति भास्वर अध्यात्म-संकल्प से परिपूर्ण है और उसके ज्ञान तथा कर्म में कोई खाई या विषमता नहीं है। वह आनंद हमारा क्षीणतर मानसिक सुख नहीं है, बल्कि गभीर, तीव्र, प्रगाढ़, स्वयंसत् आनंद है; हमारी सत्ता जो कुछ भी करती है, जिस भी वस्तु की परिकल्पना एवं सृष्टि करती है उस सबमें वह आनन्द व्याप्त रहता है, वह एक स्थिर दिव्य आनंद है। मुक्त जीव इस ज्योति और आनन्द में अधिकाधिक गभीर रूप से भाग लेता है, जितना ही अधिक पूर्ण रूप में वह इसके अन्दर वर्धित होता है, उतना ही अधिक समग्र रूप में वह भगवान् के साथ युक्त होता है। निम्न प्रकृति के गुणों में, अनिवार्य रूप से, एक असंतुलन रहता है, उनमें मात्रा की परिवर्तनशील अस्थिरता, तथा प्रभुत्व के लिए सतत संघर्ष पाया जाता है; पर इसके विपरीत, अध्यात्म-सत्ता की महत्तर ज्योति एवं आनन्द, स्थिरता और गति-संकल्प एक-दूसरेका बहिष्कार नहीं करते, परस्पर संघर्ष नहीं करते, यहाँतक कि ये केवल संतुलित ही नहीं रहते वरन् इनमें से प्रत्येक शेष दो का एक अंग है और अपनी पूर्णता में ये सब एक एवं अविभाज्य हैं। हमारा मन जब भगवान् के निकट पहुँचता है तो ऐसा प्रतीत हो सकता है कि वह इनमें से एक का वर्जन कर दूसरे में प्रवेश कर रहा है, उदाहरणार्थ, ऐसा दिखायी दे सकता है कि वह कर्म की प्रवृत्ति को त्यागकर शांति उपलब्ध करना चाहता है, पर इसका कारण यह है कि पहले-पहल हम अपने

मन की चुनाव करने की वृत्ति के द्वारा ही उनकी ओर अग्रसर होते हैं। बाद में जब हम आध्यात्मिक मन से भी ऊपर उठने में समर्थ हो जाते हैं तो हम देखते हैं कि इन दिव्य शक्तियों में से प्रत्येक के अन्दर शेष सब भी विद्यमान हैं और तब हम इस प्रारम्भिक भूल से छुटकारा पा सकते हैं[1]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव प्रकृति के गुणों की सामान्य हीन क्रिया के अधीन हुए बिना भी कर्म कर सकता है। मन-प्राण-शरीररूपी जिस सीमित साँचे में हम ढले हुए हैं उसी के ऊपर यह हीन क्रिया निर्भर करती है; यह एक विकृति है, एक अक्षमता एवं अयथार्थ या हीन अवस्था है जिसे देहबद्ध मन और प्राण हमपर लादते हैं। जब हम आत्मा में अभिवर्द्धित होते हैं तो प्रकृति के इस धर्म या निम्न विधान का स्थान आत्मा का अमर धर्म ले लेता है; तब मुक्त अमर कर्म, दिव्य असीम ज्ञान, परात्पर शक्ति और अपार शांति का अनुभव हमें प्राप्त होता है। पर फिर भी यह प्रश्न शेष रह जाता है कि यह संक्रमण किन अवस्थाओं के द्वारा संपन्न होगा; क्योंकि मध्यवर्ती अवस्थाओं किंवा प्रगति के क्रमों का रहना आवश्यक है; कारण, इस संसार में ईश्वर की कार्यपरंपरा में कोई भी चीज बिना किसी प्रक्रिया या आधार के किसी आकस्मिक क्रिया के द्वारा नहीं होती। जिस चीज की हम खोज कर रहे हैं वह हमारे अपने ही अन्दर है। पर, क्रियात्मक दृष्टि से, हमें अपनी प्रकृति के निम्नतर रूपों में से उसका विकास करना है[2]। अतएव स्वयं गुणों की क्रिया में भी किसी ऐसे उपाय या सुविधाजनक साधन एवं आधार-बिन्दु का होना आवश्यक है जिसके द्वारा हम

---

१. उच्चतम प्रकृति की क्रिया के ये परम आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक रूप निम्न प्रकृति के तीन गुणों के अनुरूप हैं; इनका जो वर्णन यहां किया गया है वह गीता से नहीं लिया गया है बल्कि वह आध्यात्मिक अनुभूति के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। गीता उच्चतम प्रकृति की क्रिया का, 'रहस्यम् उत्तमम्', का किंचित् भी वर्णन नहीं करती; वह इसे जिज्ञासु पर छोड़ देती है ताकि वह स्वयं अपनी आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा इसे उपलब्ध करे। वह केवल उच्च सात्त्विक स्वभाव और कर्मवाली प्रकृति का निर्देश भर कर देती है जिसके द्वारा यह परम रहस्य प्राप्त किया जा सकता है, और साथ ही वह सत्त्व के भी ऊपर उठने तथा तीनों गुणों को पार करने के लिए आग्रह करती है।

२. यह इस दृष्टिकोण से कहा गया है कि हमारी प्रकृति आत्म-विजय, पुरुषार्थ और साधना के द्वारा ही ऊपर की ओर आरोहण करती है। पर इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि हमारी सत्ता का रूपांतर करने के लिए इसके अंदर दिव्य ज्योति, उपस्थिति और शक्ति अवतरित हों तथा अधिकाधिक अपना हस्तक्षेप करें; अन्यथा सिद्धि के चरम बिंदु पर तथा उसके परे रूपांतर साधित नहीं हो सकता। इसी कारण साधना की अंतिम क्रिया के रूपमें पूर्ण आत्म-समर्पण करना आवश्यक होता है।

यह रूपांतर साधित कर सकें। गीता को यह उपाय सत्त्वगुण में उपलब्ध हुआ है, वह कहती है कि हमें सत्त्वगुण का पूर्ण विकास करना होगा ताकि वह अपने शक्तिशाली विस्तार में एक ऐसे स्थल पर पहुँच जाय जहाँ वह अपनेको अतिक्रम कर सके तथा अपने उद्गम में विलीन हो सके। इसका कारण स्पष्ट ही है, क्योंकि सत्त्व प्रकाश और सुख की शक्ति है, एक ऐसी शक्ति है जो शांति और ज्ञान की प्राप्ति में सहायक है, और अपने सर्वोच्च शिखर तक पहुँचने पर यह, जिस आध्यात्मिक ज्योति एवं आनंद से यह उत्पन्न हुआ है, उसे कुछ-न-कुछ प्रतिभासित कर सकता है, यहाँतक कि उसके साथ लगभग एक मानसिक तादात्म्य प्राप्त कर सकता है। शेष दो गुण प्रकृति की सत्त्वगुण की शक्ति के हस्तक्षेप के बिना इस प्रकार का रूपांतर लाभ नहीं कर सकते, अर्थात् सत्त्व के बिना न तो रज दिव्य क्रियाशील संकल्प में रूपांतरित हो सकता है और न ही तम दिव्य शम और विश्रांति में। जड़ता का तत्त्व सदा शक्ति की जड़ निष्क्रियता या ज्ञान की अक्षमता ही बना रहेगा जबतक कि उसका अज्ञान प्रकाश में विलीन नहीं हो जाता और उसकी जड़ अक्षमता शांतिमय सर्वशक्तिमान् दिव्य संकल्प की ज्योति एवं शक्ति में विलुप्त नहीं हो जाती। उसके बिना हम परम शान्ति एवं स्थिरता कभी नहीं प्राप्त कर सकते। अतएव तमस् को सत्त्व के वश में लाना आवश्यक है। इसी प्रकार, रज का तत्त्व सदैव एक चंचल, विक्षुब्ध, ज्वराकुल या उद्विग्न व्यापार ही रहेगा, क्योंकि उसके अन्दर यथार्थ ज्ञान का अभाव है ; उसकी स्वभावसिद्ध गति एक अयुक्त एवं विकृत क्रिया है जिसके विकृत होने का कारण है अज्ञान। हमें अपने संकल्प को ज्ञान के द्वारा शुद्ध करना होगा ; उसे उत्तरोत्तर एक युक्त तथा ज्ञानदीप्त क्रिया का अभ्यासी बनाना होगा ; तब कहीं हम उसे दिव्य गतिशील संकल्प में परिणत कर सकते हैं। इसका भी यही अर्थ हुआ कि सत्त्व का हस्तक्षेप आवश्यक है। सत्त्वगुण परा और अपरा प्रकृति के बीच प्रथम मध्यस्थ है। निःसंदेह एक विशेष बिंदु तक पहुँचकर इसे रूपांतरित हो जाना होगा या फिर इसे अपनेको अतिक्रम करना होगा एवं खण्डित होकर अपने उद्गम में विलीन हो जाना होगा ; इसके परिच्छिन्न, अन्यलब्ध एवं अन्वेषण-तत्पर प्रकाश तथा सावधानतापूर्वक आयोजित कार्य को आत्मा की मुक्त साक्षात् कर्मशक्ति तथा स्वयंस्फूर्त ज्योति में रूपांतरित होना होगा। परन्तु इस बीच सत्त्वगुण की अपरिमित वृद्धि हमें तामसिक एवं राजसिक अक्षमता से बहुत हद तक मुक्त कर देती है ; और एक बार जब ऐसी स्थिति आ जाती है कि रज और तम हमें बहुत अधिक नीचे नहीं खींच सकते तब स्वयं सत्त्वगुण की अपनी अक्षमता भी अतीव सुगमता से पार की जा सकती है।

जबतक सत्त्वगुण आध्यात्मिक ज्योति, शान्ति और प्रसाद से परिपूर्ण नहीं हो जाता, तबतक उसे विकसित करते जाना ही प्रकृति की इस प्रारम्भिक साधना की पहली शर्त है।

हम देखेंगे कि गीता के शेष अध्यायों का संपूर्ण आशय यही है। परंतु इस ज्ञानप्रद प्रक्रिया की विवेचना करने से पहले इसकी भूमिका के रूप में वह दो प्रकार की सत्ताओं, देव और असुर के बीच भेद दिखलाती है; क्योंकि देव ही अपने-आपको रूपांतरित करने का उच्च सात्त्विक कार्य कर सकता है, असुर नहीं। हमें यह देखना होगा कि इस भूमिका का उद्देश्य तथा इस भेद की यथार्थ उपयोगिता क्या है। मनुष्य मात्र की सामान्य प्रकृति एक-सी है; वह तीन गुणों के मिश्रण से बनी हुई है। अतएव, ऐसा प्रतीत होगा कि सत्त्वगुण को विकसित और परिपुष्ट करने तथा उसे दिव्य रूपांतर की ऊँचाइयों की ओर उन्मुख कर देने की क्षमता सबके अंदर है। परंतु हमारी यह साधारण प्रवृत्ति है कि व्यवहार में हम अपनी बुद्धि और संकल्प को अपने राजसिक या तामसिक अहंभाव के दास बनाने के साथ-साथ अपनी चंचल एवं असंतुलित कर्मैषणा या स्व-विलासी अकर्मण्यता और निष्क्रिय जड़ता के सहायक भी बना देते हैं। इस प्रवृत्ति के संबंध में हम यह मान ले सकते हैं कि यह हमारी अविकसित आध्यात्मिक सत्ता की एक अस्थायी प्रवृत्ति एवं इसके अपूर्ण विकास की अपरिपक्व अवस्था ही हो सकती है, और जब हमारी चेतना का आध्यात्मिक स्तर ऊँचा हो जायगा तब यह अवश्य दूर हो जायगी। परंतु कार्यतः हम यह देखते हैं कि मनुष्य, कम-से-कम एक स्तर-विशेष से ऊपर के मनुष्य, अधिकतर दो श्रेणियों के अंदर आते हैं, एक तो वे लोग होते हैं जिनमें सात्त्विक प्रकृति अत्यंत प्रबल होती है जो कि स्वभावतः ही ज्ञान, आत्म-संयम, परोपकार तथा पूर्णता की ओर मुड़ी रहती है और दूसरे वे जिनमें राजसिक प्रकृति अति प्रबल होती है जो अहम्मय महत्ता एवं कामना-पूर्त्ति की ओर तथा अपने निजी दृढ़ संकल्प एवं व्यक्तित्व में आसक्ति-पूर्ण रति की ओर मुड़ी रहती है; अपने उस दृढ़ संकल्प और व्यक्तित्व को वे मनुष्य भगवान् की सेवा के लिए नहीं, बल्कि अपने अभिमान, यश और सुख के लिए जगत् पर लादना चाहते हैं। ये देवों और दानवों या असुरों के मानवीय प्रतिनिधि हैं। यह भेद भारतीय धार्मिक प्रतीकवाद में अत्यंत प्राचीन है। ऋग्वेद का मूल विचार देवताओं और उनके अंधकारमय विरोधियों के बीच, ज्योति के अधिपतियों एवं अनंतता के पुत्रों और अंधकार एवं विभाजन की संतानों के बीच होनेवाला संग्राम ही है, वह एक ऐसा संग्राम है जिसमें मनुष्य भाग लेता है और जो उसके समस्त आंतर जीवन और कर्म में प्रतिबिंबित होता है।

जरदुश्त के धर्म का भी मूलतत्त्व यही था। परवर्ती साहित्य में भी इसी विचार की प्रधानता पायी जाती है। रामायण, अपने मूल नैतिक भाव में, मानव-रूपधारी देव तथा मूर्त्तिमंत राक्षस के बीच, उच्च संस्कृति एवं धर्म के प्रतिनिधि तथा अतिरंजित अहं की विराट् असंयत शक्ति एवं राक्षसी सभ्यता के बीच होनेवाले घनघोर संघर्ष का रूपक है। महाभारत,—गीता जिसका एक अंश है,—मानवरूप देवों और असुरों के जीवनव्यापी संघर्ष को अपना विषय बनाती है; देव वे शक्तिशाली मनुष्य हैं, देवताओं के पुत्र हैं जो उच्च नैतिक धर्म के प्रकाश के द्वारा परिचालित होते हैं और असुर वे मूर्तिमंत दानव हैं, वे शक्तिशाली मनुष्य हैं जो अपने बौद्धिक, प्राणिक एवं भौतिक अहं की सेवा में रत हैं। प्राचीन मानव का मन भौतिक आवरण के पीछे छिपे हुए वस्तुओं के सत्य की ओर हमारी अपेक्षा अधिक खुला हुआ था; वह मनुष्य-जीवन के पीछे उन महान् वैश्व शक्तियों या सत्ताओं को देखता था जो विश्व-शक्ति की कुछ एक प्रवृत्तियों या कोटियों की, दैवी, आसुरी, राक्षसी और पैशाची प्रवृत्तियों या कोटियों की प्रतिनिधि हैं; और जो लोग अपने अंदर प्रकृति की इन विशिष्ट प्रवृत्तियों का प्रबल रूप से प्रतिनिधित्व करते थे वे स्वयं भी देव, असुर, राक्षस और पिशाच समझे जाते थे। गीता अपने प्रयोजनों के लिए इस भेद को स्वीकार करती है और इन दो प्रकार की सत्ताओं के विभेद को विशद रूप से पल्लवित करती है, **'द्वौ भूतसर्गौ'**।' ईश्वर-ज्ञान, मुक्ति और पूर्णता का प्रतिरोध करनेवाली आसुरी और राक्षसी प्रकृति का वर्णन वह पहले कर चुकी है; अब वह इन चीजों की ओर मुड़ी हुई दैवी प्रकृति के साथ इसकी तुलना करती है।

भगवान् गुरु कहते हैं कि अर्जुन देव-प्रकृति का मनुष्य है। उसे यह विचार कर शोक करना उचित नहीं कि युद्ध और वध को अंगीकार करने से वह आसुरी आवेगों का दास बन जायगा। जिस कार्य पर सब कुछ निर्भर करता है, जो युद्ध अर्जुन को करना है, जिसमें देहधारी ईश्वर उसके सारथि हैं और जगत् के प्रभु ने काल-पुरुष के रूप में प्रकट होकर जिसके लिए आदेश दिया है, वह धर्म के राज्य, सत्य, सदाचार और न्याय के साम्राज्य की स्थापना का संघर्ष है। वह स्वयं देवजाति में उत्पन्न हुआ है; उसने अपने अंदर सात्त्विक स्वभाव का विकास किया है, यहाँतक कि अब वह उस अवस्था में पहुँच गया है जहाँ वह उच्च रूपांतर के योग्य है तथा त्रैगुण्य से और इसलिए सात्त्विक प्रकृति से भी मुक्ति लाभ करने में समर्थ है। देव और असुर का यह विभाग सारी-की-सारी मनुष्यजाति में व्याप्त नहीं है, यह न तो इसके सभी व्यक्तियों पर कठोर रूप से लागू हो सकता है और न ही मनुष्यजाति के नैतिक या आध्यात्मिक इतिहास की सब अवस्थाओं

में अथवा वैयक्तिक विकास के सब पक्षों में तीव्र और सुनिश्चित रूप से पाया जाता है। तामसिक मनुष्य, जो संपूर्ण जाति का कितना ही बड़ा भाग है, गीता में वर्णित श्रेणियों में से किसी के भी अंदर नहीं आता, यद्यपि उसके अंदर अल्प मात्रा में दोनों ही तत्त्व हो सकते हैं और यद्यपि अधिकांश में वह डरते-डरते निम्नतर गुणों की ही सेवा करता है। सामान्य मनुष्य साधारणतः एक मिश्रण होता है ; परंतु कोई एक या दूसरी प्रवृत्ति अधिक सुनिश्चित होती है, वह उसे प्रधान रूप से राजस-तामसिक या सात्त्विक-राजसिक बनाती चली जाती है और ऐसा कहा जा सकता है कि वह उसे दैवी निर्मलता या दानवी विक्षुब्धता में से किसी एक परिणति के लिए तैयार कर रही होती है। क्योंकि, यहाँ गुणात्मिका प्रकृति के विकास में एक प्रकार की विशेष परिणति ही गीता का लक्ष्य है, जैसा कि मूल में किये गये वर्णनों से स्पष्ट पता लग जायगा। एक ओर तो सत्त्वगुण का उन्नयन, अजात देवता का उत्कर्ष या आविर्भाव हो सकता है, दूसरी ओर प्रकृतिगत जीव के रजोगुण का उन्नयन एवं असुर का पूर्ण प्रादुर्भाव हो सकता है। इनमें से एक तो मोक्ष के उस पुरुषार्थ की ओर ले जाता है जिसपर गीता अब बल देनेवाली है ; इसके द्वारा सत्त्वगुण से बहुत ऊपर उठ जाना तथा भागवत सत्ता के साधर्म्य में रूपांतरित होना संभव हो जाता है, **'विमोक्षाय।'** दूसरा हमें इस विश्वगत संभावना से दूर ले जाता है तथा हमारे अहं-बंधन को बड़ी तेजी से बढ़ाता है। दैवासुर-संपद्-विभाग का मर्म यही है।

दैवी प्रकृति का लक्षण है सात्त्विक अभ्यासों एवं गुणों का चरमोत्कर्ष ; आत्म-संयम, आत्मत्याग, धार्मिक प्रवृत्ति, शुद्धता और पवित्रता, ऋजुता और सरलता, सत्य, शांति और स्वार्थत्याग, भूतदया, शालीनता, मृदुता, क्षमा, धीरता और स्थिरता; समस्त चंचलता, लघुता और अस्थिरता से गंभीर, मधुर और यथार्थ मुक्ति इसकी स्वाभाविक विशेषताएँ हैं। आसुरी गुण क्रोध, लोभ, धूर्तता, छल-कपट, परद्रोह, दर्प, अभिमान और अति आत्मादर का इसकी गठन में कोई स्थान नहीं। परंतु इसकी मृदुता, आत्म-त्याग और आत्म-संयम में भी दुर्बलता का नाम-निशान नहीं होता ; इसमें होता है तेज और आत्मबल, धृति या दृढ़ संकल्प, न्याय के अनुसार तथा सत्य और अहिंसा के अनुसार जीवन-यापन करनेवाली आत्मा की निर्भयता, **'तेजः, अभयम्, धृतिः, अहिंसा, सत्यम्।'** दैवी संपदा से संपन्न मनुष्य की समस्त सत्ता एवं समस्त प्रकृति पूर्ण रूप से शुद्ध होती है ; उसके अंदर होती है ज्ञान-पिपासा और ज्ञानयोग में दृढ़ एवं स्थिर प्रतिष्ठा, **'ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः।'** दैवी प्रकृति में उत्पन्न मनुष्य की संपदा, उसकी समृद्धि यही होती है।

आसुरी प्रकृति की भी अपनी संपदा एवं बल-समृद्धि होती है, पर वह अत्यंत भिन्न प्रकार की, शक्तिशाली तथा अशुभ होती है। आसुरी मनुष्यों को प्रवृत्ति-मार्ग या निवृत्तिमार्ग के संबंध में, प्रकृति को बाह्य रूप से चरितार्थ करने या उसे अंतर्मुख करने के संबंध में सच्चा ज्ञान नहीं होता। उनके अंदर न तो सत्य होता है, न शुद्ध कर्म, न सत्याचरण। स्वभावतः ही वे इस जगत् में स्वतुष्टि की विशाल क्रीड़ा के सिवा और कुछ नहीं देखते ; उनका जगत् एक ऐसा जगत् है जिसका मूल, बीज, नियामक शक्ति एवं विधान है 'कामना', उनका जगत् 'आकस्मिकता' का जगत् है जो युक्तिसंगत संबंध या कर्मशृंखला से रहित है, ईश्वर-विहीन है, असत्य है तथा सत्य-रूप आधार से वियुक्त है। वे चाहे कोई भी इससे अच्छा बौद्धिक या उच्चतर धार्मिक सिद्धांत क्यों न मानते हों, फिर भी कार्य-क्षेत्र में उनकी मन-बुद्धि का वास्तविक सिद्धांत यही होता है ; वे सदैव कामना तथा अहं की उपासना करते हैं। वास्तव में वे जीवन को देखने की इसी दृष्टि का आश्रय लेते हैं और इसके मिथ्यात्व के द्वारा अपनी आत्मा और बुद्धि का सर्वनाश करते हैं। आसुरी मनुष्य एक भयानक, दानवीय, उग्र कर्म का केंद्र या यंत्र, जगत् में एक संहारकारी शक्ति, अहित और अनिष्ट का मूल स्रोत बन जाता है। दंभ और मान से परिपूर्ण, अभिमान के नशे में चूर ये पथभ्रष्ट जीव अज्ञान से विमूढ़ हो जाते हैं, मिथ्या और आग्रहपूर्ण उद्देश्यों पर अड़े रहते हैं तथा अपनी लालसाओं के अपवित्र संकल्प का दृढ़तापूर्वक अनुसरण करते हैं। वे समझते हैं कि कामना एवं उपभोग ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है और इस दुष्पूरणीय लक्ष्य का बेहद पीछा करते हुए वे मृत्युकाल-पर्यन्त एक सर्वग्रासी, अनंत-अपरिमेय चिंता और उधेड़-बुन, आयास और आतुरता के शिकार रहते हैं। सैकड़ों पाशों से बद्ध, काम और क्रोध से ग्रस्त, दिन-रात अपने कामोपभोग तथा तृष्णा की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक अर्थ-संचय करने में निरत वे सदा यही सोचते हैं कि, "आज मेरा यह मनोरथ पूरा हो गया है, कल वह दूसरा पूरा हो जायगा ; आज मुझे इतना धन प्राप्त हो गया है, कल और प्राप्त हो जायगा, अपने अमुक शत्रु का मैंने वध कर दिया है, बाकियों का भी वध कर डालूंगा। मैं मनुष्यों का ईश्वर और राजा हूँ, मैं पूर्ण, सिद्ध, बलवान्, सुखी और भाग्यशाली हूँ, मैं ही जगत् के सब भोगों का अधिकारी हूँ ; मैं धनवान् हूँ, मैं कुलीन हूँ ; मेरे समान यहाँ और कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूँगा, मैं मौज करूँगा।" सुतरां, अनेक अहंभावपूर्ण विचारों से अभिभूत, अज्ञान से विमोहित, कार्यों को करते हुए पर गलत ढंग से करते हुए, शक्तिशाली रूप से कर्म करते हुए पर अपने-

में तथा मनुष्य में विद्यमान भगवान् के लिए नहीं, वरन् अपने लिए, कामना तथा उपभोग के लिए ही कर्म करते हुए वे अपने ही दुष्कृत के मलिन नरक में पतित होते हैं। वे यज्ञ और दान करते हैं सही, पर आत्माभिमानपूर्ण प्रदर्शन के साथ, गर्व तथा कठोर एवं जड़तापूर्ण मद के साथ। अपने बल-सामर्थ्य के अहंकार में, दर्प और क्रोध के आवेश में आकर वे अपने अंदर छिपे हुए तथा मनुष्य मात्र में विद्यमान परमेश्वर को घृणा, तुच्छता और अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं। और, क्योंकि वे शुभ से और भगवान् से इस प्रकार अभिमानपूर्वक घृणा और द्वेष करते हैं, क्योंकि वे क्रूर और दुष्ट होते हैं, अतएव, भगवान् उन्हें निरंतर अधिकाधिक आसुरी योनियों में डालते रहते हैं। उनकी खोज न करने के कारण वे उन्हें नहीं पाते, और अंत में उनकी प्राप्ति के मार्ग को सर्वथा खोकर वे जीव-प्रकृति की निम्नतम स्थिति में जा गिरते हैं, **'अधमां गतिम्।'**

यह जो जीवंत वर्णन है इसके द्वारा द्योतित भेद का पूरा महत्त्व स्वीकार करते हुए भी, इसका जितना अर्थ है उससे अधिक इसमें से खींचतानकर निकालना उचित नहीं। जब यह कहा जाता है कि इस जड़ जगत् में देव और असुर—दो प्रकार की जीव-सृष्टि पायी जाती है[1], तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि परमेश्वर ने आरंभ से ही मानव-जीवों को इसी प्रकार का बनाया है और अतएव, प्रकृति के अंदर प्रत्येक की जीवनधारा अटल रूप से निश्चित है। न ही इसका यह अर्थ होता है कि सबकी आध्यात्मिक नियति पहलेसे ही कठोरतापूर्वक नियत है और जिन लोगों को भगवान् ने आरंभ से ही त्याग रखा है उन्हें वे अंध बना देते हैं, ताकि उन्हें शाश्वत विनाश तथा नरक की अशुचि में धकेला जा सके। सभी जीव भगवान् के सनातन अंश हैं, जैसे देवता वैसे ही असुर भी ; सभी मोक्ष लाभ कर सकते हैं ; यहाँतक कि घोर-से-घोर पापी भी भगवान् की ओर मुड़ सकता है। परंतु प्रकृति के अंदर जीव का विकास एक साहसपूर्ण कर्म है जिसमें स्वभाव तथा स्वभावनियत कर्म सदा ही मुख्य शक्तियाँ होते हैं, और यदि जीव

---

१. इन दो प्रकार के सृष्ट जीवों के भेद का पूर्ण सत्य उन अतिमौतिक स्तरों में दृष्टिगोचर होता है जहां की गति-धारा आध्यात्मिक क्रमविकास के नियम के द्वारा नियंत्रित नहीं। जैसे देवताओं के लोक हैं, वैसे असुरों के भी लोक हैं, और हमारे पीछे अवस्थित इन लोकों में जो जीव रहते हैं उनके रूप अपरिवर्तनीय हैं। वे विश्व की प्रगति के लिए आवश्यक पूर्ण दिव्य सृष्टि-लीला को सहारा देते हैं और सत्ता के इस मौतिक स्तर में भूतल पर तथा मनुष्य के जीवन और उसकी प्रकृति पर अपना प्रभाव भी डालते हैं।

के स्वभाव की अभिव्यक्ति में कोई अति, उसकी क्रीड़ा में कोई अव्यवस्था सत्ता के धर्म को कुटिल पथ की ओर फेर दे, यदि राजसिक गुणों को प्रधानता दी जाय, सत्त्व का ह्रास करके उनका विकास किया जाय, तो निश्चय ही, कर्म-प्रवृत्ति तथा उसके परिणाम उस सत्त्वगुण के उत्कर्ष में पर्यवसित नहीं होते जो मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करने में समर्थ है, बल्कि वे निम्न प्रकृति के विकारों की पराकाष्ठा में ही परिसमाप्त होते हैं। यदि मनुष्य इस भ्रांत पथ पर चलना बंद नहीं करता एवं इसे तिलांजलि नहीं दे देता तो अंततः उसके अंदर असुर पूर्णरूपेण जन्म ले लेता है, और जब एक बार वह ज्योति एवं सत्य से प्रबल रूप से पराङ्मुख हो जाता है, तो अपने अंदर दिव्य शक्ति का अत्यधिक दुरुपयोग होने के कारण ही वह फिर अपने पतन की घातक गति को तबतक नहीं उलट सकता जबतक वह उन गहरे गर्तों की थाह नहीं ले लेता जिनमें कि वह पतित हुआ है, जबतक वह उनके तल तक नहीं पहुँच जाता और यह नहीं देख लेता कि यह मार्ग उसे कहाँ ले आया है, कैसे इसने उसकी शक्ति को समाप्त कर दिया है तथा व्यर्थ में गँवा दिया है और कैसे वह स्वयं भी जीव-प्रकृति की निम्नतम अवस्था में, अर्थात् नरक में जा गिरा है। जब वह यह सब समझकर ज्योति की ओर मुड़ जाता है केवल तभी गीता का यह दूसरा सत्य उसके सामने आता है कि अधम से अधम पापी भी, अत्यंत अपवित्र एवं घोर दुराचारी भी ज्योंही अपने अंतःस्थ परमेश्वर का भजन और अनुसरण करने की ओर झुकता है त्योंही उसका उद्धार आरंभ हो जाता है। तब केवल उस झुकाव के द्वारा ही वह अत्यंत शीघ्र सात्त्विक मार्ग पर पहुँच जाता है जो पूर्णता और मुक्ति की ओर ले जाता है।

आसुरिक प्रकृति राजसिक प्रकृति की ही चरम सीमा है ; वह प्रकृति के अंदर जीव की दासता की ओर तथा राजसिक अहंकार की तीन शक्तियों, काम, क्रोध और लोभ की ओर ले जाती है, और ये नरक का त्रिविध द्वार हैं। जब प्राकृत जीव अपनी निम्नतर या विकृत अंधप्रेरणाओं की अपवित्रता, दुष्टता एवं भ्रांति में आसक्त होता है तब वह इस तीन द्वारोंवाले नरक में जा गिरता है। और, फिर, ये तीनों महान् अंधकार के द्वार हैं, ये मूल अविद्या की विशिष्ट शक्ति, तमस् की ओर ले जाते हैं ; क्योंकि राजसी प्रकृति की उद्दाम शक्ति जब समाप्त होती है तो वह जीव की निकृष्टतम तामसिक अवस्था की दुर्बलता, अधोगति, अंधकार एवं अक्षमता में जा गिरती है। इस पतन से बचने के लिए मनुष्य को इन तीन अशुभ शक्तियों से छुटकारा पाना होगा और सत्त्वगुण के प्रकाश की ओर मुड़ना होगा, यथातथ रीति से, यथार्थ संबंधों के अनुसार, सत्य और धर्म के

अनुसार जीवन यापन करना होगा ; तभी वह अपने उच्चतर श्रेय का अनुसरण कर सकता है तथा उच्चतम आत्म-पद उपलब्ध कर सकता है। कामना के नियम का अनुसरण करना हमारी प्रकृति का सच्चा विधान नहीं है ; इसके कर्मों का एक अधिक उच्च और न्यायसंगत आदर्श भी है। परंतु वह कहाँ निहित है या उसे कैसे प्राप्त किया जाय ? पहली बात यह है कि मनुष्यजाति इस न्याय्य और उच्च विधान की खोज सदा ही करती आयी है और जो कुछ उसने उपलब्ध किया है वह उसके शास्त्र में लिपिबद्ध है, वह शास्त्र है ज्ञान और विज्ञान का विधान, नैतिकता, धर्म तथा श्रेष्ठ सामाजिक जीवन का विधान, मनुष्य, ईश्वर और प्रकृति के साथ हमारे यथार्थ संबंधों का विधान। शास्त्र का अभिप्राय उन रीति-रिवाजों का समूह नहीं जिनमें से कुछ अच्छे होते हैं तो कुछ खराब, और जिनका अनुसरण तामसिक मनुष्य का अभ्यास-परवश रूढ़िबद्ध मन बिना समझे-बूझे ही करता है। शास्त्र का मतलब है अंतर्बोध, अनुभव और प्रज्ञा के द्वारा प्रस्थापित ज्ञान एवं शिक्षा, शास्त्र है जीवन की विद्या, कला और आचारनीति, और साथ ही जो श्रेष्ठ आदर्श मनुष्यजाति को उपलब्ध हैं वे सभी शास्त्र हैं। जो अर्द्ध-प्रबुद्ध मनुष्य शास्त्र के नियमों का पालन करना छोड़कर अपनी अंध-प्रेरणाओं एवं कामनाओं के मार्गनिर्देश का अनुसरण करता है वह इन्द्रिय-तृप्ति तो प्राप्त कर सकता है, पर सुख नहीं, क्योंकि आंतरिक सुख की प्राप्ति तो केवल ठीक ढंग से जीवन यापन करने से ही हो सकती है। वह पूर्णता की ओर नहीं बढ़ सकता, सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता। पशु-जगत् में सहज-प्रवृत्ति और कामना का विधान प्रमुख नियम प्रतीत होता है, परंतु मनुष्य का मनुष्यत्व सत्य, धर्म, ज्ञान और यथातथ जीवन-धारा का अनुसरण करने से ही विकसित होता है। इसलिए पहले उसे उस शास्त्र के अनुसार, लोकसंमत सत्य-विधान के अनुसार आचरण करना होगा जिसे उसने अपने निम्नतर अंगों को अपनी बुद्धि तथा ज्ञानपूर्ण संकल्प के द्वारा नियंत्रित करने के लिए निर्मित किया है, उसीको उसे अपने आचार-व्यवहार, कार्य-कलाप तथा कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करने के लिए प्रमाणरूप मानना होगा। और यह उसे तबतक करना होगा जबतक अंधप्रेरित कामनात्मक प्रकृति आत्म-संयम के अभ्यास के द्वारा शिक्षित नहीं हो जाती, क्षीण होकर दब नहीं जाती और जबतक मनुष्य पहले तो मुक्ततर ज्ञानपूर्ण मार्ग-दर्शन के लिए और फिर आध्यात्मिक प्रकृति के परमोच्च विधान एवं परम स्वातंत्र्य के लिए तैयार नहीं हो जाता।

कारण, शास्त्र अपने साधारण रूप में ऐसा अध्यात्म-विधान नहीं है, यद्यपि अपने सर्वोच्च शिखर पर आध्यात्मिक जीवन का विज्ञान एवं शिल्प अर्थात् अध्यात्म-शास्त्र बन जाता है,—स्वयं गीता भी अपनी शिक्षा को एक उच्चतम और परम-गुह्य शास्त्र कहती है। अपने सर्वोच्च शिखर पर शास्त्र सात्त्विक प्रकृति के अतिक्रमण की विधि का निरूपण कर देता है और आध्यात्मिक रूपांतर की साधना का विकास करता है। तो भी समस्त शास्त्र कुछ एक प्रारंभिक धर्मों के आधार पर निर्मित होते हैं; वे साधन होते हैं, लक्ष्य नहीं। परम लक्ष्य तो है आत्मा का स्वातंत्र्य जिसमें जीव सब धर्मों का परित्याग कर कर्म के अपने एकमात्र विधान के लिए परमेश्वर की ओर मुड़ता है, सीधे भागवत संकल्प के द्वारा कर्म करता है और दिव्य प्रकृति के स्वातंत्र्य में निवास करता है, धर्म में नहीं, बल्कि आत्मा में निवास करता है। अर्जुन का अगला प्रश्न गीता की शिक्षा के इसी प्रकार के विकास का सूत्रपात करता है।

त्रिगुण, श्रद्धा और कर्म[1]

गीता व्यक्तिगत कामना की स्वच्छंदता के अनुसार और शास्त्र की विधि के अनुसार किये जानेवाले कर्मों में भेद कर चुकी है। शास्त्र शब्द से हमें जीवन-यात्रा की उस सर्वसम्मत विद्या एवं कला को समझना होगा जो मनुष्यजाति के सामूहिक जीवन का परिणाम है, जो उसकी संस्कृति, धर्म एवं विज्ञान है, जीवन के सर्वश्रेष्ठ विधान की विकसनशील उपलब्धि है,—पर मनुष्यजाति अभी भी अज्ञान में गति कर रही है और अधूरे प्रकाश में ही ज्ञान की ओर अग्रसर हो रही है। वैयक्तिक कामना का कर्म हमारी प्रकृति की असंस्कृत अवस्था से संबंध रखता है और वह अज्ञान या मिथ्या ज्ञान और अनियंत्रित या कुनियंत्रित राजसिक अहंकार से प्रेरित होता है। शास्त्र के द्वारा नियंत्रित कर्म बौद्धिक, नैतिक, सौंदर्यात्मक, सामाजिक और धार्मिक संस्कृति का परिणाम होता है; वह एक प्रकार के यथायथ जीवन-यापन, सामंजस्य एवं यथार्थ व्यवस्था के लिए किये गये प्रयत्न का मूर्त्त रूप होता है। स्पष्ट ही वह मनुष्य के सात्त्विक अंश का एक प्रयास होता है जो राजसिक तथा तामसिक अहंकार को अतिक्रांत, संयत और नियंत्रित करने के लिए अथवा, जहाँ इसे स्वीकार करना आवश्यक होता है वहाँ, इसका परिचालन करने के लिए किया जाता है; वह प्रयास परिस्थितियों के अनुसार कम या अधिक वेग से प्रगति करता है। एक कदम और आगे बढ़ने के लिए वह एक साधन होता है, अतएव मनुष्यजाति को पहले इसमें से गुजरना होगा और अपनी व्यक्तिगत कामनाओं की प्रेरणा का अनुसरण करने के बजाय इस शास्त्र को अपने कर्म का विधान बनाना होगा। जहाँ कहीं मानवजाति ने किसी प्रकार के सुप्रतिष्ठित एवं विकसित समाज की स्थापना की है वहाँ उसने इस सामान्य विधान को सदा ही अंगीकार किया है। व्यवस्था के संबंध में उसकी एक धारणा है, उसका एक अपना विधान है, अपनी पूर्णता के संबंध में उसका एक आदर्श है जो उसकी कामनाओं के निर्देश या उसके अपरिपक्व आवेगों

१. गीता, अध्याय १७

के स्थूल निर्देश से भिन्न है। इस महत्तर विधान को व्यक्ति साधारणतः अपने-से बाहर, जाति के अनुभव और ज्ञान के किसी न्यूनाधिक स्थिर सिद्धांत में उपलब्ध करता है; और उस सिद्धांत को वह स्वीकार कर लेता है, उसका मन तथा उसकी सत्ता के प्रमुख भाग उसे अपनी सहमति या अनुमति प्रदान करते हैं और अपने मन, संकल्प तथा कर्म में उस सिद्धांत को चरितार्थ करके वह उसे अपना बना लेने की चेष्टा करता है। उसकी सत्ता की इस सहमति को, विश्वास करने तथा उपलब्ध करने के लिए उसकी इस सचेतन स्वीकृति एवं संकल्प को हम, गीता के अनुसार, **'श्रद्धा'** का नाम दे सकते हैं। जिस धर्म, दर्शन, नैतिक नियम, सामाजिक विचार, सांस्कृतिक विचार में मैं श्रद्धा रखता हूँ वह मुझे मेरी अपनी प्रकृति तथा इसके कर्मों के लिए एक विधान प्रदान करता है, सापेक्ष सदाचार का अथवा आपेक्षित या ऐकांतिक पूर्णता का एक विचार प्रदान करता है और मुझमें जितनी सच्चाई होती है, उस विधान में मेरी श्रद्धा जितनी पूर्ण होती है और उस श्रद्धाके अनुसार जीवन-यापन करने का मेरा संकल्प जितना तीव्र होता है, उतना ही मैं वही कुछ बन सकता हूँ जो कुछ बनने के लिए वह मुझसे कहता है, उतना ही मैं अपने-आपको उस सत्य विधान की प्रतिमूर्त्ति में या उस पूर्णता के आदर्श दृष्टांत के रूप में परिणत कर सकता हूँ।

परंतु हम देखते हैं कि मनुष्य के अंदर एक अधिक स्वतंत्र प्रवृत्ति भी है जो उसकी कामनाओं के निर्देश से तथा धर्म, बद्धमूल कारण, शास्त्र के सुरक्षित नियामक विधि-विधान को स्वीकार करने के संकल्प से भिन्न है। यह भी देखा जाता है कि व्यक्ति तो कितनी ही बार और समाज अपने जीवन में किसी भी क्षण शास्त्र से मुंह मोड़ लेता है, उससे ऊब जाता है, अपने संकल्प और श्रद्धा-विश्वास के उस रूप को त्याग देता है और किसी अन्य विधान की खोज में निकल पड़ता है जिसे वह अब जीवन-यापन का यथार्थ विधान स्वीकार करने तथा सत्ता के एक अतिशय प्राणवन्त या उच्चतर सत्य के रूप में मानने की ओर अधिक झुका हुआ होता है। यह उस समय हो सकता है जब प्रचलित शास्त्र जीवंत वस्तु नहीं रहता और ह्रसित या रूढ़ होकर रीति-रिवाजों और लोकाचारों का ढेर बन जाता है। अथवा यह इसलिए हो सकता है कि शास्त्र अपेक्षित प्रगति के लिए अपर्याप्त प्रतीत होता है या वह उसके लिए पूर्ववत् उपयोगी नहीं प्रतीत होता; एक नया सत्य, जीवन-यापन का एक अधिक पूर्ण विधान अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है। यदि वह सत्य एवं विधान विद्यमान न हो तो जाति को अपने प्रयत्न से या किसी महान् एवं ज्ञानदीप्त व्यक्ति को, जो जाति की आशा-आकांक्षा का मूर्त्त प्रतिनिधि होता है, अपनी मनीषा से उसका आविष्कार करना होता है।

तब, वैदिक धर्म लोकाचार का रूप धारण कर लेता है और कोई बुद्ध अपने अष्टांग पथ के नये विधान और निर्वाण के लक्ष्य को लेकर आविर्भूत होते हैं ; और यहाँ इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि उसे वे एक व्यक्तिगत आविष्कार के रूप में नहीं बल्कि आर्य जीवन के एक ऐसे सत्य विधान के रूप में प्रस्थापित करते हैं जिसे बुद्ध, ज्ञानदीप्त मन, प्रबुद्ध आत्मा सदैव पुनः-पुनः आविष्कृत करती है। परंतु व्यवहारतः इसका अर्थ यह हुआ कि एक ऐसा आदर्श है, एक ऐसा सनातन धर्म है जिसे धर्म, दर्शन, नीतिशास्त्र तथा मनुष्य की अन्य सब शक्तियाँ, जो सत्य और पूर्णता की प्राप्ति के लिए यत्नशील हैं, आंतर और बाह्य जीवन की विद्या और कला के नये सिद्धांतों का, एक नये शास्त्र का रूप देने के लिए सदैव प्रयास कर रही हैं। धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक सदाचार के संबंध में मूसा के द्वारा प्रवर्त्तित धर्म को संकीर्णता और अपूर्णता का दोषी ठहराया जाता है, और इसके अतिरिक्त अब वह केवल एक लोकाचार बन जाता है ; उसके स्थान पर ईसा का धर्म प्रकट होता है और वह एक ही साथ उसका उच्छेद करने तथा उसे परिपूर्ण बनाने, उसके अपूर्ण रूप का उच्छेद करने तथा जीवन का जो दिव्य विधान उसका लक्ष्य था उसकी मूल भावना को एक गभीरतर तथा विशालतर ज्योति एवं शक्ति में परिपूर्ण बनाने का दावा करता है। और फिर मानव की खोज यहीं नहीं रुक जाती, बल्कि इन रचनाओं को भी त्याग देती है और किसी ऐसे अतीत सत्य की ओर लौट जाती है जिसे वह छोड़ चुकी थी अथवा वह इन सब विधानों को तोड़-फोड़कर किसी नये सत्य एवं शक्ति की ओर अग्रसर होती है, किंतु सदैव उसी वस्तु की, अपनी पूर्णता के विधान, यथायथ जीवन-यापन के नियम, अपनी पूर्ण, सर्वोच्च और मूलभूत सत्ता एवं प्रकृति की खोज में लगी रहती है।

इस खोज किंवा प्रयास का आरंभ करता है व्यक्ति जो प्रचलित विधान से अब और संतुष्ट नहीं होता, क्योंकि वह देखता है कि वह विधान उसकी अपनी सत्ता और जगत्-सत्ता के संबंध में उसकी अपनी धारणा एवं विशालतम या तीव्रतम अनुभूति से अब और मेल नहीं खाता और अतएव वह उसपर विश्वास तथा आचरण करने के लिए उसमें अपने संकल्प को पहले की तरह नियोजित नहीं कर सकता। वह उसकी जीवन-सत्ता की आंतरिक प्रणाली के अनुरूप नहीं होता, वह उसके लिए 'सत्' अर्थात् कोई ऐसी वस्तु नहीं होता जिसका वस्तुतः अस्तित्व है, न ही वह उसके लिए यथार्थ विधान, उच्चतम या श्रेष्ठ या वास्तविक कल्याण होता है ; वह उसकी सत्ता या समस्त सत्ता का सत्य एवं विधान नहीं होता। शास्त्र व्यक्ति के लिए एक निर्वैयक्तिक वस्तु होता है, और वह उसे

उसके करणों के संकुचित एवं वैयक्तिक विधान के ऊपर अपना प्रामाणिक विधान प्रदान करता है ; पर इसके साथ ही वह समष्टि के लिए वैयक्तिक होता है और उसकी अनुभूति की, संस्कृति या प्रकृति की उपज-स्वरूप होता है। वह अपने समस्त रूप और भावना में आत्मा की परिपूर्णता का आदर्श विधान या हमारी प्रकृति के स्वामी का सनातन विधान नहीं होता, भले ही उसके अंदर उस अति महत्तर वस्तु के संकेत, उपक्रम, प्रकाशप्रद आभास कम या अधिक मात्रा में क्यों न विद्यमान हों। व्यक्ति समष्टि को अतिक्रम कर उससे आगे बढ़ा हुआ हो सकता है और एक महत्तर सत्य, एक प्रशस्ततर मार्ग, प्राण-पुरुष के एक गभीरतर उद्देश्य के लिए प्रस्तुत हो सकता है। उसके अंदर की जो प्रेरणा शास्त्र को छोड़कर चलती है वह सदा उच्चतर गति ही हो यह आवश्यक नहीं ; वह उस अहंभावमय या राजसिक प्रकृति के विद्रोह का रूप भी ग्रहण कर सकती है जो स्व-परिपूर्णता एवं स्व-उपलब्धि की स्वतंत्रता की अवरोधक प्रतीत होनेवाली वस्तु के जुए से मुक्त होना चाहती है। परन्तु तब भी वह शास्त्र की किसी संकीर्णता या अपूर्णता के कारण अथवा जीवन के प्रचलित विधान के अवनत होकर केवल एक प्रतिबंधक या निर्जीव आचार बन जानेके कारण प्रायः उचित ही ठहरती है। और इस हद तक वह न्यायसंगत है, वह एक सत्य पर आश्रित है, उसके अस्तित्व का एक पर्याप्त और उचित कारण है: क्योंकि यद्यपि यह सच्चे पथ को नहीं पकड़ पाती तो भी राजसिक अहं की स्वतंत्र चेष्टा लोकाचार के निर्जीव और आग्रहपूर्ण तामसिक अनुसरण से अच्छी होती है, क्योंकि उसके अंदर स्वातंत्र्य और जीवन अधिक मात्रा में होता है। तामसिक प्रकृति की अपेक्षा राजसिक प्रकृति सदैव अधिक बलशाली तथा अधिक प्रबलतया अनुप्राणित होती है और उसके अंदर संभावनाएँ भी अपेक्षाकृत अधिक होती हैं। परंतु शास्त्र का परित्याग करने की यह प्रेरणा मूलतः सात्त्विक भी हो सकती है ; यह उस विशालतर एवं महत्तर आदर्श की ओर झुकी हुई हो सकती है जो हमें अपनी सत्ता तथा विश्व-सत्ता के अद्यावधि उपलब्ध सत्य की अपेक्षा पूर्णतर एवं बृहत्तर सत्य के अधिक निकट ले जायगा और अतएव उस उच्चतम विधान के भी अधिक निकट ले जायगा जो दिव्य स्वातंत्र्य के साथ एकीभूत है। और क्रियात्मक दृष्टि से इस प्रकार की गति या प्रेरणा साधारणतः हमारी अपनी सत्ता के किसी विस्मृत सत्य को अधिकृत करने या अबतक अनुपलब्ध या अचरितार्थ सत्य की ओर अग्रसर होने का प्रयास होती है। यह अनियंत्रित प्रकृति की उच्छृंखल चेष्टा मात्र नहीं होती ; यह आध्यात्मिक दृष्टि से समीचीन होती है और हमारी आध्यात्मिक प्रगति के लिए आवश्यक। और चाहे शास्त्र अभी तक एक प्राणवंत वस्तु हो तथा औसत मनुष्य के लिए

सर्वश्रेष्ठ विधान हो, फिर भी एक असाधारण मनुष्य, एक आध्यात्मिक मनुष्य एवं जिसकी अंत:सत्ता विकसित हो चुकी है वह उस आदर्श से बद्ध नहीं होता। उसे शास्त्र की रूढ़ सीमा-रेखा को पार करने का आह्वान प्राप्त होता है। क्योंकि यह तो सामान्य अपूर्ण मनुष्य के मार्ग-निर्देश, नियंत्रण एवं आपेक्षिक पूर्णत्व के लिए एक विधान होता है और उसे बढ़ना होता है एक अधिक पूर्ण पूर्णत्व की ओर : यह सुनिश्चित धर्मों का शास्त्र होता है और उसे आत्मा के स्वातंत्र्य में निवास करना सीखना होता है।

तब भला जो कर्म कामना के निर्देश तथा प्रचलित विधान दोनों से हटकर चलता है उसका सुरक्षित आधार क्या होगा? कारण, कामना के नियम की एक अपनी प्रामाणिकता होती है जो हमारे लिए अब और वैसी सुरक्षित या संतोष-जनक नहीं रहती जैसी वह पशु के लिए है या जैसी वह आदिम मानवता के लिए रही होगी, परंतु फिर भी अपनी सीमा के भीतर यह हमारी प्रकृति के एक अति जीवंत भाग पर आधारित और उसके प्रबल संकेतों के द्वारा संपुष्ट होती है; इस धर्म किंवा शास्त्र के पीछे रहती है चिर-प्रचलित विधान की समग्र प्रामाणिकता, प्राचीन विधि-विधानों की सफलता और अतीत की सुरक्षित अनुभूति। परंतु इस नये प्रयास का स्वरूप होता है अज्ञात या ईषत्-ज्ञात की ओर शक्तिशाली अभियान, एक साहसिक विकास और एक नूतन विजय। तो फिर वह कौन-सा सूत्र है जिसका अनुसरण करना होगा, वह कौन-सा मार्गदर्शक प्रकाश है जिसपर यह प्रयास भरोसा रख सकता है या हमारी सत्ता के अंदर इसका दृढ़ आधार क्या हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि वह सूत्र और आधार हमें मनुष्य की श्रद्धा में मिलेगा; श्रद्धा का मतलब है—जिसे मनुष्य अपनी तथा जगत् की सत्ता के सत्य के रूप में देखता या समझता है उसपर विश्वास करने तथा उसके अनुसार जीवन यापन करने का संकल्प। दूसरे शब्दों में इस प्रयास का अर्थ है—मनुष्य का अपने सत्य स्वरूप, अपने जीवन-विधान, अपनी पूर्णता और सिद्धि के पथ की उपलब्धि के लिए अपनी निज सत्ता के प्रति या फिर अपनी सत्ता या विश्व-सत्ता के अंदर विद्यमान किसी शक्तिशाली एवं अवश्यमान्य वस्तुके प्रति पुकार करना। और सब कुछ निर्भर करता है उसकी श्रद्धा के स्वरूप के ऊपर, अपने अंदर या जिस विश्वात्मा का वह एक अंश या प्राकट्य है, उसके अन्दर विद्यमान जिस वस्तुके प्रति वह अपनी श्रद्धा अर्पित करता है उसके ऊपर और इसके द्वारा वह अपनी वास्तविक आत्मा तथा विश्व की आत्मा या उसकी वास्तविक सत्ता के कितना निकट पहुँचता है इस बात के ऊपर। यदि वह तामसिक, मूढ़ एवं मोहाच्छन्न है, यदि उसकी श्रद्धा अज्ञानयुक्त तथा संकल्प अक्षम है तो वह किसी भी वास्तविक

वस्तु तक नहीं पहुँच पायगा तथा अपनी निम्न प्रकृति में जा गिरेगा। यदि वह मिथ्या राजसिक प्रकाशों के प्रलोभन में पड़ गया तो वह अपने स्वेच्छाचारी संकल्प के द्वारा ऐसे उपमार्गों में भटक सकता है जो उसे दलदल या कगार की ओर ले जा सकते हैं। हर हालत में उसके उद्धार का एकमात्र सुयोग इस बात में है कि उसके अंदर सत्त्वगुण फिर से प्रबलता प्राप्त कर ले और वह उसके करणों पर एक नयी ज्ञानदीप्त नियम-व्यवस्था लागू करे जो उसे उसके स्वच्छंद संकल्प की प्रचंड भ्रांति या उसके तमसाच्छन्न अज्ञान की जड़ भ्रांति से मुक्त कर देगी। इसके विपरीत, यदि उसकी प्रकृति सात्त्विक है और यदि उसे आगे बढ़ने के लिए सात्त्विक श्रद्धा एवं निर्देश प्राप्त है तो एक अद्यावधि-अनुपलब्ध उच्चतर आदर्श-विधान उसे दृष्टिगोचर हो जायगा जो उसे किन्हीं विरल प्रसंगों में सात्त्विक प्रकाश से भी ऊपर सत्ता और जीवन की उच्चतम दिव्य ज्योति एवं दिव्य प्रणाली की ओर कुछ दूर तो ले ही जा सकता है। क्योंकि यदि उसके अंदर सात्त्विक प्रकाश इतना प्रबल हो कि वह उसे अपनी चरम सीमा तक ले जाय तो वह उस सीमा से आगे बढ़कर भागवत, विश्वातीत एवं निरपेक्ष सत्ता की किसी प्रथम रश्मि में प्रवेश के लिए मार्ग बनाने में समर्थ होगा। आत्म-अनुसंधान के सभी प्रयत्नों में ये संभावनाएँ विद्यमान हैं; ये इस आध्यात्मिक अभियान की शर्तें हैं।

अब हमें यह देखना है कि गीता अध्यात्म-शिक्षा और आत्म-साधना की अपनी सरणि के अनुसार इस प्रश्न का कैसा समाधान करती है। क्योंकि अर्जुन तुरंत ही एक ऐसा इंगितपूर्ण प्रश्न करता है जिससे यह समस्या या इसका एक पक्ष उपस्थित होता है। वह पूछता है कि जब आदमी श्रद्धापूर्वक परमेश्वर या देवताओं का यजन करते हैं पर शास्त्रविधि का परित्याग कर देते हैं तो वह कौन-सी **'निष्ठा'** है, उनके अंदर भक्ति का वह कौन-सा एकनिष्ठ संकल्प है जो उनमें यह श्रद्धा उत्पन्न करता है और उन्हें इस प्रकार के कर्म में प्रवृत्त करता है? वह सात्त्विक है या राजसिक या तामसिक? वह हमारी प्रकृति के किस स्तर से संबंध रखता है? गीता का उत्तर पहले इस सिद्धांत का प्रतिपादन करता है कि प्रकृति की सभी चीजों की भांति हमारी श्रद्धा भी त्रिविध होती है और वह हमारी प्रकृति के प्रधान गुण के अनुसार विभिन्न प्रकार की होती है। प्रत्येक मनुष्य की श्रद्धा वही रूप-रंग और गुण धारण कर लेती है, जो उसे उसकी सत्ता के उपादान, उसके मूल स्वभाव, उसकी सत्ता की नैसर्गिक शक्ति के द्वारा प्रदान किया जाता है, **सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा।'** और इसके बाद एक अद्‌भुत पंक्ति आती है जिसमें गीता हमें बताती है कि यह पुरुष, मनुष्य के अंदर विद्यमान यह जीव मानों श्रद्धा का बना हुआ है, श्रद्धा का मतलब है कुछ बनने का संकल्प, अपने-आपपर तथा जगत्-

की सत्ता पर विश्वास। उसके अंदर का वह संकल्प, वह श्रद्धा या मज्जागत विश्वास कोई भी क्यों न हो, वह वही है और वही वह है, **'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।'** यदि हम इस अर्थगर्भित सूक्ति पर कुछ सूक्ष्मता से विचार करें तो हमें पता चलेगा कि इस एक ही पंक्ति के अंदर गिने-चुने बलपूर्ण शब्दों में आधुनिक प्रयोगवाद (Pragmatism) के सिद्धांत की प्रायः सारी ही परिकल्पना अंतर्निहित है। क्योंकि यदि मनुष्य या उसकी अंतरात्मा अपनी अंतरस्थ श्रद्धा से बनी हुई है (श्रद्धा यहाँ अपने उपर्युक्त गभीरतर अर्थ में अभिप्रेत है), तो इसका यह मतलब हुआ कि वह जिस सत्य के दर्शन करता है और जिसे वह जीवन में उतारना चाहता है, उसके लिए वही अपनी सत्ता का, अपने निज स्वरूप का सत्य है; उस सत्य की सृष्टि उसीने की है या कर रहा है और उसके लिए उसके सिवा और कोई सत्य वास्तविक नहीं हो सकता। यह सत्य उसके आंतर और बाह्य कर्म का तथ्य है, उसकी संभूति का, अंतरात्मा की क्रियाशक्ति का तथ्य है, उसके अंदर जो वस्तु नित्य-अपरिवर्तनीय है उसका तथ्य नहीं। वह आज जो कुछ भी है वह उसकी अपनी प्रकृति के किसी अतीत संकल्प के द्वारा ही गठित हुआ है। इस समय उसके अंदर कुछ जानने, विश्वास करने तथा अपनी बुद्धि और प्राणशक्ति में वही कुछ बन उठने का जो संकल्प है वह उसके अतीत संकल्प को संपुष्ट करता तथा चालू रखता है। उसकी मूल सत्ता तक में यह जो संकल्प और श्रद्धा क्रियाशील है वह कोई भी नया रूप क्यों न ग्रहण करे, वह भविष्य में उसी नये रूप में परिणत होता जायगा। हम मन और प्राण के अपने निज कर्म में सत्ता के एक अपने ही सत्य की सृष्टि करते हैं, यह इस बात को कहने का एक दूसरा ढंग है कि हम आप ही अपने स्वरूप की सृष्टि करते हैं, हम आप ही अपने निर्माता हैं।

परंतु यह अत्यंत स्पष्ट है कि यह सत्य का केवल एक पक्ष है, और सभी एक-पक्षीय स्थापनाएँ विचारक के लिए संदेह का विषय होती हैं। हमारा अपना व्यक्तित्व जो कुछ है या जिस भी चीज की यह सृष्टि करता है, सत्य केवल वही नहीं है; वह सब तो केवल हमारी संभूति का सत्य है, एक अत्यंत विस्तृत आयतन-वाली गति में एक विशिष्ट बिंदु या रेखा है। हमारे व्यक्तित्व के परे, सर्वप्रथम एक विश्वव्यापी सत्ता तथा एक विश्वव्यापी संभूति है, जिसकी एक क्षुद्र गति मात्र है हमारी सत्ता और संभूति; और उसके भी परे है सनातन सत् जिसमें से यह समस्त संभूति या भूतभाव उत्पन्न होता है और जो इसकी संभाव्य शक्तियों, इसके उपादानों, मूल प्रेरक भावों और चरम उद्देश्यों का स्रोत है। निःसंदेह, हम यह कह सकते हैं कि समस्त संभूति विश्व-चेतना की एक क्रिया मात्र है, माया है, संभूत होने के संकल्प के द्वारा सृष्ट हुई है और इसके अतिरिक्त यदि कोई और

सद्वस्तु है तो वह है केवल एक शुद्ध सनातन सत्ता जो चेतना से परे है, निराकार, अनिरुक्त एवं अनिर्वचनीय। मायावादी का अद्वैत जिस दृष्टिकोण को अपनाता है वह वस्तुतः यही है ; व्यावहारिक सत्य, तथा सृष्टिकरी माया के दूसरी ओर विद्यमान निर्विशेष, अनिर्वचनीय, केवल, निरपेक्ष सत्ता के बीच वह जो भेद करता है उसका आशय भी यही है। उसके मन के निकट व्यावहारिक सत्य भ्रमात्मक है, या कम-से-कम यह केवल अस्थायी तथा आंशिक रूप में सत्य है जब कि आधुनिक प्रयोगवाद इसे वास्तविक सत्य मानता है या कम-से-कम वह इसे एकमात्र स्वीकार्य सत्य मानता है क्योंकि केवल यही एक ऐसा सत्य है जिसे हम व्यवहार में ला सकते तथा जान सकते हैं। परंतु गीता के लिए निरपेक्ष ब्रह्म भी परम पुरुष है, और पुरुष सदैव चिन्मय आत्मा है, यद्यपि उसकी सर्वोच्च चेतना, या यूँ कहें कि उसकी अतिचेतना,—और इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि उसकी निश्चेतना नामक निम्नतम चेतना,—हमारी उस मानसिक चेतना से अत्यंत भिन्न वस्तु है जिसे हम ऐकांतिक रूप से चेतना का नाम देने के अभ्यस्त हैं। उस उच्चतम अतिचेतना में अमरत्व का एक सर्वोच्च सत्य और धर्म है, सत्ता की एक महत्तम दिव्य सरणि है जो कि सनातन और अनंत सत्ता की एक धारा है। जीवन की वह सनातन सरणि और सत्ता का वह दिव्य भाव पुरुषोत्तम की नित्य सत्ता में पहले से ही विद्यमान है, परंतु अब हम उसे योग के द्वारा यहाँ अपनी संभूति में भी सृष्ट करने का यत्न कर रहे हैं ; हम भगवान् बनने का यत्न कर रहे हैं, जैसे वे हैं वैसे ही बनने के लिए, **'मद्भाव'** के लिए यत्न कर रहे हैं। यह भी श्रद्धा पर निर्भर है। अपनी सचेतन मूल-सत्ता की एक क्रिया तथा उसके सत्य में विश्वास के द्वारा, उसे जीवन में चरितार्थ करने या वही बन जाने के अंतरतम संकल्प के द्वारा ही हम उसे प्राप्त करते हैं ; पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह हमसे परे पहले से ही विद्यमान नहीं है। जबतक हम उसे देख नहीं लेते तथा अपने-आपको नये सिरे से उसके रूपमें गढ़ नहीं लेते तबतक वह हमारे बाह्य मनके लिए भले ही अस्तित्व न रखे, तो भी सनातन के अंदर विद्यमान है ही और हम यहाँतक कह सकते हैं कि हमारी अपनी निगूढ़ आत्मा में भी वह पहले से ही विद्यमान है, क्योंकि हममें भी, हमारी गहराइयों में भी पुरुषोत्तम सदा-सर्वदा विद्यमान हैं। हमारा उसमें विकसित होना, हमारा उसे सृष्ट करना हमारे अंदर उनका तथा उसका अभिव्यक्त होना ही है। समस्त सृष्टि सनातन के चिन्मय सत्तत्त्व से प्रादुर्भूत होती है ; अतएव वास्तव में यह उनकी एक अभिव्यक्ति है तथा मूल सर्जनकारी चैतन्य, चित्-शक्ति में विद्यमान एक श्रद्धा, स्वीकृति एवं संभूत होने के एक संकल्प के द्वारा ही उद्भूत होती है।

परंतु इस समय हमारा मतलब इस दार्शनिक प्रश्न से नहीं बल्कि इस बात से है कि हमारी सत्ता के इस संकल्प या श्रद्धा का दिव्य प्रकृति की पूर्णता में विकसित होने की हमारी संभावना के साथ क्या संबंध है। कुछ भी क्यों न हो, यह शक्ति, यह श्रद्धा ही हमारा आधार है। जब हम अपनी कामनाओं के अनुसार जीवन यापन करते हैं, उन्हीं के अनुसार होते और कर्म करते हैं तो वह हमारी श्रद्धा की ही आग्रहपूर्ण क्रिया होती है और वह श्रद्धा अधिकांशमें हमारी प्राणिक और भौतिक, तामसिक और राजसिक प्रकृति से संबंध रखती है। और जब हम शास्त्र के अनुसार अस्तित्व रखने, जीवन यापन करने और कर्म करने की चेष्टा करते हैं तो हम जिस श्रद्धा की आग्रहपूर्ण क्रिया के द्वारा अग्रसर होते हैं वह (यदि वह गतानुगतिक विश्वास मात्र न हो) उस सात्त्विक प्रवृत्ति से संबंध रखती है जो हमारे राजसिक और तामसिक करणों पर अपनेको लादने के लिए निरंतर प्रयास कर रही है। जब हम इन दोनों चीजों को छोड़ देते हैं और किसी आदर्श के अनुसार या सत्य की किसी अनूठी परिकल्पना के अनुसार रहने, जीवन यापन करने और कर्म करने का यत्न करते हैं जिसे स्वयं हमने ही आविष्कृत किया है या जिसे हमने व्यक्तिगत रूप से स्वीकार किया है, तो यह भी श्रद्धा की एक आग्रहपूर्ण क्रिया है; इस प्रकार की श्रद्धा हमारे प्रत्येक विचार, संकल्प, भाव और कर्म पर निरंतर नियंत्रण रखनेवाले इन तीन गुणों में से किसी एक के अधीन हो सकती है। और फिर, जब हम दिव्य प्रकृति के अनुसार रहने-सहने, जीने और कर्म करने का यत्न करते हैं, तब भी हमें श्रद्धा की आग्रहपूर्ण क्रिया के द्वारा ही बढ़ना होता है; गीता के अनुसार यह श्रद्धा उस सात्त्विक प्रकृति की श्रद्धा होनी चाहिये जो अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी हो तथा अपनी कटी-छंटी सीमाओं को पार करने की तैयारी कर रही हो। परंतु इन सब चीजों में तथा इनमें से प्रत्येक में प्रकृति की कोई गति या अवस्थान्तर अंतर्निहित है, ये सब किसी आंतर या बाह्य दोनों क्रियाओं को मानकर चलती हैं। तो फिर इस क्रिया का स्वरूप क्या होगा? गीता कहती है कि हमारे **'कर्तव्य कर्म'** के तीन मुख्य अंग हैं, यज्ञ, दान और तप। क्योंकि जब अर्जुन पूछता है कि बाह्य और आंतर त्याग में, **'संन्यास'** और **'त्याग'** में क्या भेद है तब श्रीकृष्ण आग्रह करते हैं कि वे तीन कर्म कभी नहीं छोड़ने चाहिए, ये तो बराबर करने ही चाहिए, क्योंकि ये हमारे लिए **'कर्त्तव्य कर्म'** हैं और ये ज्ञानी लोगों को पवित्र करते हैं। दूसरे शब्दों में ये कर्म हमारी पूर्णता के साधन हैं। पर साथ ही यह बात भी ठीक है कि अज्ञानी जन इन्हें अज्ञानपूर्वक या अपूर्ण ज्ञान के साथ भी कर सकते हैं। समस्त गतिमय क्रिया को मूलतः इन तीन अंगों में विश्लेषित किया जा सकता है। क्योंकि प्रकृति की समस्त गतिमय क्रिया, समस्त

प्रवृत्ति के अंदर एक ऐच्छिक या अनैच्छिक तपस्या अंतर्भूत रहती है, हमारी शक्तियों या क्षमताओं की या किसी एक क्षमता की तेजस्विता और एकाग्रता रहती है जो हमें कुछ उपलब्ध या अर्जित करने या कुछ बनने में सहायता देती है, वही तप या तपस् है। समस्त क्रिया में, जो कुछ हम हैं या जो कुछ हमारे पास है उसका दान अर्थात् एक प्रकार का व्यय अंतर्निहित रहता है जो उस उपलब्धि का, उस अर्जन या संभूति का मूल्य होता है, वही दान है। समस्त क्रिया में आधिभौतिक शक्तियों या विश्वशक्तियों के प्रति या हमारे कर्मों के परम प्रभु के प्रति एक यज्ञ भी अंतर्गत होता है। प्रश्न यह है कि क्या हम ये कार्य अचेतन एवं निष्क्रिय रूप से करते हैं, अथवा अधिक-से-अधिक एक बुद्धिहीन, अज्ञ, अर्धचेतन संकल्प के साथ, या एक ऐसी शक्ति के साथ जो अज्ञानयुक्त या विकृत रूप से चेतन होती है या एक ऐसे संकल्प के साथ जो विज्ञ रूप से चेतन तथा ज्ञान पर सुप्रतिष्ठित होता है, दूसरे शब्दों में, प्रश्न यह है कि क्या हमारा यज्ञ, दान और तप तामसिक प्रकृति के हैं या राजसिक या सात्त्विक प्रकृति के।

कारण, यहाँ की सभी वस्तुएँ, भौतिक वस्तुओं समेत, इन्हीं तीन प्रकार की हैं। उदाहरणार्थ, गीता हमें बताती है कि हमारा भोजन अपने गुण के अनुसार तथा शरीर पर होनेवाले अपने प्रभाव के अनुसार सात्त्विक, राजसिक या तामसिक होता है। हमारी मानसिक और स्थूल देह में जो सात्त्विक प्रकृति होती है वह स्वभावतः ही उन चीजों की ओर मुड़ती है जो आयु, सत्त्व और बल की वृद्धि करती हैं, मानसिक, प्राणिक और शारीरिक बल को एक साथ बढ़ाती हैं तथा मन, प्राण और शरीर के सुख, संतोष और प्रसन्नता की वृद्धि करती हैं, जो रसपूर्ण, स्निग्ध, स्थिर और हृद्य होती हैं। राजसिक प्रकृति स्वभावतः ही ऐसा आहार पसंद करती है जो अतीव खट्टा, कड़ुआ, गर्म, तीखा, चरपरा, रूखा, तेज और जलानेवाला होता है; ऐसे खाद्य पदार्थ पसंद करती है जो मन और देह के अस्वास्थ्य तथा दुःख और शोक को बढ़ाते हैं। तामसिक प्रकृति ठंडे, अपवित्र, बासी, गले-सड़े या निःस्वाद भोजन में विकृत रस लेती है, अथवा यहाँतक कि पशुओं के समान दूसरों के उच्छिष्ट किये हुए पदार्थों को भी ग्रहण करती है। इन तीन गुणों की क्रिया सर्वव्यापी है। दूसरे छोर पर ये गुण मन और आत्मा की चीजों पर, भी, यज्ञ, दान और तपस्या पर भी इसी प्रकार लागू होते हैं: प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रतीकवाद ने इन तीन चीजों के जिन रूपों की परिकल्पना की थी उन्हीं प्रचलित रूपों के अनुसार गीता इनमें से प्रत्येक के तीन प्रकार के विभाग करती है। परंतु, स्वयं गीता यज्ञ के विचार को जो अत्यंत व्यापक अर्थ प्रदान करती है उसे स्मरण रखते हुए, हम सहज ही इन संकेतों के स्थूल अर्थ को विस्तृत करके

इनका एक उदारतर मर्म प्रकाशित कर सकते हैं। इस प्रयोजन के लिए इन्हें उलटे क्रम में अर्थात् तम, रज, सत्त्व के क्रम में लेना सुविधाजनक होगा, क्योंकि हम इस विषय पर विचार कर रहे हैं कि किस प्रकार हम अपनी निम्न प्रकृति से बाहर निकलकर एक विशेष प्रकार की सात्त्विक परिणति तथा आत्म-अतिक्रमण में से होते हुए त्रिगुण के परे दिव्य प्रकृति और कर्म में आरोहण करते हैं।

जो कर्म बिना श्रद्धा के किया जाता है, अर्थात् इस प्रकार किया जाता है कि उसमें हमारा कोई पूर्ण सचेतन विचार, स्वीकृति एवं संकल्प नहीं होता और फिर भी प्रकृति जिसे हमसे बरबस करवाती है वह तामसिक यज्ञ है। वह यंत्रवत् किया जाता है, क्योंकि जीवनधारण के लिए उसे करना आवश्यक होता है, क्योंकि वह हमारे सामने आ उपस्थित होता है, और क्योंकि दूसरे लोग उसे करते हैं, अथवा वह इनसे भी बड़ी किसी और ऐसी कठिनाई से बचने के लिए किया जाता है जो उसे न करने से पैदा हो सकती है, या फिर वह किसी अन्य ही तामसिक हेतु से किया जाता है और यदि हमारे अंदर इस प्रकार का स्वभाव परिपूर्ण रूप से हो तो यह भी संभव है कि हम वह कार्य असावधानतापूर्वक, उदासीन भाव से तथा गलत ढंग से करें। वह विधि के अनुसार अर्थात् शास्त्र के यथार्थ विधान के अनुसार नहीं किया जायगा, उसकी क्रिया-प्रक्रिया उस यथायथ विधिके अनुसार परिचालित नहीं होगी जो जीवन की कला और विधान के द्वारा तथा करणीय कर्म के सच्चे विज्ञान के द्वारा निर्धारित है। उस यज्ञ में हव्य-दान नहीं किया जायगा,— और भारतीय कर्मकांड में यह क्रिया एक साहाय्यप्रद दान का प्रतीक है, यह दान-तत्त्व वास्तविक यज्ञ कहानेवाले प्रत्येक कर्म के अंदर निहित है, दूसरों को दिया जानेवाला यह दान एक अनिवार्य वस्तु है, यह दूसरों की एवं जगत् की फलप्रद सहायता है जिसके बिना हमारा कर्म एक सर्वथा स्वार्थपूर्ण वस्तु बन जाता है और वह एकसूत्रता तथा आदान-प्रदान के सच्चे विश्व-विधान का उल्लंघन करने-वाला होता है। वह कर्म उस दक्षिणा के बिना संपन्न किया जायगा जो कि यज्ञीय कर्म के पुरोहितों को देने योग्य एक अत्यावश्यक दान या आत्मदान है, भले ही वह अपने कर्म के किसी बाह्य मार्गदर्शक एवं सहायक को दिया जाय या अपने अंदर विद्यमान प्रच्छन्न या व्यक्त भगवान् को। वह बिना मंत्र के अर्थात् बिना समर्पणात्मक विचार के किया जायगा। मंत्र हमारे उस संकल्प तथा ज्ञान की पावन देह है जो हमारे यज्ञ के उपास्य देवों की ओर ऊपर उठे होते हैं। तामसिक मनुष्य अपना यज्ञ देवताओं को नहीं, बल्कि निम्न आधिभौतिक शक्तियों को या पर्दे के पीछे अवस्थित उन स्थूलतर प्रेतात्माओं को अर्पित करता है जो

उसके कार्यों के द्वारा अपना भोग-साधन करते हैं तथा उसके जीवन को अपने अंधकार के द्वारा आच्छन्न कर देते हैं।

राजसिक मनुष्य अपना यज्ञ निम्न कोटि के देवताओं या विकृत शक्तियों, यक्षों, ऐश्वर्य के रक्षकों, या आसुरी एवं राक्षसी शक्तियों के उद्देश्य से करता है। उसका यज्ञ बाहर से शास्त्र के अनुसार अनुष्ठित हो सकता है, पर उस यज्ञ का प्रेरक भाव होता है दम्भ, मद या अपने कर्म के फल की प्रबल तृष्णा, अपने कर्मों के पुरस्कार के लिए प्रचंड माँग। अतएव, जो भी कर्म उग्र या अहंमय व्यक्तिगत कामना से या वैयक्तिक उद्देश्यों के हित अपनेको जगत् पर थोपने में लगे हुए दंभपूर्ण संकल्प से उद्भूत हो वह राजसिक प्रकृति का है, भले ही वह प्रकाश के चिह्नों से अपनेको आवृत क्यों न किये हो, भले ही बाहरी तौर से वह यज्ञ के रूप में क्यों न किया जाय। यद्यपि देखने में वह परमेश्वर या देवताओं को अर्पित किया जाता है, तथापि मूलतः वह आसुरी कर्म ही होता है। हमारे कर्मों का मूल्य केवल उनकी प्रतीयमान बाह्य दिशा से ही निर्धारित नहीं होता, न वह उन देवताओं के द्वारा निर्धारित होता है जिनके नाम की दुहाई देकर हम अपने कर्मों का अनुमोदन कर सकते हैं और न ही उस सच्चे बौद्धिक विश्वास के द्वारा जो उनके अनुष्ठान में हमारा समर्थन करता प्रतीत होता है, बल्कि वह निर्धारित होता है आंतरिक वृत्ति के द्वारा, आंतरिक प्रेरणा और दिशा के द्वारा। जहाँ कहीं हमारे कर्मों में अहंभाव की प्रधानता होती है, वहाँ हमारा कर्म राजसिक यज्ञ बन जाता है। इसके विपरीत, सच्चे सात्त्विक यज्ञ के तीन विशेष लक्षण हैं जो उसके विशिष्ट स्वरूप की मौन मुद्रा होते हैं। सर्वप्रथम, वह एक कार्य-साधक सत्य के द्वारा प्रेरित होता है, वह विधि के अनुसार अर्थात् हमारे कर्मों की समुचित नीति और यथायथ नियम-पद्धति के अनुसार, उनके यथार्थ लयताल एवं विधान तथा उनकी सच्ची प्रणाली एवं उनके धर्म के अनुसार संपन्न किया जाता है। इसका मतलब यह है कि हमारी बुद्धि और प्रदीप्त संकल्प उनकी क्रिया-प्रक्रिया तथा उनके उद्देश्य का निर्देशन और निर्धारण करते हैं। दूसरे, वह एक ऐसे मन के द्वारा किया जाता है जो सच्चे यज्ञ के रूप में करने योग्य कर्म के विचार पर स्थिर और एकाग्र होता है, वह यज्ञ हमारे जीवन के परिचालक दिव्य विधान के द्वारा हमपर लादा जाता है और इसीलिए उसका अनुष्ठान एक उच्च आंतरिक बाध्यता या अपरिहार्य सत्य के अनुसार तथा वैयक्तिक फल की कामना के बिना किया जाता है,—उस कर्म का प्रेरक भाव तथा उसके अंदर उँडेली गयी शक्ति का स्वभाव जितना ही अधिक निर्वैयक्तिक होता है, वह कर्म उतना ही अधिक सात्त्विक प्रकृति का होता है। और उसका अंतिम लक्षण

यह है कि वह निःशेष रूप से देवताओं को अर्पित किया जाता है ; वह उन दिव्य शक्तियों के द्वारा स्वीकार्य होता है जो सत्ता के स्वामी के छद्मरूप तथा व्यक्तित्व हैं और अतएव, उन्हीं के द्वारा जगत्-प्रभु इस जगत् का परिचालन करते हैं।

सुतरां, गीता जिस आदर्श की तथा जिस प्रकार के कर्म की माँग करती है, यह सात्त्विक यज्ञ उसके अत्यंत निकट है और यह उसकी ओर सीधे ही ले जाता है ; पर यह चरम और परम आदर्श नहीं है, यह अभी उन सिद्ध पुरुष का कर्म नहीं है जो दिव्य प्रकृति में निवास करते हैं। कारण, यह एक सुनियत धर्म के रूप में संपन्न किया जाता है, साथ ही यह देवताओं के प्रति, हमारे अंदर या विश्व के अंदर अभिव्यक्त भगवान् की किसी आंशिक शक्ति या रूप के प्रति यज्ञ या सेवा के रूप में अर्पित किया जाता है। निःस्वार्थ धार्मिक विश्वास के साथ अनुष्ठित कर्म या स्वार्थ-रहित भाव से मानवजाति के लिए अनुष्ठित कर्म अथवा न्याय या सत्य के प्रति निष्ठा से प्रेरित होकर निर्वैयक्तिक भाव से अनुष्ठित कर्म सात्त्विक प्रकृति का होता है, और इस प्रकार का कर्म हमारी पूर्णता के लिए आवश्यक है ; क्योंकि यह हमारे विचार, संकल्प तथा प्राकृत उपादान को शुद्ध करता है। परंतु सात्त्विक कर्म की जिस सर्वोच्च परिणति तक हमें पहुँचना है वह और भी वृहत्तर तथा मुक्ततर कोटि की है ; वह एक उच्च कोटि का चरम यज्ञ है जिसे हम पुरुषोत्तम को उपलब्ध करने की अभीप्सा के साथ या सत् मात्र में वासुदेव के दर्शन करते हुए परम और समग्र भगवान् के प्रति निवेदित करते हैं ; वह एक ऐसा कर्म है जो निर्वैयक्तिक एवं विश्वगत भाव से, जगत् के मंगल के लिए तथा विश्व में भगवत्संकल्प की परिपूर्त्ति के निमित्त किया जाता है। वह परिणति फिर अपनेसे भी परे, अमृत धर्म की ओर ले जाती है। क्योंकि तभी वह मुक्ति प्राप्त होती है जिसमें न तो कोई वैयक्तिक कर्म है, न धर्म का सात्त्विक नियम और न शास्त्र की मर्यादा। वहाँ स्वयं निम्न बुद्धि और संकल्प भी अतिक्रांत हो जाते हैं और उनकी जगह एक उच्चतर प्रज्ञा हमारे कर्म को प्रेरित और परिचालित करती है तथा हमें अधिकारपूर्ण उसके लक्ष्य की ओर ले चलती है। तब वैयक्तिक फल का कोई प्रश्न ही नहीं रहता ; क्योंकि जो संकल्प कर्म करता है वह हमारा अपना नहीं, बल्कि एक परमोच्च संकल्प होता है, हमारी अंतरात्मा तो उसका एक यंत्र मात्र होती है। वहाँ न कोई स्वार्थपरता होती है न निःस्वार्थता ; क्योंकि जीव, भगवान् का शाश्वत अंश, अपनी सत्ता की सर्वोच्च आत्मा के साथ युक्त हो चुका होता है, और उस आत्मा तथा परम सत्ता में वह तथा सभी एक हैं। तब वैयक्तिक कर्म का अस्तित्व नहीं रहता, क्योंकि सभी कर्म अपने कर्मों के प्रभु के प्रति उत्सर्ग कर दिये जाते हैं और तब वही हमारी

दिव्यीकृत प्रकृति के द्वारा कर्म करते हैं। वहाँ कोई यज्ञ भी नहीं होता,—हाँ, हम यह अवश्य कह सकते हैं कि यज्ञ के अधीश्वर जीव में विद्यमान अपनी शक्ति के कर्मों को अपनी ही विश्वरूपमय सत्ता के प्रति अर्पित कर रहे होते हैं। यज्ञरूप कर्म के द्वारा आत्म-अतिक्रमण की जो परमोच्च स्थिति प्राप्त होती है वह यही है, जो जीव दैवी प्रकृति में अपना पूर्ण चैतन्य लाभ कर लेता है उसकी सिद्ध अवस्था यही है।

तामसिक तपस्या वह है जो एक अज्ञानाच्छन्न और भ्रांत विचार के वश, एक दृढ़ और अटल भ्रांति से युक्त विचार के वश की जाती है, जो किसी पोषित असत्य के प्रति अज्ञ श्रद्धा के द्वारा समर्थित होती है, जो किसी सच्चे या महान् लक्ष्य से कुछ भी संबंध न रखनेवाले एक संकीर्ण, जघन्य और अहंकारमय उद्देश्य के हित बलात् प्रयास करते हुए तथा अपनेको कष्ट पहुँचाते हुए या फिर अपनी सारी शक्ति दूसरों का अनिष्ट करने के संकल्प में लगाते हुए की जाती है। जो चीज इस प्रकार के शक्ति-प्रयोग को तामसिक बनाती है वह कोई जड़ता का तत्त्व नहीं, क्योंकि जड़ता तपस्या से विजातीय वस्तु है, बल्कि इसे तामसिक बनानेवाली चीजें हैं मन और प्रकृति का अंधकार, अनुष्ठान की एक जघन्य क्षुद्रता तथा कुरूपता अथवा लक्ष्य या प्रेरक भाव में एक पाशविक प्रवृत्ति या वासना। राजसिक तपस्या उन अनुष्ठानों को कहते हैं जो मनुष्यों से मान और पूजा प्राप्त करने के निमित्त, व्यक्तिगत प्रतिष्ठा, बाह्य यश और महत्ता के लिए या अहमात्मक संकल्प एवं अभिमान के अनेकानेक हेतुओं में से किसी अन्य हेतु से किये जाते हैं। इस प्रकार का तप विशेष-विशेष क्षणिक उद्देश्यों के लिए किया जाता है जो जीव के ऊर्ध्वमुख विकास और पूर्णता में कुछ भी योगदान नहीं करते ; यह एक ऐसी वस्तु है जो किसी निर्दिष्ट एवं सहायक नीति से रहित है, एक ऐसी शक्ति है जो परिवर्तनशील एवं नश्वर निमित्त के साथ बँधी हुई है और स्वयं भी उसी प्रकार की है। अथवा, यद्यपि इसमें कोई अधिक आभ्यंतरिक तथा श्रेष्ठ उद्देश्य दिखायी दे भी, यद्यपि इसमें श्रद्धा और संकल्प उच्चतर कोटि के हों भी, तथापि यदि किसी प्रकार का दंभ या अहंकार या कोई अत्यंत तीव्र एवं प्रबल 'काम' या राग इसमें प्रविष्ट हो जाय, अथवा यदि यह किसी ऐसे उग्र, विधिहीन या घोर कर्म में प्रवृत्त करे जो शास्त्र के विरुद्ध हो, जीवन और कर्म-कलाप के यथायथ नियम के विपरीत हो, अपनेको तथा दूसरों को कष्ट देनेवाला हो, या यदि यह आत्म-पीड़न के ढंग का तथा मन, प्राण और शरीर को क्लेश पहुँचानेवाला हो या हमारे आंतरिक सूक्ष्म शरीर में अवस्थित भगवान् को उत्पीड़ित करनेवाला हो तब भी यह अज्ञानपूर्ण, आसुरी, राजसिक या राजस-तामसिक तपस्या है।

सात्त्विक तपस्या वह है जो उच्चतम आलोकित श्रद्धा के साथ, गंभीरता के साथ अंगीकृत कर्तव्य के रूप में या किसी नैतिक या आध्यात्मिक या अन्य उच्चतर हेतु से तथा कर्म के किसी बाह्य या संकीर्ण एवं व्यक्तिगत फल की कामना के बिना की जाती है। वह आत्म-अनुशासन के ढंग की होती है और आत्म-संयम तथा प्रकृति के सामंजस्य-साधन की मांग करती है। गीता ने तीन प्रकार के सात्त्विक तप का निरूपण किया है। पहला है शारीरिक तप, बाह्य कर्म का तप; इस श्रेणी के अंतर्गत, विशेष रूप से, इन चीजों का उल्लेख किया गया है—पूजनीयों की पूजा और मान; शरीर, कर्म और जीवन की शुद्धि, सरल व्यवहार, ब्रह्मचर्य, दूसरों की हिंसा और अपकार का परित्याग, **'अहिंसा'**। दूसरा है वाणी का तप, और उसके अंतर्गत हैं—स्वाध्याय, सत्य, प्रिय और हितकर वचन, दूसरों के अंदर भय, दुःख और उद्वेग उत्पन्न करनेवाले वचनों का सतर्कतापूर्वक परित्याग। अंतिम है मानसिक तथा नैतिक पूर्णता का तप, और उसका अर्थ है संपूर्ण स्वभाव की शुद्धि, सौम्यता, मनःप्रसाद, आत्म-विनिग्रह और मौन। इसमें वे सभी चीजें समाविष्ट हो जाती हैं जो राजसिक एवं अहमात्मक प्रकृति को शांत या अनुशासित करती हैं और वे सब भी जो इसके स्थान पर शुभ और पुण्य के प्रसन्न और शांत तत्त्व की प्रतिष्ठा करती हैं। यह सात्त्विक धर्म का तप है जिसे प्राचीन भारतीय संस्कृति की विधि-व्यवस्था में इतना अधिक समादृत किया गया है। इसकी महत्तर परिणति होगी—बुद्धि और संकल्प की उच्च पवित्रता, आत्मा की समता, गभीर शांति और स्थिरता, व्यापक सहानुभूति तथा एकत्व-साधना, मन, प्राण और शरीर के अंदर अंतःपुरुष के दिव्य प्रसाद की प्रतिच्छाया। उस उच्च शिखर पर नैतिक आदर्श एवं स्वभाव आध्यात्मिक आदर्श और स्वभाव में परिणत हो जाता है। और यह परिणति भी अपनेको अतिक्रम कर सकती है, यह भी एक उच्चतर और मुक्ततर ज्योति में उन्नीत की जा सकती है तथा परा प्रकृति की सुप्रतिष्ठित दैवी शक्ति में परिणत हो सकती है। और तब जो कुछ शेष रहेगा वह होगा आत्मा का परिपूत तप, सत्ता के सभी अंगों में एक उच्चतम संकल्प एवं ज्योतिर्मय शक्ति, जो विशाल और ठोस शांति तथा गभीर एवं विशुद्ध आध्यात्मिक आनंद में कार्य करेगी। तब फिर तप की और आवश्यकता नहीं रहेगी, कोई तपस्या नहीं रहेगी, क्योंकि सब कुछ सहज-स्वाभाविक रूप से दिव्य होगा, सब कुछ वह तपस् ही होगा। वहाँ नीचे की शक्ति की कोई पृथक् प्रचेष्टा नहीं रहेगी, क्योंकि प्रकृति की शक्ति पुरुषोत्तम के परात्पर संकल्प में अपना सच्चा उद्गम और आधार प्राप्त कर चुकी होगी। तब, इस उच्च स्रोत से प्रवर्तित होने के कारण, इस शक्ति की क्रियाएँ निम्नतर स्तरों पर भी एक सहजात पूर्ण

संकल्प से तथा एक अंतर्निहित पूर्ण मार्गनिर्देशक के द्वारा स्वाभाविक एवं स्वतः-स्फूर्त रूपमें निःसृत होंगी। वर्तमान धर्मों में से किसी का भी बंधन नहीं रहेगा; क्योंकि वहाँ होगा एक मुक्त कर्म जो राजसिक और तामसिक प्रकृति से बहुत ऊपर तो होगा ही पर साथ ही कर्म के सात्त्विक नियम की अति-सतर्क और संकीर्ण सीमाओं से भी बहुत परे होगा।

तपस्या की भांति समस्त दान भी अज्ञ तामसिक, बाह्याडंबरपूर्ण राजसिक या निःस्वार्थ और ज्ञानदीप्त सात्त्विक प्रकृति का होता है। तामसिक दान समुचित देश, काल और पात्र का विचार किये बिना अज्ञानपूर्वक दिया जाता है; वह एक मूर्खतापूर्ण, विवेकहीन और वस्तुतः स्वार्थपूर्ण क्रिया होती है, वह एक अनुदार तथा निकृष्ट त्याग होता है, एक ऐसा दान होता है जो बिना सहानुभूति या सच्ची उदारता के और लेनेवाले की भावनाओं का ध्यान रखे बिना ही दिया जाता है तथा जो उसके द्वारा स्वीकार करते समय भी अवज्ञा की दृष्टि से देखा जाता है। राजसिक कोटि का दान वह है जो अनुताप के साथ, अनिच्छापूर्वक या अपने ऊपर जोर-जबर्दस्ती करके या किसी व्यक्तिगत एवं अहंभावमय उद्देश्य से अथवा किसी भी दिशा से किसी प्रकार के प्रत्युपकार की आशा से या लेनेवाले की ओर से अपने-आपको एक तुल्य या महत्तर प्रतिफल मिलने की आशा से किया जाता है। सात्त्विक प्रकार का दान वह है जो यथायथ बुद्धि, सदिच्छा तथा सहानुभूति के साथ, समुचित देश-काल को देखकर एक ऐसे सत्पात्र को अर्पित किया जाता है जो दान के योग्य होता है या जिसके लिये दान वस्तुतः उपकारी हो सकता है। ऐसा दान-कार्य दान तथा उपकार के लिए ही किया जाता है, उपकृतके द्वारा पहले किये गये या आगे किये जानेवाले अपने उपकार को दृष्टि में रखकर नहीं, किसी व्यक्तिगत उद्देश्य से नहीं। सात्त्विक प्रकार के दान की पराकाष्ठा कर्म के अंदर दूसरों के प्रति, जगत् तथा परमेश्वर के प्रति एक व्यापक आत्मदान एवं आत्म-समर्पण के तत्त्व को क्रमशः अधिकाधिक ले आयगी; गीता में जिस कर्मयज्ञ का विधान किया गया है वह इस प्रकार का उच्च उत्सर्ग ही है। दिव्य प्रकृति में ऊर्ध्वतम स्थिति आत्म-दान की महत्तम परिपूर्णता होगी जो जीवन के विशालतम अर्थ पर आधारित होगी। इस संपूर्ण नानारूप विश्व की उत्पत्ति और अनवरत स्थिति का मूल यह है कि परमेश्वर अपने-आप तथा अपनी शक्तियों का दान करते हैं तथा इन सब भूतभावों के अंदर अपनी सत्ता और आत्मा को मुक्त-हस्त हो प्रवाहित करते हैं; वेद में कहा है कि विश्व-सत्ता पुरुष का यज्ञ है। सिद्ध जीव का भी समस्त कर्म होगा—अपना तथा अपनी शक्तियों का इसी प्रकार अखंड रूप से दिव्य दान करना, भगवान् के अंदर तथा

उनके प्रभाव और प्रेरणा के द्वारा उसने जो ज्ञान, ज्योति, बल, प्रेम, हर्ष साहाय्य-प्रद शक्ति उपलब्ध की है उसे अपने चारों ओर सबके ऊपर, उनकी ग्रहण-सामर्थ्य के अनुसार उंडेल देना, अथवा इस समस्त जगत् तथा इसके प्राणियों पर प्रवाहित कर देना। अपनी सत्ता के स्वामी के प्रति जीव के समग्र आत्मदान का संपूर्ण परिणाम यही होगा।

जिस चर्चा के साथ गीता इस अध्याय का उपसंहार करती है वह प्रथम दृष्टि में दुर्बोध प्रतीत होती है। वह कहती है ओम्, तत्, सत्—यह सूत्र उन ब्रह्म की त्रिविध परिभाषा है जिन्होंने पुराकाल में ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञों की सृष्टि की थी और इसी सूत्र में उनका समस्त हार्द निहित है। 'तत्' निरपेक्ष सत्ता का द्योतक है। 'सत्' परम और विश्वमय सत्ता के मूलतत्त्व का द्योतक है। 'ओम्' त्रिविध ब्रह्म का, बहिर्मुख, अन्तर्मुख या सूक्ष्म तथा अतिचेतन कारण-पुरुषका प्रतीक है। अ, उ, म्—प्रत्येक अक्षर इन तीनमें से एक-एक को आरोहण-क्रम में द्योतित करता है और अपने समूचे रूप में यह पद उस तुरीय अवस्था का बोधक है जो निरपेक्ष सत्ता की ओर उठ जाती है। ओम् श्रीगणेश करने का पद है जो समस्त यज्ञ, समस्त दान, समस्त तप के आरंभ में मंगलाचरण तथा अनुमति के रूपमें उच्चारित किया जाता है; यह इस बात को स्मरण कराता है कि हमें अपने कर्म को अपनी अंतःसत्ता में त्रिविध भगवान् का प्रकाश करनेवाला बनाना होगा और उसे अपनी भावना तथा लक्ष्य में भगवान् की ओर ही फेरना होगा। मुमुक्षुजन इन कर्मों को फल की कामना के बिना और केवल अपनी प्रकृति के पीछे अवस्थित निरपेक्ष भगवान् की परिकल्पना, अनुभूति और उनके आनंद के साथ ही संपन्न करते हैं। अपने कर्मों की इस पवित्रता एवं निर्वैयक्तिकता के द्वारा, इस उच्च निष्कामता, इस बृहत् अहंशून्यता तथा आध्यात्मिक समृद्धि के द्वारा वे इन भगवान् की ही खोज करते हैं। सत् का अर्थ शुभ भी है और वस्तु-सत्ता भी। ये दोनों चीजें, शुभ का तत्त्व और वस्तु-सत्ता का तत्त्व इन तीनों प्रकार के कर्मों के पीछे अवश्य होने चाहियें। सभी शुभ कर्म सत् हैं, क्योंकि वे जीव को हमारी सत्ता के उच्चतर सत्स्वरूप के लिए तैयार करते हैं; यज्ञ, दान और तप में दृढ़ निष्ठा, और उस प्रधान लक्ष्य को दृष्टि में रखकर यज्ञ, दान और तप के रूप में किये गये समस्त कर्म सत् हैं, क्योंकि वे हमारी आत्मा के उच्चतम सत्य के लिये आधार निर्मित करते हैं। और क्योंकि श्रद्धा हमारी सत्ता का केंद्रीय तत्त्व है, इनमें से कोई चीज यदि बिना श्रद्धा के की जाय तो वह मिथ्या होती है, इहलोक में या परतर लोकों में उसका कोई सत्य अर्थ या सत्य सार नहीं होता, इह-जीवन में या मर्त्य जीवन के पश्चात् हमारी चिन्मय आत्मा के महत्तर लोकों में टिके रहने या

सृजन करने के लिए उसमें कोई सत्य या शक्ति नहीं होती। अंतरात्मा की श्रद्धा,—कोरा बौद्धिक विश्वास नहीं बल्कि जानने, देखने, विश्वास करने तथा अपनी दृष्टि और ज्ञान के अनुसार कर्म करने तथा अपनेको गढ़ने के लिए अंतरात्मा का एकाग्र संकल्प ही अपनी शक्ति के द्वारा हमारे विकास की संभावनाओं का मान निर्धारित करता है, और जब यह श्रद्धा एवं संकल्प,—हमारी संपूर्ण बाह्यान्तर सत्ता, प्रकृति और कर्म सहित,—उस सबकी ओर मुड़ जायगा जो उच्चतम, दिव्यतम, सत्यतम और शाश्वत है, तो यही हमें परम सिद्धि की प्राप्ति में भी समर्थ बना देगा।

त्रिगुण, मन और कर्म[1]

त्रिगुण के सम्बन्ध में, तथा उच्चतम सात्त्विक साधना अपनी परिणति के समय अपनेको अतिक्रम करके जिस त्रिगुणातीत स्थिति की ओर ले जाती है उसके सम्बन्ध में यह जो मूलभूत विचार है उसके प्रकाश में गीता ने कर्म का जो विश्लेषण किया है वह अभी पूर्ण नहीं हुआ है। किसी स्वयं-विकसनशील कर्म के पीछे, विशेषकर कर्मों के द्वारा जीव के अपना पूर्ण अध्यात्म-विकास साधित करने के पीछे जो प्रधान तत्त्व, जो अपरिहार्य शक्ति विद्यमान रहती है वह है श्रद्धा, — जिस सत्य के हमें दर्शन हुए हैं उसपर विश्वास करने, स्वयं वही बन जाने, उसे जानने, जीवन में उतारने तथा कार्य-रूप में परिणत करने का संकल्प। परन्तु इसके साथ ही कुछ ऐसी मानसिक शक्तियाँ, कुछ करणोपकरण एवं अवस्थाएँ भी हैं जो कर्म के वेग, दिशा तथा स्वरूप का निर्धारण करने में सहायक होती हैं और अतएव वे इस आभ्यंतरिक साधना के पूर्ण रूप से समझने में महत्त्व रखती हैं। गीता पहले इन चीजों का संक्षिप्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करती है और फिर वह अपने उस महान् चरम सिद्धान्त की ओर अग्रसर होती है जो उसकी संपूर्ण शिक्षा की परिणति है, एक उच्चतम रहस्य है, आध्यात्मिक रूप से सब धर्मों के ऊपर उठ जाने तथा दिव्य परात्परता लाभ करने का रहस्य है। हमें उसके संक्षिप्त वर्णनों का अनुसरण करते हुए इन चीजों का निरूपण संक्षेप से ही करना होगा और विस्तार केवल उतना ही करना होगा जितना प्रधान विचार को पूर्ण रूप से हृदयंगम करने के लिए आवश्यक हो ; क्योंकि ये गौण वस्तुएँ हैं, परन्तु फिर भी प्रत्येक अपने स्थान में तथा अपने प्रयोजन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। त्रिगुण के विशिष्ट सांचे में ढली हुई इनकी जो क्रिया होती है उसी को हमें मूल के संक्षिप्त वर्णनों में से बाहर निकालकर प्रकट करना है ; गुणों से परे इनमें से किसी की या प्रत्येक की परिणति का क्या स्वरूप होगा यह सामान्य त्रिगुणातीत अवस्था के स्वरूप से स्वयमेव स्पष्ट हो जायगा।

विषय के इस अंश की चर्चा अर्जुन के एक अंतिम प्रश्न के द्वारा आरम्भ की

१. गीता १८, १-३९

गयी है जिसमें वह पूछता है कि संन्यास और त्याग का क्या तत्त्व है तथा इनमें भेद क्या है। गीता ने जो इस महत्त्वपूर्ण भेद का राग पुनः-पुनः अलापा है, इसपर जो बारंबार बल दिया गया है उसका औचित्य परवर्ती भारतीय मन के उत्तरकालीन इतिहास के द्वारा यथेष्ट रूप से प्रमाणित होता है, क्योंकि वहाँ हम देखते हैं कि भारतीय मन इन दो अत्यंत विभिन्न चीजों में लगातार गड़बड़-घोटाला करता आया है और गीता ने जिस भी प्रकार के कर्म की शिक्षा दी है उसे इस रूप में नीचा दिखाने की इसकी प्रबल प्रवृत्ति रही है कि वह, अधिक-से-अधिक, संन्यास के परम नैष्कर्म्य का प्रारम्भिक पग मात्र है। सच पूछो तो, जब लोग त्याग की बात करते हैं तब वे इस शब्द का जो अर्थ समझते हैं या कम-से-कम इसके जिस अर्थ पर वे बल देते हैं, वह सदा जगत् का बाह्य त्याग ही होता है, जब कि गीता का विचार इसके नितान्त विपरीत है और वह यह कि वास्तविक त्याग की भित्ति है जगत् में कर्म करना और जीवन यापन करना न कि जगत् से भागकर मठ-मंदिर, गुहा-कंदरा या गिरि-शृंग की शरण लेना। वास्तविक त्याग है कामना को त्यागकर कर्म करना और वास्तविक संन्यास भी यही है।

निःसंदेह, सात्त्विक आत्म-साधना की मोक्षजनक क्रिया त्याग की भावना से ओतप्रोत होनी चाहिए—यह एक अपरिहार्य तत्त्व है : परन्तु वह त्याग क्या है और त्याग की आत्मिक भावना कैसी होनी चाहिए? जगत् में कर्म का त्याग नहीं, कोई बाह्य तपस्या या भोग के ऊपरी त्याग का कोई बाह्य आडंबर नहीं, बल्कि प्राणिक कामना और अहं का वर्जन वा **'त्याग,'** वासनात्मा, अहं-नियंत्रित मन तथा राजसिक प्राण-प्रकृति के पृथक् वैयक्तिक जीवन का पूर्ण विवर्जन, **'संन्यास।'** योग के शिखरों पर आरोहण करने के लिए यही सच्ची शर्त है, भले ही वह आरोहण निर्व्यक्तिक आत्मा एवं ब्राह्मी एकता के द्वारा हो या विश्वव्यापी वासुदेव के द्वारा हो अथवा, आभ्यंतरिक रूप से, परम पुरुषोत्तम के भीतर हो। अधिक रूढ़ एवं शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो मनीषिगण की प्रचलित भाषा में **'संन्यास'** का अर्थ है कर्मों का भौतिक संन्यास या भौतिक परिवर्जन : मानसिक और आध्यात्मिक **'त्याग'** को ज्ञानी जनों ने त्याग का नाम दिया है, अर्थात् **'त्याग'** का मतलब है अपने कर्मों के फल के प्रति, स्वयं कर्म के प्रति या उसके व्यक्तिगत आरम्भ या उसकी राजसिक प्रेरणा के प्रति समस्त आसक्ति का पूर्ण परित्याग—गीता के अनुसार संन्यास और त्याग में यही भेद है। इस अर्थ में संन्यास नहीं त्याग ही श्रेयस्कर मार्ग है। जिस चीज का त्याग करने की आवश्यकता है वह काम्य कर्म नहीं बल्कि कामना है जो कर्म को वह काम्य या कामनात्मक रूप दे देती है। कर्मों के प्रभु के विधान में कर्म का फल प्राप्त हो सकता है, किन्तु कर्म करने के

पुरस्कार या उसकी शर्त के रूप में फल की कोई अहंपूर्ण मांग बिलकुल नहीं होनी चाहिए। अथवा यह भी हो सकता है कि फल बिलकुल मिले ही नहीं और फिर भी हमें एक **'कर्तव्य कर्म'** के रूप में कर्म करना ही चाहिए, एक ऐसे कर्म के रूप में जिसकी मांग हमारे अंतःस्थ प्रभु हमसे करते हैं। सफलता और विफलता उन्हीं के हाथ में है और इन्हें वे अपने सर्वज्ञ संकल्प तथा प्रयोजन के अनुसार निर्धारित करेंगे। इसमें संदेह नहीं कि अन्त में कर्म का, कर्म मात्र का त्याग करना होगा, परन्तु वह त्याग बाह्य रूप में निवृत्ति, निश्चलता या निष्क्रियता के द्वारा नहीं करना होगा, बल्कि आध्यात्मिक रूप में अपनी सत्ता के उन प्रभु के प्रति करना होगा जिनकी शक्ति से कोई भी कर्म निष्पन्न किया जा सकता है। 'हम ही कर्ता हैं', इस मिथ्या विचार का त्याग करना होगा ; क्योंकि वास्तव में विश्व-ऊर्जा ही हमारे व्यक्तित्व और अहंभाव के द्वारा कर्म करती है। गीता की शिक्षा के अनुसार, अपने सब कर्मों को आध्यात्मिक रूप से प्रभु तथा उनकी शक्ति को सौंप देना ही सच्चा संन्यास है।

फिर भी यह प्रश्न उठता है कि हमें कौन-कौन से कर्म करने चाहियें ? जो लोग संपूर्ण बाह्य त्याग का पक्ष लेते हैं वे भी इस गहन विषय में एकमत नहीं। कुछ लोग यह कहेंगे कि सभी कर्मों को हमें अपने जीवन से बाहर निकाल फेंकना चाहिए, मानों ऐसा करना संभव हो। परन्तु जबतक हम इस देह में हैं तथा जीवित हैं तबतक ऐसा करना संभव नहीं ; न ही मुक्ति इस बात में हो सकती है कि हम अपनी सक्रिय सत्ता को समाधि के द्वारा लोष्ट और पाषाण की-सी निर्जीव निश्चलता में परिणत कर दें। समाधि की निश्चल-नीरवता से भी इस समस्या का समाधान नहीं होता, क्योंकि ज्योंही शरीर के अन्दर फिर से सांस चलने लगता है, त्योंही हम एक बार पुनः कर्म-क्षेत्र में आ पड़ते हैं और आध्यात्मिक सुषुप्ति के द्वारा हमने जो यह मुक्ति प्राप्त की थी उसके शिखरों से एक बार फिर नीचे लुढ़क आते हैं। परन्तु सच्ची मुक्ति, अहं के आभ्यंतरिक त्याग तथा पुरुषोत्तम के साथ ऐक्य-लाभ के द्वारा उपलब्ध मुक्ति हर प्रकार की अवस्था में स्थिर बनी रहती है, वह इस लोक में या इसके बाहर किंवा समस्त लोकों में या समस्त लोकों-के बाहर स्थिर बनी रहती है, वह स्वयं-स्थित है, **'सर्वथा वर्तमानोऽपि,'** वह नैष्कर्म्य या कर्म पर निर्भर नहीं करती। तो फिर वे कर्म कौन से हैं जो हमें करने ही होंगे ? संभवतः एक पूर्ण संन्यासवादी का उत्तर यह होगा कि ऐच्छिक कर्मों के रूप में केवल भिक्षाटन, भोजन और ध्यान को ही स्वीकार करना होगा और वैसे इनके अतिरिक्त शरीर की केवल आवश्यक चेष्टाओं को ही अंगीकार करना होगा—गीता ने इस उत्तर का उल्लेख नहीं किया है, संभवतः यह उत्तर उस

समय पूर्ण रूप से प्रचलित नहीं था। परन्तु स्पष्ट ही, एक अधिक उदार तथा व्यापक समाधान यह था कि तीन अत्यंत सात्त्विक कार्यों, यज्ञ, दान और तप को जारी रखना ही चाहिए। और गीता कहती है कि ये कार्य अवश्यमेव करने चाहियें, क्योंकि ये ज्ञानियों को पवित्र करते हैं। परन्तु अधिक व्यापक दृष्टि से तथा इन तीन कार्यों को इनके व्यापकतम अर्थ में समझते हुए यह कहा जा सकता है कि अवश्य करने योग्य कर्म वह है जो यथायथ रूप से नियंत्रित कर्म, **'नियतं कर्म'**, हो अर्थात् जो शास्त्र के द्वारा, यथार्थ ज्ञान, यथार्थ कर्म, यथार्थ जीवन-यापन की विद्या एवं कला के द्वारा या मूल स्वभाव के द्वारा नियंत्रित हो, **'स्वभाव-नियतं कर्म'**, अथवा अंततः और श्रेष्ठतः जो हमारे अन्दर और ऊपर अवस्थित भगवान् के संकल्प के द्वारा नियंत्रित हो। इनमें से अन्तिम ही मुक्त पुरुष का वास्तविक तथा एकमात्र कर्म है, **'मुक्तस्य कर्म।'** इन कर्मों का त्याग करना यथायथ गति नहीं है—यह बात गीता ने अन्त में स्पष्ट और तीव्र रूप में कह दी है, **'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।'** इस प्रकार का त्याग ही सच्ची मुक्ति का सक्षम साधन है—इस अज्ञानपूर्ण विश्वास के साथ कर्मों का त्याग कर देना तामसिक त्याग है। हम देखते हैं कि कर्मों के त्याग में भी गुण उसी प्रकार हमारा पीछा करते हैं जिस प्रकार कि कर्मों के बीच। अकर्म में आसक्ति रखते हुए, **'संगः अकर्मणि'**, कर्मों का त्याग करना भी उसी प्रकार एक तामसिक त्याग होगा। और इन्हें इस कारण त्यागना कि ये दुःखदायक हैं या शारीरिक कष्ट तथा मानसिक उद्वेग के हेतु हैं अथवा इस भाव से त्यागना कि सब कुछ ही व्यर्थ और आत्मा के लिए संतापजनक है, राजसिक त्याग है और यह उच्च आध्यात्मिक फल नहीं प्रदान करता; यह भी सच्चा त्याग नहीं। यह बौद्धिक निराशा-वाद या प्राणिक क्लान्ति का परिणाम है; इसका मूल अहंकार में है। इस स्वार्थ-मुखी नीति के द्वारा नियंत्रित त्याग से किसी प्रकार की भी मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

त्याग का सात्त्विक सूत्र कर्म से पीछे हटना नहीं बल्कि व्यक्तिगत मांग एवं उसके मूल में रहनेवाले अहं-तत्त्व से पीछे हटना है। इसका मतलब है यथायथ जीवन-यापन के विधान के द्वारा या मूल प्रकृति, उसके ज्ञान एवं उसके आदर्श के द्वारा, अपने-आपमें तथा स्वानुभूत सत्य में उसकी **'श्रद्धा'** के द्वारा कर्म करना, कामना से प्रेरित होकर नहीं। अथवा, एक उच्चतर आध्यात्मिक स्तर पर कर्म प्रभु के संकल्प से प्रेरित होते हैं और वे योगयुक्त मन के साथ, कर्म या उसके फल के प्रति किसी व्यक्तिगत आसक्ति के बिना संपन्न किये जाते हैं। समस्त कामना का, समस्त स्वार्थदर्शी अहंकारमय चुनाव और आवेग का तथा अन्त में

संकल्प के उस अति सूक्ष्मतर अहंभाव का पूर्ण परित्याग करना आवश्यक है जो या तो यह कहता है कि "कर्म मेरा है, मैं ही कर्ता हूँ", या यहाँतक कि "कर्म परमेश्वर का है, पर कर्ता मैं हूँ।" किसी प्रिय, काम्य, लाभजनक या सफलता-पूर्ण कर्म के प्रति कोई भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए और न यह उचित है कि उसके ऐसा होने के कारण ही उसे संपन्न किया जाय ; किन्तु इस प्रकार का कर्म भी करना ही होगा,—पूर्ण रूप से, निःस्वार्थ भाव से तथा आत्मा की अनुमति के सहित करना होगा,—पर केवल तभी जब कि वह हमारे ऊपर तथा अन्दर से आदिष्ट कर्म हो, **'कर्तव्यं कर्म'** हो। किसी अप्रिय, अकाम्य या अतृप्तिकर कर्म के प्रति या जो कर्म अपने साथ दुःख, विपदा, विषम अवस्थाएँ एवं अनिष्ट परिणाम लाता है या ला सकता है उसके प्रति कोई घृणा नहीं होनी चाहिए ; क्योंकि वह भी जब एक कर्तव्य-कर्म हो, **'कर्तव्यं कर्म'** हो, तब उसे पूर्ण रूप से, निःस्वार्थ भाव से तथा उसकी आवश्यकता एवं प्रयोजन को गहराई के साथ समझते हुए अंगीकार करना होगा। ज्ञानी मनुष्य कामनात्मक सत्ता की जुगुप्साओं तथा द्विविधाओं को तज देता है और जो साधारण मानवीय बुद्धि क्षुद्र, व्यक्तिगत और रूढ़ मानदंडों के द्वारा या किसी अन्य प्रकार के संकीर्ण आदर्शों के द्वारा नापती है उसके संशयों को वह निकाल फेंकता है। पूर्ण सात्त्विक मन के प्रकाश में तथा अन्तरात्मा को निर्व्यक्तिकता की ओर, परमेश्वर, विश्वगत और सनातन सत्ता की ओर उठानेवाले आन्तरिक त्याग की शक्ति के साथ वह अपनी प्रकृति के उच्चतम आदर्श धर्म का अनुसरण करता है अथवा उसकी निगूढ़ आत्मा में कर्मों के अधीश्वर का जो संकल्प विद्यमान है उसीका वह अनुवर्तन करता है। वह किसी व्यक्तिगत फल या किसी ऐहिक पुरस्कार के लिए अथवा सफलता, लाभ या परिणाम के प्रति किसी आसक्ति के साथ कर्म नहीं करता : न ही वह अदृश्य परलोक में किसी प्रकार का फल प्राप्त करने के लिए कर्म करता है, न दूसरे जन्मों में या हमसे परे के लोकों में किसी ऐसे पुरस्कार की याचना करता है जिसके लिए अपरिपक्व धार्मिक बुद्धिवाला मनुष्य लालायित रहता है। इस लोक में या अन्य किन्हीं लोकों में, इस जीवन में या अन्य किसी जीवन में इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित इन तीन प्रकार के जो फल मिलते हैं वे कामना तथा अहं के दासों के लिए हैं ; मुक्त आत्मा इनमें लिप्त नहीं होता। जो मुक्त कर्मी आभ्यंतरिक संन्यास के द्वारा अपने कर्मों को महत्तर शक्ति के प्रति उत्सर्ग कर चुका है वह कर्म से मुक्त है। कर्म वह अवश्य करेगा, क्योंकि किसी-न-किसी प्रकार का कर्म, वह चाहे कम हो या अधिक, छोटा हो या बड़ा, देहधारी जीव के लिए अनिवार्य, स्वाभाविक एवं समुचित ही है,—कर्म जीवन के दिव्य विधान का अंग है, यह आत्मा

की उच्च क्रियाशक्ति का पक्ष है। त्याग का सार, सच्चा त्याग, सच्चा संन्यास कोई गतानुगतिक नियम का अनुसरण करनेवाला कर्मत्याग नहीं है, बल्कि वह है आत्मा की निष्कामता, मन की निःस्वार्थता, अहंभाव को अतिक्रम कर मुक्त, निर्व्यक्तिक एवं आध्यात्मिक प्रकृति में प्रतिष्ठित होना। इस आभ्यंतरिक त्याग का भाव ही सात्त्विक साधना की उच्चतम परिणति की सर्वप्रथम मानसिक शर्त है।

इसके आगे गीता सांख्य-दर्शन के अनुसार कर्म-सिद्धि के पाँच कारणों या अनिवार्य साधनों की चर्चा करती है। ये पाँच इस प्रकार हैं, पहला '**अधिष्ठान**', अर्थात् देह, प्राण और मन का ढांचा जो प्रकृति के अन्दर जीव का आधार या अवस्थानभूमि है, उसके बाद है '**कर्त्ता**', तीसरा है '**करण**', अर्थात् प्रकृति के विविध करणोपकरण, चौथा है '**चेष्टाः**', अर्थात् अनेक प्रकार के प्रयत्न जो कर्म-शक्ति का गठन करते हैं, और अंतिम है '**दैवम्**' या दैव, अर्थात् मानवीय कर्तृत्व से, प्रकृति की गोचर कर्म-पद्धति से भिन्न शक्ति या शक्तियों का प्रभाव, वे शक्तियाँ इनके पीछे रहकर कर्म को संशोधित करती हैं तथा कर्म और कर्मफल के नियमानुसार फल का विधान करती हैं। इन पांच तत्त्वों के परस्पर-संयोगों से ही कर्म के सब निमित्त-कारण गठित होते हैं; इस प्रकार, मनुष्य अपने मन, शरीर और वाणी से जो कोई भी कर्म करता है उसका रूप-स्वरूप और परिणाम इन्हीं के द्वारा निर्धारित होते हैं।

साधारणतः हमारे स्थूल व्यक्तिगत अहं को ही कर्ता समझा जाता है, पर यह समझ उस बुद्धि की मिथ्या धारणा है जिसे ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है। देखने में तो अहं ही कर्ता है, पर अहं और इसका संकल्प प्रकृति की गढ़ी हुई चीजें हैं, उसी के यंत्र हैं जिन्हें अज्ञानपूर्ण बुद्धि भ्रांतिवश हमारी आत्मा से एकमय समझ लेती है, ये मानव-कर्म के भी एकमात्र निर्धारक नहीं हैं, कर्म की दिशा और उसके फल का निर्धारण करना तो दूर रहा। जब हम अहं से मुक्त हो जाते हैं तो हमारी पीछे की वास्तविक आत्मा, निर्व्यक्तिक और विश्वगत आत्मा सामने आ जाती है, और विश्वात्मा के साथ अपने एकत्व के साक्षात्कार में वह देखती है कि विश्व-प्रकृति ही कर्म की कर्त्री है और उसके पीछे अवस्थित भगवत्संकल्प विश्व-प्रकृति का स्वामी है। जबतक हमें यह ज्ञान नहीं प्राप्त होता केवल तभी-तक हम इस भाव से बंधे रहते हैं कि अहं और उसका संकल्प ही कर्ता हैं और तभी-तक हम शुभाशुभ कर्म करते तथा अपनी तामसिक, राजसिक या सात्त्विक प्रकृति की तुष्टि प्राप्त करते हैं। परन्तु एक बार जब हम इस महत्तर ज्ञान में वास करने लगते हैं तब कर्म के स्वरूप और फलाफल से आत्मा के स्वातंत्र्य में कोई अन्तर

नहीं पड़ सकता। बाहर से वह कर्म कुरुक्षेत्र के इस महान् युद्ध और संहार जैसा घोर कर्म भी हो सकता है ; परन्तु मुक्त पुरुष उस संघर्ष में भाग भले ही ले और इन सब प्रजाओं का वध भले ही कर डाले फिर भी वह किसी का वध नहीं करता और अपने कर्म से बद्ध नहीं होता, क्योंकि वह कर्म सब लोकों के महेश्वर का होता है और उन्हींने अपने गुप्त सर्वशक्तिमय संकल्प में पहले से ही इन सब सेनाओं का वध कर रखा होता है। यह संहार-कर्म आवश्यक ही था—इसलिए कि मानव-जाति एक अन्य सृष्टि तथा नूतन उद्देश्य की ओर अग्रसर हो सके, मानों अपने अतीत कर्म की अग्नि में ही अधर्म, अत्याचार और अन्याय से छुटकारा पा सके और धर्म के राज्य की ओर आगे बढ़ सके। मुक्त पुरुष को जो काम सौंपा जाता है उसे वह अपनी आत्मा में विश्वात्मा के साथ एक होकर एक जीवंत यंत्र के रूप में संपन्न करता है। और यह जानते हुए कि यह सब अवश्यंभावी है, बाह्य प्रतीति से परे दृष्टिपात करते हुए वह अपने लिए नहीं वरन् परमेश्वर और मनुष्य के लिए तथा मानवीय और वैश्व व्यवस्था[1] के लिए कर्म करता है, वास्तव में वह स्वयं कर्म नहीं करता बल्कि अपने कार्यों तथा उनके परिणाम में भागवत शक्ति की उपस्थिति और प्रभाव को सचेतन रूप से अनुभव करता है। उसे इस बात का ज्ञान होता है कि पराशक्ति ही उसके मन-प्राण-शरीररूपी आधार, **'अधिष्ठान'**, के अन्दर एकमात्र कर्त्री के रूप में दैव-नियत कर्मों को संपन्न कर रही है, और वह दैव वास्तव में दैव नहीं, कोई यांत्रिक कर्म-विधान नहीं बल्कि एक ज्ञानमय सर्वदर्शी संकल्प है जो मानव-कर्म के पीछे क्रियाशील है। यह **"घोर कर्म"** जिसकी धुरी पर गीता की संपूर्ण शिक्षा केन्द्रित है एक ऐसे कर्म का चरम दृष्टान्त है जो देखने में अमंगल, **'अकुशलम्'** प्रतीत होता है, यद्यपि इसके बाह्य रूप के परे महान् कल्याण निहित है। भगवान् के द्वारा नियुक्त व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह जगत् को इसके लक्ष्य की ओर सम्यक् धारित रखने के लिए, **'लोकसंग्रहार्थम्'**, निर्वैयक्तिक भाव से इस कर्म को संपन्न करे, किसी वैयक्तिक उद्देश्य या कामना से नहीं बल्कि इसलिए करे कि यह भगवर्दापित सेवा है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कर्म ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है ; जिस ज्ञान के आधार पर हम कर्म करते हैं वह आध्यात्मिक दृष्टि से उसमें अत्यधिक अन्तर ले आता है। गीता कहती है कि तीन चीजें हैं जो कर्मों की मानसिक प्रेरणा का गठन करती हैं। वे हैं—हमारे संकल्प का आधारभूत ज्ञान, ज्ञान का विषय और ज्ञाता ; और ज्ञान के अन्दर त्रिगुण का व्यापार सदा ही आ घुसता

१. वैश्व व्यवस्था का प्रश्न उठता ही है, क्योंकि मानवजाति के बीच असुर की विजय का अर्थ होता है उसी हद तक विश्व-शक्तियों के द्वंद्व में असुर की विजय।

है। त्रिगुण के इस व्यापार के कारण ही ज्ञातवस्तु-विषयक हमारी दृष्टि में तथा ज्ञाता की अपना कर्म करने की भावना में कितना-कुछ अन्तर पड़ जाता है। तामसिक अज्ञानपूर्ण ज्ञान वस्तुओं को देखने का एक क्षुद्र एवं संकीर्ण, मंद या जड़ाग्रही तरीका है जिसमें कि जगत् का या कृत कर्म या उसके क्षेत्र का अथवा कर्म या उसकी परिस्थितियों का वास्तविक स्वरूप जानने के लिए हमारे अन्दर दृष्टि नहीं होती। तामसिक मन वास्तविक कार्य-कारण पर दृष्टिपात नहीं करता, बल्कि किसी एक क्रिया या कार्यपरिपाटी में तीव्र आसक्ति के साथ तल्लीन हो जाता है, वैयक्तिक कर्म का जो छोटा-सा अंश उसकी आँखों के सामने होता है उसे छोड़कर वह और कुछ भी नहीं देख सकता और सच पूछो तो वह यह भी नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है, बल्कि वह एक अंधे की न्याईं प्राकृतिक प्रवृत्ति को उसके कर्म के द्वारा ऐसे परिणामों को उत्पन्न करने देता है जिनके सम्बन्ध में स्वयं उसे कोई धारणा, पूर्वदृष्टि या व्यापक समझ नहीं होती। राजसिक ज्ञान वह है जो इन सब भूतों में अनेकानेक वस्तुओं को केवल उनके पृथक्-पृथक् रूप तथा नानाविध व्यापार पर ही दृष्टि रखते हुए देखता है और जो न तो एकत्व का सच्चा सूत्र ढूँढ़ सकता है और न अपने संकल्प तथा कर्म में यथार्थ सुसंगति स्थापित कर सकता है, बल्कि आभ्यंतरिक तथा पारिपार्श्विक प्रेरणाओं और शक्तियों की पुकार के प्रत्युत्तर में अहं और कामना की प्रवृत्ति का तथा अपनी बहुमुखी अहम्मय इच्छाशक्ति और नानाविध एवं मिश्रित प्रेरकभाव की क्रिया का अनुसरण करता है। यह ज्ञान ज्ञान के, प्रायः विशृंखल ज्ञान के कुछ ऐसे खंडों का अस्तव्यस्त मिश्रण होता है जिन्हें मन हमारे अर्द्ध-ज्ञान और अर्द्ध-अज्ञान के संकर में से किसी प्रकार का रास्ता बनाने के लिए बलपूर्वक संयुक्त किये होता है। अथवा यह एक चंचल राजसिक नानामुखी क्रिया होती है जिसमें न तो कोई स्थिर नियामक उच्चतर आदर्श होता है और न ही ज्योति और शक्ति का कोई स्व-अधिकृत विधान। इसके विपरीत, सात्त्विक ज्ञान सत्ता को इन सब विभाजनों के अन्दर एक ही अविभाज्य अखंड सत्, सब भूतभावों के अन्दर एक ही अविनाशी सत्ता के रूप में देखता है ; यह उसके कर्म के नियम को तथा सत्ता के समग्र उद्देश्य के साथ किसी विशिष्ट कर्म के सम्बन्ध को अधिकृत करता है ; यह संपूर्ण प्रक्रिया के प्रत्येक क्रम को उसके समुचित स्थान में विन्यस्त करता है। ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर यह दृष्टि जगत् में, इन सब अनेकानेक भूतों में अवस्थित एक आत्मा का, सब कर्मों के एक ही स्वामी का ज्ञान बन जाती है, यह इस ज्ञान का रूप धारण कर लेती है कि विश्व की शक्तियाँ भगवान् की ही अभिव्यक्तियाँ हैं और स्वयं कर्म भी मनुष्य, उसके जीवन एवं मूल स्वभाव में होनेवाली

उनके परम संकल्प और ज्ञान की क्रियाएँ हैं। वैयक्तिक संकल्प पूर्ण रूप से सचेतन एवं ज्ञानदीप्त हो उठता है, आध्यात्मिक दृष्टि से प्रबुद्ध हो जाता है, एकमेव में निवास करने तथा कर्म करने और उनके परम आदेश का उत्तरोत्तर पूर्णता के साथ पालन करने लगता है, मानव-देह में उनकी ज्योति और शक्ति का एक अधिकाधिक निर्दोष यंत्र बनता जाता है। परमोच्च मुक्त कर्म की स्थिति सात्त्विक ज्ञान की इस पराकाष्ठा के द्वारा ही प्राप्त होती है।

इसी प्रकार, तीन और चीजें हैं जो मिलकर किसी कर्म को धारण करती तथा सम्भव बनाती हैं, वे हैं कर्ता, करण और आचरित क्रिया। यहाँ भी गुणों का भेद ही इन तत्त्वों में से प्रत्येक का स्वरूप निर्धारित करता है। सात्त्विक मन, जो सदैव यथायथ समस्वरता और यथार्थ ज्ञान की खोज करता है, सात्त्विक मनुष्य का प्रधान करण होता है और शेष सारी मशीनरी का परिचालन करता है। कामनात्मा के द्वारा समर्पित कामनामय संकल्प राजसिक कर्मी का प्रधान करण होता है। भौतिक मन और स्थूल प्राणिक प्रकृति की अज्ञ प्रेरणा या अनालोकित प्रवृत्ति तामसिक कर्मी की मुख्य करण-शक्ति है। मुक्त व्यक्ति का करण होती है महत्तर आध्यात्मिक ज्योति और शक्ति जो उच्चतम सात्त्विक बुद्धि से अत्यधिक उच्चतर है, यह करण उसके अन्दर अतिभौतिक केंद्र से एक व्यापक अवतरण के द्वारा कार्य करता है तथा पवित्रीकृत और ग्रहणशील मन, प्राण और शरीर को अपनी शक्ति की निर्मल प्रणालिका के रूप में प्रयुक्त करता है।

जो कर्म सहज-प्रेरणाओं, आवेगमय प्रवृत्तियों तथा दृष्टिशून्य धारणाओं का यंत्रवत् अनुसरण करते हुए, विमूढ़, भ्रांत और अज्ञ मन के साथ किया जाता है और जिसमें शक्ति या सामर्थ्य का अथवा अंध दुष्प्रयुक्त प्रयत्न की क्षति एवं अपव्यय का किंवा आवेग, प्रयास या परिश्रम के पूर्ववर्ती कारण और भावी फल तथा यथायथ अवस्थाओं का कुछ भी विचार नहीं किया जाता, वह कर्म तामसिक होता है। जिस कर्म को मनुष्य कामना के वशीभूत होकर केवल कर्म और उसके प्रत्याशित फल पर ही दृष्टि जमाये हुए या अपने कर्मगत व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अहंमूलक भाव रखते हुए संपन्न करता है वह राजसिक कर्म है, वह अपरिमित प्रयत्न एवं तीव्र परिश्रम के साथ तथा अपनी काम्य वस्तु की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत संकल्प के अत्यंत कृच्छ्र आयास-प्रयास के द्वारा किया जाता है। जिस कर्म को मनुष्य शान्त भाव से, बुद्धि और ज्ञान के निर्मल प्रकाश में, न्याय्य या कर्तव्य कर्म के सम्बन्ध में या किसी आदर्श की मांग के विषय में एक निर्वैयक्तिक भावना को लेकर सम्पन्न करता है, जिसे वह इस भाव से करता है कि यह एक करणीय कर्म है भले ही इस लोक में या किसी अन्य लोक में उसे इसका कोई भी फल क्यों

न प्राप्त हो, वह सात्त्विक कर्म है। वह बिना आसक्ति के, कर्म के उत्साह-जनक या विरक्तिजनक रूप के प्रति कोई रुचि या अरुचि न रखते हुए, केवल अपनी तर्कणा और न्याय-भावना की संतुष्टि के लिए तथा विशद बुद्धि, प्रदीप्त संकल्प, शुद्ध एवं निःस्वार्थ मन और उच्च एवं नित्यतृप्त आत्मा की संतुष्टि के लिए किया जाता है। सत्त्व की चरम परिणति की सीमा पर यह रूपांतरित होकर एक उच्चतम निर्वैयक्तिक कर्म बन जायगा जो पहले की तरह बुद्धि के द्वारा नहीं बल्कि हमारी अंतःस्थ आत्मा के द्वारा आदिष्ट होगा, एक ऐसा कर्म बन जायगा जो प्रकृति के परमोच्च धर्म के द्वारा प्रेरित होगा, निम्न अहं और उसके हलके या भारी बोझ से मुक्त होगा, यहाँतक कि सर्वोत्तम सम्मति, उत्कृष्टतम कामना, शुद्धतम व्यक्तिगत संकल्प या उच्चतम मानसिक आदर्श के सीमाबंधनों से भी विमुक्त होगा। वहाँ इनमें से कोई भी बाधा नहीं रहेगी ; इनके स्थान पर प्रतिष्ठित होगा एक विशद आध्यात्मिक आत्म-ज्ञान और प्रकाश, कर्म करने-वाली निर्भ्रांत शक्ति का तथा जगत् के लिए और जगदीश्वर के लिए किये जाने योग्य कर्म का एक अलंघ्य अंतरंग अनुभव।

तामसिक कर्त्ता वह है जो वस्तुतः कर्म में चित्त नहीं लगाता, बल्कि यांत्रिक मन से कर्म करता है, अथवा साधारण जनता के अत्यंत असंस्कृत विचार का अनुसरण करता है, सामान्य ढर्रे पर चलता रहता है या अंध भ्रांति और पूर्व-ग्रह में अत्यासक्त होता है। वह मूढ़ता पर अड़ा रहता है, भ्रांति पर दृढ़ाग्रह करता है और अपने अज्ञानमय कर्म पर मूर्खतापूर्ण गर्व करता है, उसके अन्दर संकीर्ण और कुटिल धूर्तता सच्ची बुद्धि का स्थान ले लेती है ; जिन लोगों से उसका वास्ता पड़ता है उनके प्रति, विशेषकर अपनेसे अधिक बुद्धिमान् एवं श्रेष्ठ लोगों के प्रति उसके अन्दर मूढ़ एवं धृष्टतापूर्ण घृणा होती है। जड़तापूर्ण आलस्य, मंदता, दीर्घसूत्रता, शिथिलता, उत्साह या सद्हृदयता का अभाव उसके कर्म के लक्षण होते हैं। तामसिक मनुष्य साधारणतः कर्म करने में मन्थर, मंदगति और सहज-विषादी होता है, यदि कोई कार्य उसके सामर्थ्य, प्रयत्न या धैर्य पर जोर डालता है तो वह उसे शीघ्र ही छोड़ देने के लिए तैयार रहता है। उधर, राजसिक कर्ता वह होता है जो कर्म में आतुरतापूर्वक आसक्त रहता है, उसे जल्दी से समाप्त करने पर तुला होता है, फल, पुरस्कार और परिणाम के लिए तीव्र रूप से उत्कंठित रहता है, हृदय से लोभी और मन से अपवित्र होता है, जिन साधनों का वह प्रयोग करता है उनमें वह प्रायः उग्र, क्रूर और पाशविक होता है। जबतक उसे अपने अभीष्ट की प्राप्ति होती रहती है, उसकी कामना-वासना की पूर्ति तथा उसके अहं की मांगों का समर्थन होता रहता है तबतक वह

इस बात की कुछ परवा नहीं करता कि वह किसे हानि पहुँचाता है या दूसरों की कितनी हानि करता है। सफलता में वह हर्ष के मारे फूला नहीं समाता, विफलता में वह बुरी तरह से व्यथित और आहत होता है। सात्त्विक कर्ता इस सब आसक्ति, इस अहंता, इस उग्र बल या आवेशात्मक दुर्बलता से मुक्त होता है ; उसका मन एवं इच्छाशक्ति ऐसी होती है जो सफलता से फूल नहीं जाती, विफलता से विषण्ण नहीं होती ; जो कर्म करना होता है उसमें वह दृढ़ निर्वैयक्तिक संकल्प, शान्त सदुद्योग या उच्च, शुद्ध, निःस्वार्थ उत्साह से पूर्ण होती है। सत्त्व की चरम रेखा पर और उसके परे यह संकल्प, उद्योग और उत्साह आध्यात्मिक तपस् की स्वयं-स्फूर्त क्रिया बन जाते हैं और अन्त में तो ये एक उच्चतम आत्मबल, साक्षात् भगवत्-शक्ति, मानव-यंत्र में दैवी शक्ति की बलशाली और दृढ़-स्थिर गति, द्रष्टृ संकल्प एवं विज्ञानमय मनीषा के स्वयं सुनिश्चित पग और इसके साथ ही मुक्त प्रकृति के कर्मों में स्वतंत्र आत्मा का विशाल आनंद बन जाते हैं।

सज्ञान संकल्प से युक्त बुद्धि एक मानुषी संपदा है और यह मनुष्य के अन्दर जिस रूप में या जितनी मात्रा में होती है उसीके अनुसार उसमें कार्य करती है और उसीके अनुसार ही यह मनुष्य के मन की भाँति यथायथ या विकृत, आच्छन्न या आलोकित, संकीर्ण और क्षुद्र या विशाल एवं व्यापक होती है। उसकी प्रकृति की बुद्धि-शक्ति, **'बुद्धि'** ही उसके लिए कर्म का चुनाव करती है अथवा बहुधा यह उसकी जटिल सहजात प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों, विचारों और कामनाओं के अनेक सुझावों में से किसी एक या दूसरे का समर्थन करती है तथा उसे अनुमति प्रदान करती है। यही उसके लिए युक्त या अयुक्त, कर्तव्य या अकर्तव्य, धर्म या अधर्म का निर्णय करती है। और **'धृति'**, अर्थात् संकल्प की दृढ़ता मानसिक प्रकृति की वह अनवच्छिन्न शक्ति है जो कर्म को धारण करती तथा उसे संगति और दृढ़ता प्रदान करती है। यहाँ भी त्रिगुण का प्रभाव देखने में आता है। तामसिक बुद्धि एक मिथ्या, अज्ञ, तमसाच्छन्न करण है जो हमें सब चीजों को मलिन और भ्रांत प्रकाश में तथा अयथार्थ धारणाओं के कुहासे में देखने के लिए बाध्य करता है ; वह वस्तुओं और व्यक्तियों के मूल्य-महत्त्व की मूर्खतापूर्वक उपेक्षा कर देती है। इस प्रकार की बुद्धि प्रकाश को अंधकार और अंधकार को प्रकाश कहती है, जो धर्म सत्य नहीं है उसे ग्रहण कर लेती तथा उसे धर्म के रूप में प्रस्थापित करती है, जिस कार्य को करना उचित नहीं उसपर अड़ी रहती है और हमारे सामने उसका इस रूप में समर्थन करती है कि यही एकमात्र यथार्थ कर्तव्य है। इसका अज्ञान अजेय है और इसकी धृति या संकल्पगत दृढ़ता अपने अज्ञान की संतुष्टि एवं उसके जड़ अहंकार को दृढ़ता से पकड़े रहने में ही

है। यह सब इसकी अंध क्रिया का पहलू है ; पर साथ ही जड़ता और क्लीवता का भारी दबाव, निर्जीवता और निद्रा में आसक्ति, मानसिक परिवर्तन और उन्नति में अरुचि, जो भय, शोक और विषाद हमारी प्रगति को रोकते हैं अथवा हमें हीनता, दुर्बलता और कायरता से भरे मार्गों में ही फंसाये रखते हैं उनके विषय में मन की उधेड़बुन—ये सब चीजें तामसिक संकल्प और बुद्धि के पीछे लगी रहती हैं। इसके लक्षण हैं—भीरुता, कातरता, छल-चातुरी, अलसता, अपने भयों, मिथ्या संदेहों, सतर्कताओं एवं कर्तव्य-विमुखताओं का और हमारी उच्चतर प्रकृति की पुकार से च्युति एवं पराङ्मुखता का मन के द्वारा समर्थन, न्यूनतम प्रतिरोधवाली दिशा का सुरक्षित अनुसरण जिससे कि हमें अपने परिश्रम का फल अर्जित करने में कष्ट, क्लेश और संकट कम-से-कम हो—यह कहती है कि चाहे कोई भी फल न मिले या केवल कोई अति तुच्छ फल ही मिले पर कोई महान् एवं श्रेष्ठ पुरुषार्थ या कठोर एवं संकटपूर्ण परिश्रम और साहस-कार्य न करना पड़े।

राजसिक बुद्धि जब भ्रांति और अशुभ के लिए ही भ्रांति और अशुभ का चुनाव जान-बूझकर नहीं करती तब वह धर्म और अधर्म तथा कर्तव्य और अकर्तव्य में विभेद कर तो सकती है, पर ऐसा वह यथायथ रूप से नहीं बल्कि उनके यथार्थ मानों को तोड़-मरोड़कर तथा उनके मूल्यों को निरन्तर विकृत करके ही करती है और इसका कारण यह है कि इसका तर्क और संकल्प अहं का तर्क और कामना का संकल्प होते हैं और अहंता तथा कामना की ये शक्तियाँ अपने अहंमूलक उद्देश्य की सिद्धि के लिए सत्य और धर्म को अयथावत् निरूपित करती हैं तथा उन्हें विकृत कर देती हैं। जब हम अहं और कामना से मुक्त होकर, केवल सत्य और उसके परिणामों से ही सम्बन्ध रखते हुए शान्त, शुद्ध, निःस्वार्थ मन के द्वारा धीर-स्थिर भाव से वस्तुओं पर दृष्टिपात करते हैं केवल तभी हम उन्हें सही रूप से तथा उनके यथार्थ मूल्यों सहित देखने की आशा कर सकते हैं। परन्तु राजसिक संकल्प-शक्ति अपने स्वार्थ एवं सुख का और जिसे वह धर्म एवं न्याय समझती है या समझना पसंद करती है उसका अनुसरण करती हुई अपनी आसक्तिपूर्ण आकांक्षाओं एवं कामनाओं की तृप्ति पर ही अपना ध्यान दृढ़तापूर्वक लगाये रहती है। इसकी प्रवृत्ति सदा इसी ओर होती है कि इन चीजों को ऐसा रूप दे दे जो इसकी अपनी कामनाओं का सर्वाधिक अनुरंजन तथा समर्थन करनेवाला हो और साथ ही, जो साधन इसे अपने कर्म और प्रयत्न का ईप्सित फल प्राप्त करने में सर्वोत्तम रूप से सहायता देते हों उन्हें यथार्थ या समुचित उद्घोषित करे। मानवीय बुद्धि और संकल्प के संपूर्ण असत्य और अनाचार में से तीन चौथाई का कारण

यही है। प्राणिक अहं पर प्रबल आधिपत्य रखनेवाला रजस् महान् पापी और सुनिश्चित कुमार्गदर्शक है।

विश्व की गति, प्रवृत्ति और निवृत्ति का विधान, कर्तव्य और अकर्तव्य कर्म, जीव के लिए क्या निरापद है और क्या विपत्संकुल, किस चीज से डरने और पीछे हटने की जरूरत है और किस चीज का संकल्प के द्वारा आलिंगन करने की आवश्यकता है, कौन-सी वस्तु मनुष्य की आत्मा को बांधती है और कौन उसे बंधन से मुक्त करती है—इन सबको सात्त्विक बुद्धि इनके यथार्थ स्थान, यथार्थ रूप और यथार्थ मान में देखती है। अपने प्रकाश की मात्रा के अनुसार, उच्चतम पुरुष एवं आत्मा की ओर अपने ऊर्ध्वमुख आरोहण में यह विकास की जिस अवस्था तक पहुँची है उसके अनुसार यह अपने सचेतन संकल्प की दृढ़ता के द्वारा इन्हीं चीजों का अनुसरण या वर्जन करती है। अभीप्साशील बुद्धि जब साधारण तर्कबुद्धि एवं मानसिक संकल्प से परे की वस्तुओं पर स्थिर रूप से एकाग्र हो जाती है, शिखरों की ओर उन्मुख रहती है, इन्द्रियों और प्राण के स्थिर नियंत्रण, मनुष्य की उच्चतम आत्मा, विश्वमय भगवान् एवं विश्वातीत आत्म-तत्त्व के साथ योग-युक्त होने में प्रवृत्त रहती है तब इसकी उस उच्च धृति के द्वारा सात्त्विक बुद्धि की चरम परिणति उपलब्ध होती है। सत्त्वगुण के द्वारा वहाँ पहुँचने पर ही मनुष्य गुणों को पार कर सकता है, मन और उसकी संकल्प-शक्ति एवं बुद्धि की सीमाओं के परे आरोहण कर सकता है और स्वयं सत्त्व भी उस तत्त्व में विलीन हो सकता है जो गुणों के ऊपर तथा इस यंत्रात्मक प्रकृति के परे है। वहाँ जीव ज्योति में सुप्रतिष्ठित तथा आत्मा अध्यात्म-सत्ता एवं भगवान् के साथ अविचल एकत्व के पद पर अधिरूढ़ हो जाता है। उस शिखर पर पहुँचकर हम अपने अंगों में दिव्य क्रिया की मुक्त स्वच्छंदता के साथ प्रकृति को परिचालित करने का भार परम देव के ऊपर छोड़ सकते हैं : क्योंकि वहाँ न तो कोई ऐसी अयुक्त या अस्त-व्यस्त क्रिया होती है और नहीं भ्रांति या अक्षमता का कोई ऐसा तत्त्व होता है जो आत्मा की ज्योतिर्मय सिद्धि एवं शक्ति को तमसाच्छन्न या विकृत कर सके। इन सब निम्न अवस्थाओं, निम्न धर्मों का हमपर कोई प्रभुत्व नहीं रहता ; अनंत भगवान् मुक्त पुरुष के अन्दर कर्म करते हैं, वहाँ मुक्त आत्मा के अमर सत्य और धर्म के सिवाय और कोई धर्म नहीं होता, कोई कर्म तथा किसी प्रकार का बन्धन नहीं होता।

सात्त्विक मन और प्रकृति के विशिष्ट गुण होते हैं सुसंगति और व्यवस्था,—अचंचल सुख, स्थिर और प्रसादपूर्ण संतोष, आभ्यंतरिक शान्ति और निवृति। निःसंदेह, सुख ही वह एकमात्र वस्तु है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमारी मानव-

प्रकृति का सार्वजनीन लक्ष्य है,—भले ही वह सुख हो या उसका आभास या उसकी कोई प्रतिकृति, मन, संकल्प-शक्ति, प्राणिक वासना या देह का कोई ऐश-आराम, भोग या तृप्ति। दुःख एक ऐसा अनुभव है जिसे हमारी प्रकृति अनिच्छा-पूर्वक, विश्व-प्रकृति की एक आवश्यकता, एवं एक अपरिहार्य घटना के रूप में स्वीकार करने को बाध्य होती है, या फिर वह इसे हमारी अभिलषित वस्तु के साधन के रूप में स्वेच्छापूर्वक भी अंगीकार करती है, पर वैसे दुःख कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे कोई स्वयं दुःख के लिए ही चाहता हो,—उस अवस्था की बात दूसरी है जब कि कोई विकृत चित्त के साथ इसकी चाहना करता है अथवा, इससे उत्पन्न होनेवाले उत्कट सुख या प्रचण्ड बल का कुछ स्पर्श पाने के लिए दुःख भोगने का तीव्र उत्साह रखते हुए, एक काम्य वस्तु के रूप में इसकी कामना करता है। परंतु हमारी प्रकृति में जिस गुण की प्रधानता होती है उसके अनुसार सुख या भोग-विलास भी अनेक प्रकार का होता है। इस प्रकार तामसिक मन अपनी अलसता और जड़ता में, तन्द्रा एवं निद्रा में और अंधता एवं भ्रांति में सुसंतुष्ट रह सकता है। प्रकृति ने इसे मूढ़ता और अज्ञता में, गुहा के क्षीण आलोक, जड़ संतोष, क्षुद्र या निकृष्ट हर्षों एवं स्थूल सुखों में ही संतृप्त रहने का विशेष सौभाग्य प्रदान किया है। इस सुख-संतोष के आरंभ में भी मोह है और परिणाम में भी, पर फिर भी गुहा के निवासी को अपनी मोह-भ्रांतियों में एक तामसिक सुख प्राप्त रहता है जो किसी भी प्रकार सराहनीय न होता हुआ भी उसके लिए यथेष्ट होता है। तमस् और अज्ञान पर आधारित एक तामसिक सुख का भी अस्तित्व है।

राजसिक मनुष्य का मन एक अधिक उग्र और मादक प्याले का रसास्वादन करता है; शरीर और इंद्रियों का तथा इंद्रियासक्त या प्रचंड-गतिमय संकल्प एवं बुद्धि का तीव्र, चंचल एवं सक्रिय सुख ही उसके लिए जीवन का समस्त आनंद और जीवन-धारण का वास्तविक अर्थ होता है। प्रथम स्पर्श में तो यह सुख अधरों के लिए सुधामय होता है, परंतु प्याले के तल में एक प्रच्छन्न विष रखा होता है और पीने के बाद इसका परिणाम होता है निराशा की कटुता, वितृष्णा, क्लान्ति, विद्रोह, विराग, पाप, यातना, हानि, अनित्यता। और ऐसा होना अनिवार्य ही है क्योंकि इन सुखों के बाह्य रूप वे चीजें नहीं हैं जिन्हें हमारी अंतरस्थ आत्मा सचमुच में जीवन से प्राप्त करना चाहती है; बाह्य रूप की नश्वरता के पीछे और परे भी कोई चीज है; कोई चिरस्थायी, संतोषप्रद और स्वतःपर्याप्त वस्तु भी है। अतएव, सात्त्विक प्रकृति जिस चीज को प्राप्त करना चाहती है वह है उच्चतर मन तथा अंतरात्मा की परितृप्ति और जब वह एक बार अपनी खोज का यह बृहत् लक्ष्य प्राप्त कर लेती है तो अंतरात्मा का शुद्ध और निर्मल सुख, पूर्णता

की एक अवस्था, स्थायी शांति और निर्वृत्ति प्राप्त हो जाती है। यह अध्यात्म-सुख बाह्य वस्तुओं पर निर्भर नहीं करता, बल्कि यह निर्भर करता है केवल हमारे अपने ऊपर और साथ ही हमारे अंदर जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ तथा अंतरतम है उसके प्रस्फुटन के ऊपर। परंतु शुरू-शुरू में यह सुख हमारी सामान्य संपदा नहीं होता ; इसे आत्म-साधना, आत्मिक पुरुषार्थ और उच्च एवं कठोर प्रयास के द्वारा अर्जित करना होता है। आरंभ में इसका अर्थ होता है अभ्यस्त सुख की अत्यधिक हानि, बहुत अधिक कष्ट और संघर्ष हमारी प्रकृति के मंथन से, शक्तियों के दुःखदायी संघर्ष से उत्पन्न हलाहल, हमारे अंगों की दुष्प्रवृत्ति या प्राणिक चेष्टाओं के आग्रह के कारण परिवर्तन के प्रति अत्यधिक विद्रोह और विरोध, परंतु अंत में इस कटु गरल के स्थान पर अमृतत्व की सुधा समुद्भूत होती है और जैसे-जैसे हम उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृति की ओर आरोहण करते जाते हैं वैसे-वैसे हमारे दुख का अंत होता जाता है, शोक-संताप का अनायास ही लोप होता जाता है। यही वह निरतिशय सुख है जो सात्त्विक साधना की परिणति की चरम चूड़ा या सीमा पर हमारे ऊपर अवतरित होता है।

सात्त्विक प्रकृति का आत्म-अतिक्रमण केवल तभी संपन्न होता है जब हम महान् पर अभी भी अपेक्षाकृत हीन सात्त्विक सुख से परे, मानसिक ज्ञान और पुण्य एवं शांति से मिलनेवाले सुखों से परे जाकर आत्मा की शाश्वत शांति और दिव्य एकत्व का आध्यात्मिक परमानंद प्राप्त कर लेते हैं। वह आध्यात्मिक सुख तब सात्त्विक 'सुख' न रहकर परिपूर्ण आनंद हो जाता है। आनंद ही वह गुप्त तत्त्व है जिससे सब वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं, जिसके द्वारा सब वस्तुएँ जीवित रहती हैं और जिसकी ओर वे अपनी आध्यात्मिक परिणति के समय उन्नीत हो सकती हैं। उस आनंद की उपलब्धि केवल तभी हो सकती है जब मुक्त व्यक्ति अहंकार और उसकी कामनाओं से मुक्त होकर, अंततोगत्वा अपने उच्चतम आत्मा से, सर्व भूतों से तथा परमेश्वर से एकीभूत होकर अध्यात्मसत्ता के पूर्णतम आनंद में निवास करता है।

स्वभाव और स्वधर्म[1]

तब, इस त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति से त्रिगुणातीत दिव्य परा प्रकृति की ओर जीव के मोक्षजनक विकास के द्वारा ही हम, सर्वोत्तम रूप से, आध्यात्मिक मुक्ति और पूर्णता लाभ कर सकते हैं। और जब उच्चतम सत्त्वगुण विकसित होते-होते अपनी प्रधानता के उस शिखर पर पहुँच जाय जहाँ यह (सत्त्व) स्वयं भी अतिक्रांत हो जाता है, अपनी सीमाओं के परे आरोहण कर चिन्मय आत्मा की उस परम स्वतंत्रता, परिपूर्ण ज्योति तथा प्रशांत शक्ति में जा पहुँचता है जिसमें परस्पर-विरोधी गुणों के द्वारा किसी भी प्रकार का निर्धारण नहीं होता, तभी यह विकास भी सर्वश्रेष्ठ रूप में संपन्न हो सकता है। बंधनमुक्त बुद्धि में हम अपनी जिन आंतरिक संभावनाओं की सृष्टि कर सकते हैं उनकी उच्चतम मानसिक परिकल्पना के अनुसार हमारे वर्तमान स्वरूप का नव-निर्माण करनेवाला एक सर्वोच्च सात्विक श्रद्धा-विश्वास एवं उद्देश्य ही उक्त त्रिगुण-अतिक्रमण के द्वारा परिवर्तित होकर हमारी अपनी वास्तविक सत्ता के अंतर्दर्शन में, आध्यात्मिक आत्म-ज्ञान में परिणत हो जाता है। धर्म का उच्चतम आदर्श या प्रतिमान, अपनी प्राकृत सत्ता के यथार्थ विधान का अनुसरण एक मुक्त सुनिश्चित स्वयं-स्थित पूर्णता में रूपांतरित हो जाता है जिसमें आदर्शों के सभी सहारों को अतिक्रम कर लिया जाता है और अमर आत्मा एवं अध्यात्म-सत्ता का स्वतः-स्फूर्त धर्म हमारी सत्ता के करणों और अंगों के निम्नतर नियम को पदच्युत कर देता है। सात्त्विक मन और संकल्प एक और अभिन्न सत्ताके उस आध्यात्मिक ज्ञान एवं कर्मशक्ति में परिणत हो जाते हैं जिसमें संपूर्ण प्रकृति अपना छद्मरूप उतार फेंकती है और अपने अंतरस्थ परमेश्वर की स्वतंत्र आत्म-अभिव्यक्ति बन जाती है। सात्त्विक कर्ता अपने उद्गम के साथ संयुक्त, पुरुषोत्तम के साथ एकीभूत जीव बन जाता है; वह तब और कर्म का वैयक्तिक कर्त्ता नहीं रहता वरन् विश्वातीत एवं विश्वगत परमात्मा के कर्मों का आध्यात्मिक यंत्र बन जाता है। उसकी प्रकृतिगत सत्ता रूपांतरित और ज्ञानदीप्त होकर विश्वगत एवं निर्वैयक्तिक कर्म

१. गीता १८, ४०-४८

का यंत्र, दिव्य धनुर्धर का धनुष बनी रहती है। जो पहले सात्त्विक कर्म था वह अब पूर्णताप्राप्त प्रकृति की एक मुक्त क्रिया बन जाती है जिसमें अब पहले की तरह कोई व्यक्तिगत अपूर्णता नहीं रहती, इस या उस गुण के प्रति कोई आसक्ति, पाप और पुण्य, स्व और पर का कोई बंधन, या परम आध्यात्मिक आत्म-निर्धारण को छोड़कर और कोई निर्धारण नहीं रहता। ईश्वरान्वेषी एवं आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा उन अनन्य दिव्य कर्मी भगवान् की ओर ऊँचे उठा ले जाये गये कर्मों की चरम परिणति यही है।

परंतु अभी एक प्रासंगिक प्रश्न शेष है जो प्राचीन संस्कृति में अत्यधिक महत्त्व रखता था और जो, उस प्राचीन मत को अगर छोड़ भी दिया जाय तो भी, सर्व-साधारण दृष्टि से काफी अधिक महत्त्वपूर्ण है। हम देख आये हैं कि गीता इस विषय पर सरसरी तौर पर पहले भी दो-एक शब्द कह चुकी है और अब यहाँ इसकी चर्चा का उपयुक्त प्रसंग आया है। सामान्य स्तर पर समस्त कर्म त्रिगुण के द्वारा निर्धारित होता है; जो कर्म हमें करना ही चाहिये वह, **'कर्तव्यं कर्म'**, तीन प्रकार का है —दान, तप और यज्ञ, और इन तीन में से कोई भी या ये सभी किसी गुण का स्वभाव धारण कर सकते हैं। अतएव हमें इन चीजों को इनके सामर्थ्यानुसार उच्चतम सात्त्विक शिखर तक ऊँचा उठाते हुए ही आगे बढ़ना होगा और फिर उस शिखर से और भी परे उस विशालता की ओर जाना होगा जिसमें सभी कर्म एक मुक्त आत्म-दान, दिव्य तप की एक शक्ति, आध्यात्मिक जीवन का एक नित्य यज्ञ बन जाते हैं। परंतु यह एक सर्वसामान्य नियम है और इन सब विवेचनों के द्वारा सर्वथा व्यापक सिद्धांतों की ही व्याख्या की गयी है, ये सब कर्मों और सब मनुष्यों पर समान रूप से, बिना किसी भेदभाव के लागू होते हैं, आध्यात्मिक विकास के द्वारा अंत में सभी इस प्रबल अनुशासन, इस विशाल पूर्णता, इस उच्चतम आध्यात्मिक अवस्था तक पहुँच सकते हैं। परंतु जहाँ मन और कर्म का सर्वसाधारण नियम सभी मनुष्यों के लिए एक-सा है, वहाँ हम यह भी देखते हैं कि वैविध्य का भी एक शाश्वत नियम है और प्रत्येक व्यक्ति मानवीय आत्मा, मन, संकल्प-शक्ति और प्राण के सार्वभौम नियमों के अनुसार ही नहीं अपितु अपनी प्रकृति के अनुसार भी कर्म करता है; प्रत्येक मनुष्य अपनी परि-स्थितियों, क्षमताओं, प्रवृत्ति, चारित्र्य एवं शक्ति-सामर्थ्य के नियम के अनुसार विभिन्न कर्तव्यों को पूर्ण करता या विभिन्न दिशा का अनुसरण करता है। अध्यात्म-साधना में इस वैविध्य को, प्रकृति के इस व्यक्तिगत नियम को क्या स्थान देना चाहिए?

गीता ने इस बात पर कुछ बल दिया है, यहाँतक कि इसे एक बड़ा भारी

प्रारंभिक महत्त्व भी दिया है। अपने उपक्रम में ही उसने कहा कि है क्षत्रिय का स्वभाव, विधान और कर्तव्य ही अर्जुन के कर्म का निज विधान है, उसका **'स्वधर्म'**[1] है, इसके आगे उसने स्पष्ट एवं बलपूर्ण शब्दों में इस बात का प्रतिपादन किया है कि अपने स्वभाव, अपनी सत्ता के विधान एवं कर्तव्य का पालन और अनुसरण अवश्य करना चाहिए,—वह सदोष होता हुआ भी दूसरे की प्रकृति के स्वनुष्ठित विधान से कहीं अधिक श्रेयस्कर है। परधर्म में विजय-लाभ की अपेक्षा स्वधर्म में मृत्यु मनुष्य के लिए कहीं अधिक अच्छी है। परधर्म का अनुसरण अंतरात्मा के लिए भयावह[2] है, हम कह सकते हैं कि यह उसके विकास की स्वाभाविक प्रणाली के विरुद्ध होता है, एक ऐसी वस्तु होता है जो उसपर यांत्रिक रूप में लादी जाती है और इसीलिये जो बाहर से आयात एवं कृत्रिम तथा आत्मा के सच्चे स्वरूप की ओर हमारे विकास के लिये विनाशकारी होती है। जो कुछ सत्ता के अंदर से उद्‌भूत होता है वही यथार्थ और स्वास्थ्यकर वस्तु है, यथायथ प्रवृत्ति है, न कि वह जो बाहर से उसपर लादा जाता है अथवा प्राण की चालनाओं या मन की भ्रांति के द्वारा उसपर थोपा जाता है। प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति के **'चातुर्वर्ण्य'** के कर्म में बाह्य रूप से इस स्वधर्म के चार सामान्य विभाग निरूपित किये गये हैं। गीता कहती है कि यह वर्णव्यवस्था भागवत विधान के अनुरूप है, "इसकी सृष्टि गुणों और कर्मों के विभाग के अनुसार मैंने ही की थी"[3]—जगत् के प्रभु ने ही आदिकाल से इसकी सृष्टि कर रखी है। दूसरे शब्दों में, सक्रिय प्रकृति की चार सुस्पष्ट श्रेणियाँ हैं, अथवा प्रकृतिगत जीव के चार मूल रूप या **'स्वभाव'** हैं, और प्रत्येक मनुष्य का कर्म एवं उपयुक्त कार्य उसके विशिष्ट स्वभाव के अनुरूप होता है। तदनंतर अंतिम रूप से, सूक्ष्मतर ब्योरों के साथ इसकी व्याख्या की गयी है। गीता कहती है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म उनकी अपनी-अपनी आभ्यंतरिक प्रकृति, उनके आध्यात्मिक चारित्र्य एवं मूल स्वरूप, **'स्वभाव'** से उत्पन्न गुणों के अनुसार पृथक्-पृथक् विभक्त हैं। शम, दम, तप, शौच, सहिष्णुता, ऋजुता, ज्ञान-विज्ञान, आस्तिकता (आध्यात्मिक सत्य की स्वीकृति) ब्राह्मण के स्वभावज कर्म हैं। शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में अपराङ्मुखता, दान, ईश्वरभाव (शासक एवं नेताका स्वभाव) क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य जिसमें शिल्पी और कारीगर के व्यवसाय भी सम्मिलित हैं, वैश्य के स्वभावजात कर्म हैं। सब प्रकार का सेवा-

---

१. २, ३१—स्वधर्ममपि चावेक्ष्य।

२. ३, ३५

३. ४, १३

रूपी कर्म शुद्र के स्वाभाविक कर्म के अंतर्गत है। इसके आगे गीता कहती है कि जो मनुष्य जीवन में अपने स्वाभाविक कर्म में निरत रहता है वह आध्यात्मिक सिद्धि लाभ करता है, पर निःसंदेह वह स्वयं उस कर्म ही के द्वारा सिद्धि नहीं प्राप्त करता बल्कि केवल तभी प्राप्त करता है यदि वह उसे यथार्थ ज्ञान एवं यथार्थ उद्देश्य के साथ संपन्न करे, यदि वह उसे इस सृष्टि की परम आत्मा की पूजा का रूप दे सके तथा जिन विश्वेश्वर से कर्म की समस्त प्रेरणा उद्भूत होती है उनके प्रति उसे सच्चाई के साथ अर्पित कर सके। समस्त प्रयास, समस्त कार्य-व्यापार, वह चाहे कुछ भी क्यों न हो, कर्मों के इस समर्पण के द्वारा उत्सर्गपूत किया जा सकता है, वह हमारे जीवन को हमारे अंदर और बाहर अवस्थित परमेश्वर के प्रति आत्म-दानमें परिणत कर सकता है और स्वयं भी अध्यात्म-सिद्धि के साधन में परिणत हो जाता है। परंतु जो कर्म मनुष्य का अपना स्वाभाविक कर्म नहीं होता, वह चाहे अच्छी तरह से ही क्यों न संपन्न किया जाय, बाह्य एवं यांत्रिक कसौटी से जाँचने पर वह बाहर से श्रेष्ठतर ही क्यों न दीख पड़े अथवा जीवन में अपेक्षाकृत अधिक सफलता की ओर ही क्यों न ले जाय, फिर भी आभ्यंतरिक विकास के साधन के रूप में वह निकृष्ट कोटि का ही होता है, और इसका कारण ठीक यही है कि उसका उद्देश्य बाह्य होता है तथा उसकी प्रेरणा यांत्रिक। अपना स्वभावज कर्म किसी अन्य दृष्टिबिंदु से दोषपूर्ण ही क्यों न दिखायी दे फिर भी वह अधिक अच्छा है। जब मनुष्य कर्म की सच्ची भावना के साथ तथा अपनी निज प्रकृति के विधान (स्वधर्म) के अनुकूल कर्म करता है तो उसे कोई पाप या कलंक नहीं लगता। त्रिगुण के क्षेत्र में समस्त कर्म ही त्रुटिपूर्ण होता है, समस्त मानव-कर्म ही दोष, त्रुटि या न्यूनता से ग्रस्त होता है; पर इसके कारण अपने निज कर्म तथा स्वाभाविक कार्य का परित्याग कर देना हमारे लिए उचित नहीं। कर्म होना चाहिए यथायथ रूप से नियमित कर्म, **'नियतं कर्म'**, पर आभ्यंतरिक दृष्टि से अपना निज कर्म, अपने अंदर से विकसित, अपनी सत्ता के सत्य के साथ सुसंगत, स्वभाव के द्वारा नियत, **'स्वभावनियतं कर्म'**।

यहाँ गीता का ठीक आशय क्या है? आइये, पहले हम इसका बाह्यतर अर्थ देखें और इसपर विचार करें कि गीता ने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है उसे जाति और युग के विचारों ने क्या पुट दिया था—उसपर सांस्कृतिक परिवेष का क्या रंग चढ़ा हुआ है और उसका प्राचीन अर्थ क्या है। ये श्लोक तथा इसी विषय पर गीता ने पहले जो वचन कहे हैं वे जाति-भेद-विषयक आधुनिक शास्त्रार्थों में प्रमाणरूपेण उद्धृत किये जाते रहे हैं, कुछ लोगों ने तो इनकी इस प्रकार की व्याख्या की है कि ये वर्तमान प्रथा का समर्थन करते हैं, दूसरों ने इनका

प्रयोग जाति-भेद के आनुवंशिक आधार का खंडन करने के लिए किया है। पर वास्तव में गीता के श्लोकों का प्रचलित जाति-भेद के साथ कोई संबंध नहीं, क्योंकि यह चतुर्वर्ण के, अर्थात् आर्यजाति के चार सुनिर्दिष्ट वर्गों के प्राचीन सामाजिक आदर्श से अत्यंत भिन्न वस्तु है, और यह गीता के वर्णन के साथ किसी प्रकार भी मेल नहीं खाता। कृषि, गोपालन और प्रत्येक प्रकार के व्यापार को यहाँ वैश्य के कर्म बताया गया है; किंतु बाद की जाति-भेद-प्रथा में उन लोगों में से, जो व्यापार तथा पशु-पालन का कार्य करते थे, बहुतों को, शिल्पियों तथा छोटे-मोटे कारीगरों एवं अन्य कइयों को व्यवहारतः शूद्र-वर्ग में सम्मिलित किया गया है,—सो भी वहाँ जहाँ उन्हें चतुर्वर्ण के घेरे से बिलकुल बाहर ही नहीं कर दिया गया है,—और कुछ एक अपवादों को छोड़कर केवल वणिक-श्रेणी को ही वैश्य के रूप में परिगणित किया गया है, सो भी सर्वत्र नहीं। कृषि, शासन-कर्म और सेवा—इन धंधों को आज ब्राह्मण से लेकर शूद्र पर्यंत सभी वर्णों ने अपना लिया है। और, जहाँ कर्तव्य कर्म के आर्थिक विभागों में इतना अधिक घोटाला कर दिया गया है कि उनमें सुधार की कोई संभावना नहीं दीखती, वहाँ गुण के अनुसार कर्म का विधान परवर्ती जाति-भेद-प्रथा में और भी कम स्थान रखता है। उसमें तो सब कुछ एक कठोर आचार ही है जिसका वैयक्तिक प्रकृति की आवश्यकता से कुछ भी संबंध नहीं। उधर यदि हम इस विवाद के उस धार्मिक पहलू को लें जिसे जाति-भेद के समर्थकों ने प्रस्थापित किया है तो हम, निश्चय ही, गीता के शब्दों के साथ ऐसा कोई मूर्खतापूर्ण विचार नहीं जोड़ सकते कि मनुष्य की प्रकृति का धर्म यह है कि वह अपनी वैयक्तिक प्रवृत्ति एवं क्षमताओं का विचार किये बिना अपने माता-पिता या निकट या सुदूर पूर्व-पुरुषों के पेशे को ही अपनाये, ग्वाले का पुत्र ग्वाला ही बने और डाक्टर का पुत्र डाक्टर, चमारों की संतति कालचक्र के आवर्तन पर्यंत जूता ही बनाती रहे; फिर इस विचार को तो गीता पर और भी कम थोपा जा सकता है कि ऐसा करने से, व्यक्तिगत पुकार एवं व्यक्तिगत गुणों का ख्याल किये बिना दूसरे की प्रकृति के धर्म को इस प्रकार विवेक-रहित होकर यंत्रवत् दोहराते रहने से मनुष्य अपनी पूर्णता की ओर सहज ही अग्रसर होता है तथा आध्यात्मिक स्वातंत्र्य प्राप्त करता है। गीता के शब्द तो चतुर्वर्ण की प्राचीन व्यवस्था के उस रूप की ओर संकेत करते हैं जो अपनी आदर्श शुद्धावस्था में विद्यमान था या विद्यमान समझा जाता था, कई लोगों का कथन है कि (और यह कथन कुछ विवादग्रस्त है) यह व्यवस्था एक आदर्श या एक साधारण नियम के अतिरिक्त और कुछ कभी भी नहीं रही तथा व्यवहार में इसका अनुसरण न्यूनाधिक शिथिलता के साथ ही

किया जाता था,—हमें उसी प्रचलित व्यवस्था को दृष्टि में रखकर इसपर विचार करना चाहिए। यहाँ भी, इसका ठीक-ठीक बाह्य अर्थ समझने में अत्यधिक कठिनाई अनुभव होती है।

प्राचीन चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के तीन पहलू थे, सामाजिक एवं आर्थिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक। अपने आर्थिक पहलू की दृष्टि से यह समष्टि के अंदर सामाजिक मनुष्य के चार कर्तव्य स्वीकार करती थी, धार्मिक एवं बौद्धिक, राजनीतिक, आर्थिक और सेवात्मक। इस प्रकार चार प्रकार के कर्म हैं, धार्मिक पौरोहित्य, साहित्य, शिक्षा और ज्ञान का कर्म; शासन, राजनीति, प्रशासन और युद्ध का कर्म; उत्पादन, धनोपार्जन और विनिमय का कर्म; वैतनिक श्रम और सेवा का कर्म। चार सुस्पष्ट वर्गों के बीच इन चार कार्यों के वितरण के ऊपर समाज की संपूर्ण व्यवस्था को प्रतिष्ठित और सुस्थिर करने का यत्न किया गया। यह व्यवस्था भारत की कोई निराली विशेषता नहीं थी, बल्कि कुछ एक भेदों के साथ यह अन्य प्राचीन या मध्ययुगीन समाजों में भी सामाजिक विकास की एक अवस्था का प्रधान अंग थी। ये चार कर्म सभी सामान्य समाजों के जीवन में आजतक भी अनुस्यूत हैं, पर वे स्पष्ट विभाग अब कहीं नहीं दिखायी देते। पुरानी व्यवस्था सर्वत्र भंग हो गयी और उसके स्थान पर एक अधिक अस्थिर व्यवस्था या, जैसा कि हम भारत में देखते हैं, एक अस्त-व्यस्त एवं जटिल सामाजिक रूढ़ि एवं आर्थिक गतिहीनता का जन्म हुआ जो ह्रास को प्राप्त होकर जाति-संकर में परिणत हो गयी। इस आर्थिक कर्म-विभाग के साथ एक सांस्कृतिक विचार भी जुड़ा हुआ था जो प्रत्येक श्रेणी को उसका धार्मिक आचार, उसका मान-मर्यादा का नियम, नैतिक विधान, उपयुक्त शिक्षा और प्रशिक्षण, चारित्रिक विशेषता, कौटुम्बिक आदर्श एवं मर्यादा प्रदान करता था। जीवन के तथ्य सदा इस विचार के अनुरूप ही नहीं होते थे,—मानसिक आदर्श और प्राणिक एवं भौतिक व्यवहार के बीच एक विशेष खाई सदा ही देखने में आती है,—परंतु यथासंभव एक वास्तविक संगति बनाये रखने के लिए अनवरत और कठोर प्रयत्न किया जाता था। इस प्रयत्न का महत्त्व, और भूतकाल में सामाजिक मनुष्य के प्रशिक्षण के लिए इसने जिस सांस्कृतिक आदर्श एवं वातावरण की सृष्टि की उसका महत्त्व जितना भी बखाना जाय, थोड़ा है; परंतु आज एक ऐतिहासिक, भूतकालिक एवं विकासात्मक अर्थ से अधिक इसका कुछ महत्त्व नहीं। अंतिम बात यह है कि जहाँ कहीं यह वर्ण-प्रथा विद्यमान थी, वहाँ इसे कम या अधिक, एक धार्मिक समर्थन प्राप्त था (पूर्व में अधिक और यूरोप में बहुत कम) और भारत में तो इसकी एक गंभीरतर

आध्यात्मिक उपयोगिता एवं अर्थवत्ता भी स्वीकार की जाती थी। यह आध्यात्मिक अर्थ ही गीता की शिक्षा का वास्तविक सार है।

गीता की रचना के समय यह प्रथा विद्यमान थी और इसका आदर्श भारतीय मन पर अधिकार किये हुए था। गीता ने उस आदर्श एवं प्रथा तथा उसकी धार्मिक मान्यता दोनों को स्वीकार किया। श्रीकृष्ण कहते हैं, "मैंने ही गुण-कर्म-विभाग के अनुसार चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की है।"[1] केवल इसी उक्ति के बल पर पूर्ण रूप से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि गीता इस प्रथा को सनातन एवं सार्वभौम सामाजिक व्यवस्था मानती थी। अन्य प्राचीन शास्त्र इसे स्वीकार नहीं करते थे ; वरंच, वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि आदिकाल में इसका अस्तित्व नहीं था तथा विकास के परवर्ती युग में इसका अंत हो जायगा। तथापि इस उक्ति से हम इतना तो समझ सकते हैं कि सामाजिक मनुष्य का चतुर्विध कर्तव्य प्रत्येक समाज की आभ्यंतरिक और आर्थिक आवश्यकताओं में सामान्य रूप से अंतर्निहित माना जाता था और अतएव इसे मानव के समष्टिगत एवं व्यष्टिगत जीवन में व्यक्त होनेवाले परमात्मा का विधान समझा जाता था। गीता की यह पंक्ति वास्तव में वैदिक पुरुष-सूक्त के सुप्रसिद्ध प्रतीक का एक बौद्धिक रूपांतर है। तब भला इन चतुर्विध कार्यों का स्वाभाविक आधार एवं व्यावहारिक रूप क्या होना चाहिए? प्राचीन समय में आनुवंशिकता का सिद्धांत ही व्यावहारिक आधार बन गया था। इसमें संदेह नहीं कि आरंभ में मनुष्य का सामाजिक कार्य और पद परिस्थिति, अवसर, जन्म और सामर्थ्य के द्वारा ही निर्धारित होते थे जैसा कि स्वतंत्रतर तथा अपेक्षाकृत अव्यवस्थित समाजों में आज भी देखने में आता है। परंतु क्योंकि श्रेणियों का एक अधिक स्थिर निर्धारण आरंभ हो गया, व्यवहार में उसकी पद-मर्यादा मुख्यतः या केवल जन्म के द्वारा निर्धारित होने लगी और परवर्ती जाति-प्रथा में जन्म ही पद-मर्यादा का एकमात्र नियामक बन गया। ब्राह्मण का पुत्र पद में सदा ब्राह्मण ही होता है, चाहे उसके अंदर ब्राह्मण के विशिष्ट गुणों या स्वभाव का कुछ भी अंश न हो, बौद्धिक शिक्षण या आध्यात्मिक अनुभव अथवा धार्मिक योग्यता या ज्ञान तनिक भी न हो, अपने वर्ण के यथार्थ कर्तव्य के साथ किसी प्रकार का भी संबंध न हो, उसके कर्म तथा स्वभाव में ब्राह्मणत्व का नाम-निशान भी न हो।

यह विकास अवश्यंभावी था, क्योंकि बाह्य चिह्न ही एकमात्र ऐसे चिह्न होते हैं जिनका निर्णय सहज रूप से तथा सुविधापूर्वक किया जा सकता है और एक अधिकाधिक यांत्रीकृत, जटिल और लोकाचारात्मक समाज-व्यवस्था में

---

१. ४, १३

जन्म-ग्रहण ही वर्ण-निर्धारण का एक अत्यंत सहज और सुविधाजनक लक्षण था। वंश-परंपरानुसार मान लिये गये गुण तथा व्यक्ति के वास्तविक सहजात स्वभाव और सामर्थ्य में जो विरोध-वैषम्य हो सकता था उसे कुछ काल तक तो शिक्षा और अनुशीलन के द्वारा दूर या कम किया जाता रहा ; किंतु अंत में इस प्रयत्न को स्थिर रूप से जारी नहीं रखा जा सका और वंशानुगत प्रथा ही सर्वतंत्र स्वतंत्र नियम बन गयी। प्राचीन स्मृतिकारों ने जहाँ वंशानुक्रमिक प्रथा को स्वीकार किया वहाँ इस बात पर भी आग्रह किया कि गुण, चारित्र्य और सामर्थ्य ही एकमात्र सबल और वास्तविक आधार हैं और इनके बिना वंशानुगत सामाजिक पद-मर्यादा एक अध्यात्महीन असत्य बन जाती है, क्योंकि वह अपना सच्चा अर्थ खो बैठती है। गीता भी सदा की भाँति आभ्यंतरिक अर्थ को ही अपनी विचार-धारा का आधार बनाती है। निःसंदेह, एक श्लोक में वह मनुष्य के साथ ही उत्पन्न हुए कर्म की, **'सहजं कर्म'** की बात कहती है ; परंतु अपने-आपमें इसका अर्थ आनुवंशिक आधार नहीं होता। पुनर्जन्म के जिस भारतीय सिद्धांत को गीता स्वीकार करती है उसके अनुसार मनुष्य की जन्मजात प्रकृति और जीवन-धारा मूलतः उसके अपने अतीत जीवनों के द्वारा ही निर्धारित होती हैं, उसके अपने अतीत कर्मों तथा मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास के द्वारा पूर्वजन्म-साधित आत्म-विकास ही होती हैं और वे केवल उसके वंश, माता-पिता और शारीरिक जन्म के स्थूल तत्त्व पर ही अवलंबित नहीं हो सकतीं ; यह तो केवल एक गौण महत्त्व की वस्तु ही हो सकता है, शायद एक प्रभावपूर्ण लक्षण भी, पर प्रधान तत्त्व नहीं हो सकता। 'सहज' शब्द का अर्थ है वह चीज जो हमारे साथ ही उत्पन्न हुई हो, वह सभी कुछ जो स्वाभाविक, सहजात और अंतर्निहित हो ; अन्य सब स्थलों में इसके पर्याय के रूप में 'स्वभावज' शब्द का प्रयोग किया गया है। मनुष्य का काम-धंधा या कर्तव्य उसके गुणों के द्वारा निर्धारित होता है, 'कर्म' मात्र 'गुण' के द्वारा निर्धारित होता है ; उसका कर्तव्य कर्म उसके स्वभाव से ही उत्पन्न एक कर्म होता है, **'स्वभावजं कर्म'** ; और उसके स्वभाव के द्वारा ही नियंत्रित होता है, **'स्वभाव-नियतं कर्म'**। कर्म, कर्तव्य एवं कार्य-व्यापार में प्रकट होनेवाले आभ्यंतरिक गुण और भाव पर यह जो बल दिया गया है वही गीता के कर्मसंबंधी विचार का संपूर्ण आशय है।

गीता ने स्वधर्म के अनुसरण का जो आध्यात्मिक अर्थ और प्रभाव प्रतिपादित किया है उसका मूल इसीमें निहित है कि उसने कर्म के बाह्य रूप पर नहीं, बल्कि आंतरिक सत्य पर बल दिया है। इस प्रकरण का वस्तुतः महत्त्वपूर्ण अर्थ यही है। बाह्य समाज-व्यवस्था के साथ इसके संबंध को अत्यधिक महत्त्व

दे दिया गया है, मानों गीता का उद्देश्य इसीकी खातिर इसका समर्थन करना या धार्मिक-दार्शनिक सिद्धांत के द्वारा इसे युक्तियुक्त सिद्ध करना हो। सत्य यह है कि वह बाह्य नियम पर बहुत कम तथा उस आंतरिक विधान पर बहुत अधिक बल देती है जिसे वर्ण-व्यवस्था ने एक नियत बाह्य रूप में कार्यान्वित करने का यत्न किया था। इस प्रकरण में इस विधान के समष्टिगत एवं आर्थिक या अन्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व पर नहीं, बल्कि वैयक्तिक एवं आध्यात्मिक मूल्य पर ही गीता की विचार-दृष्टि जमी हुई है। गीता यज्ञ का वैदिक सिद्धांत स्वीकार करती थी, परंतु उसने इसे एक गंभीर दिशा, एक आभ्यंतरिक, आत्मगत एवं विश्वगत अर्थ, एक आध्यात्मिक भाव एवं लक्ष्य प्रदान किया था जो इसके सभी मूल्यों को बदल डालता है।

यहाँ भी वह मनुष्यों के चातुर्वर्ण्य का सिद्धांत स्वीकार करती है और उसी प्रकार से स्वीकार करती है, परंतु इसे एक गंभीर दिशा, एक आभ्यंतरिक, आत्मगत एवं विश्वगत अर्थ, एक आध्यात्मिक भाव एवं लक्ष्य प्रदान कर देती है। और, उसके ऐसा करने से ही इस सिद्धांत के मूलभूत विचार के मूल्य में परिवर्तन हो जाता है और वह एक ऐसा स्थायी एवं जीवंत सत्य बन जाता है जो किसी विशिष्ट सामाजिक प्रणाली एवं व्यवस्था की अस्थायिता से नहीं बँधा होता। आर्यों की जो समाज-व्यवस्था अब विलुप्त हो चुकी है या म्रियमाण अवस्था में है उसे युक्तियुक्त सिद्ध करना गीता का उद्देश्य नहीं,—यदि यही सब कुछ होता तो स्वभाव और स्वधर्म के उसके सिद्धांत में कोई नित्य सत्य निहित ही न होता, न उसका कोई स्थायी मूल्य ही होता,—गीता का लक्ष्य है मनुष्य की आंतरिक सत्ता के साथ उसके बाह्य जीवन का संबंध दर्शाना, उसकी अंतरात्मा से तथा उसकी प्रकृति के आभ्यंतरिक विधान से उसके कर्म का विकास दर्शाना। और सचमुच हम देखते हैं कि स्वयं गीता ही अपने इस आशय को अत्यंत स्पष्ट रूप में द्योतित कर देती है जब कि वह ब्राह्मण और क्षत्रिय के कर्म का वर्णन बाह्य कार्य-व्यापार की, शिक्षा, पौरोहित्य एवं शास्त्रालोचन या राज्य-कार्य, युद्ध एवं राजनीति की परिभाषा में नहीं, बल्कि पूर्ण रूप से, आभ्यंतरिक स्वभाव की परिभाषा में करती है। उसकी भाषा हमारे कानों को कुछ विचित्र-सी ही प्रतीत होती है। शम, दम, तप, शुचिता, सहिष्णुता, ऋजुता, ज्ञान, आस्तिकता (आध्यात्मिक सत्य का अंगीकार और अनुशीलन) को साधारणतः मनुष्य का कर्तव्य, कर्म या जीवन-व्यवसाय नहीं कहा जायगा। तथापि गीता का कथन और तात्पर्य ठीक यही है,—वह कहती है कि ये चीजें, इनका विकास, आचार-व्यवहार में इनकी अभिव्यक्ति, सात्त्विक प्रकृति के धर्म को बाह्य रूप में ढालने की इनकी

शक्ति ब्राह्मण का वास्तविक कर्म हैं ; शिक्षा, धार्मिक पौरोहित्य तथा अन्य बाह्य कर्तव्य इस कर्म का एक अत्यंत उपयुक्त क्षेत्र मात्र हैं, इस अंतर्विकास का एक अनुकूल साधन, इसकी समुचित आत्म-अभिव्यक्ति, सुस्थिर आदर्श में और चारित्र्य की बाह्य सुदृढ़ता में अपनेको प्रतिष्ठित करने की पद्धति हैं। युद्ध, शासन-कार्य, राजनीति, नेतृत्व और प्रभुत्व क्षत्रिय के लिए उसी प्रकार का क्षेत्र एवं साधन हैं ; परंतु उसका वास्तविक कर्म है राजोचित या वीरोचित सक्रिय युद्ध-भावना के धर्म का विकास, व्यवहार में उसकी अभिव्यक्ति, बाह्य रूप में तथा ऊर्जस्वी गतिच्छंद में उसे सशक्त रूप में ढालना। वैश्य और शूद्र का कर्म बाह्य कर्तव्य की परिभाषा में व्यक्त किया गया है, और इस विपरीत प्रवृत्ति का कुछ अर्थ हो सकता है। क्योंकि, उत्पादन और धनोपार्जन में प्रवृत्त या श्रम और सेवा के घेरे में आबद्ध प्रकृति, व्यापारिक और दासोचित मनोवृत्ति साधारणतः बहिर्मुखी होती है, अपने कर्म की चरित्र-गठन करने की शक्ति की अपेक्षा उसके बाह्य मूल्य-महत्त्व में ही अधिक ग्रस्त रहती है, और यह स्वभाव प्रकृति के सात्त्विक या आध्यात्मिक कर्म के लिए इतना अनुकूल नहीं। यह भी एक कारण है जिससे कि एक व्यावसायिक एवं औद्योगिक युग या कर्म और श्रम के विचार में व्यस्त समाज अपने चारों ओर एक ऐसा वातावरण बना लेता है जो आध्यात्मिक जीवन की अपेक्षा भौतिक जीवन के अधिक अनुकूल होता है, ऊर्ध्वगामी मन और आत्मा की सूक्ष्मतर पूर्णता की अपेक्षा प्राण की क्षमता के लिए अधिक उपयुक्त होता है। तथापि, इस प्रकार की प्रकृति और इसके कार्यों का भी अपना आंतरिक अर्थ एवं आध्यात्मिक मूल्य है और इन्हें पूर्णता का पोषक बल एवं साधन बनाया जा सकता है जैसा कि एक अन्य स्थल पर कहा जा चुका है, आध्यात्मिकता, नैतिक पवित्रता और ज्ञान के आदर्श से संपन्न ब्राह्मण और महत्ता, वीरता एवं चारित्रिक उच्चता के आदर्श से युक्त क्षत्रिय ही नहीं, बल्कि अर्थाभिलाषी वैश्य, श्रमपाश में बद्ध शूद्र, संकीर्ण, सीमाबद्ध एवं पराधीन जीवन की भागिनी स्त्री और पाप के गर्भ से उत्पन्न शूद्र, **'पापयोनयः'**, तक भी इस मार्ग से तुरंत उच्चतम आंतरिक महत्ता एवं आध्यात्मिक स्वाधीनता की ओर उठ सकते हैं, सिद्धि की ओर, मानव-सत्ता के दिव्य तत्त्व की मुक्ति एवं परिपूर्णता की ओर आरोहण कर सकते हैं।

इस प्रकरण पर प्रथम दृष्टिपात करते ही तीन मंतव्य हमारे सामने स्वयमेव उपस्थित होते हैं और यहाँ गीता ने जो कुछ भी कहा है उस सबमें उन तीनों को अंतर्निहित समझा जा सकता है। प्रथम, समस्त कर्म अंदर से ही निर्धारित होना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के अंदर कोई अपना निज तत्त्व होता है,

अपनी प्रकृति का कोई विशिष्ट धर्म एवं सहजात शक्ति होती है। वह उसकी आत्मा की कार्यसाधक शक्ति होती है, वह उसकी प्रकृतिगत अंतरात्मा के क्रियाशील रूप का सृजन करती है और उसे कर्म के द्वारा व्यक्त करना और पूर्ण बनाना, शक्ति-सामर्थ्य, आचार-व्यवहार और जीवन में उसे प्रभावोत्पादक बनाना ही उसका कार्य है, उसका सच्चा कर्म है : वह उसे आंतर और बाह्य जीवन के यापन का ठीक मार्ग बताती है तथा उसके और आगे के विकास के लिए यथार्थ प्रारंभ-स्थल होती है। दूसरे, मोटे तौर पर मनुष्य की प्रकृति चार श्रेणियों में विभक्त है, इनमें से प्रत्येक का अपना विशिष्ट कर्तव्य, कर्म और स्वभाव का अपना आदर्श नियम है और यह श्रेणी मनुष्य के अपने विशिष्ट क्षेत्र को द्योतित करती है और इसीको उसके बाह्य सामाजिक जीवन में उसकी यथार्थ कार्यपरिधि का निर्धारण करना चाहिए। अंत में मनुष्य चाहे जो भी कर्म करे, यदि वह उसे अपनी सत्ता के धर्म, अपनी प्रकृति के सत्य के अनुसार संपन्न करे तो उसे परमेश्वर की ओर फेरा जा सकता है तथा आध्यात्मिक मुक्ति एवं सिद्धि का प्रभावपूर्ण साधन बनाया जा सकता है। इन मंतव्यों में से पहला और अंतिम सुस्पष्ट रूप से सत्यपूर्ण एवं न्यायसंगत विचार है। निःसंदेह मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन-यापन का सामान्य ढंग इन सिद्धांतों के विरुद्ध प्रतीत होता है ; क्योंकि निश्चय ही हमारे ऊपर बाह्य आवश्यकता, नियम और विधान का भयानक बोझ है, और आत्म-अभिव्यक्ति के लिए, जीवन में अपने सच्चे व्यक्तित्व, अपनी सच्ची आत्मा, अपने अंतरतम विशिष्ट स्वधर्म के विकास के लिए हमारी जो माँग है उसमें पारिपार्श्विक प्रभाव पद-पद पर हस्तक्षेप करते हैं, व्याघात पहुँचाते हैं, उसे बलपूर्वक पदच्युत कर देते हैं किंवा बहुत ही तुच्छ अवसर और क्षेत्र प्रदान करते हैं। मालूम होता है कि जीवन, राष्ट्र, समाज, परिवार और हमारे चारों ओर की सभी शक्तियों ने हमारी आत्मा पर अपना जुआ लादने के लिए, अपने साँचों में हमें जबर्दस्ती ढालने के लिए, हमपर अपना यांत्रिक स्वार्थ और स्थूल तात्कालिक सुख-साधन थोपने के लिए षड्यंत्र कर रखा है। हम मशीन के पुर्जे बन जाते हैं ; हम सच्चे अर्थों में मनुष्य, 'पुरुष', आत्मा और मन नहीं हैं, आत्मा की ऐसी मुक्त संतति, ऐसे अमृत पुत्र नहीं हैं जो अपनी सत्ता की उच्चतम स्वभावगत पूर्णता का विकास करने और उसे जाति की सेवा का साधन बनाने में समर्थ हों और न हमें सच्चे अर्थों में ऐसे बनने के लिए अवसर ही दिया जाता है। ऐसा प्रतीत होगा कि हम वही नहीं होते जो कुछ कि हम अपनेको बनाते हैं, बल्कि वह होते हैं जो कुछ कि हमें बनाया जाता है। परंतु जितना ही अधिक हम ज्ञान में अग्रसर होंगे, उतना ही अधिक गीता के नियम

का सत्य हमपर अवश्यमेव प्रकट होगा। बालक की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे कि उसकी प्रकृति के अंदर जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ, अत्यंत शक्तिशाली, अत्यंत आभ्यंतरिक और प्राणवंत है वह सब बाहर प्रकट हो जाय ; मनुष्य के कर्म और विकास को जिस साँचे में ढलना चाहिए वह उसके स्वभावगत गुण और सामर्थ्य का ही साँचा है। नयी चीजें उसे अवश्य प्राप्त करनी होंगी, पर उन्हें वह, उत्तम रीति से तथा अत्यंत सजीव रूप में, अपने विकसित आदर्श तथा सहजात शक्ति के आधार पर ही प्राप्त कर सकेगा। और, इसी प्रकार मनुष्य के कर्तव्य कर्म उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति, देन और क्षमताओं के द्वारा ही निर्धारित होने चाहिएँ। जो व्यक्ति इस प्रकार स्वतंत्र रूप से विकसित होगा वह एक जीवंत आत्मा और मन होगा और उसके अंदर जाति की सेवा के लिए कहीं अधिक महान् शक्ति होगी। और, अब हम अधिक स्पष्ट रूप में यह देख सकते हैं कि यह नियम केवल व्यक्ति के संबंध में ही नहीं, बल्कि समाज, राष्ट्र सामुदायिक आत्मा एवं समष्टिगत मानव के संबंध में भी सत्य है। चार वर्णों तथा उनके कार्यों का दूसरा मंतव्य अधिक विवादग्रस्त है। यह कहा जा सकता है कि यह अत्यंत सीधा-सादा और निश्चयात्मक है, जीवन की जटिलता और मानव-प्रकृति की नमनशीलता को यह पर्याप्त रूप से विचार में नहीं लाता, और सिद्धांत या उसकी अंतर्निहित विशेषताएँ कुछ भी क्यों न हों, उसका बाह्य सामाजिक प्रयोग यांत्रिक आचार के ठीक उसी अत्याचार की ओर ले जायगा जो स्वधर्म के समस्त विधान के सर्वथा विरुद्ध है। परंतु ऊपरी तह के नीचे इसका एक गभीरतर अर्थ भी है जो इसे एक कम संदिग्ध मूल्य प्रदान करता है। और, चाहे हम इसे अस्वीकार भी कर दें, फिर भी तीसरा मंतव्य अपने व्यापक अर्थ को लिए हुए अटल रहेगा। जीवन में मनुष्य का कर्म एवं कर्तव्य कोई भी क्यों न हो, यदि वह कर्म अंदर से निर्धारित हो अथवा यदि मनुष्य को ऐसा अवसर प्रदान किया जाय जिससे वह उस कर्म को अपनी प्रकृति की आत्म-अभिव्यक्ति बना सके तो वह उसे विकास तथा महत्तर आंतरिक पूर्णता का साधन बना सकता है। और, उसका स्वाभाविक कर्म कोई भी क्यों न हो, यदि वह उसे यथायथ भावना के साथ संपन्न करे, आदर्श मन के द्वारा उसे आलोकित करे, यदि वह उसकी क्रिया को अपने अंतरस्थ भगवान् के उपयोग में लगा दे, विश्व में अभिव्यक्त परमात्मा की उसके द्वारा सेवा करे अथवा मानवता में भगवान् के जो उद्देश्य हैं उनके लिए उसे एक चेतन उपकरण बना दे तो वह उसे सर्वोच्च आध्यात्मिक पूर्णता और स्वतंत्रता के साधन के रूप में परिणत कर सकता है।

परंतु यदि गीता की इस शिक्षा को हम स्वतः-संपूर्ण अर्थ रखनेवाले एक

स्वतंत्र उद्धरण के रूप में न लें, जैसा कि बहुधा किया जाता है, बल्कि सारे ग्रंथ में और विशेषकर अंतिम बारह अध्यायों में वह जो कुछ कहती आ रही है उस सबके साथ संगति बिठाते हुए इसे देखें जैसा कि हमें करना ही चाहिए, तो हमें पता लगेगा कि इसका अर्थ और भी गंभीर है। जीवन और कर्मों के विषय में गीता का दर्शन यह है कि सब कुछ भागवत सत्ता से, विश्वातीत और विश्वगत परमात्मा से उद्भूत होता है। सभी कुछ भगवान् की, वासुदेव की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति है, **'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्'**। हृदय में तथा जगत् में जो अविनाशी विद्यमान हैं उन्हें प्रकट करना, जगदात्मा के साथ एकत्व में निवास करना, चैतन्य, ज्ञान, संकल्प, प्रेम एवं अध्यात्म-आनंद में परमोच्च भगवान् के साथ एकत्व में उठ जाना, उच्चतम आध्यात्मिक प्रकृति में निवास करना जिसमें व्यक्तिगत एवं प्रकृतिगत सत्ता अपूर्णता एवं अविद्या से मुक्त हो जाय और दैवी शक्ति के कर्मों के लिए एक सचेतन यंत्र बन जाय—यही है वह पूर्णता जिसे मानवता अधिगत कर सकती है और यही है अमृतत्व और स्वातंत्र्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य अवस्था। परंतु जब वास्तव में हम प्राकृत अज्ञान से घिरे हुए हैं, हमारी अंतरात्मा अहं की कारा में कैद है, परिस्थितियों से अभिभूत एवं आक्रांत है, उन्हींके द्वारा ठोक-पीटकर गठित की जाती है, प्रकृति की यांत्रिक क्रिया के द्वारा शासित एवं परिचालित होती है, हमारी अपनी निगूढ़ अध्यात्म-शक्ति की वास्तविक सत्ता पर हमारा जो आधार है उससे विच्छिन्न है, तब इस अवस्था की प्राप्ति कैसे संभव है? इसका उत्तर यह है कि यह सब प्राकृत क्रिया आज एक आवृत और प्रतिकूल व्यापार में कितनी ही समाच्छन्न क्यों न हो फिर भी इसमें अपनी विकसनशील स्वतंत्रता और पूर्णता का तत्त्व निहित है। एक देवाधिदेव प्रत्येक मनुष्य के हृदय में विराजमान हैं और वे प्रकृति के इस रहस्यमय व्यापार के स्वामी हैं। और, यद्यपि विश्व की यह परम आत्मा, यह सर्वमय 'एक', हमें मायाशक्ति के द्वारा यंत्रारूढ़ की भाँति संसार-चक्र पर घुमाता हुआ प्रतीत होता है, किसी कौशलपूर्ण यांत्रिक नियम के द्वारा हमें हमारे अज्ञान में उसी प्रकार गढ़ता दिखायी देता है जैसे कुम्हार एक घड़े को गढ़ता है किंवा जैसे जुलाहा कपड़ा बुनता है, फिर भी यह आत्मा हमारी अपनी ही परमतम आत्मा है, हमारी सत्ता का जो वास्तविक तत्त्व, हमारी सत्ता का जो सत्य, हमारे पाशव, मानवीय और दिव्य जीवन में, जो कुछ हम थे, जो कुछ हम हैं और जो कुछ हम होंगे उस सबमें हमारे अंदर विकसित हो रहा है, नित नये एवं अधिक उपयुक्त रूप ग्रहण कर रहा है उसके अनुसार,—उस अंतरीय आत्मिक सत्य के अनुसार हमारी यह अंतरस्थ आत्मा अपनी सर्वज्ञानमय सर्वशक्तिमत्ता में हमें उत्तरोत्तर

गठित करती है, जब हमारी आँख खुलेगी तब हमें इस सत्य का पता लग जायगा। अहं की यह मशीनरी, त्रिगुण, मन, देह, प्राण, भावावेग, कामना, संघर्ष, विचार, अभीप्सा और प्रयास की यह उलझी हुई जटिलता, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, प्रयास और सिद्धि-असिद्धि, जीव और परिस्थिति, स्व और पर की यह परस्पर-ग्रथित क्रिया-प्रतिक्रिया तो मेरे अंदर की एक उच्चतर अध्यात्म-शक्ति का केवल एक बाह्य अपूर्ण रूप है ; अपनी आत्मा में मैं निगूढ़ रूप से जो दिव्य और महान् सत्ता हूँ तथा अपनी प्रकृति में मैं प्रकट रूप से जो दिव्य और महान् सत्ता बनूँगा उसीकी आत्म-अभिव्यक्ति को उत्तरोत्तर साधित करने के लिए वह अध्यात्म-शक्ति अपने सभी उतार-चढ़ावों के बीच निरंतर यत्न करती है। इस क्रिया की अपनी सफलता का तत्त्व इसके अपने ही अंदर निहित है और वह है स्वभाव और स्वधर्म का तत्त्व।

जीव अपनी आत्माभिव्यक्ति में पुरुषोत्तम का एक अंश है। प्रकृति के अंदर वह परमात्मा की शक्ति का प्रतिनिधि है, अपने व्यक्तित्व में वह वही शक्ति है ; वह विश्वात्मा की संभाव्य-शक्तियों को व्यष्टि-सत्ता में प्रकट करता है। यह जीव अपने-आपमें आत्मा ही है, प्राकृत अहं नहीं ; अहं का रूप नहीं, बल्कि आत्मा ही हमारा सत्य स्वरूप एवं आभ्यंतरिक आत्म-तत्त्व है। हम जो कुछ हैं और जो कुछ बन सकते हैं उसकी सच्ची शक्ति उस उच्चतर अध्यात्म-शक्ति में ही है, त्रिगुण की यांत्रिक माया उसकी गतियों का अंतरतम एवं मूलभूत सत्य नहीं है ; वह तो केवल एक वर्तमान कार्यकरी शक्ति है, निम्न स्तर का एक सुविधाजनक यंत्र है, बाह्य व्यवहार एवं अभ्यास की एक व्यवस्था है। आध्यात्मिक प्रकृति, जिसने विश्व में इस बहुविध व्यक्तित्व का रूप धारण किया है, **'पराप्रकृतिर्जीवभूता'**, हमारी सत्ता का आधारभूत उपादान है : शेष सब आत्मा की किसी उच्चतम गुप्त क्रिया से उत्पन्न एक निम्नतर सृष्टि एवं बाह्य रचना है। प्रकृति के अंदर हममें से प्रत्येक के लिए अपनी संभूति का एक विधान और संकल्प विद्यमान है ; प्रत्येक जीव आत्म-चेतना की एक शक्ति है जो अपने अंदर भगवान् के स्वरूप की एक धारणा बना लेती है और उसके द्वारा अपने कर्म एवं विकास, अपनी विकसनशील आत्म-उपलब्धि, अपनी सतत और परिवर्तनशील आत्म-अभिव्यक्ति, अपनी बाह्यतः अनिश्चित पर गुह्यतः अवश्यंभावी पूर्णता-मुखी प्रगति का मार्गदर्शन करती है। वही हमारा स्व-भाव, हमारी अपनी वास्तविक प्रकृति है ; वह हमारी सत्ता का सत्य है जो आज जगत् में हमारे नानाविध भूतभाव में केवल एक अनवरत आंशिक अभिव्यक्ति लाभ कर रहा है। इस स्वभाव के द्वारा निर्धारित कर्म-विधान ही हमारे आत्म-संघटन, कर्तव्य और क्रिया-कलाप का यथायथ विधान है, हमारा स्वधर्म है।

यह विधान समस्त सृष्टि में पाया जाता है, सर्वत्र एक ही शक्ति, एक ही सार्वजनीन विश्व-प्रकृति कार्य कर रही है, पर हरएक स्तर, रूप, शक्ति, जाति, उपजाति एवं व्यष्टिभूत प्राणी में वह एक प्रधान भाव का तथा सतत और जटिल परिवर्तन के कुछ एक गौण भावों एवं सूत्रों का अनुसरण करती है, ये भाव और सूत्र प्रत्येक के स्थायी धर्म तथा अस्थायी धर्मों दोनों के आधार हैं। ये उसके लिए संभूति में उसकी सत्ता का विधान निश्चित करते हैं, उसके जन्म, स्थिति और परिवर्तन का मार्ग, उसकी स्वरक्षा और स्व-वृद्धि की शक्ति, उसकी स्थिर और विकासोन्मुख आत्म-अभिव्यक्ति और आत्म-उपलब्धि की दिशाएँ, विश्व में होनेवाली परमात्मा की शेष संपूर्ण अभिव्यक्ति के साथ उसके संबंधों के नियम निर्धारित करते हैं। अपनी सत्ता के धर्म का, **'स्वधर्म'** का, अनुसरण करना, अपनी सत्ता के अंदर निहित भाव का, **'स्वभाव'** का विकास करना उसकी सुरक्षा की भित्ति है, उसकी यथार्थ सरणि और पद्धति है। यह अंत में जीव को किसी वर्तमान रूप-रचना में आबद्ध नहीं कर देता, वरंच, विकास की इस पद्धति से वह नये अनुभवों को अपने निज धर्म एवं विधान के अंदर आत्मसात् करते हुए अपने-आपको अत्यंत सुनिश्चित रूप से समृद्ध करता है और अपने समय पर वह अत्यंत शक्तिशाली रूप में विकसित हो सकता है तथा अपने वर्तमान साँचों को तोड़कर उसके परे एक उच्चतर आत्म-अभिव्यक्ति तक पहुँच सकता है। अपने धर्म एवं विधान की रक्षा करने में असमर्थ होने का, जिससे परिस्थिति को अपने अनुकूल तथा अपनी प्रकृति के लिए उपयोगी बनाया जा सके ऐसे किसी ढंग से अपने-आपको अपनी परिस्थिति के अनुकूल बनाने में असफल होने का अर्थ है अपने-आपको खो देना, अपनी सत्ता के अधिकार से वंचित होना, अपनी आत्मा के पथ से च्युत होना, **'विनष्टि,'** असत्य और मृत्यु, क्षय और विध्वंस की वेदना। प्रायः ही इस अंधकार और विलोप के पश्चात् आत्मा को पुनः उपलब्ध करने की कष्ट-पूर्ण साधना की आवश्यकता होती है, यह हमारी वास्तविक प्रगति में बाधा डालनेवाले असन्मार्ग का व्यर्थ चक्र है। यह विधान किसी-न-किसी रूप में संपूर्ण प्रकृति में पाया जाता है; सायंस ने सार्वभौमता के नियम और वैविध्य के नियम की जो क्रियाएँ हमारे सामने प्रकाशित की हैं उन सबके मूल में यह विधान काम कर रहा है। मनुष्य के जीवन में, उसकी सहस्रों मानवीय देहों में होनेवाले अनेकानेक जीवनों में यही विधान देखने में आता है। यहाँ इसकी एक बाह्य क्रिया भी है और इसका एक आभ्यंतर आध्यात्मिक सत्य भी है, और जब हम उस अंतरीय अध्यात्म-सत्य को उपलब्ध कर अपना समस्त कर्म आत्मा की शक्तियों से उद्भासित कर लेते हैं केवल तभी वह बाह्य क्रिया अपना पूर्ण एवं

वास्तविक अर्थ प्राप्त कर सकती है। आत्म-ज्ञान में हमारी प्रगति के अनुपात में ही यह महान् और स्पृहणीय रूपांतर बल और वेग के साथ संपन्न किया जा सकता है।

और सर्वप्रथम हमें यह देखना होगा कि उच्चतम आध्यात्मिक प्रकृति में स्वभाव का एक अर्थ है और त्रिगुण की निम्न प्रकृति में उसका एक बिलकुल दूसरा ही रूप और अर्थ हो जाता है। वहाँ भी यह क्रिया तो करता है, पर अपने स्वरूप पर इसका पूर्ण अधिकार नहीं होता, मानों यह अधूरे प्रकाश में या सर्वथा अंधकार में अपने राच्चे धर्म की खोज कर रहा हो, यह अनेक निम्नतर और मिथ्या रूपों, अंतहीन त्रुटियों, विकृतियों, आत्म-हानियों, आत्म-लाभों, आदर्श और नियम की खोजों के द्वारा अपने पथ पर बढ़ता चला जाता है और अंत में आत्म-उपलब्धि एवं पूर्णता तक जा पहुँचता है। हमारी प्रकृति यहाँ ज्ञान और अज्ञान, सत्य और असत्य, सफलता और विफलता, सत् और असत्, लाभ और हानि, पाप और पुण्य का मिश्रित ताना-बाना है। इन सब चीजों में से गुजरता हुआ जो आत्म-अभिव्यक्ति और आत्म-उपलब्धि की खोज करता रहता है वह सदा स्वभाव ही होता है, **'स्वभावस्तु प्रवर्तते'**; यह एक ऐसा सत्य है जिससे हमें सार्वभौम उदारता और समदर्शिता का पाठ सीखना चाहिए, क्योंकि हम सभी इस एक ही कठिनाई और संघर्ष में ग्रस्त हैं। ये क्रियाएँ जीव की नहीं बल्कि प्रकृति की हैं। पुरुषोत्तम इस अज्ञान से सीमाबद्ध नहीं हैं; वे ऊपर से इसका नियमन करते हैं और जीव को उसके परिवर्तनों में से मार्ग दिखाते हैं। शुद्ध निर्विकार आत्मा को ये क्रियाएँ छू तक नहीं पातीं; वह अपनी अगोचर शाश्वत स्थिति के द्वारा इस क्षर प्रकृति को इसके उतार-चढ़ावों में साक्षि-भाव से देखती और आश्रय देती है। व्यक्ति की वास्तविक आत्मा, हमारे अंदर की केंद्रीय सत्ता, इन चीजों से उच्चतर है, फिर भी प्रकृति के अंदर अपने बाह्य क्रमविकास में वह इन्हें अंगीकार करती है। और जब हम इस वास्तविक आत्मा, अपने-आपको धारण करनेवाली अपरिवर्तनशील विश्वगत आत्मा, प्रकृति के संपूर्ण व्यापार का अधिशासन और परिचालन करनेवाले अपने अंतरस्थ पुरुषोत्तम या परमेश्वर को प्राप्त कर लेते हैं, तो हम अपने जीवन-विधान के स्वधर्म के समस्त आध्यात्मिक मर्म का पता पा लेते हैं। क्योंकि तब जो जगदीश्वर अपने अनंत गुणों में, सर्व भूतों में अपने को सदैव प्रकट करते रहते हैं उन्हें हम जान जाते हैं। हम भगवान् की चतुर्विध उपस्थिति से सज्ञान हो जाते हैं, वह चतुर्विध उपस्थिति है आत्म-ज्ञान और विश्व-ज्ञान की सत्ता, बल और शक्ति की सत्ता जो अपनी शक्तियों की खोज करती, उन्हें प्राप्त करती और प्रयोग में लाती है, पारस्परिकता और सृष्टि की तथा

जीव-जीव के बीच संबंध एवं आदान-प्रदान की सत्ता अर्थात् कर्ममय पुरुष जो विश्व में श्रम करता है और प्रत्येक में सबकी सेवा करता है और प्रत्येक के श्रम को अन्य सबकी सेवा में प्रयुक्त करता है। हमारे अंदर भगवान् की जो व्यष्टि-शक्ति विद्यमान है उससे भी हम सचेतन हो उठते हैं, यह वही शक्ति है जो इन चतुर्विध शक्तियों को सीधे ही प्रयोग में लाती है, हमारी आत्म-अभिव्यक्ति की सरणि का निर्देश करती है, हमारे दिव्य कर्म और पद का निर्धारण करती है और इस सबके द्वारा वह हमें बहुविधता में भगवान् के विश्वात्मभाव की ओर उठा ले चलती है जबतक कि हम इसके द्वारा उनके साथ तथा इस सृष्टि में वे जो कुछ हैं उस सबके साथ अपना आध्यात्मिक एकत्व उपलब्ध नहीं कर लेते।

जीवन में मनुष्यों के चतुर्वर्ण का बाह्य विचार दिव्य क्रिया के इस सत्य के बाह्यतर व्यापार से ही सम्बन्ध रखता है ; वह त्रिगुण के व्यापार में इसकी क्रिया के एक पहलू तक ही सीमित है। यह सच है कि इस जन्म में लोग अधिकतर चार श्रेणियों में से किसी एक के अंतर्गत होते हैं—ज्ञानी मनुष्य, बलशाली मनुष्य, उत्पादनशील प्राणिक मनुष्य और स्थूल श्रम एवं सेवा में परायण मनुष्य। ये आधारभूत विभाग नहीं बल्कि हमारे मनुष्यत्व में आत्म-विकास की अवस्थाएँ हैं। मनुष्य अज्ञान और जड़ता का पर्याप्त बोझ लेकर अपनी जीवनयात्रा शुरू करता है ; उसकी पहली अवस्था उस स्थूल श्रम की होती है जो शरीर की आवश्यकताओं, प्राण की प्रेरणा एवं विश्वप्रकृति के अलंघ्य नियम के द्वारा और, आवश्यकता की एक विशेष सीमा के परे, समाज के द्वारा उसपर थोपी गयी किसी-न-किसी प्रकार की प्रत्यक्ष या परोक्ष बाध्यता के द्वारा उसके पाशविक तमस् पर लादा जाता है, और जो लोग अभी इस तमस् के द्वारा शासित होते हैं वे शूद्र होते हैं, समाज के दास होते हैं जो उसे अपना श्रम दान करते हैं तथा उसके जीवन की बहुविध क्रीड़ा में वे अधिक उन्नत मनुष्यों की तुलना में और कुछ भी योगदान नहीं कर सकते अथवा यदि कर भी सकते हैं तो बहुत ही कम। कार्य-प्रवृत्ति के द्वारा मनुष्य अपने अन्दर रजोगुण का विकास करता है और हमें एक दूसरी श्रेणी के मनुष्य की प्राप्ति होती है जो उपयोगी सृजन, उत्पादन, संग्रह, उपार्जन, स्वत्व और उपभोग की सतत प्रेरणा से प्रचालित होता है, वह मध्यवर्गीय आर्थिक और प्राण-प्रधान मनुष्य, वैश्य, होता है। हमारी एक ही सार्वभौम प्रकृति के राजसिक या प्रवृत्तिमय गुण का और ऊँचा उत्कर्ष होने पर एक क्रियाशील मानव हमारे देखने में आता है जिसमें एक प्रबलतर संकल्पशक्ति एवं अधिक साहसपूर्ण महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं, कर्म करने, युद्ध करने, अपने संकल्प को क्रियान्वित करने और, अपने सबलतम रूप में, नेतृत्व करने, आदेश देने, शासन करने,

जन-समुदायों को अपने पथ पर चलाने की एक सहज प्रवृत्ति होती है, वह योद्धा, नेता, शासक, सरदार, राजा होता है, वह क्षत्रिय होता है। और जहाँ सात्त्विक मन प्रबल होता है वहाँ हमें ब्राह्मण की प्राप्ति होती है जिसकी प्रवृत्ति ज्ञान की ओर होती है, वह जीवन में विचार, चिंतन, सत्य की खोज और एक ज्ञानपूर्ण या अधिक-से-अधिक एक आध्यात्मिक शासन लाता है और उसके द्वारा वह अपनी जीवन-सम्बन्धी धारणा और पद्धति को आलोकित करता है।

मानव-प्रकृति में इन चारों व्यक्तित्वों का कुछ-न-कुछ अंश सदा ही होता है, चाहे वह विकसित हो या अविकसित, व्यापक हो या संकुचित, दबा हुआ हो या ऊपरी सतह की ओर उठ रहा हो, परन्तु अधिकतर मनुष्यों में इनमें से कोई एक या दूसरा प्रबल होने की प्रवृत्ति रखता है और कभी-कभी तो वह प्रकृति में कर्म के सम्पूर्ण क्षेत्र को अपने हाथ में लेता प्रतीत होता है। प्रत्येक समाज में चारों ही श्रेणियाँ होनी चाहिए,—भले ही हम एक ऐसा निरा उत्पादनशील और व्यावसायिक समाज क्यों न बना सकते हों जिसके लिए आधुनिक युग ने प्रयत्न किया है, या उसी प्रयोजन के लिए श्रमिकों का, निम्नतम श्रेणी के लोगों का एक ऐसा शूद्र-समाज क्यों न बना सकते हों जैसा कि अत्यंत अर्वाचीन मन को आकृष्ट करता है और जिसका आज यूरोप के एक भाग में प्रयोग किया जा रहा है तथा अन्य भागों में समर्थन। फिर भी कुछ ऐसे विचारक तो रहेंगे ही जो सम्पूर्ण विषय का विधान, सत्य और मार्गदर्शक नियम ढूँढ़ने के लिए प्रेरित होंगे, उद्योग-व्यवसाय के कुछ ऐसे अध्यक्ष और नायक भी रहेंगे जो इस समस्त उत्पादक कर्म के बहाने साहस, युद्ध, नेतृत्व और प्रभुत्व की अपनी मांग को तृप्त करेंगे, बहुत से विशिष्ट निरे उत्पादनशील और धनोपार्जक मनुष्य तथा कुछ ऐसे औसत मजदूर भी रहेंगे ही जो थोड़े से श्रम और उसके पुरस्कार से संतुष्ट होंगे। परन्तु ये सर्वथा बाह्य चीजें हैं, और यदि यही सब कुछ हो तो, मानवजाति की इस आर्थिक श्रेणी-व्यवस्था का कोई आध्यात्मिक अर्थ नहीं होगा। अथवा, जैसा कि कभी भारतवर्ष में माना जाता था, इसका अर्थ अधिक-से-अधिक यह होगा कि हमें अपने जन्मों में विकास की इन अवस्थाओं में से गुजरना होगा ; क्योंकि हमें बाध्य होकर तामसिक, राजस-तामसिक, राजसिक या राजस-सात्त्विक प्रकृति से उत्तरोत्तर सात्त्विक प्रकृति की ओर अग्रसर होना होगा, एक आंतरिक ब्राह्मणत्व, **'ब्राह्मण्य'** की ओर आरोहण करना और उसी में दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित होना होगा और फिर उस आधार से मोक्ष के लिए यत्न करना होगा। परन्तु ऐसी दशा में, गीता के इस कथन के लिए कि शूद्र या चंडाल भी अपने जीवन को परमेश्वर की ओर मोड़कर सीधे आध्यात्मिक स्वातंत्र्य

और पूर्णत्व की ओर आरोहण कर सकता है, कोई युक्तिसंगत स्थान नहीं रहेगा।

मूलभूत सत्य यह बाह्य वस्तु नहीं है, बल्कि वह हमारी क्रियाशील अंतः-सत्ता की शक्ति है, आध्यात्मिक प्रकृति की चतुर्विध सक्रिय शक्ति का सत्य है। अपनी आध्यात्मिक प्रकृति में प्रत्येक जीव के ये चार पक्ष होते हैं—वह एक ज्ञान-मय, बल-शक्तिमय, अन्योन्यभावमय एवं आदान-प्रदानात्मक और कर्ममय एवं सेवात्मक सत्ता होता है, परन्तु कर्म में तथा अभिव्यक्तिकारक सत्ता में कोई एक या दूसरा पक्ष प्रधान होता है और वह देहधारी प्रकृति के साथ जीव के व्यव-हारों को अपना पुट दे देता है ; वह अन्य शक्तियों का नेतृत्व करता तथा उनपर अपनी छाप लगा देता है और कर्म, प्रवृत्ति और अनुभूति की प्रधान धारा के निमित्त उनका प्रयोग करता है। तब स्वभाव सामाजिक वर्ण-विभाग में प्रतिपादित कर्तव्य-भेद के अनुसार स्थूल और कठोर रूप में नहीं बल्कि सूक्ष्म और सहजनम्य रूप में इस धारा के धर्म का अनुसरण करता है और इसका विकास करते हुए अन्य तीन शक्तियों का भी विकास करता है। इस प्रकार यदि कर्म और सेवा की प्रेरणा का ठीक ढंग से अनुसरण किया जाय तो उससे ज्ञान का विकास होता है, शक्ति की वृद्धि होती है, अन्योन्यभाव की घनिष्ठता या समतोलता का और सम्बन्ध की कुशलता एवं सुश्रृंखला का अभ्यास बढ़ता है। चतुर्विध देवत्व के प्रत्येक पक्ष का अपना प्रधान स्वाभाविक तत्त्व अन्य तीनों के द्वारा प्रसारित और समृद्ध होता है और इस प्रकार वह पक्ष अपनी समग्र पूर्णता की ओर प्रगति करता है। यह प्रगति त्रिगुण के नियम के अनुसार होती है। ज्ञानमय सत्ता के धर्म का अनुसरण करने का एक तामसिक और राजसिक ढंग भी हो सकता है, शक्ति के धर्म का अनुसरण करने का एक क्रूर तामसिक तथा उच्च सात्त्विक ढंग भी संभव है, कर्म और सेवा के धर्म के पालन का एक शक्तिपूर्ण राजसिक या सुन्दर एवं उदात्त सात्त्विक ढंग भी हो सकता है। आभ्यंतरिक व्यक्तिगत स्वधर्म के तथा जीवन-पथ पर वह हमें जिन कर्मों की ओर ले जाता है उनके सात्त्विक रूप तक पहुँचना पूर्णता प्राप्त करने की पहली शर्त है। और यह ध्यान देने की बात है कि आंतरिक स्वधर्म कर्म, पेशे या कर्तव्य के किसी बाह्य सामाजिक या अन्य रूप से नहीं बँधा होता। उदाहरणार्थ, हमारी कर्ममय सत्ता जो सेवा करने से ही तृप्त होती है या हमारे अन्दर का यह कर्ममय तत्व ज्ञानान्वेषण के जीवन, संघर्ष-प्रधान और शक्तिमय जीवन या पारस्परिक सम्बन्ध, उत्पादन और आदान-प्रदान के जीवन को अपनी श्रम और सेवा की दैवी प्रेरणा की तृप्ति का साधन बना सकता है।

और अन्त में, इस चतुर्विध कर्म का दिव्यतम रूप और इसकी अत्यंत क्रिया-शील आत्म-शक्ति प्राप्त करना सर्वोच्च आध्यात्मिक सिद्धि की तीव्रतम और विशालतम वास्तविकता का सुविस्तृत द्वार है। ऐसा हम तभी कर सकते हैं यदि हम स्वधर्म की क्रिया को अन्तर्वासी देवता, विश्वगत परमात्मा और परात्पर पुरुषोत्तम की पूजा में परिणत कर दें और, अन्त में, सम्पूर्ण कर्म ही उनके हाथों में सौंप दें, **'मयि संन्यस्य कर्माणि'**। तब जिस प्रकार हम तीन गुणों के सीमा-बंधन से परे चले जाते हैं उसी प्रकार हम चातुर्वर्ण्य-विभाग से तथा सभी विशिष्ट धर्मों की सीमा से भी परे चले जाते हैं, **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'**। विश्व-पुरुष व्यक्ति को विश्वगत स्वभाव में उठा ले जाता है, हमारे अन्दर की चतुर्विध प्राकृत सत्ता को पूर्ण बनाता और एक करता है और जीव के अन्दर विराजमान परमेश्वर के दिव्य संकल्प तथा उपलब्ध शक्ति के अनुसार अपने आत्म-निर्धारित कर्मों को संपन्न करता है।

गीता का उपदेश यह है कि हमें अपने कर्म से, **'स्वकर्मणा,'** भगवान् की पूजा करनी चाहिए ; हमें अपनी सत्ता और प्रकृति के स्वधर्म के द्वारा निर्धारित कर्मों को भगवान् की भेंट चढ़ाना चाहिए। क्योंकि, सृष्टि की समस्त गति तथा कर्म की समस्त प्रवृत्ति भगवान् से ही उत्पन्न होती है और उन्हींने यह संपूर्ण जगत् विस्तारित किया है और लोकसंग्रह के लिए, लोकों को संगठित रखने के लिए, वे स्वभाव के द्वारा समस्त कर्म का परिचालन और गठन करते हैं। अपने आन्तर और बाह्य कर्मों से उनकी पूजा करने, अपने संपूर्ण जीवन को परमोच्च देव के प्रति एक कर्म-यज्ञ बना देने का अर्थ है अपने समस्त संकल्प, सत्ता और प्रकृति में उनके साथ एक होने के लिए अपने-आपको तैयार करना। हमारा कर्म हमारे अंतर-स्थित सत्य के अनुसार होना चाहिए ; उसे अपनेको बाह्य एवं कृत्रिम मानदंडों के अनुकूल नहीं बनाना चाहिए : उसे अंतरात्मा तथा उसकी सहजात शक्तियों की एक जीवंत और सच्ची अभिव्यक्ति होना होगा। क्योंकि, अपनी वर्तमान प्रकृति में इस अंतरात्मा के जीवन्त अंतरतम सत्य का अनुसरण करने से, अंततः, अद्यावधि-अतिचेतन परम प्रकृति के अन्दर अंतरात्मा के अमर सत्य पर पहुँचने में हमें सहायता प्राप्त होगी। वहाँ हम परमेश्वर, अपनी सच्ची आत्मा और सर्वभूतों के साथ एकत्व में निवास कर सकते हैं और सिद्धि लाभ कर अमर धर्म के स्वातंत्र्य में दिव्य कर्म के निर्दोष यंत्र बन सकते हैं।

परम रहस्य की ओर[1]

भगवान् गुरु और जो कुछ कहना चाहते थे वह सब वे कह चुके हैं, वे अपने संदेश के सभी प्रधान तत्त्वों, सहायक निर्देशों और फलितार्थों का निरूपण कर चुके हैं, उसपर जो मुख्य-मुख्य संशय और प्रश्न उठ सकते हैं उनपर प्रकाश डाल चुके हैं, और अब अपनी एकमात्र अंतिम वाणी, अपने संदेश के हार्द, अपनी शिक्षा के असली सारतत्त्व को निर्णायक शब्दों और हृदयस्पर्शी सूत्र में प्रकट करने का काम ही उनके लिए शेष रह गया है। और हम देखते हैं कि वह निर्णायक चरम और सर्वोच्च वचन, इस विषय पर पहले जो कुछ कहा जा चुका है उसका सार मात्र नहीं है, प्रयोजनीय साधना का और इसके समस्त तप और पुरुषार्थ के परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाली महत्तर अध्यात्म-चेतना का संक्षिप्त वर्णन मात्र नहीं है ; वह तो मानों बड़े वेग के साथ और भी आगे बढ़ती है, प्रत्येक नियम-मर्यादा और विधि-विधान को तोड़ डालती है और अनंत अर्थ से गर्भित एक विशाल एवं असीम आध्यात्मिक सत्य का द्वार खोल देती है। और यह गीता की शिक्षा की गभीरता एवं व्यापकता का तथा उसकी भावना की महत्ता का चिह्न है। एक साधारण धार्मिक शिक्षा या दार्शनिक सिद्धान्त सत्य के कुछ एक महत् और प्राणवंत पहलुओं को अधिकृत करके तथा उन्हें मनुष्य के अंतर्जीवन का और उसके कर्म के विधान और स्वरूप का मार्गदर्शन करने के लिए एक उपयोगी मतवाद, उपदेश, पद्धति एवं साधना का रूप देकर ही भलीभांति संतुष्ट हो जाता है ; वह इससे आगे नहीं जाता, वह अपनी पद्धति के घेरे के बाहर निकलने के लिए द्वार नहीं खोलता, किसी विस्तीर्णतम स्वतंत्रता और निर्बंध विशालता में हमें नहीं ले जाता। इस सीमाबंधन का भी कुछ उपयोग है और निश्चय ही कुछ समय के लिए यह अनिवार्य भी है। मनुष्य अपने मन और संकल्प के द्वारा परि-सीमित है, इसलिए उसे अपने विचार और कर्म का निर्वाचन करने के लिए एक नियम और विधान की, एक बंधी-बंधाई पद्धति और सुनिश्चित अभ्यासक्रम की आवश्यकता होती है ; वह चाहता है एक ही अचूक और कटा-छंटा मार्ग,

१. गीता १८, ४९-५६

जो दोनों ओर से बाड़ से घिरा हुआ एवं सुनिर्दिष्ट हो और जिसपर पैर रखना सुरक्षित हो, वह चाहता है सीमित व्योम, परिरक्षित पड़ाव। केवल शक्तिशाली और विरले व्यक्ति ही स्वतंत्रता के एक स्तर के द्वारा उसके दूसरे स्तर की ओर बढ़ सकते हैं। और फिर भी जिन रूपों और प्रणालियों में मन संतुष्ट रहता है और अपना सीमित सुख लाभ करता है उनसे अंततः बाहर निकलने का कोई मार्ग मुक्त जीव के लिए होना ही चाहिए। अपने आरोहण की सीढ़ी को पार कर जाना, उसके ऊँचे-से-ऊँचे डण्डे पर भी रुक न जाना बल्कि मुक्त और व्यापक रूप से आत्मा की विशालता में विचरण करना ही वह मुक्ति है जो हमारी पूर्णता के लिए परमावश्यक है ; आत्मा की परम स्वाधीनता ही हमारी सिद्ध अवस्था है जिसकी ओर गीता हमें इस प्रकार ले जाती है : वह आरोहण के एक स्थिर, निश्चित पर अत्यंत विस्तीर्ण मार्ग का, एक महान् धर्म का प्रतिपादन कर देती है, और फिर वह हमें जो कुछ प्रतिपादित कर चुकी है उस सबसे बाहर निकालकर, उसके परे, सब धर्मों के परे एक अनंततः उन्मुक्त व्योम में ले जाती है और एक पूर्ण आध्यात्मिक स्वाधीनता पर प्रतिष्ठित परम सिद्धि की आशा हमारे सामने प्रकट कर देती है, उसके रहस्य में हमारा प्रवेश करा देती है, और वह रहस्य ही, **'गुह्यतमम्,'** उसके परम वचन का सार है, वही गूढ़ तत्त्व और अंतरतम ज्ञान है।

और सर्वप्रथम गीता अपने संदेश का स्वरूप पुनः प्रतिपादित करती है। पंद्रह श्लोकों की परिमित परिधि में वह संपूर्ण रूपरेखा और सारमर्म संक्षेप में वर्णित कर देती है, इन पंक्तियों की भावाभिव्यंजना और अर्थ संक्षिप्त एवं घनीभूत है, इनमें विषय का आभ्यंतरिक सार कुछ भी नहीं छूटा है और वह अत्यंत विशद यथार्थता तथा प्रांजलता से युक्त उक्तियों में व्यक्त किया गया है। और अतएव इनकी आलोचना बड़े ध्यान से करनी होगी, जो कुछ पहले कहा जा चुका है उस सबके प्रकाश में गहराई के साथ इनका अध्ययन करना होगा, क्योंकि यहाँ स्पष्ट उद्देश्य यह है कि जिसे स्वयं गीता अपनी शिक्षा का केंद्रीय भाव समझती है उसका निष्कर्ष दे दिया जाय। इस वर्णन का आरम्भ होता है ग्रंथ की विचारधारा के मूल आरम्भ-बिन्दु से, मानव-कर्म की पहेली से, संसार के सारे कर्म करना जारी रखते हुए भी उच्चतम सत्ता और आत्मा में निवास करने की आपात-अलंघ्य कठिनाई से। सबसे सुगम मार्ग यह है कि इस समस्या को असमाधेय कहकर तथा जीवन और कर्म को भ्रम मानकर या उन्हें सत्ता की एक निम्नतर गति कहकर छोड़ दिया जाय, ज्योंही हम इस जगज्जाल से निकलकर अध्यात्म-सत्ता के सत्य में उठ सकें त्योंही हमें इस भ्रम या निम्नगति का त्याग कर देना चाहिए। यह

संन्यासी का समाधान है, पर इसे समाधान कहा जा सकता है या नहीं यह संदेहास्पद है ; कुछ भी हो यह उक्त समस्या से छुटकारा पाने का एक निश्चित और प्रभावशाली मार्ग है, उच्चतम और निदिध्यासनपूर्ण कोटि की प्राचीन भारतीय विचारधारा ने ज्योंही अपने प्रथम विशाल और मुक्त समन्वय को छोड़कर तीव्र रूप से किसी अन्य दिशा में मुड़ना शुरू किया त्योंही वह इसी मार्ग की ओर नित अधिकाधिक प्रबलता के साथ बढ़ती चली गयी। तंत्र की भांति गीता भी—और कुछ पहलुओं में परवर्ती धर्म भी—प्राचीन संतुलन को सुरक्षित रखने का यत्न करती है : वह मूल समन्वय के सारतत्त्व और आधार की रक्षा करती है, परन्तु उसका रूप एक विकासशील आध्यात्मिक अनुभूति के प्रकाश में परिवर्तित और नवीकृत कर दिया गया है। मनुष्य के पूर्ण सक्रिय जीवन को उच्चतम सत्ता और आत्मा में होनेवाले अंतर्जीवन के साथ समन्वित करने की कठिन समस्या को यह शिक्षा यों ही नहीं टाल देती ; यह इसका जो वास्तविक समाधान मानती है उसे प्रस्तुत करती है। यह इस बात से बिलकुल इन्कार नहीं करती कि जीवन का संन्यास अपने निज उद्देश्य के लिए एक अमोघ साधन है, पर यह देखती है कि संन्यास समस्या की ग्रंथि को खोलने के बजाय उसे काट डालता है और अतएव यह उसे एक हीन विधि समझती है और अपने पथ को उत्कृष्टतर मानती है। ये दोनों ही मार्ग हमें मनुष्य की निम्न अज्ञानमय सामान्य प्रकृति से उबारकर शुद्ध अध्यात्म-चेतना की ओर ले जाते हैं और इतने अंश में इन दोनों को युक्तिसंगत और यहांतक कि सारतः एक ही मानना होगा : परन्तु जहाँ एक रुक जाता है और पीछे हट आता है, वहाँ दूसरा एक स्थिर-सूक्ष्म दृष्टि तथा उच्च साहस के साथ आगे बढ़ता है, अविज्ञात प्रदेशों का द्वार खोल देता है, मनुष्य को परमेश्वर के अन्दर पूर्ण बनाता है और आत्मा के अन्दर जीव तथा प्रकृति का ऐक्य एवं सामंजस्य साधित करता है।

और इसलिए इनमें से पहले पाँच श्लोकों में गीता अपना कथन ऐसी भाषा में प्रस्तुत करती है कि वह आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार के संन्यास के मार्गों पर घट सकता है और फिर भी वह उसे ऐसी शैली में उपस्थित करती है कि उसमें से गीता के द्वारा समर्थित पद्धति का अर्थ और भाव निकालने के लिए हमें केवल उन दोनों मार्गों के कुछ सामान्य शब्दों को एक गभीरतर तथा अधिक अंतरीय अर्थ देना पड़ता है। मानव-कर्म की कठिनाई यह है कि मनुष्य की अंतरात्मा और प्रकृति, सांघातिक रूप से, अनेक प्रकार के बंधनों के अधीन प्रतीत होती है। वे बंधन हैं—अज्ञान की कारा, अहंकार का पाश, वासनाओं की शृंखला, तत्तत् क्षण के जीवन का आघातकारी आग्रह और अंधकारावृत एवं परिसीमित

चक्र जिससे बाहर निकलने का कोई रास्ता ही नहीं। कर्म के इस चक्र में बंधे हुए जीव को कोई स्वाधीनता नहीं है, अपनी आत्मा को, जीवन के सच्चे मूल्य-महत्त्व और जगत् के अर्थ को खोजने के लिए उसके पास न अवकाश है न आत्म-ज्ञान का प्रकाश। अपने सक्रिय व्यक्तित्व और गतिशक्तिमय प्रकृति से उसे अपनी सत्ता के सम्बन्ध में जो संकेत प्राप्त हो सकते हैं वे उसे निःसंदेह उपलब्ध हैं, परन्तु वहाँ वह पूर्णता के जो आदर्श मान स्थापित कर सकता है वे इतने अधिक कालावच्छिन्न, सीमाबद्ध और सापेक्ष हैं कि वे उसकी अपनी पहेली का संतोष-जनक समाधान नहीं हो सकते। अपनी क्रियाशील प्रकृति की सर्वग्रासी पुकार में तल्लीन रहता हुआ और उसके द्वारा निरंतर बलपूर्वक बहिर्मुख किया जाता हुआ वह अपनी वास्तविक आत्मा तथा आध्यात्मिक जीवन को फिर से कैसे प्राप्त करे? संन्यासी का त्याग-मार्ग और गीता का मार्ग दोनों इस बात में एकमत हैं कि उसे सबसे पहले इस तल्लीनता का परित्याग करना होगा, बाह्य वस्तुओं के बहिर्मुख आमंत्रण को अपनेसे दूर हटाना होगा और शान्त आत्मा को चिर-चंचल प्रकृति से पृथक् कर लेना होगा; उसे निश्चल आत्मा और नीरवता-गत जीवन के साथ अपने-आपको एकाकार करना होगा। उसे आंतरिक **'नैष्कर्म्य'** प्राप्त करना होगा। अतएव इस उद्धारक, आभ्यंतरिक निष्क्रियता को ही यहाँ गीता अपने योग का प्रथम उद्देश्य, उसकी पहली आवश्यक सिद्धि बताती है। "सभी वस्तुओं में आसक्तिरहित बुद्धि रखते हुए, आत्मा को जीतकर और कामनाशून्य होकर मनुष्य संन्यास के द्वारा नैष्कर्म्य की परम सिद्धि प्राप्त करता है।"

संन्यास, आत्मजय से लब्ध शान्ति, आध्यात्मिक निष्कर्मता और कामना से मुक्ति का यह आदर्श समस्त प्राचीन ज्ञान में सामान्य रूप से पाया जाता है। गीता हमें अतुलनीय पूर्णता और स्पष्टता के साथ इसका मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करती है। वह आत्मज्ञान के अन्वेषक सभी साधकों के इस सर्वसामान्य अनुभव को अपना आधार बनाती है कि हमारे अन्दर दो विभिन्न प्रकृतियाँ और मानों दो विभिन्न आत्माएँ हैं। एक तो तमसाच्छन्न मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृति की निम्नतर सत्ता है जो अपनी चेतना के मूल उपादान तक में और विशेषकर अपने जड़-तत्त्व-रूपी आधार में अज्ञान और जड़ता के अधीन है, प्राण-शक्ति के कारण क्रियाशील और प्राणवंत अवश्य है पर अपने कार्य में स्वाभाविक आत्म-स्वामित्व और आत्म-ज्ञान से रहित है, मन में कुछ ज्ञान और सामंजस्य प्राप्त तो करती है पर करती है केवल कठिन प्रयास और अपनी अक्षमताओं के साथ निरन्तर संघर्ष के द्वारा। और, दूसरे हमारी अध्यात्म-सत्ता की एक

उच्चतर प्रकृति और आत्मा भी है जो आत्मवशी और स्वयं-प्रकाश है, पर हमारे साधारण मन में हमारे लिए अनुभवगम्य नहीं है। समय-समय पर हमें अपने अन्दर विद्यमान इस महत्तर वस्तु की झांकियाँ तो मिलती हैं, पर हम सचेतन रूप से उसके अन्दर अवस्थित नहीं हैं ; हम उसकी ज्योति, शान्ति और असीम गरिमा में निवास नहीं करते। इन दो अत्यंत भिन्न वस्तुओं में से पहली गीता की त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। वह अपने-आपको अहंभाव के केंद्र से ही देखती है, उसका कर्म-सूत्र है अहं से उत्पन्न कामना और अहं की ग्रंथि है मन, इंद्रिय और प्राणिक कामना के विषयों के प्रति आसक्ति। इन सब चीजों का अवश्यंभावी और सतत परिणाम होता है बंधन, निम्नतर नियंत्रण के प्रति स्थायी अधीनता, आत्म-प्रभुत्व और आत्म-ज्ञान का अभाव। दूसरी महत्तर शक्ति और उपस्थिति के बारे में हमें यह ज्ञान प्राप्त होता है कि वह अहं से अपरिच्छिन्न शुद्ध आत्मा की प्रकृति और सत्ता है, उस आत्मा को भारतीय दर्शन में निर्गुण सत्ता एवं निर्व्यक्तिक ब्रह्म कहा गया है। उसका मूलतत्व है अनंत एवं निर्व्यक्तिक सत्ता जो सबमें एक और अभिन्न है : और क्योंकि यह निर्व्यक्तिक सत्ता अहंभाव, परिच्छेदक गुण, कामना, आवश्यकता या प्रेरणा से रहित है, यह अचल और अक्षर है ; नित्य निर्विकार रहती हुई यह विश्व के कर्म को देखती तथा उसे आश्रय एवं अनुमति मात्र देती है पर उसमें न तो भाग लेती है न उसका आरम्भ ही करती है। जीव जब अपनेको सक्रिय प्रकृति में बाहर की ओर झोंकता है तो वह गीता का क्षर, सचल या परिवर्तनशील पुरुष होता है ; वही जीव जब पुनः शुद्ध, नीरव आत्मा और मूल अध्यात्मसत्ता में समाहृत हो जाता है तो वह गीता का अक्षर, अचल या अपरिवर्तनशील पुरुष होता है।

अतएव, स्पष्ट ही, सक्रिय प्रकृति के निबिड़ बंधन से बाहर निकलने तथा फिर से आध्यात्मिक स्वातंत्र्य लाभ करने का सीधा और सरलतम मार्ग यह है कि जो कुछ भी अज्ञान की क्रियाशक्ति से सम्बन्ध रखता है उस सबको पूर्ण रूप से निकाल फेंका जाय और अंतरात्मा को शुद्ध अध्यात्मसत्ता में रूपांतरित किया जाय। इसी को ब्रह्म बनना, 'ब्रह्मभूय' कहा जाता है। इसका अर्थ है निम्नतर मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ता का परित्याग करना और शुद्ध अध्यात्मसत्ता को ग्रहण करना। यह कार्य बुद्धि एवं संकल्प शक्ति के द्वारा सर्वोत्तम रीति से संपन्न किया जा सकता है ; यह बुद्धि ही हमारा वर्तमान उच्चतम तत्त्व है। इसे निम्न सत्ता की चीजों से और प्रथमतः तथा प्रधानतः अपनी कामना-रूपी शक्तिशाली ग्रंथि से, मन और इन्द्रियाँ जिन विषयों के पीछे दौड़ती हैं उनके प्रति हमारी आसक्ति से दूर हटना होगा। मनुष्य को सभी वस्तुओं में अनासक्त

बुद्धिवाला बनना होगा, **'असक्तबुद्धिः सर्वत्र'**। तब अपनी नीरवता में प्रतिष्ठित जीव से समस्त कामना दूर हो जायगी; वह सब लालसाओं से मुक्त, **'विगत-स्पृह'** हो जायगा। यह अवस्था अपने संग निम्नतर स्व की अधीनता और उच्चतर स्व की उपलब्धि को ले आती है अथवा उन्हें संभव बना देती है, वह उपलब्धि पूर्ण आत्म-प्रभुत्व पर निर्भर करती है, अपनी परिवर्तनशील प्रकृति पर आमूल विजय और आधिपत्य के द्वारा, **'जितात्मा'** बनने के द्वारा, उपलब्ध होती है। और इस सबका अर्थ है वस्तुओं की कामना का पूर्ण, आंतरिक त्याग, **'संन्यास'**। संन्यास इस पूर्णता का पथ है और जो आदमी इस प्रकार भीतर से सब कुछ त्याग चुका है उसे गीता ने सच्चा संन्यासी कहा है। परन्तु क्योंकि यह शब्द प्रायः बाह्य त्याग को भी द्योतित करता है अथवा यहाँतक कि कभी-कभी केवल उसी को सूचित करता है, अतएव भगवान् गुरु आंतरिक विरति से बाह्य विरति का भेद करने के लिए एक अन्य शब्द, **'त्याग'** का प्रयोग करते हैं और कहते हैं कि त्याग संन्यास से श्रेष्ठ है। संन्यास-मार्ग क्रियाशील प्रकृति से अपनी निवृत्ति में बहुत ही आगे बढ़ जाता है। वह संन्यास से संन्यास की खातिर प्रेम करता है और जीवन तथा कर्म के बाह्य त्याग और आत्मा तथा प्रकृति की पूर्ण निस्तब्धता पर आग्रह करता है। इसपर गीता कहती है कि जबतक हम शरीर में बास करते हैं तबतक पूर्ण रूप से ऐसा करना संभव नहीं। जहाँतक ऐसा करना संभव हो वहाँतक ऐसा किया जा सकता है, परन्तु कर्मों को इस प्रकार कठोरतापूर्वक कम कर देना अनिवार्य नहीं : यहाँतक कि वास्तव में या कम-से-कम सामान्यतः यह उचित नहीं। एकमात्र आवश्यक वस्तु है पूर्ण आंतरिक निष्क्रियता और यही है गीता के नैष्कर्म्य का संपूर्ण आशय।

यदि हम यह पूछें कि जब हमारा लक्ष्य शुद्ध आत्मा बनना है और शुद्ध आत्मा को निष्क्रिय, **'अकर्ता'** कहा गया है तब-भला इस प्रकार कुछ कर्मों को क्यों बचाये रखा जाय, क्रियाशील तत्त्व के प्रति यह आसक्ति क्यों रखी जाय, तो इसका उत्तर यह है कि ऐसी निष्क्रियता और आत्मा का प्रकृति से विच्छेद हमारी आध्यात्मिक मुक्ति का संपूर्ण सत्य नहीं है। आत्मा और प्रकृति अंततोगत्वा एक ही वस्तु हैं; समग्र और पूर्ण आध्यात्मिकता हमें आत्मा और प्रकृति में विद्यमान समस्त भगवान् से एक कर देती है। वास्तव में यह ब्रह्म बनना, आत्मा के अन्दर शाश्वत शान्ति धारण करना, **'ब्रह्मभूय,'** ही हमारा संपूर्ण लक्ष्य नहीं है, यह तो केवल एक और भी महत्तर तथा अधिक अद्भुत भगवद्भाव, **'मद्भाव'** के लिए एक आवश्यक, विशाल आधार है। और वह महत्तम अध्यात्म-सिद्धि लाभ करने के लिए हमें निःसंदेह आत्मा में अचल और अपने आधार के सभी अंगों

में नीरव होना होगा, पर साथ ही शक्ति एवं प्रकृति में, आत्मा की सच्ची और उच्च शक्ति में स्थित होकर कर्म भी करना होगा। और यदि हम यह प्रश्न करें कि जो दो चीजें विरोधी प्रतीत होती हैं उनका एक साथ रहना कैसे संभव हो सकता है तो इसका उत्तर यह है कि पूर्ण अध्यात्म-सत्ता का वास्तविक स्वभाव ही यही है ; उसमें सदा ही अनंत की यह उभयविध स्थिति बनी रहती है। निर्व्यक्ति आत्मा शान्त है ; हमें भी अन्दर से शान्त, निर्व्यक्तिक, आत्मसमाहित होना होगा। निर्व्यक्तिक आत्मा समस्त कर्मों को इस रूप में देखती है कि वे उसके द्वारा नहीं बल्कि प्रकृति के द्वारा किये जाते हैं ; वह उसके गुणों और शक्तियों की समस्त क्रिया को शुद्ध समता के साथ देखती है : उसी प्रकार, आत्मा में निर्व्यक्तिक बने हुए जीव को हमारे सब कर्मों को इस रूप में देखना होगा कि वे स्वयं उसके द्वारा नहीं बल्कि प्रकृति के गुणों के द्वारा किये जाते हैं; उसे सभी वस्तुओं में, **'सर्वत्र,'** समचित्त होना होगा। और साथ ही, इसलिए कि हम यहाँ रुक न जायँ और अंततः हम आगे बढ़ें तथा केवल आभ्यंतरिक निश्चल-नीरवता का नियम ही नहीं बल्कि अपने कर्मों का आध्यात्मिक विधान और निर्देशन भी प्राप्त करें, हमसे यह कहा गया है कि हम अपनी बुद्धि और संकल्पशक्ति पर यज्ञ का भाव आरोपित करें जिससे हमारा समस्त कर्म अन्दर से बदलकर प्रकृति के प्रभु के प्रति, जिस पुरुष की वह एक आत्म-शक्ति, **'स्वा प्रकृतिः'** है उसके प्रति, परम आत्मा के प्रति एक भेंट का रूप धारण कर ले। यहाँतक कि अन्त में हमें सब कुछ उनके हाथों में सौंप देना होगा, कर्म के समस्त व्यक्तिगत आरंभों, **'सर्वारम्भा,'** को त्याग देना होगा, अपनी प्राकृत सत्ता को उनके कर्मों और उनके उद्देश्य के एक यंत्र के रूप में ही धारण करना होगा। इन चीजों की व्याख्या पहले पूरे विस्तार से की जा चुकी है और गीता यहाँ इनपर बल नहीं देती, बल्कि संन्यास और नैष्कर्म्य इन सामान्य शब्दों को बिना और किन्हीं अधिक विशेषणों के साधारण रूप में ही प्रयुक्त करती है।

जब एक बार हमने यह मान लिया कि शुद्ध, निर्व्यक्तिक आत्मा में निवास करने के लिए पूर्णतम आभ्यंतरिक निस्तब्धता एक आवश्यक साधन है तो इसके बाद यह प्रश्न उठता है कि क्रियात्मक रूप में निस्तब्धता से यह परिणाम कैसे उत्पन्न होता है। "किस प्रकार यह सिद्धि लाभ करके मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त करता है, यह बात, हे कौन्तेय, तू मुझसे सुन,—यह ज्ञान की परा निष्ठा है।" यहाँ जिस ज्ञान से अभिप्राय है वह है सांख्यों का योग—गीता के द्वारा स्वीकृत शुद्ध ज्ञान-योग, **'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानाम्'**, जहाँतक कि यह योग उसके अपने योग के साथ एकीभूत है जिसमें योगियों का कर्ममार्ग भी सम्मिलित है, **'कर्मयोगेन**

योगिनाम्'। परन्तु यहाँ कर्मों की समस्त चर्चा अभी स्थगित रखी हुई है, क्योंकि यहाँ ब्रह्म का सर्वप्रथम अभिप्राय है नीरव, निर्व्यक्तिक एवं अक्षर सत्ता। निःसंदेह, उपनिषदों और गीता दोनों के मत से ब्रह्म वह सभी कुछ है जो कुछ कि यहाँ है, जो कुछ कि यहाँ जीवंत और गतिशील है; वह केवल निर्गुण, अनंत या अचिंत्य और अव्यवहार्य परतत्त्व, 'अचिन्त्यमव्यवहार्यम्,' ही नहीं है। उपनिषद् कहती है कि यह सब ब्रह्म है, गीता कहती है कि यह सब वासुदेव है,—यहाँ चर या अचर जो कुछ भी है वह सब ही परम ब्रह्म है और उनके हाथ, पैर, आँखें, सिर और मुख हमारे चारों ओर विद्यमान हैं। परन्तु फिर भी इन 'सर्व' के दो रूप हैं,—इनकी एक अक्षर, नित्य सत्ता है जो जगत् को धारण करती है और, साथ ही, इनकी एक सक्रिय-शक्तिमय सत्ता भी है जो विश्व-गति में सर्वत्र विचरण करती है। जब हम आत्मा की निर्व्यक्तिकता में अपने सीमित अहं-व्यक्तित्व को खो देते हैं केवल तभी हम वह शान्त और मुक्त एकत्व प्राप्त करते हैं जिसके द्वारा हम भगवान् के विश्व-व्यापार में उनकी विश्वशक्ति के साथ सच्चा ऐक्य लाभ कर सकते हैं। निर्व्यक्तिकता सीमा और विभाजन का निषेध है, और निर्व्यक्तिकता की उपासना वास्तविक सत्ता की स्वाभाविक अवस्था है, शुद्ध ज्ञान का एक अपरिहार्य आरम्भिक सोपान है और अतएव सच्चे कर्म का पहला आवश्यक साधन है। यह अत्यंत स्पष्ट है कि अपने अहं के संकीर्ण व्यक्तित्व पर आग्रह करके हम सबके साथ एकात्मा नहीं हो सकते और न हम विश्वपुरुष और उसके विशाल आत्म-ज्ञान, नानामुखी संकल्प और व्यापक जगदुद्देश्य के साथ ही एकमय हो सकते हैं; क्योंकि अहंमय व्यक्तित्व हमें दूसरों से अलग कर देता है और हमारे दृष्टिकोण तथा कर्म-संकल्प में हमें बद्ध तथा स्वकेंद्रित बना देता है। व्यक्तित्व में कैद करते हुए हम दूसरों के दृष्टिबिन्दु, भाव और संकल्प के साथ अपनी सहानुभूति या किसी प्रकार के सापेक्ष सामंजस्य के द्वारा केवल एक सीमित एकत्व ही प्राप्त कर सकते हैं। सबके साथ और भगवान् तथा उनके विश्वगत संकल्प के साथ एक होने के लिए हमें पहले निर्व्यक्तिक बनना होगा और अपने अहं तथा उसके दावों से और अपने-आप, जगत् तथा दूसरों को देखने के अहमात्मक ढंग से मुक्त होना होगा। और यदि हमारी सत्ता में स्थूल व्यक्तित्व या अहं से भिन्न कोई और वस्तु न हो, सर्व भूतों के साथ एकीभूत कोई निर्व्यक्तिक आत्मा न हो, तो हम निर्व्यक्तिक और अहं-मुक्त नहीं हो सकते। अतएव अहं को खोकर यही निर्व्यक्तिक आत्मा बन जाना, अपनी चेतना में यही निर्गुण ब्रह्म बन जाना ही इस योग की पहली क्रिया है।

तो भला यह कैसे किया जाय? गीता कहती है कि सर्वप्रथम बुद्धियोग के

द्वारा अपनी विशुद्ध बुद्धि को अपने अन्दर के शुद्ध अध्यात्म-तत्त्व के साथ योग-युक्त करके, **'बुद्धया विशुद्धया युक्तः,'** यह कार्य संपन्न करना होगा। बहिर्मुखी और अधोमुखी दृष्टि से विमुख होकर अंतर्मुखी और ऊर्ध्वमुखी दृष्टि की ओर बुद्धि का यह आध्यात्मिक झुकाव ज्ञानयोग का सार है। विशुद्ध बुद्धि को संपूर्ण सत्ता का नियमन करना होगा, **'आत्मानं नियम्य'**; उसे हमें एक धीर-स्थिर संकल्प के द्वारा, **'धृत्या'** जो अपनी एकाग्रता में, पूर्ण रूप से, शुद्ध आत्मा की निर्व्यक्तिकता की ओर मुड़ा रहता है, निम्न प्रकृति की बहिर्मुखी कामनाओं के प्रति आसक्ति से परे हटाना होगा। इंद्रियों को अपने विषयों का त्याग करना होगा, मन को इन विषयों के द्वारा जनित राग-द्वेष अपने अन्दर से निकाल फेंकना होगा,—क्योंकि निर्व्यक्तिक आत्मा के अन्दर कोई कामनाएँ और जुगुप्साएं नहीं हैं; ये तो वस्तुओं के स्पर्शों के प्रति हमारे व्यक्तित्व की प्राणिक प्रतिक्रियाएं हैं, और इन स्पर्शों के प्रति मन और इन्द्रियों का अनुरूप प्रत्युत्तर ही इनका आश्रय और आधार है। मन, वाणी और शरीर पर, यहाँतक कि प्राण और शरीर की प्रतिक्रियाओं पर, भूख, सर्दी-गर्मी और शारीरिक सुख-दुःख पर पूर्ण नियंत्रण अधिगत करना होगा; हमारी संपूर्ण सत्ता को तटस्थ, इन द्वंद्वों से अप्रभावित, समस्त बाह्य स्पर्शों तथा उनकी आन्तरिक प्रतिक्रियाओं एवं प्रत्युत्तरों के प्रति सम बनना होगा। यह अत्यंत सीधी और शक्तिशाली पद्धति है, योग का सरल और तीव्र पथ है। कामना और आसक्ति से पूर्ण विरति, **'वैराग्य,'** परमावश्यक है; साधक से यह मांग की जाती है कि वह निर्व्यक्तिक निर्जनता का दृढ़ रूप से अवलम्बन करे और ध्यान के द्वारा अंतरतम आत्मा के साथ शाश्वत मिलन लाभ करे। और फिर भी इस कठोर साधना का उद्देश्य विश्व-कर्म में भाग लेने के कष्ट से पराङ्मुख रहनेवाले मुनि और मनीषी के किसी परम अहमात्मक एकांतवास और शान्ति में आत्म-केंद्रित हो जाना नहीं है; इसका उद्देश्य है समस्त अहं से मुक्त होना। सबसे पहले मनुष्य को राजसिक प्रकार के अहंभाव, अहंकारमय बल और उग्रता, दम्भ, काम, क्रोध, स्वामित्व की भावना और प्रेरणा, षड्रिपुओं के आवेग और प्राण की उग्र विषय-लालसा का नितांत वर्जन करना होगा। परन्तु बाद में सब प्रकार के, यहाँतक कि अत्यंत सात्त्विक कोटि के अहंभाव का भी परित्याग करना होगा; क्योंकि हमारा उद्देश्य है अंतःपुरुष, मन और प्राण को अंत में समस्त बंधनकारक अहंता और ममता से मुक्त, **'निर्मम'** कर देना। इसके लिए जो विधि हमारे सामने रखी गयी है वह है अहं और उसकी सब प्रकार की मांगों का उन्मूलन। क्योंकि शुद्ध निर्व्यक्तिक आत्मा, जो अविचल रहता हुआ इस विश्व को धारण करता है, अहंभाव से रहित है और वह

किसी वस्तु या व्यक्ति से कोई मांग नहीं करता ; वह शान्त है, तेजोमय रूप में निर्विकार है और सभी वस्तुओं तथा व्यक्तियों को आत्म-ज्ञान एवं विश्व-ज्ञान की सम और निष्पक्ष दृष्टि से शांत भाव के साथ देखता है। अतएव स्पष्टतः ही आंतरिक तौर पर इसी प्रकार की या इससे अभिन्न निर्व्यक्तिकता में रहती हुई ही हमारी अंतःस्थ आत्मा वस्तुओं के घेरे से छूटकर इन अक्षर ब्रह्म के साथ, जो विश्व के रूपों और परिवर्तनों को देखते और जानते तो हैं पर उनसे प्रभावित नहीं होते, उत्तम रूप से एकत्व लाभ करने के योग्य बन सकती है।

निर्व्यक्तिकता की यह सर्वप्रथम साधना, जिसका गीता ने उपदेश दिया है, स्पष्टतः ही अपने साथ एक प्रकार की पूर्णतम आंतरिक निष्क्रियता लाती है और अपने अंतरतम अंश में तथा अपने साधनाभ्यास के सूत्रों में यह संन्यास की प्रणाली के ही समान है। फिर भी एक ऐसा स्थल आता है जहाँ क्रियाशील प्रकृति और बाह्य जगत् के दावों से पीछे हटने की इसकी प्रवृत्ति रुक जाती है और आंतरिक निष्क्रियता पर एक रोकथाम लगा दी जाती है जिससे यह गहरी होकर कर्म-निषेध और भौतिक निवृत्ति का रूप धारण न कर ले। इंद्रियों के द्वारा अपने विषयों का वर्जन, **'विषयांस्त्यक्त्वा'**, 'त्याग'-रूप ही होना चाहिए ; वह इंद्रियों के विषयों के प्रति समस्त आसक्ति, **'रस,'** का परित्याग होना चाहिए, न कि इंद्रियों की स्वभावगत आवश्यक क्रिया का निराकरण। मनुष्य को अपने चारों ओर की वस्तुओं के बीच विचरना होगा और इंद्रिय-क्षेत्र के विषयों पर इंद्रियों के शुद्ध, यथार्थ और तीव्र, सहज और निरपेक्ष व्यापार के साथ क्रिया करनी होगी जिससे कि इंद्रियाँ दिव्य कर्म में आत्मा के उपयोग में ही आवें, **'केवलैरिन्द्रियैश्चरन्,'** कामना की पूर्ति के काम में कदापि नहीं। वैराग्य अवश्य होना चाहिए, पर जीवन से विरक्ति या जगत्कर्म के प्रति अरुचि के सामान्य अर्थ में नहीं, वरन् राग और साथ ही तद्विपरीत द्वेष के त्याग के अर्थ में। मन और प्राण की समस्त रुचि का और साथ ही उनकी सब प्रकार की अरुचि का भी परित्याग करना होगा। किंतु गीता हमसे इस चीज की माँग निर्वाण के लिए नहीं, बल्कि इसलिए करती है कि एक पूर्ण सामर्थ्यप्रद समता प्रतिष्ठित हो जाय जिसमें आत्मा वस्तुओं के संबंध में सर्वांगीण और व्यापक दिव्य दृष्टि को तथा प्रकृति के बीच सर्वांगीण दिव्य कर्म को एक निर्बाध और अपरिमेय स्वीकृति दे सके। ध्यान का अविरत अवलंबन, **'ध्यानयोगपरो नित्यम्,'** एक सुदृढ़ साधन है जिसके द्वारा मनुष्य की अंतरात्मा अपनी शक्तिमय और नीरवतामय सत्ता का साक्षात्कार कर सकती है। तथापि शुद्ध ध्यान के जीवन के लिए क्रियाशील जीवन का त्याग बिलकुल नहीं करना होगा ; परमेश्वर के प्रति एक यज्ञ के

रूप में कर्म तो सदा ही करना होगा। संन्यास-मार्ग में निवृत्ति की यह साधना व्यक्ति को सनातन के अंदर मग्न होकर निज सत्ता का लय कर देने के लिए तैयार करती है, और जागतिक कर्म और जीवन का त्याग इस प्रक्रिया का एक अनिवार्य सोपान है। परंतु गीता के त्याग-मार्ग में यह वस्तुतः हमारे संपूर्ण जीवन और सत्ता को तथा समस्त कर्म को भगवान् की प्रशांत और अपरिमेय सत्ता, चेतना और संकल्प-शक्ति के साथ पूर्ण एकत्व में परिणत करने के लिए एक भूमिका है, और यह निम्नतर अहं से परमोच्च आध्यात्मिक प्रकृति, **'पराप्रकृति'** की अकथ पूर्णता की ओर जीव की विशाल और समग्र ऊर्ध्वगति का मंगलाचरण करती है तथा उसे संभव बनाती है।

गीता की विचारधारा के इस निर्णायक मोड़ की ओर अगले दो श्लोकों में संकेत किया गया है, उनमें से पहले का विचारक्रम विशेष रूप से अर्थगर्भित है, "जब कोई व्यक्ति ब्रह्म बन जाता है, जब वह न शोक करता है और न कामना, जब वह सब भूतों के प्रति सम हो जाता है, तब वह मुझमें परा प्रीति और भक्ति प्राप्त करता है।"[1] परंतु ज्ञान के संकीर्ण मार्ग में भक्ति, सगुण ब्रह्म के प्रति भक्ति, केवल एक अवर एवं प्रारंभिक साधना ही हो सकती है; परिणति किंवा पराकाष्ठा तो है निर्गुण ब्रह्म के साथ होनेवाले निर्विशेष एकत्व में व्यक्तित्व का लय जिसमें भक्ति का कोई स्थान हो ही नहीं सकता; क्योंकि वहाँ न कोई उपास्य होता है न कोई उपासक; आत्मा के साथ जीव के निश्चल-नीरव तादात्म्य में और सभी कुछ विलीन हो जाता है। गीता में हमें एक ऐसा तत्त्व प्रदान किया गया है जो निर्व्यक्तिक ब्रह्म से भी ऊँचा है,—यहाँ है एक परम आत्मा जो परम ईश्वर है, यहाँ हैं परम पुरुष और उनकी परमा प्रकृति, यहाँ हैं पुरुषोत्तम जो सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक से परे हैं और अपने सनातन शिखरों पर इन दोनों में सामंजस्य साधित करते हैं। अहं-व्यक्तित्व यहाँ भी निर्व्यक्तिक की नीरवता में विलीन हो जाता है, पर साथ ही पृष्ठभूमि में इस नीरवता के रहते हुए भी एक परम आत्मा का, निर्व्यक्तिक से भी महत्तर आत्मा का कर्म बना ही रहता है। अहं और त्रिगुण की निम्नतर अंध और पंगु क्रिया अब और वहाँ नहीं रहती, बल्कि उसके स्थान पर प्रतिष्ठित होती है एक अनंत आध्यात्मिक शक्ति की, एक मुक्त अपरिमेय शक्ति की विशाल आत्म-निर्धारक गति। समस्त प्रकृति एकमेव भगवान् की शक्ति बन जाती है और समस्त कर्म एक माध्यम एवं यंत्र-स्वरूप व्यक्ति के द्वारा किया जानेवाला उन्हीं का कर्म बन जाता है। अहं के स्थान पर सच्चा आध्यात्मिक व्यष्टि सचेतन और व्यक्त रूप में

१. अ० १८, श्लोक ५४

सामने आ जाता है, वह अपने वास्तविक स्वरूप की स्वतंत्रता में, अपनी दिव्य स्थिति की शक्ति में, भगवान् के साथ के अपने शाश्वत संबंध की गरिमा-महिमा और श्री-सुषमा में प्रकट हो जाता है, वह परमेश्वर का अविनाशी अंश है, परा-प्रकृति की अक्षय शक्ति है, **'ममैवांशः सनातनः पराप्रकृति जीवभूता।'** मनुष्य की अंतरात्मा तब एक परम आध्यात्मिक निर्व्यक्तिकता में अपनेको पुरुषोत्तम के साथ एक अनुभव करती है और अपने विश्वभावापन्न व्यक्तित्व में वह अपने-को परमात्मा की एक व्यक्त शक्ति अनुभव करती है। उसका ज्ञान उनके ज्ञान का ही एक आलोक होता है; उसका संकल्प उनके संकल्प की ही एक शक्ति होता है; विश्व की सभी सत्ताओं के साथ उसकी एकता उनके नित्य एकत्व की ही क्रीड़ा होती है। इस युगल अनुभूति में ही, सत्ता के अनिर्वचनीय सत्य के दो पक्षों के इस मिलन में ही जिनमें से किसी एक या दोनों के द्वारा मनुष्य अपनी सत्ता के पास पहुँच सकता तथा उसमें प्रवेश पा सकता है, मुक्त पुरुष को निवास करना तथा कर्म और अनुभव करना होगा और इसी में उसे सबके साथ तथा अपनी आत्मा के आंतर और बाह्य व्यापारों के साथ अपने संबंध निर्धारित करने होंगे, या यूँ कहें कि अपनी परमोच्च सत्ता की महत्तम शक्ति के द्वारा उसे अपने लिए उन संबंधों का निर्धारण कराना होगा। और, उस एकीकारक अनुभूति में भी उपासना, प्रीति और भक्ति केवल संभव ही नहीं होतीं, अपितु वे उस उच्चतम अनुभव का एक विस्तृत, अपरिहार्य और सर्वोपरि अंश होती हैं। 'एक' नित्य ही 'बहु' बनता है, 'बहु' अपने प्रतीयमान भेद में भी नित्य 'एक' ही है, परम देव जगत् के इस गूढ़ तत्त्व और रहस्य को हमारे अंदर प्रकट करते हैं, न वे अपने बहुत्व से छिन्न-भिन्न होते हैं और न ही अपने एकत्व से सीमाबद्ध हैं,—यही है सर्वांगीण ज्ञान, यही है समन्वयसाधक अनुभव जो मनुष्य को मुक्त कर्म के, **'मुक्तस्य कर्म,'** के योग्य बनाता है।

गीता कहती है कि यह ज्ञान परा-भक्ति से प्राप्त होता है। जब मन वस्तुओं के संबंध में एक अतिमानसिक और उच्च आध्यात्मिक दृष्टि के द्वारा अपनेको अतिक्रम कर जाता है और साथ ही जब हृदय भी प्रेम और भक्ति के हमारे अज्ञतर मानसिक रूपों से परे विशालतम ज्ञान से प्रकाशमान, शांत और गंभीर प्रेम की ओर उठ जाता है, भगवान् में परम आनंद, अपार भक्ति, अविचल हर्षातिरेक एवं आध्यात्मिक आनंद में उन्नीत हो जाता है तभी उक्त ज्ञान की उपलब्धि होती है। जब जीव अपना भेदमूलक व्यक्तित्व खो चुकता है, जब वह ब्रह्म बन जाता है तभी वह सच्चे पुरुष में निवास कर सकता है, पुरुषोत्तम के प्रति परम ज्ञानोद्भासक भक्ति लाभ कर सकता है और अपनी गंभीर भक्ति

तथा अपने हृद्गत ज्ञान की शक्ति के द्वारा उसे पूर्ण रूप से जान सकता है, **'भक्त्या मामभिजानन्ति ।'** यही **समग्र** ज्ञान है जिसमें हृदय की अगाध दृष्टि मन की चरम अनुभूति को पूर्ण बनाती है, **'समग्रं मां ज्ञात्वा ।'** गीता कहती है, "मैं जो कुछ और जितना कुछ भी हूँ उसे वह जान लेता है, मेरी सत्ता के संपूर्ण सत्य और तत्त्व में वह मुझे जान लेता है",[1] **'यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।'** यह समग्र ज्ञान व्यक्ति में विद्यमान भगवान् का ज्ञान है ; यह मनुष्य के हृदय में गुप्त रूप से विराजमान ईश्वर की पूर्ण अनुभूति है, वे ईश्वर अब उसकी सत्ता के परम आत्मा के रूप में प्रकाशित हुए हैं, उसकी समस्त प्रदीप्त चेतना के सूर्य, उसके संपूर्ण कर्मों के प्रभु और शक्तिप्रदाता, उसकी अंतरात्मा के समस्त प्रेम और आनंद के दिव्य स्रोत, उसकी पूजा और आराधना के पात्र एक दिव्य प्रेमी और प्रियतम के रूप में प्रकट हुए हैं। यह विश्व-व्याप्त भगवान् का भी ज्ञान है, उन सनातन का ज्ञान है जिनसे सब कुछ उत्पन्न होता है, जिनमें सब कुछ निवास करता और अपना अस्तित्व धारण करता है, जगत् के आत्मा और परम सत्ता का ज्ञान है, उन वासुदेव का ज्ञान है जो, यहाँ जो कुछ भी है वह सब बने हुए हैं, उन जगदीश्वर का ज्ञान है जो प्रकृति के कर्मों की अध्यक्षता करते हैं। यह उन भागवत पुरुष का ज्ञान है जो अपनी विश्वातीत नित्य-सत्ता में ज्योतिर्मय हैं, जिनकी सत्ता का क्षुद्र मन के विचार की पकड़ से तो छूट जाता है, पर उसकी नीरवता के लिए अगोचर नहीं है, यह निरपेक्ष आत्मा, परब्रह्म, परम पुरुष, परमेश्वर के रूप में उनका एक समग्र जीवंत अनुभव है : क्योंकि इसके साथ ही वह आपात-अवर्णनीय निरपेक्ष सत्ता अपनी उस उच्चतम भूमिका में भी जागतिक कर्म का उद्गमभूत आत्मा तथा इन सब सत्ताओं का ईश्वर है। इस प्रकार मुक्त पुरुषों की अंतरात्मा समन्वयकारी ज्ञान के द्वारा पुरुषोत्तम में प्रवेश करती है और विश्वातीत, व्यक्तिगत तथा विश्वगत भगवान् के पूर्ण, स्वतःस्फूर्त आनंद के द्वारा वह उनके अंतस्तल में स्थान पा लेती है, **'मां विशते तदनन्तरम् ।'** वह पुरुष अपने आत्म-ज्ञान और आत्मानुभव में अपनी सत्ता, चेतना और इच्छाशक्ति में, अपने जगत्-ज्ञान और जगत्प्रेरणा में उनके साथ एक हो जाता है, विश्व में और विश्व के सब प्राणियों के साथ अपने एकत्व में वह उनके साथ एक हो जाता है और साथ ही जगत् और व्यक्ति से परे शाश्वत अनंत की परात्परता में भी, **'शाश्वतं पदमव्ययम्,'** वह उनके साथ एक हो जाता है। परम ज्ञान की सारभूत परम भक्ति की चरम परिणति यही है।

और तब यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार अविरत और अविच्छिन्न

---

१. १८, ६५

कर्म, जीवन के कार्य-कलाप के किसी भी भाग को कम किये बिना या छोड़े बिना सब प्रकार का कर्म न केवल परम आध्यात्मिक अनुभव के साथ सर्वथा संगत ही हो सकता है, अपितु वह इस सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त करने का उतना ही शक्तिशाली साधन हो सकता है जितना भक्ति या ज्ञान। इस विषय में गीता का जो कथन है उससे अधिक स्पष्ट कथन कोई हो ही नहीं सकता। "और सदा मेरे अंदर निवास करते हुए समस्त कर्म करने से भी वह मेरी कृपा से शाश्वत और अव्यय पद लाभ करता है।"[1] इस मोक्षप्रद कर्म का स्वरूप उन कर्मों के जैसा होता है जो हमारे अंदर तथा सृष्टि के अंदर विद्यमान भगवान् के साथ हमारी इच्छाशक्ति के और हमारी प्रकृति के सभी क्रियाशील अंगों के प्रगाढ़ मिलन में संपन्न किये जाते हैं। पहले-पहल यह यज्ञ के रूप में किया जाता है, पर अभी तक हमारा भाव यह होता है कि हम ही कर्ता हैं। आगे चलकर यह इस भाव के बिना और इस अनुभूति के साथ किया जाता है कि प्रकृति ही एकमात्र कर्त्री है। अंत में यह इस ज्ञान के साथ किया जाता है कि वह प्रकृति भगवान् की परमा शक्ति है, यह व्यक्ति को केवल एक प्रणालिका एवं यंत्र समझकर अपने सकल कर्म भगवान् के प्रति संन्यस्त और समर्पित करते हुए किया जाता है। हमारे कर्म तब सीधे अंतरस्थ आत्मा और भगवान् से प्रादुर्भूत होते हैं, अविभाज्य विश्व-कर्म का एक अंग होते हैं, हमारे द्वारा नहीं, बल्कि एक वृहत् परात्पर शक्ति के द्वारा प्रवर्तित और संपादित होते हैं। तब जो कुछ भी हम करते हैं वह सब सर्वभूतों के हृदय में आसीन प्रभु के लिए, व्यक्ति में अवस्थित परमेश्वर के लिए और हमारे अंदर उनके संकल्प की सिद्धि के लिए, जगत् में विद्यमान भगवान् के लिए, सर्वभूतों के कल्याण के लिए, जगत्-कर्म और जगदुद्देश्य की परिपूर्त्ति के लिए, या एक शब्द में, पुरुषोत्तम के लिए किया जाता है और वास्तव में वह सब अपनी विश्व-शक्ति के द्वारा वे स्वयं ही करते हैं। इन दिव्य कर्मों का बाह्य रूप-स्वरूप कुछ भी क्यों न हो फिर भी ये हमें बाँध नहीं सकते, वरंच, ये इस निम्नतर त्रिगुणमयी प्रकृति से परम, दिव्य एवं आध्यात्मिक प्रकृति की पूर्णता की ओर उठने का एक शक्तिशाली उपाय हैं। इन मिश्रित और संकीर्ण धर्मों से मुक्त होकर हम उस अमृत धर्म में पहुँच जाते हैं जो हमपर तब प्रकट होता है जब हम अपने समस्त चैतन्य और कर्म में अपने-को पुरुषोत्तम के साथ एकमय कर लेते हैं। यहाँ हम जो एकत्व लाभ करते हैं वह वहाँ काल से परे अमृतत्व में उठ जाने की शक्ति अपने संग ले आता है। वहाँ हम उनके नित्य परात्पर पद में निवास करते हैं।

१. अ. १८, श्लोक ५६

इस प्रकार यदि इन आठ श्लोकों को श्रीगुरु के द्वारा पहले प्रदान किये हुए ज्ञान के प्रकाश में ध्यान से पढ़ा जाय तो ये गीता के संपूर्ण योग का समस्त मूल विचार, समग्र केंद्रीय पद्धति और निखिल सार-तत्त्व संक्षेप के साथ, पर व्यापक रूप में प्रस्तुत करते हैं।

परम रहस्य[1]

इस प्रकार दिव्य गुरु ने शिष्य के संमुख उसके कर्म और संग्राम के क्षेत्र में शिक्षा और योग का सार प्रकट कर दिया है और अब वे इसे उसके कर्म पर लागू करने की ओर अग्रसर होते हैं, पर एक ऐसे ढंग से जिससे यह हमारे सभी कर्मों पर लागू किया जा सकता है। एक चरम दृष्टांत से संबद्ध होने और कुरुक्षेत्र के नायक से कहे जाने के कारण ये शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ रखते हैं और जो लोग भी साधारण मन से ऊपर उठने तथा उच्चतम आध्यात्मिक चेतना में निवास और कर्म करने के लिए तैयार हैं उन सभी के लिए ये एक सार्वभौम नियम हैं। अहं और व्यक्तिगत मन के घेरे को तोड़कर उससे बाहर निकल जाना और प्रत्येक चीज को आत्मा और मूल सत्ता की विशालता में देखना, परमेश्वर को जानना और उनके समग्र सत्य में तथा सभी रूपों में उनकी पूजा करना, प्रकृति और जगत्-सत्ता के परात्पर आत्मा को अपना सर्वस्व समर्पित कर देना, भगवच्चेतना को अधिकृत करना तथा उसके द्वारा अधिकृत होना, प्रेम, आनंद, संकल्प और ज्ञान की विश्व-व्यापकता में उन एकमेवाद्वितीय के साथ एकमय होना, उनके अंदर सभी जीवों के साथ तादात्म्य प्राप्त करना, जहाँ सब कुछ भगवान् ही हैं ऐसे जगत् की दिव्य आधारशिला पर तथा मुक्त आत्मा की दिव्य स्थिति में आराधना और यज्ञ के रूप में कर्म करना—यही है गीता के योग का तात्पर्य। यह है हमारी सत्ता के दृश्यमान सत्य से उसके परम आध्यात्मिक और वास्तविक सत्य में संक्रमण। और, भेदात्मक चेतना की अनेक सीमाओं को दूर कर और विषय-वासना, चंचलता एवं अज्ञान के प्रति, न्यूनतर प्रकाश और ज्ञान तथा पाप और पुण्य के प्रति, निम्नतर द्वन्द्वात्मक विधान और आदर्शके प्रति मन की आसक्ति का परित्याग करके ही मनुष्य उस सत्य में प्रवेश कर सकता है। अतएव, श्रीगुरु कहते हैं, "अपने-आपको सर्वात्मना मेरे प्रति अर्पित करके, अपने सचेतन मन में अपने सभी कर्म मुझपर उत्सर्ग करके, संकल्प और बुद्धि के योग का आश्रय लेकर, अपने हृदय और चेतना में सदा मेरे साथ एक होकर रह। यदि तू सदा-

१. १८, ५७-६६, ७३

सर्वदा मच्चित्त रहेगा तो मेरी कृपा से सब कठिन और संकटपूर्ण मार्गों को सुरक्षित रूप से पार कर जायेगा ; पर यदि तू अहंकारवश नहीं सुनेगा तो तू विनष्ट हो जायेगा। तू जो अपने अहंकार का आश्रय लेकर यूँ सोचता है कि 'मैं नहीं करूँगा', तेरा यह निश्चय मिथ्या है ; प्रकृति तुझे तेरे कर्म में नियुक्त करेगी। जो तू मोहवश नहीं करना चाहता, वही तू अपने स्वभावज कर्म से बँधा हुआ अवश होकर करेगा। हे अर्जुन, ईश्वर सर्वभूतों के हृद्देश में अवस्थित हैं और उन सबको निरंतर अपनी माया के द्वारा यंत्रारूढ़ की भाँति घुमा रहे हैं। तू सर्वभाव से उन्हीं की शरण ले, उनके प्रसाद से तू परा-शांति और शाश्वत पद लाभ करेगा।"[1]

ये वे पंक्तियाँ हैं जिनके अंदर इस योग का अंतरतम हार्द निहित है और जो हमें इसके सर्वोच्च अनुभव तक ले जाती हैं और इनको हमें इनकी अत्यंत अंतरंग भावना में और उस उच्च कोटि के अनुभव की संपूर्ण विशालता में हृदयंगम करना होगा। ये शब्द ईश्वर और मनुष्य के बीच हो सकनेवाले अधिक-से-अधिक पूर्ण, घनिष्ठ और जीवंत संबंध को व्यक्त करते हैं ; जिन विश्वातीत और विश्वगत भगवान् से मनुष्य उत्पन्न होता है और जिनमें वह वास करता है उनके प्रति उसके अनन्य आराधन, अपनी संपूर्ण सत्ता के ऊर्ध्वमुख समर्पण और निःशेष एवं पूर्ण आत्मदान से जो अंतरीय धार्मिक भाव फूटता है उसकी घनीभूत शक्ति से ये शब्द ओत-प्रोत हैं। गीता ने भक्ति, ईश्वर-प्रेम और 'परम' की उपासना को श्रेष्ठतम कर्म की अंतरतम भावना और प्रेरणा के रूप में तथा श्रेष्ठतम ज्ञान के मुकुट और सारमर्म के रूप में जो उच्च और स्थायी स्थान दिया है उसके साथ यह प्रबल धार्मिक भाव पूर्ण रूप से संगत है। यहाँ जो शब्द प्रयुक्त किये गये हैं वे और जिस आध्यात्मिक भावावेग से वे अनुप्राणित हैं वह परमेश्वर के वैयक्तिक सत्य एवं सान्निध्य को संभवनीय प्रबलतम प्रमुखता और सर्वाधिक महत्ता प्रदान करते प्रतीत होते हैं। दार्शनिक की अमूर्त कैवल्यात्मक सत्ता के प्रति, सब संबंधों का परित्याग करनेवाली किसी उदासीन निर्व्यक्तिक उपस्थिति या अनिर्वचनीय नीरवता के प्रति अपने सब कर्मों का इस प्रकार का पूर्ण समर्पण नहीं किया जा सकता और अपनी सचेतन सत्ता के सभी भागों में उसके साथ एकत्व की ऐसी घनिष्ठता और अंतरंगता को अपनी पूर्णता का अनिवार्य नियम और विधान नहीं बनाया जा सकता, न ही उससे इस दिव्य सहायता, रक्षा और मुक्तिप्रदान का प्रतिज्ञापूर्ण आश्वासन प्राप्त हो सकता है। हमारे कर्मों का प्रभु, हमारी अंतरात्मा का सखा और प्रेमी, हमारे जीवन की अंतरंग आत्मा,

१. १८, ५७-६२

हमारी समस्त वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक सत्ता और प्रकृति का अंतर्वासी और ऊर्ध्ववासी अधीश्वर ही हमें यह अंतरंग और प्रेरणाप्रद संदेश दे सकता है। तथापि यह वह सामान्य संबंध नहीं है जो धर्मों के द्वारा सात्त्विक या अन्य प्रकार के अहं-मानस में रहनेवाले मनुष्य के तथा इष्टदेव के किसी वैयक्तिक रूप एवं पक्ष के बीच स्थापित किया जाता है, इष्टदेव का यह रूप भी उस मन के द्वारा ही गढ़ा जाता है अथवा यह उसके सीमित आदर्श, अभीप्सा या कामना को पूर्ण करने के लिए उसके सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। सामान्य मानसिक मनुष्य की धार्मिक भक्ति का साधारण आशय एवं वास्तविक स्वरूप यही होता है; परंतु यहाँ एक अधिक व्यापक वस्तु विद्यमान है जो मन और उसकी सीमाओं एवं उसके धर्मों को अतिक्रम कर जाती है। मन से अधिक गंभीर कोई सत्ता ही समर्पण करती है और इष्टदेव से अधिक महान् कोई सत्ता ही उस समर्पण को ग्रहण करती है।

यहाँ जो समर्पण करता है वह है जीव, मनुष्य की मूल अंतरात्मा, उसकी आदि, केंद्रीय और आध्यात्मिक सत्ता, व्यष्टि-पुरुष। यह वह जीव है जो सीमाकारी और अज्ञानयुक्त अहंभावना से विमुक्त है, जो अपनेको पृथक् व्यक्तित्व के रूप में नहीं, बल्कि भगवान् के **सनातन अंश,** उनकी शक्ति तथा जीव-संभूति के रूप में जानता है, जो अज्ञान के विलुप्त होने के कारण मुक्त एवं उन्नीत है और सनातन की प्रकृति के साथ एकीभूत अपनी सच्ची और पराप्रकृति की ज्योति और मुक्ति में प्रतिष्ठित है। हमारे अंदर की यह केंद्रीय अध्यात्मसत्ता ही इस प्रकार हमारे जीवन के उद्गम और आधार तथा उसके नियामक आत्मा और शक्ति के साथ आनंद और मिलन का पूर्ण एवं घनिष्ठतः वास्तविक संबंध स्थापित करती है। और, जो हमारे समर्पण को ग्रहण करता है वह कोई सीमित देवता नहीं, वरन् पुरुषोत्तम है, एकमेव सनातन परमेश्वर है, जो कुछ भी यहाँ है उस सबका तथा समस्त प्रकृति का एकमेव परम आत्मा, जगत् की आदि और परात्पर अध्यात्म-सत्ता है। हमारे निर्मुक्त ज्ञान के अनुभव के प्रति उसका प्रथम, स्पष्ट, आध्यात्मिक आत्म-प्राकट्य एक अक्षर निर्व्यक्तिक स्वयंभू सत्ता के रूप में ही होता है, वही सत्ता उसकी उपस्थिति का प्रथम चिह्न, उसके सार-तत्त्व का प्रथम स्पर्श और छाप होती है। एक विश्वव्यापी और विश्वातीत अनंत 'व्यक्ति' या पुरुष उसकी वास्तविक सत्ता का गुप्त और गहन रहस्य है, वह किसी मानसिक रूप में चित्य नहीं है, **'अचित्य-रूप,'** किंतु जब हमारी चेतना की शक्तियाँ—भावावेग, संकल्प और ज्ञान—अपने-आपको, अपने अंध और क्षुद्र रूपों को अतिक्रम कर ज्योतिर्मय, आध्यात्मिक और अपरिमेय अति-

मानसिक आनंद, शक्ति और विज्ञान में उन्नीत हो जाती हैं तब उनके लिए वह रहस्य अत्यंत निकट एवं प्रत्यक्ष हो जाता है। जो अनिर्वचनीय ब्रह्म है और साथ ही सुहृद्, ईश्वर, प्रकाशदाता और प्रेमी भी है वही इस पूर्णतम भक्ति और शरणागति का—इस अत्यंत घनिष्ठ आंतरिक संभूति और समर्पण का पात्र है। यह मिलन, यह संबंध एक ऐसी चीज है जो सीमाकारी मन के रूपों और नियमों से ऊपर उठी हुई है, इन सब निम्न धर्मों की पहुँच से बहुत ही ऊपर है; यह हमारी आत्मा और अध्यात्म-सत्ता का सत्य है। और फिर भी या वास्तव में इसी कारण, क्योंकि यह हमारी आत्मा और अध्यात्म-सत्ता का सत्य है, जिस परमात्मा से सब कुछ उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा और जिसके विकारों एवं आभासों के रूप में सब कुछ अस्तित्व रखता है तथा आयास और प्रयास करता है उसके साथ इसके एकत्व का सत्य है, अतः यह उस सबका निषेध नहीं, बल्कि परिपूर्ति है जिसकी ओर मन और प्राण संकेत करते हैं और जिसे वे अपने गुप्त और असंसिद्ध अर्थ के रूप में अपने अंदर धारण करते हैं। इस प्रकार, यहाँ हम जो कुछ भी हैं उस सबके निर्वाण, विवर्जन तथा निराकरण के द्वारा नहीं, बल्कि अज्ञान और अहंभाव के निर्वाण, विवर्जन तथा निराकरण के द्वारा और उसके फलस्वरूप हमारे ज्ञान, संकल्प और हृद्गत अभीप्सा की अकथ परिपूर्णता के द्वारा, भगवान् एवं सनातन के अंदर उदात्त और असीम रूप से उन सबके निवास के द्वारा, **'निवसिष्यसि मय्येव,'** हमारी समस्त चेतना के एक महत्तर आंतरिक स्थिति में रूपांतर और प्रतिष्ठापन के द्वारा ही यह परम सिद्धि और आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त होती है।

इस आध्यात्मिक समस्या का निगूढ़ तत्त्व, इस रूपांतर का स्वरूप, जिसका सच्चा बोध प्राप्त करना मनुष्य के सामान्य मन के लिए इतना कठिन है, पूर्ण रूप से, अहं के जीवन और मुक्त जीव के जीवन के बीच आत्यंतिक भेद पर अवलंबित है; कारण, अहं का जीवन होता है निम्नतर प्रकृति में तथा अज्ञानमय, और मुक्त जीव का होता है अपनी सच्ची आध्यात्मिक प्रकृति में तथा विशाल एवं ज्योतिर्मय। इनमें से पहले प्रकार के जीवन का पूर्ण रूप से त्याग करना तथा दूसरे में आमूलचूल संक्रमण करना आवश्यक है। गीता यहाँ यथासंभव पूरे बल के साथ इसी भेद का निरूपण करती है। एक ओर तो है चेतना की यह तुच्छ, त्रस्त, दंभपूर्ण, अहंमय अवस्था, **'अहंकृत भाव,'** इस क्षुद्र, असहाय, भेद-मूलक व्यक्तित्व की पंगुकारी संकीर्णता जिसके दृष्टिकोण के अनुसार ही हम साधारणतः विचार, कर्म और अनुभव करते हैं तथा जीवन के स्पर्शों का प्रत्युत्तर देते हैं। दूसरी ओर हैं अमर पूर्णता, आनंद और ज्ञान के वृहत् आध्यात्मिक

विस्तार जिनके अंदर हम भागवत पुरुष के साथ मिलन के द्वारा ही प्रवेश पाते हैं, तब हम पहले की तरह अहंप्रकृति के अंधकार में उनका एक प्रच्छन्न रूप नहीं रहते, बल्कि शाश्वत ज्योति के अंदर उनका आविर्भाव एवं प्राकट्य बन जाते हैं। गीता के **'सततं मच्चित्तः'** इन शब्दों में इसी मिलन की पूर्णता की ओर इंगित किया गया है। अहं का जीवन जगत् के गोचर मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्य की एक कल्पना पर प्रतिष्ठित है, व्यष्टिगत जीव और विश्व-प्रकृति के व्यावहारिक संबंधों की ग्रंथि पर, वस्तुओं की एक बौद्धिक, भाविक और संवेदनात्मक व्याख्या पर आधारित है ; हमारे अंदर की क्षुद्र और संकीर्ण 'मैं' उस व्याख्या को विश्व के विराट् कर्म के बीच अपने सीमित, पृथक् व्यक्तित्व की भावनाओं और कामनाओं की रक्षा और तृप्ति करने के लिए प्रयुक्त करती है। हमारे सभी धर्म, हमारे सब साधारण मानदंड जिनके द्वारा हम वस्तुओं के संबंध में अपनी दृष्टि, अपना ज्ञान और कर्म निर्धारित करते हैं, इस संकुचित और सीमाजनक आधार को ही लेकर चलते हैं, और चाहे हम अपने अहं-केंद्र के चारों ओर विस्तृत से विस्तृत वृत्त बनाते हुए ही इनका अनुसरण क्यों न करें, फिर भी ये हमें इस क्षुद्र चक्र से बाहर नहीं ले जा सकते। यह एक ऐसा चक्र है जिसमें जीव एक संतुष्ट या संघर्षरत कैदी है, जिसमें वह सदा के लिए प्रकृति की मिश्रित प्रेरणाओं के अधीन है।

कारण, इस चक्र में पुरुष अपने-आपको आवृत रखता है, अपनी दिव्य और अमर सत्ता को अज्ञान में आच्छादित कर देता है और एक आग्रहपूर्ण सीमाबद्धकारी प्रकृति के धर्म के अधीन हो जाता है। यह धर्म तीन गुणों का दुर्लंघ्य नियम है। यह एक त्रिविध सोपान है ; यह ऊपर, दिव्य ज्योति की ओर लड़खड़ाता हुआ आरोहण करता है पर वहाँतक पहुँच नहीं सकता। इसके निचले सोपान पर है जड़ता का धर्म : तामसिक मनुष्य एक प्रथानुयायी यांत्रिक कर्म में अपनी भौतिक, अर्द्ध-बौद्धिक, प्राणमय और संवेदनात्मक प्रकृति के निर्देशों तथा आवेगों का और उसके इच्छा-चक्र का निष्क्रिय रूप से अनुसरण करता है। नीचे के सोपान पर आता है प्रवृत्तिमय धर्म ; प्राणप्रधान, गतिशक्तिमय, क्रियाशील राजसिक मनुष्य अपने-आपको अपने जगत् और परिपार्श्व पर लादने का यत्न करता है, परन्तु वह केवल अपनी विक्षुब्ध लालसाओं, कामनाओं और अहंताओं का क्षतिकारक बोझ और अत्याचारपूर्ण प्रभुत्व तथा अपनी चिर-चंचल स्वेच्छा का भार और अपनी राजसिक प्रकृति का आधिपत्य ही बढ़ाता है। सबसे ऊपर के सोपान पर एक सामंजस्यपूर्ण नियामक धर्म जीवन पर दबाव डालता है ; सात्त्विक मनुष्य अपने तर्कप्रधान ज्ञान, प्रबुद्ध उपयोगिता या रूढ़िभूत पुण्य के

सीमाबद्ध वैयक्तिक प्रतिमानों, अपने धर्मों, दर्शनशास्त्रों और नैतिक सूत्रों, मानसिक प्रणालियों और रचनाओं, विचार और आचार के बंधे-बंधाए मार्गों का निर्माण और अनुसरण करने का यत्न करता है जो जीवन के समग्र उद्देश्य के साथ मेल नहीं खाते और जो विशालतर जगदुद्देश्य की गतिधारा में निरन्तर छिन्न-भिन्न हो रहे हैं। गुणों के क्षेत्र में सात्त्विक मनुष्य का धर्म सबसे उच्च है ; पर वह भी एक संकीर्ण दृष्टि और लघु आदर्श है। उसके अपूर्ण संकेत एक तुच्छ एवं सापेक्ष पूर्णता की ओर ही ले जाते हैं ; प्रकाशयुक्त वैयक्तिक अहं के लिए अस्थायी रूप में संतोषजनक होता हुआ भी वह न तो आत्मा के समग्र सत्य पर प्रतिष्ठित है और न ही प्रकृति के समग्र सत्य पर।

सच पूछो तो मनुष्य का यथार्थ जीवन किसी समय भी इनमें से केवल एक ही चीज नहीं होता, न वह प्रकृति के केवल प्रथम, स्थूल धर्म का यांत्रिक गतानुगतिक अनुसरण होता है न प्रवृत्तिमय कर्मशील सत्ता का संघर्ष और नहीं चिन्मय ज्योति और बुद्धि का तथा शुभ और ज्ञान का विजयशील आविर्भाव। मनुष्य के जीवन में इन सब धर्मों का मिश्रण पाया जाता है ; हमारी बुद्धि और इच्छा-शक्ति इनसे एक कम या अधिक मनमाना विधान बना लेती हैं। जिसे यथा-संभव उत्तम रीति से चरितार्थ करना होता है, पर जो वास्तव में विश्व-प्रकृति की अन्य अति प्रबल वस्तुओं के साथ समझौता किये बिना कभी भी चरितार्थ नहीं किया जा सकता। हमारे आलोकित संकल्प और बुद्धि के सात्त्विक आदर्श या तो अपने-आपमें समझौते होते हैं, अधिक-से-अधिक कुछ एक प्रगतिशील समझौते होते हैं, एक सतत अपूर्णता एवं परिवर्तन-धारा के अधीन होते हैं, या फिर, यदि वे अपने स्वरूप में अपरिवर्तनीय हों भी तो भी उनका अनुसरण पूर्णता के एक आदर्श के रूप में ही किया जा सकता है जो व्यवहार में अधिकांशतः उपेक्षित ही रहता है या जो केवल एक आंशिक प्रभाव के रूप में ही सफल हो पाता है। और यदि कभी हम यह सोचते हैं कि हमने उन्हें पूर्णतः चरितार्थ कर लिया है, तो इसका कारण यह होता है कि हम अपने अन्दर की उन अन्य शक्तियों और प्रेरणाओं के अवचेतन या अर्द्ध-चेतन मिश्रण की अवहेलना करते हैं जो साधारणतः हमारे आदर्शों के समान या उनसे भी अधिक हमारे कर्म की वास्तविक शक्तियाँ होती हैं। यह आत्म-अज्ञान ही मानवीय बुद्धि और धर्माभिमान की समस्त निःसारता का मूल कारण है ; मनुष्य के साधु-स्वभाव के शुभ्र, निष्कलंक बाह्य रूप के पीछे यह एक गुप्त काली रेखा है और यह अकेली ही ज्ञान तथा पुण्य के मिथ्या अहंकारों को संभव बनाती है। उत्तम-से-उत्तम मानवीय ज्ञान भी अधूरा ज्ञान होता है और उच्च-से-उच्च मानवीय पुण्य भी एक मिश्रित कोटि की वस्तु होता

है और जब वह आदर्शतः अत्यंत सच्चे रूप में पूर्णता से युक्त होता है तब भी व्यवहार में पर्याप्त आपेक्षिक ही होता है। निरपेक्ष सात्त्विक आदर्श आचार-व्यवहार में जीवनयापन के एक व्यापक विधान के रूप में प्रधानता नहीं प्राप्त कर सकते ; वैयक्तिक अभीप्सा और आचरण को उत्कृष्ट और उन्नत करनेवाली एक शक्ति के रूप में उनकी अनिवार्यता के होते हुए भी, उनके प्रति निष्ठा जीवन को कुछ संशोधित तो करती है पर उसे पूर्ण रूप से परिवर्तित नहीं कर सकती, और उनकी पूर्ण चरितार्थता हमारे केवल भविष्य के एक स्वप्न के रूप में ही प्रतिबिम्बित होती है अथवा उसकी कल्पना स्वर्गिक प्रकृति के एक ऐसे जगत् के रूप में हमारे सामने आती है जो हमारे पार्थिव जीवन की मिश्रित प्रवृत्ति से मुक्त है। इससे भिन्न कुछ हो भी नहीं सकता क्योंकि न तो इस जगत् की प्रकृति और न मनुष्य की प्रकृति कोई ऐसी अखंड वस्तु है जो केवल सत्त्व के शुद्ध उपादान से ही बनी हो और न वह ऐसी हो ही सकती है।

अपनी संभावनाओं की इस सीमा से, धर्मों के इस अस्तव्यस्त मिश्रण से बाहर निकलने का जो सर्वप्रथम द्वार हमें दिखायी देता है वह है निर्व्यक्तिकता की ओर एक प्रकार की उच्च प्रवृत्ति, जो बृहत्, विश्वव्यापी, शांत, मुक्त, सत्य और शुद्ध सत्ता इस समय अहं के परिसीमक मन के कारण छुपी हुई है उसकी ओर अंतर्मुख गति। कठिनाई यह है कि जहाँ अपनी सत्ता की शान्ति और नीरवता के क्षेत्रों में हम इस निर्व्यक्तिकता के अन्दर प्रत्यक्ष मुक्ति अनुभव कर सकते हैं, वहाँ निर्व्यक्तिक कर्म की अवस्था उपलब्ध करना किसी प्रकार भी इतना सहज नहीं। जबतक हम अभी अपने साधारण मन में ही वास करते हैं तबतक यदि हम निर्व्यक्तिक सत्य का अनुसरण करें या अपने आचार-व्यवहार में निर्व्यक्तिक संकल्प का अनुसरण करें तो वह हमारे इस मन के स्वाभाविक एवं अपरिहार्य धर्म—हमारे व्यक्तित्व के धर्म, हमारी प्राणिक प्रकृति के सूक्ष्म आवेग और अहंता के रंग के द्वारा कलुषित ही हो जाता है। निर्व्यक्तिक सत्य का अनुसरण इन प्रभावों के द्वारा एक संदेहातीत आवरण में परिणत हो जाता है जिसकी ओट में हमारी बौद्धिक अभिरुचियाँ आश्रय प्राप्त करती हैं, और फिर वे हमारे मन की संकीर्णकारी आग्रह-शीलता के द्वारा संपुष्ट होती रहती हैं। निःस्वार्थ एवं निर्व्यक्तिक कर्म का अनुसरण हमारे वैयक्तिक संकल्प के स्वार्थपूर्ण चुनावों और अंध स्वेच्छाचारी आग्रहों के लिए एक महत्तर प्रामाणिकता एवं प्रत्यक्ष उच्च अनुमति का रूप धारण कर लेता है। दूसरी ओर, ऐसा प्रतीत होगा कि पूर्ण निर्व्यक्तिकता हमें एक उतनी ही पूर्ण निष्क्रियता के लिए बाधित करती है, और इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त कर्म ही अहं और त्रिगुण की मशीनरी के साथ बंधा हुआ

है और जीवन तथा इसके कर्मों से पीठ फेरना ही इस चक्र से बाहर निकलने का एकमात्र पथ है। तो भी यह निर्व्यक्तिक नीरवता ही इस विषय में अंतिम ज्ञान-वाक्य नहीं है, क्योंकि जिस आत्म-उपलब्धि का द्वार हमारे प्रयास के लिए खुला हुआ है उसका एकमात्र मार्ग और मुकुट यही नहीं है और न यह उसका समस्त मार्ग और चरम मुकुट ही है। एक और महत्तर, पूर्णतर एवं प्रत्यक्षतर आध्यात्मिक अनुभूति भी है जिसमें हमारे अहंमूलक व्यक्तित्व का क्षेत्र और हमारे मन की सीमाओं का चक्र महत्तम आत्मा और अध्यात्म-सत्ता की निर्बाध अनंतता में विलीन हो जाते हैं और फिर भी जीवन तथा इसके कर्म केवल स्वीकार्य और संभवनीय ही नहीं रहते बल्कि वे अपनी विस्तीर्णतम आध्यात्मिक पूर्णता को पहुँच जाते तथा उसमें प्रसारित हो जाते हैं और एक अति महान्, ऊर्ध्वमुखी सार्थकता प्राप्त कर लेते हैं।

पूर्ण निर्व्यक्तिकता तथा हमारी प्रकृति की गति-शक्तिमय संभावनाओं के बीच की खाई को पाटने के लिए जो प्रयास किये गए हैं उनमें विभिन्न स्तर देखने में आते हैं। महायान की विचारधारा और साधना ने इस कठिन सामंजस्य तक पहुँचने के लिए दो प्रकार से यत्न किया, प्रथम तो एक गंभीर निष्कामता और मानसिक तथा प्राणिक आसक्ति एवं संस्कारों से एक विशाल विलयकारी मुक्ति के अनुभव के द्वारा और दूसरे, विधेयात्मक दृष्टि से, एक सार्वजनीन परार्थ-भावना, जगत् और इसके जीवों के लिए एक अपार करुणा के द्वारा जो मानों निर्वाण की उच्च स्थिति को जीवन और कर्म में उंडेलने एवं प्रवाहित करनेवाली बन गयी। एक अन्य आध्यात्मिक अनुभव का भी गूढ़ आशय इसी प्रकार का सामंजस्य साधित करना था, वह अनुभव विश्व की सार्थकता के सम्बन्ध में अधिक सचेतन था, वह अधिक गंभीर, प्रेरणाप्रद, कर्म के पक्ष में समृद्ध रूप से व्यापक, गीता की विचारधारा का कुछ और अधिक निकटवर्त्ती था : वह अनुभव हमें ताओ मत के विचारकों की उक्तियों में उपलब्ध होता है अथवा कम-से-कम हम उसे उनकी उक्तियों के पीछे पढ़ सकते हैं। वहाँ एक निर्व्यक्तिक, अनिर्वचनीय सनातन का वर्णन किया हुआ प्रतीत होता है जो विश्व की आत्मा और साथ ही उसका एक और अभिन्न प्राण है : वह सभी वस्तुओं को समभाव से धारण करता तथा उनमें प्रवाहित होता है, **'समं ब्रह्म'** ; वह एक ऐसा 'एकमेवाद्वितीय' है जो कि कुछ नहीं है, **असत्** है ; क्योंकि, जो कुछ भी हम यहाँ देखते हैं उस सबसे वह भिन्न है और फिर भी वह इन सब भूतों की समष्टि है। वह अंध व्यक्तित्व जो इस अनंत पर फेन की भांति उठता है, वह परिवर्तनशील अहं, जो अपनी आसक्ति और वितृष्णा, राग और द्वेष तथा स्थिर मानसिक भेद-ज्ञानों से युक्त

है, एक शक्तिशाली रूप है जो उस एकमात्र सद्वस्तु, ताओ, परम 'सर्व' और 'असत्' को हमसे छुपा देता है तथा हमारे सामने विकृत रूप में उपस्थित करता है। उसका संस्पर्श हम तभी प्राप्त कर सकते हैं यदि हम व्यक्तित्व तथा इसके क्षुद्र रूपों एवं रचनाओं को एक अगोचर, विश्वव्याप्त और सनातन उपस्थिति में विलीन कर दें ; एक बार यह कार्य सिद्ध हो जाने पर हम उसमें एक वास्तविक जीवन यापन करते हैं और एक अन्य महत्तर चेतना प्राप्त कर लेते हैं जिसके द्वारा हम सब वस्तुओं के भीतर प्रवेश कर सकते हैं और साथ ही हम स्वयं भी सब सनातन प्रभावों की ओर खुल जाते हैं। यहाँ भी गीता की भांति, सनातन के प्रति पूर्ण उद्घाटन और आत्मसमर्पण ही उच्चतम पथ प्रतीत हो सकता है। एक ताओ-पन्थी विचारक कहता है, "तुम्हारा शरीर तुम्हारा अपना नहीं है, यह भगवान् का ही एक प्रतिनिधिभूत विग्रह है : तुम्हारा प्राण तुम्हारा अपना नहीं है, यह भगवान् की ही एक प्रतिनिधिभूत समस्वरता है : तुम्हारा व्यक्तित्व तुम्हारा अपना नहीं है, यह भगवान् की ही एक प्रतिनिधिभूत अनुकूलन-शक्ति है।" और यहाँ भी एक विशाल पूर्णता तथा मुक्त कर्म अंतरात्मा के समर्पण का शक्तिशाली परिणाम हैं। अहंमय व्यक्तित्व के कर्म विश्व-प्रकृति की प्रवृत्ति के विरुद्ध एक भेदमूलक अभियान होते हैं। इस मिथ्या गति के स्थान पर विश्व-व्यापिनी सनातनी शक्ति के अधीन एक ज्ञानपूर्ण एवं शान्त निष्क्रियता को प्रतिष्ठित करना होगा, ऐसी निष्क्रियता को जो हमें अनंत कर्मधारा के प्रति अनुकूलनक्षम बना देती है, उसके सत्य के साथ समस्वर, आत्मा के निर्माणकारी प्राण के प्रति नमनीय बना देती है। जिस व्यक्ति में ऐसी समस्वरता हो वह अंदर से निश्चल तथा नीरवता में निमग्न हो सकता है, परन्तु उसकी आत्मा छद्मरूपों से मुक्त दिखायी देगी, भागवत प्रभाव उसके अन्दर कार्य कर रहा होगा और जब वह शान्ति तथा आभ्यंतरिक **नैष्कर्म्य** में निवास करता होगा तब भी वह एक अदम्य शक्ति के साथ कार्य करेगा और कोटि-कोटि वस्तुएँ और व्यक्ति उसके प्रभाव तले एकत्र हो जायेंगे तथा उसके द्वारा परिचालित होंगे। परमात्मा की निर्व्यक्तिक शक्ति उसके कर्मों को अपने हाथ में ले लेती है,—वे तब अहंकार के द्वारा विकृत हुई क्रियाएँ नहीं रहते,—और साथ ही वह शक्ति जगत् तथा इसके लोगों को एकत्र धारित रखने तथा नियंत्रित करने के लिए, **'लोक-संग्रहार्थाय'**, प्रभुत्वशाली रूप से उसके द्वारा क्रिया करती है।

गीता ने जिस आरम्भिक निर्व्यक्तिक कर्म की शिक्षा दी है उसके तथा इन अनुभवों के बीच भेद नहीं के बराबर है। गीता भी हमसे यही कहती है कि कामना, आसक्ति और अहंकार का त्याग करना होगा, निम्न प्रकृति को पार

करेना तथा अपने व्यक्तित्व और उसकी तुच्छ रचनाओं को तोड़ डालना होगा। वह भी हमसे यही कहती है कि आत्मा और ब्रह्म में निवास करना होगा, सबके अन्दर आत्मा और ब्रह्म को देखना होगा तथा सबको आत्मा और ब्रह्म के अन्दर एवं आत्मा और ब्रह्म के रूप में देखना होगा। ताओ-पन्थी विचारक के समान ही वह हमसे अपने प्राकृत व्यक्तित्व तथा इसके कर्मों को आत्मा, परम पुरुष, सनातन एवं ब्रह्म के अन्दर संन्यस्त करने की मांग करती है, **'आत्मनि संन्यस्य ब्रह्मणि।'** और इस समानता का कारण यह है कि बाह्य, ऊर्जस्वी, क्रिया-शील जीवन के साथ सुसमन्वित शांतिमय, आभ्यंतरिक विशालता और नीरवता के विषय में मनुष्य का संभवनीय उच्चतम तथा स्वतंत्रतम अनुभव सदा यही होता है, एक ही अविनाशी शक्ति तथा एकमात्र सनातन सत्ता के निर्व्यक्तिक, अनंत सत्य और निःसीम कर्म में ये दोनों एक साथ रहते हैं या परस्पर घुलमिलकर एक हो जाते हैं। परन्तु गीता यहाँ एक और अत्यंत अर्थपूर्ण पदावलि **'आत्मनि अथो मयि'** को जोड़ देती है जिससे सब बात ही बदल जाती है। गीता की मांग है कि सब वस्तुओं को आत्मा के अन्दर और फिर "मेरे" अर्थात् ईश्वर के अन्दर देखो, समस्त कर्म आत्मा, अध्यात्म-सत्ता एवं ब्रह्म के प्रति और फिर वहाँसे परम पुरुष, पुरुषोत्तम के प्रति उत्सर्ग कर दो। यहाँ आध्यात्मिक अनुभव की एक और भी महत्तर एवं गभीरतर गहनता है, मानवजीवन के अर्थ का एक विशालतर रूपांतर है, समुद्र की ओर नदी के लौटने का एक गुह्यतर एवं प्रगाढ़-तर हृदयावेग है, व्यक्तिगत कर्म-कलाप तथा वैश्व कर्म का शाश्वत कर्मी के हाथों में पुनः सौंप देना है। शुद्ध निर्व्यक्तिकता पर जो बल दिया जाता है उसमें हमारे लिए यह कठिनाई आती और त्रुटि प्रतीत होती है कि वह आंतरिक पुरुष किंवा आध्यात्मिक व्यष्टि को, हमारी अंतरतम सत्ता के इस अटल चमत्कार को अनंत के अन्दर एक अस्थायी, भ्रमात्मक एवं परिवर्तनशील रचना में परिणत कर देता है। केवल वह 'अनंत' ही सत् है और वह एक क्षणिक खेल को छोड़कर और कभी जीव की अंतरात्मा की ओर कोई वास्तविक ध्यान नहीं देता। यदि मनुष्य की अंतरात्मा भी नित्य-परिवर्तनशील शरीर की भांति अनंत के अन्दर एक नश्वर दृग्विषय से अधिक कुछ न हो तो उसके तथा सनातन के बीच कोई वास्तविक एवं स्थायी सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

यह सत्य है कि अहं तथा उसका सीमाबद्ध व्यक्तित्व प्रकृति की एक ऐसी ही अस्थायी एवं परिवर्तनशील रचना है और अतएव इस रचना को तोड़कर हमें अपने-आपको सर्व एवं अनंत के साथ एकात्म अनुभव करना होगा। परन्तु अहं वास्तविक पुरुष नहीं है ; जब यह विलीन हो जाता है, तब भी आध्यात्मिक

व्यष्टि बचा रहता है, तब भी सनातन जीव बना ही रहता है। अहं का सीमा-बंधन विलुप्त हो जाता है और जीव एकमेव के साथ गभीर एकत्व में निवास करता है और सभी वस्तुओं के साथ अपनी विश्वगत एकता अनुभव करता है। और फिर भी हमारी अपनी अंतरात्मा ही इस विस्तार एवं एकत्व का रसास्वादन करती है। विश्व-कर्म जब सबके अन्दर अवस्थित एक और अभिन्न शक्ति का कर्म प्रतीत होता है, जब वह ईश्वर का ही एक उपक्रम एवं व्यापार अनुभूत होता है, तब भी वह मनुष्यों की विभिन्न आत्माओं में, **'अंशः सनातनः,'** विभिन्न रूप ग्रहण करता है, उनकी प्रकृति में विभिन्न दिशा का अनुसरण करता है। अध्यात्म-ज्ञान की ज्योति, नानारूप विश्व-शक्ति, सत्ता का शाश्वत आनंद हमारे अन्दर तथा हमारे चारों ओर उमड़ पड़ते हैं और अंतरात्मा के अन्दर घनीभूत होकर हरएक आत्मा से चारों ओर के जगत् पर इस प्रकार प्रवाहित होते हैं मानों वे एक जीवंत अध्यात्म-चेतना के एक ऐसे केंद्र से प्रवाहित हो रहे हों जिसकी परिधि अनंत में खो गयी है। इसके अतिरिक्त, आध्यात्मिक व्यक्ति का अस्तित्व दिव्य जीवन के एक छोटे से विश्व के रूप में बना ही रहता है ; वह स्वतंत्र भी होता है और साथ ही दिव्य आत्म-अभिव्यक्ति के जिस अनंत विश्व का एक क्षुद्र अंश ही हम अपने चारों ओर देख पाते हैं उस संपूर्ण विश्व से अविच्छेद्य भी। वह परात्पर का एक अंश है, वह सर्जनक्षम है, वह अपने चारों ओर अपना ही एक जगत् रच लेता है जब कि वह इस विश्व-चेतना को भी जिसमें अन्य सब हैं, सुरक्षित रखता है। यदि यह आक्षेप किया जाय कि यह तो एक भ्रम है और जब वह विश्वातीत परब्रह्म में लौट जायेगा तो यह भ्रम अवश्य दूर हो जायेगा, तो आखिर इस विषय में कोई बिल्कुल निश्चित बात नहीं कही जा सकती। कारण, तब भी मनुष्य की अंतरात्मा ही इस मुक्ति का उपभोग करती है, जैसे कि वह पहले दिव्य कर्म और अभिव्यक्ति का एक जीवंत आध्यात्मिक केंद्र थी ; केवल इतनी ही बात नहीं है कि व्यक्तित्व का मायामय आवरण अनंत के अन्दर भंग हो जाता है बल्कि इसके अतिरिक्त और कुछ भी है। हमारी सत्ता का यह रहस्य इस बात को द्योतित करता है कि जो कुछ हम हैं वह एकमेव का केवल अस्थायी नाम-रूप ही नहीं है, अपितु हम कह सकते हैं कि वह एकमेवाद्वितीय भागवत सत्ता की एक अंशभूत सत्ता और चेतना है। अहं तो हमारी आध्यात्मिक व्यष्टि-सत्ता का अज्ञान के अन्दर एक भ्रामक प्रतिबिम्ब तथा प्रक्षेपमात्र है, पर हमारी उस व्यष्टिसत्ता के अन्दर एक ऐसा सत्य निहित है या वह स्वयं एक ऐसा सत्य है जो अज्ञान के परे भी स्थिर रूप से बना रहता है ; हमारी सत्ता का एक ऐसा अंश भी है जो नित्य ही पुरुषोत्तम की परा प्रकृति में निवास करता है, **'निवसिष्यसि**

मयि ।' गीता की शिक्षा की गंभीर व्यापकता यही है कि जहाँ यह विश्व-भावापन्न निर्व्यक्तिकता के उस सत्य को स्वीकार करती है जिसमें हम अहं के निर्वाण, 'ब्रह्म-निर्वाण' के द्वारा प्रवेश करते हैं,—निश्चय ही इसके बिना मोक्षप्राप्ति संभव नहीं या कम-से-कम कोई चरम मुक्ति संभव नहीं,—वहाँ यह सर्वोच्च अनुभव के अंग के रूप में हमारे व्यक्तित्व के स्थायी आध्यात्मिक सत्य को भी स्वीकार करती है। हमारे अन्दर की यह प्राकृत सत्ता नहीं बल्कि वह दिव्य और केंद्रीय सत्ता ही सनातन जीव है। ईश्वर एवं वासुदेव ही, जो कि सब कुछ हैं, हमारे मन, प्राण और शरीर को निम्न प्रकृति के उपभोग के लिए ग्रहण करते हैं; परा प्रकृति, परम पुरुष की आद्या आध्यात्मिक प्रकृति ही विश्व को एकत्र धारण किए हुए है और इसके अन्दर जीव के रूप में आविर्भूत होती है। सो यह जीव पुरुषोत्तम की मूल दिव्य अध्यात्म-सत्ता का एक अंश है, जीवंत सनातन की एक जीवंत शक्ति है। वह केवल निम्न प्रकृति का एक अस्थायी रूप नहीं है, बल्कि अपनी परा प्रकृति में अवस्थित परमदेव का एक सनातन अंश है, भागवत सत्ता की एक शाश्वत चिन्मय रश्मि है और उतना ही चिरस्थायी है जितनी कि वह दैवी परा प्रकृति। अतएव हमारी मुक्त चेतना की उच्चतम पूर्णता और उच्चतम स्थिति का एक पक्ष होना चाहिए परम आध्यात्मिक प्रकृति में जीव का वास्तविक पद ग्रहण करना, वहाँ परम पुरुष की महिमा में निवास करना और शाश्वत आध्यात्मिक एकत्व का आनंद प्राप्त करना।

हमारी सत्ता के इस रहस्य का अनिवार्य अर्थ यह है कि पुरुषोत्तम की सत्ता का भी एक ऐसा ही परम रहस्य है, 'रहस्यमुत्तमम्।' 'केवल' ब्रह्म की ऐकांतिक निर्व्यक्तिकता परमोच्च रहस्य नहीं है। परमोच्च रहस्य है यह महाश्चर्य कि परम पुरुष और प्रतीयमान बृहत् निर्व्यक्तिक सत्ता—ये दोनों एक ही हैं, सब वस्तुओं का एक अक्षर विश्वातीत आत्मा और वे परम पुरुष जो यहाँ अपने-आपको सृष्टि के ठेठ मूल में एक अनंत और बहुविध व्यक्तित्व के रूप में प्रकट करते हैं यत्र-तत्र-सर्वत्र कार्य कर रहे हैं,—वह आत्मा और पुरुष हमारे चरम, अंतरंगतम और गभीरतम अनुभव के प्रति एक निःसीम सत्-स्वरूप पुरुष के रूप में प्रकाशित होते हैं जो हमें स्वीकार करते तथा अपनी ओर ले जाते हैं, निराकार सत्ता के शून्य में नहीं बल्कि अपने समग्र सत्स्वरूप में ले जाते हैं और ले भी जाते हैं अत्यंत प्रत्यक्ष, गंभीर तथा अद्भुत रूप से और अपनी तथा हमारी चिन्मय सत्ता के सभी भावों के साथ। यह उच्चतम अनुभूति और यह अत्यंत व्यापक दृष्टि हमारी प्रकृति के भागों, हमारे ज्ञान, संकल्प, हृद्गत प्रेम और उपासना की एक गभीर, मर्मस्पर्शी और अनंत सार्थकता प्रकट कर देती हैं, यदि हम केवल

निर्व्यक्तिक पर ही बल दें तो वह सार्थकता नष्ट या न्यून हो जाती है, क्योंकि जो प्रवृत्तियाँ और शक्तियाँ हमारी गभीरतम प्रकृति का अंश हैं, जो तेज और संवेग हमारे आत्मानुभव के अंतरतम मूल तंतुओं से संबद्ध हैं उनकी गभीरतम परिपूर्ति को वह निर्व्यक्तिकता पर दिया जानेवाला बल दबा देता है या बहुत ही शून्य कर देता है या फिर वह उसे संपन्न ही नहीं होने देता। केवल ज्ञान का तप ही हमारी सहायता नहीं कर सकता ; ज्ञान के द्वारा आलोकित और उन्नीत हृद्गत प्रेम और अभीप्सा के लिए भी स्थान है और अनंत स्थान है, पर वह ज्ञान होता है अधिक गुह्य रूप से विशद, अधिक महान् एवं शांत आवेग से पूर्ण। अपने हृदय-चैतन्य, मनश्चैतन्य, समग्र चैतन्य के सतत एकीभूत सान्निध्य के द्वारा ही, **'सततं मच्चित्तः,'** हम सनातन के साथ अपने एकत्व का विशालतम, गभीरतम एवं पूर्णतम अनुभव प्राप्त करते हैं। यहाँ यह उपदेश दिया गया है कि समस्त सत्ता में अंतरंगतम एकत्व ही, जो विश्वभाव के बीच भी, परात्परता के शिखर-पर भी दिव्य आवेग के साथ प्रगाढ़ रूप से व्यक्तिगत होता है, मानवात्मा के लिए परम देव की प्राप्ति का पथ है और साथ ही जिस पूर्णता एवं दिव्य चेतना की ओर उसकी प्रकृति उसे आत्मा के रूप में पुकारती है उसे उपलब्ध करने का भी यही मार्ग है। बुद्धि और संकल्प को हमारी संपूर्ण सत्ता, सब भागों सहित, ईश्वर की ओर, उस समस्त सत्ता के भागवत आत्मा एवं प्रभु की ओर फेर देनी होगी, **'बुद्धियोगमुपाश्रित्य।'** हृदय को अन्य समस्त आवेग को उनके साथ एकत्व के आनन्द में परिणत करना होगा, सर्वभूतों में अवस्थित उनके प्रति प्रेम में परिणत करना होगा। इंद्रियों को अध्यात्मभावित होकर सर्वत्र उन्हीं को देखना, सुनना और अनुभव करना होगा। जीवन को पूर्ण रूप से जीव के अन्दर उन्हीं का जीवन बनना होगा। समस्त कर्मों को संकल्प, ज्ञान, कर्मेंद्रियों, ज्ञानेंद्रियों, प्राणिक भागों तथा देह में विद्यमान उनकी अनन्य शक्ति एवं अनन्य प्रेरणा से ही उद्भूत होना होगा। यह मार्ग गंभीर रूप से निर्वैयक्तिक है क्योंकि इसमें विश्वभाव तथा विश्वातीत भाव में पुनः प्रतिष्ठित आत्मा के लिए अहं की पृथक्ता मिटा दी जाती है। और फिर भी यह घनिष्ठ रूप से व्यक्तिगत है क्योंकि यह अंतर्निवास तथा एकत्व के लोकोत्तर आवेश एवं शक्ति की ओर उड़ान लेता है। मानसिक तर्क की कठोर मांग के अनुसार आत्मनिर्वाण का स्वरूप निर्विशेष लय ही हो सकता है, किन्तु वह लय परम रहस्य का, **'रहस्यमुत्तमम्'** का अंतिम वचन नहीं है।

अपने भगवन्नियोजित कर्म में प्रवृत्त होने से अर्जुन ने जो इन्कार किया था उसका मूल था उसके अंदर का अहंकार। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक

अहं के विचार और प्रवृत्तियाँ, पाप और उसके व्यक्तिगत परिणामों से प्राणिक प्रकृति का भय, वैयक्तिक दुःख-ताप से हृदय की पराङ्मुखता, पाप और पुण्य की आत्मप्रवंचनामय सत्याभासी पुकारों के द्वारा अहंमूलक आवेगों का समर्थन करने के लिए तिमिराच्छन्न बुद्धि की चेष्टा, भगवान् की कार्यशैलियों से हमारी प्रकृति की अज्ञ जुगुप्सा क्योंकि वे मनुष्य की शैलियों से भिन्न प्रतीत होती हैं और उसके स्नायविक तथा आवेशप्रधान अंगों पर एवं उसकी बुद्धि पर भीषण और अप्रिय चीजों को लादती हैं—इन सबका मिश्रण, विशृंखलता और विषम भ्रांति उस अहंकार के पीछे थी। अब जब कि एक उच्चतर सत्य, कर्म की एक महत्तर प्रणाली और भावना उसके समक्ष प्रकट की जा चुकी हैं, फिर भी यदि वह अपने अहंभाव पर दृढ़ रहकर कर्म न करने के व्यर्थ और असंभव निश्चय पर डटा रहे, तो इसके आध्यात्मिक परिणाम पहले की अपेक्षा भी अनंतगुना अनिष्टकारी होंगे। कारण, यह एक मिथ्या निश्चय है, एक व्यर्थ पराङ्मुखता है, क्योंकि यह केवल एक अस्थायी दुर्बलता से, उसके अंतरतम स्वभाव की शक्ति के विधान से एक प्रबल पर अस्थायी रूप में विचलित होने से उत्पन्न हुआ है जो कि उसकी प्रकृति का सच्चा संकल्प और पथ नहीं है। यदि वह अब अपने शस्त्रास्त्र फेंक दे तो भी जब वह देखेगा कि युद्ध और संहार उसके बिना भी चल ही रहे हैं, उसकी पराङ्मुखता के फलस्वरूप उन सब चीजों की, जिनके लिए उसने जीवन बिताया है, पराजय हो रही है, जिस ध्येय की सेवा के लिए उसका जन्म हुआ था वह अपने नायक की अनुपस्थिति या अकर्मण्यता के कारण दुर्बल और पथभ्रांत हो रहा है, स्वार्थपरायण अधर्म और अन्याय के समर्थकों की विद्वेषपूर्ण और विवेकहीन शक्ति के द्वारा पराजित और उत्पीड़ित हो रहा है तो उसे अपनी प्रकृति ही पुनः शस्त्र उठाने के लिए विवश कर देगी। और रणभूमि में इस प्रकार वापिस आने से कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं होगा। अहंमय मन की धारणाओं और भावनाओं के संक्षोभ ने ही उसे इन्कार के लिए प्रेरित किया था; अहंमय मन की विशिष्ट धारणाओं और भावनाओं की पुनः प्रतिष्ठा के द्वारा कार्य करती हुई उसकी प्रकृति ही उसे अपने इन्कार को रद्द करने के लिए विवश करेगी। परन्तु चाहे किसी भी तरह क्यों न हो, इस प्रकार निरंतर अहं के वश में रहने का अर्थ होगा और भी बुरा, और भी घातक अध्यात्म-निषेध, **'विनष्टि'**; क्योंकि यह, निम्न प्रकृति के अज्ञान में उसने अपनी सत्ता के जिस सत्य का अनुसरण किया है उसकी अपेक्षा महत्तर सत्य से एक निश्चित पतन होगा। एक उच्चतर चेतना में, एक नयी आत्म-उपलब्धि में उसे प्रवेश प्राप्त हो गया है, अहंप्रेरित कर्म के स्थान पर दिव्य कर्म करने की संभावना उसे दिखायी गयी है, निरे बौद्धिक,

भावप्रधान, ऐन्द्रिय और प्राणिक जीवन के स्थान पर एक दिव्य आध्यात्मिक जीवन के द्वार उसके सामने खोल दिए गये हैं। उसे आह्वान प्राप्त हुआ है कि वह अब और एक प्रबल अंध यंत्र न रहकर सचेतन पुरुष बने, भगवान् की एक ज्ञानदीप्त शक्ति एवं आधार बन जाय।

कारण, हमारे अन्दर यह संभावना निहित है : हमारी मानवता के उच्चतम शिखर पर भी हमारे लिए इस पूर्णता और परात्परता का द्वार खुला हुआ है। मनुष्य का साधारण मन तथा प्राण उसके अन्दर छुपी हुई किसी वस्तु का एक अर्द्ध-आलोकित एवं अधिकांशतः अज्ञानयुक्त विकास और आंशिक एवं अपूर्ण अभिव्यक्ति हैं। वहाँ एक देवता विद्यमान हैं जो उससे छुपे हुए हैं, उसकी चेतना के पीछे भीतर की ओर अवस्थित हैं, एक ऐसी क्रिया के घने आवरण के पीछे निश्चल भाव से विराजमान हैं जो पूर्ण रूप से उसकी अपनी ही नहीं है और जिसका रहस्य भी उसे आयत्त नहीं हुआ है। वह अपनेको इस जगत् में विचार, संकल्प, अनुभव और कर्म करते हुए पाता है और सहज-प्रवृत्तिवश या बुद्धि से सोच-विचारकर यह समझ लेता है कि वह एक पृथक् स्वयं-स्थित जीव है जो विचार, संकल्प, अनुभव और कर्म करने में स्वतंत्र है, अथवा कम-से-कम वह इसी भाव से अपने जीवन का परिचालन करता है। वह अपने पाप, प्रमाद और दुःख का भार वहन करता है और अपने ज्ञान तथा पुण्य का दायित्व एवं श्रेय अपने ऊपर लेता है ; वह अपने सात्त्विक, राजसिक या तामसिक अहं को तृप्त करने के अधिकार का दम भरता है और अभिमानपूर्वक इस बात का दावा करता है कि वह अपनी ही शक्ति से अपने भाग्य का निर्माण कर सकता है तथा जगत् को अपने काम में लगा सकता है। अपने विषय में उसकी यह जो धारणा है उसी के द्वारा प्रकृति उसके अन्दर कार्य करती है, और वह उसकी अपनी परिकल्पना के अनुसार ही उसके साथ व्यवहार करती है, परन्तु हर समय अपनी अंतःस्थ महत्तर आत्मा के संकल्प को ही पूर्ण करती है। मनुष्य की इस अहं-दृष्टि में जो भूल है वह उसकी अन्य अधिकतर भूलों के समान ही सत्य की एक विकृति है, एक ऐसी विकृति है जो ऐसे मूल्य-मानों की एक संपूर्ण प्रणाली ही रच डालती है जो भ्रांत और फिर भी प्रभावशाली होते हैं। जो कुछ उसकी आत्मा के विषय में सत्य है उसे वह अहं-व्यक्तित्व का गुण मानता है और उसका मिथ्या प्रयोग करता है, उसे मिथ्या रूप दे देता है और उससे अनेक अज्ञानयुक्त निष्कर्षों पर पहुँचता है। अज्ञान उसकी स्थूल चेतना की इस मूल त्रुटि में निहित है कि उसका जो बाह्य यांत्रिक भाग प्रकृति का एक सुविधाजनक साधन है केवल उसी के साथ वह अपनेको एकाकार समझता है और अपनी अंतरात्मा के केवल उतने ही अंश को

'अपना-आप' समझता है जितना कि इन बाह्य क्रियाओं को प्रतिबिंबित करता है तथा इनमें प्रतिबिंबित होता है। उसके अन्दर की जो महत्तर, आभ्यंतरिक अध्यात्मसत्ता उसके समस्त मन, प्राण और सृजन एवं कर्म को एक अनुपलब्ध सिद्धि की आशा और एक गुप्त सार्थकता प्रदान करती है उसे वह नहीं देख पाता। यहाँ विश्व-प्रकृति जगत् के अधीश्वर परमात्मा की शक्ति का अनुसरण करती है, प्रत्येक प्राणी को उसकी अपनी प्रकृति के नियम, **'स्वभाव'** के अनुसार गठित करती है तथा उसका कर्म निर्धारित करती है, मनुष्यमात्र को भी उसकी जाति की प्रकृति के सामान्य नियम के अनुसार, अर्थात् प्राण और देह में आबद्ध और अज्ञानग्रस्त मनोमय प्राणी के नियम के अनुसार गठित करती है और उसका कर्म निर्धारित करती है, प्रत्येक मनुष्य को भी उसके अपने विशिष्ट वर्ण के धर्म तथा अपने मूल स्वभाव के विभेदों के अनुसार गठित करती तथा उसके व्यक्तिगत कर्म का निर्धारण करती है। यही विश्व-प्रकृति शरीर के यांत्रिक व्यापारों और हमारे प्राण तथा स्नायविक भागों की स्वाभाविक क्रियाओं का गठन और संचालन करती है; और यहाँ उसके प्रति हमारी अधीनता अत्यंत ही स्पष्ट है। वह हमारे इंद्रिय-मानस और संकल्प-शक्ति एवं बुद्धि की क्रिया का भी गठन कर इसका संचालन करती है, आज की वस्तुस्थिति में कदाचित् इनकी क्रिया भी कुछ कम यांत्रिक नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जहाँ पशु में मन की क्रियाएँ पूर्ण रूप से प्रकृति का यंत्रवत् अनुसरण करती हैं, वहाँ मनुष्य की विशेषता यह है कि वह अपने आधार में एक ऐसा सचेतन विकास संपन्न करता है जिसमें अंतरात्मा अधिक सक्रिय रूप से भाग लेती है, और इससे उसके बाह्य मन को एक प्रकार की स्वाधीनता का तथा उसकी करणात्मक प्रकृति पर बढ़ते हुए प्रभुत्व का भान होता है; वह भान उसके लिए उपयोगी और अपरिहार्य होता है, किन्तु होता है अधिकांश में भ्रामक। और उसके विशेष रूप से भ्रामक होने का कारण यह है कि वह उसे अपने बंधन के कठोर तथ्य के प्रति अंध बना देता है और स्वाधीन होने का उसका मिथ्या विचार उसे सच्चा स्वातंत्र्य एवं प्रभुत्व नहीं प्राप्त करने देता। कारण, जबतक मनुष्य अपनी अंतरस्थित भागवत सत्ता से सचेतन नहीं हो जाता और अहं से भिन्न अपनी वास्तविक आत्मा एवं अध्यात्म-सत्ता को अधिकृत नहीं कर लेता, **'आत्मवान्'** नहीं हो जाता, तबतक उसका स्वातंत्र्य तथा अपनी प्रकृति पर प्रभुत्व कदाचित् यथार्थ ही नहीं होते और वे पूर्ण तो हो ही नहीं सकते। उस भागवत सत्ता को ही प्रकृति मन, प्राण और शरीर में प्रकट करने का प्रयास कर रही है; वही प्रकृति पर सत्ता और कर्म के इस या उस धर्म, **'स्वभाव'** को लादती है; वही हमारे अंदर के चैत्य पुरुष की बाह्य नियति और विकास का गठन करती

है। इसलिए जब मनुष्य अपनी वास्तविक आत्मा एवं अध्यात्म-सत्ता को अधिकृत कर लेगा केवल तभी उसकी प्रकृति भगवान् का एक सचेतन यंत्र और प्रदीप्त शक्ति बन सकेगी।

कारण, जब हम अपनी सत्ता की इस अंतरतम आत्मा में प्रवेश करते हैं, तो हमें पता चलता है कि हमारे अन्दर तथा सबके अन्दर एक ही आत्मा और परमेश्वर हैं, समस्त प्रकृति उन परमेश्वर का ही कार्य करती तथा उन्हें व्यक्त करती है और हम स्वयं इसी आत्मा की आत्मा तथा इसी सत्ता की सत्ता हैं, हमारा शरीर उन परमेश्वर की ही एक प्रतिनिधिस्वरूप प्रतिमा है, हमारा जीवन उनके जीवन-छंद की एक गति है, हमारा मन उनके चैतन्य का एक कोश है, हमारी इंद्रियाँ उनके करण हैं, हमारे भावावेग और संवेदन उनकी सत्ता के आनंद का अन्वेषण हैं, हमारे कर्म उनके उद्देश्य का एक साधन हैं, जबतक हम अज्ञानी होते हैं तबतक हमारी स्वाधीनता केवल एक छाया, संकेत या आभास होती है, किन्तु जब हम उन्हें तथा अपने-आपको जान लेते हैं तब वह उनके अमर स्वातंत्र्य की एक लंबी तान और शक्तिशाली यंत्र होती है। हमारे सभी प्रभुत्व उनकी कार्यरत शक्ति की प्रतिच्छाया हैं, हमारा सर्वश्रेष्ठ ज्ञान उनके ज्ञान का एक आंशिक आलोक है, हमारी आत्मा का सर्वोच्च एवं अत्यंत शक्तिशाली संकल्प इस सर्वभूतस्थ आत्मा, विश्व के अधीश्वर और परमात्मा के संकल्प का एक प्रलंबित अंश और प्रतिनिधि है। प्राणिमात्र के हृदय में अवस्थित ईश्वर ही हमें हमारी अज्ञानावस्था के समस्त आंतर और बाह्य कर्म में निम्न प्रकृति की इस माया के पहिये पर यंत्रारूढ़ की भांति घुमाते आ रहे हैं। और चाहे हमारा जीवन अज्ञान में तमसाच्छन्न हो या ज्ञान में प्रकाशमान, वह हमारे अन्दर तथा जगत् के अन्दर अवस्थित उन ईश्वर के लिए ही है। इस ज्ञान और इस सत्य में सचेतन तथा संपूर्ण रूप से निवास करने का अर्थ है अहं से मुक्त होना तथा माया के घेरे को तोड़कर उससे बाहर निकलना। अन्य सब उच्चतम धर्म इस धर्म के लिए एक तैयारी मात्र हैं, और समस्त योग केवल एक साधन है जिसके द्वारा हम अपनी सत्ता के अधीश्वर और परम पुरुष एवं आत्मा के साथ पहले किसी-न-किसी प्रकार का मिलन और अंत में, पूर्ण ज्योति प्राप्त होने पर, सर्वांगीण मिलन लाभ कर सकते हैं। सबसे महान् योगमार्ग है—अपनी प्रकृति की सब कठिनाइयों और परेशानियों से छुटकारा पाने के लिए संपूर्ण प्रकृति के इन अंतर्वासी ईश्वर की शरण लेना, अपनी संपूर्ण सत्ता के साथ, प्राण, शरीर, इंद्रिय, मन, हृदय और बुद्धि के साथ, उसी के प्रति अर्पित अपने संपूर्ण ज्ञान, संकल्प और कर्म के साथ, **'सर्वभावेन'**, अपनी सचेतन सत्ता और यंत्रात्मक प्रकृति के सभी भावों के साथ उन्हीं

अंतर्वासी ईश्वर की ओर मुड़ना। और जब हम सदा-सर्वदा तथा पूर्ण रूप से ऐसा कर सकेंगे, तब भागवत ज्योति, प्रीति और शक्ति हमें अपने अधिकार में कर लेंगी, हमारी सत्ता और हमारे करणों दोनों को परिपूरित कर देंगी और हमारे अंत:पुरुष तथा जीवन को घेरनेवाले समस्त संदेहों, कठिनाइयों, द्विविधाओं और विपदाओं में से हमें सुरक्षित ले चलेंगी, हमें परा शांति और हमारे अमृत एवं शाश्वत पद की आध्यात्मिक स्वतंत्रता की ओर ले जायंगी, **'परां शान्तिम्, स्थानं शाश्वतम्।'**

कारण, समस्त धर्मों का और अपने योग के गहनतम सार का प्रतिपादन करने के बाद, यह बताने के बाद कि आध्यात्मिक ज्ञान के रूपांतरकारी प्रकाश के द्वारा मानव-मन के समक्ष प्रकाशित सभी प्राथमिक रहस्यों के परे, **'गुह्यात्'**, यह एक और भी गभीर एवं गुह्यतर सत्य है, **'गुह्यतरम्'**, गीता एकदम ही यह कहती है कि अभी भी एक परम वचन, **'परमं वचः'**, है जो उसे कहना है, और अभी भी एक सर्वाधिक गुह्य सत्य है, **'सर्वगुह्यतमम्'**। यह रहस्यों का रहस्य दिव्य गुरु अर्जुन को उसके सर्वोच्च श्रेय के रूप में बतलायेंगे क्योंकि वह उनकी चुनी हुई और प्रिय आत्मा है, उनका **'इष्ट'** है। कारण, स्पष्ट ही, जैसा कि उपनिषदों ने पहले ही घोषित किया था, अपने वास्तविक स्वरूप की, **'तनुं स्वाम्'**, अभिव्यक्ति के लिए परमात्मा के द्वारा चुना हुआ कोई विरला जीव ही इस रहस्य में प्रवेश पा सकता है, क्योंकि केवल वही हृदय, मन और प्राण में परमेश्वर के इतना काफी निकट होता है कि वह अपनी सारी सत्ता में उन्हें सच्चे रूप में प्रत्युत्तर दे सकता है तथा उन्हें अपने जीवन में मूर्तिमंत कर सकता है। गीता का अंतिम उपसंहार-रूप परम वचन, जो उच्चतम रहस्य को प्रकट करता है, दो संक्षिप्त, सुस्पष्ट और सरल श्लोकों में कहा गया है और इन्हें बिना इनकी और व्याख्या या विस्तार किये यों ही छोड़ दिया गया है ताकि ये मन के अन्दर गहरे जाकर आत्मानुभूति में अपना पूर्ण अर्थ प्रकाशित करें। कारण स्वयं ये शब्द ऊपर से इतने साधारण एवं सीधे-सादे लगने पर भी जिस अमित अर्थ-गौरव से नित्यपूर्ण हैं वह इस निरन्तर विस्तृत होनेवाली आन्तरिक अनुभूति के द्वारा ही स्पष्ट हो सकता है। और जब ये शब्द उच्चारित होते हैं तो हमें अनुभव होता है कि इसी चीज के लिए शिष्य की आत्मा को हर क्षण तैयार किया जा रहा था और शेष सब तो केवल एक ज्ञानोद्बोधक और सामर्थ्यप्रद साधना एवं शिक्षा थी। यह रहस्यों का रहस्य, ईश्वर का यह सर्वोच्च स्पष्टतम संदेश इस प्रकार है, "मुझ में मन लगा, मेरा प्रेमी और मेरा भक्त बन, मेरा भजन कर, मुझे नमस्कार कर, तू मुझे निश्चय ही प्राप्त करेगा, तेरे प्रति मेरी यह प्रतिज्ञा और प्रति-

श्रुति है, क्योंकि तू मेरा प्रिय है। सभी धर्मों को तजकर केवल मेरी ही शरण ले। मैं तुझे समस्त पाप और बुराई से मुक्त करूँगा, शोक मत कर।"[१]

गीता सर्वत्र जिन चीजों पर जोर देती आ रही है वे ये हैं—योग की एक महान् और सुनिर्मित साधन-प्रणाली, एक विशाल और विशद दार्शनिक मत, स्वभाव और स्वधर्म, जीवन का सात्त्विक विधान जो मनुष्य को एक उन्नायक आत्म-अतिक्रमण के द्वारा अपने घेरे से बाहर निकालकर एक अत्यंत सुविशाल, यहाँतक कि इस उच्चतम गुण की सीमा के भी परे उन्नीत, अजरामर अस्तित्व के मुक्त आध्यात्मिक धर्म की ओर ले जाता है, पूर्णता प्राप्त करने के अनेक नियम, साधन और अनिवार्य विधि-विधान, और इन सबपर जोर दे चुकने के बाद अब गीता एकाएक अपनी रचना को तोड़कर उससे बाहर निकलती प्रतीत होती है और मानवात्मा से कहती है, "सब धर्मों का परित्याग कर दे, अपने-आपको केवल भगवान् के प्रति, अपने ऊपर, चारों ओर और अन्दर रहनेवाले परमेश्वर के प्रति अर्पण कर दे : तुझे केवल यही करने की जरूरत है, यह सत्यतम और महत्तम पथ है, यही वास्तविक मुक्ति है।" कुरुक्षेत्र के दिव्य सारथि और दिव्य उपदेष्टा के रूप में सर्वलोक-महेश्वर ने मनुष्य के समक्ष यह प्रकाशित कर दिया है कि ईश्वर, पुरुष और आत्मा के महान् सत्य क्या हैं, इस जटिल जगत् की प्रकृति क्या है, परमात्मा के साथ मनुष्य के मन, प्राण, हृदय और इंद्रियों का क्या संबंध है और वह विजयशील साधन कौन-सा है जिसके द्वारा वह अपने ही आध्यात्मिक साधनाभ्यास और पुरुषार्थ के बल पर मर्त्यता से अमरता में और अपने सीमाबद्ध मानसिक जीवन से अपने असीम आध्यात्मिक जीवन में उठ सकता है। और अब मनुष्य तथा सभी वस्तुओं के अन्दर विद्यमान आत्मा और भगवान् के रूप में बोलते हुए वे उससे कहते हैं, "यदि तू मेरे प्रति पूर्ण समर्पण कर सके, अपने अन्दर तथा सब भूतों के अन्दर अवस्थित आत्मा और परमेश्वर पर ही निर्भर रह सके और एकमात्र उन्हीं के मार्गदर्शन पर भरोसा रख सके, तो अंत में इस सब वैयक्तिक पुरुषार्थ और आत्म-साधना की जरूरत नहीं रहेगी, नियम-धर्म के समस्त अनुसरण एवं सीमाबंधन को अंततः बाधक और भारस्वरूप समझकर त्यागा जा सकता है। अपना मन पूर्ण रूप से मेरी ओर फेर दे और इसे मेरे तथा मेरी उपस्थिति के विचार से भर दे। संपूर्ण रूप से मुझ में चित्त लगा ; अपने प्रत्येक कर्म को, वह चाहे कोई भी क्यों न हो, मेरे प्रति यज्ञ और भेंट के रूप में परिणत कर। ऐसा कर लेने पर, अपने जीवन, अंतरात्मा और कर्म का मुझे मेरी अपनी इच्छानुसार प्रयोग करने दे ; अपने मन, हृदय, जीवन

१. १८, ६५

और कर्म-कलाप के साथ होनेवाले मेरे व्यवहारों से दु:खित या विभ्रांत मत हो और न इसलिए ही उद्विग्न हो कि ये उन नियमों और धर्मों का पालन नहीं करते प्रतीत होते जिन्हें मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि और इच्छाशक्ति के मार्गदर्शन के लिए अपने ऊपर लादता है। मेरी कार्य-शैलियाँ उस पूर्ण ज्ञान, शक्ति एवं प्रेम की कार्य-शैलियाँ हैं जो सभी वस्तुओं को जानता है और सर्वांगपूर्ण चरम परिणाम को लक्ष्य में रखकर अपनी सब गतियों को ऐक्यबद्ध करता है ; क्योंकि वह एक समग्र पूर्णता के अनेक सूत्रों को परिष्कृत और संग्रथित कर रहा है। मैं यहाँ युद्ध के रथ में तेरे साथ अवस्थित हूँ, तेरे अंदर और बाहर जगत् के अधीश्वर के रूप में प्रकटित हूँ, और मैं यह अमोघ आश्वासन एवं अटल प्रतिज्ञा फिर से दुहराता हूँ कि मैं तुझे समस्त दु:ख और पाप से उबारकर इनके परे अपनी ओर ले चलूँगा। चाहे कोई भी कठिनाइयाँ और द्विविधाएँ क्यों न उत्पन्न हों, इस बात पर विश्वास रख कि मैं तुझे विश्व-सत्ता के अंदर पूर्ण जीवन की ओर तथा विश्वातीत आत्मा के अंदर अमर स्थिति की ओर ले चल रहा हूँ।"

जिस गुह्य तत्त्व को, **'गुह्यम्'**, समस्त गभीर अध्यात्मज्ञान हमारे समक्ष प्रकाशित करता है, जो विविध शिक्षाओं में प्रतिफलित दीख पड़ता है तथा आत्मा की अनुभूति के द्वारा समर्थित होता है वह, गीता की दृष्टि में, हमारे अंदर प्रच्छन्न अध्यात्म-सत्ता का रहस्य है, मन और बाह्य प्रकृति उस सत्ता की अभिव्यक्तियाँ या रूप मात्र हैं। वह गुह्य तत्त्व पुरुष और प्रकृति के नित्य संबंधों का रहस्य है, जो अंतर्यामी ईश्वर समस्त जगत् के प्रभु हैं और अपने रूपों तथा क्रियाओं के अंदर हमसे छुपे हुए हैं, उनका रहस्यमय तत्त्व है। वेदांत, सांख्य और योग ने इन्हीं सत्यों की कई प्रकार से शिक्षा दी है और गीता के शुरू के अध्यायों में भी इन्हींका समन्वय किया गया है। अपने सब प्रतीयमान भेदों के होते हुए भी ये एक ही सत्य हैं और योग के सब विभिन्न मार्ग आध्यात्मिक साधना के विविध साधन हैं जिनके द्वारा हमारा चंचल मन तथा अंध प्राण शांत होते हैं तथा इन बहुरूप एकमेव की ओर मुड़ जाते हैं और आत्मा एवं ईश्वर का निगूढ़ सत्य हमारे लिए इतना वास्तविक एवं अंतरंग हो जाता है कि या तो हम उसमें सचेतन रूप से जीवन यापन कर सकते एवं निवास कर सकते हैं अथवा हम अपनी पृथक् सत्ता को सनातन में खो दे सकते हैं और तब हम पहले की तरह मानसिक अज्ञान के जरा भी वशीभूत नहीं रहते।

इससे भी अधिक गुह्य तत्त्व, **'गुह्यतरम्'**, जिसका गीता ने विकास किया है, भागवत पुरुषोत्तम का गभीर सामंजस्य-साधक सत्य है, वे पुरुषोत्तम एक ही साथ आत्मा भी हैं और पुरुष भी, परब्रह्म भी हैं और अद्वितीय, अंतरतम, रहस्यमय,

अनिर्वचनीय परमेश्वर भी। यह गुह्यतर तत्त्व हमारे चिंतन को चरम ज्ञान के लिए एक ऐसा विशालतर आधार प्रदान करता है जिसके द्वारा वह अधिक गभीर बोध प्राप्त कर सकता है, और साथ ही हमारी आध्यात्मिक अनुभूति को यह एक ऐसा महत्तर योग प्रदान करता है जो अधिक पूर्ण रूप से समन्वयकारी तथा व्यापक है। यह गभीरतर रहस्य परा आध्यात्मिक प्रकृति और जीव के निगूढ़ तत्त्व पर प्रतिष्ठित है, जीव उस शाश्वत तथा इस व्यक्त प्रकृति में भगवान् का सनातन अंश है और अपनी अक्षर स्वप्रतिष्ठ सत्ता में उनके साथ आत्मतः और मूलतः एक है। आध्यात्मिक अनुभूति परात्पर तत्त्व और इहलोक के बीच जो आरंभिक भेद करती है, यह गभीरतर ज्ञान उस भेद से परे है। क्योंकि, जगतों के परे जो परात्पर है वह साथ-ही-साथ वासुदेव भी है जिसने सब लोकों की सभी वस्तुओं का रूप धारण कर रखा है; वह प्रत्येक प्राणी के हृद्देश में अवस्थित ईश्वर तथा सर्वभूतों का आत्मा है और अपनी प्रकृति में उसने जो कोई भी चीज प्रकट की है उसका उद्गम एवं दिव्य अर्थ है। वह अपनी विभूतियों में प्रकट हुआ है, वह काल-पुरुष है जिसकी प्रेरणा के वश जगत् का सब व्यापार चल रहा है, वह समस्त ज्ञान का सूर्य, जीव का प्रेमी और प्रियतम, समस्त कर्म और यज्ञ का स्वामी है। इस गभीरतर, सत्यतर, गुह्यतर रहस्य की ओर अंतरतम उद्घाटन का फल होता है गीता का समग्र ज्ञान, समग्र कर्म और समग्र भक्ति का योग। यह एक ही साथ आध्यात्मिक विश्वमयता और मुक्त तथा पूर्णताप्राप्त आध्यात्मिक व्यष्टिभाव का अनुभव है, यह परमेश्वर के साथ पूर्ण रूप से एक होने का अनुभव है और साथ ही उन्हें जीव की अमरता का आधार तथा जगत् और देह में हमारे मुक्त कर्म का आश्रय एवं शक्ति जानते हुए उनके अंदर पूर्ण रूप से निवास करने का अनुभव भी है।

और अब आता है परम वचन तथा सबसे गुह्य तत्त्व, **'गुह्यतमम्'**, वह यह है कि परमात्मा एवं भगवान् सब धर्मों से मुक्त 'अनंत' हैं और यद्यपि वे स्थिर नियमों के अनुसार जगत् का परिचालन करते हैं और मनुष्य को उसके अज्ञान और ज्ञान, पाप और पुण्य, सत् और असत्, राग और द्वेष और उदासीनता, सुख और दुःख, हर्ष और शोक के धर्मों के द्वारा तथा इन द्वंद्वों के परित्याग के द्वारा, उसके भौतिक और प्राणिक, बौद्धिक, भाविक, नैतिक और आध्यात्मिक रूपों, नियमों एवं आदर्शों के द्वारा ले चलते हैं, तथापि परमात्मा किंवा भगवान् इन सब चीजों से परे हैं, और यदि हम भी धर्मों के समस्त अवलंबन को त्याग सकें, इन मुक्त और सनातन परमात्मा के प्रति अपनेको समर्पित कर सकें और अपने-आपको केवल इनकी ओर पूर्ण तथा अनन्य भाव से खुला रखने का ही ध्यान रखते

हुए, अपने अंतःस्थ भगवान् की ज्योति, शक्ति और आनंद पर भरोसा रख सकें और भय तथा शोक न करते हुए, केवल उन्हींका मार्ग-दर्शन स्वीकार कर सकें, तो यह सत्यतम और महत्तम मुक्ति है और इससे हमें अपनी सत्ता एवं प्रकृति की चरम और अटल पूर्णता प्राप्त होती है। यह है वह मार्ग जो भगवान् के चुने पुत्रों के लिए प्रदर्शित किया गया है,—केवल उन लोगों के लिए जिनमें भगवान् अधिकतम आनंद लेते हैं, क्योंकि वे लोग उनके निकटतम हैं एवं उनके साथ एकत्व लाभ करने के लिए सर्वाधिक योग्य हैं और, प्रकृति की उच्चतम शक्ति एवं क्रिया के साथ स्वतंत्रतापूर्वक सहमत तथा सुसंगत होते हुए, उन्हींकी भाँति आत्म-चैतन्य के अंदर विश्वमय और अध्यात्मसत्ता के अंदर विश्वातीत बनने में सर्वाधिक समर्थ हैं।

कारण, आध्यात्मिक विकास में एक ऐसा समय आता है जब हमें यह पता चल जाता है कि हमारा समस्त पुरुषार्थ और कर्म हमारे अंदर और हमारे चारों ओर विद्यमान एक महत्तर उपस्थिति के शांत और गुप्त आग्रह के प्रति हमारी मानसिक और प्राणिक प्रतिक्रियाएँ मात्र हैं। हमें दृढ़ विश्वास हो जाता है कि हमारा समस्त योग, अभीप्सा और प्रयास असली वस्तु के अपूर्ण या संकीर्ण रूप हैं, क्योंकि ये मन के संस्कारों, दावों, पूर्वनिर्णयों, पक्षपातों, विशालतर सत्य के मिथ्या या अपूर्ण रूपांतरों के द्वारा विकृत या कम-से-कम सीमाबद्ध हैं। हमारे विचार, अनुभव और प्रयास महत्तम चीजों के मानसिक प्रतिरूप मात्र हैं। यदि हम केवल अपने-आपको एक चरम-परम शक्ति एवं प्रज्ञा के हाथों में यंत्र के रूप में निष्क्रिय रूप से समर्पित कर सकें, तो ये विचार, अनुभव और प्रयास हमारे अंदर अवस्थित उस शक्ति के ही द्वारा अधिक पूर्ण, प्रत्यक्ष, स्वतंत्र और विशाल रूप से, विश्वगत और सनातन संकल्प के साथ अधिक सुसंगत रूप में संपादित हो सकते हैं। वह शक्ति हमसे पृथक् नहीं है ; वह हमारी अपनी ही आत्मा है जो अन्य सबकी आत्मा के साथ एकीभूत है और साथ ही विश्वातीत सत्ता और अंतर्यामी पुरुष भी है। हमारा जीवन, हमारा कर्म इस महत्तम सत्ता में ऊपर उठकर मानसिक पार्थक्य में व्यक्तिगत रूप से हमारा अपना नहीं रहेगा, जैसा कि अब हमें यह प्रतीत होता है। तब वह एक अनंतता एवं अंतरंग अनिर्वचनीय उपस्थिति का एक विशाल व्यापार होगा ; तब वह हमारे अंदर इस गभीर विश्वगत आत्मा एवं इस विश्वातीत पुरुष का एक सतत स्वयं-स्फूर्त रूपायण एवं प्राकट्य होगा। गीता कहती है कि इस प्राकट्य को पूर्ण रूप से साधित करने के लिए हमें निःशेष भाव से समर्पण करना होगा ; हमारे योग, हमारे जीवन, हमारी अंतःसत्ता की अवस्था को पहले से ही इस या उस

धर्म या किसी भी धर्म पर मन के आग्रह के द्वारा निर्धारित नहीं होना होगा, बल्कि इस जीवंत 'अनंत' के द्वारा स्वच्छंद रूप से निर्धारित होना होगा। तब योग के दिव्य ईश्वर, **'योगेश्वरः कृष्णः,'** हमारे योग को स्वयं अपने हाथों में लेंगे और हमें हमारी उच्चतम संभव पूर्णता तक ऊपर उठा ले जायेंगे, और वह पूर्णता किसी बाह्य या मानसिक आदर्श या अवरोधक नियम की पूर्णता नहीं होगी, बल्कि वह होगी विशाल और व्यापक तथा मन के लिए अपरिमेय। वह एक ऐसी पूर्णता होगी जो सर्वदर्शी प्रज्ञा के द्वारा पहले तो निःसंदेह हमारे मानव-स्वभाव के समग्र सत्य के अनुसार विकसित होगी, किंतु बाद में उस महत्तर वस्तु के समग्र सत्य के अनुसार विकसित होगी जिसकी ओर हमारा स्वभाव उन्मुक्त हो जायगा ; वह महत्तर वस्तु है—असीम, अविनाशी, मुक्त और सर्वरूपांतर-कारी आत्मा एवं शक्ति, दिव्य और अनंत प्रकृति की ज्योति और दीप्ति।

सब कुछ उस रूपांतर के उपादान के रूप में समर्पित कर देना होगा। एक सर्वज्ञ चेतना हमारे ज्ञान और अज्ञान, हमारे सत्य और भ्रांति को अपने हाथ में लेकर उनके न्यूनतापूर्ण रूपों का परित्याग कर देगी, **'सर्वधर्मान् परित्यज्य,'** और उन सबको अपनी अनंत ज्योति में रूपांतरित कर देगी। एक सर्वसमर्थ शक्ति हमारे पुण्य और पाप, न्याय और अन्याय, शक्ति और दुर्बलता को अपने हाथ में लेकर उनके उलझे हुए रूपों का परित्याग कर देगी, **'सर्वधर्मान् परित्यज्य,'** और उन सबको अपनी विश्वातीत पवित्रता, विश्वजनीन शुभ और अमोघ शक्ति में रूपांतरित कर देगी। एक अनिर्वचनीय आनंद हमारे क्षुद्र हर्ष और शोक, हमारे संघर्षशील सुख और दुःख को अपने हाथ में लेकर उनके विरोध-वैषम्य एवं अपूर्ण गतिच्छंद का परित्याग कर देगा, **'सर्वधर्मान् परित्यज्य,'** और उन सब-को अपने विश्वातीत एवं विश्वगत अकल्पनीय आनंद में रूपांतरित कर देगा। समस्त योग जो कुछ कर सकते हैं वह सब और उससे भी अधिक किया जायगा ; परंतु कोई मानव गुरु, संत या ज्ञानी हमें जो दृष्टि-संपन्न पद्धति, जो ज्ञान एवं सत्य प्रदान कर सकता है उसकी अपेक्षा एक महत्तर दृष्टिसंपन्न पद्धति, महत्तर ज्ञान एवं सत्य के अनुसार वह सब संपन्न किया जायगा। जिस आभ्यंतरिक अध्यात्म-स्थिति की ओर यह परम योग हमें ले जायेगा वह इस संसार की सभी चीजों से ऊपर होगी और फिर भी इस और अन्य लोकों की सभी वस्तुओं को अपने अंदर समाविष्ट करेगी पर उन सबका आध्यात्मिक रूपान्तर कर देगी, उनसे सीमित एवं बद्ध न रहकर, **'सर्वधर्मान् परित्यज्य।'** भगवान् की अनंत सत्ता, चैतन्य एवं आनंद अपनी शांत निश्चल-नीरवता तथा उज्ज्वल, निःसीम क्रिया के साथ वहाँ उपस्थित होगा, वह उस स्थिति का तात्त्विक, आधारभूत और विश्वगत

उपादान, साँचा एवं स्वरूप होगा। तब, अनंतता के उस साँचे में इस प्रकार प्रकट हुए भगवान् पहले की तरह अपनी योगमाया के द्वारा आवृत होकर नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष रूप से निवास करेंगे और जब-जब तथा जिस प्रकार वे चाहेंगे तब-तब तथा उस प्रकार वे हमारे अंदर अनंत के चाहे कोई भी आकार गठित कर लेंगे और अपने आत्म-परिपूर्त्तिकारी संकल्प एवं अमर आनंद के अनुसार ज्ञान, विचार, प्रेम, आध्यात्मिक आनंद, शक्ति और कर्म के ज्योतिर्मय रूपों का निर्माण कर लेंगे। वहाँ मुक्त जीव तथा अविकृत प्रकृति पर कोई भी बंधनकारी प्रभाव नहीं पड़ेगा, वे इस या उस निम्नतर धर्म के अंदर सदा के लिए बंधनग्रस्त नहीं हो जायेंगे। क्योंकि, परमात्मा की शक्ति ही दिव्य स्वातंत्र्य के साथ, **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'**, समस्त कर्म संपन्न करेगी। विश्वातीत आत्मा में, **'परम धाम'** में अविचल निवास ही इस आध्यात्मिक स्थिति का आधार एवं आश्वासन होगा। विश्वसत्ता और सर्वभूतों के साथ एक घनिष्ठ बोधपूर्ण एकता ही, जो भेदमूलक मन के दोष और दुःख-ताप से मुक्त पर सच्चे भेदों की ओर ज्ञानपूर्वक ध्यान देने-वाली होगी, इस स्थिति की नियामक शक्ति होगी। अखंड आनंद, भगवान् के साथ तथा वे जो कुछ भी हैं उस सबके साथ यहाँ सनातन जीव का एकत्व एवं सामंजस्य ही इस सर्वांगीण मुक्ति का फल होगा। हमारे मानवजीवन की चकरानेवाली समस्याएँ, अर्जुन की समस्या जिनका एक उत्कट दृष्टांत है, अज्ञान के अंदर हमारे भेद-जनक व्यक्तित्व के द्वारा उत्पन्न होती हैं। यह योग परमेश्वर तथा जगत्-जीवन के साथ मानवात्मा का यथार्थ संबंध स्थापित करता है, हमारे कर्म को भगवान् का कर्म, उसे गठित एवं परिचालित करनेवाले ज्ञान एवं संकल्प को भगवान् का ज्ञान एवं संकल्प तथा हमारे जीवन को दिव्य आत्म-अभिव्यक्ति का एक गतिच्छंद बना देता है, अतएव, यह उन समस्याओं का पूर्ण रूप से निरा-करण करने का वास्तविक मार्ग है।

संपूर्ण योग का विशद प्रतिपादन कर दिया गया है, शिक्षा का परम वचन सुना दिया गया है और चुनी हुई मानवात्मा अर्जुन एक बार पुनः, अपने अहंमय मन के साथ नहीं, वरन् इस महत्तम आत्म-ज्ञान के साथ, दिव्य कर्म में प्रवृत्त हो गया है। भगवान् की विभूति अर्जुन मानवजीवन के बीच दिव्य जीवन के लिए तैयार हो गया है, उसकी चेतन आत्मा मुक्त जीव के कर्मों, **'मुक्तस्य कर्म'** के लिए प्रस्तुत हो गयी है। मन का मोह नष्ट हो चुका है ; हमारे जीवन के भ्रांतिजनक दृश्यों एवं रूपों के कारण इतने काल तक जीव से उसका अपना जो स्वरूप एवं सत्य छुपा हुआ था उसकी स्मृति उसे पुनः प्राप्त हो गयी है तथा उसकी सामान्य चेतना का अंग बन गयी है ; समस्त भ्रम-संशय दूर हो गया है, वह

आदेश के पालन में प्रवृत्त हो सकता है और हमारी सत्ता के स्वामी, काल और विश्व में अभिव्यक्त विश्व-पुरुष एवं परमेश्वर उसे अपने लिए तथा जगत् के लिए जिस भी कर्म में नियुक्त करें, जो भी काम सौंपें उसे निष्ठापूर्वक संपन्न कर सकता है।

गीता का सारमर्म

गीता को लिखे गये तो सुदीर्घ काल व्यतीत हो चुका है और इस बीच मनुष्य की विचारधारा एवं अनुभूति में विपुल परिवर्तन आ गया है। तब फिर आज के मानव-मन के लिए गीता का संदेश क्या है, इसका क्रियात्मक महत्त्व एवं आध्यात्मिक उपयोगिता क्या है? मानव-मन सदा आगे की ही ओर बढ़ता है, अपने दृष्टिकोण को बदलता तथा अपने विचार के विषयों को विस्तृत करता है, और इन परिवर्तनों का परिणाम यह होता है कि चिंतन की पुरातन प्रणालियाँ विलुप्त हो जाती हैं अथवा, जब उन्हें सुरक्षित रखा भी जाता है तब भी, उन्हें विस्तृत और संशोधित कर दिया जाता है तथा, सूक्ष्म या प्रत्यक्ष रूप में उनका मूल्य बदल दिया जाता है। कोई प्राचीन सिद्धांत उसी हद तक सजीव होता है जिस हद तक वह ऐसे परिवर्तन के लिए स्वाभाविक रूप से अपने-आपको सौंप देता है; क्योंकि उसका मतलब यह होता है कि उसके विचार के रूप की सीमाएँ या अव्यवहार्यताएँ कोई भी क्यों न रही हों, फिर भी सारतत्त्व का जो सत्य, जीवंत दृष्टि एवं अनुभूति का जो सत्य उसकी पद्धति का आधार था वह अबतक भी अक्षुण्ण है और एक स्थायी सत्यता एवं सार्थकता रखता है। गीता एक ऐसी पुस्तक है जो असाधारणतया दीर्घ काल से जीवित चली आ रही है और यह आज भी प्रायः उतनी ही ताजी है और अपने वास्तविक सार-तत्त्व में अभी भी बिलकुल उतनी ही नयी है जितनी कि यह तब थी जब यह पहले-पहल महाभारत में प्रकाशित हुई थी या उसके ढाँचे के अंदर प्रक्षिप्त की गयी थी। इसके इस प्रकार ताजी होने का कारण यह है कि इसे अनुभव में सदैव फिर-फिर ताजा किया जा सकता है। भारत में अभीतक भी इसका इस रूप में आदर किया जाता है कि यह उन महान् शास्त्रों में से एक है जो अत्यंत प्रामाणिक रूप में धार्मिक चिंतन को नियंत्रित करते हैं और इसकी शिक्षा को भी परम मूल्यवान् माना जाता है भले ही उसे धार्मिक मत-विश्वास के लगभग सभी संप्रदाय पूर्ण रूप से स्वीकार न भी करते हों। इसका प्रभाव केवल दर्शन या विद्याध्ययन के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष और जीवंत भी है, चिंतन और कर्म दोनों पर इसका प्रभाव देखने में आता है, और सचमुच ही इसके विचार एक

जाति और संस्कृति के पुनरुज्जीवन एवं नव-जागरण में एक प्रबल निर्माणकारी शक्ति के रूप में कार्य कर रहे हैं। हाल ही में एक प्रभावशाली व्यक्ति ने यहाँ-तक कह डाला है कि आध्यात्मिक जीवन के लिए हमें जिन किन्हीं भी आध्यात्मिक सत्यों की जरूरत है वे सभी गीता में उपलब्ध हो सकते हैं। इस उक्ति को अत्यन्त शाब्दिक अर्थ में लेने से इस ग्रंथ के विषय में अंध-विश्वास को प्रोत्साहन मिलेगा। आत्मा का सत्य असीम है और उसे इस प्रकार से किसी परिधि के अंदर बंद नहीं किया जा सकता। तथापि यह कहा जा सकता है कि अधिकतर प्रधान सूत्र इसमें विद्यमान हैं और आध्यात्मिक अनुभूति एवं उपलब्धि के समस्त परवर्ती विकास के होते हुए भी हम एक विशाल अनुप्रेरणा एवं मार्गदर्शन के लिए इसकी ओर मुड़ सकते हैं। भारत के बाहर भी इसे सर्वत्र विश्व का एक अन्यतम महान् धर्मग्रन्थ स्वीकार किया जाता है, यद्यपि यूरोप में इसके अध्यात्म-साधना-संबंधी रहस्य की अपेक्षा इसकी विचारधारा को अधिक अच्छे रूप में हृदयंगम किया गया है। तो भला वह कौनसी चीज है जो गीता के विचार और सत्य को यह प्राणशक्ति प्रदान करती है?

गीता के दर्शन तथा योग का केंद्रीय ध्येय है आंतर आध्यात्मिक सत्य की पूर्णतम एवं समग्रतम उपलब्धि के साथ मनुष्य के जीवन एवं कर्म की बाह्य यथार्थ-ताओं का सामञ्जस्य साधित करना, यहाँतक कि एक प्रकार का ऐक्य स्थापित करना। गीता के अंदर अथ से इति तक यही विचार ओत-प्रोत है। वैसे इन दोनों में समझौता करने की प्रथा तो काफी प्रचलित है, पर समझौता अंतिम एवं संतोषजनक समाधान कदापि नहीं हो सकता। आध्यात्मिकता को नैतिक रूप देने की प्रथा का भी अत्यधिक प्रचलन देखा जाता है और सदाचार के एक विधान की दृष्टि से उसका महत्त्व भी है; पर वह एक मानसिक समाधान है, उससे जीवन के समस्त सत्य के साथ आत्मा के समस्त सत्य की पूर्ण क्रियात्मक सुसंगति साधित नहीं होती, और साथ ही वह जितनी समस्याएँ हल करता है उतनी ही और पैदा कर देता है। निःसंदेह, उन्हीं में से एक समस्या गीता का प्रारंभ-सूत्र है; गीता का सूत्रपात एक संघर्षजनित नैतिक समस्या से हुआ है। हम देखते हैं कि उस संघर्ष में एक ओर तो है कर्मी पुरुष का धर्म, राजपुत्र, वीर एवं जननेता का धर्म, महासंकट एवं संग्राम के मुख्य नायक का धर्म, भौतिक क्षेत्र में, वास्तविक जीवन के क्षेत्र में धर्म तथा न्याय की शक्तियों और अधर्म तथा अन्याय की शक्तियों के पारस्परिक संग्राम के प्रधान नायक का धर्म; इस धर्म की दृष्टि से जाति की भवितव्यता की उस नेता से यह मांग है कि वह अवश्यमेव प्रतिरोध करे, शत्रुपर आक्रमण करे और सत्य, धर्म एवं न्याय का नवीन युग और राज्य स्थापित करे,

भले ही उसे इसके लिये कैसा भी भीषण स्थूल संग्राम एवं घोर संहार क्यों न करना पड़े ; परंतु इसके दूसरी ओर है नैतिक बुद्धि जो इस उपाय तथा कर्म को पाप कहकर दूषित ठहराती है, वैयक्तिक क्लेश, सामाजिक कलह, अव्यवस्था एवं उपद्रव-रूपी मूल्य चुकाने से पीछे हटती है और ऐसा समझती है कि हिंसा तथा युद्ध से उपरति ही एकमात्र मार्ग है तथा यही शुद्ध नैतिक वृत्ति है। अध्यात्म-भावापन्न नीतिशास्त्र आध्यात्मिक आचार के सर्वोच्च नियम के रूप में अहिंसा पर, किसी को पीड़ा न पहुँचाने एवं किसी की हत्या न करने पर ही बल देता है। वह कहता है कि यदि युद्ध करना भी पड़े तो वह आध्यात्मिक स्तर पर तथा एक प्रकार के अप्रतिरोध के द्वारा या उसमें भाग लेने से इन्कार करके या केवल आत्मिक प्रतिरोध के द्वारा ही करना चाहिए और चाहे वह बाह्य क्षेत्र में सफल न भी हो, चाहे अन्याय की शक्ति जीत भी जाय, पर व्यक्ति तो अपने धर्म की रक्षा कर सकेगा और अपने दृष्टांत से सर्वोच्च आदर्श को सच्चा सिद्ध कर देगा। इसके विपरीत आभ्यंतरिक अध्यात्म-पथ, जो अधिक आग्रहपूर्ण छोर को पकड़े हुए है, सामाजिक कर्त्तव्य तथा चरम नैतिक आदर्श के इस संघर्ष को पार करके वैराग्य की ओर झुक सकता है और जीवन तथा इसके सब लक्ष्यों एवं कर्मसंबंधी आदर्शों से परे एक अन्य तथा दिव्य या विश्वातीत अवस्था की ओर अंगुलि-निर्देश कर सकता है, कारण, केवल उसी अवस्था में मनुष्यजन्म, जीवन और मरण की जटिल निःसारता तथा भ्रम से अतीत विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन संभव है। गीता इन समाधानों में से प्रत्येक को उसके अपने स्थान पर स्वीकार करती है,—क्योंकि वह आग्रह करती है कि जिस मनुष्य को सार्वजनीन कर्म में भाग लेना है उसे सामाजिक कर्त्तव्य का अनुष्ठान एवं धर्म का अनुसरण करना ही होगा, वह अहिंसा को सर्वोच्च अध्यात्म-नैतिक आदर्श के अंग के रूप में और वैराग्यपूर्ण त्याग को आध्यात्मिक मुक्ति के मार्ग के रूप में स्वीकार करती है। तथापि वह निर्भय होकर इन सब विरोधी स्थितियों के परे भी जाती है ; वह महान् साहस के साथ आत्मा के समक्ष समस्त जीवन को इस रूप में सत्य सिद्ध करती है कि यह एकमेव पुरुषोत्तम भगवान् की एक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है ; साथ ही, जो पूर्ण आध्यात्मिक जीवन अनंत के सायुज्य में बिताया जाता है और परम आत्मा के साथ समस्वर तथा परिपूर्ण देवाधिदेव का प्रकाशक होता है उसमें तथा संपूर्ण मानवीय कर्म में वह सामंजस्य की प्रस्थापना करती है।

मानवजीवन की सभी समस्याओं का मूल कारण यह है कि हमारी सत्ता एक जटिल वस्तु है, उसका मूल तत्त्व दुर्बोध है और जो अंतरतम शक्ति उसके सब रूपों का निर्धारण करती है तथा उसके उद्देश्य एवं प्रक्रियाओं का नियमन करती

है वह एक गुह्य शक्ति है। यदि हमारी सत्ता एक अखंड वस्तु होती, केवल भौतिक-प्राणिक या केवल मानसिक या केवल आध्यात्मिक तत्त्व होती, अथवा यदि इतना ही होता कि अन्य तत्त्व उनमें से किसी एक ही में पूर्णत: या प्रधानत: अंतर्भूत होते या हमारे अवचेतन या अति-चेतन भागों में सर्वथा प्रसुप्त पड़े होते, तो इसमें कुछ भी परेशानी की बात न होती ; तब भौतिक एवं प्राणिक नियम अपरिहार्य होता अथवा मानसिक नियम अपने शुद्ध एवं निर्बाध तत्त्व के प्रति सुस्पष्ट होता या आध्यात्मिक नियम आत्मा के लिये स्वयं-स्थित एवं स्वत:पर्याप्त होता । पशुओं को समस्याओं का कुछ भी ज्ञान नहीं ; शुद्ध मानसिकता के लोक में रहनेवाला एक मानसिक देवता किसी भी समस्या को अपने यहाँ प्रवेश नहीं करने देगा या फिर वह किसी मानसिक नियम की विशुद्धता या बौद्धिक सामंजस्य की संतुष्टि के द्वारा उन सबका समाधान कर लेगा ; शुद्ध आत्मा इन सबसे ऊपर तथा अनंत के अंदर स्वयंतृप्त होगा। परंतु मनुष्य की सत्ता एक त्रिविध जाल है, एक ऐसी चीज है जो एक ही साथ गुह्य रूप से भौतिक-प्राणिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक है, और मनुष्य नहीं जानता कि इन चीजों के वास्तविक संबंध क्या हैं, उसके जीवन तथा उसकी प्रकृति का वास्तविक सत्य कौन-सा है, उसके भाग्य का आकर्षण किस ओर है और उसकी पूर्णता का क्षेत्र कहां है।

जड़तत्त्व एवं प्राण उसका वास्तविक आधार हैं, इसी से वह यात्रा आरंभ करता है और इसी के सहारे स्थित रहता है और यदि वह इस भूतलपर तथा इस देह में जीवित रहना चाहता है तो उसे इस आधार की आवश्यकता को पूरा करना होगा, इसके विधान का पालन करना होगा। जड़ और प्राणका विधान है उत्तर-जीवन (survival) का नियम, संघर्ष का तथा कामना और स्वत्व का नियम, शरीर, प्राण और अहंभाव की स्व-प्रतिष्ठा एवं तृप्ति का नियम। जगत् का समस्त बौद्धिक तर्क-वितर्क, समस्त नैतिक आदर्शवाद तथा आध्यात्मिक निरपेक्षतावाद, जो मनुष्य की उच्चतर क्षमताओं की पहुँच के भीतर हैं, हमारे प्राणिक एवं भौतिक आधार की सत्यता और माँग को निर्मूल नहीं कर सकते, न वे मानव-जाति को प्रकृति की अलंघ्य प्रेरणा के वश इसके उद्देश्यों का तथा इसकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति का अनुसरण करने से रोक सकते हैं, और न वे उसे इसकी आवश्यक समस्याओं को मानव-भवितव्यता, मानवहित एवं प्रयास का एक महान् एवं उपयुक्त भाग बनाने से ही मना कर सकते हैं। यहाँतक कि आध्यात्मिक या आदर्श समाधान और प्रत्येक बात का तो हल कर देते हैं पर मानव के यथार्थ जीवन की अपरिहार्य समस्याओं का हल नहीं कर पाते, अतएव मनुष्य की बुद्धि उनमें कोई तृप्ति न पाकर प्राय: ही उनसे विमुख हो जाती है और अनन्यभाव से प्राण एवं देह के जीवन

को ही अंगीकार करती है और युक्तिपूर्वक या सहजात प्रेरणा के वश इसी की अधिकतम संभव क्षमता, स्वस्ति और सुव्यवस्थित तृप्ति का अनुसरण करती है। जीवनेच्छा का सिद्धांत या प्राण एवं देह की बुद्धि-समन्वित पूर्णता की शक्ति प्राप्त करने का सिद्धांत मानवजाति का एक माना हुआ धर्म-बन जाता है और अन्य सब चीजों को या तो दंभपूर्ण असत्य समझा जाता है या एक सर्वथा गौण वस्तु किंवा स्वल्पतर एवं सापेक्ष महत्त्व रखनेवाला एक अवांतर विषय।

परंतु जड़तत्व और प्राण, अपने आग्रहपूर्ण दावे तथा गुरुतर महत्त्व के होते हुए भी, मनुष्य की सत्ता का संपूर्ण स्वरूप नहीं हैं, न कोई व्यक्ति पूर्ण रूप से यह मान सकता है कि मन तो प्राण और शरीर के एक ऐसे दास के सिवा और कुछ नहीं जिसे अपनी सेवा के एक प्रकार के पुरस्कार के रूप में अपने कुछ शुद्ध भोगों के लिए स्वीकृति प्राप्त हो जाती है, न ही वह यह समझ सकता है कि मन प्राणिक आवेग का एक विस्तार एवं विकास मात्र है, दैहिक जीवन की तृप्ति पर आश्रित एक आदर्श विलास मात्र है। शरीर और प्राण की भी अपेक्षा अत्यधिक घनिष्ठ रूप से मन ही मनुष्य है, और यह मन जैसे-जैसे विकसित होता है वैसे-वैसे यह शरीर और प्राण को अपनी ही विशिष्ट तृप्ति और स्व-चरितार्थता के लिए एक यंत्र बनाने का अधिकाधिक आग्रह करता है, शरीर एवं प्राण एक अपरिहार्य यंत्र अवश्य हैं पर फिर भी वे एक बड़ी बाधा हैं, अन्यथा कोई समस्या ही न होती। मनुष्य का मन केवल प्राणगत एवं देहगत बुद्धि ही नहीं है बल्कि वह तर्कशील, सौंदर्यलक्षी, नैतिक, आंतरात्मिक, भाविक और क्रियाशील बुद्धि भी है, और अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति के क्षेत्र में उसका उच्चतम एवं प्रबलतम स्वभाव उनके किसी चरम रूप की उपलब्धि के लिए उत्कट प्रयास करने का है। पर जीवन का ढांचा उसे चरम रूप को पूर्णतया अधिकृत नहीं करने देता, उसे इहलोक में मूर्तिमंत करके पूर्णरूपेण वास्तविक नहीं बनाने देता। हमारी अभीप्सा का मानसिक चरम रूप एक समुज्ज्वल या तेजोमय आदर्श ही बना रहता है जिसे हम केवल अंशतः ही समझते होते हैं, उसे मन आंतरिक तौर पर अपने सम्मुख अत्यंत प्रत्यक्ष बना सकता है, उसके लिए प्रयत्न करने पर उसे अपने लिए आंतरिक तौर पर अनिवार्य बना सकता है, और यहाँतक कि उसे कुछ अंश में कार्यान्वित भी कर सकता है, किंतु जीवन के सभी तथ्यों को उसी के रूप में ढलने के लिये बाध्य नहीं कर सकता। इस प्रकार बौद्धिक सत्य एवं तर्क का एक चरम रूप एवं एक उच्च, अलंघ्य विधान है, हमारी बौद्धिक सत्ता उसी की खोज करती है ; धर्म और आचरण का एक चरम रूप एवं अलंघ्य विधान है, वही हमारी सदसद्विवेक-बुद्धि का लक्ष्य है ; प्रेम, समवेदना, करुणा, एकता का एक चरम रूप एवं अलंघ्य विधान है,

हमारी भाविक एवं आंतरात्मिक प्रकृति उसके लिये ललकती है ; आनंद और सौन्दर्य का एक चरम रूप एवं अलंघ्य विधान है, हमारी सौंदर्यग्राही सत्ता उसीके लिए स्पंदित होती है ; आभ्यंतरिक आत्मप्रभुत्व और जीवन-संयम का एक चरम रूप एवं अलंघ्य विधान है, हमारा क्रियाशील संकल्प उसी के लिए प्रयास करता है ; ये सभी वहाँ एक साथ विद्यमान हैं और हमारा प्राणगत एवं देहगत मन स्वाधिकार, सुख एवं सुरक्षित दैहिक जीवन के जिस चरम रूप एवं अलंघ्य विधान के लिए आग्रह करते हैं उसपर ये आघात करते हैं। मानव-बुद्धि इनमें से किसी भी चीज को पूर्ण रूप से उपलब्ध करने में समर्थ नहीं, इन सबको एक साथ उपलब्ध करने का तो कहना ही क्या। यही कारण है कि वह प्रत्येक क्षेत्र में अनेक आदर्शों और धर्मों (विधानों) की स्थापना करती है, सत्य और तर्क, न्याय और आचरण, आनंद और सौंदर्य, प्रेम, सहानुभूति और एकता, आत्म-प्रभुत्व और संयम, स्व-रक्षा, स्वाधिकार, प्राणिक क्षमता और सुख-भोग के मानदंड उत्तोलित करती है और उन्हें जीवन पर थोपने की चेष्टा करती है। चरम, उज्ज्वल आदर्श बहुत ही ऊपर, हमारी सामर्थ्य के परे अवस्थित हैं और विरले ही व्यक्ति अपनी पूरी शक्ति भर उनके निकट पहुँचते हैं ; जनसाधारण किसी कम भव्य आदर्श, किसी प्रचलित व्यवहार्य एवं सापेक्ष मान-दंड का अनुसरण करते हैं या अनुसरण करने का दावा करते हैं। समष्टिगत मानवजीवन उस आकर्षण से अभिभूत हो जाता है और फिर भी वह उस आदर्श का परित्याग कर देता है। प्राण अपनी ही किसी अस्पष्ट अनंत सत्ता के बल पर प्रत्येक प्रचलित मानसिक एवं नैतिक व्यवस्था का प्रतिरोध करता है और उसे विध्वस्त या छिन्न-भिन्न कर देता है। और ऐसा होना निश्चित ही है, कारण यह कि या तो मन और प्राण परस्पर-संयोगी और परस्पर-क्रियाकारी तत्त्व होते हुए भी एक-दूसरेसे सर्वथा विभिन्न एवं विषम हैं या फिर मन को प्राण के संपूर्ण सत्य का सूत्र ही हाथ नहीं लगा है। वह सूत्र किसी महत्तर वस्तु में, मानव-प्राणी के मन एवं नैतिकता के ऊपर अवस्थित किसी अज्ञात वस्तु में ही ढूँढ़ना होगा।

स्वयं मन को भी इस प्रकार के किसी उर्ध्वस्थित तत्त्व की अस्पष्ट अनुभूति है और अपने चरम आदर्शों के अनुसरण में वह बहुधा ही इसका संस्पर्श लाभ करता है। उसे एक अवस्था, एक शक्ति एवं एक उपस्थिति की झाँकी प्राप्त होती है जो उसके निकट और भीतर है तथा उसके प्रति अत्यंत अंतरंग है और फिर भी उसकी अपेक्षा अमित रूप से महान् तथा अपूर्व रूप से दूरस्थ और उसके ऊपर अवस्थित है ; उसे एक ऐसी वस्तु के अंतर्दर्शन होते हैं जो उसके अपने चरम आदर्शों से अधिक तात्त्विक, अधिक निरपेक्ष है, अंतरतम, अनंत और अद्वितीय

है और उसी को हम ईश्वर, आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। अतएव, हमारा मन उसी को पूर्ण रूप से जानने, उसीमें प्रवेश करने, उसी को स्पर्श एवं अधिकृत करने, उसी के पास पहुँचने या वही बन जाने, उसी आश्चर्यमय सत्ता, 'आश्चर्यम्' के साथ किसी प्रकार का एकत्व प्राप्त करने या उसके साथ पूर्ण तादात्म्य में अपने-को खो देने का यत्न करता है। समस्या यह है कि यह आत्मा अपनी शुद्धावस्था में एक ऐसी चीज प्रतीत होती है जो जीवन की यथार्थताओं से मानसिक चरमादर्शों की अपेक्षा भी अधिक दूर है, जिसे मन अपने निजी रूपों में परिणत नहीं कर सकता, जीवन और कर्म के रूपों में परिणत करना तो दूर रहा। अतएव हम देखते हैं कि चरम निरपेक्ष-अध्यात्मवादी मानसिक सत्ता का खंडन करते हैं तथा भौतिक सत्ता की निंदा करते हैं और अपने प्राण और मन में हम जो कुछ हैं उस सबके विलय अर्थात् 'निर्वाण' के फलस्वरूप जिस शुद्ध अध्यात्म-सत्ता की सुखद उपलब्धि होती है उसके लिए वे अत्यंत उत्कंठित होते हैं। इसे छोड़कर और जो भी आध्यात्मिक पुरुषार्थ किया जाता है वह सब निरपेक्ष तत्त्व के इन कट्टर अनुयायियों की दृष्टि में एक मानसिक तैयारी या समझौता मात्र है, प्राण और मन को यथासंभव अध्यात्म-मय बनाने की एक साधना है। और व्यवहार में जो समस्या मनुष्य के मन पर नित्य-निरंतर अत्यधिक दबाव डालती है वह उसकी प्राणिक सत्ता की मांगों, उसके जीवन, आचार और कर्म की समस्या है, अतएव इस तैयार करनेवाली साधना की मुख्य प्रवृत्ति चैत्य मन की सहायता से नैतिक मन को अध्यात्ममय बनाने की होती है—अथवा यूं कहें कि यह इनके चरम आदर्श की प्रतिष्ठा में इनकी सहायता करने के लिए और आचार-संबंधी धर्म एवं सत्य के नैतिक आदर्श को या प्रेम, सहानुभूति और एकत्व के आंतरात्मिक आदर्श को हमारा जीवन जितनी प्रामाणिकता प्रदान करता है उसकी अपेक्षा अधिक प्रामाणिकता प्रदान करने के लिए आध्यात्मिक शक्ति और पवित्रता ले आती है। आत्मा की पूर्ण एकता के आधारभूत सत्य को और अतएव समस्त जीवधारी प्राणियों के मूल एकत्व को जब हमारी बुद्धि एवं संकल्प स्वीकार कर लेते हैं तो उससे इन चीजों को अपनी एक प्रकार की उच्चतम अभिव्यक्ति में सहायता मिलती है, अपना विशालतम ज्योतिर्मय आधार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार की आध्यात्मिकता को किसी तरह मनुष्य के साधारण मन की माँगों के साथ संबद्ध करना होता है, प्रयोजनीय सामाजिक कर्त्तव्य को तथा सामाजिक आचार के प्रचलित विधान को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करना होता है, मतवाद, संस्कार और रूपक के द्वारा लोक-प्रिय बनाना होता है, इस रूप में परिणत यह आध्यात्मिकता ही संसार के बड़े-बड़े धर्मों का बाह्य तत्त्व है। ये धर्म अपनी-अपनी पृथक् विजय प्राप्त करते

हैं, उच्चतर ज्योति की एक रश्मि ले आते हैं, एक विशालतर आध्यात्मिक या अर्द्ध-आध्यात्मिक विधान के किसी प्रतिरूप की प्रतिष्ठा करते हैं, किंतु पूर्ण विजय उपलब्ध नहीं कर सकते, अंत में पूरी तरह से एक समझौते में ही परिणत हो जाते हैं और उस समझौते की क्रिया में जीवन के द्वारा पराजित हो जाते हैं। जीवन की समस्याएँ बनी ही रहती हैं और यहाँतक कि अपने उग्रतम रूपों में फिर-फिर सामने आती हैं—कुरुक्षेत्र की इस भीषण समस्या जैसे रूपों में भी उपस्थित होती हैं। आदर्शों की सृष्टि करनेवाली बुद्धि और नैतिक मन सदैव इनका उन्मूलन करने की आशा करते हैं, वे अपनी ही अभीप्सा से उत्पन्न एक सुखद उपाय का आविष्कार करने की आशा करते हैं और उसे अपने अटल आग्रह के द्वारा क्रियान्वित करना चाहते हैं, वे आशा करते हैं कि वह जीवन के इस निम्न-मुख कुत्सित रूप को विनष्ट कर देगा, परंतु यह रूप स्थायी बना रहता है तथा नष्ट नहीं होता। इसमें संदेह नहीं कि दूसरी ओर, अध्यात्मभावापन्न बुद्धि धर्म की वाणी के द्वारा भविष्य में किसी विजयशाली रामराज्य का प्रतिज्ञापूर्ण आश्वासन देती है, किंतु इस बीच पार्थिव जीवन की अक्षमता के बारे में काफी कुछ असंदिग्ध होकर, इस बात से प्रेरित होकर कि जीव इस भूतल पर एक परदेशी के समान है और यहाँ वह बिना बुलाये जोर-जबर्दस्ती से आ घुसा है, वह घोषणा करती है कि आखिरकार स्वर्ग या निर्वाण यहाँ शारीरिक जीवन में या मरणशील मानव के सामूहिक जीवन में नहीं, बल्कि इस जगत् के परे विद्यमान किसी अमर लोक में ही है और सच्चा आध्यात्मिक जीवन केवल वहीं उपलब्ध हो सकता है।

इसी स्थल पर गीता आत्मा और परमात्मा के विषय में, ईश्वर, जगत् और प्रकृति के विषय में सत्य की एक नयी स्थापना लेकर उपस्थित होती है। जिस सत्य को एक परवर्ती विचारधारा ने प्राचीन उपनिषदों से लेकर विकसित किया था उसे यह विस्तृत करती तथा नये साँचे में ढालती है और उसकी समाधान-कारक शक्ति को जीवन तथा कर्म की समस्या पर प्रयुक्त करने के प्रयास की ओर सुनिश्चित पगों से अग्रसर होती है। वर्तमान मनुष्य-जाति के सामने वह समस्या जिस रूप में उपस्थित होती है, गीतोक्त समाधान उसे उस रूप में पूर्णतया हल नहीं करता ; यहाँ वह अधिक प्राचीन मनोवृत्ति के लिए प्रस्तुत किया गया है, अतः सामूहिक प्रगति के लिए मनुष्य के आधुनिक मन की जो आग्रहपूर्ण प्रबल माँग है उसे वह पूरी नहीं करता, मानव-मन एक ऐसे सामूहिक जीवन के लिए पुकार मचा रहा है जो अंत में महत्तर बौद्धिक एवं नैतिक आदर्श को और यथा-संभव क्रियाशील आध्यात्मिक आदर्श को भी मूर्त्तिमंत करे, पर यह समाधान

उसका प्रत्युत्तर नहीं देता। गीता का आह्वान उस व्यक्ति के प्रति है जो पूर्ण आध्यात्मिक जीवन के योग्य बन चुका है; किंतु शेष मानवजाति के लिए तो यह केवल एक क्रमिक उन्नति का ही निर्देश करती है, वह उन्नति निष्ठापूर्वक एवं अधिकाधिक बुद्धिपूर्वक, नैतिक उद्देश्य को सामने रखकर एवं अध्यात्म की ओर अंतिम रूप से अभिमुख होकर अपनी-अपनी प्रकृति के धर्म का पालन करते हुए ज्ञानपूर्वक संपन्न करनी होती है। इसका संदेश अन्य कम महत्वपूर्ण समाधानों का भी उल्लेख करता है, पर जब यह उन्हें अंशतः स्वीकार करती भी है तब भी उन्हें उनसे परे के एक उच्चतर तथा समग्रतर रहस्य की ओर मार्ग-निर्देश करने के लिए ही स्वीकार करती है, उस रहस्य में प्रवेश पाने के लिए अबतक केवल गिने-चुने व्यक्तियों ने ही अपनेको योग्य सिद्ध किया है।

जो मन प्राणिक तथा दैहिक जीवन का पीछा करता है उसके लिए गीता का संदेश यह है कि निश्चय ही जीवनमात्र व्यक्ति के अंदर विश्व-शक्ति का प्राकट्य है, यह आत्मा से ही उद्भूत हुआ है तथा भगवान् की एक रश्मि है, पर वास्तव में यह आत्मा और भगवान् का वह रूप है जिसमें वे आवरणकारी माया के अंदर छुपे हुए हैं, और निम्न जीवन का उसके निज के लिए अनुसरण करने का मतलब है एक भ्रांतिपूर्ण पथ पर डटे रहना और अपनी प्रकृति के तमसाच्छन्न अज्ञान को सत्ताधिरूढ़ कर देना, पर इससे जीवन का वास्तविक सत्य एवं पूर्ण विधान कदापि उपलब्ध नहीं होता। जीवनेच्छा, शक्ति-प्राप्ति की इच्छा, वासना की पूर्ति, केवल बल-पौरुष का ही गुण-गान, अहं की पूजा और उसकी उग्र स्वेच्छापूर्ण अर्जन-प्रवृत्ति एवं अशांत स्वार्थदर्शी बुद्धि की उपासना—यह असुर का गुण-धर्म है और केवल किसी घोर विनाश एवं सर्वनाश की ओर ही ले जा सकता है। प्राणप्रधान एवं देहपरायण मनुष्य को अपने ऊपर नियंत्रण स्थापित करने के लिए किसी धार्मिक, सामाजिक एवं आदर्शवादी विधान (धर्म) को स्वीकार करना होगा जिसके द्वारा वह, कुछ समुचित मर्यादाओं के अधीन अपनी कामना एवं स्वार्थ की पूर्ति करता हुआ भी, अपने निम्न व्यक्तित्व को शिक्षित एवं संयत कर सके तथा इसे व्यक्तिगत जीवन एवं सामाजिक जीवन दोनों के उच्चतर धर्म के साथ सूक्ष्म रूप से समस्वर कर सके।

जो मन बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक आदर्शों के अनुसरण में लगा हुआ है, जो मन प्रचलित धर्मों (विधानों) और नैतिक नियम, सामाजिक कर्त्तव्य कर्म के पालन या मुक्त प्रज्ञा के समाधानों के अनुसरण के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का आग्रह करता है उसके लिए गीता का संदेश यह है कि निःसंदेह यह एक अत्यावश्यक अवस्था है, धर्म का अनुष्ठान करना निश्चय ही आवश्यक है और यथावत्

अनुष्ठान करने से वह अंतरात्मा की स्थिति को ऊँचा उठा सकता है तथा उसे अध्यात्म-जीवन के लिए तैयार कर सकता एवं इसमें सहायक हो सकता है, परंतु फिर भी वह जीवन का पूर्ण एवं अंतिम सत्य नहीं है। मनुष्य की अंतरात्मा को इससे भी परे मानव की आध्यात्मिक एवं अविनश्वर प्रकृति के किसी पूर्णतर धर्म तक पहुँचना होगा। और, यह केवल तभी किया जा सकता है यदि हम निम्नतर मानसिक तत्त्वों की अज्ञ रचनाओं को तथा अहमात्मक व्यक्तित्व के मिथ्यात्व को दबा दें तथा उनसे मुक्त हो जायँ, बुद्धि और संकल्प की क्रिया को निर्वैयक्तिक रूप दे दें, सर्वगत एकमेव आत्मा के तादात्म्य में निवास करें, अहं के सभी साँचों को तोड़कर निर्व्यक्तिक आत्मा में प्रविष्ट हो जायँ। मन विविध निम्नतर प्रकृति की सीमाबद्धकारी प्रेरणा के अधीन होकर क्रिया करता है; तामसिक, राजसिक या अधिक-से-अधिक सात्त्विक गुण के अनुसार अपने मान-दंड स्थापित करता है; परंतु आत्मा की भवितव्यता है दिव्य पूर्णता एवं मुक्ति और इसका आधार केवल अपनी उच्चतम आत्मा की स्वाधीनता में ही स्थापित किया जा सकता है, मन से परे उस आत्मा की विशाल निर्व्यक्तिकता एवं विश्व-मयता में से गुजरते हुए सर्वधर्मातीत, अपरिमेय भगवान् एवं परमोच्च 'अनंत' की समग्र ज्योति में प्रवेश करके ही इसे प्राप्त किया जा सकता है।

अनंत के जो चरम-पंथी उपासक निर्व्यक्तिकता को चरम ऐकांतिक छोरतक ले जाते हैं, जीवन और कर्म का विलोप करने के लिए अपने अंदर एक अनुदार आवेग का पोषण करते हैं और अनिर्वचनीय ब्रह्म की विशुद्ध नीरवता में समस्त व्यक्तिगत सत्ता का लय करने के प्रयत्न को एकमात्र चरम लक्ष्य एवं आदर्श बनाना चाहते हैं उनके लिए गीता का संदेश यह है कि यह अनंत की ओर यात्रा करने तथा उसमें प्रवेश करने का एक मार्ग अवश्य है, पर है सबसे कठिन, एक उपदेश या दृष्टांत के द्वारा निष्क्रियता का आदर्श जगत् के सामने रखना एक भयावह वस्तु है, यह पथ यद्यपि महान् है पर फिर भी यह मनुष्य के लिए सर्वोत्तम पथ नहीं है, और यह ज्ञान यद्यपि सत्य है तो भी यह समग्र ज्ञान नहीं है। परमोच्च सत्ता, सर्व-चेतन आत्मा, परमेश्वर, अनंत भगवान् केवल दूरस्थ एवं अनिर्वचनीय अध्यात्म-सत्ता ही नहीं हैं; वे यहाँ जगत् में एक ही साथ गुप्त और प्रकट दोनों रूपों में विराजमान हैं, मनुष्य के द्वारा, देवताओं एवं सर्वभूतों के द्वारा वे प्रकटी-भूत हैं, और साथ ही यहाँ जो कुछ भी है उस सबमें वे गुप्त रूप से भी विद्यमान हैं। अपि च, उन्हें किसी निर्विकार नीरवता में ही नहीं, बल्कि जगत् तथा इसके जीवों में और समस्त सत्ता एवं समस्त प्रकृति में भी ढूँढ़ करके, बुद्धि, हृदय, संकल्प और प्राण के सभी कार्यों को उनके साथ समग्र एवं उच्चतम एकत्व में उठा ले

जाकर मनुष्य एक ही संग आत्मा और ईश्वर के संबंध में अपनी आंतरिक समस्या तथा अपने क्रियाशील मानवजीवन की बाह्य समस्या को हल कर सकता है। भगवान् के समान बनकर, भगवान् के साथ साधर्म्य लाभ करके वह उस परम अध्यात्म-चेतना के अनंत विस्तार का आनंद ले सकता है जो प्रेम और ज्ञान की भाँति कर्मों के द्वारा भी उपलब्ध हो सकती है। अमर एवं मुक्त होकर वह उस उच्चतम स्तर से अपना मानवीय कर्म करता रह सकता है और उसे एक परम एवं सर्वतोमुख दिव्य प्रेम में परिणत कर सकता है,—निःसंदेह यहाँ समस्त कर्म-कलाप, जीवन और यज्ञ का एवं जगत् के समस्त प्रयास का अंतिम शिखर एवं मर्म यही है।

यह सर्वोच्च संदेश सर्वप्रथम उनके लिए है जिनमें इसका अनुसरण करने की शक्ति विद्यमान है, उन श्रेष्ठ पुरुषों, महात्माओं, ईश्वर-ज्ञानी, ईश्वर-कर्मी, ईश्वर-प्रेमी लोगों के लिए है जो ईश्वर के अंदर तथा ईश्वर के लिए जीवन यापन कर सकते हैं और जगत् में उन्हींके हित आनंदपूर्वक अपना कर्म कर सकते हैं, वह कर्म मानव-मन के अशांतिमय अंधकार से तथा अहं की मिथ्या सीमाओं से ऊपर उठा हुआ एक दिव्य कर्म होता है। इसके साथ ही, गीता घोषणा करती है कि सभी लोग, नीच-से-नीच तथा पापी-से-पापी भी, यदि चाहें तो, इस योग के मार्ग पर आरूढ़ हो सकते हैं, और यहाँ हमें एक व्यापकतर आशा की किरण दिखाई देती है जिसे हम इस आशा तक विस्तारित कर सकते हैं कि समाज भी पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकता है,—क्योंकि यदि मनुष्य के लिए आशा है तो मानवजाति के लिए भी आशा क्यों नहीं होनी चाहिए? और यदि सच्चा आत्म-समर्पण तथा अंतर्वासी भगवान् के प्रति पूर्ण अहंरहित श्रद्धा विद्यमान हो तो इस मार्ग में सफलता अवश्यमेव प्राप्त होगी। भगवान् की ओर सुनिश्चित रूप से मुड़ना आवश्यक है; अध्यात्म-सत्ता में सुदृढ़ विश्वास, भगवान् में निवास करने का, सत्ता एवं प्रकृति में उनके साथ एकमय होने का सच्चा एवं प्रबल संकल्प आवश्यक है—क्योंकि प्रकृति में भी हम उनकी सत्ता के शाश्वत अंश हैं; उनकी महत्तर आध्यात्मिक प्रकृति के साथ एक होना, अपने सभी अंगों में भगवदधिकृत और भगवत्तुल्य होने का सच्चा एवं दृढ़ संकल्प करना परमावश्यक है।

अपने विचार को पल्लवित करती हुई गीता अनेक प्रश्न उपस्थित करती है, जैसे, प्रकृति का नियंतृत्व, विश्व-अभिव्यक्ति का गूढ़ार्थ और मुक्त जीव की चरम स्थिति; ये ऐसे प्रश्न हैं जो सदा से ही अंतहीन एवं अनिर्णायक वाद-विवाद के विषय रहे हैं। हमारी इस निबंधमाला का उद्देश्य है गीता के सार-तत्त्व की छानबीन तथा सुस्पष्ट व्याख्या, मानवजाति की चिरंतन आध्यात्मिक

विचारधारा को गीता की जो देन है उसकी तथा गीता की जीवंत साधना के सार-मर्म की विशद चर्चा। अतएव, इस निबंधमाला में इन विवादों के अन्दर गहरे उतरना या यह विचार करना आवश्यक नहीं कि कहाँ-कहाँ इसके दृष्टिकोण या सिद्धांतों से हमारा मतभेद हो सकता है, कहाँ हम अपनी सहमति में किसी प्रकार की ननुनच प्रकट कर सकते हैं अथवा यहाँतक कि अपने परवर्ती अनुभव पर दृढ़ रहते हुए इसकी दार्शनिक शिक्षा या इसके योग से परे जा सकते हैं। फिर भी, चिरंतन अन्वेषक एवं आविष्कारक मानव को उसके वर्तमान चक्रों के बीच तथा उसकी आत्मा के ज्योतिर्मय शिखरों तक उसके जीवन को ऊँचा उठाने की जो संभावना है उस संभवनीय पर दुष्करतर आरोहण के बीच मार्ग दिखाने के लिए गीता जो जीवन्त संदेश लायी है उसका निरूपण करके इस ग्रंथ का उपसंहार करना ही पर्याप्त होगा।

गीता का संदेश

गीता का संदेश, इसके दिव्य गुरु का उपदेश हम सार-रूप से इन शब्दों में प्रतिपादित कर सकते हैं, "कर्म का रहस्य भी वही है जो कि समस्त जीवन एवं जगत् का रहस्य है। जगत् केवल प्रकृति का एक ऐसा यंत्र नहीं है, नियम का एक ऐसा चक्र नहीं है जिसमें जीव अल्प काल के लिए या युगों के लिए फंसा हुआ है ; यह तो परमात्मा की एक अनवरत अभिव्यक्ति है। जीवन केवल जीवन के लिए नहीं वरन् परमेश्वर के लिए है, और मनुष्य का जीवात्मा भगवान् का सनातन अंश है। कर्म का प्रयोजन है आत्म-उपलब्धि, आत्मपूर्णता एवं आत्म-चरितार्थता न कि केवल उससे वर्तमान काल में या भविष्य में उत्पन्न होनेवाले बाह्य एवं प्रत्यक्ष फलों की प्राप्ति। सभी वस्तुओं का एक आभ्यंतरिक विधान एवं प्रयोजन है जो अध्यात्मसत्ता की अव्यक्त परमा प्रकृति तथा व्यक्त प्रकृति पर अवलंबित है ; कर्मों का वास्तविक सत्य उसी के अन्दर निहित है और मन तथा उसके कर्म के बाह्य आकारों में तो उस सत्य को केवल गौण, अपूर्ण एवं अज्ञानाच्छन्न रूप में ही प्रकट किया जा सकता है। अतएव कर्म का परमोच्च, निर्दोष एवं व्यापकतम विधान है किसी बाह्य आदर्श एवं धर्म का अनुसरण न करके अपनी उच्चतम तथा अंतरतम सत्ता का सत्य ढूंढ़ निकालना और उसमें निवास करना। जबतक ऐसा नहीं हो जाता तबतक समस्त जीवन एवं कर्म एक अपूर्णता, एक कठिनाई, संघर्ष एवं समस्या ही बना रहेगा। अपनी सच्ची आत्मा को ढूंढ़ने तथा उसके सच्चे सत्य एवं वास्तविक स्वरूप के अनुसार जीवन बिताने से ही उस समस्या को अंतिम रूप से हल किया जा सकता है, उस कठिनाई एवं संघर्ष को पार किया जा सकता है और तुम्हारे कर्म उपलब्ध आत्मा एवं अध्यात्मसत्ता की सुरक्षित स्थिति में पूर्णता को प्राप्त होकर वास्तविक दिव्य कर्म में परिणत हो सकते हैं। अतएव अपनी आत्मा को जानो ; अपनी वास्तविक आत्मा को ईश्वर समझो और उसे अन्य सबकी आत्मा के साथ एक जानो ; अपनी अंतरात्मा को परमेश्वर का एक अंश जानो। और फिर जो जानते हो उसी ज्ञान में निवास करो ; अपनी आत्मा में स्थित रहो, अपनी परा आध्यात्मिक प्रकृति

में निवास करो, भगवान् के साथ योगयुक्त होओ और भगवत्तुल्य बनो। सर्व-प्रथम, अपने सभी कर्म यज्ञ-रूप में उत्सर्ग कर दो, उनके प्रति जो तुम्हारे अन्दर और इस जगत् के अन्दर परमोच्च और एकमेव सत्ता के रूप में विराजमान हैं; अन्त में, जो कुछ तुम हो और जो कुछ तुम करते हो वह सब उन्हीं के हाथों में सौंप दो जिससे कि वे परम और विश्वगत भगवान् इस जगत् में तुम्हारे द्वारा अपने संकल्प और अपने कर्मों को संपन्न करें। तुम्हारे सामने मैं जो समाधान रखता हूँ वह यही है और अन्त में तुम देखोगे कि इसके सिवा और कोई समाधान है ही नहीं।"

समस्त भारतीय शिक्षा की भांति गीता भी जिस मूलभूत विरोध को अपना आधार बनाती है उसके विषय में इसके विचार का यहाँ प्रतिपादन करना आवश्यक है। वास्तविक आत्मा की यह उपलब्धि, अपने अन्दर तथा सबके अन्दर अवस्थित परमेश्वर का यह ज्ञान कोई सुलभ वस्तु नहीं है; और चाहे मन इसे प्रत्यक्ष कर भी ले तथापि इसे अपनी चेतना का उपादान तथा अपने कर्म का संपूर्ण नियम-धर्म बनाना भी कोई सरल काम नहीं है। कर्म मात्र हमारी चेतना की एक कार्यकरी अवस्था के द्वारा निर्धारित होता है, और हमारी सत्ता की कार्यकरी अवस्था निर्धारित होती है हमारे अखंड आत्मदर्शी संकल्प एवं सक्रिय चैतन्य की अवस्था के द्वारा तथा उसकी कर्म-प्रवृत्ति के मूल हेतु के द्वारा। हमारा अपना स्वरूप क्या है, जगत् के साथ हमारे संबंधों का अर्थ क्या है इस विषय में हम अपनी संपूर्ण सक्रिय प्रकृति के द्वारा जो कुछ देखते और मानते हैं, हमारी वह मान्यता किंवा श्रद्धा ही हमारे उस स्वरूप को, हम जो कुछ हैं उसे, गठित करती है। परन्तु मनुष्य की चेतना द्विविध है और वह सत्ता के द्विविध सत्य से संबंध रखती है; क्योंकि एक है आभ्यंतरिक सद्वस्तु का सत्य और दूसरा है बाह्य रूप का सत्य। वह इन दोनों में से जिस एक या दूसरे में निवास करेगा उसके अनुसार ही या तो मानव-अज्ञान में रहनेवाला एक मनोमय प्राणी होगा या दिव्य ज्ञान पर प्रतिष्ठित एक अध्यात्म-सत्ता।

अपने बाह्य रूप में जगत् का सत्य केवल वही है जिसे हम प्रकृति कहते हैं, प्रकृति वह शक्ति है जो सत्ता के संपूर्ण नियम एवं यंत्र के रूप में कार्य करती है, हमारे मन और इंद्रियों के विषयभूत इस जगत् की रचना करती है, और साथ ही जिस बाह्य जगत् में जीव निवास करता है उसके साथ जीव का संपर्क स्थापित करने के साधन के रूप में मन और इंद्रियों की भी सृष्टि करती है। इस बाह्य दृश्यमान जगत् में अपनी अंतरात्मा, मन, प्राण और शरीर को लिए हुए मनुष्य प्रकृति का एक प्राणी प्रतीत होता है, अपने शरीर, प्राण एवं मन के पार्थक्य के

कारण और विशेषकर अपनी अहंबुद्धि के कारण ही वह दूसरों से भिन्न है—अहं-बुद्धि का यह सूक्ष्म यंत्र उसके लिए इस कारण रचा गया है कि वह इस समस्त तीव्र पार्थक्य एवं विभेद-संबंधी अपनी चेतना को संपुष्ट और केंद्रीभूत कर सके। यह अत्यंत स्पष्ट है कि उसके अन्दर जो कुछ भी है वह सब, उसका मनोमय पुरुष तथा इसका कर्म और उसके प्राण एवं शरीर का व्यापार उसके 'स्वधर्म' के द्वारा निर्धारित होता है, इसके घेरे से बाहर नहीं निकल सकता, किसी अन्य प्रकार से क्रिया नहीं कर सकता। निःसंदेह वह यह मानता है कि उसकी व्यक्तिगत इच्छा, उसके अहं की इच्छा को एक प्रकार की स्वाधीनता प्राप्त है ही ; पर वास्तव में वह नहीं के बराबर है, क्योंकि उसका अहं तो केवल एक बोध है जिसके कारण वह अपने प्रकृति-रचित स्वरूप के साथ, प्रकृति के बनाये हुए परिवर्तनशील मन, प्राण और शरीर के साथ अपने-आपको तदाकार समझता है। उसका अहं भी अपने-आपमें प्रकृति की क्रियाओं की उपज है, और जैसा उसके अहं का स्वरूप होगा, वैसा ही अहं के संकल्प का स्वरूप होगा और निश्चय ही उसी के अनुसार वह कर्म करेगा और उसके सिवा वह और कुछ कर भी नहीं सकता।

सुतरां, अपने विषय में मनुष्य की साधारण चेतना यही है एवं अपनी सत्ता में उसका विश्वास भी यही है कि वह प्रकृति का एक प्राणी है, एक पृथक् अहं है, वह दूसरों के साथ तथा जगत् के साथ अपने वही संबंध स्थापित करता है, अपना वही विकास साधित करता है, अपने मन के उसी संकल्प, कामना अथवा कल्पना की परितृप्ति करता है जिसके लिए प्रकृति उसे अपने क्षेत्र में अनुमति देती है और जो प्रकृति के मानवजीवन-संबंधी मूल आशय या विधान के साथ सुसंगत होता है।

परन्तु, मनुष्य की चेतना में एक ऐसी चीज भी है जिसे इस नियम की चौखट के अन्दर नहीं कसा जा सकता ; जगत् के एक अन्य तत्त्व, एक आभ्यंतरिक सत्तत्त्व पर भी उसकी श्रद्धा है जो उसकी अंतरात्मा के विकास के साथ-साथ अधिकाधिक बढ़ती जाती है। इस आभ्यंतरिक सत्तत्त्व में सत्ता का सत्य प्रकृति नहीं, आत्मा है, इसमें प्रकृति की अपेक्षा पुरुष ही अधिक सत्य है। स्वयं प्रकृति आत्मा की शक्ति के सिवा और कुछ नहीं, वह पुरुष की ही एक शक्ति है। एक आत्मा, एक पुरुष, एक सत्, जो सबके अन्दर एक ही है, इस जगत् का स्वामी है ; यह जगत् उसकी एक आंशिक अभिव्यक्ति मात्र है। वह पुरुष ही प्रकृति तथा इसके कर्म का भर्ता है, वही अनुमंता है, उसकी अनुमति से ही प्रकृति का कानून चलता है तथा इसकी शक्ति अपनी नाना प्रणालियों के द्वारा कार्य करती है। इसके अन्दर अवस्थित वह परम पुरुष ही ज्ञाता है जो इसे आलोकित करता तथा हमारे अन्दर चेतन बनाता है ; उसीका अंतर्यामी और अतिचेतन संकल्प इसकी

क्रिया-प्रवृत्ति को प्रेरित और परिचालित करता है। मनुष्य की अंतरात्मा इन्हीं भगवान् का एक अंश है और अतएव वह अपनी प्रकृति में भी इन्हीं के समान है। हमारी प्रकृति हमारी अंतरात्मा की ही अभिव्यक्ति है, इसी की अनुमति से कार्य करती है और अपनी क्रियाओं, अपने रूपों एवं परिवर्तनों में वह इसके गूढ़ आत्म-ज्ञान, आत्म-चैतन्य और जीवन-संकल्प को ही मूर्तिमंत करती है।

हमारी वास्तविक सत्ता एवं आत्मा हमारी बुद्धि से छुपी हुई है, क्योंकि हमारी बुद्धि अंतर्जगत् से अनभिज्ञ है, वह एक मिथ्या ज्ञान के साथ तदाकार हो गयी है, हमारे मन-प्राण-शरीर-रूपी बाह्य यंत्र में ही तल्लीन है। परन्तु यदि मनुष्य की सक्रिय आत्म-सत्ता एक बार अपने प्राकृत करणों के साथ अपने इस तादात्म्य से पीछे हटकर अंतर्मुख हो जाय, यदि वह अपने आभ्यंतरिक सत्स्वरूप को देख सके तथा उसपर परिपूर्ण श्रद्धा रखते हुए जीवन यापन कर सके, तो उसके लिए सभी कुछ बदल जायगा, जीवन और जगत् एक अन्य ही रूप धारण कर लेंगे, कर्म एक और ही अर्थ एवं स्वरूप ग्रहण कर लेगा। तब हमारी सत्ता पहले की तरह प्रकृति की यह क्षुद्र अहंमय रचना नहीं रहेगी, बल्कि दिव्य, अविनाशी और आध्यात्मिक शक्ति की बृहत्ता को प्राप्त कर लेगी। हमारी चेतना तब इस सीमित और संघर्षरत मानसिक एवं प्राणिक जीव की चेतना नहीं रहेगी, बल्कि एक अनंत, दिव्य एवं आध्यात्मिक चेतना बन जायगी। हमारा संकल्प एवं कर्म भी इस सीमाबद्ध व्यक्तित्व और इसके अहंकार का संकल्प और कर्म नहीं रहेंगे, बल्कि दिव्य एवं आध्यात्मिक संकल्प और कर्म बन जायेंगे, तब विश्वगत एवं परमोच्च सत्ता, सर्वात्मा एवं परमात्मा का संकल्प एवं शक्ति ही मानव-देह के द्वारा निर्बाध रूप से कार्य करेगी।

इसके आगे मनुष्य के अंतरस्थित भगवान्, अवतार, दिव्य गुरु का संदेश यह है कि "यही वह महान् परिवर्तन एवं रूपांतर है जिसके लिए मैं चुने हुए लोगों का अह्वान करता हूँ, और चुने हुए वे सभी हैं जो अपने संकल्प को प्राकृत करणों के अज्ञान से हटाकर अंतःपुरुष के गभीरतम अनुभव की ओर, आभ्यंतरिक सत्ता एवं आत्मा के सम्बन्ध में उसके ज्ञान की ओर, भगवान् के साथ उसके संपर्क तथा उनमें प्रवेश करने की उसकी शक्ति की ओर फेर सकते हैं। चुने हुए वे सभी हैं जो इस श्रद्धा एवं इस महत्तर विधान को स्वीकार कर सकते हैं। निःसंदेह, इसे स्वीकार करना मानव-बुद्धि के लिए एक कठिन कार्य है क्योंकि वह सदैव अपनी ही अज्ञानजन्य धूमिल रचनाओं एवं अपूर्ण आलोकों में तथा मनुष्य के मानसिक, स्नायविक एवं भौतिक भागों के और भी तमसाच्छन्न अभ्यासों में आसक्त रहती है ; परन्तु एक बार यदि इसे ग्रहण कर लिया जाय तो यह एक महान्, सुनिश्चित

एवं उद्धारक मार्ग है, क्योंकि यह मनुष्य की सत्ता के वास्तविक सत्य के साथ एक और अभिन्न है और उसकी अंतरतम एवं परमोच्च प्रकृति की यथार्थ प्रेरणा है।

"परन्तु यह एक अति महान् परिवर्तन है, एक बड़ा भारी रूपांतर है और इसे तुम अपनी समस्त सत्ता और प्रकृति को पूर्ण रूप से मोड़े तथा बदले बिना संपन्न नहीं कर सकते। इसके लिए तुम्हें अपनी सत्ता, अपनी प्रकृति और अपने जीवन को, पूर्ण रूप से, केवल परम देव के प्रति समर्पित करना होगा, उनके सिवा और किसी के भी प्रति नहीं, क्योंकि तुम्हें सभी कुछ केवल परम देव ही के लिए रखना होगा ; किसी भी वस्तु को केवल उसी रूप में ग्रहण करना होगा जिस रूप में वह भगवान् के अन्दर है, उसे केवल भगवान् के एक आकार के रूप में तथा उन्हीं के निमित्त स्वीकार करना होगा। एक नूतन सत्य को ग्रहण करना होगा ; अपने और दूसरों के संबंध में, जगत् और परमेश्वर तथा जीव और प्रकृति के संबंध में एक नये ज्ञान की ओर, एकत्व के ज्ञान की ओर, विश्वगत भगवत्सत्ता के ज्ञान की ओर तुम्हें अपने मन को पूर्ण रूप से मोड़ना होगा, अर्पित कर देना होगा। प्रारम्भ में तो वह ज्ञान एक बौद्धिक स्वीकृति ही होगा, पर अंत में वह अवश्य ही एक अंतर्दर्शन, एक चैतन्य, आत्मा की एक स्थायी अवस्था तथा उसकी क्रियाओं का आधार बन जायगा।

"एक ऐसे संकल्प की आवश्यकता होगी जो इस नये ज्ञान, अंतर्दर्शन एवं चैतन्य को कर्म का प्रेरक, एकमात्र प्रेरक बना दे। और इसे केवल एक ऐसे कर्म का ही प्रेरक नहीं बनना होगा जो कुंठित एवं सीमाबद्ध हो, प्रकृति की कुछ एक आवश्यक क्रियाओं तक या एक प्रथानुगत सिद्धि में सहायक प्रतीत होनेवाले कुछ एक कार्यों तक ही सीमित हो, धार्मिक प्रवृत्ति या वैयक्तिक मोक्ष के साथ संगत हो, बल्कि इसे मानवजीवन के समस्त कर्मों का प्रेरक बनना होगा, जीवन के सभी कर्मों को तब समत्व-भावना के साथ अपनाकर भगवान् के लिए तथा सर्व-भूतों के हित के लिए संपन्न करना होगा। इसी प्रकार हृदय को भी परम देव के प्रति एक अनन्य अभीप्सा के रूप में, अनन्य भगवत्प्रेम एवं अनन्य भगवद्भक्ति के रूप में ऊपर उठाना होगा। और साथ ही उसे प्रशांत एवं आलोकित करके विशाल भी बनाना होगा जिससे वह सर्वभूतों में परमेश्वर का आलिंगन कर सके। मनुष्य की सामान्य अभ्यस्त प्रकृति को, जिसमें वह आज निवास करता है, परम और दिव्य आध्यात्मिक प्रकृति में परिणत करना होगा। एक शब्द में, एक ऐसे योग की आवश्यकता होगी जो एक ही साथ पूर्ण ज्ञान का योग, पूर्ण संकल्प एवं उसके कर्मों का योग, पूर्ण प्रेम, भक्ति और आराधना का योग और समस्त

सत्ता तथा उसके सभी भागों, अवस्थाओं, शक्तियों एवं गतियों की पूर्ण आध्यात्मिक सिद्धि का योग होगा।

"तो फिर वह ज्ञान कौन-सा है जिसे बुद्धि के द्वारा स्वीकार करना होगा, अंतरात्मा की श्रद्धा के द्वारा परिपुष्ट करना होगा और मन, हृदय एवं प्राण के प्रति सत्य और जीवंत-जाग्रत् बनाना होगा? वह परम पुरुष एवं परमात्मा को उनके एकत्वमय और समग्र रूप में जानना है। वह उन एकमेव का ज्ञान है जो नित्य-सनातन हैं, देशकाल, नाम-रूप और जगत्-प्रपंच से परे हैं, अपने वैयक्तिक और निर्व्यक्तिक स्तरों से बहुत ही ऊपर स्थित हैं और फिर भी वे ऐसे हैं जिनसे यह सब उद्भूत होता है, वह एकमेव हैं जिन्हें वह सब कुछ नानाविध प्रकृति तथा इसके अनगिनत आकारों में अभिव्यक्त करता है। वह उन्हें इस रूप में जानना है कि वे निर्व्यक्तिक, नित्य, अक्षर अध्यात्मसत्ता हैं, वह शांत निःसीम वस्तु हैं जिसे हम आत्मा कहते हैं, अनंत, सम और सदा एकरस हैं, इस सब अनवरत परिवर्तन के बीच, इन अनेकानेक व्यष्टि-सत्ताओं, अध्यात्म-शक्तियों एवं प्रकृति-शक्तियों के बीच और इस दृश्यमान अनित्य जगत् के रूपों, शक्तियों एवं घटनाओं के बीच अप्रभावित, अविकृत एवं अपरिवर्तित ही रहते हैं। साथ ही वह उन्हें इस रूप में जानना है कि वे एक शक्तिमय पुरुष हैं जो प्रकृति में नित्य परिवर्तनशील प्रतीत होते हैं, एक घटघटवासी पुरुष हैं जो हर प्रकार का रूप ग्रहण करते हैं और अपनी शक्ति के प्रत्येक स्तर, उसकी प्रत्येक मात्रा एवं क्रिया के अनुरूप अपनेको परिवर्तित करते हैं, एक ऐसे पुरुष हैं जो, यहाँ जो कुछ भी है उस सबसे सदा अनंतगुना अधिक होते हुए भी इन सब वस्तुओं का रूप धारण किए हुए हैं तथा मनुष्य और पशु में, प्रत्येक पदार्थ में, विषय और विषयी में, आत्मा, मन, प्राण और देह में, प्रत्येक सत्ता, प्रत्येक शक्ति और प्रत्येक प्राणी में विराजमान हैं।

"सत्य के किसी एक या दूसरे पहलू पर ही बल देते हुए तुम इस योग की साधना नहीं कर सकते। जिन भगवान् को तुम प्राप्त करना चाहते हो, जिस आत्मा को तुम ढूँढ़ना चाहते हो, जिन परम पुरुष का सनातन अंश ही तुम्हारी अंतरात्मा है, वे एक ही साथ ये तीनों हैं; इन सबको तुम्हें इनके परम एकत्व में एक ही साथ जानना होगा, इन सबमें एक ही साथ प्रवेश करना होगा तथा सभी अवस्थाओं एवं सभी वस्तुओं में एकमात्र उन्हीं को देखना होगा। यदि वे केवल प्रकृतिगत क्षर पुरुष ही हों तो केवल एक शाश्वत विश्वव्यापी संभूति ही संभव होगी। यदि तुम अपनी श्रद्धा और ज्ञान इस एक ही रूप तक सीमित रखो, तो तुम अपने व्यक्तित्व तथा इसके नित्य-परिवर्तनशील रूपों से परे कभी नहीं जा सकोगे; ऐसे आधार

पर स्थित रहते हुए तो तुम पूरी तरह से प्रकृति के चक्रों में ही फँसे रहोगे। परंतु तुम कालचक्र में क्षणिक चैतन्य-परंपरा मात्र नहीं हो। तुम्हारे अंदर एक निर्व्यक्तिक आत्मा है जो तुम्हारे व्यष्टि-जीवन के प्रवाह को धारण करता है और परमेश्वर की विशाल एवं निर्व्यक्तिक सत्ता के साथ एकमय है। और फिर इस निर्व्यक्तिक और सव्यक्तिक भाव से परे तुम अपरिमेय हो, अपनी ऐहिक सत्ता के इन दो चिरंतन ध्रुवों पर प्रभुत्व रखते हुए तुम एक शाश्वत परात्पर सत्ता में शाश्वत और परात्पर हो।

"और फिर यदि केवल एक ऐसा सनातन निर्व्यक्तिक आत्मा ही सत्य हो जो न तो कर्म करता है और न सृष्टि, तब तो जगत् और तुम्हारी अंतरात्मा केवल भ्रम ही होंगे जिनका कोई वास्तविक आधार नहीं रहेगा। यदि तुम अपनी श्रद्धा और ज्ञान को केवल इसी रूप तक सीमित रखो तो जीवन और कर्म का त्याग ही तुम्हारी एकमात्र शरण होगा। परन्तु इस जगत् में भगवान् भी वास्तविक सत्य हैं और तुम भी वास्तविक सत्य हो ; जगत् और तुम उन पुरुषोत्तम भगवान् की सच्ची और वास्तविक शक्तियाँ एवं अभिव्यक्तियाँ हो। अतएव जीवन और कर्म को अपनाओ, इनका त्याग मत करो। अपने निर्व्यक्तिक आत्मा एवं सत्स्वरूप में भगवान् के साथ एक होकर, तुम्हारी व्यष्टिभूत अध्यात्मसत्ता का अपने 'अनंत' के प्रति जो प्रेम एवं भक्तिभाव है उसके द्वारा अपनी इस अध्यात्मसत्ता को, भगवान् के इस सनातन अंश को, भगवान् की ही ओर मोड़कर, अपनी प्राकृत सत्ता को वह चीज बना दो जो बनने के लिए यह अभिप्रेत है, अर्थात् इसे तुम भगवान् के कर्मों का एक यंत्र, उनकी एक प्रणालिका एवं शक्ति बना दो। अपने सच्चे स्वरूप में यह सदा ही एक ऐसा यंत्र है, पर इस समय यह अचेतन एवं अपूर्ण रूप में तथा निम्न प्रकृति के द्वारा ही अपना कार्य करता है, इस समय इसे तुम्हारे अहंभाव के द्वारा भगवद्भाव को विकृत करने का अभिशाप प्राप्त है। इसे सचेतन एवं पूर्ण रूप से, अहं के द्वारा किसी भी प्रकार विकृत किए बिना, भगवान् की परा अध्यात्म-प्रकृति की एक शक्ति बनाओ, उनके संकल्प तथा कर्मों का वाहन बनाओ। इस प्रकार तुम अपनी सत्ता के समग्र सत्य में निवास करोगे और पूर्ण भगवन्मिलन लाभ करोगे, समग्र एवं अविकल योग (सायुज्य) लाभ करोगे।

"परमोच्च देव हैं पुरुषोत्तम, वे समस्त अभिव्यक्ति से परे एक सनातन सत्ता हैं, वे एक निःसीम सत् हैं—देश-काल या निमित्त के द्वारा अथवा अपने असंख्य गुणों एवं लक्षणों में से किसी के द्वारा किसी भी प्रकार सीमाबद्ध नहीं होते। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अपनी परम शाश्वत सत्ता में वे इहलोक में घटन-

वाली किसी भी घटना से संबद्ध नहीं, जगत् तथा प्रकृति से विच्छिन्न हैं, इन सब भूतों से अलग-थलग हैं। वे परम अनिर्वचनीय ब्रह्म हैं, वे निर्व्यक्तिक आत्मा हैं, और वही ये सब व्यष्टिभूत सत्ताएँ भी हैं। विश्वगत आत्मा, प्राण और जड़तत्त्व, जीव और प्रकृति तथा प्रकृति के कर्म उनकी अनंत एवं सनातन सत्ता के विभिन्न रूप और व्यापार हैं। वे परमोच्च परात्पर परमात्मा हैं और सब कुछ उन्हीं से अभिव्यक्त होता है, सभी उन्हीं के रूप एवं उन्हीं की आत्म-शक्तियाँ हैं। एकमेव आत्मा के रूप में वे यहाँ सर्वव्यापक हैं; मनुष्य और पशु में, वस्तु और विषय में तथा प्रकृति की प्रत्येक शक्ति में सम और निर्व्यक्तिक रूप से विद्यमान हैं। वे परम पुरुष हैं और सभी पुरुष उन एक पुरुष के अनिर्वाण स्फुलिंग हैं। सभी प्राणी अपनी व्यष्टिभूत अध्यात्म-सत्ता में एक ही पुरुष के अविनाशी अंश हैं। वे समस्त व्यक्त जगत् के शाश्वत प्रभु हैं, सब लोकों तथा उनके सब प्राणियों के ईश हैं। वे सभी कर्मों के सर्वशक्तिमान् प्रवर्त्तक हैं, ऐसे प्रवर्त्तक जो अपने कर्मों से बंधते नहीं, और साथ ही समस्त कर्म, तप और यज्ञ उन्हीं को पहुँचते हैं। वे सबमें हैं और सब उनमें हैं; वही यह सब कुछ बने हैं और फिर भी वे इस सबसे ऊपर हैं और अपनी बनाई सृष्टि से बँधे हुए नहीं। वे विश्वातीत भगवान् हैं; वे अवतार के रूप में अवतरित होते हैं; अपनी शक्ति के द्वारा वे विभूति में प्रकट हुए हैं; वे प्रत्येक मानव-जीव में गुप्त रूप से विराजमान परमेश्वर हैं। जिन देवताओं को मनुष्य पूजते हैं वे सभी उन्हीं एक भगवान् के व्यष्टि-भाव, विभिन्न नाम और रूप एवं मनोमय शरीर मात्र हैं।

"पुरुषोत्तम भगवान् ने अपने मूल आत्म-तत्त्व से तथा अपनी अनंत सत्ता में इस जगत् को व्यक्त किया है और इस जगत् में अपने-आपको भी नाना प्रकार से प्रकट किया है। सभी चीजें उनकी शक्तियाँ एवं आकृतियाँ हैं और उनकी शक्तियों एवं आकृतियों का कोई अंत नहीं, क्योंकि वे स्वयं अनंत हैं। एक सर्वव्यापक एवं सर्वाधार निर्व्यक्तिक स्वयंभू सत्ता के रूप में वे इस कालगत अनंत अभिव्यक्ति को एवं इस विश्व को समभाव के साथ धारण करते और अनुप्राणित करते हैं, किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना या आकृति के प्रति किसी प्रकार का पक्ष-पात, अनुराग या आसक्ति रखे बिना सभी को एक समान धारण करते और अनु-प्राणित करते हैं। यह शुद्ध और सम आत्मा कर्म नहीं करता, बल्कि केवल जगत् के समस्त कर्म को निष्पक्ष भाव से धारण किए रहता है। और फिर भी वे परम आत्मा ही विश्व-पुरुष और काल-पुरुष के रूप में जगत्-कर्म का संकल्प करते हैं और वही अपनी बहुविध सर्जनशक्ति के द्वारा, अपनी प्रकृति-नामक शक्ति के द्वारा, उस कर्म का निर्धारण और परिचालन करते हैं। वे ही अपनी

रची हुई इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कर्त्ता हैं। वे प्रत्येक प्राणी के हृदय में भी विराजमान हैं और वहींसे वे व्यक्ति के अन्दर विद्यमान एक गुप्त शक्ति के रूप में उसी प्रकार कार्य करते हैं जिस प्रकार वे समस्त विश्व की अंतर्यामी सत्ता के रूप में कार्य करते हैं, वहीं से वे प्रकृति की शक्ति के द्वारा सब कुछ का प्रवर्तन करते हैं, प्रकृति के गुण में और उसकी कर्मशक्ति में अपने रहस्य की कोई धारा प्रकट करते हैं, प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणी को पृथक्-पृथक् उसकी विशिष्ट जाति के अनुसार गठित करते हैं और समस्त कर्म का सूत्रपात करते एवं उसे धारण करते हैं। इस प्रकार, वे परमात्मा ही इस जगत् के विश्वातीत आदि प्रवर्तक हैं और वही वस्तुओं तथा प्राणियों में समष्टिगत तथा व्यष्टिगत रूप से अपने-आपको निरन्तर प्रकट करते रहते हैं, ठीक यही तथ्य जगत् के स्वरूप की जटिलता का कारण है।

"परम पुरुष भगवान् की ये तीन नित्य और शाश्वत अवस्थाएँ हैं। प्रथम, सदा और सर्वकाल में उनकी यह एकमेव, नित्य, अक्षर, स्व-प्रतिष्ठ सत्ता विद्यमान रहती है जो सभी सत् पदार्थों का आधार एवं आश्रय है। दूसरे, सदा और सर्वकाल में यह प्रकृतिस्थ क्षर पुरुष भी विद्यमान रहता है जिसे प्रकृति इन सब भूतों के रूप में प्रकट करती है। तीसरे, सदा और सर्वकाल में ये विश्वातीत पुरुषोत्तम भी विद्यमान रहते हैं जो एक ही साथ शेष दोनों—क्षर और अक्षर—रूप धारण कर सकते हैं, शुद्ध और नीरव पुरुष भी बन सकते हैं और सृष्टि-चक्रों के क्रियाशील आत्मा और प्राण भी, क्योंकि वे इन दोनों से इतर और अधिक 'कुछ' हैं, भले ही इन्हें पृथक् रूप में लिया जाय या एक साथ। हमारे अंदर है जीव जो इन परमात्मा की अंशभूत आत्मा है, पुरुषोत्तम की एक चेतन शक्ति है। यह जीव वह पुरुष है जो अपनी गभीरतम सत्ता में अंतर्यामी भगवान् को समग्र रूप से वहन करता है और जो प्रकृति के अन्दर विश्वमय भगवान् में निवास करता है,—यह कोई क्षणस्थायी रचना नहीं है बल्कि एक शाश्वत आत्मा है जो सनातन परमात्मा में, सनातन अनंत में कर्म करती और विचरण करती है।

"हमारे अन्दर रहनेवाला यह चेतन जीव परम पुरुष की इन तीन अवस्थाओं में से किसी को भी ग्रहण कर सकता है। मनुष्य चाहे तो यहाँ प्रकृति के क्षर-भाव में और केवल क्षरभाव में ही निवास कर सकता है। तब वह अपनी वास्तविक आत्मा से, अपने अंतःस्थ भगवान् से अनभिज्ञ रहता हुआ केवल प्रकृति को ही जानता है : वह देखता है कि प्रकृति एक यंत्रवत् कार्य करनेवाली सर्जनशील शक्ति है और मैं तथा अन्य सभी इसी की रचनाएँ हैं,—इसी के बनाये जगत् में भिन्न-भिन्न अहं हैं, पृथक्-पृथक् सत्ताएँ हैं। इस प्रकार एक स्थूल दृष्टि के

साथ ही वह आज जीवन यापन करता है और जबतक स्थिति ऐसी ही रहेगी एवं जबतक वह इस बाह्य चेतना को अतिक्रम करके अपने अन्दर की सत्ता को नहीं जानेगा, तबतक उसका सब चिंतन एवं विज्ञान पर्दों और ऊपरी सतहों पर पड़ने-वाली प्रकाश की एक छाया ही हो सकते हैं। इस प्रकार का अज्ञान संभव हुआ है, यहाँतक कि यह हमपर लद गया है, क्योंकि अंतरस्थ भगवान् अपनी ही माया-शक्ति के आवरण के द्वारा प्रच्छन्न हैं। उनका महत्तर सत्स्वरूप हमारी दृष्टि से छुपा रहता है, क्योंकि उन्होंने अपनी आंशिक अभिव्यक्ति में अपने ही रचे हुए पदार्थों एवं रूपों के साथ अपने-आपको पूर्ण रूप से तदाकार कर रखा है तथा अपने रचे हुए मन को अपनी ही प्रकृति की प्रतारक क्रियाओं में पूर्णत: निमग्न कर रखा है। और यह अज्ञान इसलिए भी सम्भव हुआ है कि जो वास्तविक, सनातन अध्यात्म-प्रकृति वस्तुओं के निज स्वरूप का निगूढ़ रहस्य है वह उनके बाह्य रूपों में प्रकटित नहीं है। जो प्रकृति हमें बाहर की ओर दृष्टि डालने पर दिखलाई देती है, जो प्रकृति हमारे मन, देह और इंद्रियों में कार्य करती है, वह एक निम्न शक्ति है, किसी अन्य शक्ति से उत्पन्न हुई है, वह एक जादूगरनी है जो आत्मा के आकारों की सृष्टि करती है किन्तु उसे उसके अपने ही आकारों में छिपाए रखती है, सत्य को छुपाए रखकर लोगों को केवल आवरण ही दिखलाती है। वह एक ऐसी शक्ति है जो भगवान् की अभिव्यक्ति के गौण एवं हीन रूपों का ही प्रदर्शन कर सकती है, उसकी पूर्ण शक्ति, महिमा, मधुरिमा और उन्मा-दना का नहीं। हममें यह जो प्रकृति है वह अहंभाव की एक माया है, द्वंद्वों का एक गोरखधंधा है, अविद्या और त्रिगुण का एक जाल है। और जबतक मनुष्य का अंत:पुरुष मन, प्राण और देहरूपी बाह्य सत्ता में ही निवास करता है, अपनी आत्मा एवं अध्यात्म-सत्ता में नहीं, तबतक वह परमेश्वर, अपने-आप और जगत् के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर सकता, इस माया को पार नहीं कर सकता, बल्कि तबतक तो उसे वही करना पड़ेगा जो कुछ कि वह इस माया की अवस्थाओं एवं इसके रूपों के द्वारा कर सकता है।

"अपनी प्रकृति की जिस निम्न गति में मनुष्य आज निवास करता है उससे पीछे हटकर यदि वह अंतर्मुख हो जाय तो वह प्रकाश के रूप में दिखाई देनेवाले इस अंधकार से जाग उठ सकता है और नित्य एवं अक्षर स्वयंस्थित सत्ता के ज्योति-र्मय सत्य में निवास कर सकता है। तबसे वह अपने व्यक्तित्व की संकीर्ण कारा में नहीं बंधा रहता, तबसे वह अपनेको यह क्षुद्र अहं नहीं समझता जो विचार, कर्म और वेदन करता है तथा जरा-सी चीज के लिए इतना संघर्ष और प्रयास करता है। वह शुद्ध आत्मा की मुक्त एवं विशाल निर्व्यक्तिकता में निमज्जित हो जाता

है ; वह ब्रह्म बन जाता है ; वह अपनेको सर्वभूतस्थित एकमेव आत्मा के साथ एक जान लेता है। तब फिर उसे अपने अहं का ज्ञान नहीं रहता, तबसे वह द्वंद्वों से व्यथित नहीं होता, दुःख की टीस या हर्ष की हलचल अनुभव नहीं करता, कामना से चलायमान नहीं होता, पाप से परितृप्त या पुण्य से परिसीमित नहीं होता। अथवा यदि इन चीजों की कुछ झलक बची भी रहती है तो इन्हें वह यों देखता और समझता है कि ये केवल प्रकृति हैं जो अपने गुणों के द्वारा कार्य कर रही है, इन्हें वह अपना वह सत्य स्वरूप नहीं अनुभव करता जिसमें कि वह अब निवास करता है। केवल प्रकृति ही कार्य करती है तथा अपनी यंत्रसम आकृतियों का निर्माण करती है : किन्तु शुद्ध आत्मा निश्चल-नीरव है, निष्क्रिय और मुक्त है। अविचल और उसके कर्मों से अलिप्त रहती हुई वह उन्हें पूर्ण समता के साथ देखती है और अपने-आपको इन चीजों से भिन्न जानती है। यह आध्यात्मिक स्थिति अपने साथ अविचल शान्ति और मुक्ति तो लाती है किन्तु सक्रिय दिव्यता नहीं, सर्वांगीण पूर्णता नहीं ; यह एक महान् पग अवश्य है किन्तु यह समग्र ईश्वर-ज्ञान एवं समग्र आत्म-ज्ञान नहीं है।

"सर्वांगीण पूर्णता तो परम और समग्र भगवान् में निवास करने से ही प्राप्त हो सकती है। तब मनुष्य की अंतरात्मा भगवान् के साथ, जिनका वह एक अंश है, एक हो जाती है ; तब वह आत्मा एवं अध्यात्मसत्ता में सब भूतों के साथ एक हो जाती है, ईश्वर और प्रकृति दोनों में उनके साथ एक हो जाती है ; तब वह केवल मुक्त ही नहीं बल्कि पूर्ण भी होती है, परम आनंद में निमग्न तथा अपनी चरम पूर्णता के लिए प्रस्तुत होती है। तब भी मनुष्य आत्मा को इस रूप में देखता है कि यह एक नित्य और निर्विकार पुरुष है जो सभी वस्तुओं को शांत भाव से धारण करता है ; साथ ही वह प्रकृति को भी इस रूप में देखता है कि यह अब और केवल एक ऐसी यांत्रिक शक्ति नहीं है जो त्रिगुण की मशीनरी ही के अनुसार सब कार्य करती हो, बल्कि यह आत्मा की ही एक शक्ति है, अभिव्यक्तिगत भगवान् की एक शक्ति है। वह देखता है कि अपरा प्रकृति आत्मा के कर्म का अंतरतम सत्य नहीं है ; वह भगवान् की परा अध्यात्म-प्रकृति को जान जाता है, वह देखता है कि जो कुछ आज मन, प्राण और शरीर में अपूर्ण रीति से रूपायित है उस सबका उद्गम उस भगवती प्रकृति में निहित है और साथ ही उस सबका वह महत्तर सत्य भी, जो अभी हमें उपलब्ध करना है, वहीं है। निम्न मानसिक प्रकृति से इस परम अध्यात्म-प्रकृति में उठकर वह समस्त अहंकार से मुक्त हो जाता है। वह जान जाता है कि मैं एक आध्यात्मिक सत्ता हूँ, अपने मूल स्वरूप में सर्वभूतों के साथ एक हूँ और अपनी सक्रिय प्रकृति में एकमेव भगवान् की

एक शक्ति तथा विश्वातीत अनंत का अंशभूत एक सनातन जीव हूँ। वह सबको ईश्वर में और ईश्वर को सबमें देखता है ; वह सभी वस्तुओं को वासुदेव के रूप में देखता है। वह हर्ष-शोक, प्रिय-अप्रिय, आशा-निराशा तथा पाप-पुण्य के द्वंद्वों से मुक्त हो जाता है। उसके बाद से उसकी चैतन्यमय दृष्टि एवं अनुभूति के निकट सभी कुछ भगवान् की इच्छा और क्रिया ही बन जाता है। वह विश्व-चेतना और विश्व-शक्ति के एक स्फुलिंग और अंश के रूप में जीवन यापन करता तथा कर्म करता है ; वह लोकोत्तर दिव्य आनंद किंवा आध्यात्मिक आनंद से परिपूरित हो उठता है। उसका कर्म दिव्य कर्म और उसका पद उच्चतम अध्यात्म-पद बन जाता है।

*

"यही है समाधान, यही है मुक्ति और यही है सिद्धि, जो लोग अपने अन्तर में दिव्य वाणी श्रवण कर सकते हैं तथा इस श्रद्धा और ज्ञान की उपलब्धि में समर्थ हैं उन सबको मैं जो कुछ प्रदान करता हूँ वह यही है। परन्तु इस सर्वोच्च अवस्था तक आरोहण करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक शर्त, आदि और मूल सोपान यह है कि जो चीजें तुम्हारी निम्न प्रकृति से संबंध रखती हैं उन सबसे पीठ फेर लो और अपनी बुद्धि एवं संकल्पशक्ति की एकाग्रता के द्वारा अपने-आपको उस वस्तु पर स्थिर करो जो संकल्प और बुद्धि दोनों से उच्च है तथा मन, हृदय, इंद्रिय-गण और शरीर से भी उच्च है। और सबसे पहले तुम्हें अपने नित्य और अक्षर आत्मा की ओर मुड़ना होगा जो निर्व्यक्तिक है तथा सभी प्राणियों में एक ही है। जबतक तुम अहं तथा मानसिक व्यक्तित्व में निवास करते हो तबतक तुम सदा अंतहीन रूप से एक ही जगह चक्कर काटते रहोगे और तबतक कोई वास्तविक निस्तार संभव नहीं। अपने संकल्प को हृदय तथा उसकी कामनाओं और इंद्रियों तथा उनके आकर्षणों से परे अंदर की ओर फेर ले जाओ ; इसे मन तथा उसके संस्कारों एवं आसक्तियों से तथा उसकी सीमाबद्ध इच्छा, विचार एवं आवेग से परे ऊपर की ओर उठा ले जाओ। अपने अंदर एक ऐसी वस्तु प्राप्त कर लो जो सनातन है, नित्य-अपरिवर्तनीय, शांत, अविचल और सम है, सब वस्तुओं, व्यक्तियों और घटनाओं के प्रति पक्षपातशून्य है, किसी कर्म से प्रभावित नहीं होती, प्रकृति के रूपों के द्वारा परिवर्तित नहीं होती। वही वस्तु बन जाओ, सनातन आत्मा बनो, ब्रह्म बनो। यदि तुम एक स्थायी आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा वही वस्तु बन सको तो तुम्हें एक विश्वस्त आधार मिल जायगा जिसपर स्थित होकर तुम अपने मनोनिर्मित व्यक्तित्व की सीमाओं से मुक्त रह सकोगे,

वहां शान्ति और ज्ञान से च्युत होने का कोई खतरा नहीं रहेगा, अहं का कोई बंधन नहीं रहेगा।

"जबतक तुम अपने अहंकार को या उससे संबंध रखनेवाली किसी भी चीज को पालते-पोसते रहोगे तथा उससे चिपके रहोगे तबतक तुमसे अपनी सत्ता को इस प्रकार निर्व्यक्तिक नहीं बना सकते। कामना तथा इससे उत्पन्न होनेवाले आवेग अहंकार की मुख्य निशानी और गाँठ हैं। यह कामना ही तुमसे 'मैं' और 'मेरा' कहलाती रहती है और एक दृढ़मूल अहंभाव के द्वारा तुम्हें तृप्ति और अतृप्ति, रुचि और अरुचि, आशा और निराशा, हर्ष और शोक के वश में कर देती है, क्षुद्र राग और द्वेष, क्रोध और क्षोभ, सफलता तथा अप्रिय वस्तुओं के प्रति आसक्ति, विफलता तथा अप्रिय वस्तुओं से उत्पन्न शोक-संताप—इन सब विकारों के अधीन कर देती है। कामना सदा ही मन में भ्रांति और संकल्प में संकीर्णता लाती है, वह हमें पदार्थ मात्र का अहंमूलक और विकृत रूप ही दिखलाती है, ज्ञान को विफल और आच्छन्न कर देती है। कामना और उसके सहचारी राग और द्वेष पाप तथा प्रमाद का प्रथम मूल बीज हैं। जबतक तुम कामना को पालते-पोसते रहोगे तबतक कोई ध्रुव निष्कलुष शांति एवं स्थिर ज्योति नहीं प्राप्त हो सकती, कोई शांत एवं विशुद्ध ज्ञान प्रतिष्ठित नहीं हो सकता ; तबतक सत्ता की यथार्थ अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती—क्योंकि कामना मूलसत्ता की एक विकृति है—और साथ ही तबतक यथार्थ विचार, कर्म और अनुभव का दृढ़ आधार भी स्थापित नहीं हो सकता। कामना को चाहे किसी भी वेश में क्यों न रहने दिया जाय, वह बड़े-से-बड़े ज्ञानी के लिए भी एक सतत भय का कारण होती है और किसी भी क्षण वह सूक्ष्म या उग्र रूप में मन को उसकी दृढ़तम एवं निश्चिततम उपलब्ध भूमिका से भी नीचे ढकेल सकती है। कामना अध्यात्म-सिद्धि का प्रधान शत्रु है।

"इसलिए, कामना का वध कर डालो ; पदार्थों के बाह्य रूपों की प्राप्ति एवं उपभोग के प्रति आसक्ति का त्याग कर दो। जो कुछ भी बाह्य स्पर्शों एवं प्रलोभनों के रूप में, मन और इंद्रियों के विषयों के रूप में तुम्हारे पास आता है उस सबसे अपनेको जुदा करो। षड्रिपुओं के संपूर्ण वेग को सहना और त्यागना सीखो और जब वे तुम्हारे अंगों में प्रकुपित हो उठें तब भी अपनी अंतरात्मा में सुरक्षित रूप से स्थित रहने का अभ्यास करो ; ऐसा तबतक करते चलो जबतक कि अंत में वे तुम्हारी प्रकृति के किसी भी भाग पर प्रभाव डालने में असमर्थ न हो जायँ। इसी प्रकार हर्ष और शोक के प्रबल आक्रमणों को भी और उनके चुपके घुसनेवाले क्षुद्रतम स्पर्शों को भी सहन करो और दूर हटाओ। रुचि

और अरुचि को परे फेंक दो, राग और द्वेष का विनाश कर डालो, संकोच और घृणा को जड़ से उखाड़ फेंको। इन चीजों के प्रति तथा सभी काम्य वस्तुओं के प्रति तुम्हारी संपूर्ण प्रकृति में शांत उदासीनता का भाव होना चाहिए। इन सबको निर्व्यक्तिक आत्मा की शांत और नीरव दृष्टि से ही देखो।

"इसका परिणाम होगा वह पूर्ण समता तथा अचल शांति की शक्ति जिसे विश्वात्मा अपने सृष्टिचक्र के सम्मुख सुरक्षित रखते हैं और जिसे वे सदैव प्रकृति के नानाविध कर्मप्रपंच के सामने रहते हुए भी अटूट बनाये रखते हैं। सम दृष्टि से देखो ; जो कुछ भी तुम्हें प्राप्त हो उस सबको, सफलता और विफलता को, मान और अपमान को, मनुष्यों की प्रशंसा एवं प्रीति को और उनके घृणा-द्वेष तथा अत्याचार को, ऐसी प्रत्येक घटना को जो दूसरों के लिए हर्ष-जनक होती है और ऐसी प्रत्येक घटना को भी जो दूसरों के लिए शोकजनक होती है, समचित्त और समबुद्धि होकर ग्रहण करो। सभी मनुष्यों को, सज्जन और दुर्जन, ज्ञानी और मूढ़ एवं ब्राह्मण और चंडाल को, ऊँचे-से-ऊँचे मनुष्य को और क्षुद्र-से-क्षुद्र जीव-जंतु को सम दृष्टि से देखो। सब मनुष्यों से समभाव के साथ मिलो, भले ही तुम्हारे साथ उनके संबंध कैसे भी क्यों न हों, भले ही वे सुहृत्, मित्र, तटस्थ और उदासीन हों या विरोधी और वैरी, स्नेही हों या द्वेषी। ये चीजें अहं को स्पर्श करती हैं किंतु तुम्हारे लिये आदेश यह है कि तुम अहंकार से मुक्त होओ। ये सब वैयक्तिक संबंध हैं किंतु तुम्हें सब कुछ निर्व्यक्तिक आत्मा की गभीर दृष्टि से देखना होगा। ये सब कालगत और व्यक्तिगत भेद हैं, इनपर तुम्हें दृष्टिपात तो करना होगा पर इनसे प्रभावित नहीं होना होगा ; क्योंकि तुम्हें अपनी दृष्टि इन भेदों पर नहीं बल्कि उस वस्तु पर स्थिर करनी होगी जो सबमें एक ही है, उस एकमेव आत्मा पर जो ही सब कोई है, उन भगवान् पर जो प्रत्येक जीव में विराजमान हैं ; तुम्हें अपनी दृष्टि प्रकृति की उस एक क्रिया पर स्थिर करनी होगी जो मनुष्यों और पदार्थों में, शक्तियों और घटनाओं में, समस्त प्रयत्न और फल में तथा जगत्-प्रयास के प्रत्येक परिणाम में भगवान् की ही एक सम इच्छा की अभिव्यक्ति है।

"कर्म तुम्हारे अंदर फिर भी चलता रहेगा, क्योंकि प्रकृति सदा ही कार्य करती रहती है ; परंतु तुम्हें यह जानना और अनुभव करना होगा कि तुम्हारी आत्मा कर्म की कर्त्री नहीं है। केवल देखते जाओ, बिना विचलित हुए देखते रहो प्रकृति की कार्यावलि, उसके गुणों का खेल, उनका जादू। अपने अंदर इस क्रिया को अविचलित भाव से देखो ; तुम्हारे चारों ओर जो कुछ किया जा रहा है उस सबका निरीक्षण करो और देखो कि दूसरों के अंदर भी यही एक क्रिया

चल रही है। देखो कि तुम्हारे और उनके कर्मों का परिणाम तुम्हारी या उनकी इच्छा या विचार से सदा ही भिन्न होता है, यह उनकी और तुम्हारी इच्छा से निर्धारित नहीं होता, बल्कि जो महत्तर शक्ति यहाँ विश्व-प्रकृति में संकल्प और कर्म करती है वही इसे सर्वसमर्थ शक्ति के साथ निर्धारित करती है। यह भी ध्यानपूर्वक देखो कि तुम्हारे कर्मों का संकल्प भी तुम्हारा नहीं, प्रकृति का है। वह तुम्हारी अहंबुद्धि का संकल्प है और तुम्हारी प्राकृत गठन के प्रधान गुण के द्वारा निर्धारित होता है; प्रकृति ही वह गुण तुम्हारे अंदर अतीत काल से विकसित करती आयी है अथवा उसे इस क्षण सामने लायी है। तुम्हारा वह संकल्प तुम्हारे प्राकृत व्यक्तित्व के खेल पर निर्भर करता है और तुम्हारा यह प्रकृति-रचित व्यक्तित्व तुम्हारा सच्चा स्वरूप नहीं है। इस बाह्य रचना से पीछे हटकर अपनी आंतरिक नीरव आत्मा में प्रवेश करो; तुम देखोगे कि तुम, अर्थात् पुरुष, निष्क्रिय हो; किंतु प्रकृति अपने गुणों के अनुसार सदैव अपने कार्य करती रहती है। अपने-आपको इस आंतरिक निष्क्रियता एवं निश्चलता में स्थिर करो : आगे से अपने-आपको कर्ता मत समझो। प्रकृति के इस खेल के ऊपर, गुणों की विक्षुब्ध क्रिया से मुक्त, अपने अंदर स्थित रहो। निर्व्यक्तिक आत्मा की विशुद्ध स्थिति में सुरक्षित रहो, अपने अंगों में बारंबार उठनेवाली मर्त्य जीवन की तरंगों से क्षुब्ध मत होओ।

"यदि तुम ऐसा कर सको तो तुम अपनेको एक महान् विमुक्ति, विशाल स्वाधीनता और गभीर शांति में उन्नीत पाओगे। तब तुम भगवान् को जान जाओगे और अमर हो जाओगे; अपनी अनाद्यनंत स्वयंभू सत्ता को प्राप्त कर लोगे, मन, प्राण और शरीर की अधीनता से मुक्त हो जाओगे, तब तुम्हें अपनी अध्यात्म-सत्ता के संबंध में निश्चय हो जायगा, प्रकृति की प्रतिक्रियाएँ तुम्हें छू तक नहीं सकेंगी, षड्रिपुओं के आवेग का, पाप और शोक-संताप का कोई भी दाग तुमपर नहीं लगेगा। तब तुम अपने सुख और कामना-पूर्त्ति के लिए किसी नश्वर या बाह्य या सांसारिक पदार्थ पर निर्भर नहीं करोगे, बल्कि तब तुम्हें शांत और शाश्वत आत्मा का स्वयं-पूर्ण आनंद अविच्छेद्य रूप में प्राप्त रहेगा। तब तुम एक मनोमय जीव नहीं रह जाओगे, बल्कि तुम होगे एक निःसीम आत्मा, अनंत ब्रह्म। और, अपने मन में से विचार का समस्त बीज तथा कामना का समस्त मूल निकालकर, देहजन्म-रूपी प्रतीक का त्यागकर तुम प्रयाणकाल में शुद्ध सनातन सत्ता के एकाग्र ध्यान के द्वारा तथा अनंत एवं 'केवल' ब्रह्म में अपनी चेतना के एक महत् संक्रमण के द्वारा प्रशांत आत्मा की इस नित्य सत्ता में प्रवेश कर सकोगे।

"परंतु यह योग का संपूर्ण सत्य नहीं है और यह लक्ष्य तथा प्रयाण का यह पथ यद्यपि एक महान् लक्ष्य तथा महान् पथ है तथापि यह वह चीज नहीं है जो मैं तुम्हारे सामने प्रस्तावित करना चाहता हूँ। क्योंकि मैं तुम्हारे अंदर शाश्वत कर्मी हूँ और तुमसे कर्मों की मांग करता हूँ। मैं यह नहीं चाहता कि तुम प्रकृति की यांत्रिक क्रिया के प्रति अपनी निष्क्रिय सहमति दे दो और अपनी आत्मा में उस क्रिया से पूर्णतः पृथक्, उदासीन और अनासक्त रहो, बल्कि मैं चाहता हूँ एक सर्वांगपूर्ण और दिव्य कर्म, जो भगवान् के एक यंत्र के रूप में स्वेच्छापूर्वक और ज्ञान के साथ किया जाय, अपनेमें तथा दूसरों में विराजमान परमेश्वर के लिए तथा जगत् के मंगल के लिए किया जाय। इसमें संदेह नहीं कि यह कर्म मैं प्रथम तो परा अध्यात्म-प्रकृति में सिद्धि लाभ करने के एक साधन के रूप में ही तुम्हारे सामने प्रस्तावित करता हूँ पर साथ ही उस सिद्धि के एक अंग के रूप में भी इसे प्रस्तावित करता हूँ। कर्म भगवान् के समग्र ज्ञान और उनके महत्तर गुह्य सत्य का अंग है, पूर्ण भागवत जीवन का अंग है ; सिद्धि और मुक्ति प्राप्त होने के बाद भी कर्म किया जा सकता है और करते ही रहना चाहिए। मैं तुमसे जीवन्मुक्त के कर्म, सिद्ध पुरुष के कर्म की मांग करता हूँ। जिस योग का वर्णन किया जा चुका है उसमें कुछ और बात जोड़ने की आवश्यकता है—क्योंकि वह केवल प्राथमिक ज्ञान-योग था। एक ऐसा कर्मयोग भी है जिसमें कर्म ईश्वरानुभूति के प्रकाश में किये जाते हैं ; कर्मों को ज्ञान के साथ एकमय किया जा सकता है। कारण, जो कर्म पूर्ण आत्म-दर्शन और पूर्ण भगवद्दर्शन की स्थिति में किये जाते हैं, जो कर्म जगत् में भगवान् को और भगवान् में जगत् को देखते हुए किये जाते हैं वे अपने-आपमें ज्ञान की ही एक क्रिया हैं, ज्ञान-ज्योति का ही प्रवाह हैं, अध्यात्म-सिद्धि का एक अपरिहार्य साधन एवं अंतरीय अंग हैं।

"अतएव अब उच्च निर्व्यक्तिक स्थिति की अनुभूति में यह ज्ञान भी जोड़ लो कि जिन परम पुरुष को हम शुद्ध नीरव आत्मा के रूप में प्राप्त करते हैं उन्हें हम उन विराट् क्रियाशील पुरुष के रूप में भी प्राप्त कर सकते हैं जो सब कर्मों के प्रवर्तक और सब लोकों के स्वामी हैं, मनुष्य के कर्म, पुरुषार्थ और यज्ञ के अधीश्वर हैं। यह जो प्रकृति-रूपी यंत्र आप-से-आप कार्य करता हुआ दीख पड़ता है उसके अंदर एक अंतर्वासी भगवत्संकल्प छिपा हुआ है और यह संकल्प ही उसे प्रेरित और परिचालित करता है तथा उसके उद्देश्यों का रूप निर्धारित करता है। परंतु जबतक तुम अपने व्यक्तित्व की तंग कोठरी में बंद हो, अपने अहं और उसकी कामनाओं के दृष्टिबिंदुसे अंध और बद्ध हो तबतक तुम इस संकल्पको अनुभव नहीं कर सकते और न इसे जान ही सकते हो। क्योंकि, जब तुम ज्ञान के द्वारा

निर्व्यक्तिक स्थिति लाभ कर लेते हो और इतने विशालात्मा हो जाते हो कि सब वस्तुओं को आत्मा एवं ईश्वर में और आत्मा एवं ईश्वर को सब वस्तुओं में देखने लगते हो, केवल तभी तुम पूर्ण रूप से इस भागवत इच्छाशक्ति को प्रत्युत्तर दे सकते हो। यहाँ सब कुछ परमात्मा की शक्ति के ही द्वारा प्रकट होता है; यहाँ सभी अपने-अपने कर्म इस कारण करते हैं कि जगत् में ईश्वर अंतर्यामी रूप से उपस्थित हैं और वे प्रत्येक जीव के हृदय में भी विराजमान हैं। लोक-लोकांतर का स्रष्टा अपनी सृष्टि से परिसीमित नहीं होता; कर्मों का स्वामी अपने कर्मों से नहीं बंधता; भगवत्संकल्प अपने प्रयत्न तथा इसके परिणामों में आसक्त नहीं होता : क्योंकि वह सर्वशक्तिमान्, आप्तकाम और आनंदधाम है। तो भी वे जगदीश्वर अपने परात्पर पद से इस सृष्टि पर दृष्टिपात करते हैं; वे अवतार लेते हैं; वे यहाँ तुम्हारे अंदर भी हैं; वे अंदर से ही सब वस्तुओं पर उनकी अपनी प्रकृति की धारा के अनुसार शासन करते हैं। तुम्हें भी उन भगवान् में निवास करते हुए कर्म करने होंगे, भागवत प्रकृति की पद्धति और क्रमधारा के अनुसार, संकीर्णता, आसक्ति किंवा बंधन से विमुक्त रहते हुए कर्म करने होंगे। सबके परम मंगल के लिए कर्म करो, जगत् की प्रगति को जारी रखने के लिये कर्म करो, लोगों की सहायता या मार्गदर्शन के लिये, लोक-संग्रह के लिए कर्म करो। तुमसे मैं जो कर्म चाहता हूँ वह है मुक्त योगीका कर्म; वह भगवत्परिचालित स्वतंत्र शक्ति का स्वतःस्फूर्त प्रवाह है, समत्वयुक्त मन की गति है, निःस्वार्थ और निष्काम कर्म है।

"इस मुक्त, समत्वयुक्त एवं दिव्य कर्ममार्ग का प्रथम सोपान यह है कि तुम अपने अंदर से फल और पुरस्कार की आसक्ति निकाल फेंको और केवल कर्तव्य कर्म ही के लिए कर्म करो। क्योंकि, तुम्हें गहराई के साथ अनुभव करना होगा कि फल तुम्हारे नहीं बल्कि जगत्प्रभु के हैं। अपना श्रम उत्सर्ग कर दो और उसका फलाफल उन परमात्मा पर छोड़ दो जो जगद्व्यापार में अपने-आपको प्रकट और चरितार्थ करते हैं। तुम्हारे कर्म का परिणाम एकमात्र उन्हीं की इच्छा के द्वारा निर्धारित होता है और वह चाहे जो भी हो, सौभाग्य हो या दुर्भाग्य, सफलता हो या विफलता, वह उनके द्वारा अपने जागतिक उद्देश्य की सिद्धि में सहायक बना लिया जाता है। व्यक्तिगत इच्छाशक्ति तथा संपूर्ण यंत्ररूप प्रकृति की एक पूर्णतः निःस्वार्थ एवं निष्काम क्रिया कर्मयोग का पहला नियम है। कोई भी फल मत मांगो, जो भी फल तुम्हें दिया जाय उसे स्वीकार करो; समता और शांत प्रसन्नता के साथ उसे ग्रहण करो : सफलता मिले या विफलता, संपत्ति आये या विपत्ति, तुम दिव्य कर्म के ढालू पथ पर निर्भीक, अक्षुब्ध, अविचलित भाव से बढ़ते जाओ।

"यह मार्ग के पहले कदम से अधिक कुछ नहीं। क्योंकि, तुम्हें, केवल फलों के प्रति ही अनासक्त नहीं होना होगा अपितु अपने श्रम के प्रति भी अनासक्त बनना होगा। अपने कर्मों को अपना समझना छोड़ दो; जैसे तुमने अपने कर्मों के फल उत्सर्ग कर दिये हैं, वैसे ही तुम्हें कर्म भी कर्म और यज्ञ के ईश्वर को समर्पित करना होगा। यह बात जान लो कि तुम्हारी प्रकृति ही तुम्हारा कर्म निर्धारित करती है; तुम्हारी प्रकृति ही तुम्हारे 'स्वभाव' की क्षण-क्षण की गति का नियमन करती है और वही विश्व-प्रकृति की कार्य-वाहक शक्ति के मार्गों पर तुम्हारी आत्मा की अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति और विकास-धारा भी निश्चित करती है। किसी प्रकार की स्वेच्छा को अब और अपने अंदर स्थान मत दो, ताकि भगवन्मुख मार्ग के अनुसरण में तुम्हारा मन भ्रान्त होकर लड़खड़ाये नहीं। जो कर्म तुम्हारी प्रकृति के लिए उपयुक्त हो उसे ग्रहण करो। जो कुछ भी तुम करो उस सबको बड़े-से-बड़े तथा अत्यंत असाधारण प्रयत्न से लेकर छोटे-से-छोटे दैनिक कार्य तक को यज्ञ और तप मात्र के भोक्ता के प्रति यज्ञ का रूप दे दो, अपने मन की प्रत्येक क्रिया को, अपने हृदय की प्रत्येक गति को, अपने शरीर की प्रत्येक चेष्टा को, अंदर और बाहर की प्रत्येक प्रवृत्ति को, प्रत्येक विचार, संकल्प एवं वेदन को, प्रत्येक पग, विराम और गति को उन्हीं सर्वकर्ममहेश्वर के प्रति यज्ञ के रूप में परिणत कर दो।

"इसके आगे यह जानो कि तुम 'सनातन' के सनातन अंश हो और तुम्हारी प्रकृति की शक्तियाँ उनके बिना कुछ नहीं हैं, उनकी आंशिक आत्म-अभिव्यक्ति के सिवा ये और कुछ भी नहीं हैं। वे अनंत भगवान् ही तुम्हारी प्रकृति में उत्तरोत्तर पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो रहे हैं। उन परमेश्वर की शक्ति, उनकी परम संभूति-शक्ति ही तुम्हारा स्वभाव गठित करती है और इसमें रूपायित होती है। अतएव यह भाव पूर्ण रूप से त्याग दो कि तुम कर्ता हो; यह देखो कि एकमात्र 'सनातन' ही कर्म के कर्ता हैं। अपनी प्राकृत सत्ता को शक्ति का एक निमित्त, यंत्र एवं प्रणालिका तथा अभिव्यक्ति का एक साधन बनने दो। अपनी इच्छाशक्ति उन्हें अर्पित कर दो और इसे उनकी सनातन इच्छाशक्ति के साथ एक कर दो: अपनी आत्मा एवं अध्यात्मसत्ता की नीरवता में अपने सब कर्म अपनी प्रकृति के विश्वातीत प्रभु को समर्पण कर दो। जबतक तुम्हारे अंदर किसी भी प्रकार का अहंभाव है या कोई भी मानसिक दावा या प्राणिक कोलाहल है तबतक यह सब वास्तविक रूप में संपन्न नहीं हो सकता या, कम-से-कम, पूर्ण रूप से संपन्न नहीं किया जा सकता। जो कर्म किंचित् भी मात्रा में अहं के लिए किया जाता है या जो लेश मात्र भी अहं की कामना तथा उसकी स्वेच्छा से रंगा होता है वह पूर्ण यज्ञ नहीं होता। जबतक हमारी सत्ता में कहीं भी समता का अभाव है या कहीं भी

अज्ञानयुक्त राग-द्वेष की कोई छाप है तबतक यह महत् कार्य सम्यक्तया एवं सच्चे रूप में संपन्न नहीं हो सकता। किंतु जब तुममें सभी कर्मों, परिणामों, वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति पूर्ण समता होती है, कामना या अहं के प्रति नहीं बल्कि परम प्रभु के प्रति समर्पण होता है, तब भगवदिच्छा तुम्हारी रूपांतरित प्रकृति की पवित्र एवं सुरक्षित अवस्था में तुम्हारे सब कर्मों को बिना भूल-चूक या त्रुटि-विच्युति के निर्धारित कर देती है और साथ ही भागवत शक्ति उन्हें किसी निम्न हस्तक्षेप या बाधक प्रतिक्रिया के बिना स्वतंत्रतापूर्वक संपन्न करती है। अपने प्रत्येक कर्म को निष्कलुष, सर्वशक्तिमय भगवदिच्छा के द्वारा निर्धारित एवं संपादित होने देना ही कर्म-योग की सिद्धि की पराकाष्ठा है। यह सिद्धि प्राप्त हो जाने पर तुम्हारी प्रकृति पुरुषोत्तम के साथ पूर्ण एवं सतत सायुज्य में अपने विश्वमार्ग का अनुसरण करेगी, परम पुरुष को अभिव्यक्त करेगी, ईश्वर की आज्ञा का पालन करेगी।

"दिव्य कर्मों का यह मार्ग जीवन और कर्मों के बाह्य त्याग की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ मुक्ति एवं पूर्णतर मार्ग और समाधान है। बाह्य त्याग करना पूर्ण रूप से संभव नहीं और जहाँतक यह किया भी जा सकता है वहाँतक भी यह आत्मा के स्वातंत्र्य-लाभ के लिए अनिवार्य नहीं; इसके अतिरिक्त यह एक भयानक दृष्टांत है, क्योंकि यह जनसाधारण पर एक भ्रामक प्रभाव डालता है। श्रेष्ठ मनुष्य, महापुरुष एक आदर्श स्थापित करते हैं और शेष सारी मानवजाति उस आदर्श का अनुसरण करने का यत्न करती है। अतएव, कर्म करना जब देहधारी जीव का स्वभाव ही है, कर्म जब सनातन कर्मी की ही इच्छा की अभिव्यक्ति है, तब महान् आत्माओं एवं महान् मनीषियों को ऐसा ही दृष्टांत सामने रखना चाहिये। उन्हें होना चाहिए विश्व-कर्मी, ऐसे विश्वकर्मी जो बिना किसी सोच-संकोच के जगत् के सभी कर्म संपन्न करें,—उन्हें होना चाहिये मुक्त, प्रसन्न एवं निष्काम भगवत्कर्मी, मुक्तात्मा और मुक्तप्रकृति।

*

"ज्ञानसाधक मन और कर्मसाधिका संकल्पशक्ति ही सब कुछ नहीं हैं, तुम्हारे अंदर एक हृदय भी है जिसे आनंद की चाह है। यहाँ, हृदय की शक्ति और ज्योति में भी, इसकी आनंद की चाह में भी, इसकी आत्मिक तृप्ति की अभिलाषा में भी, तुम्हें अपनी प्रकृति को भगवान् की ओर फेरना होगा, उसे रूपांतरित करके भगवन्मिलन के चिन्मय परानंद में उठा ले जाना होगा। निर्व्यक्तिक आत्मा का ज्ञान अपना एक विशिष्ट आनंद प्रदान करता है; निर्व्यक्तिकता का भी एक आनंद है, शुद्ध आत्मा के कैवल्य का भी एक आनंद है। परंतु समग्र ज्ञान

तीन प्रकार के महत्तर आनंद को अपने संग लाता है। वह विश्वातीत के आनंद के द्वार खोल देता है; वह विश्वगत निर्व्यक्तिकता के असीम आनंद की ओर उन्मुक्त कर देता है; इस संपूर्ण नानारूप अभिव्यक्ति में जो हर्षातिरेक विद्यमान है उसे भी वह प्राप्त कर लेता है: क्योंकि प्रकृतिस्थ सनातन पुरुष का भी अपना एक आनंद है। भगवान् के अंशभूत जीव में यह आनंद एक परम हर्ष का रूप ग्रहण करता है जो भगवान् पर आधारित होता है, वह होता है जीव को अपने उद्गमस्वरूप भगवान् में मिलनेवाला आनंद, अपने परम आत्मा में, अपनी सत्ता के स्वामी में मिलनेवाला आनंद। पूर्ण भगवत्प्रेम एवं भगवदर्चन विस्तृत होकर जगत् तथा इसके सब दृश्य पदार्थों, शक्तियों और प्राणियों के प्रति प्रेम में परिणत हो जाता है; सबमें भगवान् दिखायी देते हैं, सबमें वही उपलब्ध होते हैं, सबमें उन्हीं की पूजा-सेवा होती है अथवा उन्हीं के साथ एकत्व की अनुभूति होती है। अतः ज्ञान और कर्म को सनातन त्रिवृत् आनंद का यह मुकुट पहरा दो; इस प्रेम को अंगीकार करो, यह उपासना सीख लो; इसे कर्म और ज्ञान के साथ एक कर दो। यह सर्वांगपूर्णता की चरम सीमा है।

"यह प्रेमयोग तुम्हें आध्यात्मिक विशालता, एकता और स्वाधीनता के लिए उच्चतम गुप्त शक्ति प्रदान करेगा। परंतु यह प्रेम ईश्वर-ज्ञान के साथ एकमय होना चाहिये। एक प्रकार का प्रेम या भक्ति ऐसी होती है जो दुःख में सांत्वना, सहायता और उद्धार के लिये भगवान् को खोजती है: एक भक्ति ऐसी होती है जो उन्हें सकल-अभीष्ट-प्रदाता कल्पतरु-स्वरूप मानती हुई उनके उपहारों के लिए, उनका दिव्य साहाय्य एवं संरक्षण पाने के लिए उनको खोज करती है: फिर एक ऐसी भक्ति भी होती है जो अभी अज्ञानयुक्त होती हुई भी प्रकाश और ज्ञान के लिए उनकी ओर मुड़ती है और जबतक मनुष्य भक्ति के इन रूपों में आबद्ध रहता है तबतक इनके उच्चतम एवं श्रेष्ठतम भगवन्मुख-भाव में भी त्रिगुण की क्रिया निरंतर जारी रह सकती है। परंतु जब ईश्वरप्रेमी ईश्वरज्ञानी भी होता है तब प्रेमी अपने प्रेमपात्र के साथ एकात्म हो जाता है, क्योंकि वह परमोच्च देव का वरण किया हुआ और परमात्मा का परम प्रिय भक्त होता है। अपने अंदर इस भगवन्मग्न भक्ति का विकास करो; तब तुम्हारा हृदय अध्यात्म-भावित होकर तथा अपनी निम्न प्रकृति की सीमाओं के ऊपर उठकर परमेश्वर की अपरिमेय सत्ता के रहस्य तुम्हारे सामने अत्यंत अंतरंग रूप में प्रकाशित कर देगा, उनकी भागवती शक्ति का पूर्ण संस्पर्श, प्रवाह और माहात्म्य तुम्हारे अंदर ले आयगा और एक शाश्वत परमोल्लास के गुह्य रहस्य तुम्हारे सामने खोल देगा। पूर्ण प्रेम ही पूर्ण ज्ञान की कुंजी है।

"यह समग्र भगवत्प्रेम तुम्हारे और सब जीवों के अंदर अवस्थित भगवान् के लिए सर्वांगीण कर्म की भी मांग करता है। साधारण मनुष्य जो भी कर्म करता है उन्हें वह या तो किसी पापमय वा पुण्यमय वासना के अनुसार करता है अथवा किसी निम्न या उच्च प्राणावेग के अनुसार, या तो किसी सामान्य वा उदात्त मानसिक अभिरुचि के वश करता है अथवा मन और प्राण की किसी मिश्रित प्रेरणा के वश। परंतु तुम जो कर्म करो वह मुक्त और निष्काम होना चाहिये : निष्कामभाव से किया हुआ कर्म कोई प्रतिक्रिया नहीं पैदा करता, कोई बंधन नहीं लादता। जो कर्म पूर्ण समता और अविचल स्थिरता एवं शांति के साथ पर किसी भगवन्मुख संवेग के बिना किया जाता है वह पहले-पहल एक आध्यात्मिक कर्तव्य का, **'कर्तव्यं कर्म'** का सूक्ष्म बंधन होता है, फिर वह दिव्य यज्ञ के आरोहण में परिणत हो जाता है; अपने उच्चतम स्तर पर वह भगवान् के साथ सक्रिय एकत्व की शांत और प्रसन्न स्वीकृति का बाह्य प्रकाश हो सकता है। प्रेममूलक एकत्व और भी बहुत कुछ करेगा : प्रारंभिक निर्विकार शांति के स्थान पर यह तीव्र और प्रगाढ़ हर्षोल्लास को प्रतिष्ठित करेगा जो अहंमय कामना का क्षुद्र हर्षावेग नहीं वरन् अनंत आनंद का सागर होगा। यह तुम्हारे कर्मों में प्रियतम की उपस्थिति की हृदयस्पर्शी अनुभूति एवं विशुद्ध और दिव्य उन्मादना ले आयगा ; अपने तथा सर्वभूतों के अंदर अवस्थित भगवान् के लिए श्रम करने का अविच्छिन्न आनंद तुम्हें अनुभूत होगा। प्रेम कर्मों का भी मुकुट है और ज्ञान का भी।

"यह प्रेम जो कि ज्ञान है, यह प्रेम जो तुम्हारे कर्म का गभीर अंतर्मर्म बन सकता है, समग्र आत्म-निवेदन और परिपूर्ण सिद्धि के लिये तुम्हारा एक अमोघ शक्तिशाली साधन होगा। भगवान् के साथ जीव का समग्र एकत्व पूर्ण आध्यात्मिक जीवन की शर्त है। अतएव, पूर्ण रूप से भगवान् की ओर मुड़ जाओ ; अपनी संपूर्ण प्रकृति को ज्ञान, प्रेम और कर्म के द्वारा उनके साथ एक कर दो। सर्वभावेन उनकी ओर फिर जाओ और अपना मन, हृदय एवं इच्छाशक्ति, अपनी सारी-की-सारी चेतना, यहाँतक कि अपनी इंद्रियां और शरीर भी बिना संकोच के उन्हीं के हाथों में सौंप दो। अपनी चेतना को उनकी सर्वोच्च शक्ति के द्वारा उनकी दिव्य चेतना के विशुद्ध साँचे में ढल जाने दो। अपने हृदय को भगवान् का शुभ्र प्रज्वलन्त हृदय बनने दो। तुम्हारी इच्छा उनकी इच्छा की निष्कलुष क्रिया बन जाय। तुम्हारी इंद्रियां और देह तक भगवान् की उल्लासमय इंद्रियवृत्ति और देह बन जाय। अपनी संपूर्ण सत्ता के साथ उन्हीं का यजन-पूजन करो ; प्रत्येक विचार और अनुभव में, प्रत्येक क्रिया और प्रवृत्ति में उन्हीं का स्मरण करो। जबतक ये सब चीजें पूर्ण रूप से उन्हीं की न हो जायँ और वे तुम्हारी आत्मा के अंतरतम पवित्र

मंदिर की तरह ही तुम्हारी सत्ता की अत्यंत सामान्य और बाह्यातिबाह्य क्रियाओं में भी अपनी उपस्थिति को सदा के लिए प्रतिष्ठित न कर दें तथा सब कुछ को रूपांतरित न कर डालें तबतक तुम निरंतर लगे रहो।

*

"यह त्रिविध मार्ग वह साधन है जिसके द्वारा तुम अपनी अपरा प्रकृति से सर्वथा ऊपर उठकर अपनी परा-अध्यात्म-प्रकृति में पहुँच सकते हो। वह एक गुप्त अतिचेतन प्रकृति है; उसमें पहुँचकर जीव—परम पुरुष और अनंत भगवान् का अंशस्वरूप और अपनी सत्ता के धर्म में उनके साथ घनिष्ठ रूप से एकाकार जीव—अपने सत्य में निवास करता है, बहिर्भूत माया में नहीं। इस सिद्धि का, इस एकत्व का रसास्वादन इसके अपने निज धाम में, परम विश्वातीत सत्ता में एकाकी रूप से भी किया जा सकता है; परंतु यहाँ भी, यहाँ इस नरतन में तथा स्थूल जगत् में भी, तुम इसे प्राप्त कर सकते हो और तुम्हें प्राप्त करना भी चाहिए। इस लक्ष्य के लिए इतना ही काफी नहीं है कि तुम अपनी अंतः-सत्ता में शांत, निष्क्रिय और त्रिगुणातीत रहो तथा अपने बाह्य अंगों में त्रिगुण की यांत्रिक क्रिया को उदासीन भाव से देखते और अनुमति देते रहो। क्योंकि अंतरात्मा ही के समान सक्रिय प्रकृति को भी भगवान् को दे देना होगा, उसे भी दिव्य बनाना होगा। तुम जो कुछ हो उस सबको पुरुषोत्तम के साथ **'साधर्म्य'** लाभ करना होगा; सब कुछ को मेरे चेतन अध्यात्म-भाव में, **'मद्भाव'** में रूपांतरित करना होगा। आवश्यकता है एक पूर्णतम रूपांतर की। अपनी प्रकृति के नानाविध सभी भावों से एवं उसकी सब जीवनधाराओं के साथ मेरी शरण लो; क्योंकि एकमात्र इसीसे यह महान् रूपांतर एवं सिद्धि संपन्न होगी।

"योग की यह उच्च परिणति कर्म की समस्या को तुरंत हल कर देगी, वरंच, यूँ कहना चाहिए कि यह उसे पूर्ण रूप से दूर कर देगी किंवा जड़-मूल से मिटा देगी। मानव-कर्म एक ऐसी चीज है जो कठिनाइयों और परेशानियों से भरी हुई है, यह एक ऐसे बीहड़ वन के समान गहन और दुर्गम है जिसमें कुछ एक कम या अधिक अस्पष्ट रास्ते बने हुए हैं पर वे हमें जंगल से पार कराने के बजाय उसके अंदर ही भटकाते रहते हैं; परंतु यह सब कठिनाई एवं उलझन एकमात्र इस तथ्य के कारण उत्पन्न होती है कि मनुष्य अपनी मानसिक, प्राणिक और शारीरिक प्रकृति के अज्ञान में कैद हुआ रहता है। वह इसके गुणों के द्वारा विवश रूप से चालित होता है, किंतु फिर भी वह अपने चित्त में अपने दायित्व के बोध से पीड़ित होता रहता है, क्योंकि उसके अंदर कोई ऐसी चीज है जो उसे

यह अनुभव कराती है कि वह एक आत्मा है और उसे वह होना चाहिए जो वह इस समय बिलकुल नहीं है या बहुत ही कम है, अर्थात् उसे अपनी प्रकृति का स्वामी और शासक होना चाहिए। इन वर्तमान अवस्थाओं में उसके जीवन-यापन के सभी नियम, उसके सभी धर्म अपूर्ण, सामयिक और कामचलाऊ ही रहेंगे, अधिक-से-अधिक वे केवल अंशतः ही ठीक या सच्चे होंगे। उसकी अपूर्णताएँ केवल तभी दूर हो सकेंगी जब वह अपने-आपको जान लेगा, जिस जगत् में वह रहता है उसका वास्तविक स्वरूप जान लेगा और, सबसे बढ़कर, उन सनातन को जान लेगा जिनसे वह इस जगत् में आया है और जिनमें तथा जिनके सहारे वह जीता है। जब एक बार वह सच्ची चेतना एवं ज्ञान लाभ कर लेता है, तब फिर कोई भी समस्या शेष नहीं रह जाती ; क्योंकि तब वह अपने ही अंदर से स्वतंत्र रूप में कार्य करता है और अपनी आत्मा तथा उच्चतम प्रकृति के सत्य के अनुसार सहज-स्फूर्त रूप में जीवन यापन करता है। इस ज्ञान की पूर्णतम अवस्था में, इसके उच्चात्युच्च शिखर पर कर्म का कर्ता वह स्वयं नहीं होता, वरन् भगवान् होते हैं, वहाँ एकमेव सनातन एवं अनंत ही उसकी मुक्त प्रज्ञा, शक्ति और पूर्णता में उसके अंदर तथा उसके द्वारा कर्म करते हैं।

"अपनी प्राकृत सत्ता में मनुष्य प्रकृति का सात्त्विक, राजसिक किंवा तामसिक प्राणी होता है। इसका जो कोई भी गुण उसमें प्रधान होता है उसके अनुसार वह अपने जीवन और कर्म का यह या वह विधान बना लेता है और उसका अनुसरण करता है। उसका तामसिक, स्थूल-भौतिक, इंद्रियप्रवण मन तम, भय और अज्ञान के वश कुछ तो अपनी परिस्थिति के दबाव के अनुसार चलता है और कुछ अपनी कामनाओं के आकस्मिक आवेगों के अनुसार, या फिर वह जड़ रूढ़िग्रस्त बुद्धि की अभ्यस्त दिनचर्या का ही आश्रय ग्रहण करता है। कामना का पुतला राजसिक मन इस जगत् के साथ, जिसमें वह रहता है, संघर्ष करता रहता है और नित नयी-नयी चीजें प्राप्त करने की चेष्टा करता है, नेतृत्व करने, युद्ध करने, विजय पाने, निर्माण करने, विनाश करने और संग्रह करने का यत्न करता रहता है। वह सदा सिद्धि और असिद्धि, हर्ष और शोक, आशा और निराशा के बीच धक्के खाता हुआ आगे बढ़ा करता है। वह चाहे जो भी नियम स्वीकार करता हुआ दिखायी दे, पर असल में वह सभी चीजों में निम्न 'स्व' और अहं के नियम का, अर्थात् आसुरी और राक्षसी प्रकृति के चंचल, अशांत, स्व-भक्षी और सर्व-भक्षी मन के नियम का ही अनुसरण करता है। सात्त्विक बुद्धि इस अवस्था को कुछ पार कर जाती है, वह देखती है कि कामना और अहं के विधान से श्रेष्ठ किसी अन्य विधान का अनुसरण करना चाहिए और वह एक सामाजिक, नैतिक,

धार्मिक नियम की, एक धर्म एवं शास्त्र की स्थापना करती है तथा उसे अपने ऊपर लागू करती है। मनुष्य का साधारण मन बस इतनी ऊँचाई तक ही जा सकता है, अर्थात् वह मन और इच्छाशक्ति के मार्ग-निर्देश के लिए एक आदर्श की या एक व्यावहारिक नियम की स्थापना कर सकता है और फिर जीवन और कार्य-व्यवहार में यथासंभव सच्चाई के साथ उसका पालन भी कर सकता है। इस सात्त्विक बुद्धि का विकास इसके चरम बिंदु तक करना चाहिए जहाँ यह अहमात्मक प्रेरणा के मिश्रण का पूर्णतया परित्याग करने में सफल हो जाती है और धर्म का पालन धर्म ही के लिए, एक निर्व्यक्तिक, सामाजिक, नैतिक या धार्मिक आदर्श के रूप में करती है, केवल उसके औचित्य ही के कारण एक निष्कामभाव से करने योग्य कर्म के रूप में, '**कर्तव्यं कर्म**' के रूप में, उसका अनुसरण करती है।

"परंतु, प्रकृति के इस समस्त कर्म का वास्तविक सत्य बहुत ही कम अंश में एक बाह्य मानसिक सत्य है, अधिकांश में तो वह एक आभ्यंतरिक एवं विषयिगत सत्य ही है। वह यह है कि मनुष्य एक देहधारी जीव है जो भौतिक और मानसिक प्रकृति में आबद्ध है और इसमें वह अपने विकास के एक प्रगतिशील नियम का अनुसरण करता है, यह नियम उसकी सत्ता के आंतरिक विधान से ही निर्धारित होता है ; उसकी अंतरात्मा का स्वरूप ही उसके मन और प्राण के स्वरूप का, अर्थात् उसके स्वभाव का गठन करता है। प्रत्येक मनुष्य का अपना स्वधर्म होता है, अर्थात् उसकी अंत:सत्ता का एक विधान होता है जिसका उसे पालन करना चाहिए, अनुसंधान और अनुसरण करना चाहिए। उसकी आभ्यंतरिक प्रकृति के द्वारा निर्धारित कर्म ही उसका वास्तविक धर्म है। उसके अनुसार चलना ही उसके विकास का सच्चा नियम है ; उससे च्युत होने का मतलब है संकर, गतिरोध और प्रमाद को उत्पन्न करना। उसके लिए सदा ही वही सामाजिक, नैतिक, धार्मिक या कोई अन्य विधान एवं आदर्श सर्वश्रेष्ठ है जो उसे स्वधर्म का पालन और अनुसरण करने में सहायता पहुँचाये।

"तथापि यह समस्त कर्म अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में भी मन के अज्ञान और त्रिगुण के खेल के अधीन है। जब मनुष्य अपनी अंतरात्मा को पा लेता है केवल तभी वह अज्ञान को तथा गुणों के संकर को पार कर सकता तथा अपनी चेतना में से मिटा सकता है। यह सच है कि जब तुम अपने-आपको प्राप्त कर लोगे तथा अपनी आत्मा में निवास करने लगोगे, तब भी तुम्हारी प्रकृति अपनी पुरानी लीक पर ही चलती रहेगी और कुछ काल तक अपने निम्नतर गुणों के अनुसार ही कार्य करेगी। परंतु तब तुम उस कर्म का अनुष्ठान पूर्ण आत्म-ज्ञान के साथ कर सकोगे। और उसे अपनी सत्ता के स्वामी के प्रति एक

यज्ञ के रूप में परिणत कर सकोगे। अतएव, अपने स्वधर्म के विधान का पालन करो, तुम्हारा स्वभाव तुमसे जिस कर्म की माँग करे वही तुम करो, वह फिर चाहे कोई भी क्यों न हो। अहंभाव की समस्त प्रेरणा का, स्वेच्छा के द्वारा प्रवर्तित समस्त आरंभ, और कामना के समस्त नियम-शासन का परित्याग कर दो जिससे कि अंत में तुम अपने-आपको पूर्ण रूप से, अपनी सत्ता के सब भावों के साथ परम देव के प्रति अर्पित कर सको।

"और जब एक बार तुम सच्चे भाव से ऐसा समर्पण करने में समर्थ हो जाओगे तो उस क्षण तुम बिना किसी अपवाद के अपने सभी कर्मों की बागडोर अपने अंतरस्थ परमेश्वर के हाथों में सौंप सकोगे। तब तुम आचार-व्यवहार के सब नियमों से छुटकारा पा जाओगे, समस्त धर्मों से मुक्त हो जाओगे। तुम्हारे अंदर अवस्थित भागवती शक्ति एवं उपस्थिति तुम्हें पाप और अशुभ से मुक्त कर देगी और पुण्य के मानवीय मापदंडों से बहुत ऊपर उठा ले जायगी। कारण, तब तुम आध्यात्मिक सत्ता और दैवी प्रकृति के पूर्ण और स्वतःस्फूर्त ऋत और पावित्र्य में निवास करोगे और उसी में रहते हुए अपने कर्म करोगे। तब तुम नहीं वरन् भगवान् ही तुम्हारे द्वारा अपना संकल्प और अपने कर्म संपन्न करेंगे, ऐसा वे तुम्हारे निम्न व्यक्तिगत सुख और कामना के लिए नहीं, बल्कि जागतिक उद्देश्य के लिए तथा तुम्हारे दिव्य मंगल और सबके प्रकट या प्रच्छन्न मंगल के लिए करेंगे। प्रकाश से परिप्लावित होकर तुम जगत् में और काल-पुरुष के कार्यों में भगवान् का ही रूप देखोगे, उनका प्रयोजन जान जाओगे और उनका आदेश श्रवण करोगे। तुम्हारी प्रकृति एक यंत्र के रूप में केवल उन्हीं की इच्छा को ग्रहण करेगी, वह चाहे कुछ भी हो, और फिर उसी को यह बिना ननुनच के पूरा भी करेगी, क्योंकि तुम्हें अपनी प्रत्येक कर्म-प्रेरणा के साथ अपने ऊपर और अंदर से एक अटल ज्ञान प्राप्त होगा और उसके साथ ही प्राप्त होगी उस दिव्य प्रज्ञा और उसके मर्म के प्रति सज्ञान सहमति। युद्ध उन्हीं का होगा, विजय भी उन्हीं की और साम्राज्य भी उन्हीं का।

"यही इस जगत् में और इस देह में तुम्हारी परम सिद्धि होगी, इन नश्वर जन्मवाले लोकों के परे तुम्हें परमोच्च शाश्वत अतिचेतना उपलब्ध होगी और तुम सदा-सर्वदा परमात्मा के परम पद में निवास करोगे। पुनर्जन्म का चक्र और मृत्यु का भय तुम्हें नहीं सतायेंगे ; क्योंकि यहीं, इसी जीवन में, तुम भगवान् की अभिव्यक्ति करने का कार्य पूरा कर चुके होगे, और यद्यपि तुम्हारी अंतरात्मा मन और शरीर में उतरी हुई है फिर भी तब वह परमात्मा की विशाल सनातन सत्ता में ही निवास कर रही होगी।

"अतएव, यही परम साधना है, यही तुम्हारी समस्त सत्ता एवं प्रकृति की पूर्ण शरणागति है, यही अपने परम-आत्मस्वरूप भगवान् में सब धर्मों का संन्यास है, यही परम अध्यात्म-प्रकृति के प्रति तुम्हारे सभी अंगों की अनन्य अभीप्सा है। यदि एक बार तुम इसे प्राप्त कर सको, चाहे मार्ग के आरंभ में ही या बहुत दूर जाकर, तो अपनी बाह्य प्रकृति में तुम जो कुछ भी हो या जो कुछ भी थे, तुम्हारा पथ सुनिश्चित है और तुम्हारी सिद्धि अवश्यंभावी। तुम्हारे अंदर जो परम पुरुष विराजमान हैं वे तुम्हारी योग-साधना अपने हाथ में ले लेंगे और उसे तुम्हारे स्वभाव के अनुकूल मार्गों से वेगपूर्वक चरम परिपूर्णता की ओर ले जायेंगे। उसके बाद तुम्हारी जीवनधारा और कर्म-पद्धति कुछ भी क्यों न हो, तुम सचेतन रूप से उन्हीं में निवास, कर्म और विचरण कर रहे होगे और तब तुम्हारी अंदर और बाहर की प्रत्येक चेष्टा में भागवती शक्ति ही तुम्हारे द्वारा कार्य करेगी। यह परमोत्तम पथ है, क्योंकि यह सर्वोच्च गुह्य और रहस्य है और फिर भी यह एक आंतरिक साधना है जिसे सब कोई उत्तरोत्तर संपन्न कर सकते हैं। यही तुम्हारी वास्तविक सत्ता का, तुम्हारी आध्यात्मिक सत्ता का गभीरतम और अंतरतम सत्य है।"

इति शम्